इस ग्रन्थ पर लेखक को प्राप्त

पुरस्कार

१२००) मंगलाप्रसाद पुरस्कार, हिन्दी-साहित्यसम्मेलन, प्रयाग।

१२००) उत्तरप्रदेश सरकार।

१०००) बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

१०००) सेठ हरजीमल डालमिया ट्रस्ट, नई दिल्ली।

॥ ओ३म् ॥

सांख्यदर्शन का इतिहास

[सांख्यविषयक बहिरंग-परीक्षात्मक मौलिक ग्रन्थ]

लेखक—

विद्याभास्कर, वेदरत्न, श्री पं० उदयवीर शास्त्री, न्यायतीर्थ,

सांख्य-योगतीर्थ, वेदान्ताचार्य ।

प्रकाशक—श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी,
अध्यक्ष—विरजानन्द वैदिक संस्थान, ज्वालापुर,
सहारनपुर [उत्तर प्रदेश]

भूमिका—लेखक—श्री डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल एम० ए०,
अध्यक्ष—सैन्ट्रल एशियन ऐन्टिक्विचटी म्यूजियम,
नई देहली

प्राक्कथन—लेखक—श्री डॉ० मंगलदेव जी शास्त्री, एम०, ए०,
वैदिक स्वाध्याय मन्दिर, बनारस छावनी

मुद्रक—श्री पं० ज्ञानचन्द्र जी बी० ए०,
संचालक—सार्वदेशिक प्रैस, पाटौदी हाउस,
दरियागंज, देहली

प्रथम संस्करण ११००]

मूल्य ३०) रु०

भूमिका

श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री ने अत्यन्त परिश्रम से 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक जो निबन्ध प्रस्तुत किया है, उसका हिन्दी संसार में हम स्वागत करते हैं। इन्होंने सांख्यदर्शन की अनेक मौलिक समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्यदर्शन का अत्यन्त ऊंचा स्थान था। देश के उदात्त मस्तिष्क सांख्य की विचार पद्धति से सोचते थे। महाभारतकार ने यहां तक कहा है—

ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन् महात्मन्।

[शान्ति० ३०१। १०६]।

वस्तुतः महाभारत में दार्शनिक विचारों की जो पृष्ठभूमि है, उसमें सांख्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शान्तिपर्व के कई स्थलों पर पञ्चशिख और उसके शिष्य धर्मध्वज जनक के संवादरूप में, ब्रह्मवादिनी सुलभा और इसी जनक के संवादरूप में, वसिष्ठ एवं करालजनक के संवादरूप में, एवं याज्ञवल्क्य और दैवराति जनक के संवादरूप में ने सांख्यदर्शन के विचारों का बड़े काव्यमय और रोचक ढंग से उल्लेख किया गया है। सांख्यदर्शन का प्रभाव गीता में प्रतिपादित दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पर्याप्तरूप से विद्यमान है। वस्तुतः सांख्य-दर्शन किसी समय अत्यन्त लोकप्रिय होगया था।

भारतीय जीवन में दर्शन की अतिशय उपयोगिता सदा से रही है। भारतीय संस्कृतिका इतिहास वस्तुतः भारतीय दर्शन के इतिहास का ही विकसित रूप है। विचारों के नये मेघ अनेक प्रकार से बे-रोक टोक इस देश की चिन्तनशील भूमिपर बरसते रहे। विचारों का रसमय निर्भर ही दर्शन था, और वह झरना कई सहस्र वर्षों तक देश के अनेक भागों में झरता रहा। कर्मों के पीछे सदा एक दार्शनिक पृष्ठभूमि होती है। किसी समय वेदों का प्राणवाद भारतीय जीवन का मूल प्रेरक सिद्धान्त था कालान्तर में उपनिषदों का ब्रह्मवाद या आत्मवाद भारतीय विचार जगत् का ध्रुव नक्षत्र बना, जिसने सदा के लिये इस देशके दर्शन को अध्यात्म के साथ जोड़ दिया। कहा जासकता है कि अतिशय अध्यात्मवाद की प्रतिक्रिया के स्वरूप ही जनता के मानस में एक पृष्ठभूमि तयार हुई, जिसमें अध्यात्म की अपेक्षा स्थूल लक्ष्य और प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाली प्रकृति के ऊपर आश्रित विचारोंकी नींव जमी। संभवतः लोकायतों का प्रत्यक्षवाद इसी आन्दोलन का सूचक था। बौद्धों का प्रकृतिपरक नीतिवाद भी इसी पृष्ठभूमि की ओर संकेत करता है। कुछ ऐसे ही गाढ़े समय में साँख्यशास्त्र ने अत्यन्त सरलता के साथ प्रकृति में घटने वाली सृष्टि की प्रक्रियाओं की व्याख्या प्रस्तुत की, और प्रकृति एवं जीवनमें दिखाई पड़ने वाला

जो वैषम्य है उसका भी सत्त्व रज, तम इस त्रिगुणात्मक सिद्धान्त के द्वारा सुन्दर बुद्धिपूर्वक समाधान किया, फिर कर्म करने वाले जीव को इस प्रकृति के साथ किसतरह जीवन में निपटना पड़ता है, इसकी भी एक बुद्धिगम्य व्याख्या बताई। प्रायः गणनार्थक 'संख्या' से सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है, किन्तु एक विचार ऐसा भी है, कि 'चक्ष्' धातु से जिसका अर्थ है बुद्धि-पूर्वक गोध समझ कर वस्तु का विचार करना, 'ख्या' आदेश करके संख्या शब्द की व्युत्पत्ति होती है। महाभारत के एक प्राचीन श्लोक में ज्ञानवाची संख्या शब्द का एक सुन्दर संकेत पाया जाता है—

संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते। तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्त्तिताः॥

अर्थात् जो प्रकृति का विवेचन करते हैं, जो चौबीस तत्त्वों का निरूपण करते हैं, और जो संख्या अर्थात् ज्ञान का उपदेश करते हैं, वे सांख्यशास्त्र के प्रवर्त्तक हैं।

इसप्रकार जिस एक दर्शन शास्त्र में स्थूल जगत्, उसके अनेक प्रकार के गुणात्मक व्यवहार और मनुष्यों की अध्यात्मप्रधान प्रवृत्ति इन तीनों का बुद्धिपूर्वक विवेचन और समन्वय किया गया था, वह दर्शन सांख्य के रूप में सब से अधिक महिमाशाली और लोकोपकारी सिद्ध हुआ। यही सांख्य की सबसे अधिक विशेषता थी।

सांख्यदर्शन के इतिहास का विवेचन एक प्रकार से प्राचीन भारतीय दार्शनिक विचारों के सांगोपांग इतिहास से सम्बन्धित है। श्री उदयवीर जी ने अत्यन्त श्रम धैर्य, विस्तृत, अध्ययन और सूक्ष्म विवेचनात्मक प्रणाली से सांख्यदर्शन के इतिहास-विकास की सभी प्रधान समस्याओं पर प्रकाश डाला है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के दो भाग किये हैं। प्रस्तुत भाग जो स्वयं काफ़ी विस्तृत है, सांख्यशास्त्र की एक प्रकार से बहिरंग परीक्षा है। सांख्यदर्शन के मूल प्रवर्त्तक महर्षि कपिल के सम्बन्ध में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की प्रायः वही दशा है, जो प्राचीन भारत के दूसरे मनीषियों के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में है, अर्वाचीन दृष्टि से जिसे हम इतिहास समझते हैं, और देश काल के निश्चित चौखटे में व्यक्तिविशेष को जकड़ कर उसकी ऐतिहासिकता सिद्ध करने की जो नई परिपाटी है, उसके द्वारा महर्षि कपिल हमारे ऐतिहासिक ज्ञान से परे रहजाते हैं। इस सत्य के मानने में हमें संकोच नहीं करना चाहिये। लेकिन जहां तिथिक्रम का अभाव हो, वहां विचारों के पौर्वापर्य का आधार, ऐतिहासिकों का एकमात्र साधन होता है। इस दृष्टि से सांख्यशास्त्र की महती आचार्य परम्परा में भगवान् कपिल इस शास्त्र के मूल प्रवर्त्तक के रूप में सब से ऊपर स्थान रखते हैं।

श्रीयुत शास्त्री जी की जो स्थापना सब से अधिक माननीय महत्त्व-पूर्ण और स्थायी मूल्य की कही जायगी, वह यह है, कि षडध्यायात्मक सूत्रों के रूप में निर्मित जो शास्त्र है, जिसका प्राचीन नाम 'षष्टितन्त्र' था, उसके कर्त्ता आचार्य कपिल थे। उनके लिए अवान्तर कालीन साहित्य में 'परमर्षि' इस पूजित विशेषण का प्रयोग हुआ। स्वयं पञ्चशिख ने

जो कपिल के प्रशिष्य थे, षष्टितन्त्र के प्रणेता के लिये 'परमर्षि' पदवी का प्रयोग किया है। यह स्थापना यद्यपि देखने में इतनी सरल और स्वाभाविक जान पड़ती है, किन्तु सांख्यदर्शन के इतिहास में यह काफ़ी उलझ गई है। विद्वानों ने इस बात को यहां तक बढ़ा दिया है, कि सांख्यशास्त्र का जो सबसे पुराना ग्रन्थ मिलता है, वह ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका है, और कारिकाओं के आधार पर ही किसी ने पीछे से सूत्रों की रचना की होगी। लेकिन इस बात में रत्ती भर भी सत्य का अंश नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस बात को अनेक पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध किया गया है।

सांख्यषडध्यायी के अतिरिक्त एक दूसरा छोटा सा २२ सूत्रों का ग्रन्थ 'तत्त्वसमास' नामक है। उसके रचनाकाल और कर्तृत्व के विषय में विद्वानों का मतभेद है। लेखक ने उसे भी कपिलप्रणीत ही माना है। 'तत्त्वसमास' एक प्रकार से अत्यन्त परिमित शब्दों में सांख्य के प्रतिपाद्य विषयों की सूची है। उसकी अन्तः साक्षी इतनी कम है, कि उनके सम्बन्ध में किसी निश्चित मत का प्रतिपादन संभव नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का दूसरा अध्याय जिसमें 'कपिल-प्रणीत षष्टितन्त्र' की विस्तृत विवेचना है, मौलिकता और प्रामाणिकता की दृष्टि से सबसे अधिक ध्यान देने योग्य है। संक्षेप में लेखक की स्थापना इसप्रकार है— कपिल के मूल ग्रन्थ का नाम षष्टितन्त्र था उसीको सांख्य या सांख्यदर्शन कहा जाता था। कपिल के मूलग्रन्थ पर पञ्चशिख और वार्षगण्य इन दो प्रमुख आचार्यों ने व्याख्यायें लिखीं। ईश्वरकृष्ण कपिल के मत के अनुयायी थे, लेकिन वार्षगण्य के अनेक सिद्धान्त कपिल की परम्परा से भेद रखते हैं। कपिल के पर्याप्त समय बाद ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं की रचना की। षष्टितन्त्र के पहले तीन अध्यायों में प्रतिपादित जो विषय हैं उन्हें ही ईश्वरकृष्ण ने कारिकाओं में ग्रथित किया। सांख्यकारिका की अन्तिम आर्या में यह बात स्पष्ट कही है—

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चेति।

अर्थात् षष्टितन्त्र के जितने विषय हैं, वे ही सब सांख्यसप्तति में हैं, सिर्फ़ दो बातें सप्तति में छोड़ दी गईं, एक तो आख्यायिकाएं और दूसरे परवाद अर्थात् अन्य दर्शनों के मतवाद। सांख्यषडध्यायी और ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं की परस्पर तुलना की जाय, तो इसप्रकार ज्ञात होता है—

कारिका	सूत्रषडध्यायी	कारिका	सूत्रषडध्यायी
१—२०	प्रथम अध्याय	३८—६८	तृतीय अध्याय
२१—३७	द्वितीय अध्याय		

इसप्रकार सांख्यसप्तति की आर्याओं का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य अर्थ षष्टितन्त्र के प्रथम तीन अध्यायों में समाप्त होजाता है। षष्टितन्त्र के चौथे अध्याय में आख्यायिकाओं का प्रासंगिक उल्लेख है, और पांचवें छठे अध्यायों में परवादों का। इन दोनों ही प्रसंगों को कारिकाओं में छोड़ दिया

गया है। इसप्रकार ईश्वरकृष्ण का स्वलिखित वर्णन ही सिद्ध करदेता है, कि जिस कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र से उसने अपने ग्रन्थ के लिये प्रतिपाद्य अर्थों का संग्रह किया, वह षष्टितन्त्र वर्तमान सांख्यषडध्यायी ही होसकता है।

षष्टितन्त्र को मूलग्रन्थ मानने के विरोध में तीन युक्तियां दी जाती रही हैं। शास्त्री जी ने बहुत ही प्रामाणिक ढङ्ग से संभवतः पहली बार ही उन युक्तियों का आमूल निराकरण किया है। वे तीन युक्तियां इसप्रकार हैं—

(१) षष्टितन्त्र के कुछ सूत्र कारिका रूप हैं, इसलिये कारिकाओं के आधार पर बाद में उनकी रचना हुई होगी।

इस शङ्का का संक्षिप्त समाधान यह है, कि कारिका रूप में मिलने वाले तीन सूत्रों का प्राचीन और वास्तविक पाठ सूत्रात्मक ही था, उन्हें कारिका रूप बाद में मिला।

(२) दूसरी शंका सूत्रों की प्राचीनता में यह थी, कि शङ्कराचार्य सायण आदि ने अपने ग्रन्थों में सांख्यसूत्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया, और न उद्धरण ही दिये हैं, जबकि कारिकाओं के उद्धरण उन ग्रन्थों में मिलते हैं, इसलिये सूत्रों की रचना सायण आदि के बाद होनी चाहिये।

इस आक्षेप के उत्तर में ग्रन्थ लेखक ने अपने विस्तृत अध्ययन और परिश्रम के आधार पर सायण से लगाकर ईश्वरकृष्ण तक के भिन्न २ ग्रन्थों में लगभग सत्रह सांख्यसूत्रों के उद्धरणों का संग्रह किया है। इसके आगे कुछ ऐसे सूत्रों के उद्धरणों का संग्रह भी कर दिया गया है, जो सांख्यकारिका की रचना से पहले के साहित्य में मिलते हैं। विस्तार से यह विषय मूलग्रन्थ के पृष्ठ १७४ से २२२ तक में द्रष्टव्य है।

३—तीसरा आक्षेप यह है कि षष्टितन्त्र के सूत्रों में कुछ स्थलों पर जैन एवं बौद्ध मतों का उल्लेख और खण्डन है, जो सूत्रों की प्राचीनता में सन्देह उत्पन्न करता है।

इस शंका का समाधान प्रस्तुत ग्रन्थकार की सूक्ष्म पर्यालोचन शक्ति प्रकट करता है। उन्होंने सूत्रों की आन्तरिक साक्षी के आधार से ही यह निर्विवाद सिद्ध किया है, कि पहले अध्याय और पांचवें अध्याय के जिन दो स्थलों में जैन और बौद्ध एवं न्याय और वैशेषिक आदि का नाम आया है, वे सूत्र बाद में मिलाये गये हैं, ऐसा उस प्रकरण की अन्तः साक्षी से स्वयं ज्ञात होता है। स्रुघ्न और पाटलिपुत्र इन दो बड़े नगरों का उल्लेख पहले अध्याय के २८ वें सूत्र में हुआ है, जिससे सूचित होता है, कि शुंगकाल के आसपास, जब ये दोनों ही शहर उन्नति पर थे, इन नामों का उल्लेख हुआ होगा। इससे इन सूत्रों के प्रक्षेप के कालपर कुछ प्रकाश पड़ता है।

इसप्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के पांच अध्यायों का विषय विवेचन, मूल षष्टितन्त्र ग्रन्थपर पड़ी हुई कई प्रकार की शंकाओं का अत्यन्त प्रामाणिक उत्तर है। आगे के दो अध्यायों में षष्टितन्त्र

सूत्रों के व्याख्याकार एवं सांख्यसप्तति के व्याख्याकारों का कालविवेचन किया गया है। इस प्रसंग में एक विशेष तथ्य की ओर ध्यान दिलाना उपयोगी होगा। जैसा कि पूर्व में निर्देश किया गया है, स्वयं ईश्वरकृष्ण कपिल मतानुयायी थे; लेकिन विन्ध्यवास के साम्प्रदायिक गुरु कपिल न होकर वार्षगण्य थे। कीथ ने ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास के एक होने का अनुमान किया था, किन्तु सिद्धान्तों के आन्तरिक मतभेद के आधार पर दोनों की यह एकता सिद्ध नहीं होती। विन्ध्यवास का सांस्कारिक नाम रुद्रिल था, ऐसा आचार्य कमलशील द्वारा उद्धृत एक श्लोक के द्वारा ज्ञात होता है।

अन्तिम आठवें अध्याय में प्राचीन सांख्याचार्यों का विवेचन किया गया है, जो सांख्यदर्शन के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कपिल के शिष्य आसुरि, आसुरि के शिष्य पञ्चशिख जिनका धर्मध्वज जनक के साथ संवाद हुआ था, पञ्चशिख के शिष्य वसिष्ठ जिनका करालजनक के साथ संवाद महाभारत में दिया हुआ है, याज्ञवल्क्य और दैवराति जनक, वोढु आदि तेरह आचार्य, पुलस्त्य आदि सात आचार्य, जैगीषव्य, उलूक, देवल, आवटय आदि आचार्य, एवं वार्षगण्य आदि सांख्याचार्य—इन अनेक विचारकों ने इस महान दर्शन के इतिहास को सुदीर्घ काल तक उत्तरोत्तर विकसित किया। उनके सम्बन्ध में जो थोड़ी बहुत कड़ियां संगृहीत की जासकी हैं, वे भी कम मूल्यवान नहीं हैं।

प्रस्तुत खण्ड सांख्यदर्शन की बहिरंग परीक्षाके रूप में निर्मित हुआ है, इस दर्शन के जो मूलभूत तात्त्विक विचार हैं, किसप्रकार उनका दूसरे दार्शनिक विचारों के साथ भेद, सामञ्जस्य अथवा विशेषता है, इन प्रश्नों का निरूपण ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में किये जाने की आशा है, और दार्शनिक इतिहास की दृष्टि से वह खण्ड और भी अधिक रोचक व महत्त्वपूर्ण होना चाहिये। युगों की आत्मा दार्शनिक विचारों के रूप में बोलती हुई देखी जासकती है। इस दृष्टि से भारतीय दर्शनों का सर्वाङ्ग-पूर्ण इतिहास जिस समय लिखा जायेगा, उस समय धर्म, साहित्य, कला, आदर्श आदि अनेक प्रकारके सांस्कृतिक जीवनके अंगोंकी व्याख्या अनायास ही हमें प्राप्त होसकेगी। प्रायः दर्शन का विषय अत्यन्त नीरस व शुष्क समझा जाता है, लेकिन यदि उसी दर्शन के निरूपण में क्यों और कैसे इन दो प्रश्नों के उत्तर को हृदयङ्गम कर लिया जाय, तो दर्शन कहानीके सदृश सरस भी बनजाता है।

राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली
२३ मई १९५०

वासुदेवशरण

प्राक्कथन

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय दर्शनों में सांख्यदर्शन का महत्त्व अद्वितीय है। न केवल अपनी अत्यन्त प्राचीनता के कारण ही, न केवल भारतीय वाङ्मय और विचारधारा पर अपने विस्तृत और अमिट प्रभाव के कारण ही, किन्तु वास्तविक अर्थों में किसी भी दार्शनिक प्रस्थान के लिए आवश्यक गहरी आध्यात्मिक दृष्टि के कारण भी इसका महत्त्व स्पष्ट है। 'सांख्य' शब्द के वैदिक संहिताओं में न आने पर भी, सांख्यकी विचारधारा का मूल वेदों के "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (ऋ० १।१६४।२०) जैसे मन्त्रों में स्पष्ट दिखलाई देता है।

सांख्य के प्रवर्त्तक भगवान् कपिल के लिए "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति"। [श्वे० उ० ५।२]जैसा वर्णन स्पष्टतः उस दर्शनकी अतिप्राचीनताको सिद्ध करता है। इसीप्रकार 'अर्थ-शास्त्र' में, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों का उल्लेख न करके "सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी" (१।२) यहां सांख्य के वर्णन से उसकी आपेक्षिक प्राचीनता ही सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त, कुछ उपनिषदों के साथ २, समस्त पुराण, धर्मशास्त्र, महाभारत, आयुर्वेद आदि के विस्तृत साहित्य में सांख्य का जितना गहरा प्रभाव दिखलाई देता है उतना और किसी दर्शन का नहीं। अन्त में यह भी ध्यान में रखने की बात है कि—

"कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्" (कठ० उ० २।१।१)

के अर्थों में दार्शनिक विचार का वास्तविक प्रारम्भ 'स्व' या प्रत्यगात्मा के रूप की जिज्ञासा से ही होता है। इस 'स्व' के रूप का जैसा तात्त्विक विश्लेषण सांख्य में किया गया है, वैसा प्रायः अन्य दर्शनों में नहीं।

सांख्यदर्शन का वर्त्तमान काल में उपलब्ध साहित्य यद्यपि विस्तृत नहीं है, तो भी यह निर्विवाद है कि प्राचीनकाल में इसका बृहत् साहित्य था। दुर्भाग्य से वह अब नष्टप्राय है। जो साहित्य उपलब्ध है उसका भी गम्भीर दार्शनिक दृष्टि से अनुशीलन करने वाले विरले ही विद्वान् आजकल मिलते हैं; ग्रन्थों का केवल शाब्दिक अर्थ करने वाले लोगों की दूसरी बात है।

प्रसन्नता की बात है कि हमारे प्राचीन मित्र श्री पं० उदयवीर शास्त्री जी ने जो सांख्य-दर्शन के गिने चुने विद्वानों में हैं, प्रकृतदर्शन का दार्शनिक तथा ऐतिहासिक दृष्टियों से वर्षों तक गम्भीर अनुशीलन करने के पश्चात् अपने विचारों को लेखबद्ध किया है। प्रस्तुत पुस्तक में सांख्यसाहित्य के क्रमिक इतिहास की दृष्टि से आपने अपने विचारों का विद्वत्तापूर्ण शैली से निरूपण किया है। ग्रन्थ आपके गम्भीर अध्ययन और अध्यवसाय का ज्वलन्त प्रमाण है। आपके विचारों से सर्वत्र सहमति हो या न हो, पर ग्रन्थ की उपयोगिता और उपादेयता में संदेह हो ही नहीं सकता। हमें पूर्ण आशा है कि विद्वन्मण्डली उत्साह के साथ हृदय से इस ग्रन्थ का अभिनन्दन और स्वागत करेगी।

वैदिक स्वाध्याय मन्दिर
बनारस छावनी

मङ्गलदेव शास्त्री
३१।३।५०

लेखक का निवेदन

सन् १६१४ की बात है, जब मैं गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्ययन करता था। गुरुकुल की पाठ्यप्रणाली के साथ २, मैं आने वाले सत्र में कलकत्ता विश्वविद्यालय की न्याय-तीर्थ परीक्षा में उपस्थित होने के लिये भी यत्न कर रहा था। इन्हीं दिनों मेरे बाल्यकाल से परिचित श्री देवेन्द्रनाथ जी, सांख्य-योगतीर्थ परीक्षा की तयारी के लिये तद्विषयक ग्रन्थों के अध्ययनार्थ महाविद्यालय ज्वालापुर पधारे। देवेन्द्रजी के पिता श्री पं० मुरारिलाल जी शर्मा आर्यसमाज के प्रसिद्ध महोपदेशक और उस समय के शास्त्रार्थ महारथी थे। पण्डित जी को मैं अपनी बहुत छोटी लगभग आठ नौ वर्ष की] आयु से जानता था, और उन्हीं के कारण मैं गुरुकुल प्रणाली में शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रविष्ट हुआ। उनके पुत्र देवेन्द्र जी से मुझे बहुत स्नेह था।

छात्रावस्था के दिन थे, मैं न्याय-वैशेषिक पढ़ रहा था, और देवेन्द्र जी सांख्य-योग के अध्ययन में संलग्न थे। प्रायः प्रतिदिन किसी न किसी शास्त्रीय विषय पर परस्पर चर्चा होती रहती थी। एक दिन मैं और देवेन्द्र जी 'सत्कार्य—असत्कार्यवाद' पर चर्चा छेड़ बैठे। हमारी यह चर्चा समय पा २ कर कई दिन तक चलती रही। आयु का यह भाग ऐसा है, जिस पर भर्तृहरि का 'तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः' वाक्य पूरा चरितार्थ होता है। कई दिन के बाद हमारी चर्चा इस स्थिति में पहुँच गई, कि वे कहने लगे न्याय में क्या धरा है, मैंने कहा सांख्य में है ही क्या? और इसीप्रकार हम एक दूसरे का उपहास कर जाते थे। इसी प्रसंग में एक दिन मैं अपने विचारों की दृढ़ता के लिये उनसे कह बैठा, कि यदि गुरु जी से बिना पढ़े हुए ही अगले वर्ष सांख्यतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण न की, तो जो चाहे करना। यह प्रतिज्ञा कर, मानो मैंने न्याय की प्रतिस्पर्द्धा में सांख्य की पूरी अवहेलना कर दी थी।

सन् १६१५ के फर्वरी मास में अपने अन्य साथियों के साथ हम दोनों कलकत्ता जाकर परीक्षा में उपस्थित हुए। उसके अनन्तर देवेन्द्रजी अपने घर चले गये, क्योंकि वे उतने ही समय के लिये महाविद्यालय आये थे, मैं अपनी संस्था में लौट आया, वहां का नियमित छात्र था। लगभग तीन मास के अनन्तर हमारा परीक्षा-परिणाम आया, देवेन्द्र जी सफल होगये थे, और मैं अपने विषय में विश्वविद्यालय भर में प्रथम आया था। यद्यपि देवेन्द्र जी से फिर बहुत दिनों तक मेल मिलाप न होसका, और न कभी फिर उन्होंने मुझ से पूछा, पर मेरे मस्तिष्क में न्यायतीर्थ के परीक्षा-परिणाम से यह भावना और तीव्र होगई, कि गुरुजी से विना पढ़े ही 'सांख्य-योगतीर्थ' परीक्षा पास करूंगा, और इसी आने वाले सत्र में।

दर्शनशास्त्रों का ज्ञान मैंने सर्वशास्त्र-पारंगत, ऋषिकल्प, गुरुवर श्री काशीनाथ जी शास्त्री के चरणों में बैठकर प्राप्त किया है। संयोग ऐसा हुआ, कि सन् १६१५ के सत्र में गुरुजी के पास मुझे केवल वेदान्त पढ़ने का समय मिलसका। मेरे दूसरे साथी अन्य विषय पढ़ते थे। मैं दुगना समय लूं, यह न उचित था, और न नियमानुसार हो ही सकता था। सांख्य का स्वयं स्वाध्याय करने के लिये अब मुझे बाध्य होना पड़ा। यह सब किया, और १६१६ के फर्वरी मास में कलकत्ता पहुंचकर परीक्षा में सम्मिलित होगया। परीक्षा-परिणाम आने पर ज्ञात हुआ, कि मैं अपने विषय में सम्पूर्ण विश्वविद्यालय में द्वितीय था। मुझे अच्छीतरह याद है, उस वर्ष प्रथम रहे थे, श्री पं० कन्हैयालाल जी शास्त्री, जो उन दिनों गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापन कार्य कराते थे।

सांख्य का स्वयं अध्ययन करने के कारण मुझे यह बहुत खोद २ कर पढ़ना पड़ा। सीधा गुरुमुख से न पढ़ने पर भी न्याय और वेदान्त के अध्ययन के समय सांख्य-सिद्धान्तों का बहुत कुछ परिमार्जित ज्ञान कहानी की तरह अवश्य गुरुमुख से प्राप्त हुआ, और उसी के कारण मैं इसे समझ सका। इस सम्बन्ध के तात्कालिक विद्वानों के कुछ लेख भी मैंने उन दिनों मासिक पत्र पत्रिकाओं में पढ़े। उन लेखों से मैंने यह भावना प्राप्त की, कि वर्त्तमान सांख्यसूत्र कपिल की रचना नहीं हैं। परन्तु परीक्षा के लिये जिन सांख्यग्रन्थोंको मैंने पढ़ा था, उनमें बराबर यही भावना उपलब्ध होती थी, कि ये सूत्र कपिल की रचना हैं। इस द्विविधा से पार पाने के लिये, अपने अध्यापकों के सन्मुख भी मैंने अनेक वार चर्चा चलाई। फिर तो ऐसा हुआ, कि जो भी, कोई विद्वान् मुझे इस विषय का मिलता, मैं तत्काल उनके सन्मुख यह सब उपस्थित करता, पर उसके अनन्तर कभी मैंने अपने आपको सन्तोषजनक स्थिति में न पाया।

सन् १६१६ के पश्चात् विश्वविद्यालय के ग्रीष्मावकाश में मुझे गुसाईं गणेशदत्त जी [आज के सनातनधर्म के प्रसिद्ध नेता-गोस्वामी गणेशदत्त] से परिचय प्राप्त हुआ। ये उन दिनों लाहौर के ओरियण्टल कालिज में पढ़ते थे। ग्रीष्मावकाश में विशेष अध्ययन की लालसा से ये महाविद्यालय ज्वालापुर आगये। अध्यापकों से पढ़ने का तो उन्हें अवसर कम मिलता था, हम लोग आपस में मिलकर पढ़ते रहते थे। गुसाईं जी के सम्पर्क से मेरी यह भावना जागृत होगई, कि मैं भी लाहौर जाकर ओरियण्टल कालिज में प्रविष्ट होकर 'शास्त्री' परीक्षा उत्तीर्ण करूं। अन्ततः यही हुआ, और कालिज खुलने पर सन १६१६ के सितम्बर के अन्त में मैं लाहौर पहुँचा। परन्तु उस वर्ष कालिज में छात्रों का प्रवेश मई मास में ही होचुका था। फिर भी कालिज के तत्कालीन प्रिन्सिपल श्री ए. सी. वूलनर की कृपा से, मैं प्रवेश पासका। उस समय लगभग सात मास तक मैं लाहौर रहा। वहां का मेरा सम्पूर्ण व्यय, डी. ए. वी. कालिज के संचालक महात्मा हंसराज जी ने अपनी जेब से किया था। यह प्रबन्ध महाविद्यालय ज्वालापुर के संचालकों द्वारा हुआ था, उससे पूर्व मैं महात्मा जी से व्यक्तिगत रूप में अधिक परिचित नहीं था।

शास्त्री परीक्षा के अनन्तर लाहौर से चलते समय जब में महात्मा जी से आज्ञा लेने गया, तो कहने लगे, कि अब तुम यहां रहकर कुछ इंग्लिश का अभ्यास करलो। मैंने निवेदन किया, यदि आप अनुसन्धान विभाग में कोई अवसर देदें, तो मैं रह जाऊंगा। महात्मा जी ने इसके उत्तर में कहा, ऐसा अवसर तो बड़े भाग्य से मिलता है, कि जहां केवल पढ़ने के लिए कोई मासिक वृत्ति पासके। मैं उनसे यह कहकर, बिदा लेकर चला आया, कि परीक्षा परिणाम निकलने पर देखा जायगा।

इसी बीच मुझे एक छात्रवृत्ति, काशी में रहकर और अधिक पढ़ने के लिये मिल गई। इसके पुरस्कर्त्ता श्री ठा० वैजनाथसिंह जी रईस ईनानजांग बरमा थे। वहाँ इनके कई तैल-कूप थे। एक वर्ष काशी रहकर मैं वापस गुरुकुल ज्वालापुर आगया, काशी का जलवायु मेरे लिये अधिक अनुकूल न रहा। काशी रहते हुए यद्यपि मैंने मीमांसा एवं अलङ्कार शास्त्र का ही विशेष अध्ययन किया, पर वहां भी सांख्यविषयक चर्चा चलती रही। इस सम्बन्ध में परमादरणीय श्रीयुत पं० अच्युत जी, और श्री पं० नित्यानन्द जी पर्वतीय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मैं इन्हीं के अधिक सम्पर्क में आया।

काशी से गुरुकुल महाविद्यालय आकर मैंने वहां की स्नातक परीक्षा पूर्ण कर, वहीं पर अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया। साढ़े तीन वर्ष वहां कार्य करने के अनन्तर मुझे फिर लाहौर जाने का अवसर प्राप्त हुआ। सन् १९२१ में कांग्रेस का आन्दोलन प्राबल्य पर था, विदेशी सामान विशेषकर वस्त्र और विदेशी शिक्षा के बहिष्कार पर कांग्रेस का अधिक बल था, स्थान स्थान पर विदेशी वस्त्रों की होली मनाई जाती, और स्कूल कालिजों के बहिष्कार का नारा बुलन्द किया जाता। परिणामस्वरूप अनेक छात्रों ने स्कूल कालिज छोड़ दिये। नेताओं को उनके अध्ययन की चिन्ता हुई। तब पंजाब-केसरी ला० लाजपतराय ने लाहौर में एक कौमी महाविद्यालय की स्थापना की। स्नेही मित्र श्री पं० रामगोपाल जी शास्त्री की प्रेरणा से मुझे वहां संस्कृताध्यापन के लिये बुलाया गया। सन् १९२१ के अक्टूबर से मैंने वहां काय आरम्भ किया। लगभग चार वर्ष मैं इस संस्था में काम करता रहा। संस्था का अस्तित्व धीरे २ विलय की ओर जारहा था, मुझे वहां से अवकाश लेना पड़ा, पर मैं लाहौर छोड़ना नहीं चाहता था। स्थानीय डी० ए० वी० कालिज से सम्बद्ध मेरे मित्रों के प्रयत्न से दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय में दर्शन और साहित्य के अध्यापन का कार्य मुझे मिल गया। यह विद्यालय डी० ए० वी० कालिज की प्रबन्धक सभा के अन्तर्गत विशुद्ध संस्कृताध्यापन का कार्य करता था। इस संस्था में लगभग पांच वर्ष तक मैं कार्य करता रहा। यहां के कार्यकाल के उपसंहार में एक विशेष प्रतिक्रिया की भावना जागृत हुई। भृतिकार्य से मन खिन्न रहने लगा, संचालकों में मैंने विद्यानुराग के स्थान पर वैश्य मनोवृत्ति को अधिक पाया। ये लोग प्रत्येक बात में तुलादण्डको सीधा देखनेके आदी थे। उन्हीं दिनों, चाहे इसे 'बिल्लीके भाग से छींका टूटा' समझिये, अथवा गिरा फूल 'कृष्णार्पणमस्तु' समझिये, लाहौर में कुछ ऐसी

राजनैतिक घटनायें होगईं, कि मुझे यह स्थान छोड़ना पड़ा। मैं इस समय उन राजनैतिक घटनाओं के रहस्योद्घाटन में उतरना नहीं चाहता।

लाहौर के आठ नौ वर्ष निवास से प्रस्तुत ग्रन्थ लिखने में मुझे क्या प्रेरणा मिली, इस पर प्रकाश डालने की भावना से ही मैंने उपर्युक्त पंक्तियों का उपक्रम किया है। सन् १९२१ में जब मैं लाहौर आया, मेरे लिये यह नगर नया न था। सन् १९१७ में लगभग सात आठ महीने लगातार यहां रह गया था। स्थानीय डी० ए० वी० कालिज के संचालकों में से अनेक महानुभावों से मेरा परिचय था। लाहौर में स्थिरता प्राप्त होजाने पर अपने अवकाश का समय मैंने वहां के पुस्तकालयों में व्यतीत करना प्रारम्भ किया। ये पुस्तकालय प्राच्यविभाग की दृष्टि से अपना जोड़ नहीं रखते। यह बात मैं सन १९२२-२३ की लिख रहा हूं। इसके आगेके बीस वर्षोंमें प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की दृष्टि से इन पुस्तकालयों ने विशेष उन्नति की। इस अन्तर के अनेक वर्षों तक मैं लाहौर रहा। इन पुस्तकालयों में चार का नाम विशेष उल्लेखनीय है। १—पंजाब विश्वविद्यालय का पुस्तकालय (पंजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी), लालचन्द अनुसन्धान पुस्तकालय (डी० ए० वी० कालिज की लालचन्द रिसर्च लाईब्रेरी), ३—गुरुदत्त भवनका वैदिक पुस्तकालय (यहां वेदसम्बन्धी साहित्यका अद्भुत संग्रह था), ४—पञ्चनदीय सार्वजनिक पुस्तकालय (पञ्जाब पब्लिक लाईब्रेरी)। पहले दो पुस्तकालयों में हस्तलिखित ग्रन्थों का अद्भुत संग्रह था। आज मैं यह पंक्तियां भारत की राजधानी देहली में बैठकर लिख रहा हूं, जब कि लाहौर अपनी सम्पूर्ण सामग्री सहित भिन्न राज्य में चला गया है। उक्त संग्रहों से लालचन्द पुस्तकालक के अतिरिक्त हम एक भी पुस्तक भारत नहीं लासके, इसीलिये मैंने उक्त वाक्य में अब 'था' का प्रयोग किया है। हां! तो मैं यह कह रहा था, कि नियमित अध्यापन कार्य से अपना अतिरिक्त समय इन पुस्तकालयों में बिताने लगा।

प्राचीन और आधुनिक विद्वानों के सांख्यविषयक विभिन्न विचारों से उत्पन्न हुई जिस द्विविधा ने मुझे उस दिन तक दबा रक्खा था, उसके प्रतीकार के लिये इस भावना से मैं खोज करने में लगा, कि इन विचारधाराओं में कौनसी बात कहां तक ठीक मानी जासकती है। इस बात का मैं पूरा यत्न करता रहा हूं, कि सांख्य विषय पर जो भी किसी ने कुछ लिखा हो, उसे पढ़ सकूं। उन दिनों डी० ए० वी० कालिज की रिसर्च लाईब्रेरी के अध्यक्ष थे, श्री पं० भगवद्दत्त जी बी० ए० रिसर्च स्कॉलर। पण्डितजी के साथ मेरी पुरानी स्नेहभावना थी, पण्डित जी की धर्मपत्नी श्रीमती सत्यवती शास्त्री और उनके परिवार से मैं अपनी छात्रावस्था से ही परिचित था। श्री चौधरी प्रतापसिंह जी अपने परिवारसहित अनेक वर्षोंतक ज्वालापुर महाविद्यालयमें रहते रहे, जिनदिनों मैं वहां अध्ययन करता था। इस कारण भी पं० भगवद्दत्त जी का और मेरा परस्पर अधिक आकर्षण रहा है। पण्डित जी ने लालचन्द लाईब्रेरी में मेरे स्वाध्याय के लिये प्रत्येक प्रकार की सुविधायें प्रदान की हुई थीं। मुझे यह कहने में कोई सङ्कोच नहीं, कि प्रस्तुत ग्रन्थ के तयार होने में पण्डित जी के प्रत्येक प्रकार के उदार सहयोग का पूरा हाथ रहा है। पंजाब यूनिवर्सिटी लाई-

मेरी के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष श्री पं० बालासहाय जी शास्त्री ने भी मेरी इच्छानुसार ग्रन्थों के प्रस्तुत करने में मुझे हार्दिक सहयोग प्रदान किया।

इसप्रकार सन् १९२७ तक इस विषय पर प्रचुर सामग्री एकत्रित की जासकी। सबसे प्रथम उस सामग्री के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ का पञ्चम प्रकरण लेखबद्ध किया गया। इस प्रकरण को ग्रन्थ की चाबी समझना चाहिये, या ग्रन्थ का हृदय। षडध्यायी सूत्रों के रचनाक्रम को सूक्ष्मता से पर्यालोचन कर, सूत्रों में कुछ प्रक्षेपों को पकड़ लिया गया है, प्रस्तुत प्रकरण में इन्हीं का विवेचन है। प्रक्षेपों के निर्णय से, षडध्यायी सूत्रों की प्राचीनता के बाधक सिद्धान्त, काई की तरह फट जाते हैं। यह प्रकरण तैयार होजाने पर प्रथम प्रकरण का लिखना प्रारम्भ किया, आधा फुलस्केप परिमाण के १६ पृष्ठ से कुछ अधिक लिखे जाचुके थे, कि १९२८ सन् की अन्तिम छमाही के प्रारम्भ में ज्ञात हुआ, अखिल भारतीय प्राच्य परिषद् (ऑल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस) का द्विवार्षिक सम्मेलन इस वार लाहौर में होना निश्चित हुआ है। इस सम्मेलन के महामन्त्री नियुक्त हुए, श्री डॉ० लक्ष्मणस्वरूप जी एम० ए०। सन् १९२१ में लाहौर आने के थोड़े ही दिन बाद डॉक्टर साहिब से मेरा परिचय होगया था, धीरे-धीरे यह परिचय बढ़ता ही गया। इन दिनों डॉ० साहिब के साथ मेरी पर्याप्त घनिष्ठता थी, मैं उनके सहयोग में लेखन का एक अच्छा कार्य कर चुका था। मैंने उनसे मिलकर अपनी इच्छा प्रकट की, कि परिषद् के आगामी सम्मेलन में सांख्य-विषय का एक निबन्ध मैं भी प्रस्तुत करना चाहता हूं। एक दिन निश्चित समय देकर डॉक्टर साहब ने सांख्य के उन विवादग्रस्त विषयों पर मेरे साथ खुलकर संभाषण किया, और उन विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने मुझे साग्रह अनुमति दी, कि उक्त विषय पर मैं एक निबन्ध सम्मेलन में अवश्य प्रस्तुत करूं।

इस ग्रन्थ का लेखन वहीं रुक गया, और मैं निबन्धकी तयारी में लग गया। हिन्दी में वह शीघ्र ही तयार कर लिया गया। मैं दो ही भाषा जानता हूँ, संस्कृत और हिन्दी। इस निबन्धको संस्कृत में प्रस्तुत किया जासकता था, पर मेरी कुछ ऐसी भावना रही, कि सांख्यविषयक विचारों को मैं जिन विद्वानों के सन्मुख उपस्थित करना चाहता हूँ, कदाचित् संस्कृत में होने के कारण वे इनको उपेक्षा की दृष्टि से जांच सकते हैं। सौभाग्य से, भारत के मूर्द्धन्य विद्वानों के सन्मुख अपने विचारों को उपस्थित कर सकने का यह बहुत अच्छा अवसर था। दो वर्ष के अनन्तर तीन चार दिन के लिये यही एक ऐसा अवसर आता है, जब भारत के शिरोमणि विद्वान् एकत्रित होते हैं, और गम्भीर तथा विवादास्पद विषयों पर विवेचना करते हैं। इस सुयोग को मैं हाथ से जाने देना नहीं चाहता था, मैं समझता था, कि इन विचारों के, विद्वानों के सन्मुख आनेपर जो अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया होगी, उससे मेरे ग्रन्थ की पूर्णाङ्गता में विशेष सहायता मिलेगी, इसलिये मुझे यह चिन्ता हुई, कि मैं अपना निबन्ध इंग्लिश में ही प्रस्तुत करूं। इस कार्य के लिये मैंने अपने प्रियशिष्य श्री० पं० वाचस्पति एम्. ए., बी. एस्सी., विद्या-

वाचस्पति को चुना। उस समय तक ये एम्. ए. उत्तीर्ण नहीं हुए थे, इस श्रेणी में पढ़ रहे थे। यह कार्य यथासमय सम्पन्न होगया। सम्मेलन के अवसर पर निबन्ध को सुनाने के लिये मैंने अपने एक अन्य शिष्य श्री गोपालकृष्ण शर्मा बी. ए. लायलपुरनिवासी को कहा। उन दिनों ये लाहौर के गवर्नमेण्ट कालिज में एम्. ए. श्रेणी में पढ़ते थे, और मेरे पास अतिरिक्त समय में संस्कृत साहित्य तथा दर्शन का अभ्यास करते थे। उन्होंने इस कार्य को सहर्ष स्वीकार किया, और यथासमय यह निबन्ध सम्मेलन में पढ़ा गया। उस वर्ष के सम्मेलन की विवरण पुस्तक के द्वितीय भाग में यह मुद्रित होचुका है।

इस सम्मेलन का एक संस्मरण और लिख देना चाहता हूं। अखिल भारतीय प्राच्य परिषद् का यह पञ्चम सम्मेलन था, इस के अध्यक्ष थे—कलकत्तानिवासी महामहोपाध्याय श्री डा० हरप्रसाद जी शास्त्री। शास्त्री जी से समय लेकर विशेष रूप से मैं उनके निवासस्थान पर जाकर मिला। उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक मेरे विचार सुनने के लिये पर्याप्त समय दिया। हमारे वार्त्तालाप में कठिनता यह हुई, कि मैं इंग्लिश नहीं बोल सकता था, और उन्हें हिन्दी बोलने में अति कष्ट होता था, तब हमारे विचारों का आदान प्रदान संस्कृत के द्वारा ही हुआ। उन्होंने मेरे विचारों को बड़ी शान्ति और धैर्य के साथ सुना, और विवादग्रस्त विषयों पर आधुनिक विचार धारा के अनुसार खुली आलोचना की। तब यथाशक्य सक्षेप में मैंने उन सब आलोचनाओं का उत्तर दिया, वह सब सुनकर शास्त्री जी ने जो कुछ शब्द उस समय कहे वे आजतक मुझे उसी तरह याद हैं। उन्होंने कहा—'शास्त्रिन्! अतिभयंकरं एतत्'। अर्थात् तुम्हारे विचार बड़े डरावने हैं। संभव है, आज भी अनेक विद्वानों को ये विचार डरावने लगें, पर विद्वानों से मेरा यही निवेदन है, कि इनकी तथ्यता की ओर ध्यान देना चाहिये, तब भय दूर होसकता है। यही उत्तर मैंने उस समय महामहोपाध्याय जी को दिया था।

सम्मेलन के अनन्तर बहुत शीघ्र मुझे अकस्मात् लाहौर छोड़ना पड़ा, जिसका संकेत अभी पहले मैं कर चुका हूँ। उसके बाद पूरे सोलह वर्ष तक मैं अपने जीवन को ऐसी स्थिति में व्यवस्थित न करसका, जहां इस ग्रन्थ को पूरा करने की अनुकूलता होसकती। जिस पृष्ठ और जिस पंक्ति तक वह लाहौर सम्मेलन से पूर्व लिखा जाचुका था, वहीं तक पड़ा रहगया। इस बीच बहुत उथल पुथल हुई। जो विचार उस समय तक लिपिबद्ध होगये थे, वे तो उसी तरह सुरक्षित रहे, पर मस्तिष्क की निधि बहुत कुछ सरक चुकी थी। अन्ततः सोलह वर्ष के अनन्तर फिर लाहौर जाने का सुयोग बन गया। इस अवसरको लाने में मेरे शिष्य प० वाचस्पति एम्. ए., बी. एससी., विद्यावाचस्पति का भी बड़ा हाथ था। सन् १६४५ के जनवरी मास के प्रारम्भ में ही मैं लाहौर पहुंचा। इस समय मैं इसी निश्चय के साथ वहां गया था, कि सर्वप्रथम इस ग्रन्थ को लिपिबद्ध करूँगा।

इस अवसर पर मेरे लाहौर पहुँचने और इस ग्रन्थ के लिये कार्य करने के मुख्य आधार

श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी हैं। स्वामी जी आर्यसमाज के स्तम्भ हैं, और भारतीय वैदिक संस्कृति के विद्वानों में अग्रगण्य समझे जाते हैं। इसी तरह के कुछ अन्य विद्वान् संन्यासियों और सद्गृहस्थों ने मिलकर लगभग दस वर्ष हुए, लाहौर में एक संस्था की स्थापना की, इसका नाम है—'विरजानन्द वैदिक संस्थान'। श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी इस संस्था के अध्यक्ष हैं। इस के सम्पूर्णव्यय का प्रबन्ध श्री स्वामी जी महाराज करते हैं। इसीसे सम्बद्ध होकर मैं इस अवसर पर लाहौर पहुँचा, और लगातार ढाई वर्ष के परिश्रम से इस ग्रन्थ को लिपिबद्ध किया जासका।

सोलह वर्ष के अनन्तर लाहौर आने पर वहां कुछ ऐसे परिवर्तन होगये थे, जिनका प्रभाव इस ग्रन्थ लेखन पर आवश्यक था। फिर भी मैं अपने कुछ ऐसे पुराने स्नेही मित्रोंके सम्पर्क में आगया था, जिनका पूरा सहयोग मेरे इस कार्य के साथ रहा है। यद्यपि पं० भगवद्दत्त जी इस समय लालचन्द अनुसन्धान पुस्तकालय के अध्यक्ष न थे, और इस कारण मैं अबकी बार उस पुस्तकालय का अच्छा उपयोग न कर सका, पर पण्डित जी के विस्तृत अध्ययन ने मेरी पूरी सहायता की, और पुस्तकों की न्यूनता को श्री पं० बालासहाय जी शास्त्री के अनुपम सौहार्द ने विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से पूरा किया। मैं इन मित्रों का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। श्री पं० भगवद्दत्त जी ने तो प्रारम्भ से लेकर आज इन पंक्तियों के लिखने तक मेरी पूरी सहायता की है, मैं उनके इस सहयोग को कभी भूल नहीं सकता।

जिन दिनों मैं इस ग्रन्थ को लाहौर में लिख रहा था, श्रीयुत डॉ० लक्ष्मणस्वरूप जी एम्० ए०, ने अनेक प्रकरणों तथा उनके अंशोंको ध्यानपूर्वक सुना, और कई स्थलोंपर उन्होंने अच्छे सुझाव भी दिये। मध्यकालिक भारतीय विद्वानों के तिथिक्रम के सम्बन्ध में योरपीय विद्वानों द्वारा दिये गये निर्णयों पर विशेष रूप से डॉक्टर साहब के साथ चर्चा होजाती थी, और वे सदा गम्भीरतापूर्वक अपनी सम्मति देते थे, कभी उन्होंने किसी बात को टालने का यत्न नहीं किया। उनके इस सहयोग ने अपने कार्य में मुझे सदा प्रोत्साहित किया है। मैं हृदय से उनका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। कदाचित् यदि आज डॉ० साहब जीवित होते, तो उनको इस ग्रन्थ के प्रकाशन से अत्यन्त प्रसन्नता होती। उन्हीं दिनों सन् १९४६ के जुलाई मास में एक दिन अकस्मात् हृदयगति रुद्ध होजाने से उनका स्वर्गवास होगया।

पञ्जाब विश्वविद्यालय के प्राच्य महाविद्यालय [ओरियण्टल कालिज] में लिपि और भाषाविज्ञान के प्राध्यापक ला० जगन्नाथ जी अग्रवाल एम. ए. महोदय ने, मध्यकालिक राजाओं के उत्कीर्ण लेखों की जानकारी देने में मेरी पूरी सहायता की है, इस ग्रन्थ के छठे और सातवें प्रकरण में मध्यकालिक उत्कीर्ण लेखों का प्रसंगवश जो वर्णन आया है, उन सबका पूरा विवरण अग्रवाल साहब से ही मैं प्राप्त कर सका हूँ। आपके सरल सौम्य व आकर्षक स्वभाव का मुझ पर सदा प्रभाव हुआ है। लाहौर में कई २ घण्टे तक इन विषयों पर मैं उनसे चर्चा करता रहा हूं, पर

उन्होंने इस कार्य के लिये अपने समय के व्यय का कभी अनुभव नहीं किया। मैं उनका हृदय से अत्यन्त अनुगृहीत हूँ।

इसीप्रकार मित्रों के स्नेह और उत्साह प्रदान से धीरे २ इस ग्रन्थ को लिखकर सन् १९४७ के जुलाई मास में समाप्त कर चुका था, लाहौर उन दिनों राजनैतिक आधारों की हवा पाकर साम्प्रदायिक अग्नि में धू २ करके जल रहा था। इस साम्प्रदायिक अग्नि ने बाद में वास्तविक भौतिक अग्नि का रूप धारण कर लिया। जनता में भगदड़ मची हुई थी, प्रतिदिन कहीं बम, कहीं छुरे और कहीं आग की घटना होती रहती थीं। यह क्रम मार्च १९४७ से लेकर लगातार चलता ही रहा, किसी व्यक्ति का जीवन उन दिनों निश्चिन्त और स्थिर न था, पर मैं इस ग्रन्थ को लाहौर रहते हुए समाप्त कर लेना चाहता था, कदाचित् लाहौर से बाहर जाकर मुझे इसके लिखे जाने की आशा न थी, इसलिये इन हृदयविदारक, सर्वथा व्यग्र कर देनेवाले उत्पातों के बीच में भी धीर और शान्तभाव से इस ग्रन्थ को पूरा कर लेने में लगा रहा। किस तरह मैं नीला गुम्बद में अपने घर से निकलकर रावी रोड पर, गुरुदत्त भवन के समीप अपने कार्यालय में प्रतिदिन जाता और आता था, मार्ग में अनेक स्थल अत्यन्त भयावह थे, कभी भी कोई दुर्घटना होसकती थी, पर एक आन्तरिक भावना मुझसे यह सब करा रही थी। इस ग्रन्थके अन्तिम प्रकरणोंकी एक २ पंक्ति, मैंने अपने जीवन को हथेली पर रखकर पूरी की है। कदाचित् उन पंक्तियों के पढ़ने से ही पाठक इन भावनाओं तक न पहुंच सकेंगे। अन्ततः भगवान की दया से १९४७ की जुलाई समाप्त होने से पहले ही मैं इस ग्रन्थ को पूरा कर सका।

उस समय नीला गुम्बद की मस्जिद के पीछे की ओर अभ्रंलिह विशाल मूलचन्द बिल्डिङ्ग में मैं ही अकेला अपने परिवार के साथ टिका हुआ था, वहां अन्य जितने परिवार रहते थे, सब बाहर जा चुके थे, जुलाई का महीना समाप्त हुआ, अगस्त के प्रारम्भ में ही न मालूम किस अज्ञात प्रेरणा से प्रेरित हो मैं भी किसी तरह अपने परिवार को लेकर घर की ओर चल पड़ा और सकुशल वहां पहुंच गया। अपना विशाल पुस्तकालय और घर का सामान सब वहीं रहा। विचार था, कि लाहौर फिर वापस आना ही है। यद्यपि राजनैतिक आधारों पर देश का विभाजन हो चुका था, पर लाहौर लटकन्त में था। अगस्त का दूसरा सप्ताह प्रारम्भ होते ही जो स्थिति लाहौर की हुई, उससे प्रत्येक व्यक्ति परिचित है, वहां वापस जाने का दिन फिर न आया, आगे की कल्पना करना ही व्यर्थ है।

अभी श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी वहीं थे, वे गुरुदत्त भवन में रह रहे थे। कई मास के अनन्तर ज्ञात हुआ, कि वे १७ अगस्त को कुछ अन्य व्यक्तियों के साथ सैनिक लारी में वहां से लाये जासके थे। 'विरजानन्द वैदिक संस्थान' का विशाल पुस्तकालय जो लगभग डेढ़ लाख रुपये के मूल्य का था, सब वहीं रह गया, अनेक तैयार ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां, जिनके प्रस्तुत करने में लगभग बीस सहस्र रुपया व्यय होचुका था, सब वहीं रह गईं। भाग्य से प्रस्तुत ग्रन्थ की

पाण्डुलिपि का अन्तिम भाग, जो स्वामी जी के पास ही था, उनके झोले में आगया। वहां से स्वामी जी रुग्ण अवस्थामें अमृतसर आये, कई मास तक वहीं रुकना पड़ा। लगभग दो वर्ष तक कोई निश्चित व्यवस्था न होने के कारण संस्थान का कार्य शिथिल रहा। स्वामी जी कुछ परिस्थितियों से बाध्य हो ज्वालापुर वानप्रस्थ आश्रम में आगये, और वहीं संस्थान का कार्य प्रारम्भ किया गया।

इस पुस्तक की पाण्डुलिपि लाहौर से बच आई थी, अब इसके प्रकाशन का प्रश्न था। श्री स्वामी जी ने यत्न करके इसका भी प्रबन्ध किया। अब से लगभग नौ महीने पूर्व इस ग्रन्थ का मुद्रण प्रारम्भ हुआ था। भगवान् की अपार कृपा छाया में इसका मुद्रण अब पूर्ण होरहा है। इसके प्रूफ मैंने स्वयं पढ़े हैं। इसके लिये मुझे इतने समय तक देहली रहना पड़ा है। आजकल यहां की अपार भीड़ और खाद्य वस्तुओंकी महर्घताके कारण देहली-निवास सरल कार्य नहीं मैं श्रीयुत ठा० गजेन्द्रसिंहजी असिस्टेन्ट सेक्रेटरी मिनिस्टरी आफ् होम अफेयर्ज [उपमंत्री, गृहसचिवालय], भारत सरकार, और श्रीमती सरस्वती देवी, धर्मपत्नी ठा० मदनपालसिंह, जनरल मैनेजर लक्ष्मी देवी शुगर मिल्ज लिमिटेड छितौनी, का अत्यन्त अनुगृहीत हूं। इतने दिन तक मेरे देहली-निवास का सब प्रबन्ध इन्होंने ही किया, यहां रहते हुए मैंने प्रतिक्षण यही अनुभव किया, मानों अपने घर में ही रहरहा हूं। पुस्तक के मुद्रण में इस सहयोग का मैं अत्यधिक मूल्यांकन करता हूं।

पुस्तक के मुद्रण काल में अनेक स्थलों पर सन्देह होने पर मुझे कई पुस्तकों को देखने की आवश्यकता पड़ती रही है। देहली में कोई भी सार्वजनिक पुस्तकालय नहीं है। जो कुछ है, एक ही पुस्तकालय, देहली विश्वविद्यालय का है। वहां से पुस्तकें लेने में मुझे अधिक सुविधा नहीं होसकती थी। परन्तु इस दिशा में मेरी समीपसम्बन्धिनी श्रीमती निर्मला शेरजंग एम् ए. बी. टी., एल्.एल्. बी. ने मुझे बहुत सहायता दी है, ये आजकल इन्द्रप्रस्थ गर्ल्ज कॉलिज में दर्शन और मनोविज्ञान की प्राध्यापिका हैं। मैं निर्मल जी का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। इस सहयोग के न मिलने पर निश्चित ही मुझे अधिक कष्ट होता, और यह भी संभव था, कि पुस्तक में कुछ स्थल अशुद्ध छप जाते, तथा कई आवश्यक अंश छपने से रहजाते।

मुद्रण कालमें एक और आवश्यक बात हुई है, जितने फॉर्मे छपते जाते थे, उनकी एक एक प्रति मैं अपने कुछ मित्रों को भेजता रहा हूँ। उनमें तीन महानुभावों का नाम विशेष उल्लेखनीय है—१—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, २—श्री पं० भगवद्दत्त जी बी. ए. तथा ३—श्री पं० सीताराम जी सहगल एम. ए., इन महानुभावों का मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूं। इन्होंने ग्रन्थ के छपते २ कई आवश्यक सुझाव दिये हैं, मैंने उनको सादर स्वीकार किया है।

मेरे पुराने मित्र, श्रीयुत डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल का मैं हृदय से अत्यन्त आभारी हूं। मेरे निवेदन पर आपने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखने का विशेष अनुग्रह किया

है, और इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालकर इसके महत्त्व को बढ़ाने में मुझे हार्दिक सहयोग दिया है।

काशीवासी श्रीयुत डॉ॰ मङ्गलदेवजी शास्त्री के दर्शन, चिरकाल के अनन्तर अभी पिछले दिनों गुरुकुल काङ्गड़ीकी सुवर्णजयन्ती के अवसर पर हुए। आप मेरे छात्रावस्था के सुहृद् हैं। आपने गुरुकुल में समय निकाल कर इस ग्रन्थ के बहुत अधिक भागों को ध्यान से सुना, मेरी इच्छा पर उन्होंने ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्राक्कथन रूप से कुछ प्रशस्त शब्द लिख भेजे हैं, जो भूमिका के अनन्तर मुद्रित हैं। मैं इस सहयोग के लिये आपका अत्यन्त अनुगृहीत हूं।

यह ग्रन्थ देहली के सार्वदेशिक प्रेस में मुद्रित हुआ है, प्रेस के अध्यक्ष पं॰ ज्ञानचन्द्रजी बी. ए. तथा प्रेस के अन्य सब कर्मचारियों का मैं बहुत आभारी हूं। विशेष बाधाओं के अतिरिक्त सब ही व्यक्तियों ने सावधानतापूर्वक इस कार्य में सहयोग दिया है। अत्र यह ग्रन्थ मुद्रित होकर विद्वान् पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। इसकी उपयोगिता की जांच पाठक स्वयं करें।

यह ग्रन्थ आठ प्रकरणों में पूरा हुआ है. नौवां प्रकरण 'उपसंहार' नामक और लिखने का विचार था। परन्तु उस समय लाहौर छोड़ देने के कारण वह न लिखा जासका, और अब जल्दी उसके लिखे जाने की आशा भी नहीं है। उस प्रकरण में मध्यकाल के उन आचार्यों का तिथिक्रम निश्चय करने का विचार था, जिनका सम्बन्ध प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित विषयों से है।

सांख्यविषयक बहिरंगपरीक्षात्मक प्रस्तुत ग्रन्थ, मूलसांख्यग्रन्थ की भूमिकामात्र है। सांख्य के मूल सिद्धान्तों का विवेचनात्मक ग्रन्थ, 'सांख्यसिद्धान्त' नामक लिखा जारहा है आधे से अधिक भाग लिपिबद्ध किया जाचुका है। भगवान् की दया एवं विद्वानों के सहयोग से शीघ्र ही उसके भी प्रकाशित कराने का यत्न किया जायगा।

विनीत—
उदयवीर शास्त्री

१६. बाराखम्बा लेन, नई दिल्ली।
सौर १४ ज्येष्ठ, रविवार, सं॰ २००७ विक्रमी।

विषयानुक्रमणिका

तृतीय प्रकरण

षष्टितन्त्र अथवा सांख्यषडध्यायी

षष्ठ प्रकरण

सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार

सप्तम प्रकरण

सांख्यसप्तति के व्याख्याकार

वाचस्पति मिश्र

जयमंगला टीका

युक्तिदीपिका टीका

आचार्य गौडपाद

माठरवृत्ति

माठरवृत्ति और सुवर्णसप्ततिशास्त्र

अष्टम प्रकरण

अन्य प्राचीन सांख्याचार्य

संशोधन

कहीं २ दृष्टिदोष अथवा छपते समय मात्रा आदि के टूट जाने से पाठ अन्यथा होगये हैं, इसप्रकार के पाठों को पाठक स्वयं ठीक कर सकते हैं। पृष्ठ १०४ से १४१ तक विषम संख्या के पृष्ठों पर प्रकरण का नाम अशुद्ध छपा है, पाठक 'कपिलप्रणीत षष्ठितन्त्र' के स्थान पर 'षष्ठितन्त्र अथवा सांख्यषडध्यायी' पढ़ें। इसके अतिरिक्त—

पृ०	पं०	के स्थान पर	पढ़ें—
२ [आवरण]	४	एशिटक्विचटी	एशिटक्विटी
३ [ग्रन्थ]	३१	इण्डिन	इण्डियन
८१	३	साख्यचार्यों	सांख्याचार्यों
८६	२६	+	१—
१२८	३	हर पन	हरदत्त
१३६	२०	अनुबाद	अनुवाद
१८०	१२-१३	जिसका अपर नाम सायण	जो सायण का ज्येष्ठ भ्राता
१८०	१४-१६	के नाम से भी	का बड़ा भाई
२३६	७	आक्षेप	प्रक्षेप
२६१	७	बौद्ध ग्रन्थ	जैन ग्रन्थ
३४७	८	मानते	मानने
३४८	२६	शार्ङ्गधर संहिता	शार्ङ्गधर पद्धति
३६८	८	कामन्दकीम	कामन्दकीय
४१६	१३	सांख्यचार्य	सांख्याचार्य

ग्रन्थसंकेत-विवरण

I. H. Q.=इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली
कात्या० श्रौ०=कात्यायन श्रौतसूत्र
काम० नी०=कामन्दकीय नीतिसार
कौषी० ब्रा०=कौषीतकि ब्राह्मण
छा०=छान्दोग्य उपनिषद्
JASB=जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी बंगाल
J. O. R.=जर्नल ऑफ ओरियन्टल रिसर्च
J. R. A. S.=जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी
त० स० सू०=तत्त्वसमास सूत्र
तैत्ति० ब्रा०=तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०=तैत्तिरीय संहिता
पा० यो० सू०=पातञ्जल योगसूत्र
पात० यो० सू० व्या० भा०=पातञ्जल योगसूत्र व्यासभाष्य
प्र० चन्द्रो०=प्रबोधचन्द्रोदय नाटक
Bibl Ind=बिब्लिओथिका इण्डिका
ब्र० सू० शां० भा०=ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
मनु०=मनुस्मृति
म० भा०=महाभारत
यु० दी०=युक्तिदीपिका
रामा०=रामायण
लाट्या० श्रौ०=लाट्यायन श्रौतसूत्र
वा० रा०=वाल्मीकि रामायण
श० ब्रा०, शत० ब्रा०=शतपथ ब्राह्मण
श्लो० वा०=श्लोकवार्त्तिक
सां० का०=सांख्यकारिका
सां० सू०=सांख्यषडध्यायी सूत्र
Z. D. M. G.=साइतश्रिफ्ट डायश मार्गेनलाण्डेस गेसेलशाफ्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

अथर्ववेद परिशिष्ट
अद्वैतदीपिका
अद्वैतब्रह्मसिद्धि
अनिरुद्धवृत्ति
अनुयोगद्वारसूत्र [जैन ग्रन्थ]
अपरार्का [याज्ञवल्क्यस्मृति टीका]
अपोह प्रकरण [धर्मोत्तर, बौद्ध ग्रन्थ]
अभयदेव सूरि व्याख्या [सन्मति तर्क]
अभिधानचिन्तामणि
अमरकोष
अलबेरूनी का भारत [इण्डिका]
अष्टसहस्री [जैनग्रन्थ]
अष्टाध्यायी [पाणिनि]
अहिर्बुध्न्यसंहिता
ऑन युआँन च्वांगज़ ट्रैवलज़ इन् इण्डिया.
आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आप्तमीमांसालंकृति [जैनग्रन्थ]
आर्षानुक्रमणी [ऋग्वेद]
इंग्लिश अनुवाद [व्यासभाष्य, वाचस्पत्य]
इण्डियन एण्टिक्वेरी
इण्डियन फिलॉसफी [राधाकृष्णन]
इण्डियन लॉजिक
इण्डियन लॉजिक एण्ड एटॉमिज़्म
इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली
ईशोपनिषद्
उपमितिभवप्रपञ्चा कथा [जैन ग्रन्थ]
उपोद्घात [सांख्यसार, एफ. ई. हॉल]
ऋग्वेद
ऋग्वेदभाष्य [वेङ्कटमाधव]
ऋग्वेदिक इण्डिया
ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ सांख्य सिस्टम
एन्शन्ट ज्यॉग्रफ़ी ऑफ़ इण्डिया [कनिंघम]
एन्शन्ट संस्कृत लिट्रेचर
एशियाटिक रिसर्चेज़ [सेन्टिनरी रिव्यू ऑफ़ दि एशियाटिक सोसायटी बंगाल]
ऐतरेय आरण्यक
कठ उपनिषद्
कर्णकगोमि व्याख्या [प्रमाणवार्त्तिक]
कल्पसूत्र [जैन ग्रन्थ]
कल्पसूत्र [भद्रबाहु]
काठक संहिता
कात्यायन वार्त्तिक
कात्यायन श्रौतसूत्र
कामन्दकीय नीतिसार
काव्यादर्श
किरणावली
कृत्यकल्पतरु
कृष्णचरित [समुद्रगुप्त]
केशव कल्पद्रुम
कैटालॉगस् कैटालॉगरम्
कैलास मानसरोवर
कौटलीय अर्थशास्त्र
कौषीतकि ब्राह्मण
क्रमदीपिका
क्रॉनोलॉजी ऑफ इण्डियन आथर्ज़ (ए सप्लिमेंन्ट टु मिस् डॅफज़ क्रॉनोलॉजी ऑफ इण्डिया)
खोह कॉपर प्लेट
गणकारिका
गणरत्नमहोदधि
गरुड़ पुराण
गर्भोपनिषद्
गीता में ईश्वरवाद

गीतारहस्य
गोपालतापिनी उपनिषद्
गौड़पाद भाष्य (सांख्यसप्तति)
गौतम न्याय सूत्रेज (गंगानाथ झा, पूना ओरियण्टल सीरीज़, नं० ४६)
चक्रपाणिटीका (चरक संहिता)
चन्द्रिका (सांख्यसप्तति व्याख्या)
चरक संहिता
छान्दोग्य उपनिषद्
जयमंगला (कामन्दकीय नीतिसार टीका)
जयमंगला—कामसूत्र टीका
जयमंगला—भट्टिकाव्य टीका
जयमंगला (सांख्यसप्तति-व्याख्या)
जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री
जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी बंगाल
जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च (मद्रास)
जर्नल आफ दि आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी
जर्नल ऑफ दि गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टिट्यूट
जर्नल ऑफ बिहार ऐण्ड ओरीसा रिसर्च सोसायटी
जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोयायटी
ज़ैड. डी. ऐम. जी. (श्रैडर)
जैनसाहित्य और इतिहास
डाईनैस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया (ऐच. सी. रे)
तत्त्वमीमांसा
तत्त्वयाथार्थ्यदीपन
तत्त्ववैशारदी (व्यासभाष्य टी०)
तत्त्वसमास
तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक
तत्त्वोपप्लव
तरङ्गिणी (रामरुद्री)
तर्करहस्यदीपिका (षड्दर्शनसमुच्चय व्याख्या गुणरत्नसूरि)
ताण्ड्य महाब्राह्मण
तात्पर्यटीका (न्यायवार्त्तिक व्याख्या)
तात्पर्यपरिशुद्धि
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्तिरीय संहिता
त्रिकाण्डशेष
दर्शनपरिचय
दि ज्यॉग्रफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्शन्ट ऐण्ड मैडिएवल इण्डिया (नन्दूलाल)
दि पूना ओरियण्टलिस्ट
दि योगसिस्टम ऑफ पतञ्जलि (वुड्ज़)
दि सिक्स् सिस्टम्ज़ ऑफ इण्डियन फिलॉसफी (मैक्समूलर)
दि हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर (कीथ)
दुर्गवृत्ति (निरुक्त)
धर्मसंग्रहणी वृत्ति (जैनग्रन्थ)
नवन्यायरत्नाकर (=नवकल्लोल)
नागरसर्वस्व
नालन्दा कॉपर प्लेट्
निदानसूत्र
निरुक्तभाष्यटीका (स्कन्दमहेश्वर)
निरुक्तालोचन
नैषध-व्याख्या (मल्लिनाथ)
नोटिसेज़ ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स् (सेकण्ड सीरीज़)
न्यायकणिका
न्यायकन्दली

न्यायकुसुमाञ्जलि
न्यायदर्शन
न्यायभूषण
न्यायमञ्जरी
न्यायवार्त्तिक
न्यायसूचीनिबन्ध
पञ्चदशी
पञ्चदशी-हिन्दीरूपान्तर
पञ्चविंश ब्राह्मण
पञ्चशिखसूत्र
पञ्जिका (तत्त्वसंग्रहव्याख्या)
पतञ्जलिचरित
पद्मपुराण
परमार्थसार
पाणिनि एण्ड मानव कल्पसूत्र
पुण्यराज व्याख्या (वाक्यपदीय)
प्रकाश टीका (न्यायकुसुमाञ्जलि)
प्रबोधचन्द्रोदय
प्रमाणमीमांसा
प्रमाणवार्त्तिक
प्रमाणसमुच्चय (दिङ्नाग)
प्रमेयकमलमार्तण्ड
प्रशस्तपाद भाष्य
प्रश्न उपनिषद्
प्रोसीडिंगज् ऑफ़ दि फिफ्थ ओरियण्टल कॉन्फ्रेन्स (लाहौर)
फ्लीट् गुप्त इन्स्क्रिप्शन्ज्
बालरामोदासीन व्याख्या (सांख्यतत्त्वकौमुदी)
बिब्लिओथिका इण्डिका
बुद्धचरित
बुद्धिस्ट रैकर्डज् ऑफ़् द वैस्टर्न वर्ल्ड्
बुलैटिन (१९०४)
बृहत्संहिता, भट्टोत्पल व्याख्या सहित
बृहदारण्यक उपनिषद्
बृहन्नारदीय पुराण
बौधायन धर्मसूत्र
बौधायन श्रौतसूत्र
ब्रह्मविद्या [अडियार बुलैटिन]
ब्रह्माण्ड पुराण
भगवदज्जुकीयम्
भगवद्गीता
भट्टभास्कर भाष्य [तैत्तिरीय संहिता]
भट्टिकाव्य
भट्टोजि दीक्षित व्याख्या [पाणिनि सूत्र]
भण्डारकर कमैमोरेशन वाल्यूम
भामती
भारतवर्ष का इतिहास [भगवद्दत्त]
भारतीय दर्शन
भास्करभाष्य [ब्रह्मसूत्र]
भिल्लमाल जैनमन्दिरस्थित शिलालेख
भूमिका [किरणावली]
भूमिका [गौडपाद भाष्य]
भूमिका—जयमङ्गला [कविराज गोपीनाथ]
भूमिका—न्यायवार्त्तिक [विन्ध्येश्वरीप्रसाद]
मज्झिमनिकाय
मत्स्य पुराण
मनुस्मृति
महाभारत
महाभारत मीमांसा
महाभाष्य [व्याकरण]
माठरवृत्ति
माधवानुक्रमणी [वेङ्कट माधव]

मार्कण्डेय पुराण
मालतीमाधव नाटक
मीमांसादर्शन
मीमांसान्यायप्रकाश
मुक्तावलीप्रकाश
मुण्डकोपनिषद्
मेघसंदेश [मेघदूत]
मेधातिथि व्याख्या [मनुस्मृति]
मैत्रायणी उपनिषद्
मैत्रायणी संहिता
मैत्र्युपनिषद्
यजुर्वेद
युक्तिदीपिका
योगदर्शन [योगसूत्र]
योगवार्त्तिक
रतिरहस्य
राजतरंगिणी
राजमार्तण्ड
राजवार्त्तिक
रामायण [वाल्मीकि]
लक्षणावली
ललितविस्तरा चैत्यवन्दनवृत्ति [जैनग्रन्थ]
लाट्यायन श्रौतसूत्र
वाक्यपदीय
वात्स्यायन कामसूत्र
वात्स्यायन भाष्य [न्यायसूत्र]
वादमहार्णव
वायुपुराण
विशेषनाम-पद सूची [महाभारत]
विष्णु पुराण
वी. ए. स्मिथ का इतिहास
वृत्तरत्नाकर
वृत्तिसार [महादेव]
वेदान्तकल्पतरु
वेदान्तदर्शन = ब्रह्मसूत्र
वेदार्थदीपिका [कात्यायन सर्वानुक्रमणी टीका]
वेबर्स् ऍण्डिस्के स्टडिऍन
वैदिक इण्डैक्स
वैदिक माईथालॉजी
वैराग्यशतक
वैशेषिकदर्शन
व्याख्यासुधा [अमरकोषटीका]
व्यासभाष्य [योगसूत्र]
व्योमवती
शतपथ ब्राह्मण
शंकरोपस्कार
शांकरभाष्य [ब्रह्मसूत्र]
शांकरभाष्य-मुण्डकोपनिषद्
शांकरभाष्य [श्वेताश्वतर]
शाखायन आरण्यक
शार्ङ्गधरपद्धति
शास्त्रदीपिका
शिवार्कमणि टीका [श्रीकण्ठभाष्य व्याख्या]
श्रीकण्ठभाष्य [वेदान्त ब्रह्मसूत्र]
श्रीमद्भागवत
श्लोकवार्त्तिक
श्वेताश्वतर उपनिषद्
षड्दर्शन समुच्चय [मलधारि राजशेखर]
षड्दर्शनसमुच्चय [हरिभद्रसूरि]
संस्कारमयूख
संस्कृतचन्द्रिका [मासिक पत्रिका]
संस्कृत डिक्शनरी [मोनियर विलियम]

संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास
[अप्रकाशित]
सत्याषाढ श्रौतसूत्र
सन्मतितर्क [जैन ग्रन्थ]
सरस्वतीकण्ठाभरण
सरस्वती [मासिक पत्रिका]
सर्वदर्शनसंग्रह
सर्वोपकारिणी टीका [तत्त्वसमास]
सांख्य उरुड योग
सांख्य के तीन प्राचीन ग्रन्थ
सांख्यतत्त्वकौमुदी [सांख्यसप्तति-व्याख्या]
सांख्यतत्त्वप्रदीप
सांख्यतत्त्वप्रदीपिका
सांख्यतत्त्वविवेचन
सांख्यदर्शन [सांख्यषडध्यायी]
सांख्यपरिभाषा
सांख्यप्रवचन भाष्य
सांख्यसंग्रह
सांख्यसप्तति
सांख्यसार
सांख्यसिस्टम
सांख्यसूत्रविवरण
सायणभाष्य [ऐतरेय आरण्यक]
सायणभाष्य [तैत्तिरीय संहिता]
साहित्यदर्पण
साहित्यमीमांसा
सिमरौनगढ़ी का शिलालेख
सुवर्णसप्ततिशास्त्र
सुश्रुत संहिता
सूत संहिता
स्कन्द पुराण
स्याद्वादरत्नाकर
स्वोपज्ञ [भर्तृहरि] व्याख्या [वाक्यपदीय]
हर्षचरित
हिस्टॉरिकल एटलस आफ इण्डिया
हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर [कीथ]
हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र
हिस्ट्री आफ बङ्गाल
हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर [मैक्डानल्ड]

सांख्यदर्शन का इतिहास

महर्षि कपिल

भारतीय जनश्रुति के आधार पर यह कहा जाता है, कि महर्षि कपिल, आदि दार्शनिक विद्वान था, और उसने सांख्यशास्त्र का निर्माण किया। किस ग्रन्थ का कपिल ने निर्माण किया, इसका निर्णय अगले प्रकरणों में किया जायगा। सबसे प्रथम, यह आवश्यक है, कि सांख्य-प्रणेता महर्षि कपिल कब तथा किस भूमिभाग पर अवतीर्ण हुआ? इसका विवेचन किया जाय।

संस्कृत वाङ्मय में कपिल नाम के अनेक आचार्यों का वर्णन आता है। इस विषय में विद्वानों का परस्पर बहुत मतभेद है, कि इनमें से सांख्यप्रणेता कपिल कौन है? आज ही नहीं, पहिले विद्वानों को भी इसके निर्णय में बहुत श्रम होता रहा है। यह एक आश्चर्य की बात है, कि इतने प्रसिद्ध और प्रामाणिक आचार्य के सम्बन्ध में विद्वानों ने अभी तक कुछ सन्तोष जनक निर्णय नहीं किया। हमारा इतिहास इस समय घोर अन्धकार में छिपा हुआ है। विदेशियों के, समय २ पर किये आक्रमणों के कारण हमारे प्राचीन नगर और साहित्य की परिस्थिति में भारी उथल पुथल हो चुकी है। इतिहास सम्बन्धी अनेक साधन बीसों फुट नीचे धरती में धंसे पड़े हैं। हम अपने प्रमाद से भी बहुत सी अमूल्य ज्ञान-सम्पत्ति को नष्ट कर चुके हैं। यह भी एक कारण है, कि सहस्रों वर्ष पूर्व उत्पन्न हुये, अत्यन्त प्राचीन ऋषियों के सम्बन्ध में ही हमें इतना अल्पज्ञान है। उनकी वास्तविक जानकारी के साधन अब तक न मालूम कितने रूपान्तरों में परिवर्त्तित हो चुके होंगे। ऐसी अवस्था में वास्तविक तत्त्व का प्रकट करना टेढ़ी खीर है। फिर भी जो कुछ साधन हमें उपलब्ध हो रहे हैं, उन्हीं के आधार पर इस ओर हम कुछ प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

कपिल के सम्बन्ध में कुछ आधुनिक विचार—

कुछ विद्वानों * का विचार है, कि "कपिल नाम के चार ऋषिपुंगव होगये हैं। उनमें से एक तो अभी कलियुग में हुये हैं, जो गोतम ऋषि के वंशज थे, तथा जिनके नाम पर कपिल-वस्तु नगर बसाया गया था। यह बात बौद्ध ग्रन्थों में लिखी है। बहुत से विदेशी विद्वान् इन्हीं को सांख्यशास्त्र के प्रणेता कहते हैं। परन्तु वास्तव में यह ठीक नहीं। क्योंकि यह शास्त्र अत्यन्त प्राचीन है। कपिल नाम के अवशिष्ट तीन ऋषियों में से (१) एक कपिल वे हुये हैं, जो ब्रह्मा जी के मानस पुत्र थे, तथा जो मूलज्ञानी कहलाते थे। (२) दूसरे कपिल अग्नि के अवतार थे। (३) तीसरे कपिल, देवहूति और कर्दम ऋषि के पुत्र थे।"

---

*इण्डियन प्रेस प्रयाग से प्रकाशित होने वाली हिन्दी की मासिक पत्रिका 'सरस्वती' [अगस्त, १९१६ ईसवी] में प्रकाशित 'सांख्यशास्त्र के कर्त्ता' शीर्षक लेख। लेखक-श्रीयुत श्रीकृष्ण शास्त्री तैलंग।

"तीसरे कपिलदेवजी के विषय में श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध के २४-३३ अध्याय देखिये—

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात् ।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां संमतायात्मदर्शने ॥ [अ० २४ । श्लो० ३६]

इन्हीं कपिलदेवजी ने अपनी माता देवहूति को तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। ये ईश्वर के अवतार थे। इन्होंने स्वयं अपनी माता से यह बात कही है। इससे ये सांख्यशास्त्र-प्रणेता कपिलदेव नहीं, किन्तु वेदान्तादि के उपदेश कर्त्ता हैं"

क्या सांख्यप्रणेता कपिल दो थे ?

उक्त विचारों में यही परिणाम निकाला गया है, कि शेष दो कपिल ही सांख्यशास्त्र के प्रणेता हैं। इनमें से ब्रह्मा के पुत्र कपिल, 'तत्त्व-समास' अथवा 'द्वाविंशति सूत्री' के रचयिता हैं। और सूत्रषडध्यायी के रचयिता हैं—अग्नि के अवतार भगवान् कपिल। इस पक्ष को पुष्ट करने के लिये एक संस्कृत सन्दर्भ उद्धृत किया जाता है—

+"*अथात्रानादिक्लेश-कर्म-वासनासमुद्रपतितान् अनाथान् उद्दिधीर्षुः परमकृपालुः स्वतःसिद्ध-ज्ञानो महर्षिर्भगवान् कपिलो ब्रह्मसुतो द्वाविंशतिसूत्राण्युपादिक्षत । सूचनात् सूत्रमिति हि व्युत्पत्तिः । तत एतैः समस्ततत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां सूचनं भवति । ततश्चेदं सकलसांख्यतीर्थमूलभूतम् । तीर्थान्तराण्यपि चैतत्प्रपञ्चभूतान्येव । सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारभगवत्कपिलप्रणीता । इयञ्च द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता ब्रह्मसुतमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेति वृद्धा वदन्ति ।*"

इस सन्दर्भ के आधार पर आपाततः यह अवश्य कहा जासकता है, कि तत्त्वसमास के बनाने वाले ब्रह्मसुत कपिल, और षडध्यायी के बनाने वाले अग्नि के अवतार कपिल हैं। परन्तु

+यह सन्दर्भ श्रीयुत तैलंग महोदय ने कहां से उद्धृत किया है, इसका उन्होंने कुछ भी निर्देश नहीं किया। हमें यह सन्दर्भ, 'तत्त्वसमास' की सर्वोपकारिणी टीकामें, उपलब्ध हुआ है। यह टीका चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस से 'सांख्य संग्रह' नाम के दो भागों में तत्त्व समास सूत्रों की अन्य अनेक टीकाओं के साथ प्रकाशित हो चुकी है। उसके पृष्ट १३ और १४ में यह पाठ मुद्रित है। श्रीयुत तैलंग महोदय ने अपना उद्धृत सन्दर्भ कहां से लिया, इसका हमें पता नहीं, परन्तु उनके सन्दर्भ में तथा चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ के छपे सन्दर्भ में अन्तर है, और उससे वह परिणाम नहीं निकाला जासकता, जो तैलंग महोदय ने निकाला है।

सन्दर्भ का अर्थ यह है—अनादि क्लेश कर्म वासनाओं के समुद्र में निमग्न, अनाथ, दीन हीन जीवों के उद्धार की इच्छा से, परम कृपालु स्वतः सिद्ध-ज्ञानवान् ब्रह्म पुत्र महर्षि कपिल ने बाईस सूत्रों का उपदेश किया। इसमें तत्त्वों की सूचना है, इसी से इन्हें सूत्र कहते हैं। इसीलिये इनके द्वारा सम्पूर्ण षष्टितन्त्र के अर्थ-समस्त तत्त्व सूचित हो जाते है। इसीलिये यह समस्त सांख्यशास्त्र का मूल है। शास्त्रान्तर भी इन्हीं बाईस सूत्रों के विस्तार रूप है। सूत्रषडध्यायी तो अग्नि के अवतार भगवान् कपिल ने बनाई है, और यह द्वाविंशतिसूत्री उसकी भी बीजभूत, ब्रह्मा के पुत्र महर्षि भगवान् कपिल की बनाई हुई है। यह बात बूढ़े लोग कहते चले आते हैं।

इस सन्दर्भ में तीन बातें बहुत ध्यान देने योग्य हैं—

(१) इसके अन्तिम वाक्य से स्पष्ट प्रतीत होरहा है, कि इसके लेखक ने यह बात केवल भारतीय जनश्रुति के आधार पर लिखी है। उन्होंने इस विषय में कोई ऐसे प्रमाण उपस्थित नहीं किये, जिनसे यह सिद्ध किया जासके, कि वस्तुतः सांख्य के रचयिता कपिल दो हैं।

(२) हमारा यह सन्देह, प्रस्तुत सन्दर्भ के एक और वाक्य से अधिक दृढ़ हो जाता है। वाक्य है—

तत एतैः समस्ततत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां सूचनं भवति ।

इन बाईस सूत्रों के द्वारा सम्पूर्ण षष्टितन्त्र के अर्थों—समस्त तत्त्वों—की सूचना हो जाती है। ये बाईस सूत्र केवल सांख्य विषय की सूची या तालिकामात्र* है। षष्टितन्त्र में जिन समस्त तत्त्वों या अर्थों का प्रतिपादन किया गया है, उनकी सूचनामात्र इन बाईस सूत्रों से होती है। 'सूचनं' यह पद स्पष्ट कर देता है, कि यह षष्टितन्त्र की केवल सूची है। इसलिये स्वभावतः यही बात युक्तिसंगत प्रतीत होती है, कि जिस आचार्य ने ये बाईस सूत्र बनाये, उसने ही समस्त तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाला कोई षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ बनाया। यदि षष्टितन्त्र किसी दूसरे का बनाया हुआ होता, तो उसका लेखक अपने षष्टितन्त्र ग्रन्थ में यह स्वीकार करता, कि उसने अमुक आचार्य की सूचीमात्र से अपने ग्रन्थ की रचना की। परन्तु ऐसा लेख षष्टितन्त्र ग्रन्थ में, तथा अन्यत्र भी कहीं नहीं मिलता। वह षष्टितन्त्र कौनसा ग्रन्थ है, इसका निर्णय अगले प्रकरणों में किया जायगा।

तैलंग का उद्धृत पाठ संदिग्ध है—

(३) अन्तिम बात इस सन्दर्भ के विषय में ध्यान देने योग्य यह है, कि श्रीयुत तैलंग महोदय ने जहां कहीं से भी यह पाठ उद्धृत किया है, वहां के मूल पाठ में कुछ और ही पाठ होना चाहिये· क्योंकि मुद्रित सांख्यसंग्रह में मूलपाठ इस प्रकार है—

अथ तापत्रयानादि-क्लेश-कर्म-वासनासमुद्रनिपतितान् अनाथदीनान् उद्दिधीर्षुः परमकृपालुः स्वतःसिद्धज्ञानो महर्षिर्भगवान् कपिलो द्वाविंशतिसूत्राण्युपादिक्षत् । सूचनात् सूत्रमिति हि व्युत्पत्तिः । तत एतैः समस्ततत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां च सूचनं भवति । इतश्चेदं सकलसांख्यतीर्थमूलभूतं तीर्थान्तराणि चैतत्प्रपञ्चभूतान्येव । सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीता, इयं तु द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेति वृद्धाः ।

इस सन्दर्भ से, दो स्थलों पर श्रीयुत तैलंग महोदय के दिये हुए सन्दर्भ में भारी परिवर्तन है। एक तो पहिले 'महर्षिर्भगवान कपिलः' के आगे 'ब्रह्मसुतः' पद अधिक है। दूसरे अन्तिम पंक्तियों में 'नारायणावतार' के स्थान पर 'ब्रह्मसुत' है। इस परिवर्तित मूलपाठ के आधार पर यह सिद्ध

*श्रीयुत बाबू हेरेन्द्रनाथ दत्त एम० ए०, बी० एल०, वेदान्त रत्न ने भी इस बात को स्वीकार किया है। देखिये, उनका ग्रन्थ 'गीता में ईश्वरवाद' हिन्दी अनुवाद, इण्डियन प्रेस प्रयाग से १६१८ ईसवी सन में मुद्रित। सातवां अध्याय पृष्ठ ६२, ६३।

करने का यत्न किया गया है, कि द्वाविंशतिसूत्री का रचयिता, ब्रह्मा का पुत्र कपिल है। पर इससे यह सिद्ध किया नहीं जा सकता; क्योंकि उपर्युक्त सन्दर्भ से यह स्पष्ट है, कि तत्वसमास या द्वाविंशतिसूत्री और षष्टितन्त्र का रचयिता, विष्णु का अवतार कपिल है। और सांख्यषडध्यायी का रचयिता, अग्नि का अवतार कपिल।

एशियाटिक सोसायटी बंगाल के सरकारी संग्रह में कापिल सूत्र-वृत्ति का जो हस्तलिखित ग्रन्थ, संख्या १४६१ पर सुरक्षित है; उसमें भी प्रस्तुत सन्दर्भ के बीच 'ब्रह्मसुत' पद नहीं है। वहां का पाठ इस प्रकार है—

... . महर्षिर्भगवान् कपिलो द्वाविंशतिसूत्राण्युपालिखत्। सूचनात् सूत्रमिति हि व्युत्पत्तिः। ततश्च तैस्तत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां ... . । सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारभगवत्कपिलप्रणीता, इयं तु द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणमहर्षिभगवत्प्रणीतेति वृद्धाः†।

इसलिये उक्त सन्दर्भ का जो पाठ तैलंग महोदय ने दिया है, वह अवश्य ही संदिग्ध है। उसमें 'ब्रह्मसुत' पद अधिक मिला दिया गया प्रतीत होता है।

ब्रह्मसुत कपिल—

ब्रह्मा का पुत्र कपिलदेव ही आदि कपिल है, और वही सांख्यशास्त्र का आदि प्रवर्त्तक है; इसका भी एक मूल मिलता है। साख्यकारिका के भाष्यकार आचार्य गौडपाद ने पहिली कारिका के उपोद्घात में लिखा है -

इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम। तद्यथा—

सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः।
आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा।
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः॥

ये ही पद्य श्रीयुत तैलंग महोदय ने पुराण के नाम से उद्धृत किये हैं। पर उनमें थोड़ा सा भेद है, जो इस प्रकार है—

सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः।
कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुः पंचशिखस्तथा।
सप्तैते मानसाः पुत्रा ब्रह्मणः परमेष्ठिनः॥

आचार्य गौडपाद ने भी इन पद्यों को पुराण से ही उद्धृत किया प्रतीत होता है। इन श्लोकों के आधार पर केवल इतनी बात कही जा सकती है, कि कपिल ब्रह्मा का मानस पुत्र है। मानसपुत्र कहने ही से यह बात प्रकट हो जाती है, कि कपिल के वास्तविक माता पिता कोई दूसरे ही थे।

---

†यह पाठ हमने JBORS [जर्नल आफ बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसायटी] Vol. 9. 1923 A. D., PP. 151-162 पर प्रकाशित, म० म० हरप्रसाद शास्त्री के एक लेख के आधार पर उद्धृत किया है। प्रसंग के लिये आवश्यक पाठ को ही यहां उद्धृत किया है, शेष पाठ बीच में छोड़ दिया है।

संभवतः ब्रह्मा का मानसपुत्र कपिल को इसलिये बताया गया हो, कि उसमें ब्रह्मा के समान अपूर्व वैदुष्य के अद्भुत गुण थे। पुराणों में इसका भी वर्णन आता है, कि इसके जन्म समय में ब्रह्मा ने स्वयं उपस्थित होकर इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ बतलाया था। यह भी संभव हो सकता है, कि इसने ब्रह्मा ही से ज्ञान प्राप्त किया हो, अथवा शास्त्र का अध्ययन किया हो। कपिल की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवत में इस प्रकार है—

श्रीमद्भागवत में विष्णु अवतार कपिल —

सबसे प्रथम तृतीय स्कन्ध के २१ वें अध्याय के प्रारम्भ में ही विदुर ने मैत्रेय से प्रश्न किया है, कि स्वायम्भुव मनु का वंश बड़ा प्रतिष्ठित है। उसकी एक पुत्री देवहूति, प्रजापति कर्दम की पत्नी है। उनकी संतान के सम्बन्ध में मैं सुनना चाहता हूँ; कृपया कहिये +।

विदुर के प्रश्न का उत्तर मैत्रेय ने इस प्रकार दिया है—ब्रह्मा ने भगवान् कर्दम को कहा, कि प्रजाओं की सृष्टि करो। तब कर्दम ने सरस्वती तट पर चिरकाल तक घोर तपस्या कर, भगवान् विष्णु को प्रसन्न किया। विष्णु ने प्रसन्न होकर सतयुग में शरीर धारण करके कर्दम को साक्षात् दर्शन दिया। संक्षिप्त संवाद के अनन्तर भगवान् विष्णु ने कहा, तुम्हारे आन्तर भाव को समझ कर मैंने पहिले ही उसकी आयोजना कर दी है, जिसके लिये आत्मसंयम कर तुमने मेरी उपासना की है। आप जैसे व्यक्तियों के द्वारा की हुई मेरी उपासना कभी मिथ्या नहीं हो सकती। देखो, प्रजापति का पुत्र सम्राट् मनु, जो ब्रह्मावर्त्त में रहता हुआ, सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करता है, अपनी महारानी के साथ तुम्हें देखने की इच्छा से परसों यहां आयेगा, और अपनी शीलसंपन्न पुत्री को तुम्हें देगा। मैं अपनी अंशकला के द्वारा, तुम्हारे वीर्य से तुम्हारे उस क्षेत्र देवहूति में उत्पन्न होकर तत्त्वसंहिता का निर्माण करूंगा ×।

इतना कह, भगवान् के चले जाने पर निर्दिष्ट समय में सम्राट् मनु अपनी रानी और कन्या के सहित कर्दम ऋषि के आश्रम में आया। और कन्या देवहूति का कर्दम के साथ विवाह कर, रानी के सहित अपने नगर को वापस चला गया ❋।

अनन्तर कर्दम से देवहूति में कई कन्यायें उत्पन्न हुईं। संसारधर्म से कर्दम को कुछ विरक्त हुआ जान, देवहूति बहुत खिन्न हुई। उसकी खिन्नावस्था को जानकर महर्षि कर्दम ने कहा, कि बहुत जल्दी ही तुम्हारे गर्भ में साक्षात् भगवान् प्राप्त होने वाले हैं, वह तुम्हारे हृदय के संपूर्ण संशयों का उच्छेद करेंगे। देवहूति भी प्रजापति [कर्दम] के इस संदेश को स्वीकार कर, श्रद्धापूर्वक भगवान् का भजन करने लगी। समय बीतने पर भगवान् विष्णु भी कर्दम के वीर्य को प्राप्त होकर, काष्ठ में अग्नि के समान, देवहूति में उत्पन्न हुए। तब सरस्वती के किनारे कर्दम

+ श्रीमद्भागवत, ३ । २१ । १—४॥

× श्रीमद्भागवत, ३ । २१ । ४—८; २२—२७॥

❋ श्रीमद्भागवत, ३ । २१ । ३३, ३६, ३७॥ ३ । २२ । २२, २६॥

ऋषि के आश्रम में मरीचि आदि ऋषियों के साथ ब्रह्मा उपस्थित हुए। और बड़ी प्रसन्नता से ऋषि कर्दम को कहने लगे-मैं जानता हूँ, आदि पुरुष भगवान् विष्णु ने अपनी माया से प्राणियों के कल्याण के लिये कपिल देह को धारण किया है। पुनः देवहूति को लक्ष्य कर कहा-हे मनुपुत्रि! तेरे गर्भ में साक्षात् विष्णु का प्रवेश हुआ है। यह तेरी अविद्या जन्य संशयग्रन्थियों को दूर कर पृथिवी पर विचरण करेगा। यह सिद्धसमुदाय में सबसे श्रेष्ठ, सांख्याचार्यों में सुप्रतिष्ठित, संसार में कपिल नाम से प्रसिद्ध होगा ⁄।

इस प्रकार देवहूति और कर्दम को आश्वासन देकर ब्रह्मा अपने स्थान को चले गये, और कर्दम ने, कपिल रूप में अवतीर्ण हुए भगवान को एकान्त में प्रणाम कर, उनकी अनेक प्रकार से स्तुति की। तदनन्तर भगवान कपिल ने कहा-वैदिक लौकिक कार्यों में लोगों को सचाई का सबूत देने के लिये ही मैंने यह जन्म लिया है। क्योंकि मैं प्रथम प्रतिज्ञा कर चुका था, कि आप के घर में पुत्र रूप से उत्पन्न होऊंगा। इस संसार में मेरा यह जन्म मुमुक्षुओं को सन्मार्ग दिखाने और आत्मज्ञान में उपयोगी तत्त्वों के प्रसंख्यान के लिये ही हुआ है, ऐसा जानो। पुनः २५ वें अध्याय के प्रारम्भ में ही शौनक ने यह कहा है, कि स्वयं भगवान ही, मनुष्यों को आत्मा का साक्षात् ज्ञान कराने के लिये मायावश, तत्त्वों की विवेचना करने वाला कपिल हुआ है —।

सांख्यप्रणेता एक ही कपिल—

श्रीमद्भागवत के इस विस्तृत वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि प्रजापति कर्दम और मनुपुत्री *देवहूति का पुत्र कपिल ही विष्णु का अवतार बताया गया है, और वही सांख्य का आदि प्रवर्त्तक है। इस बात का उल्लेख, श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अध्याय २१, श्लो०३२, अ० २४, श्लो० १६, ३६ और अ० २५, श्लो० १ में स्पष्ट रूप से किया गया है। अन्तिम श्लोक की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने स्पष्ट लिखा है—'तत्त्वानां संख्याता गणकः ×, सांख्यप्रवर्त्तक इत्यर्थः।' इससे यह निश्चित होजाता है, कि यही कपिल सांख्य का प्रवर्त्तक

⁄ श्रीमद्भागवत, ३।२३ ४८ ५०, ५७॥ ३।२४।२, ४–६, ८, ११, १६, १८, १९॥

— श्रीमद्भागवत, ३।२४।२०–३६॥ ३।२५।१॥

* पद्म पुराण [उत्तरखण्ड, ११२।२-३] में देवहूति के पिता का नाम 'तृणबिन्दु' बताया है। यह संभव है, कि इस स्वायम्भुव मनुका वैयक्तिक नाम 'तृणबिन्दु' ही हो, 'मनु' नाम तो वंशपरम्परागत कहा जासकता है।

⁝ सदाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने। तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्त्वसंहिताम्॥
अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः। लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्त्तिवर्धनः॥
एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात्। प्रसंख्यानाय तत्त्वानां संमतायात्मदर्शने॥
कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया। जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम्॥

× मध्यकाल के कुछ व्याख्याकारों ने 'सांख्य' पद में 'संख्या' शब्द को गणनापरक समझ कर इस प्रकार के व्याख्यान किये हैं। वस्तुतः इसका अर्थ-'तत्त्वज्ञान' है। इसका विस्तृत विवेचन हमने 'सांख्य सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया है।

अथवा प्रणेता है।

इसको ब्रह्मा का मानसपुत्र कदाचित् इसीलिये बताया गया हो, कि इसकी उत्पत्ति के समय उपस्थित होकर इसके सम्बन्ध में ब्रह्मा ने कई सूचनाएँ दी हैं। अथवा ब्रह्मा के समान यह भी स्वतः सिद्ध ज्ञानी था। इसके अतिरिक्त, कपिल का पिता कर्दम प्रजापति, ब्रह्मा का पुत्र था। यह बात श्रीमद्भागवत के इस प्रकरण से भी स्पष्ट हो जाती है। इसलिये कदाचित् किसी स्थल में इसको ब्रह्मा का मानस पुत्र लिख दिया गया हो। और उसी आधार पर गौडपाद ने अपने ग्रन्थ में सांख्यप्रवर्त्तक कपिल को ब्रह्मसुत मान लिया हो।

विष्णु और ब्रह्मा की अभेद कल्पना में भी यह बात कही जा सकती है, कि कपिल को विष्णु का अवतार होने पर, ब्रह्मा का भी मानसपुत्र लिख दिया गया हो। मानसपुत्र कहने से यह तो स्पष्ट ही है, कि इसके अन्य माता पिता अवश्य हैं। क्योंकि इस प्रकार केवल मनसे अथवा मनुष्य के संकल्प से ही किसी व्यक्ति की उत्पत्ति होना, युक्ति-विरुद्ध और सृष्टिक्रम के भी विरुद्ध है। जिनके सम्बन्ध में हमें विशेष ज्ञान नहीं होता, वहीं हम इस तरह की कल्पनाएं किया करते है। ऐसी अवस्था में सांख्यप्रवर्त्तक कपिल को ब्रह्मा का ऐसा मानसपुत्र बताना, निराधार तथा सृष्टिक्रम-विरुद्ध है। श्रीमद्भागवत के इस प्रकरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है, कि यह कपिल वेदान्तादि का उपदेश कर्त्ता नहीं, किन्तु मूल सांख्यशास्त्रका प्रणेता ही है। इसलिये श्रीयुत तैलंग महोदय ने, जो इसको केवल वेदान्त आदिका उपदेश कर्त्ता बताया है, वह भी श्रीमद्भागवत के लेख के विरुद्ध है।

इतने वर्णन से यह निश्चित परिणाम निकलता है, कि देवहूति और कर्दम का पुत्र कपिल ही सांख्यशास्त्र का आदि प्रवर्त्तक है। वह अत्यन्त प्रतिभाशाली और बाल्यकाल से ही तेजस्वी व्यक्ति था। उसकी अद्वितीय प्रतिभा और ज्ञानगाम्भीर्य का लोहा, तात्कालिक बड़े २ विद्वान् और ज्ञानी पुरुष भी मान गये थे। भागवत के उक्त वर्णन में कपिल सम्बन्धी ऐतिहासिक अंश इतना ही कहा जासकता है। शेष विष्णु के अवतार की कल्पना अथवा ब्रह्मा का मानसपुत्र होने की कल्पना आदि सब ही ग्रन्थकारों का, केवल एक अर्थ को वर्णन करने के प्रकारमात्र हैं। इसी कपिल के साथ सांख्य का सम्बन्ध श्रीमद्भागवत के २५–३३ अध्यायों में स्पष्ट ही वर्णित है। इन अध्यायों में कपिल के द्वारा अपनी माता देवहूति को तत्वज्ञान के उपदेश का वर्णन है। इस प्रकरण में पुरुष और प्रकृति का उल्लेख सर्वथा सांख्यशास्त्र के अनुसार किया गया है। और उपसंहार भी सांख्यशास्त्र का नाम लेकर किया है।

वही अग्नि अवतार कपिल है:—

तत्वसमास सूत्रों की सर्वोपकारिणी टीका के उस उद्धरण में, जिसका वर्णन ऊपर आचुका है, स्पष्ट रूप से एक अग्नि के अवतार कपिल का उल्लेख है, जिसको इस प्रसिद्ध सूत्र-षडध्यायी का रचयिता बताया गया है। यह अग्नि का अवतार कपिल कौन है? इसका विवेचन करना भी अत्यन्त आवश्यक है। महाभारत में महर्षि कपिल का अनेक स्थलों पर वर्णन आता

है। वनपर्व के १०६ और १०७+ अध्याय में सगर के अश्वमेघ यज्ञ का वर्णन करते हुए कपिल का उल्लेख किया गया है। सगर के साठ हजार पुत्र, अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की रक्षा के लिये उसके साथ २ जाते हैं। घोड़ा समुद्रतट पर जाकर दृष्टि से अन्तर्हित होजाता है। उसे अपहृत हुआ जान, सगरपुत्र वापस आजाते हैं, और पिता को सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाते हैं। पिता के पुनः आज्ञा देने पर वे पृथ्वी की छानबीन करते हुए उसे प्रदेश तक पहुंच जाते हैं, जहां घोड़े को विचरता हुआ देखते हैं, उसी स्थान पर तेजोराशि महात्मा कपिल तपस्या कर रहा था। अश्व को देखकर सगर पुत्रों को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। वे दुर्भाग्यवश महात्मा कपिल का अनादर करके, अश्व को अपने अधीन करने के लिये, क्रोधपूर्वक कपिल की ओर दौड़े। उनकी इस उद्दण्डता पर मुनि-श्रेष्ठ कपिल को क्रोध हो आया, मुनियों में मूर्द्धन्य जिस कपिल को वासुदेव कहा गया है। उसने अपने नेत्र को विकृत करके सगर पुत्रों पर एक तेज छोड़ा। इससे महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ कपिल ने उन मन्दबुद्धि साठ हजार सगर पुत्रों को एक साथ ही भस्म कर दिया।×

इस वर्णन में कपिल को 'वासुदेव' कहे जाने का उल्लेख है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि इसी कपिल को विष्णु का अवतार बताया गया है। यहां एक बात और भी ध्यान देने योग्य है, कि कपिल ने क्रुद्ध होकर सगर पुत्रों को सहसा भस्म कर दिया। क्रोध अग्नि का ही रूप है।

कपिल सम्बन्धी उक्त घटना का वर्णन वाल्मीकि रामायण में भी विस्तारपूर्वक आया है। वहां लिखा है—उन अत्यन्त बलवान सगर के पुत्रों ने वहां सनातन वासुदेव कपिल को देखा। और उसके समीप ही घोड़े को चरते हुए पाया। घोड़े को देखकर तो वे बहुत प्रसन्न हुए, पर कपिल के पीछे पड़ गये, और कहने लगे, कि तूने हमारा घोड़ा चुरा लिया है। इस प्रकार मन्दमति सगर पुत्रों के वचन सुनकर क्रोधाविष्ट हुए कपिल ने एक हुंकारमात्र से उन सबको भस्म कर दिया ÷। इस वर्णन में भी कपिल के साथ सनातन और वासुदेव दो पद रक्खे गये हैं, जो इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं, कि यह कपिल विष्णु का ही अवतार है। जिसको श्रीमद्भागवत में स्पष्ट ही सांख्यशास्त्र का आदिप्रवर्त्तक कहा गया है।

अतः उक्त तीनों रूपों में वर्णित कपिल, एक ही है—

महाभारत में एक स्थल पर अग्नि के*अवतार कपिल को सांख्य का प्रवर्त्तक कहा गया है। वहां लिखा है—जो अग्निदेव शुक्ल और कृष्ण शरीर को धारण करता है, पवित्र है, तथा

+ यह निर्देश महाभारत के, टी० आर० व्यासाचार्य कृष्णाचार्य के कुम्भघोणम् संस्करण के आधार पर कियगाया है।

× महाभारत, वनपर्व, १०६। ११-१४, २८-३०॥ १०७। १-४॥

÷ वाल्मीकि रामायण, निर्णय सागर प्रेस बम्बई का सटीक संस्करण, बा० का० सर्ग ४० श्लो० २५ ३०॥

* वायु पुराण [पूना संस्करण] ४। ४५ में भी कपिल को आदित्य अथवा अग्नि का रूप लिखा है, 'आदित्यसंज्ञः कपिलस्त्वग्रजोऽग्निरिति स्मृतः'।

कभी २ क्रोध के वशीभूत हो बिगड़ भी जाता है, और जिसको सदा यतिजन, परमर्षि कपिल कहते हैं, वही अग्निरूप कपिल सांख्ययोग + का प्रवर्त्तक है × ।

महाभारत के इस लेख से यह स्पष्ट हो जाता है, कि कपिल परमर्षि है, और पवित्र है पर कभी २ क्रोध के वशीभूत होकर उत्पात भी मचा देता है। यह उल्लेख सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म कर देने की घटना का स्मरण दिलाता है। कपिल ने सगरपुत्रों को क्रोधवश होकर ही भस्म किया, इसी विचार से यहां कपिल को अग्नि का रूप बताया गया है। क्रोध अग्नि ही है। आज भी हम किसी भी अतिक्रोधी व्यक्ति को 'आग' कह देते हैं। हमारे परिचितों में एक पण्डित जी हैं, जिनका नाम मण्डली में, इसी स्वभाव के कारण 'अग्नि शर्मा' पड़ गया। अब अन्य नगर निवासी भी उनको इसी नाम से पुकारते हैं। यह विचार महाभारत के भी इस प्रकरण से अत्यन्त स्पष्ट है।

प्रारम्भ में अग्नियों के वंश का निरूपण करते हुए लिखा है—हे महाराज ! (मार्कण्डेय, युधिष्ठिर को कह रहे हैं] भानु की भार्या और चन्द्रमा की पुत्री बृहद्भासा ने, एक कन्या के सहित छः पुत्रों को उत्पन्न किया। उस अंगिरा के पुत्र भानु की प्रजाविधि को सुनो—दुर्बल प्राणियों को जो अग्नि प्राण प्रदान करता है, उस अग्नि को 'बलद' कहा गया है। बलद (बल का देने वाला), भानु से उत्पन्न हुआ प्रथम पुत्र है। जो अग्नि प्रशान्त प्राणियों में दारुण मन्यु अर्थात् क्रोध होता है, उसको 'मन्युमान' अग्नि कहा जाता है। यह भानु से उत्पन्न हुआ द्वितीय पुत्र है ÷ ।

महाभारत के इस लेख से स्पष्ट है, कि क्रोध को अग्नि का ही स्वरूप समझा जाता है। और इसीलिये क्रोध के वशीभूत हुए कपिल को भी अग्निरूप कहा गया है। इस प्रकारण से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता, कि विष्णु के अवतार कपिल से अग्नि का अवतार कपिल भिन्न है। प्रत्युत यही बात इससे स्पष्ट होती है, कि जिस कपिल को विष्णु का अवतार कहा जाता है, जो देवहूति और कर्दम का पुत्र है, उसी कपिल को, साठ हजार * सगर पुत्रों के भस्म कर देने के कारण ही अग्निरूप वर्णन किया गया है।

+ योग, सांख्य के ही एक अंश का पूरक होने से, उससे भिन्न नहीं; इसी आशय से यहां योग का निर्देश भी कर दिया गया है। प्रकृति पुरुष का भेदज्ञान, सांख्य का विवेच्य विषय है। उसी के साधनभूत समाधि का विवेचन, योग करता है। इसका अन्य पाठ 'सांख्यशास्त्रप्रवर्त्तक.' भी है।

× महाभारत, वनपर्व, अ० २२३, श्लो० २०, २१ ॥

÷ महाभारत, वन पर्व अ० २२३। श्लो० ६-११ ॥

* यह सगर के औरस पुत्रों का निर्देश नहीं समझना चाहिये। उसका अंशुमान नामक एक ही औरस पुत्र था, जिसको आचरण-भ्रष्ट होने के कारण पिताने घर से निकाल दिया था। यह साठ हजार छटे हुए नौजवानों की एक सेना थी। इसको अपनी प्रजा में से ही छांट कर सगर ने तयार किया था, और इसको अपने पुत्र के समान ही समझता था। इनके इस प्रकार नष्ट हो जाने पर सगर ने अपने औरस पुत्र को फिर घर वापस बुलाया, जिसका आचरण उस समय तक सत्संग में रहने के कारण सुधर चुका था। किसी भी एक व्यक्ति के साठ हजार औरस पुत्रों का, अनेक क्षेत्रों में भी, होना असंभव है। यह केवल ग्रन्थकारों के अर्थप्रकाशन का एक विशेष प्रकार है। उसके वास्तविक स्वरूप को समझने का यत्न करना ही विद्वानों का कर्त्तव्य है। यह निर्देश हमने केवल प्रसंगवश यहां कर दिया है।

सगरपुत्रों को कपिलद्वारा भस्म किये जाने अथवा नष्ट किये जाने की घटना का उल्लेख, रामायण महाभारत के अतिरिक्त अनेक पुराणों में भी उपलब्ध होता है। इसके लिये विष्णुपुराण (४।४।१०-१३) द्रष्टव्य है। वहां भी कपिल को 'ऋषि' और 'भगवान्' पदों से याद किया गया है। वायुपुराण (८८।१४४-१४८) में कपिल को विष्णु का रूप कहा गया है। पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड (८।१४७) में कपिल को साक्षात् विष्णु के रूप में निर्देश किया गया है। स्कन्द पुराण, रेवाखण्ड, (१७४।२-७) में भी कपिल को साक्षात् विष्णु का रूप बताया गया है। विष्णुपुराण के (२।१३।४८, ४६ तथा २।१४।७, ६) श्लोकों में भी कपिल को साक्षात् विष्णु का अंश कहा गया है।

कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै द्विज।
विष्णोरंशो जगन्मोहनाशायोर्वीमुपागतः ॥

कपिल को विष्णु का अवतार तो अनेक पुराणों में बताया ही गया है; परन्तु गरुडपुराण के प्रारम्भ में एक श्लोक इस प्रकार भी है—

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचाऽऽसुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥

यहां कपिल को विष्णु का पंचम अवतार कहकर उसी को सांख्य का प्रवक्ता भी कहा गया है। मत्स्यपुराण (३।२६॥ १७१।१०) में भी इसी प्रकार का उल्लेख पाया जाता है।

एक बात और भी है। तत्वसमास की सर्वोपकारिणी टीका में अग्नि के अवतार कपिल को सांख्यषडध्यायी का रचयिता माना गया है। यदि उस टीका के अनुसार यह बात मान ली जाय कि अग्नि अवतार कपिल ही सांख्यषडध्यायी का रचयिता है, और तत्वसमास का रचयिता विष्णु का अवतार कपिल है। तथा तत्वसमास ही षडध्यायी का मूल है। तब महाभारत के साथ इस टीका का विरोध हो जाता है। क्योंकि टीकाकार के मत में सांख्यषडध्यायी, सांख्य का मूल ग्रन्थ नहीं, किन्तु तत्वसमास ही मूलग्रंथ है। ऐसी अवस्था में तत्वसमास का रचयिता ही सांख्य का प्रवर्त्तक हो सकता है, षडध्यायी बनाने वाला सांख्य का प्रवर्त्तक नहीं हो सकता। परन्तु टीकाकार जिसको षडध्यायी का रचयिता मानता है, उसी को महाभारत में सांख्य का प्रवर्त्तक कहा है।

वस्तुतः टीकाकार को विष्णु और अग्नि के अवतार कपिल के समझने में भ्रम हुआ है। वह इस बात का निर्णय नहीं कर सका, कि उक्त स्थलों में वस्तुतः एक ही कपिल को दो भिन्न गुणों के आधार पर पृथक् रूप में वर्णन किया गया है। इन सब बातों पर विचार करने से यह स्थिर होजाता है, कि कथित विष्णु-अवतार कपिल ही सांख्य का प्रवर्त्तक है। उसी को गुण विशेष के कारण अग्नि कह दिया गया है। इस बात को मानकर जब सर्वोपकारिणी टीका को हम देखते हैं, तो स्पष्ट ही टीकाकार का भी यही मत प्रतीत होता है, कि सांख्यषडध्यायी ही सांख्य का आदि मौलिक ग्रन्थ है। इसी का प्रथम उपदेश कपिल ने किया । तत्वसमास तो उसकी एक विषय-सूची मात्र है।

महाभारत में कपिल का एक और स्थल पर भी वर्णन आता है—

विदुर्यं कपिलं देवं येनार्त्ताः सगरात्मजाः । [उद्यो० १०६।१८]

इस प्रकरण में दक्षिण दिशा के गुणों का वर्णन है, इसी प्रसंग में उक्त उल्लेख है। इसमें कपिल के साथ 'देव' पद का प्रयोग उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करता है।

इन सब ही उल्लेखों का परस्पर संगमन करने से यह निश्चित सिद्धान्त प्रकट होजाता है, कि सांख्यशास्त्र का प्रवर्त्तक कपिल, देवहूति और कर्दम का पुत्र था। उसीको अपने लोकातिशायी गुणों के कारण तथा तपःप्रभाव से कालान्तर में कहीं ब्रह्मा का पुत्र, अथवा कहीं विष्णु या अग्नि के अवतार के रूप में वर्णन किया गया है। वस्तुस्थिति में सांख्य का प्रवर्त्तक कपिल एक ही कपिल है। इन सब उपर्युक्त पौराणिक उल्लेखों में, ऐतिहासिक अंश इतना ही समझना चाहिये।

कपिल के सम्बन्ध में विज्ञानभिक्षु का मत—

विज्ञानभिक्षु का भी इस विषय में यही मत है। विज्ञानभिक्षु ने षडध्यायी भाष्य के अन्त में लिखा है—

तदिदं सांख्यशास्त्रं कपिलमूर्तिर्भगवान् विष्णुरखिललोकहिताय प्रकाशितवान् । यत् तत्र वेदान्तिब्रुवः कश्चिदाह, सांख्यप्रणेता कपिलो न विष्णुः, किन्त्वग्न्यवतारः कपिलान्तरम् । 'अग्निः स कपिलो नाम सांख्यशास्त्रप्रवर्त्तकः' इति स्मृतेरिति, । तल्लोकव्यामोहनमात्रम् ।

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात् ।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शनम् ॥

इत्यादिस्मृतिषु विष्ण्ववतारस्य देवहूतिपुत्रस्यैव सांख्योपदेष्टृत्वावगमात् । कपिलद्वयकल्पनागौरवाच्च । तत्र चाग्निशब्दोऽग्न्याख्यशक्त्यावेशादेव प्रयुक्तः । यथा-'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः' इति श्रीकृष्णवाक्ये कालशक्त्यावेशादेव कालशब्दः । अन्यथा विश्वरूपप्रदर्शककृष्णस्यापि विष्ण्ववतारकृष्णाद् भेदापत्तेरिति दिक् ।

इस सांख्यशास्त्र को, कपिल रूप में प्रकट भगवान् विष्णु ने ही सम्पूर्ण संसार का कल्याण करने के लिये प्रकाशित किया है। इस विषय में जो कोई वेदान्ती यह कहता है, कि सांख्य का बनाने वाला कपिल, विष्णु नहीं है, किन्तु अग्नि का अवतार दूसरा कपिल है। और उसमें प्रमाण उपस्थित करता है—'अग्निः+स कपिलो नाम सांख्यशास्त्रप्रवर्त्तकः' इत्यादि। उस वेदान्ती का यह सब कथन, लोगों को भ्रम में डालने वाला है,

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन मुमुक्षूणां दुराशयात्
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शनम् × ॥

इत्यादि स्मृतियों में विष्णु के अवतार, देवहूति के पुत्र कपिल को ही सांख्य का उपदेष्टा

+ महाभारत, वनपर्व, अ० २२३, श्लो० २१॥

× श्रीमद्भागवत, तृतीयस्कन्ध, अ० २४। श्लो० ३६ ॥

स्वीकार किया गया है। विष्णु और अग्नि के पृथक् २ अवतार रूप दो कपिलों की कल्पना करना तो दोषपूर्ण तथा व्यर्थ ही है। वहां अग्नि शब्द का प्रयोग, आग्नेय शक्ति के सम्बन्ध से ही किया गया है। जैसे 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः +' इस श्रीकृष्ण वाक्य में कालशक्ति के सम्बन्ध से ही कृष्ण के लिये 'काल' पद का प्रयोग किया गया है। नहीं तो विश्वरूप को दिखाने वाले कृष्ण का, विष्णु के अवतार कृष्ण से भेद होना चाहिये।

विज्ञानभिक्षु के इस लेख से स्पष्ट हो जाता है, कि विष्णु का अवतार कपिल ही, जो देवहूति कर्दम का पुत्र है, सांख्यशास्त्र का प्रवर्त्तक है। अग्नि का अवतार अथवा अग्नि का स्वरूप भी इसी कपिल को बताया गया है। इसके कारणों का निर्देश प्रथम किया जा चुका है।

इस सम्बन्ध में यह एक बात विशेष ध्यान देने की है, कि उन दोनों ही प्रसंगों में, जहां कपिल को विष्णु अथवा अग्नि का अवतार वर्णन किया गया है, एक बात समान रूप में दृष्टिगोचर होती है। और वह है—सांख्य की प्रवर्त्तकता। विष्णु-अवतार कपिल को भी सांख्यप्रवर्त्तक कहा है, और अग्नि-अवतार कपिल को भी। ऐसी स्थिति में यदि इन दोनों को पृथक् व्यक्ति माना जाय, तो दोनों को ही सांख्य का प्रवर्त्तक कैसे कहा जासकता है ? किसी शास्त्र का प्रवर्त्तक तो एक ही व्यक्ति हो सकता है। दूसरा उसी शास्त्र को मानने वाला उसका अनुगामी होगा, प्रवर्त्तक नहीं। यदि वह भिन्न विचार रखता है, तो किसी भिन्न शास्त्र का ही प्रवर्त्तक कहा जा सकता है, उसी शास्त्र का नहीं। इसलिये दोनों प्रकार के वर्णनों में समान रूप से कपिल को सांख्यशास्त्र का प्रवर्त्तक कहना, इस बात को स्पष्ट ही पुष्ट करता है, कि उक्त दोनों ही प्रसंगों में एक ही कपिल का उल्लेख है।

कपिल के सम्बन्ध में शङ्कराचार्य के विचार—

विज्ञानभिक्षु के उक्त लेख में एक बात विचारणीय है। यह देखना चाहिये, कि वह वेदान्ती कौन है, जिसने विष्ण्ववतार कपिल को सांख्यप्रवर्त्तक न मानकर, अग्न्यवतार कपिल को ही ऐसा माना है। संभव है, विज्ञानभिक्षु का यह संकेत, ब्रह्मसूत्रभाष्यकार शङ्कराचार्य की ओर हो। शंकराचार्य ने [२ । १ । १] सूत्र के भाष्य में लिखा है:—

या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता, न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्, कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात् अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात् ।'

जो श्रुति × कपिल के अतिशय ज्ञान को बताने वाली उपस्थित की गई है, उसके आधार

\+ भगवद्गीता, ११।३२॥

× २ । १ । १ सूत्र पर प्रथम, सांख्य की ओर से पूर्वपक्ष उठाते हुए, कपिल की प्रशंसा में श्वेताश्वतर की निम्नलिखित श्रुति का उल्लेख किया है—ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् [५ । २]। यहां उपर्युक्त भाष्य में इसी श्रुति का अतिदेश किया गया है।

पर, वेद के विरुद्ध भी कपिल मत को अंगीकार नहीं किया जासकता। क्योंकि 'कपिल' इस शब्दमात्र की समानता होने से ही, यह नहीं कहा जासकता, कि श्रुति में सांख्यप्रणेता कपिल का ही निर्देश किया गया है। किन्तु सगरपुत्रों को तपाने वाले वासुदेव नामक अर्थात् विष्णु के अवतार सांख्य-प्रणेता कपिल से भिन्न कपिल—कनकवर्ण हिरण्यगर्भ—का ही वहां निर्देश किया गया है।

शङ्कराचार्य के लेख में विष्ण्ववतार कपिल से भिन्न, अग्न्यवतार कपिल का कहीं भी उल्लेख नहीं। विज्ञानभिक्षु ने फिर, किस वेदान्ती के ग्रन्थ में इसको देखा, कहा नहीं जासकता। प्रतीत यह होता है, कि विज्ञानभिक्षु को इस विषय में भ्रम ही हुआ है, कि किसी वेदान्ती ने अग्न्यवतार कपिल को सांख्य-प्रणेता कहा है। और वह भ्रम भी, संभवतः शंकराचार्य की इन पंक्तियों को देखकर ही हुआ हो, जिनका उल्लेख हमने अभी किया है।

उन पंक्तियों के अन्तिम भाग—'अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्' की व्याख्या करते हुए आनन्दगिरि आदि व्याख्याकारों को भी भ्रम हुआ जान पड़ता है। और सम्भवतः इसी को अग्न्यवतार कपिल की कल्पना का मूल समझा गया हो। बात यह है, कि इस पंक्ति में 'प्रतप्तुः' और 'वासुदेवनाम्नः' इन दोनों पदों को पञ्चम्यन्त माना जाय, या षष्ठ्यन्त, यह एक विचारास्पद विषय है। आनन्दगिरि और गोविन्द (रत्नप्रभा व्याख्याकार) इन दोनों व्याख्याकारों ने इन पदों को षष्ठ्यन्त ही माना है। और उसका अर्थ किया है, कि श्रुति में किसी अन्य कपिल, सगर पुत्रों के प्रतप्ता वासुदेव नामक का ही उल्लेख है। इसलिये 'कपिल' इस शब्दमात्र की समानता से, श्रुति में सांख्य-प्रणेता कपिल का वर्णन है, यह मूर्खों का भ्रम है। क्योंकि वासुदेव नामक वैदिक कपिल, सगर के साठ हज़ार पुत्रों को भस्म करने वाला; सांख्य-प्रणेता अवैदिक कपिल से भिन्न है+।

इस व्याख्या में मूलपंक्ति का, 'अन्यस्य' पद साकांक्ष रहता है। 'कस्मादन्यस्य?' इस आशंका को यह अर्थ पूर्ण नहीं कर पाता। इसको पूरा करने के लिये ऊपर से कुछ अध्याहार अवश्य करना पड़ेगा। और वह अध्याहार 'सांख्यप्रणेतुः कपिलात्' यही हो सकता है। पर इस अध्याहार में भाष्यकार का स्वारस्य है, यह कहना नितान्त भ्रान्त है। क्योंकि ऐसा कहने पर वासुदेवांश अर्थात् विष्ण्ववतार कपिल सांख्य-प्रणेता नहीं है, इतना आशय तो भाष्यकार का निकल आता है, परन्तु श्रीमद्भागवत और महाभारत के उपर्युक्त उल्लेखों से इसका स्पष्ट विरोध होजाता है। फिर भी भाष्य से अग्न्यवतार कपिल की कल्पना का किया जाना असंभव ही है।

कदाचित् किसी विद्वान् ने महाभारत के 'अग्निः स कपिलो नाम सांख्यशास्त्रप्रवर्त्तकः'

+ शब्दसामान्यादेव सांख्य-प्रणेता कपिलः श्रौत इति भ्रान्तिरविवेकिनामित्यर्थः। वैदिको हि कपिलो वासुदेवनामा पितुरादेशादश्वमेधपशुमन्विष्य परिसरे पश्यतामिन्द्रचेष्टितमदृष्टवतां षष्टिसहस्रसंख्याजुषामात्मोपरोधिनां सगरसुतानां सहसैव भस्मीभावहेतुः सांख्यप्रणेतुरवैदिकादन्यः स्मर्यते। [ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य की आनन्दगिरि व्याख्या, २।१।१]।

इस पद्यांश के वास्तविक अर्थ को न समझकर, उसे इस भाष्य के साथ समन्वित करके एक पृथक् अन्यवतार कपिल की कल्पना कर डाली हो। और सम्भव है, विज्ञानभिक्षु ने यही समझ कर अपने ग्रन्थ में उसका समाधान किया हो।

यदि भाष्य की मूलपंक्ति में 'प्रतप्तुः' और 'वासुदेवनाम्नः' इन दोनों पदों को पञ्चम्यन्त मान लेते हैं, तो न किसी पद का अध्याहार करना पड़ता है, और न भाष्यकार के लेख का श्रीमद्भागवत और महाभारत के साथ विरोध होता है। पञ्चम्यन्त पाठ में पंक्ति का अन्वय इस प्रकार होगा—'सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नोऽन्यस्य कपिलस्य स्मरणाच्च।' अर्थात् श्रुति में सगरपुत्रों के प्रतप्ता वासुदेव नामक कपिल से भिन्न कपिल का स्मरण होने से। इससे यह स्पष्ट होजाता है, कि सगरपुत्रों के प्रतप्ता विष्णववतार कपिल, भले ही सांख्य-प्रणेता रहें, परन्तु उनका वर्णन इस श्रुति में नहीं है। श्रुति में तो उससे भिन्न ही किसी कपिल का वर्णन है। वह वर्णन, इस श्रुति की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने स्वयं ही स्पष्ट किया है। वह लिखता है—

ऋषि सर्वज्ञमित्यर्थः। कपिल कनककपिलवर्णं प्रसूतं स्वेनैवोत्पादितं 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्' इत्यस्यैव जन्मश्रवणात्। अन्यस्य चाश्रवणात्। उत्तरत्र 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति वक्ष्यमाणत्वात्। 'कपिलोऽग्रजः' इति पुराणवचनात् कपिलो हिरण्यगर्भो वा व्यपदिश्यते।

इससे स्पष्ट है, कि शंकराचार्य, श्रुति में आये हुए कपिल पद का अर्थ हिरण्यगर्भ करता है। चाहे वह कपिल का पर्याय हो, चाहे सुवर्ण के समान कपिल वर्णवाला अर्थ करके हिरण्यगर्भ का विशेषण हो। शांकरभाष्य [ब्रह्मसूत्र २।१।१।] में आई पंक्ति के 'अन्यस्य कपिलस्य' पद का यही अर्थ होसकता है। 'अन्य' पद के योग में 'प्रतप्तुः' और 'वासुदेवनाम्नः' ये दोनों पद पञ्चम्यन्त ही होने चाहियें +। ऐसा होने पर सगरपुत्रों के प्रतप्ता विष्णववतार कपिल से भिन्न हिरण्यगर्भ कपिल श्रुति में, शंकराचार्य की व्याख्यानुसार ठीक होसकता है। फिर समझ में नहीं आता, आनन्दगिरि आदि व्याख्याकारों ने, भाष्यकार के आशय के विरुद्ध ही किस तरह षष्ठ्यन्त पद मानकर उसका व्याख्यान किया ? मालूम होता है, भामतीकार वाचस्पति मिश्र को यह बात अवश्य खटकी थी; इसलिये उसने इस भाष्यपंक्ति का ऐसा अर्थ नहीं किया। उसने केवल इतना लिखा है, कि श्रुति में प्रतिपादित कपिल, सांख्य-प्रणेता कपिल नहीं होसकता ×। जब श्रुति में आये हुए 'कपिल' पद का अर्थ हिरण्यगर्भ करते हैं, तब यह ठीक ही है। क्योंकि हिरण्यगर्भ ने तो सांख्यशास्त्र बनाया ही नहीं।

भाष्यकार और सब ही टीकाकारों ने 'कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्' इस वाक्य को खूब रगड़ा है। तात्पर्य यह है, कि सब ने ही इस बातपर बहुत बल दिया है, कि श्रुति में केवल

+ देखिये, पाणिनिसूत्र, २।३।२९॥

× तस्माच्छ्रुतिसामान्यमात्रेण भ्रमः सांख्यप्रणेता कपिलः श्रौत इति।
[ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, भामती टीका, २।१।१]

इस 'कपिल' पद के एकसा आजाने से यह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं किया जासकता, कि यहां सांख्य-प्रणेता कपिल का ही वर्णन है। क्योंकि यह भी संभव हो सकता है, कि यहां कपिल पद का और ही कोई अर्थ हो। इसप्रकार की वाक्यरचना में यह आवश्यक है, कि 'कपिल' पद की समानता का दिखाना उसी समय सप्रयोजन हो सकता है, जबकि कपिल पद का कोई भिन्न अर्थ कर दिया जाय। यदि एक व्यक्तिविशेष की संज्ञा न मानकर आप उसे किसी दूसरे व्यक्ति की संज्ञा मान लेते हैं, जिसको कि सप्रमाण सिद्ध करना कठिन है, क्योंकि जैसे 'कपिल' यह एक व्यक्ति की संज्ञा होसकती है, उसीतरह दूसरे व्यक्ति की भी हो सकती है। इसमें कोई भी विशेष प्रमाण उपस्थित नहीं किया जासकता, कि यहां अमुक कपिल व्यक्ति का ग्रहण है, अमुक का नहीं। तब अर्थ की भी समानता हो जायगी, फिर शब्दमात्र की समानता पर बल देना निष्प्रयोजन होगा। इसलिये आवश्यक है, कि यहां 'कपिल' पद का अर्थ व्यक्ति विशेष की संज्ञा न मानकर, कुछ भिन्न ही कियाजाय। इसीलिये शंकराचार्य ने इसका अर्थ— 'कनककपिलवर्ण' किया है। तात्पर्य यह है, कि उसने व्यक्तिविशेष के नाम का यहां से झगड़ा ही मिटा दिया। ऐसी ही अवस्था में हम शब्दसमानता की सप्रयोजनता कह सकते हैं। यदि आनन्दगिरि आदि के अनुसार भाष्य की मूलपंक्ति का अर्थ करके, सगरपुत्रप्रतप्ता विष्णववतार कपिल का ही श्रुति में वर्णन मान लिया जाय, तो सांख्य-प्रणेता कपिल ने ही क्या अपराध किया है? उसका ही वर्णन श्रुति में क्यों न मानाजाय? इसलिये आनन्दगिरि आदि ने जो मूलपंक्ति के 'प्रतप्तुः' और 'वासुदेवनाम्नः' पदों को षष्ठ्यन्त मानकर अर्थ किया है, वह भाष्यकार के कथन से विरुद्ध है, और शब्दशक्तिगम्य भी नहीं है। इसलिये उनका यह अर्थ भ्रमपूर्ण ही कहा जासकता है।

परन्तु शंकराचार्य को 'कपिल' पद का 'कनककपिलवर्ण' अर्थ करके सन्तोष नहीं हुआ। उसको भी यह बात तो अवश्य सूझती ही थी, कि हमारे ऐसा अर्थ करने में उपोद्बलक ही क्या है? इसलिये शंकराचार्य ने श्वेताश्वतर में उपर्युक्त श्रुति का अर्थ करते हुए अन्त में 'कपिल' पद का अर्थ, परमर्षि कपिल ही अंगीकार किया है। और जिन प्रमाणों को उपस्थित करते हुए उसने इस बात को वहां लिखा है, उससे स्पष्ट होजाता है, कि श्रुतिप्रतिपादित कपिल को ही विष्णु का अवतार कपिल बताया गया है। और यही सांख्य का कर्त्ता भी है। शंकराचार्य ने वहाँ इसप्रकार सप्रमाण उल्लेख किया है—

"कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै किल। विष्णोरंशो जगन्मोहनाशाय समुपागतः ॥
कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वरूपधृत्। ददाति सर्वभूतात्मा सर्वस्य जगतो हितम् ॥
त्वं शक्रः सर्वदेवानां ब्रह्मा ब्रह्मविदामसि। वायुर्बलवतां देवो योगिनां त्वं कुमारकः ॥
ऋषीणां च वसिष्ठस्त्वं व्यासो वेदविदामसि। सांख्यानां कपिलो देवो रुद्राणामसि शङ्करः ॥

इति परमर्षिः प्रसिद्धः। ...... स एव वा कपिलः प्रसिद्धः।"

इससे यह स्पष्ट है, कि जिस कपिल ऋषि को विष्णु का अंश बताया जाता है, वही सांख्यों का कपिल है। और उसी प्रसिद्ध परमर्षि कपिल का इस श्रुति में वर्णन है। इसीलिये शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में भी उपर्युक्त पंक्तियों के अनन्तर एक पंक्ति लिख दी है, जिससे

उसके हृदय का स्पष्टीकरण होजाता है। पंक्ति इसप्रकार है—

अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात् ।

आशय यह है, कि श्वेताश्वतर उपनिषद् के वाक्य में कपिल पद का अर्थ, सांख्य-प्रवर्त्तक कपिल ही मान लिया जाये, तो भी हमें कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि उपर्युक्त वाक्य, मुख्य रूप से परमात्मा का ही निर्देश करता है। जिस परमात्मा ने सर्वप्रथम दार्शनिक कपिल को उत्पन्न किया और ज्ञानों से भर दिया, उस परमात्मा को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये। यही उस वाक्य का मुख्यार्थ है। प्रसंगवश पठित कपिल की सर्वज्ञता अथवा प्रामाणिकता का, यह वाक्य साधक नहीं हो सकता।

शंकराचार्य ने इस पंक्ति को लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है, कि इस श्वेताश्वतर श्रुति में सांख्यों का प्रसिद्ध कपिल ही उपादेय है, भले ही उसका उल्लेख प्रसंगवश आया हो। हम इस समय उसके मत की मान्यता या अमान्यता पर विचार नहीं कर रहे। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है, कि इस श्रुति में जिस कपिल का उल्लेख है, वह सांख्यप्रवर्त्तक कपिल ही है, और यह मत शंकराचार्य को भी मान्य है। इसीलिये प्रथम, कपिल पद का जो अर्थ शंकराचार्य ने हिरण्यगर्भ (कनककपिलवर्ण) किया है, वह प्रौढिवाद से ही किया है। तथा उसमें श्रुति का स्वारस्य न जानकर ही अन्त में विस्तारपूर्वक, प्रमाणसहित सांख्य-प्रवर्त्तक कपिल का ही उल्लेख माना है।

शंकराचार्य ने इसी प्रकरण में आगे (ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य २।१।१ पर) मनु की प्रशंसा करने वाली श्रुति का वर्णन किया है—*'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्'* (तै० सं० २।२।१०।२)। और यह कपिल के संतुलन में ही किया गया है। इसप्रकार श्वेताश्वतर की कपिलप्रशंसक श्रुति के साथ, मनुप्रशंसक श्रुति की तुलना करने से भी शंकराचार्य का हृदय, स्पष्ट ही मालूम हो जाता है, कि वह इस श्वेताश्वतरवाक्य में सांख्य-प्रवर्त्तक कपिल की प्रशंसा का ही उल्लेख मानता है। श्री शंकराचार्यप्रदर्शित उक्त प्रमाणों से यह भी निर्दिष्ट हो जाता है, कि वही कपिल विष्णु का अंश है। विष्णु का अंश अथवा अवतार उसी कपिल को माना गया है, जो देवहूति और कर्दम का पुत्र है। और वही सांख्य-शास्त्र का प्रवर्त्तक है।

प्रस्तुत प्रसंग में शंकराचार्य की एक मौलिक भूल—

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत प्रसंग में, मनुप्रशंसापरक तैत्तिरीयसंहिता की श्रुति का उद्धरण कर, उसी मनु का मनुस्मृति से सम्बन्ध जोड़ने में शंकराचार्य ने एक मौलिक भूल की है। और उसकी देखादेखी पीछे के विद्वान्+ भी इस भूल को दुहराते रहे हैं।

तैत्तिरीयसंहिता के समान अन्य कई संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों × में भी यह प्रसंग आता है। वहांपर भी मनुसम्बन्धी उल्लेख इसीप्रकार के हैं। तैत्तिरीयसंहिता में काम्येष्टियों

+ मनुस्मृति के प्रथम श्लोक पर कुल्लूक भट्ट की टीका देखें।

× काठक संहिता ११।५॥ मैत्रायणी संहिता २।१।५॥ ताण्ड्य महाब्राह्मण २३।१६।६-७॥

का प्रकरण है। उसी प्रसंग में यह उल्लेख है, कि विशेष चर्म-रोग न होने पावे, इसके लिये मनु, की दो ऋचाओं को धाय्या + बनावे। क्योंकि मनु ने जो कुछ कहा, वह भेषज है × । अब हम देखते हैं कि मनु की जो ऋचा धाय्या बनाई जाती हैं, ÷ वे ऋग्वेद (८।३१) सूक्त की अन्तिम चार अथवा पांच ऋचा हैं। इनमें से किन्हीं दो ऋचाओं ※ को धाय्या बनाया जाता है। इस सूक्त का ऋषि-वैवस्वत मनु—है। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है, कि तैत्तिरीयसंहिता में जिस मनु की प्रशंसा की गई हैं, वह वैवस्वत मनु * है।

शङ्कराचार्य ने संहिता के केवल 'मनु' पद को देखकर उसका सम्बन्ध मनुस्मृति से जोड़ दिया है। क्योंकि ब्रह्मसूत्र (२।१।१) शाङ्करभाष्य में तैत्तिरीयसंहिता के उक्त सन्दर्भ को उद्धृत कर आगे 'मनुना च-सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति' (१२। ९१) यह मनुस्मृति का श्लोक उद्धृत किया है। इससे शङ्कराचार्य का यह मत स्पष्ट होजाता है, कि संहिता में वर्णित मनु को वह, वही मनु समझता है, जिसका मनुस्मृति से सम्बन्ध है।

परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। मनुस्मृति से जिस मनु का सम्बन्ध बताया जाता है, उसका स्पष्टीकरण मनुस्मृति के श्लोकों से होजाता है। मनुस्मृति के अतिरिक्त, अन्य साहित्य से भी इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, जिसका निरूपण अभी आगे किया जाएगा।

इससे यही निश्चय होता है, कि मनुस्मृति के साथ 'स्वायम्भुव मनु' का सम्बन्ध है, अन्य किसी मनु का नहीं। परन्तु तैत्तिरीयसंहिता में 'वैवस्वत मनु' की प्रशंसा की गई है। ये दोनों मनु सर्वथा भिन्न ही कहे जासकते हैं। 'स्वायम्भुव मनु' की कोई ऋचा ऋग्वेद में नहीं है। ऐसी स्थिति में परिणाम यही निकलता है, कि शंकराचार्य ने केवल 'मनु' पद को देखकर, शब्दमात्र की समानता के आधार पर ही, 'वैवस्वत मनु' का सम्बन्ध 'स्वायम्भुव मनु' के साथ जोड़ दिया। जो आपत्ति शंकराचार्य ने श्वेताश्वतर के 'कपिल' पद के सम्बन्ध में उपस्थित की, उसमें स्वयं ही वह ग्रस्त होगया। वस्तुतः तैत्तिरीयसंहिता में जिस मनु का उल्लेख है, उसका मनुस्मृति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिये इस प्रसंग का शंकराचार्य का लेख, सर्वथा निराधार एवं असंगत ही कहा जासकता है।

मनुस्मृति का सम्बन्ध, 'स्वायम्भुव मनु' से ही है, अन्य किसी मनु से नहीं, इसके लिये आन्तर (मनुस्मृति की) और बाह्य (अन्य साहित्य की) दोनों प्रकार की साक्षियां उपलब्ध होती हैं।

+ धाय्या उन ऋचाओं का नाम है, जिनका उच्चारण कर, प्रज्वलित होती हुई अग्नि में 'समित्' छोड़ी जावे। 'धीयते ऽनया समिदिति धाय्या ऋक्' (पाणिनि ३। १। १२९ पर) भट्टोजि दीक्षित।

× '··· ईश्वरो दुश्चर्मा भवितोरिति मानवी ऋचौ धाय्ये कुर्यात्—यद्वै किंच मनुरवदत्तद् भेषजम्।' तै० सं० २। २। १०। २॥

÷ तै० सं० १। ८। २२ पर सायणभाष्य। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, १९। १९। ८॥ कात्यायन श्रौतसूत्र २२। ३। ७॥। बौधायन श्रौतसूत्र १९। १९। १७॥

※ तै० सं० १। ८।२२। ११॥ तथा २। २। १०। २॥ पर भट्टभास्करभाष्य।

* देखें, आर्षानुक्रमणी।

(१) मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के ५८-६१ श्लोकों को देखने से यह स्पष्ट होजाता है, कि इस मानव धर्मशास्त्र का उपदेश देनेवाला आदि पुरुष 'स्वायम्भुव मनु' + था।

यद्यपि मनुस्मृति में लगभग पन्द्रह सोलह स्थल ऐसे हैं, जहां साधारणरूप से 'मनुरब्रवीत्' या 'अब्रवीन्मनुः' ऐसे पद आये हैं। परन्तु उनसे इस बात का निश्चय नहीं होपाता, कि यह कौनसा मनु है। फिर भी कुछ स्थलों में इसको स्पष्ट कर दिया गया है। उनमें एक निम्न है—

अलाबुं दारुपात्रञ्च मृन्मयं वैदलं तथा। एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।[६।५४]

इससे स्पष्ट होजाता है, कि मनुस्मृति के साथ 'स्वायम्भुव मनु' का ही सम्बन्ध है, अन्य किसी मनु का नहीं।

(२)—इसके अतिरिक्त अन्य साहित्य से भी इस बात की पुष्टि होती है। महाभारत वनपर्व में युधिष्ठिर और सर्पभूत नहुष का संवाद आता है। उस प्रसंग में युधिष्ठिर की उक्ति रूप से निम्नलिखित श्लोक उपलब्ध होते हैं—

प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते। तत्रोपनयनं प्रोक्तं द्विजातीनां यथाक्रमम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते। वृत्या शूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायते।
तस्मिन्नेवं मतिद्वैधे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

[म० भा०, वनपर्व, १८२।३४-३५॥ कुम्भघोण संस्करण]

इनमें से अन्तिम पंक्ति, पूर्व पंक्तियों को 'स्वायम्भुव मनु' की उक्ति होने का निर्देश कर रही है। ऊपर चार पंक्तियों में से दूसरी को छोड़कर शेष तीनों वर्तमान मनुस्मृति में इसी आनुपूर्वी से उपलब्ध है। दूसरी पंक्ति भी, मनुस्मृति के एक श्लोक के आशय को लेकर लिखदी गई है, जो इसी क्रम से मनुस्मृति मे उपलब्ध है। इन पंक्तियों को मनुस्मृति में यथाक्रम निम्नलिखित स्थलों में देखना चाहिये—

+ ऋषियों के प्रश्न करने पर, उत्तर रूप में मनु की उक्ति है—

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः। विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥ ५८ ॥

ब्रह्माने इस शास्त्र को बनाकर सर्वप्रथम मुझको (मनु को) पढ़ाया, और मैंने मरीचि आदि मुनियों को।

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः। एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः॥ ५९ ॥

यह भृगु इस सम्पूर्ण शास्त्र को आपके लिये सुनायेगा, इसने यह सब शास्त्र मुझसे अच्छी तरह समझ लिया है।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः। तानब्रवीद् ऋषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

मनु के यह कहने पर, महर्षि भृगु ने प्रसन्न होकर उन सब ऋषियों को कहा, कि सुनिये।

स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे। सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः महात्मानो महौजसः ॥ ६१ ॥

इस 'स्वायम्भुव मनु' के छः वंशधर मनु और हैं। भृगु का यह कथन सर्वथा स्पष्ट करदेता है, कि भृगु ने जिससे इस शास्त्र को समझा, वह 'स्वायम्भुव मनु' था।

इसके आगे प्रथम अध्याय के ही १०२ श्लोक में स्पष्ट कहा है—

स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्।

(१) अध्याय २ श्लोक २६ ॥
(२) ,, ,, ,, ३६ ॥
(३) ,, ,, ,, १७० ॥
(४) ,, ,, ,, १७२ ॥+

इससे यह निश्चय होजाता है कि उपलब्ध मनुस्मृति के साथ 'स्वायम्भुव मनु' का ही सम्बन्ध कहा जासकता है, वैवस्वत मनु अथवा अन्य किसी मनु का नहीं। ×

प्रसंगागत कथन के अनन्तर, उपर्युक्त विवेचन से यह परिणाम निकल आता है, कि शंकराचार्य के लेख में अग्न्यवतार कपिल के सम्बन्ध की कोई भी भावना ध्वनित नहीं होती। फिर ऐसी स्थिति में विज्ञानभिक्षु का यह लेख, कि किसी वेदान्ती ने अग्न्यवतार कपिल को ही सांख्यप्रवर्त्तक माना है, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, कि किस वेदान्ती के लिये लिखा गया है। यह भी संभव होसकता है, कि शंकराचार्य की वर्णित पंक्तियों से ही कदाचित् भिक्षु को भ्रम होगया हो, अथवा सर्वोपकारिणी टीका के आधार पर ही उसने ऐसा लिखा हो। यद्यपि सर्वोपकारिणी टीका के रचयिता का नाम अभी तक ज्ञात नहीं है। और न इसी बात का निश्चय होसका है, कि यह तत्त्वसमाससूत्रों की टीका, विज्ञानभिक्षु से पूर्व लिखी जाचुकी थी। इसका अधिक विवेचन 'सूत्रों के व्याख्याकार' नामक षष्ठ प्रकरण में विज्ञानभिक्षु के प्रसंग में किया जायगा।

कपिल के सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र के विचार—

षड्दर्शन व्याख्याकार वाचस्पति मिश्र ने भी कपिल के सम्बन्ध में अपना मत उपर्युक्त रूप में ही प्रकट किया है।

सांख्यतत्त्वकौमुदी में ६९वीं कारिका की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने 'परमर्षिणा' पद का अर्थ 'कपिलेन' किया है। इससे स्पष्ट है, कि वह सांख्यशास्त्र का प्रवर्त्तक, कपिल को मानता है।

इसीप्रकार ४३ वीं कारिका की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने सांसिद्धिक भावों का उदाहरण देते हुये लिखा है—

यथा सर्गादावादिविद्वान् भगवान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्रादुर्बभूवेति स्मरन्ति।

सृष्टि के प्रारम्भिक काल में धर्म-ज्ञान आदि से सम्पन्न, आदिविद्वान् भगवान् कपिल प्रादु-

\+ ये पते, निर्णयसागर प्रेस बम्बई से, कुल्लूकटीका सहित, सन् १९०२ में प्रकाशित मनुस्मृति के संस्करण के आधार पर दिये गये हैं।

× इस सम्बन्ध के अन्य भी बहुत प्रमाण उपलब्ध हैं, परन्तु अनावश्यक ग्रन्थ कलेवर-वृद्धि के भय से उनका यहां उल्लेख नहीं किया गया। उदाहरणार्थ निम्न स्थल द्रष्टव्य हैं—

निरुक्त ३।४॥ तुलना करें, मनुस्मृति ६।१३०,१३३,१३६॥ महाभारत, शान्ति०, १४।१८-४२॥ तुलना करें, मनु० ७।३-३४॥ महाभारत, शान्ति०, २१।११-१२॥ तुलना करें, मनुस्मृति, ४।२॥ ६।४२ आदि॥

भू त हुआ। वाचस्पति का यह लेख, पञ्चशिख के प्रसिद्ध सूत्र -'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच' का स्मरण करा देता है।

योगसूत्र 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (१।२५) का भाष्य करते हुए, आचार्य व्यास ने उपर्युक्त पञ्चशिखसूत्र को प्रसंगवश उद्धृत किया है। इसपर टीका करते हुए वाचस्पति मिश्रने लिखा है-

आदिविद्वान्-कपिल इति। आदिविद्वानिति पञ्चशिखाचार्यवचनमादिमुक्तस्वसन्तानादि-गुरुविषयं. न त्वनादिमुक्तपरमगुरुविषयम्। आदिमुक्तेषु कदाचिन्मुक्तेषु विद्वत्सु कपिलोऽस्माकमादिविद्वान् मुक्त: स एव च गुरुरिति। कपिलस्यापि जायमानस्य महेश्वरानुग्रहादेव ज्ञानप्राप्तिः श्रूयत इति। कपिलो नाम विष्णोरवतारविशेषः प्रसिद्धः। स्वयम्भूर्हिरण्यगर्भस्तस्यापि सांख्ययोगप्राप्तिर्वेदे श्रूयते। स एवेश्वर आदिविद्वान् कपिलो विष्णुः स्वयम्भूरिति भावः।

पञ्चशिखसूत्र में 'आदिविद्वान' पद से कपिल का ग्रहण होता है। पञ्चशिखने 'आदिविद्वान' पद, आदिमुक्त अपने तथा अपनी सन्तान (पुत्र पौत्रादि परम्परा अथवा शिष्यपरम्परा) आदि के, गुरु के विषय में कहा है। अनादिमुक्त परमगुरु का निर्देश, यह पद नहीं करता। किसी विशेषकाल में मुक्त होने वाले विद्वानों में हमारा कपिल आदिविद्वान् है, वही आदिमुक्त कपिल हमारा गुरु है। +श्रुति में आता है, कि कपिल के उत्पन्न होने पर भगवान् के अनुग्रह से ही उसे ज्ञान-प्राप्ति हुई थी। विष्णु का अवतारविशेष कपिल प्रसिद्ध है। स्वयम्भू हिरण्यगर्भ है, उसे भी सांख्य योग की प्राप्ति वेद में कही है। वही ईश्वर आदिविद्वान कपिल, विष्णु एवं स्वयम्भू है।

वाचस्पति के इस लेख से प्रसंगगत परिणाम यह निकलता है, कि आदिविद्वान् कपिल, जिसने जिज्ञासु आसुरि के लिये 'तन्त्र' का प्रवचन किया, विष्णु का अवतार था, यह निश्चित है। क्योंकि भगवान् के अनुग्रह से ही उसे ज्ञान प्राप्त हुआ था, अतः उसी कपिल को स्वयम्भू भी कहा जाता है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में कपिल का जन्मविषयक वर्णन, वाचस्पति के इस लेख से स्मरण हो आता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के कपिलसम्बन्धी पूर्व उद्धृत वाक्य में भी इसी अर्थ का निर्देश किया गया है। कर्दम की तपस्या के फलस्वरूप, ब्रह्मा का, विष्णु के अंश से देवहूति के गर्भ में कपिल के जन्म की सूचना देना, वाचस्पति के उक्त लेख का आधार हो सकता है। श्रीमद्भागवत के इस प्रकरण का हम पूर्व उल्लेख कर चुके हैं। कपिल को, उसके जन्म के अनन्तर अल्पकाल में ही भगवान् के अनुग्रह से ज्ञान प्राप्त हुआ, इसलिये उसे 'स्वयम्भू' अथवा ब्रह्मसुत आदि पदों से भी जहां तहां स्मरण किया गया है। अतएव सांख्य का प्रवर्त्तक कपिल, देवहूति कर्दम का पुत्र ही है, जिसको विष्णु का अवतार बताया गया है। और कहीं २ अन्य नामों से भी याद किया गया है। यह मत स्पष्ट रूप से निश्चित हो जाता है। और इसमें अन्य आचार्यों के समान वाचस्पति मिश्र की भी पूर्ण सहमति है।

वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त लेख से एक और परिणाम भी निकलता है, जो कपिल

+ यहां पर श्वेताश्वतर पठित 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं' इत्यादि श्रुति की ओर ही वाचस्पति का निर्देश है। इसीलिये कपिल आदिविद्वान् तथा आदिमुक्त है, उसे अनादिमुक्त नहीं कहा जासकता।

की ऐतिहासिकता को सिद्ध करने में अत्यन्त सहायक है। वाचस्पति ने 'आदिविद्वान्' पद की व्याख्या पर बड़ा बल दिया है, और उससे यह स्पष्ट करने का यत्न किया है, कि यह पद किसी अदृश्य शक्ति परमगुरु की ओर निर्देश नहीं करता, जो कि अनादिमुक्त है। प्रत्युत ऐसे व्यक्ति का ही निर्देश करता है, जो किसी कालविशेष में ही मुक्त हुआ था, और इसीलिये अस्मदादि की तरह ही दृश्य देहधारी था।

क्या कपिल ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं ?—

कुछ आधुनिक पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने कपिल को एक काल्पनिक व्यक्ति बतलाया है। अथवा उसको ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना। उनका अभिप्राय यह है, कि वह अस्मदादि की तरह पाञ्चभौतिक शरीरधारी व्यक्ति नहीं था। प्रायः पाश्चात्य और अनेक भारतीय विद्वानों का भी यह स्वभाव सा बन गया है, कि वे प्राचीन भारतीय संस्कृति, सभ्यता और साहित्य का उन्नत मस्तक करने वाली अनेक वास्तविक घटनाओं तथा व्यक्तियों को मिथ्या एवं काल्पनिक बताने में तनिक भी संकोच नहीं करते। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों का यह दृष्टिकोण, किन्हीं विशेष भावनाओं से प्रेरित होकर बन जाना कुछ आश्चर्यजनक नहीं। परन्तु उनकी अनुगामिता में ही अनुसंधान की चरम सीमा समझने वाले भारतीय विद्वानों की इस मनोवृत्ति को देखकर अवश्य ही हृदय को ठेस पहुँचती है। हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं, कि हम मिथ्या आत्मश्लाघा के वशीभूत होकर दूसरे की सचाई को अंगीकार करने से विमुख हों; ये भावनाएं तो बहुत ही निन्दित और उन्नति की बाधक हैं। परन्तु वस्तुस्थिति को भी मिथ्या रूप देने के प्रयत्नों में अनुगामिता-प्रदर्शन अवश्य ही प्रशंसनीय नहीं कहा जासकता।

कोलब्रुक, जैकोबी और मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने कपिल को काल्पनिक व्यक्ति माना + है। विद्वान् कीथ × का कहना है, कि कपिल पद हिरण्यगर्भ का पर्यायवाची है, और अग्नि, विष्णु तथा शिव आदि के साथ कपिल की एकात्मता अथवा तद्रूपता का भी उल्लेख संस्कृत साहित्य ÷ में मिलता है। इसलिये कहा जासकता है, कि कपिल नाम का कोई वास्तविक व्यक्ति नहीं था। अपने मत को पुष्ट करने के लिये कीथ ने, जैकोबी❀ की सम्मति को भी प्रदर्शित किया है।

+ देखें, डा० रिचर्ड गार्बे कृत Samkhya und Yoga २, ३.

× कीथकृत Samkhya System, 9.

÷ महाभारत, वनपर्व, १०७।३॥ २२३।२१॥ शान्तिपर्व, ३४१।७०-७२॥ ३४२।३०-३१॥ कुम्भघोण संस्करण। रामायण, बालकाण्ड, ४०।२५॥ निर्णयसागर, बम्बई का सटीक संस्करण।

❀ कीथकृत, Samkhya System, 9. टिप्पणी १.

All the early teachers of the Samkhya appear in legendary guise, the reality of Kapila, the alleged founder of the system, has been abandoned by Jacobi. (A History of Sanskrit Literature, by Keith. P. 488.)

हमारा कहना है, कि किन्हीं गुणविशेषों के कारण, किसी का कदाचित् नामान्तर से उल्लेख किया जाना, उन नामपदों की पर्यायता को सिद्ध नहीं करता। शौर्य आदि गुणों के कारण किसी बालक को सिंह कहना, बालक और सिंह पद की पर्यायता को सिद्ध नहीं करता। और न ऐसा कहने से बालक को काल्पनिक ही कहा जा सकता है। कपिल के सम्बन्ध में भी बिल्कुल यही बात है। उसको अपने लोकातिशायी विशेष गुणों के कारण ही जहां तहां अग्नि आदि नामों से स्मरण किया गया है। इन सब बातों को हम प्रथम इसी प्रकरण में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं। इससे न तो कपिल और हिरण्यगर्भ आदि पदों की पर्यायता सिद्ध होती है, और न इससे कपिल व्यक्ति को, काल्पनिक ही सिद्ध किया जासकता है।

किसी भी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिये यही आवश्यक समझा जाता है, कि उसके लिये कोई साधक प्रमाण हो, अथवा बाधक प्रमाण न हो। कपिल के अस्तित्व अथवा ऐतिहासिक व्यक्तित्व के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण का उपयोग नहीं किया जासकता, क्योंकि उसके अस्तित्व का समय अब से बहुत पहिले था। परन्तु उसकी कृतियों से उसका अनुमान किया जासकता है। और शब्द प्रमाण तो उसके अस्तित्व का पूरा पोषक है। उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण, और बौद्ध जैन साहित्य सब ही उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व की घोषणा कर-रहे हैं। अतीत के लिये शब्द ही प्रमाण माना जासकता है। यदि पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में यह सब साहित्य मिथ्या ही कह रहा है, तब कोई भी व्यक्ति यह भी कह सकेगा, कि कोलब्रुक, मैक्समूलर, कीथ आदि व्यक्ति भी कोई नहीं थे। इनके नाम के सब ग्रन्थ किसीने ऐसे ही बना दिये हैं। ये सब कल्पित हैं। इसप्रकार तो प्रमाणप्रमेय व्यवस्था का ही विलोप होजायगा। और किसी भी वस्तु के अस्तित्व का नियमन नहीं किया जा सकेगा। इसलिये कपिल के साधक प्रमाण होने से, और किसी बाधक प्रमाण के न होने से, उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व से नकार नहीं किया जासकता।

कपिल की ऐतिहासिकता पर, पं० गोपीनाथ कविराज का मत।

कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों का अनुसरण करते हुए, काशीवासी कविराज श्रीयुत पं० गोपीनाथ जी एम. ए. महोदय ने भी कपिल के सम्बन्ध में अपना इसीप्रकार का मत प्रकट किया है। और इस सम्बन्ध में एक बहुत ही अद्भुत युक्ति का उल्लेख किया है। उनके लेख का सारांश यह है—

+यह निस्सन्दिग्ध रूप से कहा जासकता है, कि सांख्य का आदि प्रवक्ता, अथवा इस कल्प में मनुष्यजाति का सर्वप्रथम विज्ञ प्राणी कपिल, ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था, यदि इस शब्द

+ That कपिल the First Teacher of सांख्य in fact the first Enlightened Human Being during the cycle-was not a historical personage in the usually accepted sense of the term, is without any doubt. He is referred

के प्रचलित अर्थों को लिया जाय। प्राचीन रसायनशास्त्र के अनुगामियों, तथा नाथसम्प्रदाय के साहित्य में भी उसको सिद्ध बताया गया है। भगवद्गीता में भी उसे उत्तम सिद्ध वर्णन किया गया है। अपने निजी प्रयत्नों से जिस किसी प्रकार भी पूर्णावस्था को प्राप्त होना रूप पारिभाषिक 'जन्मसिद्धि' के उदाहरण-रूप में भी प्रायः उसका ही नाम लिया जाता है।

योगसूत्र (१।२५ के) व्यासभाष्य में निम्नलिखित सूत्ररूप सन्दर्भ उद्धृत किया गया है—

आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तंत्रं प्रोवाच।

वाचस्पति ने इस उद्धरण को पञ्चशिख का लिखा है। इससे यह जान पड़ता है, कि

---

to as a Siddha in the literature of the नाथ and of the votaries of the ancient Science of Alchemy (रसायन). And in the भगवद्गीता too he is discribed as the best of the Siddhas. His case is often cited in illustration of what is technically known as जन्मसिद्धि i. e. perfection obtained through personal exertion in same shape or the other.

There is an aphoristic statement quoted in व्यास's commentary on the Yoga Sutra [१. २५]. It is attributed by वाचस्पति to पञ्चशिख and runs thus: आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच। It appears from the above that कपिल disclosed the तन्त्र i.e. the secret Wisdom (viz. the सांख्य doctrines or the षष्टितन्त्र) to आसुरि, as a Master to a seaking Desciple. The assumption of निर्माणकाय implies that the Master had not a physical body and his appearance before आसुरि does not therefore represent an historical fact.

३. निर्माणकाय and निर्माणचित्त are practically identical. पतञ्जलि speaks of the निर्माणचित्त and describes how it is evolved from the stuff of अस्मिता, व्यास and पञ्चशिख also refer to it under this name. But उदयन employs the term निर्माणकाय, in exactly the same sense. So do the Buddhist writers with whom this 'काय' is a familiar expression (vide.. ....a paper on निर्माणकाय, by the present writer in 'The Princess of Wales Saraswati Bhavana Studies' Vol. I.). The fact is that Siddhi leads in a wonderful manner to the unification of Chitta (mind) and काय (body), so that the resultant product may be fitly described as a Mind as well as a Body. This process of unification, which of course presupposes an elimination of impurities in each, is to be sharply differentiated from the other process of Discrimination. The so called कायसिद्धि, effected through Alchemy. हठयोग, राजयोग, or मन्त्र, is identical with the realisation of निर्माणकाय. Before he had plunged into निर्वाण, कपिल furnished himself with a सिद्धदेह and appeared before आसुरि to impart to him the Secrets of सांख्यविद्या.

कपिल ने तन्त्र अर्थात् गूढ़ज्ञान (सांख्यसिद्धान्त अथवा षष्टितन्त्र) का आसुरि को प्रवचन किया, जो शिष्यरूप से जिज्ञासा-युक्त होकर उसके पास आया था। निर्माणकाय का मान लेना ही यह ध्वनित करता है, कि गुरु भौतिक शरीर से रहित था। इसीकारण आसुरि के सामने उसका प्रकट होना एक ऐतिहासिक घटना नहीं।

'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय' इत्यादि पंचशिखसूत्र में 'निर्माणचित्त' पद 'निर्माणकाय' पद का समानार्थक है। पतंजलि ने 'निर्माणचित्त' पद का उल्लेखकर, उसकी उत्पत्ति अस्मिता (निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्, योगसूत्र ४, ४) अर्थात् अहङ्कार से बतलाई है। व्यास और पंचशिख ने भी इस पद को ऐसा ही माना है। परन्तु उदयन ने 'निर्माणचित्त' पद के अर्थ में 'निर्माणकाय' पद का प्रयोग किया है। फलत: ये दोनों पद समानार्थक हो जाते हैं। इस अर्थ को प्रकट करने के लिये बौद्ध लेखक, केवल 'काय' पद को ही प्राय: प्रयुक्त कर देते हैं। वस्तुत: सिद्धि, चित्त अर्थात् मन और शरीर की अपवित्रताओं या मलों को दूर कर इनको एक आश्चर्यजनक समानता की अवस्था में पहुँचा देती है। कपिल एक महान सिद्धिप्राप्त व्यक्ति थे, उसीके बल पर निर्वाण अर्थात् मुक्ति को प्राप्त होने के पूर्व उन्होंने अपना एक सिद्धदेह की स्वयं रचना की; तथा सांख्य का उपदेश देने के लिये आसुरि के सन्मुख प्रकट हुए। इस तरह कपिल का कोई भौतिक शरीर नहीं था। यह बात 'निर्माणचित्तमधिष्ठाय' इत्यादि सूत्र से स्पष्ट होजाती है। अतएव कपिल ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हो सकता।-|-

श्रीयुत कविराज के मत का असामञ्जस्य।

श्रीयुत कविराज महोदय ने अपने लेख में इस बात को अन्धकार में ही रक्खा है, कि ऐतिहासिक व्यक्ति होने के लिये क्या योग्यता होनी चाहिये। कपिल को मनुष्य जाति का व्यक्ति मानते हुए भी, उसे ऐतिहासिक न मानना, एक पहेली ही है। सिद्ध होजाने से कोई व्यक्ति ऐतिहासिक नहीं रहता, यह तर्क हम नहीं समझ सके। ऐतिहासिक व्यक्ति होने का प्रचलित अर्थ क्या हो सकता है? यदि श्रीयुत कविराज जी अभिमत, इसका कोई रहस्यपूर्ण अ न हो, तो कपिल भी ऐतिहासिक व्यक्ति क्यों नहीं हो सकता, जबकि उसका अस्तित्व मनुष्य जाति के ही एक प्राणी के समान था। उसने अपने शिष्य को एक शास्त्र का उपदेश दिया। सिद्धि को प्राप्त किया। अन्य ऐतिहासिक माने जाने वाले व्यक्तियों में और क्या विशेषता होती है?

यदि यह बात मान भी ली जाये, कि कपिल ने सिद्धि के बल पर स्वयं अपने शरीर की रचना की। फिर भी वह स्वयं रचा हुआ शरीर भौतिक था या अभौतिक? इस बात को भी कविराज जी ने स्पष्ट नहीं किया है। हमारा अभिप्राय यह है कि चाहे कपिल की देह योनिज मानी जाय, अथवा सिद्धि के बल पर स्वयं रचना की हुई मानी जाय; प्रत्येक अवस्था में वह देह तो

-|- देखें—सांख्यकारिका पर 'जयमंगला' नामक व्याख्या की भूमिका (इंगलिश में), पृष्ठ २-३। इस ग्रन्थ के सम्पादक, H शर्मा M.A., और प्रकाशक, डॉ० नरेन्द्रनाथ लॉ M.A.B.L., कलकत्ता हैं।

भौतिक ही कही जा सकती है। उसके हाथ पैर सिर मुंह आदि अवयवों की कल्पना भी दृश्यमान देहों के समान ही की जासकती है। अन्यथा आसुरि के लिये उपदेश किया जाना असंभव हो जायगा। यह भी नहीं माना जासकता, कि कपिल की देह एक बिजली की तरह कौंधी, और उपदेश देकर तत्क्षण अन्तर्धान हो गई। क्योंकि आसुरि ने सांख्यतत्वों के मर्म को समझने के लिये कुछ प्रश्न भी किये होंगे, कपिल ने उनके समाधान किये होंगे। इतने गहन विषयों को समझने समझाने के लिये अवश्य ही कुछ काल की अपेक्षा हो सकती है। तब तक कपिल के उस देह का स्थित रहना भी मानना ही पड़ेगा। कैसा भी सिद्ध क्यों न हो, भौतिक शरीर की स्थिति के लिये अशन पान आदि के विधान और मल मूत्र आदि के त्याग का भी विरोध नहीं किया जासकता।

यदि श्रीयुत कविराज महोदय के विचार में वह सिद्धदेह अभौतिक ही कल्पना किया जाये, तो आसुरि को उपदेश देने के लिये सिद्ध देह का प्रकट होना, अभौतिक देह में नहीं बन सकता। अप्रकट या अदृश्य देह के ही द्वारा उपदेश की कल्पना किये जाने पर तो, देह की कल्पना करना ही व्यर्थ है। इन सब झंझटों में ही क्यों पड़ा जाय; यही मान लिया जाय कि आकाशवाणी द्वारा ही आसुरि को उपदेश मिल गया था। वस्तुतः अदृश्य देह आदि से उपदेश की कल्पना असंभव है। वाचस्पति मिश्र+ ने भी 'आदिविद्वान्' पद की व्याख्या से इस बात को स्पष्ट कर दिया है, जैसा कि पूर्व लिखा जाचुका है।

कपिल को श्रीयुत कविराज महोदय ने भी सिद्धिप्राप्त व्यक्ति बताया है। विचारणीय यह है कि कपिल को सिद्धि किस प्रकार प्राप्त हुई ? इसके लिये उसने अवश्य ही किन्हीं व्यवस्थाओं या नियमों का पालन किया होगा। तपस्या अथवा समाधि का अभ्यास किया होगा। उसके अनन्तर ही सिद्धिप्राप्ति की संभावना कही जासकती है। श्रीयुत कविराज जी ने 'जन्मसिद्धि' का स्वरूप बताया है, कि 'अपने निजी प्रयत्नों से जिस किसी प्रकार भी पूर्णावस्था को प्राप्त होना'× । वह प्रयत्न—परिश्रम अथवा पुरुषार्थ, कपिल ने भी अवश्य किया होगा। यह सब बिना ही भौतिक शरीर के किस प्रकार किया जासकता है ? वह जब तपस्या और समाधि भावना में अपना समय बिता रहा था, उस समय भी उसका नाम कपिल था। और वह अस्मदादि की तरह ही देहधारी था। उस समय तक वह सिद्ध नहीं हो चुका था। यदि कपिल की उस समय की स्थिति को माना जाता है, तो उसकी ऐतिहासिकता से कैसे नकार किया जासकता है ? फिर जिस शरीर से तपस्या करके उसने सिद्धि को प्राप्त किया; आसुरि को उपदेश भी उसी शरीर के साथ रहकर क्यों नहीं किया जासकता ? तब उपदेश के लिये शरीरान्तर धारण करने की क्या

+ देखो—पातञ्जलयोगसूत्र १।२५ पर व्यासभाष्य में उद्धृत पञ्चशिखसूत्र के 'आदिविद्वान्' पद की वाचस्पति मिश्रकृत व्याख्या।

× जन्मसिद्धि—Perfection obtained through personal exertion in some shape or the other- [जयमंगला, भूमिका, पृष्ठ ३]

आवश्यकता हो सकती है ? इसलिये यह अवश्य मानना पड़ता है, कि कपिल हमारी तरह ही देहधारी व्यक्ति था। और माता पिता के सम्बन्ध के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण ही उसका देह योनिज था।

प्रसंगप्राप्त सिद्धदेह का विवेचन, वह भौतिक ही होसकता है अभौतिक नहीं।

यदि कपिल को स्वभावतः ही सिद्ध माना जाय, और कहा जाय, कि उसने स्वतः सिद्ध होने के कारण स्वयं ही अपने देह की रचना कर आसुरि को उपदेश दिया, तो भी उसका देह, भौतिक ही कल्पना किया जासकता है। इसलिये अब हम यही बतलाने का यत्न करेंगे, कि 'सिद्ध देह' भी भौतिक ही होते हैं, अभौतिक नहीं हो सकते।

श्रीयुत कविराज महोदय ने अपने लेख में पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित 'निर्माणचित्त' पद का निर्देश किया है। पतञ्जलि का एक सूत्र है–'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्'। यह कैवल्यपाद का चौथा सूत्र है। इसी पाद के प्रथम सूत्र+ में पांच प्रकार की सिद्धियों का वर्णन किया गया है। दूसरे सूत्र× में बताया गया है, कि इसप्रकार का सिद्धयोगी, जब अपने विद्यमान शरीर और इन्द्रियों को किसी दूसरी जाति में परिणत करता है, तब उस दूसरी जाति के शरीर और इन्द्रियों के जो प्रकृति अर्थात् उपादान कारण हैं, वे उन शरीर और इन्द्रियों की उत्पत्ति में, उस योगी की सहायता करते हैं। अर्थात् उन शरीर आदि के उपादान कारणों को लेकर योगी सिद्धि बल से दूसरी जाति के शरीर आदि को रच लेता है। इससे स्पष्ट है कि सिद्धयोगी भी देह आदि की रचना, उन देह आदि के उपादान कारणों से ही करता है। इसीलिए इस सूत्र के भाष्य में व्यास लिखता है—

'कायेन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण' ।

शरीर और इन्द्रियों की प्रकृतियां अपने अवयवों के प्रवेश के द्वारा [आपूरेण] अपने २ विकार अर्थात् कार्य की उत्पत्ति में सहायता देती हैं।

इस विचार को हम एक उदाहरण के द्वारा इसप्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—मानलीजिये, एक सिद्धयोगी अपने मनुष्यदेह को, सिंह-देह में परिणत करना चाहता है। मनुष्य देह के प्रकृति अर्थात् उपादान कारण—जितने भी अवयव हैं, उतने ही अवयवों से सिंह देह पूरा नहीं बन पाता, उसमें और अवयवों की भी आवश्यकता है। तब सिद्धयोगी, सिंह-देह के प्रकृति अर्थात् उपादान कारणों से उतने अवयवों को और लेकर सिंह-देह को पूर्णरूप से रच लेगा। यदि वह चींटी के देह में परिणत करना चाहता है, तो उसके कारणभूत उतने ही अवयवों से वह चींटी के देह को बना लेगा, मनुष्य-देह के शेष अवयव अपने कारणों में लीन हो जायेंगे। शरीर की प्रकृति अर्थात् उपादान कारण पृथिव्यादि भूत हैं, और इन्द्रियों की प्रकृति है—अस्मिता अर्थात् अहंकार। इनके यथावश्यक अतिरिक्त अवयवों के प्रवेश द्वारा योगी स्व-परिणत देह आदि को पूरा कर लेता है। उक्त

+ जन्मौषधिमन्त्र तपः समाधिजाः सिद्धयः ॥४।१॥

× जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्। योगसूत्र, ४।२॥

भाष्य कीव्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—

'कायस्य हि प्रकृतिः पृथिव्यादीनि भूतानि, इन्द्रियाणां च प्रकृतिरस्मिता, तदवयवाऽनुप्रवेश आपूरस्तस्माद् भवति'

इससे स्पष्ट है, कि योगी भी पृथिव्यादि भूतों के अतिरिक्त और किसी तत्व से अपने सिद्ध-देह की रचना नहीं कर सकता। इसलिये उनके वे देह भी भौतिक ही सिद्ध होते हैं।

यदि कोई सिद्ध-योगी आवश्यकतानुसार अनेक शरीरों की रचना कर लेता है, ऐसी स्थिति में एक आशंका होती है, कि क्या वह उन शरीरों से कार्य लेने के लिये प्रत्येक शरीर के साथ सम्बद्ध, अलग २ चित्तों [मन] की भी रचना करता है, या अपने एक मुख्य चित्त के द्वारा ही उन सब शरीरों का संचालन करता रहता है? इस आशंका का उत्तर, सूत्रकार पतंजलि ने चौथे सूत्र से दिया है। सूत्र है—

'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्'।

अस्मिता अर्थात् अहंकार कारण को लेकर सिद्ध-योगी स्वरचित शरीरों के अनुसार ही चित्तों की भी रचना कर लेता है, और वे सब शरीर, जो उसके अपने बनाये हुए हैं, अलग २ चित्तसहित होजाते + हैं। और उनसे वह अपनी आवश्यकता के अनुसार कार्य लेता रहता है।

सांख्य-योग का यह परम सिद्धान्त है, कि देह, पृथिव्यादि भूतों से उत्पन्न होते हैं। और इन्द्रियाँ तथा मन [चित्त], अहंकार तत्व से उत्पन्न होते हैं। चाहे वे योनिज हों, अथवा अयोनिज, उनके उपादान कारण सर्वत्र पृथिव्यादि भूत ही हैं और इन्द्रिय तथा मन के कारण हैं—अहंकार तत्व। यह बात पतंजलि व्यास तथा वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त उल्लेखों से भी स्पष्ट की जाचुकी है।

आधुनिक × विद्वानों ने भी जो इस सम्बन्ध में लिखा है, उस से भी सिद्ध-देह के सम्बन्ध में इससे अतिरिक्त और कोई प्रकाश नहीं मिलता। सिद्ध-देह को इन विद्वानों ने भी अभौतिक स्वीकार नहीं किया। और शरीर की उत्पत्ति भूतों से तथा मन और इन्द्रियों की अहङ्कार से ही स्वीकार की है।

ऐसी स्थिति में 'निर्माणचित्त' और 'निर्माणकाय' पद, समानार्थक नहीं हो सकते। चित्त अलग वस्तु है, काय अलग वस्तु। चित्त अपने कारणों से उत्पन्न होते हैं, और काय अपने

+ यदा तु योगी बहून् कायान् निर्मिमीते, तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथाऽनेकमनस्का इति निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्'। अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति, ततः सचित्तानि भवन्ति।
[व्यासभाष्य, ४।४]

× योगदर्शन व्यासभाष्य तथा वाचस्पत्य का इंग्लिश अनुवाद। श्रीयुत रामप्रसाद एम्. ए. कृत। पाणिनि आफ़िस प्रयाग से खीस्ट १९१२ में प्रकाशित।
तथा उक्त पुस्तक का ही J. H. Woods कृत इंग्लिश अनुवाद।

कारणों से, उनका एक होना असंभव है। योगी की परम सिद्धि अवस्था में भी, शरीर और अन्तः-करण [मन = चित्त] के मल अथवा अपवित्रताओं का सर्वथा नाश हो जाने परभी, शरीर की भौतिकता और इन्द्रियों की आहंकारिकता को कोई शक्ति नष्ट नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में उक्त पंचशिख सूत्र के 'निर्माणचित्त' पद का अर्थ 'निर्माणकाय' नहीं किया जासकता। इसलिये कपिल के शरीर के सम्बन्ध में श्रीयुत कविराज महोदय की जो कल्पना है, वह निराधार असंगत तथा भ्रमपूर्ण है।

बौद्ध लेखकों ने यदि 'निर्माणकाय' पद के लिये केवल 'काय' पद का प्रयोग किया है, तो वह संगत ही है, 'काय' साधारणतया सब ही शरीरों को कह सकते हैं, परन्तु 'निर्माणकाय' पद योगी द्वारा रचित शरीर के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध लेखकों ने साधारण 'काय' पद का प्रयोग करके कोई असांगत्य नहीं किया। यदि उन्होंने 'निर्माणचित्त' पद के लिये भी 'काय' पद का ही प्रयोग किया होता, तो उससे आपके विचार की पुष्टि हो सकती थी। परन्तु उनके इसप्रकार के उल्लेख का आपने कोई उदाहरण नहीं दिया। यद्यपि वस्तुस्थिति में वैसा लेख भी उनकी निज शास्त्र सीमित पारिभाषिकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

आचार्य उदयन ने 'निर्माणचित्त' पद के अर्थ के लिये 'निर्माणकाय' पद का प्रयोग कहीं नहीं किया है। यद्यपि उदयन के उस स्थल का निर्देश अपने लेख में श्रीयुत कविराज जी ने नहीं किया, परन्तु प्रतीत होता है, आचार्य उदयन कृत न्याय कुसुमाञ्जलि के प्रारम्भ में ही आई हुई निम्नलिखित पंक्ति की ओर आपका निर्देश है। वह पंक्ति इसप्रकार है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदायप्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः+ ।'

ईश्वर की सिद्धि के लिये भूमिका का प्रारम्भ करते हुए, उदयन लिखता है, ईश्वर के सम्बन्ध में सन्देह ही कहां है, जो उसकी सिद्धि के लिये प्रयत्न किया जाय। किसी न किसी रूपमें प्रत्येक दार्शनिक और साधारण जन भी उसकी सत्ता को स्वीकार ही करते हैं। इसी प्रसंग में उप-र्युक्त पंक्ति पातञ्जल योगदर्शन का मत प्रदर्शन करने के लिये लिखी गई है। इसमें आये हुए 'निर्माणकाय' पद को श्रीयुत कविराज महोदय ने 'निर्माणचित्त' पदके अर्थ में प्रयुक्त हुआ समझा है। परन्तु इस समझ के लिये आपने कोई भी युक्ति अथवा प्रमाण उपस्थित नहीं किया, जिसके आधार पर यहां 'चित्त' और 'काय' पद की समानार्थता स्वीकार की जासके।

हमारा अभिप्राय यही है, कि उदयन के उक्त वाक्य में 'निर्माणकाय' पद, 'निर्माणचित्त' अर्थ के लिये प्रयुक्त किया गया है, इस बात में श्रीयुत कविराज महोदय के पास क्या प्रमाण है ? क्यों नहीं, यहां 'काय' पद, शरीर अर्थ को ही कहता ? मालूम यह होता है, कि पञ्च-शिख सूत्र और उदयन पंक्ति की वाक्यरचना में कुछ पाठगत आनुपूर्वी की × समानता को देखकर

+ न्यायकुसुमाञ्जलि, पृष्ठ ५ वर्धमान कृत 'प्रकाश' टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से, ईसवी सन् १९१२ में प्रकाशित संस्करण।

× 'निर्माणचित्तमधिष्ठाय' पञ्चशिख, 'निर्माणकायमधिष्ठाय' उदयन।

आपको 'काय' और 'चित्त' पदों को समानार्थकता का भ्रम हुआ है, परन्तु ऐसी पाठसमानता के आधार पर भिन्नार्थक पदों को समानार्थक मान लेना उपहासास्पदमात्र है। ऐसी निराधार कल्पना किये जाने पर तो शब्द की अर्थप्रकाशन शक्ति का कुछ नियमन ही नहीं रह सकता। फिर तो 'देवदत्तः परशुना काष्ठं छिनत्ति' तथा 'देवदत्तः असिना काष्ठं छिनत्ति' में 'परशु' [कुल्हाड़ा] और 'असि, [तलवार] पदों की; एवं 'यज्ञदत्तः अश्वेन ग्रामं याति' तथा 'यज्ञदत्तः गजेन ग्रामं याति' वाक्यों में 'अश्व' [घोड़ा] और 'गज' [हाथी] पदों की समानार्थकता को कौन रोक सकेगा? इसलिये 'काय' पद का अर्थ शरीर और 'चित्त' पद का अर्थ मन ही स्वीकार करना पड़ता है, जैसाकि साहित्य में प्रसिद्ध है। इसकी पुष्टि के लिये हम पतञ्जलि, व्यास और वाचस्पति के उल्लेखों को पीछे दिखाचुके हैं।

गौतमकृत न्यायसूत्रों के भाष्यकार आचार्य वात्स्यायन ने भी इस अर्थ को स्पष्ट किया है, कि योगी सिद्धि प्राप्त होने पर पृथक् २ ही शरीर और इन्द्रियों की रचना करता है। वात्स्यायन का लेख है।

'योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु युगपज्ज्ञेयान्युपलभते +।'

योगी योगजन्य सिद्धि के प्राप्त होने पर, अस्मदादि साधारण जनों की अपेक्षा विलक्षण साधनों से युक्त हुआ २, इन्द्रिय सहित दूसरे शरीरों की रचना करके उनमें एक साथ ही विषयों को उपलब्ध कर लेता है, वात्स्यायन के इस लेखमें इन्द्रिय और शरीरों की रचना पृथक् २ बतलाई गई है। यद्यपि नैयायिक मनकी उत्पत्ति नहीं मानते। योगी इन्द्रिय और शरीरों की रचना करता है, और मुक्त हुए आत्माओं के बेकार मनों को लेकर उनकी सहायता से स्वरचित शरीरों में विषयों की उपलब्धि कर लेता है। तथापि शरीर और मन का पृथक्त्व, निश्चित रूप से स्पष्ट है। शरीर [काय] अलग, और मन [चित्त] अलग वस्तु हैं। उनकी समानार्थता असम्भव है।

'भारतीय दर्शन' नामक ग्रन्थ के रचयिता श्रीयुत बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य महोदय ने अपने ग्रन्थ के ३१७ पृष्ठ पर लिखा है—'आचार्य पञ्चशिख ने अपने एक सूत्र में कपिल को निर्माणकाय का अधिष्ठान कर आसुरि को सांख्यतन्त्र के उपदेश देने की घटना का उल्लेख किया है।' इसी पंक्ति के सूत्र पद पर चिन्ह देकर टिप्पणी में 'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय' इत्यादि पञ्चशिख सूत्रको उद्धृत किया है।

श्रीयुत उपाध्याय महोदय के इस लेख के संबन्ध में, उक्त आधारों पर हम कह सकते हैं कि यदि उल्लिखित पञ्चशिख सूत्रके आधार पर ही 'निर्माणकाय का अधिष्ठानकर' ये पद लिखे गये हैं, तो ये असंगत ही हैं। प्रतीत होता है, यह केवल कविराजजीके लेखका, उपाध्यायजी द्वारा अन्धानुसरण किया गया है।

इसके अतिरिक्त श्रीयुत कविराज महोदयने लिखा है।

+ गौतम न्यायसूत्र, वात्स्यायनभाष्य, ३।२।१६॥

Before he had plunged into निर्वाण, कपिल furnished himself with a सिद्धदेह and appeared before आसुरि to impart to him the Secrets of सांख्यविद्या' +

अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होनेके पूर्व, कपिलने अपने सिद्धदेहको बनाया, और सांख्यविद्याके रहस्य को प्रकाशित करने के लिये आसुरि के सामने प्रकट हुआ।

यहां यह आशङ्का होती है, कि जब कपिल अपने सिद्धदेहको बनाकर आसुरिके सामने प्रकट हुआ, उससे पहले कपिलकी क्या अवस्था थी? श्रीयुत कविराजजीके कथनानुसार तबतक वह मुक्तावस्थामें भी नहीं था। तब क्या उसका कोई शरीर था? या वह विना ही शरीरके था। यदि विना ही शरीरके था, तो केवल आत्माका नाम कपिल कैसे हुआ? लोकमें लौकिक दृष्टिसे केवल आत्माकी कोई स्थिति नहीं मानी जा सकती। तो क्या श्रीयुत कविराज महोदयके विचारसे लोकमें केवल कपिलकी उतनी ही स्थिति थी, जितने समयमें कि उसने आसुरिके सामने प्रकट होकर सांख्यका उपदेश दिया? इसका भी निर्णय किया जाना असम्भव है, कि यह कितना समय था? घण्टे दो घण्टे, दो चार दिन, या साल दो साल, अथवा इससे भी न्यूनाधिक। तथा विना ही शरीर की स्थिति में उसका नाम कपिल कैसे और कितने समय से चला आता था? समय के निर्धारण में कोई भी उपोद्बलक संभव नहीं है।

तात्पर्य यह है, कि आसुरिको उपदेश देने के लिये प्रकट होनेसे पूर्व कपिलकी स्थिति शरीररहित नहीं मानी जासकती। यदि शरीरसहित ही स्थिति मानी जाय, तो वह शरीर कैसे उत्पन्न हुआ? इस बातको स्पष्ट करना होगा। फिर वह शरीर योनिज हो अथवा अयोनिज, उसकी भौतिकतासे नकार नहीं किया जासकेगा। उसके अयोनिज होनेमें कोई भी प्रमाण उपस्थित नहीं किये गये हैं। श्रीमद्भागवत और रामायण आदिके आधारपर, योनिज होनेके प्रमाण हम इसी प्रकरणमें पूर्व दिखा चुके हैं। इसलिये आसुरिको उपदेश देनेसे पूर्व या पश्चात् जो कोई भी शरीर माना जाय, उसकी भौतिकतासे नकार नहीं किया जासकता। और इसीलिये कपिलको ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार करना ही पड़ता है।

प्रसंगप्राप्त निर्माणचित्त और निर्माणकाय पदों का अर्थ-विवेचन।

प्रतीत यह होता है, कि 'निर्माणचित्त' अथवा 'निर्माणकाय' पद का अर्थ समझने में श्रीयुत कविराज महोदय तथा अन्य आधुनिक विद्वानों को भ्रम हुआ है। भ्रान्ति के आधार पर कपिल के एक सिद्ध देह की कल्पना कर डाली गई है। इसलिये हम यहां पर इन पदों के अर्थ की विवेचना कर देना आवश्यक समझते हैं।

योगसूत्र [१,२५] के भाष्य में उद्धृत पञ्चशिख वाक्य के 'निर्माण चित्त' पद की व्याख्या उस स्थल पर आचार्य व्यास ने कुछ नहीं की है। वाचस्पति मिश्र ने भी, यद्यपि 'आदिविद्वान्' पद की विस्तृत व्याख्या की है, पर इस पद को बिल्कुल छोड़

+ सांख्यसप्तति व्याख्या- 'जयमंगला' नामक टीका की भूमिकामें पृष्ठ ३ की टिप्पणी देखें।

दिया है। इसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। आगे कैवल्य पाद के चतुर्थ सूत्र, 'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्' पर भी आचार्य व्यासने 'निर्माणचित्त' पद का कोई विवेचन नहीं किया है। उसी की तरह वाचस्पति मिश्र भी सर्वथा मौन है। यद्यपि इसी सूत्र की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने प्रसंगवश 'निर्माणकाय' पद का प्रयोग अवश्य किया है, परन्तु उसका विवरण कुछ नहीं दिया है।

[१, २५] योगसूत्र के भाष्य में उद्धृत पञ्चशिख वाक्य के "निर्माणचित्त' पद की व्याख्या करते हुए, श्रीयुत बालराम उदासीन ने टिप्पणी में लिखा है—'निर्माण-चित्तं—योगबलेन स्वनिर्मितं चित्तम्'। इसीप्रकार योगसूत्र [४।४] की टिप्पणी में भी श्रीयुत उदासीन ने 'स्वसंकल्पेन निर्मितानि चित्तानि निर्माणचित्तानीत्युच्यन्ते' लिखा है। वस्तुतः श्रीयुत उदासीन महोदय अपनी ओर से इस पद का अर्थ करने में, उदासीन ही रहे हैं। यह सब ऊपर का लेख, योग सूत्रों पर योगवार्तिक नामक विज्ञान-भिक्षुकृत भाष्य से उद्धृत किया गया है। इसका अभिप्राय यह है, कि योगी के अपने संकल्प से रचे हुए चित्त, 'निर्माणचित्त' कहे जाते हैं।

पर वस्तुतः इस प्रसंग में विज्ञानभिक्षुकृत 'निर्माणचित्त' पद का अर्थ संगत नहीं है। पंचशिख के सूत्र में 'योगबलसे स्वयम [कपिल का] निर्मित चित्त ही 'निर्माणचित्त' है' यह कहना प्रकट करता है कि इससे पहिले कपिल का कोई चित्त नहीं था, तब उसकी क्या स्थिति थी? फिर संकल्प भी विना चित्त के नहीं हो सकता। तब कपिल ने संकल्प कैसे किया? इत्यादि प्रश्न व्याघ्र के समान सम्मुख उपस्थित होते हैं। और उसके साथ अनेक प्रश्न सामने आते हैं, जिनको अभी हम दिखला चुके हैं। यदि प्रथम ही कपिल का चित्त विद्यमान था, तब उसे और चित्त बनाने की क्यों आवश्यकता हुई? इसका निरूपण हम अभी आगे करेंगे, कि एक मुख्य चित्त के रहते भी योगी अन्य चित्तों की रचना क्यों करता है? वह प्रयोजन, प्रकृत में सर्वथा व्यर्थ एवं असंगत है। इसलिये इन बाधाओं के रहते उक्त पञ्चशिख सूत्र में 'निर्माणचित्त' पद का उपर्युक्त अर्थ संगत नहीं कहा जासकता।

एक बात और है, भिक्षु संमत अर्थ में 'निर्माण' पद में कर्मार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय मानना पड़ता है, जोकि व्याकरण पद्धतिके अनुसार असंगत है। यदि दुर्जनतोषन्याय से 'राज्ञा भुज्यन्ते इति राजभोजनाः शालयः' इत्यादि प्रयोगों के समान, कर्म में 'ल्युट्' मान भी लिया जाय, तो भी यहां पर 'निर्माण' पदमें 'ल्युट्' प्रत्यय, कर्म अर्थमें नहीं, प्रत्युत भावमें ही है। इसके लिये हम एक उपोद्बलक प्रमाण देते हैं।

'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्'—[४।४] इस योगसूत्र पर भाष्य करते हुए व्यास लिखता है—

'अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति।'

+ देखें—योग सूत्रों पर विज्ञानभिक्षुकृत भाष्य—योगवार्तिक, १।२५॥ तथा ४।४॥

अर्थात् योगी चित्त के कारण-अहंकार को लेकर निर्माण चित्तों को बनाता है। अब यहां यदि "निर्माण" पदमें कर्मार्थक 'ल्युट्' माना जाय, तो व्यासके वाक्यमें 'करोति' क्रियापद अनर्थक होजाता है। क्योंकि कर्म में 'ल्युट्' करने पर 'निर्मीयते इति निर्माणम्' इस निर्वचनके अनुसार 'निर्माण' पद का अर्थ होगा 'बनाया हुआ'। आगे 'चित्त' पद लगाकर अर्थ होगा 'बनाया हुआ चित्त'। व्यास के पूरे वाक्य का अर्थ होगा 'अहंकार कारण को लेकर बनाया हुआ चित्त'। अब वाक्यका 'करोति' क्रियापद अनर्थक होजाता है। क्योंकि इसे जोड़कर वाक्य का अर्थ होगा 'योगी अहंकार कारण को लेकर बनाये हुए चित्तों को बनाता है।' ऐसी वाक्यरचना उन्मत्तप्रलाप के समान ही कही जासकती है। इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य व्यास को यहां पर 'निर्माण' पद, भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करके बनाना ही अभीष्ट है। भाव अर्थ में निर्वचन होगा 'निर्मितिः निर्माणम्' अर्थात् 'निर्माण' पद का अर्थ हुआ केवल 'रचना'। इसका चित्त पदके साथ समास होजाता है। 'निर्माणाय चित्तं निर्माणचित्तं, अथवा 'निर्माणार्थं चित्तं निर्माणचित्तं'। निर्माण अर्थात् रचना के लिये जो चित्त है वह 'निर्माणचित्त' कहा जायगा। अब व्यासके पूरे वाक्यका अर्थ होगा 'योगी अहंकार कारणको लेकर रचना के लिये चित्तोंको बनाता है।' ऐसा अर्थ करने पर स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि योगी किसकी रचनाके लिये चित्तों को बनाता है? इस प्रश्नका उत्तर, योगदर्शनका यह सम्पूर्ण प्रकरण ही है। जिसमें इस बातका निरूपण किया गया है, कि योगी अपने अनेक शरीर और अनेक चित्तोंको, एक साथ नाना प्रकारके भोगोंको भोगने के लिये ही बनाता है।

इससे यह स्पष्ट होजाता है कि योगी अपने अभीष्ट भोगोंके निर्माणके लिये ही देह और चित्तों की आवश्यकतानुसार रचना करता है। यद्यपि उसका मुख्य चित्त और शरीर पहिलेसे विद्यमान रहता है। ऐसी व्याख्या करनेपर व्यास की उपर्युक्त पंक्तिका सुसंगत अर्थ लग जाता है और प्रकरण के साथ भी संगति होजाती है। सारांश यह निकला, कि 'निर्माणचित्त' पदका अर्थ करने के लिये निर्वचन होगा—'निर्माण के लिये चित्त—निर्माणचित्त।' किसके निर्माण के लिये? भोगोंके निर्माण के लिये। ऐसा अर्थ करनेपर किसी दोषकी सम्भावना नहीं रहती।

पञ्चशिख सूत्र में पठित 'निर्माणचित्त' पद का अर्थ भी अब हमारे सामने स्पष्ट होजाता है। यहाँ पर भी निर्वचन होगा-'निर्माण के लिये चित्त-निर्माणचित्त'। किसके निर्माण के लिये? तन्त्रके निर्माण के लिये, जिसके प्रवचनका निर्देश इसी सूत्रमें पञ्चशिख ने किया है। यहां पर भोगों के निर्माण का कोई प्रसङ्ग नहीं है। और इसी लिये यहां चित्त की रचना का कथन भी असंगत ही है। अत एव सूत्र का स्पष्ट अर्थ इसप्रकार होगा-'आदिविद्वान् परमर्षि कपिल ने [तन्त्र के] निर्माण की भावना से प्रेरित होकर, करुणा-वशीभूत हो, आसुरि के लिये तन्त्र का प्रवचन किया।' इसमें न चित्त की रचना का प्रसंग है, और न सिद्ध-देह के निर्माण का गन्ध। यह बात कपिल के ही लिये नहीं, प्रत्युत प्रत्येक उस व्यक्ति के सन्मुख आती है, जो किसी महत्त्व पूर्ण कार्य को प्रारम्भ करने लगता है। उस समय उस कार्य के अनुकूल ही उसे अपनी चित्तवृत्ति बनानी पड़ती है। वही

कपिल ने किया, जिसका उल्लेख पञ्चशिख करता है। इसके अतिरिक्त इन पदों के अर्थ में और कोई विशेषता नहीं है। वस्तुतः विज्ञानभिक्षु ने [४।४ योगसूत्र के] उपर्युक्त व्यासभाष्य में व्यास के हार्दिक स्वारस्य को न समझकर इस पद का अर्थ करने में धोखा खाया है। और उसके पश्चाद्-भावी लेखकों ने इस विषय में आंख मींचकर उसका अनुसरण किया है।

आचार्य उदयन ने न्यायकुसुमाञ्जलि में जो 'निर्माणकाय' पद का प्रयोग किया है, उसका अर्थ भी व्याख्याकारों ने उसीप्रकार किया है, जैसा कि हम अभी ऊपर निर्देश कर आये हैं। इस पद की व्याख्या करते हुए उपाध्याय वर्धमान अपनी 'प्रकाश' नामक टीका में लिखता है—

'शरीरैकनिष्पाद्यवेदादिनिर्माणार्थं कायो निर्माणकायः। सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्यायेति सम्प्रदायो वेदः। स चानादिरेव भगवता द्योत्यते।'

वेद आदि के निर्माण के लिये जो काय है, वही हुआ 'निर्माणकाय'। क्योंकि शरीर के ही द्वारा वेद सम्पन्न या उत्पन्न हो सकता है। शिष्य के लिये + गुरु इसका सम्प्रदान करता है, इसलिये 'सम्प्रदाय' नाम वेद का है, और वह अनादि है, भगवान् केवल उसका प्रकाश करता है। वर्धमान के इस लेख से हमारा तात्पर्य यही है, कि इस प्रसङ्ग में, 'निर्माणकाय' पद का अर्थ 'निर्माणार्थं कायो निर्माणकायः' किया गया है। अर्थात् वेद आदि के निर्माण के लिये जो काय= शरीर है, उसमें अधिष्ठित होकर वेद का प्रकाश करने वाला। + इससे भी स्पष्ट सिद्धांत निकल आता है, कि योगबल से निर्मित काय 'निर्माणकाय' नहीं हो सकता। इसीलिये आचार्य वात्स्यायन ने 'निर्माणचित्त' अथवा 'निर्माणकाय' पद का प्रयोग न करके प्रकारान्तर से 'निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि' लिखकर, उस अर्थ का प्रकाशन किया है। इन प्रमाणों के आधार पर अब निश्चित मत प्रकट किया जासकता है, कि न तो 'निर्माणचित्त' और 'निर्माणकाय' पद समानार्थक हैं, और न इनसे कपिल के आकस्मिक सिद्धदेह के रूप में प्रकट होने की कल्पना की जासकती है। इसलिये कपिल को काल्पनिक मानना, अथवा उसे ऐतिहासिक व्यक्ति न मानना, निराधार और असङ्गत है।

कपिल की अनैतिहासिक-कल्पना का संभावित आधार।

प्रतीत होता है, प्रथम प्रायः योरपीय विद्वानों ने और अनन्तर तदनुगामी कतिपय भारतीय विद्वानों ने भी अपने इस विचार को एक विशेष भित्ति पर आधारित किया है। इन विद्वानों को सांख्यषडध्यायी की रचना के सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय न होने, अथवा तत्सम्बन्धी अनेक सन्देह सन्मुख उपस्थित होने से, सांख्यसूत्रों को अत्यन्त आधुनिक रचना मान लेने के कारण, यह चिन्ता उत्पन्न हुई, कि इन सूत्रों के साथ, भारतीय परम्परा में सर्वत्र प्रसिद्ध कपिल का

× यह अर्थ वर्धमान ने, उदयन के 'सम्प्रदायप्रद्योतकः' पद का किया है। यह निश्चित मत है, कि भगवान्, वेद के प्रकाश के लिये भी स्वयं शरीर धारण नहीं करता, वह वेदवक्ता ऋषियों के हृदय में उस अनादि ज्ञान की भावना को प्रेरित कर देता है, जिससे प्रभावित होकर ऋषि, आदि सर्गकाल में वेदों का प्रवचन करते हैं। इसी प्रेरणा को कालान्तर में, उक्त रूप में वर्णन किया गया है।

सम्बन्ध किस प्रकार दूर किया जाय ? ऐसी स्थिति में और कोई उपाय सम्भव न होने पर कपिल की ऐतिहासिक सत्ता से ही नकार कर देना सीधा मार्ग समझा गया। न होगा बांस, न बजेगी बांसुरी। क्योंकि जब कपिल कोई ऐतिहासिक व्यक्ति ही नहीं था, तो उसके द्वारा सांख्यसूत्रों की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये अवश्य ही किसी आधुनिक विद्वान् ने कपिल के नाम पर इन सूत्रों को घढ़ डाला है। यह है, वह आधारभूत भावना, जिससे प्रेरित होकर कपिल की ऐतिहासिकता पर हरताल फेरने का असफल प्रयत्न किया गया है। हमने अगले प्रकरणों में इन सब बातों पर विस्तारपूर्वक परीक्षण और विवेचन किया है।

कपिल सम्बन्धी हमारे इतने लेख से निम्नलिखित परिणाम निकल आते हैं—

(१)—अत्यन्त प्राचीन काल में, देवहूति [माता] और कर्दम [पिता] का पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम कपिल रक्खा गया। यह जन्मान्तर के पुण्यों के कारण सिद्ध-योगी और महातेजस्वी भाव को प्राप्त हुआ।

(२)—यही कपिल सांख्यशास्त्र का प्रवर्त्तक था।

(३)—अपने लोकातिशायी विशेष गुणों के कारण, ऐतिहासिक साहित्य में इसको कहीं विष्णु और कहीं अग्नि का अवतार कहकर वर्णन किया गया है। तथा कहीं ब्रह्मा का पुत्र कह कर भी स्मरण किया गया है। इससे इसके अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में किसीप्रकार की विपरीत भावना का उद्भावन नहीं किया जासकता।

अहिर्बुध्न्य संहिता में कपिल—

पांचरात्र सम्प्रदाय की अहिर्बुध्न्य संहिता में भी अवतारों के प्रसंग में कपिल का उल्लेख पाया जाता है। 'भद्र' + पद से विवक्षित अवतारों में कपिल की गणना की गई है। संहिता का लेख है—

सिद्धिं ददाति यो दिव्यां प्रसंख्यानमयीं पराम्।
देवः सिद्धिप्रदाणेन कपिलः स निगद्यते ॥ [५६ । ३१, ३२]

इस से स्पष्ट है, कि वह किसी सांख्य रचयिता कपिल का ही उल्लेख कर रही है। इस संहिता में कपिल अथवा उसके शास्त्र के सम्बन्ध के और भी अनेक लेख हैं, जिनका हमने प्रसंगानुसार इस ग्रन्थ में आगे विस्तार के साथ विवेचन किया है। परन्तु प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि के लिए एक और वर्णन भी संहिता में इसप्रकार उपलब्ध होता है—

त्रेतायुग × के प्रारम्भ में जब जगत्, सत्त्व की न्यूनता और रजस् के आधिक्य से

+ प्रस्तुत प्रसंग में इन अवतारों की कल्पना से हमें कोई प्रयोजन नहीं है। यह किसी भी प्राचीन अर्थ को प्रकट करने का एक प्रकारमात्र हो सकता है। हमें इससे जो कुछ अभिमत है, वह ऊपर की पंक्तियों में स्पष्ट प्रतिपादित है।

× अथ कालविपर्यासाद् युगभेदसमुद्भवे ॥२०॥
त्रेतादौ सत्त्वसंकोचाद् रजसि प्रविजृम्भिते। कामं कामयमानेषु ब्राह्मणेषु महात्मसु ॥ २१ ॥

मोहाकुल हो गया, तब लोककर्त्ता महान व्यक्तियों ने परस्पर मिलकर विचार किया, अब जगत को उचित मार्ग पर लाने के लिए क्या करना चाहिये ? उन्होंने अनेक वर्षों तक घोर तप किया, अर्थात् इस क्रान्ति के लिए अनथक परिश्रम किया, और अनेक कष्टों को सहा। उन लोककर्त्ता व्यक्तियों में एक कपिल भी था। उसने लोकमर्यादा को स्थिर करने के लिये सांख्य-शास्त्र की रचना की।

ततश्च कपिलः शास्त्राधावदंशमुदारधीः ।
तत्सांख्यमभवच्छास्त्रं पूर्संख्यानपरायणम् ॥

विवेकशील कपिल ने सांख्यशास्त्र की रचना की, जिसमें पदार्थों का विवेचन किया गया है। इन लेखों से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है, कि जिससमय यह संहिता लिखी गई थी, उससमय के विद्वान् भी कपिल को एक ऐतिहासिक व्यक्ति मानते थे। उसने अपने काल के समाज की सेवा अथवा उद्धार के लिये, और लोक-मर्यादाओं को स्थापित करने के लिये महान प्रयत्न किया था। वह हमारी तरह एक विशेष व्यक्ति था। उसने अपने जीवन में जो कुछ समाज की सेवा की, जिसका वर्णन प्राचीन साहित्य में अनेकशः उपलब्ध होता है, वह सब केवल आकस्मिक शरीर धारण की कल्पना में संभव नहीं होसकती। इसलिए ऐसी निराधार कल्पना सर्वथा असंगत एवं त्याज्य है।

अतएव यह सिद्धांत निश्चित रूप से मानना पड़ता है, कि देवहूति-कर्दम का पुत्र कपिल, एक ऐतिहासिक व्यक्ति था, जिसने अत्यन्त प्राचीन काल में भारतभूमि पर अवतीर्ण होकर सर्वप्रथम दर्शन, सांख्य का प्रवचन किया। अपने लोकातिशायी गुणों के कारण कहीं विष्णु अथवा अग्नि का अवतार और कहीं ब्रह्मसुत कहकर उसका वर्णन किया गया। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में इन रूपों में वर्णित कपिल, वस्तुतः एक ही कपिल है।

अन्य कपिल—

भारतीय इतिहास परम्परा में कपिल नाम के और भी अनेक व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है।

(१) एक कपिल वह है, जिसके नाम पर कपिलवस्तु नामक नगर बसाया गया। इसका विशेष उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में पाया जाता है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जासकता,

---

मन्दप्रचारमासीत्तच्छास्त्रं वस्तुदर्शनम् । ततो मोहाकुले लोके लोकतन्त्रविधायिनः ॥२२॥
संभूय लोककर्तारः कर्त्तव्यं समचिन्तयन् । अपान्तरतपा नाम मुनिर्वाक्संभवो हरेः २३॥
कपिलश्च पुराणर्षिरादिदेवसमुद्भवः । हिरण्यगर्भो लोकादिरहं पशुपतिः शिवः ॥२४॥
ते तप्त्वा तपस्तीव्रं वर्षाणामयुतं शतम् । आदिदेवमनुध्याय देवदेवेन चोदिताः ॥२५॥
विज्ञानबलमासाद्य धर्माद्यं प्रसादजम् ॥२६॥
आविर्भूतं तु तच्छास्त्रमंशतस्ते तदाकिल । [अहिर्बुध्न्यसंहिता, अध्याय ११]

कि वह कपिल कौनसा था।

कनिंघम ने 'दि एन्शन्ट ज्याग्रफी ऑफ इण्डिया' नामक अपने ग्रन्थ में कपिल, कपिलवस्तु अथवा कपिलनगर नामक नगर के सम्बन्ध में लिखा है—

'सूर्यवंश की गौतम शाखा के राजपूतों ने इस नगर को बसाया था। राजपूतों ने अपने नगर का नाम 'कपिल' अथवा 'कपिलवस्तु' किस कारण से रक्खा, यह एक विचारणीय बात है। आजकल इस नगर के जो भग्नावशेष उपलब्ध हैं, वे गोरखपुर जिले में 'नगर' अथवा 'नगरखास' के नाम से कहे जाते हैं। यह कस्बा चण्डोताल के पूर्वी तट पर बसा हुआ है। इस ताल के पश्चिम की ओर से 'सिध' नाम का छोटा सा खाला [बरसाती पानी का स्रोत] आकर गिरता है। यह नाम [सिध=सिद्ध], जो कि एक पूर्ण और पवित्र व्यक्ति को कहता है, सदा ही प्राचीन ऋषि मुनियों के लिये प्रयुक्त होता है। और मेरे [कनिंघम के] विचार से प्रस्तुत प्रसंग में यह महर्षि कपिल के लिये निर्देश किया गया माना जासकता है। जिसकी कुटी तालाब के पश्चिम तट पर, विद्यमान नगर से दूसरी ओर होगी। गौतम वंशके राजपूत जब प्रथम ही यहां बसने के लिये आये, तो वे उन ऋषियों की कुटियों के समीप ही बस गये होंगे। परन्तु उनकी गौओं के रम्भाने के कारण ऋषियों की तपस्या में विघ्न होता था। इसलिये उन राजपूतों ने तालके दूसरी ओर अर्थात् पूर्वी तट पर अपनी बस्ती बनाई और उसका नाम कपिल ऋषि के नाम पर ही रक्खा। कालान्तर में, उन्हीं राजपूतों के वंश में बुद्ध का जन्म हुआ।'

कनिंघम के इस लेख से प्रतीत होता है, कि कभी अत्यन्त प्राचीन काल में उक्त ताल के पूर्वी तट पर कपिल का आश्रम रहा होगा। जिसका स्मरण 'सिध' [-सिद्ध] नामक स्रोतसे होआता है। जब कभी सूर्यवंश की गौतम शाखा के राजपूतों ने वहां आकर अपना निवास बनाया, तब वे उस स्थान के साथ कपिल के सम्बन्ध को जानते थे। और उस समय भी वहां कोई ऐसा आश्रम था, जिसमें यति लोग निवास करते थे। उनकी तपस्या में विघ्न के भय से ताल के दूसरे तट पर उन राजपूतों ने अपनी बस्ती बनाई। परन्तु उन्होंने उस नगर का नाम उक्त आश्रम के संस्थापक ऋषि के नाम पर ही रक्खा। हम नहीं कह सकते, कि कनिंघम की इस कल्पना अथवा अनुमान में सत्य का अंश कहां तक हो, यदि यह सत्य हो, तो इससे यह ध्वनित अवश्य होता है, कि यह वही कपिल होगा, जो सांख्य का प्रवर्त्तक माना जाता है।

परन्तु इस आश्रम और नगर के नामकरण में और भी अनुमान किये जा सकते हैं।

(क)—यह भी सम्भव हो सकता है, जिस आश्रम का ऊपर की पंक्तियों में उल्लेख किया गया है, वह ऐसे यति अथवा संन्यासियों या तपस्वियों का हो, जो महर्षि कपिल के अनुयायी थे। उनके सहवास से ही गौतमवंशीय राजपूतों के मस्तिष्क में कपिल के लिये महान आदरभाव उत्पन्न होगया हो, और पारस्परिक सहमति के कारण, राजपूतों ने अपने नगर का नाम उस आद्य आदरणीय ऋषि के नाम पर ही रख दिया हो। इस अनुमान में यह आवश्यक नहीं होता, कि उस आश्रम का संस्थापन कपिल ने ही किया होगा। अथवा वह स्वयं कभी वहां जाकर तपस्या करता

रहा होगा। यद्यपि ऐसा मान लेने में भी कोई विशेष बाधा नहीं है।

(ख)—दूसरा एक और अनुमान किया जासकता है। कनिंघम ने जिस 'सिध' नामक खाले [कोल] का उल्लेख किया है, और जिसको नगर के 'कपिल' नामकरण का मूल आधार कल्पना किया है, उसके सम्बन्ध में हमारे पास कोई भी ऐसे प्रमाण नहीं हैं, कि उस खाले का 'सिध' नाम किस समय और किस कारण से हुआ ? 'सिद्ध' पद का प्रयोग किसी भी अच्छे तपस्वी के लिये किया जासकता है। यह कोई आवश्यक नहीं है, कि 'सिद्ध' पद का कपिल से ही सम्बन्ध हो। इसके लिये भगवद्गीता का 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' भी प्रबल प्रमाण नहीं कहा जासकता। क्योंकि भगवद्गीता में विशेषकर कापिल सांख्यसिद्धान्तों का निरूपण है, संभवतः इस सम्बन्ध से व्यासने, कृष्णमुखद्वारा अन्य सिद्धों की अपेक्षा कपिल को मुख्य प्रकट किया है। इसका यह अभिप्राय नहीं निकाला जासकता, कि अन्य कोई भी उस कोटि का सिद्ध नहीं हुआ। ऐसी स्थिति मे केवल खाले के 'सिध' नाम से नगर के 'कपिल' नामकरण की कल्पना इतनी सकारणक नहीं कही जासकती। इस कारण उक्त नामकरण के लिये एक अनुमान यह और किया जासकता है, कि कदाचित् गौतम शाखा के वे राजपूत, कापिल सिद्धान्तों के अनुयायी हों। और जब अपने पुराने स्थान को छोड़कर नये स्थान में बस्ती बनाने के लिये यहां आये हों, तो उन्होंने अपने परम्परागत धर्माचार्य के नाम पर ही अपने नगर का नाम रक्खा हो। भारतीय जनता में इसप्रकार की भावना आज भी काम करती देखी जाती है। नई आबादियों के नाम, अपने पुराने मान्य ऋषि मुनियों अथवा धर्म प्रवर्त्तक आचार्यों के नाम पर रख दिये जाते हैं।

(ग)—तीसरा एक और अनुमान यह हो सकता है। कनिंघम ने उस स्थान में यतियों के एक आश्रम की कल्पना, केवल खाले के 'सिध' नाम के आधार पर की है। परन्तु यह हम अभी निर्देश कर चुके हैं, कि हमारे पास खाले के 'सिध' नामकरण के कारणों का कोई भी प्रामाणिक आधार नहीं है। ऐसी स्थिति में वहां पर किसी आश्रम के होने की कल्पना भी सकारणक नहीं कही जासकती। इसलिये सम्भव है, गौतम शाखा के उन राजपूतवंशों का, जो उस स्थान में बसने आये थे, कपिल नाम का कोई पूर्वज हो, जो अवश्य ही अनुपम वीर पुरुष रहा होगा। उसी के नाम पर अपनी नई बस्ती का नाम उन राजपूतों ने रक्खा हो। अपने पूर्वज वीर पुरुषों के नाम पर आज भी भारतीय ऐसा करते हैं। लाहौर की आधुनिक नई बस्तियों के कृष्ण-नगर, रामनगर, अर्जुननगर आदि नामकरण इसी आधार पर हैं। यह परम्परा भारत में ही नहीं, भारत से बाहर भी प्रायः सब देशों में देखी जाती है। उसी का नमूना भारत के १. मॉंटगुमरी, २. हार्बर्ट बाज़ार, ३. ईजिट नगर, ४. डलहौजी, और ५. क्लाईव स्ट्रीट आदि हैं।

१—पंजाब का एक ज़िला।

२—देहरादून (यू० पी०) ज़िले में, सहारनपुर—चकरौता, और देहरादून चकरौता, सड़कों के संगम पर यह बस्ती है।

३—बरेली (यू० पी०] के पास एक बस्ती।

४—पंजाब के गुरदासपुर ज़िले में, पर्वतीय प्रदेश का एक नगर।

५—कलकत्ता में एक बाज़ार।

इस अनुमान में यह विशेषता है, कि गौतम शाखा के राजपूत वंश का पूर्वज वीर पुरुष कपिल, सांख्य का प्रवर्त्तक कपिल नहीं कहा जासकता। इसके अतिरिक्त, नगर के इस नामकरण के सब ही अनुमानों में, यह कल्पना निराधार होजाती है, कि जब सूर्यवंश की गौतम शाखा के राजपूत वहां बसने आये, उस समय अथवा उसके कुछ समीप पूर्व ही कपिल ऋषि का वहां आश्रम था, और वह स्वयं वहां निवास करता था, जो कपिल सांख्य का प्रवर्त्तक है।

प्रह्लादपुत्र, असुर कपिल।

(२)—बौधायन धर्मसूत्र [२।६।३०] में एक और कपिल का उल्लेख आता है। जिस को प्रल्हाद का पुत्र और असुर जातीय बताया गया है। कहा जाता है, कि इसने चार आश्रमों का विभाग किया था। परन्तु बौधायन के लेख से प्रतीत होता है, कि यह विचार सूत्रकारका अपना नहीं है। इस प्रसंग का बौधायन का लेख यह है—

ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम् ।२६।

तत्रोदाहरन्ति —प्राल्हादिर्ह वै कपिलो नामासुर आस। स एतान् भेदांश्चकार देवैः सह स्पर्धमानः। तान् मनीषी नाद्रियेत ।३०।

यहां पर धर्मसूत्रकार बौधायन ने प्रकट किया है, कि कोई आचार्य, एक गृहस्थ आश्रम को ही मानते हैं। ब्रह्मचर्य आदि अन्य आश्रमों को नहीं मानते। क्योंकि उनमें सन्तानोत्पादन नहीं किया जासकता। उन अन्य आश्रमों के सम्बन्ध में निन्दनीय भावना का प्रदर्शन करने के विचार से ही वे आचार्य यह उदाहृत करते हैं, कि प्रल्हाद के पुत्र कपिल नामक किसी असुर ने देवों की स्पर्धा के कारण, आश्रमों के चार विभाग कर दिये। परन्तु विचारशील व्यक्ति को उन आचार्यों का आदर नहीं करना चाहिये।

वस्तुतः आश्रमोंके भेद का यह कारण बताना उन आचार्यों का ही विचार है, जो एक ही गृहस्थ आश्रम मानते हैं। और समझते हैं, कि यज्ञादि अनुष्ठान के द्वारा वही देवों के लिये उपयोगी है। तथा सन्तानोत्पत्तिके द्वारा उसी क्रम को निरन्तर बनाये रखना आवश्यक है। बौधायन का यह अपना विचार प्रतीत नहीं होता। बौधायन ने किन आचार्यों के आधार पर ऐसा लिखा है, और इसका मूल क्या है? अभी तक हम पता नहीं लगा सके। हमारा केवल इतना ही प्रकट करनेका उद्देश्य है, कि चार आश्रमों की निंदा की भावना, बौधायन का अपना मत नहीं है, प्रत्युत वह उन आचार्यों को अनादरणीय बताता है, जिन्होंने एक ही गृहस्थ आश्रम का विधान माना है। इसलिये बौधायन के इस लेख को देखकर किसी भी विद्वान् को यह भ्रम न होना चाहिये, कि यह चार आश्रमों का भेद, किसी असुर जातीय कपिल के मस्तिष्क की उपज है। ये विचार हमने प्रसंगवश लिख दिये हैं। मुख्यतः उक्त उद्धरण का प्रयोजन यही है, कि सांख्यकर्त्ता कपिल के अतिरिक्त, अन्य कपिल नाम के व्यक्तियों का भी उल्लेख ग्रन्थों में पाया जाता है। प्रल्हादपुत्र कपिल का, सांख्यकर्त्ता कपिल के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। सांख्याचार्य कपिल वेदों को अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण + मानता है।

+ देखें—सांख्यदर्शन, अध्याय ५, सूत्र, ४१, ४६, ५१॥

धर्मस्मृतिकार कपिल—

(३)—'कपिल स्मृति' नामक धर्मग्रन्थ का रचयिता एक और कपिल भी हुआ है। कहा जाता है उसने दस अध्यायों में यह स्मृतिग्रन्थ लिखा था। जिसके प्रत्येक अध्याय में एक सौ श्लोक थे। इसमें श्राद्ध, विवाह, प्रायश्चित्त, दत्तक पुत्र आदि धर्मों का प्रतिपादन किया गया है। कलिकाल में ब्राह्मणों के पतन का भी उल्लेख है। 'संस्कारमयूख' में एक 'कपिलसंहिता' का भी उल्लेख + पाया जाता है। यह संहिताकार कपिल, स्मृतिकार कपिल से अतिरिक्त है, या नहीं ? यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जासकता।

उपपुराणकार कपिल—

(४) शैव सम्प्रदाय की 'सूतसंहिता' में एक उपपुराणकर्त्ता कपिल का भी उल्लेख आता है। वहां लिखा है—

'अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि तु।'[१।१२]

अर्थात् मुनियों ने अन्य उपपुराणों का भी कथन किया है। इसके आगे संहिता में उन उपपुराणकर्त्ता मुनियों के नाम निर्देश किये गये हैं। उसी प्रसंग में लिखा है—

'कापिलं सप्तमं विदुः' [१।१४]।

अर्थात् सप्तम उपपुराण कपिल रचित समझना चाहिये। इसीप्रकार का उल्लेख कूर्मपुराण के प्रारम्भ [१।१६] में भी आया है। वहां अठारह पुराणों के नामों का उल्लेखकर, उपपुराणों की गणना में सप्तम 'कापिल' उपपुराण का उल्लेख किया गया है।

विश्वामित्र-पुत्र कपिल—

(५)—महाभारत में एक विश्वामित्र के पुत्र कपिल का भी उल्लेख × पाया जाता है। उस प्रकरण में विश्वामित्र की उत्पत्ति बताये जाने के अनन्तर उसके पुत्रों का उल्लेख है। उनमें एक कपिल का भी नाम आया है। इस प्रसंग की ऐतिहासिक तथ्यता विचारणीय है।

इसप्रकार अनेक कपिलों का उल्लेख हमारे प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है। संभव है, कपिल नाम के और भी कोई आचार्य हुए हों, जिनके सम्बन्ध में आज हमको कुछ भी ज्ञात नहीं है। परन्तु इस प्रकरण के उल्लेखों के आधार पर यह निश्चित है, कि देवहूति-कर्दम के पुत्र, प्रथम कपिल के अतिरिक्त शेष सब ही कपिल नामक व्यक्तियों अथवा आचार्यों का सांख्यशास्त्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

कपिल का काल—

सांख्यशास्त्र प्रवर्त्तक कपिल का काल अत्यन्त प्राचीन कहा जासकता है। उसका

+ श्रीयुत पाण्डुरंग वामन काले M. A., LL. M. रचित 'हिस्ट्री आफ धर्म शास्त्र' Vol. 1, P. 524 की सूची के आधार पर।

× अनुशासन पर्व, ७।५६॥ कुम्भघोण संस्करण।

साक्षात् निर्देश किया जाना कठिन है। रामायण + और महाभारत × के उल्लेखों से पता लगता है, कि इनमें वर्णित युद्धों के काल से बहुत पूर्व कपिल का प्रादुर्भाव हो चुका था। और अधिक स्पष्ट करने के लिये कपिल का काल, उपनिषत् काल से पूर्व कहा जासकता है।÷

इस बात का हम प्रथम ही निर्देश कर आये हैं, कि अन्यतम उपनिषद् श्वेताश्वतर में सांख्यप्रवर्त्तक कपिल का साक्षात् नाम❀ उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त सांख्यसिद्धान्तों का प्रतिपादन, इस उपनिषद् में तथा अन्य अनेक उपनिषदों में पाया जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक के प्रारम्भिक भाग में ही तेजस् अप् और अन्न का निरूपण किया गया है। ये तीनों यथाक्रम रजस् सत्त्व और तमस् के प्रतीक हैं। उपनिषद् का यह प्रकरण स्पष्ट रूप से निर्देश करता है, कि रजस् सत्त्व और तमस् का संघात तेज आदि के रूप में परिणत होजाता है। छान्दोग्य [६।३।३, ४] में उल्लेख है, कि सर्गादि काल में सत्त्व आदि प्रत्येक को 'त्रिवृत्' कर दिया जाता है। 'त्रिवृत्' पद का अर्थ-सत्त्व रजस् तमस् की अन्योन्य-मिथुनवृत्तिता-ही हो सकता है। अगले चतुर्थ खण्ड में इसी विचार को अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है।

उपनिषद् में कहा है—अग्नि का रोहित रूप, तेज अर्थात् रजस् का ही रूप है। परन्तु रजस् इस स्थिति में अपने विशुद्ध रूप को छोड़ देता है। और जिसको हम तेज कहते हैं, वहां रजस् सत्त्व और तमस् ये तीनों रूप विद्यमान हैं, यही बात सत्य है। इसीप्रकार आदित्य का जो रोहित रूप है, यद्यपि वह तेज अर्थात् रजस् का है, परन्तु इस स्थिति में वह अपने विशुद्ध रूप को छोड़ देता है,

+ रामायण बालकाण्ड [निर्णयसागर प्रैस बम्बई के सटीक संस्करण के अनुसार] के ७० अध्याय में राम के पूर्व वंश का उल्लेख किया गया है। रामायण के अनुसार वसिष्ठ ने जनक के सन्मुख यह वंश का वर्णन किया है। इसमें ब्रह्मा से लेकर राम पर्यन्त चालीस पीढ़ियों का उल्लेख है। अर्थात् ब्रह्मा प्रथम पुरुष है, उसकी चालीसवीं पीढ़ी में राम हुआ है। इस वंशपरम्परा में राजा सगरका नम्बर बीसवां है। इसके पिता असित को शत्रुओं का बहुत प्रतिरोध सहन करना पड़ा। और राज्य भी नष्टप्राय होगया। असित अपनी पत्नी को गर्भवती छोड़कर स्वर्गवासी हुआ। अनन्तर सगर उत्पन्न हुआ, उसने समय पाकर नष्ट राज्य का पुनः उद्धार किया, और अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कर अपने वंश की पूर्व प्रतिष्ठा को और अधिक प्रशस्त किया। महर्षि कपिल इसी राजा का समकालिक था। भारतीय परम्परा के अनुसार दाशरथि राम का प्रादुर्भाव त्रेतायुग के अन्तिम भाग में माना जाता है। यदि इसमें ऐतिहासिक तथ्य है, तो हम कह सकते हैं, कि राजा सगर का समय त्रेता का प्रारम्भिक भाग होना चाहिये। रामायण प्रदर्शित वंश परम्परा के अनुसार यही समय संभव हो सकता है।

× महाभारत [कुम्भघोण संस्करण] शान्तिपर्व के ६२६ अध्याय में कपिल आसुरि के संवाद का उल्लेख है। वहां इसको पुरातन इतिहास कहा गया है। इससे उस उल्लेख के समय में भी इसकी अत्यन्त प्राचीनता प्रतीत होती है।

÷ यद्यपि हमने यह बात आधुनिक रीति पर लिख दी है। परन्तु हम इस आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कल्पित तथा कथित क्रमिक काल परम्परा-के अनुयायी नहीं हैं।

❀ श्वेताश्वतर ५। २॥

और हम जिस आदित्य को देखते हैं, उसमें तीनों ही रूप हैं, अर्थात् रजस् सत्त्व तमस् ये तीनों वहां विद्यमान हैं, यही सत्य है। यही अर्थ आगे चन्द्रमा और विद्युत् के उदाहरणों को देकर प्रकट किया गया है। ये दृष्टान्त, इस सब ही दृश्य अदृश्य व्यक्त ब्रह्माण्ड के उपलक्षण हैं। इसीलिये इस प्रकरण के उपसंहार में उपनिषद् कहती है—

यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास इति" "इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति।, [छा० ६।४।७]

जिसको भी हम जान पाते हैं, वह सब, इन तीन का ही समास अर्थात् संघात है। पुरुष के संसर्ग से इनका यह 'त्रिवृत्' अर्थात् अन्योन्यमिथुन होजाता है। उसीका परिणाम यह सब संसार है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् [१।४] में भी 'त्रिवृत' पद का प्रयोग, सत्त्व रजस् तमस् के लिये किया गया है। इस कण्डिका में प्रयुक्त अन्य संख्या भी सांख्य के पदार्थों के साथ संतुलित होती हैं। सोलह विकार, पचास प्रत्ययसर्ग, आठ प्रकृति, मन सहित छः ज्ञानेन्द्रिय आदि। इसी अर्थ में 'प्रधान' और 'प्रकृति' पदों का भी श्वेताश्वतर उपनिषद् [१।१०॥४।१०] उल्लेख करती है। चतुर्थ अध्याय की ५ और ६ कण्डिका भी द्रष्टव्य हैं। इसमें प्रकृति के स्वरूप, और प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध का वर्णन किया गया है।

कठ उपनिषद् [१।३।१०।११] में इन्द्रिय, तन्मात्र, मन, अहंकार, महत्, अव्यक्त और पुरुष, इन सांख्य प्रतिपाद्य पदार्थों का उल्लेख आता है।

प्रश्न उपनिषद् [४।८] में पृथिव्यादि स्थूल भूत और तन्मात्र=सूक्ष्म भूतों का स्पष्ट उल्लेख है।

शांखायन आरण्यक [५।५] में भी एक वाक्य इसप्रकार आता है—

'मन एवास्या एकमंगमुदूढं तस्य धीः कामाः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्राः।'

मन इसका [प्रज्ञा का] ही एक अंगभूत प्रकट होता है, काम संकल्प आदि उसी के धर्म हैं। आरण्यक के इस प्रकरण में प्रथम दश इन्द्रिय और उनके दश विषयों का उल्लेख किया गया है। अन्त में यह मन का वर्णन है।

इन सब निर्देशों के द्वारा यह स्पष्ट प्रकट होजाता है, कि उपनिषदों से पूर्व, सांख्य सिद्धांतों की इसी रूप में विद्यमानता थी। यद्यपि सांख्य सिद्धांतों का मूल, वेदों में भी विद्यमान है, परन्तु उसके आधार पर कपिल ने ही सर्व प्रथम इन सिद्धान्तों को दार्शनिक रूप दिया, जो उपनिषद् आदि में प्रतिफलित हैं। इन विचारों का विस्तारपूर्वक विवेचन हमने इस ग्रन्थ के 'सांख्य-सिद्धान्त' नामक द्वितीय भाग के द्वितीय प्रकरण में किया है। यहां केवल प्रसंगवश दिग् दर्शन मात्र करा दिया है, जिससे कपिल के काल के सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रकाश पड़ सके।

कपिल-काल के सम्बन्ध का एक अन्य लेख, पाञ्चरात्र सम्प्रदाय की अहिर्बुध्न्य संहिता में और भी स्पष्ट है। वहां + लिखा है कि त्रेता युग के प्रारम्भ में जब जगत् मोहाकुल हो गया,

+ अहिर्बुध्न्य संहिता, अध्याय ११, श्लोक ४०—४४॥

तब कुछ लोककर्त्ता व्यक्तियों ने जगत् को पूर्ववत् सुव्यवस्था में लाने का महान प्रयत्न किया। उन लोककर्त्ता व्यक्तियों में एक, सांख्यशास्त्र—प्रणेता कपिल भी था। इससे यह परिणाम निकलता है, कि उक्त संहिताकार के विचार से कपिल के प्रादुर्भाव का समय, सत्ययुग का अन्त अथवा त्रेतायुग का प्रारम्भिक काल होना चाहिये। पीछे निर्दिष्ट रामायण के लेखों से भी यही विचार पुष्ट होता है।

यद्यपि अभी तक युगों की कालगणना के सम्बन्ध में हम अपने निश्चित विचार प्रकट नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में कपिल का काल, सत्ययुग के अन्त अथवा त्रेतायुग के प्रारम्भ में माने जाने पर भी, हम यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते, कि अब से कितने वर्ष पूर्व यह काल रहा होगा। अगले पृष्ठों में हम कपिल के उत्पत्ति स्थान का निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे। वहां सरस्वती नदी के तट पर कर्दम के आश्रम का उल्लेख है, जहां कपिल का जन्म हुआ। इससे यह प्रतीत होता है, कि कर्दम ऋषि भारत में उस समय ही रहा होगा, जब सरस्वती नदी अपनी पूर्ण धारा में प्रवाहित होती थी। क्योंकि किसी भी ऋषि के आश्रम का, नदी के सूखे हुए स्रोत के समीप बसना, या उसका ऐसा वर्णन किया जाना, असंगत तथा उपहासास्पदमात्र होगा। सरस्वती नदी के सूख जाने का समय, ऐतिहासिकों ने जो समीप से समीप कल्पना किया है, वह अब से लगभग पच्चीस सहस्र वर्ष पूर्व है। अर्थात् २५ सहस्र वर्ष से अधिक ही हो चुके हैं, जब कि सरस्वती नदी की उमड़ती हुई सलिल धारा, भौगोलिक परिवर्त्तनों के कारण, काल के गाल में विलीन हो गई। उस समय से पहले ही कभी कर्दम ऋषि का आश्रम, उसके तट पर रहा होगा, न मालूम कितने पहले। इससे भी कपिल के समय का निर्णय करने में पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।

विष्णुपुराण में भी सत्ययुग में ही कपिल का जन्म ग्रहण करना लिखा है—

'कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वरूपधृक्। ददाति सर्वभूतानां सर्वभूतहिते रतः ॥' [३।२।५४]

अर्थात् सत्ययुग में जन्म ग्रहण कर कपिल ने, जनता के कल्याण के लिये उत्कृष्ट ज्ञान का उपदेश दिया।

कालीपद भट्टाचार्य का मत और उसका विवेचन—

श्रीयुत कालीपद भट्टाचार्य महोदय ने अपने एक +लेख में कपिल का समय निश्चित करने के लिये, ईश्वरकृष्ण की ७१ वीं कारिका में प्रदर्शित शिष्य परम्परा के २५ आचार्य, कपिल और ईश्वरकृष्ण के बीच में गणना करके, और प्रत्येक के लिये तीस वर्ष का समय देकर बताया है, कि खीस्ट पूर्व सप्तम शतक के पहिले ही कपिल का समय होना चाहिये। परन्तु श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने इस दिशा में कोई प्रकाश नहीं डाला, कि खीस्ट सप्तम या अष्टम शतक से कितने पहले कपिल का होना सम्भव होसकता है।

प्रायः इसप्रकार के काल निर्णयों में यही समझा जाता है, कि अनुमानित काल के आस पास ही उक्त आचार्य का समय होना चाहिये। ऐसी स्थिति में यही माना जासकता है, कि

+ I. H. Q. Sept, 1932, P. 510-11.

श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय, कपिल का समय, ख्रीस्ट पूर्व अष्टम शतक के लगभग मानते हैं। इस सम्बन्ध में हम इतना ही कहना चाहते हैं, कि श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने जिस आधार पर गणना की है, वह अपूर्ण और काल्पनिक है।

आपने सांख्यकारिका और उनकी व्याख्या माठरवृत्ति तथा जयमंगला से +दस आचार्यों के नामों का निर्देश किया है। +चार का निर्देश गौडपाद भाष्य से, और एक 'अत्रि' का नाम गुणरत्न सूरि के 'आत्रेय तन्त्र' ×पदप्रयोग के आधार पर कल्पना किया है। ग्यारह नाम ऋषितर्पण मन्त्र ÷से ले लिये गये हैं। इसप्रकार कपिल से लेकर ईश्वरकृष्ण तक २६ आचार्य गिने हैं। और इस परम्परा को श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने अविच्छिन्न बताया है। संभवतः आप इस में अन्य किसी आचार्य के सम्मिलित होने का अवकाश नहीं समझते।

हमने गणना के इस आधार को अपूर्ण इसलिये कहा है, कि सांख्यकारिका की अन्यतम व्याख्या युक्तिदीपिका ❀ में और भी अनेक सांख्याचार्यों का इसी परम्परा में उल्लेख है। वहां उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त ग्यारह नामों का और निर्देश है, तथा उसके आगे भी 'आदि' पद लगा दिया गया है। इनके अतिरिक्त महाभारत (१२।३२३।५६-६२ कुम्भघोण संस्करण) और बुद्धचरित (१२।६७) के आधार पर, सात और सांख्याचार्यों का पता लगता है। इसप्रकार भट्टाचार्य द्वारा प्रस्तुत सूची में यदि इन १८ आचार्यों को और जोड़ दिया जाए, तो उनकी विचार पद्धति से ही कपिल के समय में पांच छः शताब्दियों का अन्तर आजायगा। इतने पर भी हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है, जिससे हम यह जान सकें, कि उक्त सूची में प्रदर्शित सांख्याचार्यों के अतिरिक्त अन्य कोई सांख्याचार्य हुआ ही न हो। इसलिये यही कहा जासकता है, कि ये जो थोड़े बहुत नाम सांख्याचार्यों के जहां तहां उल्लिखित हैं, इनमें ही आचार्यों की सूची समाप्त नहीं हो जाती। ये तो केवल परम्पराप्राप्त कुछ प्रसिद्ध आचार्यों के नाम हैं। इनके अतिरिक्त न मालूम और कितने आचार्य हुए होंगे, जिनके सम्बन्ध में आज हम कुछ नहीं जानते। इसलिये कपिल के कालनिर्णय का भट्टाचार्यप्रदर्शित प्रकार युक्तियुक्त नहीं कहा जासकता। और यह भारतीय परम्परा तथा साहित्य के भी विरुद्ध है।

शिष्यपरम्परा के प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय है। श्री पं० भगवद्दत्त जी बी० ए० ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' नामक ग्रन्थ =में लिखा है, कि माठरवृत्ति में जिन

+ कारिका ६६-७० के आधार पर, कपिल-आसुरि-पञ्चशिख। माठरवृत्ति [७१ कारिका]–भार्गव-उलूक-वाल्मीकि-हारीत-देवल। जयमंगला–गर्ग, गौतम। गौडपाद भाष्य [का० १]–सनक-सनन्दन-सनातन-वोढु।

× हरिभद्रसूरि विरचित 'षड्दर्शनसमुच्चय' की गुणरत्न सूरिकृत व्याख्या, रायल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता संस्करण, पृ० १०६, पंक्ति १५।

÷ 'सनकस्तृप्यतु सनन्दनस्तृप्यतु' इत्यादि। 'अथर्ववेद परिशिष्ट' ४३।३।१-२५॥ में इसका उल्लेख है।

❀ ख्रीस्ट १९३८ में कलकत्ता से प्रकाशित।

= देखें–'भारतवर्ष का इतिहास' श्री पं० भगवद्दत्त कृत, पृष्ठ २१३।

पांच + सांख्याचार्यों का उल्लेख है, वे पञ्चशिख के साक्षात् शिष्य हैं। अभिप्राय यह है, कि उन्होंने पञ्चशिख से ही सांख्यज्ञान प्राप्त किया, अतएव उनका अस्तित्व पञ्चशिख काल में समझा जाना चाहिये।

परन्तु पण्डित जी ने इस स्थापना की पुष्टि के लिये उस प्रसग में कोई भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया है। तथा माठर की उन पंक्तियों से भी इस भावना की पुष्टि नहीं होती। पञ्चशिख से भार्गव आदि को सांख्य-ज्ञान की प्राप्ति का कथन, उनकी परम्परा का ही द्योतक है। अन्यथा मूल कारिका के 'शिष्यपरम्परयागतम्' इन पदों का अर्थ के साथ सामञ्जस्य कैसे होगा? यदि पण्डित जी के विचार को ठीक माना जाय, तो माठर की अगली पंक्ति [तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्] के आधार पर यह मानना होगा, कि उन पांचों आचार्यों से ईश्वरकृष्ण ने सांख्य-ज्ञान प्राप्त किया। अर्थात् ईश्वरकृष्ण उन पांचों आचार्यों का साक्षात् शिष्य माना जायगा। यह कथन असंगत होगा, क्योंकि ईश्वरकृष्ण उन आचार्यों का समकालिक किसी अवस्था में नहीं कहा जासकता। ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा व आचार्य अतिप्राचीन × हैं।

कपिल की जन्मभूमि—

कपिलने भारतवर्ष में किस स्थान को अपने जन्म से उज्ज्वल किया था, इसका निर्णय करने के लिए अभी तक हमारे सन्मुख, कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं हो पाये हैं। श्रीमद्भागवत तथा पुराणों के वर्णन से यह प्रतीत होता है, कि कर्दम प्रजापति का आश्रम सरस्वती ÷ नदी के तट पर बिन्दुसरस् से कुछ अन्तर पर विद्यमान था। ब्रह्मावर्त्त देश का सम्राट् *मनु, एक बार कर्दम ऋषि के आश्रम में आया। यदि ब्रह्मावर्त्त की वही सीमा मान ली जाय, जो मनुस्मृति ※में वर्णित है, तो यहां कहना होगा, कि सरस्वती और दृषद्वती नाम की दो नदियों के मध्य का प्रदेश ब्रह्मावर्त्त था। मनुस्मृति में इन नदियों को देवनदी लिखा है। इनके सम्बन्ध में अभी तक जो कुछ अनुसंधान = हुए हैं, उनसे यही मालूम होता है, कि वर्त्तमान अम्बाला जिले की जगाधरी तहसील की लगभग पश्चिम और पूर्व दक्षिण की सीमाओं को ये नदियां बनाती हैं। और आगे इनका बहाव कुछ पश्चिम की ओर हो जाता है। इस प्रदेश के उत्तर पूर्व में

+ सांख्यसप्तति की ७१वीं आर्या की व्याख्या में माठर ने भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत और देवल इन पांच सांख्याचार्यों का कपिल की शिष्यपरम्परा में उल्लेख किया है।

× देखिये, इसी ग्रन्थ का 'अन्य प्राचीन सांख्याचार्य' नामक अन्तिम प्रकरण।

÷ भागवत, ३।२४।६॥ ३।२१।३३॥ वायु पुराण, [पूना संस्करण] ३८।६-७॥ में कर्दम ऋषि का आश्रम ऐसे स्थान पर बताया है, जहां सदा बहने वाली नदियां और स्वच्छ जल के सरोवर थे।

* भागवत, ३।२१।२५॥

※ मनुस्मृति, २।१७॥

= The geographicol Dictionary of Ancient and Medieval India, By नन्दूलाल दे. Anceint geography of India, By कनिंघम।

वर्त्तमान नाहन [सिरमौर] राज्य का कुछ भाग, और दक्षिण पश्चिम में करनाल, हिसार जिले और जीन्द राज्य के अधिक भाग, प्राचीन ब्रह्मावर्त्त प्रदेश में परिगणित होते हैं + ।

इन दोनों नदियों में से सरस्वती नदी के चिन्ह आज भी विद्यमान हैं। इसके स्रोतों को अनेक स्थलों पर हमने स्वयं देखा है। इसके स्रोतों के कुछ चिन्ह आजकल सिरमौर राज्य के अन्तर्गत उपलब्ध होते हैं, जो जगाधरी तहसील के ऊपर की शिवालक पहाड़ियों में और उसके पर्याप्त ऊपर तक चले गये हैं। यहां एक स्थान 'सरस्वती कुण्ड' नाम से प्रसिद्ध है। इसके समीप एक मन्दिर भी है, जो 'आदि बद्री' नाम से प्रसिद्ध है। यह वर्त्तमान मन्दिर लगभग दो सौ वर्ष के अन्दर का ही बना हुआ है। सिरमौर राज्य में प्रविष्ट होने के लिये अन्यतम द्वार—हरिपुर दर्रा (खोल) से पश्चिम की ओर के दर्रे में यह मन्दिर है। यह दर्रा, मन्दिर के नाम से ही प्रसिद्ध है। वहां के और उसके ऊपर के पर्वतों की स्थिति को देखने से यह प्रतीत होता है, कि चिर अतीत काल में सरस्वती का स्रोत अवश्य ही कहीं ऊपर के पर्वतीय प्रदेश से बहकर इधर की ओर आता होगा। नहीं कहा जासकता, कालचक्र ने इसमें कितने अज्ञेय परिवर्तन ला दिये हैं।

बिन्दुसर [ब्रह्मसर] और सात नदियां —

इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिये आवश्यक है, कि 'बिन्दुसरस्' अथवा 'बिन्दुसर' के सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डाला जाय। भागवत (३।२१।३३) में उल्लेख आता है, कि सरस्वती नदी के आस पास अथवा कुछ अन्तर पर 'बिन्दुसर' था। × रामायण और महाभारत ÷ में भी इसका उल्लेख है। रामायण में लिखा है, कि महादेव ने 'बिन्दुसर' की ओर गंगा को छोड़ दिया। तदनन्तर सात नदियां वहां से निकलीं। तीन पूर्व की ओर, तीन

+ ब्रह्मावर्त्त की ये सीमा, चार्ल्ज जापेन एस. जे. [Charles Joppen S. J.] द्वारा सम्पादित, और लांगमैन्ज़ कम्पनी द्वारा प्रकाशित 'हिस्टॉरिकल एटलस् ऑफ इण्डिया' १६१४ ईसवी सन् के तृतीय संस्करण के आधार पर दी गई है। अपना मन्तव्य हमने इसी प्रकरण में आगे स्पष्ट किया है।

× विससर्ज ततो गंगां हरो बिन्दुसरः प्रति। तस्यां विसृज्यमानायां सप्त स्रोतांसि जज्ञिरे॥
ह्लादिनी पावनी चैव नलिनी च तथैव च। तिस्रः प्राचीं दिशं जग्मुर्गङ्गाः शिवजलाः शुभाः॥
सुचक्षुश्चैव सीता च सिन्धुश्चैव महानदी। तिस्रश्चैता दिशं जग्मुः प्रतीचीं तु दिशं शुभाः॥
सप्तमी चान्वगात्तासां भगीरथरथं तदा। [रामा० बाल० ४३। ११-१४]

÷ सभापर्व, ३। ११॥ भीष्म पर्व, ६। ४३-४५, ४८-४९॥ पद्मपुराण, आ० ख०, ३।५६-६६॥
अस्त्युत्तरेण कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति। हिरण्यशृंगः सुमहान् दिव्यो मणिमयो गिरिः॥
तस्य पार्श्वे महद्दिव्यं शुभ्रं काञ्चनवालुकम्। रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः॥
दृष्ट्वा भागीरथीं गंगामुवास बहुलाः समाः। ब्रह्मलोकादपक्रान्ता सप्तधा प्रतिपद्यते॥
वस्वौकसारा नलिनी पावनी च सरस्वती। जम्बूनदी च सीता च गंगा सिन्धुश्च सप्तमी॥
पद्मपुराण में 'बिन्दुसर' के स्थानपर 'विष्णुसर' तथा 'वस्वौकसारा' की जगह 'वसोदका सा' पाठ है।

पश्चिम की ओर, तथा सातवीं भागीरथी गंगा, भगीरथ के रथ के पीछे २ चल पड़ी।

यहां गंगा के बहाव की दिशा का निर्देश नहीं किया है। पूर्व और पश्चिम की ओर बहने का यदि यही अर्थ समझा जाय, कि वे पूर्व और पश्चिम के समुद्र में जाकर गिर जाती हैं, तो गंगा का वर्त्तमान रूप, गंगा को भी पूर्व की ओर बहने वाली नदी प्रकट करता है। रामायण में पूर्व की ओर बहने वाली नदियों के साथ गंगा को जोड़ देने से चार नदियां पूर्व की ओर बहने वाली हो जाती हैं, जो बिन्दुसर से निकलती हैं। उनके नाम हैं—ह्लादिनी, पावनी, नलिनी, और गंगा। पश्चिम की ओर बहने वाली नदियों के नाम हैं-सुचक्षु, सीता, सिन्धु। इनमें से हम गंगा और सिन्धु को आज भी इन्हीं नामों से पहचानते हैं।

महाभारत+में बिन्दुसर का दो स्थलों पर उल्लेख स्पष्ट है। वहां भी उससे निकलने वाली सात नदियों का वर्णन है। परन्तु पूर्व अथवा पश्चिम की ओर बहने का उल्लेख नहीं है। पांच नदियों के नाम दोनों ग्रन्थों में समान हैं। वे हैं—पावनी, नलिनी, सीता, सिन्धु, गंगा। शेष दो नदियों के नाम भिन्न हैं। रामायण में पूर्व की ओर बहने वाली नदियों में एक नाम 'ह्लादिनी' है और पश्चिम की ओर बहने वाली नदियों में एक नाम है 'सुचक्षु'। महाभारत में ये नाम नहीं हैं। इनके स्थान पर हैं—'जम्बूनदी' और 'सरस्वती' नाम। यदि इस विचार को रामायण के दिशा निर्देश के आधार पर ठीक समझ लिया जाय, कि रामायण की 'ह्लादिनी' को ही महाभारत में 'जम्बूनदी' और 'सुचक्षु' को 'सरस्वती' कहा गया है, तो आज भी हम इन नदियों में से चार को उन्हीं नामों से पहिचान सकते हैं। इन में 'सरस्वती' [रामायण की सुचक्षु] पश्चिम के समुद्र में मिलने वाली नदी है, और 'जम्बूनदी' [-जमुना, रामायण की ह्लादिनी+] पूर्व के समुद्र में।

+ देखें—पिछले पृष्ठ की तीसरी टिप्पणी।

+ इस सम्बन्ध में निम्न श्लोक भी विचारणीय हैं—

ह्रदिनी पुण्यतीर्था च राजर्षेस्तत्र वै सरित्। विश्वामित्रेण तपसा निर्मिता सर्वपावनी॥

[म. भा., वन० ८७।६]

सरस्वती महापुण्या, ह्रदिनी तीर्थमालिनी। समुद्रगा महावेगा यमुना तत्र पाण्डव॥

[म. भा., वन० ८८।३]

'ह्लादिनी' और 'ह्रदिनी' पद एक ही नदी के लिये प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं। दूसरे श्लोक में 'ह्रदिनी' पद 'यमुना' के विशेषण रूप में प्रयुक्त किया गया प्रतीत होता है। यद्यपि महाभारत के इन अध्यायों के तीर्थ सम्बन्धी वर्णन इतने व्यवस्थित और ऐतिहासिक न हों, जिनको बिना किसी सन्देह के, उसी रूप में स्वीकार कर लिया जाय। पर इन से हमारे विचार की पुष्टि में कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। एक ही नदी का भिन्न २ दिशाओं में उल्लेख किये जाने का आधार यह कहा जासकता है, कि एक नदी अपने उद्गम स्थान से बहकर दूर दूसरी दिशा में भी चली जाती है। जैसे हम इस समय लाहौर में बैठे हुए सतलुज नदी को पूर्व दक्षिण और पश्चिम तीनों दिशाओं में निर्देश कर सकते हैं। इसीतरह सिन्धु को भी उत्तर और पश्चिम में। महाभारत के इस प्रकरण के नदी सम्बन्धी वर्णन कुछ इसीप्रकार के हैं। उनके लिये और भी अधिक अनुसन्धान और विवेचन की अपेक्षा है। फिर भी उन्हें सर्वथा निराधार नहीं कहा जासकता।

इन वर्णनों के आधार पर एक बात हमारे सन्मुख स्पष्ट होजाती है, कि इन नदियों में से सिन्धु और सरस्वती ऐसी नदी हैं, जो पश्चिम के समुद्र में मिलती हैं, और गंगा तथा जमुना पूर्व के समुद्र में। शेष तीन नदियों में से एक 'सीता' नामक नदी पश्चिम के समुद्र में तथा पावनी और नलिनी पूर्व के समुद्र में मिलने वाली नदी हैं। आजकल ये कौनसी नदी हैं, यह निश्चय करना कठिन है। परन्तु एक सामंजस्य पूर्ण कल्पना यह की जासकती है, कि जिन उपर्युक्त चार नदियों को आज भी हम पहिचानते हैं, उनके उद्गम स्थानों पर दृष्टि डाली जाय, तो उनके आस पास से ही निकलने वाली बड़ी २ तीन और नदियों का हमें स्पष्ट आभास होजाता है। उनमें से एक नदी पश्चिम के समुद्र में गिरती हैं, और दो पूर्व के समुद्र में। पश्चिम के समुद्र में गिरने वाली नदी का नाम आजकल सतलुज है, जिसका पुराना नाम साहित्य में 'शुतुद्री' 'शुतुद्रि' अथवा 'शतद्रु' आता है। यदि रामायण के वर्णन के अनुसार पश्चिम को बहने वाली 'सीता' +नदी

+ कैलास—मानसरोवर में १३-१४ वर्ष व्यतीत कर, साक्षात् अनुसन्धान करने वाले अनुपम साहसी श्री स्वामी प्रणवानन्द जी ने अपनी पुस्तक 'कैलास-मानसरोवर' के ६६ पृष्ठ पर, मानसखण्ड से निकलने वाली चार नदियों का एक चार्ट दिया है। वहां पर एक नाम 'सिता' सिन्धु का लिखा गया है। यदि यह 'सिता' रामायण और महाभारत की 'सीता' नदी ही हो, तब 'सिता' को सिन्धु नहीं पहचाना जाना चाहिये। क्योंकि रामायण और महाभारत में 'सीता' के अतिरिक्त 'सिन्धु' का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख है। श्री स्वामीजी ने ये नाम, तिब्बती कैलासपुराण से दिये हैं। परन्तु रामायण और महाभारत आदि भारतीय साहित्य से उनका सामञ्जस्य नहीं किया गया।

मानसरोवर से एक नाला निकलकर राक्षसताल में मिलता है, जिसका नाम 'गंगाछू' है। राक्षस ताल से पश्चिम की ओर सतलुज का उद्गम है। इस कारण वहां के पर्वतीय लोगों का यह विचार है, कि यह 'गंगा-छू' नामक नाला ही राक्षसताल से पश्चिम की ओर सतलुज के रूप में निकल जाता है। इसलिये वे लोग सतलुज को भी गंगा कहते हैं। जब वे ही लोग हरद्वार में आकर वहां की नदी का नाम गंगा सुनते हैं, तो यही समझते हैं, कि हमारी मानस की गंगा [सतलुज] ही घूमती बहती यहां आ-गई है। स्वामी जी ने [पृष्ठ ६८] लिखा है, कि इसी भ्रमपूर्ण धारणा पर संभवतः तिब्बती पुराण में गंगा [सतलुज] का वर्णन अशुद्ध हो गया है। संभवतः इसीप्रकार 'सिन्धु' का भारतीय नाम 'सिता' भी किसी भ्रम के कारण ही वहां अशुद्ध लिखा गया है। वहां के अन्य नामों में भी संशोधन की अपेक्षा है।

वायुपुराण [पूना संस्करण], ४७ वें अध्याय में 'बिन्दुसर' और इन नदियों का वर्णन आया है। वहां 'सीता' के सम्बन्ध में लिखा है—

'कृत्वा द्विधा सिन्धुमरू सीताऽगात् पश्चिमोदधिम्' [४७। ४३]।

सिन्धुदेश और मरुदेश को विभक्त करती हुई 'सीता' नदी पश्चिम समुद्र में जा मिलती है। इस आधार पर भी 'सीता' नदी 'शतद्रु' ही होनी चाहिये।

मार्कण्डेय पुराण [५५,३] में 'शीतोदा' नदी का उल्लेख आता है, जिसका उद्गम मेरु पर्वत बताया

'शुतुद्रि' ही हो, तो हमें पश्चिम के समुद्र में जाने वाली उन तीनों नदियों का पता लग जाता है, जो 'बिन्दुसर' से निकलती हैं। पूर्व के समुद्र मे जाने वाली शेष दो नदियों के वर्त्तमान नाम हैं— ब्रह्मपुत्रा और सरयू। इनका उद्गम स्थान भी हिमालय में उसी प्रदेश के आसपास है, जहां उपर्युक्त पांच नदियोंका। रामायण और महाभारत में वर्णित शेष दो नामों के साथ यदि हम आज कल के इन नामों का सामंजस्य बैठाना चाहें, तो 'पावनी' सरयू का और 'नलिनी' ब्रह्मपुत्रा का नाम कहा जासकता है।

गया है। मत्स्यपुराण [१२०, ६६१८] में लिखा है, कि 'शैलोदा नामक नदी' कैलास के पश्चिम अरुण पर्वत से निकलकर पश्चिम समुद्र में गिरती है। महाभारत [उपायन पर्व ४८] में वर्णन है, कि 'शैलोदा' नदी मेरु और मन्दर नामक पर्वतों के बीच में बहती थी। चीनी एवं तिब्बती में इसको 'शीतो' अथवा 'सीतो' भी कहा जाता था।

यद्यपि मेरु और मन्दर नामक पर्वतों की पहचान अभी तक ठीक २ नहीं होपाई है, तथापि पुराणों के उक्त वर्णनोंका सामञ्जस्य इस रूपमें स्पष्ट किया जासकता है—

'शतद्रु' नाम ही कालान्तर में 'शीतोदा' होगया। उसीको प्रादेशिक भाषाओंमें 'शीतो' अथवा 'सीतो' नाम प्राप्त हुआ, जो पुराणों में और कालान्तरमें जाकर 'सीता' नाम से भी प्रसिद्ध होगया। 'शीतोदा' का ही अन्य पुराणों में 'शैलोदा' अपपाठ हुआ है। इन्हीं नामोंका प्रतीक रूप अब 'शतलुज' या 'सतलज' है।

इन नामोंमें काल क्रम की परम्पराका भी भान होता है, जिसको निम्न रूपमें निर्देश कर सकते हैं—

शुतुद्रि—[वैदिक]
|
शतद्रु—[अनन्तर काल]
|
शीतोदा—[पूर्व पुराण]
|
[पुराण] शैलोदा | शीतो अथवा सीतो [चीनी या तिब्बती में]
|
[चीनी आदिके आधार पर फिर पुराणोंमें]—सीता

कालान्तरमें विद्वानोंको यह निश्चय न होपाया, कि ये नाम एक ही नदी के हैं, इस कारण कई स्थानों पर ऐसे वर्णन होगये हैं, जिनसे यह भ्रान्ति हो सकती है, कि ये नाम अनेक नदियों के हैं।

मत्स्यपुराण के अनुसार कैलासके पश्चिम अरुण पर्वतसे 'शैलोदा' नदी निकलती है। वर्त्तमान सतलज के निकासका केन्द्र स्थान ठीक इसी प्रदेश में है। परन्तु मार्कण्डेय पुराणमें 'शीतोदा' का निकास मेरु पर्वतसे बताया है, यदि कैलास पर्वत को मेरु मान लिया जाय, और उस प्रदेशमें यह एक मुख्य पर्वत शिखर होनेके कारण सम्पूर्ण प्रदेशको ही 'मेरु' नाम दे दिया जाय, तो मार्कण्डेय पुराणका लेख भी असंगत नहीं कहा जासकता। महाभारतमें मेरु और मन्दरके मध्यमें 'शैलोदा' का बहना लिखा है, जो सर्वथा युक्त है, क्योंकि वर्त-

यद्यपि इस तुलना के लिये कोई विशेष ऐतिहासिक प्रमाण हमारे पास नहीं है, परन्तु (१)—सरयूकी आज भी मानी जाने वाली पवित्रता, और अधिक दूर तक पर्वतों में ही बहने के कारण ब्रह्मपुत्रा के जलकी स्वच्छताका विचार करके इनका उक्त [पावनी और नलिनी] नामोंसे व्यवहार, कुछ असामञ्जस्यपूर्ण नहीं कहाजासकता। इसके अतिरिक्त (२)—रामायणका वर्णन, और उसमें उल्लिखित नामोंका क्रम भी हमारे ध्यानको इसी अर्थकी ओर आकृष्ट करता है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इस विषयका लेखक, पर्वतकी ओर मुख करके उन नदियोंके अन्तराल प्रदेशमें–जो पश्चिम और पूर्व समुद्र में गिरती हैं—खड़े होकर इसका वर्णन कर रहा हो; और उसके बायें हाथ की ओर पश्चिम समुद्रमें गिरने वाली नदियां तथा दायें हाथकी ओर पूर्व समुद्र में गिरनेवाली नदियां, नीचेकी ओरसे ऊपरकी ओरको यथाक्रम स्थित हों। सरस्वती और यमुनाके अन्तराल प्रदेशमें खड़े होकर देखनेसे पश्चिम समुद्रमें जानेवाली नदियां बांये हाथ की ओर पहिले सरस्वती, फिर सतलुज और उसके आगे सिन्धु होगी। इसीप्रकार पूर्व समुद्रमें जानेवाली नदियां दायें हाथ की

मान सतलज, कैलास और उसके पश्चिमके पर्वत शिखरोंके मध्यमें होकर ही बही है। संभव है, कैलासको मेरु, तथा मत्स्यपुराण में कैलाससे पश्चिमके जिस पर्वत शिखरको 'अरुण' नामसे कहा गया है, उसको महाभारतमें 'मन्दर' लिखा हो। अथवा मन्दरकी कोई दाईं शृंखला या बांह 'अरुण' हो। लदाख शृंखलाको 'मन्दर' कहा जासकता है। देवासुर संग्रामको रोकनेके लिये, मन्दराचलके द्वारा समुद्र मथन, और उससे चतुर्दश रत्नोंकी प्राप्तिका जो पुराणोंमें उल्लेख आता है, वह एक महान तथा अति प्राचीन ऐतिहासिक घटनाका ही निर्देश करता प्रतीत होता है। संभवतः वह मन्दर पर्वत, वर्त्तमान लदाख शृंखला और उससे सम्बन्ध रखने वाला समुद्र, वही समुद्र होगा, जिसका वर्णन कालान्तरमें 'बिन्दुसर' नामसे किया गया है। मन्दर पर्वत, लदाख शृंखला कही जासकती है, क्योंकि वह उस कालमें बिन्दु समुद्र को मध्यसे विभक्त करती थी। उसीको एक मध्यगत रेखा मानकर आर्य जातिके दोनों युद्धोद्यत संघोंने उसका विभाग कर लिया होगा, और उसमें पारस्परिक व्यापार अथवा परिश्रमके द्वारा रत्नोंका संग्रह किया गया होगा।

पारस्परिक व्यापारिक नियम तथा यातायात ही 'वासुकि' था, जिसके द्वारा समुद्र का मथन किया जाता था, पूंछकी ओर देव और मुखकी ओर असुर थे। इसका अभिप्राय यही है कि व्यापार आदिकी बागडोर देवोंके हाथमें थी, और शारीरिक परिश्रम करने वाले असुर थे। पुच्छ, प्रतिष्ठा अथवा आधारका द्योतक है, जो यहां मस्तिष्क का प्रतीक समझना चाहिये, और मुख, शारीरिक श्रमका।

इन सब आधारोंपर शीतोदा, शैलोदा, शीतो अथवा सीतो या सीता एक ही नदीके नाम हैं, जिसको अति प्राचीन कालमें शुतुद्रि अथवा शतद्रु कहा जाता था, और आज सतलुज।

महाभारतमें 'शैलोदा' नामसे इस नदीके दोनों ओर जिन जातियोंके निवासका उल्लेख किया गया है, उसका सम्तुलन, पुराने इतिहास और आजकी स्थितिसे स्पष्ट रूपमें किया जासकता है। जिनमें से कुणिंद [कुलिंद] और खश जातियां विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनकी अधिकसे अधिक आबादी जमुना और सतलुज, तथा सतलुज और व्यासके मध्यगत प्रदेशोंमें है। इससे निश्चित होता है, कि उपर्युक्त सब नाम 'शुतुद्रि' नदीके ही हैं, जो कालान्तरोंमें परिवर्त्तित होते रहे हैं।

और पहिले यमुना फिर सरयू और उसके अनन्तर ब्रह्मपुत्रा होगी। आज भी इनकी भौगोलिक स्थिति ठीक इसीप्रकार है। रामायणका यह क्रमिक उल्लेख बहुत ही व्यवस्थित हुआ है। इस आधार पर भी हम 'पावनी' सरयूको और 'नलिनी' ब्रह्मपुत्राको कह सकते हैं। गंगाका पृथक् निर्देश होनेके कारण इस क्रममें उसका उल्लेख नहीं किया गया। रामायणका यह वर्णन, सरस्वतीनदी और सरस्वती प्रदेशके नष्ट होनेके अनन्तर कालका कहा जासकता है।

बिन्दुसर [ब्रह्मसर] का वास्तविक स्वरूप—

इसप्रकार इन सातों नदियोंको वर्त्तमान रूपमें पहचानलेनेपर हम एक स्पष्ट परिणामपर पहुँच जाते हैं। और वह यह है, कि 'बिन्दुसर' की स्थितिको किसप्रकार ठीक २ समझा जासकता है। इस नामसे तो यही प्रतीत होता है, कि यह कोई बहुत बड़ी झील होगी। रामायण तथा महाभारतके वर्णनके अनुसार महादेवने 'बिन्दुसर' में गंगाको छोड़ा। वह सर जब गंगाके वेगको न संभालसका, तो वहांसे उसकी सात धारा होगईं। अथवा वह एकही गंगा, तब सात धाराओंमें पृथक् २ होकर बह चली। कहनेमें यह एक साधारण सी बात है। पर इसमें कुछ वास्तविक रहस्य अन्तर्निहित है। यह सम्भव होसकता है, कि जिस प्रदेशमें आजभी इन सातों नदियोंके उद्गम स्थान हैं, वहां कभी बहुत लम्बी चौड़ी झील रही हो। वर्त्तमान भौगेलिक स्थितिके अनुसार इसकी अधिक से अधिक लम्बाई दो सौ मील, और चौड़ाई एक सौ मीलके लगभग, अनुमान कीजासकती है। पूर्व और पश्चिमकी ओर बहनेवाली नदियों के उद्गम स्थान की अधिक से अधिक दूरी, लम्बाई के रूप में इतनी ही संभव प्रतीत होती है। उद्गम स्थानोंकी सबसे अधिक दूरी, पूर्वमें ब्रह्मपुत्राके और पश्चिममें सरस्वती के उद्गमकी होगी।

अब 'महादेवने गंगाको बिन्दुसरमें छोड़ा' इस कथनको ध्यान से विचारनेपर प्रतीत होता है, कि वस्तुतः यह कोई विशाल प्राकृतिक झील थी। महादेव, परमात्माका ही नाम है। वह यथाकाल तीव्र वर्षाके रूपमें आकाशसे गंगाको ब्रह्मसरमें छोड़ता है। वैज्ञानिकोंने इस बातको मालूम किया है, और भारतीय साहित्यमें भी इसके उल्लेख मिलते हैं, कि मनुष्यके आदियुगमें हिमालय का यह प्रदेश, समशीतोष्ण जलवायुसे युक्त था। और यहांपर अधिक समयतक तीव्र वेगके साथ वर्षा होती रहा करती थीं। वर्षा होनेके चाहे कोई भी वैज्ञानिक कारण हों, कालिदासके एक श्लोक + में मेघ के वास्तविक स्वरूपका वर्णन भी हमारे ध्यानको उस ओर आकृष्ट करता है। परन्तु आर्य-संस्कृति में वास्तविकता को समझते हुए भी सदा ही इन प्राकृतिक घटनाओंको, परमात्माकी विभूतियों के रूप में वर्णन किया जाता रहा है। इसलिये तीव्र धाराओंके रूपमें उस प्रदेश की वर्षाओंको ही, महादेवके द्वारा गंगाको बिन्दुसरमें छोड़े जाने के रूपमें वर्णन किया गया है। बिन्दुसरसे सात स्रोतोंका निकलना इस बातको स्पष्ट करता है, कि महादेवसे छोड़ी हुई गंगाके वेग को वह संभाल न सका। अर्थात् उसमें वह सब पानी सदा के लिये समा नहीं सकता था, इसलिए उस गंगाका जल, सात धाराओंमें विभक्त होकर बहने लगा। वर्षा रूप में आकाशसे बरसने वाले जलोंको गंगा

+ धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः। मेघसंदेश।

या आकाशगंगाके रूपमें वर्णन किया गया है + ।

इसी वस्तुस्थितिको उपर्युक्त रामायण आदिके कथन में प्रकट किया गया है। वर्षा के रूप में परमात्माके द्वारा भेजी या छोड़ी हुई वह एक ही गंगा है, जो फिर भौगोलिक स्थितिके अनुसार, बिन्दुसर में आनेके अनन्तर सात धाराओंमें बहचली ×। उन्हीं में से एक धाराके स्रोतको, कई पीढ़ियों के अत्यन्त परिश्रम करनेके अनन्तर कुछ परिवर्त्तित करके, भगीरथ अपने अभिलषित प्रदेश को ले गया। यही भगीरथ का तप था, जिसमें कई वर्ष लगे, और अन्तमें उसने सफलता प्राप्त की ÷।

इससे यही परिणाम निकलता है, कि अत्यन्त प्राचीन काल में, हिमालय के उस प्रदेश में 'बिन्दुसरस्' नाम की एक विशाल झील थी, जिसमें सात नदियों का उद्‌गम स्थान था। परन्तु आज हम देखते हैं, कि वह झील नहीं है, पर नदियां उसीतरह बह रही हैं। इससे यह सन्देह अवश्य होता है, कि क्या कभी ऐसी झील रही होगी ? नदियों के प्रवाह पर जब हमारा ध्यान

+ देखें-स्कन्दपुराण, वैष्णव खण्ड, [वेंकटाचल माहात्म्य] अध्याय ४० ।

× साहित्य में गंगाका एक नाम 'त्रिपथगा' भी आता है। अभी तक इस शब्द का ठीक २ अर्थ नहीं समझा जासका। इसके लिये आकाश पाताल तकके कुलाबे मिलाये जाते हैं। इसका कारण भौगोलिक स्थिति को न समझना ही कहा जासकता है। यदि हम इस बात पर थोड़ा ध्यान दें, कि वर्षा के रूपमें बिन्दुसरमें आई एक गंगा ही सात धाराओंमें बही, तो उक्त शब्द का अर्थ हमारी समझमें कुछ२ आजाता है। बिन्दुसर से जितनी धाराएं बही हैं, उनका झुकाव उद्‌गम स्थानों से तीन ओर को ही है; पूर्व पश्चिम और दक्षिण। वहां से कोई भी स्रोत उत्तर की ओर को नहीं बहा। सम्भवतः इसीलिये वह गंगा 'त्रिपथगा' कही जाती रही है। इस शब्दके अर्थको समझाने के लिये आकाश पातालमें दौड़ लगाना व्यर्थ होगा।

÷ भगीरथके सम्बन्धकी यह घटना, कपिलके समयके बादकी है। कपिलके समयमें गंगा, सरस्वतीकी सहायक नदी थी। और सरस्वती अपनी स्वतन्त्र विशाल धारा में प्रवाहित होती थी। कपिल कालीन राजा सगरकी कई पीढ़ियोंके बाद उसी वंशमें भगीरथ हुआ। इसी बीच सरस्वतीका प्रदेश, तीव्र भौगोलिक उत्पातके कारण नष्ट होचुका था, सरस्वतीके स्रोत सदाके लिये रुद्ध होचुके थे, गंगा और यमुना पश्चिमकी ओर मुड़कर सरस्वतीमें मिलनेके बजाय, पूर्वकी ओरको झुक गई थीं। परन्तु इनकी धारा विच्छिन्न व अव्यवस्थित हो चुकी थी। भगीरथने अपने परिश्रमसे गंगाकी धाराको व्यवस्थित किया, और अपने अभिलषित प्रदेशमें लेजाकर पूर्व समुद्रकी ओर जाने दिया। यद्यपि यह परिश्रम, भगीरथके बहुत पहलेसे ही होरहा था, परन्तु उस समय एक नदीके स्रोतको बदल कर दूसरी ओर लेजाना असम्भव सा ही था। अनन्तर प्राकृतिक घटनाओंने भगीरथका साथ दिया, भौगोलिक उत्पातसे नदियोंके स्रोत बदल गये। बिल्लीके भाग से छींका टूटा। और भगीरथ अपने परिश्रममें सफल हुआ।

कालान्तरमें यमुनाका स्रोत भी भौगोलिक स्थितियोंके अनुसार स्वतः व्यवस्थित होगया। अति प्राचीन कालमें गंगा और यमुना दोनों नदी, सरस्वती की सहायक नदी थीं, यह अगले पृष्ठों में स्पष्ट होजायगा।

जाता है, तो हम देखते हैं, कि आज उन नदियोंमें से भी एक नदी कालके गालमें विलीन हो चुकी है। यह बहुत संभव है, कि जिन भौगोलिक परिस्थितियों अथवा परिवर्त्तनोंने सरस्वती नदीको लुप्त कर दिया, उन्होंने ही 'बिन्दुसर' को भी संकुचित कर दिया हो। संकुचित करना इसलिये लिखा गया है, कि आज भी हिमालयके उस प्रदेशके पूर्वी भागमें 'मानसरोवर' तथा 'राक्षसताल' नामकी झील विद्यमान हैं। यह बहुत ही आश्चर्य और ध्यान देनेकी बात है, कि 'बिन्दुसर' के सर्वाधिक पश्चिमी भाग में ही 'सरस्वती' का उद्गम स्थान था। और आज सर्वाधिक पूर्वी भागमें 'मानसरोवर' झील है। जहां से पूर्वकी ओर ब्रह्मपुत्रा नदीका उद्गम स्थान है। इससे प्रतीत होता है, कि वर्त्तमान मानसरोवर झीलसे पश्चिमकी ओरका बहुत दूर तकका सब प्रदेश किसी भारी भौगोलिक परिवर्त्तनके कारण उथल गया। जिसका परिणाम उन प्रदेशोंकी वर्त्तमान स्थिति है, जिसमें न सरस्वती रही, और न उतना विशाल बिन्दुसर।

ऐसी स्थितिमें, यद्यपि ऐसी झील का कभी न होने का सन्देह किया जाना, अवश्य कुछ शिथिल होजाता है। फिर भी वर्त्तमान स्थिति को देखकर यह विचार सन्मुख आता है, कि विद्यमान प्रवाहित छः नदियों में से केवल दो नदी 'मानसरोवर' से निकलती हैं, पूर्व समुद्रमें गिरने वाली ब्रह्मपुत्रा, और पश्चिम समुद्रमें गिरने वाली सतलुज। शेष चारों नदियां, 'बिन्दुसर' के न रहने पर भी सहस्रों वर्षोंसे उसी तरह प्रवाहित हो रही हैं। सरस्वती नदी भी इसलिये नहीं सूख गई, कि उसके लिये उद्गम स्थानमें जल न रहा हो, या कुछ कम हो गया हो, प्रत्युत यही कहा जासकता है, कि भौगोलिक परिवर्त्तनोंके कारण सरस्वती के स्रोत के जल अन्य स्रोतों में परिवर्त्तित होगये। इसलिये 'बिन्दुसर' के विना भी उन सब नदियों के आज बहते हुए स्रोत, हमें इस सन्देह की ओर आकृष्ट कर सकते हैं, कि क्या सचमुच ऐसी झील कभी रही होगी ?

इसके लिये यही कल्पना की जासकती है, कि ऐसी झील कभी रही हो, या न रही हो, कम से कम इस बातसे नकार नहीं किया जासकता, कि हिमालयका एक ऐसा प्रदेश आज भी है, जहां उक्त नदियोंके उद्गम स्थान अब भी विद्यमान हैं। यह एक विशेष ध्यान देने की बात है, कि हिमालयके उतने ही प्रदेशमें, उत्तर भारत की सात बड़ी २ नदियोंके उद्गम स्थान हैं, जिनका जल पूर्वी और पश्चिमी समुद्रोंमें जाकर गिरता है। यद्यपि वहां कोई ऐसी एक विशाल झील नहीं, जिसे हम ऊपर से देख सकें। परन्तु उस प्रदेश के नीचे अनन्त जलराशि का भण्डार है, जिसको उक्त नदियां सहस्रों वर्षों से अनवरत धारा में प्रवाहित कर रही हैं। जहां तक महादेव के द्वारा उस प्रदेश में गंगा के छोड़े जाने अथवा निहित किये जाने का सम्बन्ध है, उसमें कोई असामञ्जस्य नहीं आता। जलराशि दृश्यमान हो, या अन्तर्निहित, वह उसी की रचना है। वह केवल वस्तुस्थितिको वर्णन करने का एक प्रकार है। और आज भी तीव्र वर्षा और हिमपातके द्वारा, उस जलराशिके भण्डार की पूर्ति बराबर होती रहती है। यह महादेवका ही अनुग्रह है। इसलिये अब इस परिणाम पर पहुँचा जासकता है, कि हिमालयका वह विशेष प्रदेश, जहां उत्तर भारतकी इन सात नदियों का उद्गम स्थान है, 'बिन्दुसर' माना जाना चाहिये, चाहे वहां कभी लहरें लेती हुई विशाल झील रही हो,

अथवा आज भी अन्तर्निहित अनन्त जलराशिका भण्डार हो। आज की स्थिति को देखते हुए,स्थूल रूप से 'कैलाश मानस खण्ड' को 'बिन्दुसर' का प्रदेश कहा जासकता है। क्या 'सप्तसिन्धु' या सात नदियों का प्रदेश भी इसी को कहा जासकता है ?

बिन्दुसर का क्षेत्रफल—

इस बिन्दुसर' का क्षेत्रफल कितना रहा होगा, इसका निश्चय किया जाना कठिन है। फिर भी वर्तमान नदियों के उद्गम स्थान से इसकी सीमाओं का अनुमान किया जा-सकता है। हमने पीछे निर्देश किया है, कि 'बिन्दुसर' की लम्बाई अधिक से अधिक दो सौ और चौड़ाई एक सौ मील की अनुमान की जा सकती है। वर्त्तमान टिहरी राज्य के पश्चिमोत्तर कोण के आस पास—जिसकी सीमा बुशाहर राज्य की सीमा से मिलती है—यदि सरस्वती नदी का उद्गम स्थान माना जाय, और 'बिन्दुसर' से निकलने वाली शेष छः नदियों के भी उद्गम स्थानों को मिलाती हुई एक रेखा खींची जाय, तो 'बिन्दुसर' का क्षेत्रफल हमारे सामने आजाता है, और इसकी लम्बाई चौड़ाई लगभग उतनी ही हो सकती है, जो ऊपर निर्दिष्ट की गई है।

बिन्दुसर के सम्बन्ध में अन्य मत—

श्रीयुत नन्दूलाल दे महोदय ने अपने भारतीय भौगोलिक कोष+ में 'बिन्दुसर' के दो स्थानों का निर्देश किया है—

(१)—गंगोत्री से दो मील दक्षिण, रुद्र हिमालय पर एक पवित्र सरोवर है। कहा जाता है, कि जहां स्वर्ग से गंगा को नीचे लाने के लिये भगीरथ ने तप किया था।

(२)—गुजरात प्रान्त में, अहमदाबाद के उत्तर—पश्चिम की ओर 'सित्पुर' नामक स्थान, यही कर्दम ऋषि का आश्रम और कपिल का उत्पत्ति स्थान था।

इन निर्देशों में दूसरी संख्या का निर्देश रामायण और महाभारत आदि के वर्णनों से सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि गुजरात के 'सित्पुर' नामक स्थान में उक्त सात नदियों के उद्गम का सामञ्जस्य असंभव है। फिर भागवत के कथनानुसार 'बिन्दुसर' का स्थान, कहीं ब्रह्मावर्त्त देश के आस पास होना चाहिये। गुजरात के 'सित्पुर' में यह बात भी संभव नहीं कही जासकती। दे महोदय ने यह निर्देश किस आधार पर किया है, इसका उन्होंने अपने ग्रन्थ में कोई उल्लेख नहीं किया। ऐसी स्थिति में गुजरात के उस प्रदेश में, कर्दम ऋषि का आश्रम और

+1—A sacred pool situated at the Rudra-Himalaya, two miles south of Gangotri, where Bhagiratha is said to have performed asceticism for bringing down the goddess Ganga from heaven.

2—Sitpur in Gujrat, north-west of Ahmadabad it was the hermitage of Karddama Rishi and birthplace of Kapila. [The -Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India. by Nandoo Lal Dey]

कपिल का उत्पत्ति-स्थान बताना युक्ति संगत नहीं ।

संख्या एक के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख किया जाचुका है। और भगीरथ के तप का भी स्पष्टीकरण कर दिया गया है ।

किरणावली की भूमिका+में पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, कि 'गङ्गा और सागर के संगम के समीप 'बिन्दु सरोवर' पर देवहूति से महर्षि कर्दम का पुत्र [कपिल] उत्पन्न हुआ ।'

श्रायुत द्विवेदी जी का यह लेख रामायण महाभारत और भागवत आदि के विरुद्ध होने से अमान्य है। द्विवेदी जी के कथनानुसार, गङ्गा जहां समुद्र में मिलती है, वहां 'बिन्दु-सरोवर' होना चाहिये। परन्तु प्राचीन वर्णनों के आधार पर गंगा के उद्गम स्थान में उसका होना निश्चित होता है । संभवतः मध्यकाल की स्थिति पर साधारण विचार करके ही द्विवेदी महोदय ने उक्त कल्पना कर डाली है ।

इसप्रकार हिमालय में 'बिन्दुसर' की स्थिति और उसके पश्चिमी तट में सरस्वती के उद्गम स्थान का निश्चय होजाने पर अब हम कपिल के उत्पत्ति स्थान का अधिक सरलता से पता लगा सकते हैं ।

कपिल का उत्पत्ति स्थान [सरस्वती तटवर्ती आश्रम]—

हम अभी लिख चुके हैं, कि अम्बाला मण्डल के उत्तर--पूर्व सिरमौर [नाहन] राज्य के अन्तर्गत सरस्वती नदी के चिन्हों का पता लगता है । शिवालक पहाड़ के 'आदिबद्री' नामक दर्रे से होकर सरस्वती बाहर की ओर समतल प्रदेश में आती थी । पांच छः मील और ऊपर से इसकी एक शाखा हरिपुर दर्रे से होकर बाहर आती, और कुछ अन्तर पर मुख्य धारा में मिल जाती थी। शिवालक के इस प्रदेश से लगभग तीस मील उत्तर—पूर्व की ओर नाहन राज्य में 'रेणुका' नाम की एक छोटी सी झील है। इसकी लम्बाई मील सवा मील, तथा चौड़ाई अधिक से अधिक दो सौ गज के लगभग है । इसकी स्थिति से मालूम होता है, कि चिरकाल पूर्व में यहां कभी किसी बड़ी नदी का स्रोत रहा होगा । इस स्थान से पांच छः मील उत्तर पूर्व की ओर एक ऊंचा पहाड़ है, जिसके ऊपर दो छोटे २ शिखर हैं। इनमें से पूर्व के शिखर का नाम आज भी 'कपिल का टिब्बा' है । और पश्चिम का शिखर 'जमदग्नि' के नाम से प्रसिद्ध है । इस स्थान का प्राचीन इतिहास जमदग्नि, रेणुका और परशुराम के इतिहास से सम्बद्ध है। तथा उससे भी प्राचीन इतिहास कपिल के इतिहास से ।

'बिन्दुसर' से सरस्वती नदीका उद्गम जिस स्थानपर संभावना किया जासकता है, वह स्थान इस प्रदेश से पूर्व-उत्तरकी ओर लगभग सत्तर–अस्सी मीलपर होगा। मालूम होता है अपने उद्गम स्थानसे प्रवाहित होकर सरस्वती नदी इसी पर्वत शिखरके आस-पाससे होती हुई

+ गंगासागरसंगमान्तिके बिन्दुसरोवरे कर्दमस्य महर्षेः पुत्रो देवहूत्यां जातः । [चौखम्बा संस्कृत सीरीज् में प्रकाशित, पृष्ठ १६ पर]

शिवालककी ओर जाती थी। कपिलके नामसे आज भी प्रसिद्ध, यह पर्वत शिखरका प्रदेश ही, कपिलका उत्पत्ति स्थान था, और यहींपर कर्दम ऋषिका आश्रम रहा होगा। इस प्रदेशके पर्वत शिखरोंकी स्थिति का सावधानतापूर्वक पर्यवेक्षण करनेपर यह बहुत कुछ स्पष्ट प्रतीत होजाता है, कि उस प्राचीन कालमें सरस्वती नदीका स्रोत, कहां २ होकर बहता रहा होगा। +

भागवत के अनुसार ब्रह्मावर्त देशका राजा स्वायंभुव मनु ×, अपनी कन्या [देवहूति] का विवाह करनेकेलिये कर्दम ऋषिके आश्रममें आया था। उक्त स्थान, ब्रह्मावर्त में अथवा उसके समीप ही कहा जासकता है। समीप हमने इसलिये कहा है, कि अभीतक ब्रह्मावर्तकी निश्चित सीमाओंका ज्ञान हम बिस्मृत कर चुके हैं। फिर भी इतना अनुमान किये जानेमें कोई बाधा नहीं है, कि ब्रह्मावर्तके समीप ही कर्दम ऋषिका आश्रम और कपिलका उत्पत्ति-स्थान होना चाहिये। इसलिये सिरमौर राज्यकी रेणुका झीलसे ऊपरकी ओर आस पास ही कहीं उक्त स्थानका निश्चय किया जासकता है। यह निर्णय संस्कृत साहित्य, में प्रदर्शित 'बिन्दुसर' 'सरस्वती' और 'ब्रह्मावर्त' के वर्णनोंके आधारपर ही किया गया है। 'बिन्दुसर' तथा सरस्वतीके उद्गमके सम्बन्धमें लिखा जाचुका है।

+ लेखक ने स्वयं इन प्रदेशों में घूमकर इसका पर्यवेक्षण किया है। इस दिशामें लेखकको, नाहन राज्य परिवार के श्रीयुत कुंवर अजीतसिंह महोदय से, तथा महाराजके भूतपूर्व अंगरक्षक श्री पं० मधुसूदनदत्तजीसे विशेष सहायता मिली है। लेखक उनका कृतज्ञ है।

× कर्दम का श्वसुर सम्राट स्वायंभुव मनु, ब्रह्मावर्तका राजा था, जो अयोध्या (अवध) के वैवस्वत मनुसे पृथक् होना चाहिये। किन्हीं विद्वानों का विचार है कि अवध का मनु पहिले था, अर्थात् सत्ययुगके प्रारम्भिक कालमें, तथा ब्रह्मावर्तका मनु सत्ययुगके अन्तिम कालमें माना जाना चाहिये। परन्तु युगोंकी काल गणनाके सम्बन्धमें अभी हम अपना निश्चित विचार प्रकट नहीं कर सकते। फिर भी इतना कहना कदाचित् अयुक्त न हो कि मध्यकाल के ज्योतिष ग्रन्थों में वर्णित युग, ऐतिहासिक युगोंसे भिन्न होंगे। इन युगोंके कालकी गणनाका निश्चय होनेपर यह संभव होसकता है कि उक्त दो मनुओं [मनुवंशों] का जो पौर्वापर्य बताया जाता है, उसमें सर्वथा विपर्यय हो जाय। अर्थात् जिस सत्ययुगके आदि भागमें वैवस्वत मनुका काल हो, उससे किसी पहिले सत्ययुग के अन्तिम भागमें स्वायंभुव मनुका काल हो। इसप्रकार स्वायंभुव मनु का काल सत्ययुगके अन्तिम भागमें होनेपर भी वैवस्वत मनुसे पूर्व होगा। यह संभावना, युगोंका कालमान कुछ सहस्र वर्षका माने जाने पर ही हो सकती है।

अतीत सात मनुओं का जो ग्रन्थों में उल्लेख आता है, संभवतः वे तत्तत्कालीन क्षत्रियोंके पृथक् २ राजवंश थे। उस समय प्रजापालनके द्वारा प्रजाकी वृद्धि में इनका अत्यन्त उपयोगी सहयोग प्राप्त हुआ होगा। इसी कारण इनका तथाकथित वर्णन ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है। इसप्रकार भलेही स्वायंभुव मनु पहिले हुआ हो, और वैवस्वत मनु बाद में। परन्तु उनके वंशधर राजाओंमें कोई भी मनु राजा आगे पीछे हो सकते हैं। अभिप्राय यह है, कि प्रत्येक मनुके वंशधर भी अपने वंश के आदि पुरुषके नामपर ही 'स्वायंभुव मनु' या 'वैवस्वत मनु' कहलाते थे, उनके अपने वैयक्तिक नाम कोई अन्य रहते होंगे।

सरस्वती का स्रोत, तथा तत्सम्बन्धी अन्य मत—

ब्रह्मावर्त की सीमाओंका अधिक निर्धारण करनेके लिये 'सरस्वती' और 'दृषद्वती' नदियोंके सम्बन्धमें विवेचन करना आवश्यक होगा। श्रीयुत नन्दूलाल दे महोदयने 'प्राचीन भारतका भौगोलिक कोष' नामक इंग्लिश पुस्तकमें सरस्वती नदी के लिये तीन मतोंका उल्लेख इसप्रकार किया है—

(१)—सरस्वती नदी सिरमौरके पहाड़ोंसे निकलती और 'आदबद्री' के पास जिसे हिन्दू पवित्र समझते हैं, समतल भूमिपर प्रवेश करती है। यह नदी छलौर गांवके पास कुछ दूर तक रेतमें अदृश्य होगई है। और भवानीपुरके पास फिर दिखाई देती है। इसी तरह बालछप्पर के पास फिर अदृश्य होकर बरखेड़ामें पुनः दीखने लगती है, और पेहोआके समीप उरनईमें मारकण्डा नदीके साथ मिल जाती है। आगे भी इसका नाम सरस्वती रहता है, और यह घग्घरके साथ मिल जाती है।

(२)—गुजरात मे सोमनाथ के पास एक नदी।

(३)—एरेकोसिया [रौलिन्सन] +

इन तीनों मतोंमें से दूसरे और तीसरे मतके सामंजस्यके लिये हम कोई सुपुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं कर सके हैं। महाभारत × में प्रभासतीर्थकी स्थिति सरस्वतीके तटपर बताई गई है, जहां सरस्वती पश्चिम समुद्रमें मिलती थी। प्रतीत होता है, इसी आधारपर दे महोदयने संख्या दो में सोमनाथके पास सरस्वतीका होना बताया हो। परन्तु यह सरस्वती वही हो सकती है, जिसका संख्या एक में वर्णन किया गया है। वह उसके उद्गमकी ओरका वर्णन है, और यह समुद्रमें गिरनेके समीप का। यद्यपि यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जासकता, कि वर्तमान प्रभास अथवा सोमनाथके समीप ही सरस्वती समुद्रमें गिरतीथी। अधिक संभावना यही है कि राजपूतानेकी

+ सरस्वतीविषयक नन्दूलाल दे का लेख—

1—The river Saraswati rises in the hills of Sirmoor and emerges into the Plains at Ad Badri, deemed sacred by the Hindus. It disappears for a time in the sand near the village of Chalaur [छलौर] and re-appears at Bhawanipur [भवानीपुर]. At Balchppar [बालछप्पर] it again disappears, but re-appears again at Barkhera [बरखेड़ा]; at Urnai, [उरनई] near Pehoa [पेहोआ], it is joined by the Markanda [मारकण्डा नदी], and the united river still bearing the name of Saraswati, [सरस्वती] ultimately joins the Ghagger [घग्गर], [Panjab Gazetteer].

2—A river near Somanatha in Guzarat.

3—Arachosia [Rawlinson], [The Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India, by Nandoo Lal Dey.]

× म. भा०, वन० ८०/६०-६२॥ शल्य० ३६।३३-३४॥

मरुभूमि जिस समय समुद्र सलिल से आच्छादित थी, उसी समय सरस्वती की धारा पृथ्वी पर प्रवाहित होती थी। उस समय का, सरस्वती और समुद्र के संगम का स्थान तत्कालीन आर्यों के लिये अवश्य आकर्षक रहा होगा। सरस्वती और उस समुद्र के विनाशकारी परिवर्त्तन के अनन्तर पूर्वकाल की स्मृति के आधार पर किसी समय, वर्त्तमान प्रभास अथवा सोमनाथ (सोमतीर्थ) की कल्पना करली गई होगी। जिसके आधार पर महाभारत का वर्त्तमान वर्णन लिखा गया। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि दे महोदय ने संख्या एक और दो में सरस्वती नाम की जिन दो नदियों का उल्लेख किया है, वस्तुतः वह एक ही सरस्वती नदी है, जिसका एक वर्णन उद्गम के साथ का और दूसरा समुद्र-संगम के साथ का है।

महाभारत + के वर्णनों से इस बात का भी निश्चय होता है, कि सरस्वती नदी सीधी समुद्र में जाकर मिलती थी। इस बात के स्वीकार किये जाने में कोई प्रमाण नहीं है, कि वर्त्तमान सोमनाथ के समीप सरस्वती नदी समुद्र में गिरती हो। जब सरस्वती की जलधारा निरन्तर प्रवाहित हो रही थी, उस समय वर्त्तमान राजपूताने का अत्यधिक भाग समुद्र-सलिल से आच्छादित × था। ऐसी स्थिति में वर्त्तमान राजपूताने के उत्तर-पश्चिमी भाग के समुद्रतट में ही कहीं सरस्वती नदी आकर मिलती होगी। महाभारत के वर्णनों से यह भी स्पष्ट होता है, कि युद्धकाल से बहुत पूर्व ही सरस्वती नदी नष्ट ÷ हो चुकी थी। महाभारत काल में भी, नष्ट हुई सरस्वती के चिन्ह, आज की तरह यत्र-तत्र उपलब्ध होते थे। परन्तु एक ऐसे स्थान का भी महाभारत में उल्लेख है, जिसके आगे आज तक भी सरस्वती के कोई चिन्ह उपलब्ध नहीं होसके। इस स्थान का नाम 'विनशन' लिखा है। सम्भवतः यह वही स्थान है, जहां सरस्वती नदी, समुद्र में मिलती थी। यह समुद्र,

---

+ 'ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे। [म. भा., वन०, ८०।६३]

'समुद्रं पश्चिमं गत्वा सरस्वत्यब्धिसंगमम्।

आराधयतु देवेशं ततः कान्तिमवाप्स्यसि ॥' [म. भा. शल्य० ३६।३३]

× अन्य भौगोलिक आधारों के अतिरिक्त इसमें सुपुष्ट प्रमाण यह भी है, कि राजपूताने के इस विशाल भाग में अनेक झीलें ऐसी पाई जाती हैं, जिनका जल समुद्र के समान सर्वथा खारी है। और इनसे लाखों मन नमक प्रतिवर्ष तयार किया जाता है। इनमें सबसे बड़ी झील सांभर है, जिसकी अधिक से अधिक लम्बाई २०मील और चौड़ाई दो से सात मील तक हो जाती है। पूरी भर जाने पर इसका क्षेत्रफल ६० वर्गमील के लगभग रहता है। केवल इसी झील में से ३५ लाख मन से भी अधिक नमक प्रतिवर्ष तयार किया जाता है। यह झील जोधपुर और जयपुर राज्यों की सीमा पर है। इसके अतिरिक्त जोधपुर राज्य के डीडवाना, पचभद्रा आदि स्थानों में, बीकानेर राज्य के छापर तथा लूणकरन सर में, और जैसलमेर राज्य के कावोद आदि स्थानों में भी अनेक छोटी २ झीलें हैं, जिनमें सर्वथा समुद्री जल है। इससे प्रतीत होता है, कि कभी अत्यन्त प्राचीनकाल में यह प्रदेश समुद्रीजल से ढका था। किसी आकस्मिक उग्र भौगोलिक परिवर्तन से समुद्र उथलकर पीछे हट गया, और ये उसके चिन्ह शेष रह गये।

÷ म. भा., शल्य० ३८।१ ॥ भीष्म० ६।५१॥

पश्चिम समुद्र कहलाता था, जो नाम आजकल अरब समुद्र को दिया जाता है। 'विनशन' नामक स्थान, उसके आसपास ही रहा होगा, जहां बीकानेर और बहावलपुर राज्य पंजाब से मिलते हैं।

सरस्वती के विनाश का शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख—

सरस्वती के नष्ट होने का उल्लेख, शतपथ + ब्राह्मण में भी उपलब्ध होता है। वहां के वर्णन से निम्नलिखित इतिहास स्पष्ट होता है—

सरस्वती प्रदेश में 'विदेघ माथव' नामक राजा, अतिप्राचीन काल में राज्य करता था। उसका पुरोहित था—गोतम राहूगण। किसी आग्नेय उपद्रव [ज्वालामुखी आदि के फट जाने तथा प्रचण्ड भूकम्प आदि] के कारण उसका प्रदेश और राज्य नष्ट हो गया ×। राजा किसी तरह सपरिजन बचकर अपने पुरोहित के साथ पूर्व की ओर चल दिया। उसे कोई प्रदेश बहुत दूर तक, अपना राज्य पुनः स्थापित करने के लिये रिक्त न मिला। यहां तक कि वह पूर्व की ओर चलता २ सदानीरा नदी के तट पर जा पहुँचा। उसे मालूम हुआ, कि सदानीरा से पूर्व की ओर अभी तक कोई आबादी नहीं है। और इस नदी को आज तक किसी ने पार नहीं किया है। उसने अपने पुरोहित से पूछा, कि मुझे अब कहां निवास करना चाहिये? पुरोहित ने उत्तर दिया, कि सदानीरा के पूर्व की ओर का प्रदेश बहुत पहिले निवास के योग्य नहीं था, वहां बहुत दलदल थी। परन्तु अब ऐसा नहीं है। यह प्रदेश निवास के योग्य होचुका है। यह सुन राजा विदेघ माथव, सदानीरा नदी को पारकर पूर्व की ओर के प्रदेश में चला गया। और उसको अपना आवास बनाया। तभी से

+ शत० ब्रा० १।४।१।१०—१७॥

× पद्मपुराण [सृष्टिखण्ड, १८।१५६—२००] में भी आलंकारिक रीति पर सरस्वती प्रदेश की इस घटना का उल्लेख किया गया है। वहां पर देवलोक से, वडवानल [देवलोक में वडवानल का पहुंच जाना, इस बात को स्पष्ट करता है, कि तत्कालीन भौगोलिक उथल पुथल का प्रभाव, बिन्दुसर तक पहुचा था, यही प्रदेश अनन्तरकाल में देवलोक कहा जाता रहा है।] को सरस्वती के द्वारा समुद्र में भेजे जाने का वर्णन है, उसके साथ सरस्वती भी अदृश्य होगई बताई गई है। गंगा और यमुना उससे पुनः दर्शन के लिये पूछती है। परन्तु वह सदा के लिये उनसे विदा लेकर चली जाती है। गंगा ने उसका अनुगमन करना चाहा। परन्तु उसने कहा, कि तुम अब प्राची [पूर्व] दिशा की ओर जाओ। और स्वयं सरस्वती वडवानल को लेकर सदा के लिये पश्चिम समुद्र में चली गई।

इस वर्णन से दो बात अत्यन्त स्पष्ट होती हैं। (१)—किसी भयंकर ज्वालामुखी के फटने से सरस्वती के प्रदेश उथल गये, और उसका स्रोत सदा के लिये नष्ट होगया। (२)—सरस्वती के प्रवाह समय में गंगा और यमुना उसकी सहायक नदियां थीं। उसके नष्ट हो जाने पर इन दोनों नदियों का स्रोत पूर्व की ओर को बहने लगा।

इस प्रसंग की पुष्टि के लिये पद्मपुराण [सृ० खं०] के २७ वें अध्याय के १०५—११०, ११४, तथा १२७ श्लोक भी द्रष्टव्य हैं। स्कन्दपुराण, प्रभास खण्ड [प्रभासक्षेत्र माहात्म्य], अध्याय ३३-३५ में भी यह प्रसंग है।

उस प्रदेश का नाम 'विदेघ' हुआ, जो कालान्तर में उच्चारण विपर्यय से 'विदेह' कहा जाने लगा। शतपथ ब्राह्मणकार के समय में इस प्रदेश का नाम 'विदेह' हो चुका था। उसने 'सदानीरा' नदी को, कोसल और विदेह प्रदेशों को विभाजित करने वाली सीमा बताया है। प्रतीत होता है, विदेघ माथव ने, अपने समय के कोसलाधिपति के साथ सन्धि करके 'सदानीरा'+को उन प्रदेशों की सीमा निर्धारित किया होगा, जिसका उल्लेख ब्राह्मणकार ने अपने समय में प्रसंगवश किया है।

+ 'सदानीरा' आजकल कौनसी नदी है यह भी विवेचनीय है। आधुनिक विद्वानों के मत उन्हीं के शब्दों में नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

नन्दूलाल दे—A river in Oudh mentioned in the महाभारत and शतपथ ब्राह्मण [१।४।१।१४]

वैदिक इन्डैक्स—Sada-Nira—'having water always' [perennial], is the name of a stream which, according to the शतपथ ब्राह्मण [१।४।१।१४], was the boundary between the Kosalas and the Videhas. The river is identified by the native lexicographers with the Karatoya [see Imperial Gazetteer of India, 15, 24.], but this seems to be too far east. Weber's [Indische Studien,1, 172, 181.] identification of it with the Gandaki [See- S. V. Great Gandak, Imperial Gazetteer of India, 12, 125] is probably correct, for though the Mahabharata [2, 794.=सभा० २०।२७ कुम्भघोण संस्करण-ग्रन्थलेखक] distinguishes the two rivers, there is nothing to show that this is due to any good tradition.

कुम्भघोण संस्करण के महाभारत की विशेष नाम सूची में टी. आर. व्यासाचार्य कृष्णाचार्यने 'सदानीरा' पद पर लिखा है=the river Karatoya in Oudh which flows through the districts of Rungpur and Dinajpur,और 'करतोया' पद पर लिखा है—A sacred river which flows through the districts of Rungpur and Dinajpur. It formed the boundary between the Kingdoms of Bengal and Kamarupa.

महाभारत विशेष नाम सूची के इन वर्णनों में 'सदानीरा' का विवरण असंगत होगया है। क्योंकि रंगपुर और दिनाजपुर जिले अवध में नहीं, प्रत्युत बंगाल में हैं। और 'सदानीरा' नदी अवध तथा अवध से लगे विहार प्रान्त में बहनी चाहिये। वस्तुतः भ्रान्ति से 'सदानीरा' को 'करतोया' समझकर 'करतोया' का विवरण 'सदानीरा' के साथ लगा दिया गया है, और 'सदानीरा' का अवध के साथ सम्बन्ध जोड़ा नहीं गया। फिर सूचीकारों ने 'करतोया' को बंगाल और कामरूप राज्य की सीमा विभाजक नदी बताया है, तब वह अवध में कैसे मानी जा सकती है? और 'सदानीरा' शतपथ ब्राह्मण [१।४।१।१४] के अनुसार कोसल तथा विदेहों की सीमा को बनाती है। इसलिये 'सदानीरा' और 'करतोया' एक नदी नहीं हो सकतीं। महाभारत [२।२०। २७] में 'गण्डकी' और 'सदानीरा' के पृथक् निर्देश में—जिसका संकेत 'वैदिक इन्डैक्स' में किया गया

इस वर्णन से यह परिणाम निकलता है, कि जब 'विदेघ माथव' सरस्वती के समीप प्रदेश में राज्य करता था, उस समय कोई ऐसे तीव्र भौगोलिक परिवर्त्तन हुए, जिनसे सरस्वती के स्रोत रुद्ध होगये, और वह देश नष्टप्राय होगया, तथा उजड़ गया।

सरस्वती और रॉलिन्सन्।

रॉलिन्सन् [Raulinson] के मतानुसार सरस्वती, 'ऐरेकोसिया' [Arachesia] का नाम है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में, वर्त्तमान अफ़ग़ानिस्तान के दक्षिण-पश्चिमी भाग का यह नाम था। सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस से, अन्य प्रदेशों के साथ २ इस प्रदेश को भी चन्द्रगुप्तने छीन कर अपने राज्य में मिला लिया था+। इस प्रदेश में बहने वाली किसी नदी के नाम पर ही प्रदेश का यह नाम रहा होगा। आजकल इस प्रदेश में बहने वाली नदी का नाम 'हैल्मन्द' [Helmand] है, जो हिन्दुकुश पर्वत के भाग 'कोह-ए-बाबा' से निकल कर अफ़ग़ानिस्तान के मध्यभाग में बहती हुई एक झील में आकर गिर जाती है।

आधुनिक 'हैल्मन्द' नाम के साथ 'सरस्वती' नाम की पर्याप्त समानता है। पारसीक भाषा में 'स' की जगह 'ह' और 'र' की जगह 'ल' का प्रायः प्रयोग होता है। फ़ारसी का 'मन्द' प्रत्यय संस्कृत के 'मतुप' प्रत्यय के समानार्थक है। इसप्रकार 'सरस्वती' और 'हैल्मन्द' नाम का सादृश्य सर्वथा स्पष्ट है। संभव है, इसी आधार पर रालिन्सन महोदय ने ऐरेकोसिया की नदी को ही सरस्वती समझा हो। तथा उस प्राचीन समय में वह प्रदेश भी भारत का ही एक अंग था।

इन सब बातों के होने पर भी इस मत के ग्राह्य होने में अनेक बाधाएं हैं—

(१)—भारतीय साहित्य में सरस्वती का जो वर्णन किया गया है, उसका सामञ्जस्य 'हैल्मन्द' के साथ किसी रूप में भी बिठाया नहीं जा सकता। सरस्वती के साथ जिन अन्य नदियों देशों राजाओं ऋषि मुनियों अनेक तीर्थ स्थानों का सम्बन्ध प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णित है, वह सब 'ऐरेकोसिया' के 'हैल्मन्द' में असंभव है।

(२)—सरस्वती के नष्ट हो जाने का उल्लेख, प्राचीन साहित्य के आधार पर हम पीछे कर चुके हैं। परन्तु 'हैल्मन्द' आज भी उसी तरह प्रवाहित होरहा है।

है—इतनी ही भ्रान्ति है, कि उसका लेखक यह निर्णय नहीं करसका, कि जिस नदी का नाम प्राचीन काल में 'सदानीरा' था उसी का कालान्तर में 'गण्डकी' नाम होगया। यद्यपि महाभारत का इस स्थल का वर्णन अधिक विश्वसनीय नहीं कहा जासकता, फिर भी इतना अवश्य स्पष्ट होजाता है, कि 'करतोया' नदी 'सदानीरा' नहीं हो सकती। क्योंकि कुरु देश से मगध तक जाने में 'करतोया' बीच में आ ही नहीं सकती, 'सदानीरा' आजाती है। इसलिये 'सदानीरा' नदी 'गण्डकी' ही होनी चाहिये। कोसल और विदेह देशों की सीमा होने की संभावना इसी में होसकती है, जिसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण [१।४।१।१०-१७] में किया गया है।

+ 'हिस्टारिकल ऐट्लैस आफ इण्डिया' चार्ल्स् जार्पैन एस. जे. रचित, लौंगमैन्ज़ ग्रीन एण्ड को॰ द्वारा सन् १९१५ ईसवी में प्रकाशित, पृष्ठ ६, तथा चित्र नं॰ ३ और ४॥

(३)—प्राचीन साहित्य के वर्णनानुसार 'सरस्वती', बिन्दुसर अथवा ब्रह्मसर नामक झील से निकल कर समुद्र में गिरती थी, परन्तु 'हैल्मन्द' पर्वत से निकल कर एक झील में जाकर मिलती है। इसलिये 'हैल्मन्द' को 'सरस्वती' पहचानना युक्तिपूर्ण नहीं कहा जासकता।

जहां तक दोनों नामों की समानता का प्रश्न है, यह स्वतन्त्र रूप में किसी एक स्थिति का निर्णायक नहीं कहा जासकता। इसप्रकार आकस्मिक रूप से अनेक नामों की समानता संभावित हो सकती है। अभी पिछले दिनों इंग्लेण्ड का महाराज अष्टम एडवर्ड, कारणवश राजसिंहासन परित्याग कर देने के अनन्तर 'ड्यूक ऑफ विन्डसर' [विन्डसर का सामन्त] कहलाया। 'विन्डसर' इंग्लेण्ड में एक स्थान + का नाम है। यह नाम, अभी ऊपर वर्णित 'बिन्दुसर' नाम से अत्यधिक समानता रखता है। परन्तु इस समानता के होने पर भी इन दोनों को एक नहीं कहा जासकता।

आस्ट्रेलिया के 'न्यूसाऊथ वेल्स' नामक प्रदेश में तथा अमेरिका में भी 'विन्डसर' नाम के स्थान हैं, जो इंग्लेण्ड से जाकर वहां बसे हुए व्यक्तियों ने, अपने प्राचीन प्रदेश की स्मृति में रख लिये हैं। ऐसे ही और भी अनेक नाम हैं। इसीतरह यह भी संभव होसकता है, कि कभी अत्यन्त प्राचीन काल में सरस्वती प्रदेश के आर्यजन, अफ़ग़ानिस्तान के उन प्रदेशों में जाकर कार्यवश बस गये हों, और उन्होंने ही वहां की उस नदी का नाम, अपने प्रदेश की नदी के नाम पर रखदिया हो, जिसका कालान्तर में भाषा और उच्चारण के प्रभावों से यह रूपान्तर होगया।

ऐसी स्थिति में ए० ए० मैक्डॉनल ने जो 'वैदिक मिथॉलॅजी' [Vedic Mythology] [१८९७ A. D. संस्करण] के पृष्ठ ८७ पर यह संभावना प्रकट की है, कि अवेस्ता-वर्णित, अफ़ग़ानिस्तान की 'हरक़ैती' [Haraqaiti] नदी, भारतीय साहित्य में वर्णित 'सरस्वती' है; वह भी सर्वथा असंगत है।

इसप्रकार सरस्वती के सम्बन्ध का यह विवेचन हमें इस परिणाम पर पहुँचा देता है, कि सरस्वती नदी हिमालय के बिन्दुसर अथवा ब्रह्मसर [पद्मपुराण के अनुसार विष्णुसर] नामक स्थान से निकलकर ब्रह्मावर्त्त कुरुक्षेत्र आदि देशों को सींचती हुई, उस समुद्र में गिर जाती थी, जो कभी राजपूताना प्रदेश की भूमि पर लहराता था। मुख्य सरस्वती नाम इसी नदी का था।

दृषद्वती—

सरस्वती के समान दृषद्वती भी आज अपरिचित सी नदी है। अनेक विद्वानों ने इसके सम्बन्ध में अपने भिन्न २ विचार प्रकट किये हैं। आजकल भारत की उपलभ्यमान नदियों के नामों में दृषद्वती नाम, किसी नदी का नहीं पाया जाता। इसका कारण यही कहा जासकता है, कि या तो वह नदी नष्ट होगई, या उसके किसी दूसरे नाम ने अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर इस नाम को विस्मृत करादिया।

घग्गर, दृषद्वती नहीं—

+ इंग्लैण्ड के अन्तर्गत बर्कशायर [Berkshire] नामक प्रदेश में विन्डसर [Windsor] नाम का स्थान है।

श्री नन्दूलाल दे + महोदय ने घग्गर नदी को दृषद्वती बताया है, जो सिमले की पहाड़ियों से निकलकर अम्बाला और सरहिन्द × होती हुई राजपूताने की मरुभूमि में अन्तर्हित हो जाती है। दे महोदय ने अपने लेख का आधार ऐल्फिन्स्टन और टॉड के उल्लेखों को माना है। परन्तु महाभारत ÷ के वर्णनों के अनुसार दृषद्वती नदी, सरस्वती से दक्षिण पूर्व की ओर होनी चाहिये। वहां सरस्वती से दक्षिण और दृषद्वती से उत्तर की ओर कुरुक्षेत्र में निवास करना अच्छा बताया गया है। यह उल्लेख उसी समय संभव होसकता है, जब सरस्वती से दक्षिण-पूर्व की ओर दृषद्वती की स्थिति मानी जाय। वर्त्तमान घग्गर नदी की स्थिति, उक्त सरस्वती से पश्चिम की ओर है। ऐसी स्थिति में घग्गर को दृषद्वती मानना कठिन होगा। इसके लिये और भी कोई सुपुष्ट प्रमाण नहीं है।

कनिंघम ने थानेसर के वर्णन में, प्रसंगवश जो दृषद्वती का उल्लेख किया है, उससे दृषद्वती की वास्तविक स्थिति पर कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता। परन्तु उसने महाभारत के उल्लेखों को पूर्ण रूप से ध्यान में रक्खा है। इसीलिये कनिंघम के विचार से भी घग्गर नदी, दृषद्वती नहीं होसकती।

मेक्डॉनल और कीथ द्वारा संगृहीत 'वैदिक इन्डेक्स' में बताया गया है, कि दृषद्वती नदी, कुछ दूर तक सरस्वती के बराबर २ बहकर उसमें मिल जाती थी। ऋग्वेद, ❋ ब्राह्मण ग्रन्थ और श्रौत सूत्रों में भी इसका उल्लेख है। मनुस्मृति [२।१७] में लिखा है, कि ये दो नदियां मध्यदेश की पश्चिमी सीमा को बनाती हैं *।

+ दृषद्वती-The Caggar [Ghagar] which flowed through Ambala and Sirhind, now lost in the sands of Rajputana, [Elphinstone and Tod].

[नन्दूलाल दे कृत, भौगोलिक कोष-इंग्लिश]

× दे महोदय का यह लेख ठीक नहीं है, कि घग्गर सरहिन्द के पास बहती है। प्रत्युत सरहिन्द से लगभग ३५ मील दूर पूरब की ओर बहती है। वर्तमान अम्बाला छावनी से भी लगभग दो तीन मील पूरब।

÷ दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥ [वनपर्व, ८३।४. २०४]

पद्मपुराण [आदिखण्ड, २८।८६] में इसप्रकार पाठ है—

दक्षिणेन सरस्वत्या उत्तरेण सरस्वतीम्। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥

परन्तु महाभारत के पाठ से इसका कोई विरोध नहीं है। इसका अभिप्राय केवल इतना ही है, कि सरस्वती के दोनों तटों का प्रदेश [कुरुक्षेत्र] स्वर्ग के समान है।

❋ ऋग्वेद, ३।२३।४॥ पञ्चविंश ब्राह्मण २५।१०।१३॥ ताण्ड्य० ब्राह्मण २५।१०।१६॥ लाट्या० श्रौ० १०।१९।४॥ कात्या० श्रौ० २४।६।६-२६॥

* दृषद्वती,—'stony' is the name of a river which flows into the Saraswati after running for a time parallel to it. It is mentioned in the Rigveda [३।२३।४], along with the Saraswati and the Apaya, as the scene of action of the Bharata princes. In the पञ्चविंश ब्राह्मण [२५।१०।१३] and later [कात्या० श्रौ० सू० २४।६।६,२६॥ लाट्या० श्रौ० सू० १०।१९।४] the दृषद्वती and the सरस्वती are the

'वैदिक इन्डेक्स' के वर्णन से भी यह बात स्पष्ट नहीं होती, कि सरस्वती नदी के किस किनारे की ओर अथवा किस दिशा में दृषद्वती नदी बहती थी। न वहां पर इस नाम से किसी वर्तमान नदी की पहचान बताई गई है ॥

इसके अतिरिक्त मनुस्मृति [२।१७] में ब्रह्मावर्त्त की सीमा बताई गई हैं, मध्यदेश की नहीं। मध्यदेश की सीमा मनुस्मृति के २।२१ श्लोक में है। वहां मध्यदेश की पश्चिमी सीमा विनशन को बताया है। प्राचीन साहित्य के आधार पर यह निश्चय होता है, कि 'विनशन' उस स्थान का नाम था, जहां सरस्वती नदी समुद्र में गिरती थी। हमने इसका अन्यत्र भी उल्लेख किया है। 'विनशन' का अन्य नाम 'अदर्श' अथवा 'अदर्शन भी [महाभाष्य २।४।१०।।६।३।१०६] उपलब्ध होता है। इस प्रकार उत्तर-दक्षिण खड़ी हुई एक ऐसी रेखा मानकर, जो विनशन पर से गुजरती हो, मध्यदेश की पश्चिमी सीमा कही जासकती है।

यह अभी लिखा जाचुका है, कि महाभारत वनपर्व के [८१।४,२०४] श्लोकों के अनुसार सरस्वती से पूर्व-दक्षिण की ओर दृषद्वती होनी चाहिए। इस विचार की पुष्टि, ब्राह्मण ग्रन्थ और श्रौत सूत्रों के वर्णन से भी होती है। वहां प्रसंग है, कि विनशन में दीक्षित होकर, सरस्वती के दक्षिण तट पर ऊपर की ओर चलता हुआ सरस्वती और दृषद्वती के संगम तक आवे +। संगम पर सरस्वती को पार करके दृषद्वतीके दक्षिण तट पर पहुँचे। संगममें नदी पार करने के दोषों से बचने के लिये यहां अपोनप्त्रिय [अपोनपात् देवता के उद्देश्य से] चरु देवे ×।

इस प्रसंग से प्रतीत होता है, कि उक्त सरस्वती नदी के पूर्व-दक्षिण ओर ही दृषद्वती होनी चाहिये। क्योंकि यदि सरस्वती के पश्चिम की ओर ही दृषद्वती हो, तो दृषद्वती के दक्षिण तट पर जाने के लिये सरस्वती को पार करना अनावश्यक होगा, और चरु का विधान निरर्थक। इस कारण से भी घग्गर नदी को दृषद्वती नहीं कहा जासकता। क्योंकि घग्गर, सरस्वती से पश्चिम की ओर बहती है। अब विचारना चाहिये, कि कौन सी वर्त्तमान नदी, दृषद्वती रही होगी, अथवा वह भी सरस्वती की तरह नष्ट होचुकी है।

दृषद्वती, गंगा है—

संभवतः प्रतीत यह होता है, कि एक ही नदी के अनेक नामों में से एक नाम व्यवहार में न रहा और दूसरा अधिक प्रसिद्ध होता गया। इसप्रकार उसी नदीके साथ पहले नाम के सम्बन्ध को धीरे २ सर्वथा भुला दिया गया। दृषद्वती नाम की भी यही दशा हुई। कई कारणों से हमें यह प्रतीत होता है कि वर्त्तमान गंगा का दूसरा नाम दृषद्वती भी था। एक ही नदी के दो नाम होने में कोई

---

scene of special sacrifices. In मनु [२।१७] these two rivers form the western boundary of the Middle Country. [वैदिक इन्डेक्स, by Macdonell and Kaith]

+ दोनों नदियों के संगम का उल्लेख, लाट्या०श्रौ० १०।१८।४॥ में है।

× ताण्ड्य० महाब्रा० २५।१०।१२—२३॥ कात्या०श्रौ०२४।६।६॥

असामञ्जस्य नहीं है। ऋग्वेद में उल्लिखित, आर्जीकीया और 'विपाट्' दोनों नाम, विद्वानों ने वर्त्तमान व्यास नदी के माने हैं। 'आर्जीकीया' नाम आज बिलकुल भूल गया, तथा विपाट् [विपाश] का विकृत रूप व्यास आज चल रहा है। परन्तु जिस अत्यन्त प्राचीन काल में *गंगा का दृषद्वती नाम था, उससमय वर्त्तमान गंगा का स्रोत सर्वथा ऐसा ही न था,* जैसा आज है। तब अवश्य यमुना के आगे, गंगा [दृषद्वती], सरस्वती की सहायक नदी रही होगी। आज जहां से +गंगा और यमुना का झुकाव, हमें दक्षिण—पूर्व की ओर झुकता हुआ प्रतीत होता है, वह उस पुरातन काल में सर्वथा विपरीत रहा होगा, तथा दृषद्वती [गंगा] पश्चिम की ओर बहती हुई, वर्त्तमान करनाल ज़िले के आसपास कहीं सरस्वती नदी में मिल जाती होगी। और यमुना इससे पहले ही।

श्रीयुत अविनाशचन्द्रदास ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में इस बातका निर्देश किया है, कि उस कालमें पंजाबकी शतद्रु [सतलुज] आदि पांच नदियां, सरस्वतीमें मिलती थीं ×। परन्तु यह अधिक संभव है, कि सरस्वतीमें मिलनेवाली वे पांच नदियां, पंजाबकी प्रसिद्ध वर्त्तमान पांच नदियां ही न हों, प्रत्युत सरस्वती के दोनों ओर से आने वाली कोई पांच नदियां हों। क्योंकि किसी नदीमें भी, एक ही ओरसे उसकी सहायक नदियां मिलती रहें, ऐसा नहीं होता। न ऐसा कोई उदाहरण मिल सकता है। इसलिये यह कहना ही ठीक होगा, कि कुछ नदियां पूर्वकी ओरसे और कुछ पश्चिमकी ओरसे, अर्थात् कुछ बायें तटकी ओरसे और कुछ दायें तटकी ओरसे सरस्वतीमें मिलती थीं, और उनकी संख्या पांच थी। पूर्वी तटकी ओरसे मिलने वाली नदियोंमें दृषद्वती [गंगा] और यमुना का नाम लिया जासकता है ÷। तथा पश्चिमी अथवा दाएं तटकी ओरसे घग्गर, सतलुज और व्यास का। जिस उग्र भौगोलिक घटनाने सरस्वतीके स्रोतोंको आदिसे अन्त तक उथल दिया, उसीने इन नदियोंके स्रोतोंको भी परिवर्त्तित कर दिया। सरस्वतीके साथ २ दृषद्वती का नाम तो अवश्य याद रह गया, परन्तु उसकी स्थितिमें भारी परिवर्त्तन होजानेसे उसकी वास्तविकता स्मृतिक्षेत्रसे उठ गई। फिर भी भारतीय परम्परामें बहुत काल तक उसे याद रक्खा गया। इसीकारण जहां तहां कुछ लेख ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिनसे इस विषयपर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है।

दृषद्वती, गंगा का नाम होने में प्रमाण—

+ सहारनपुर और मुज़फ्फ़रनगर ज़िलों के सीमाभागों के आसपास।

× यजुर्वेद ३४।११ के आधार पर। इसकी तुलना करें—पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड, १८।१२६॥ तथा स्कन्दपुराण, प्रभास खण्ड, [प्रभासक्षेत्र माहात्म्य], अ०३४।श्लो०१७॥

÷ पहिले यमुना फिर दृषद्वती, सरस्वती में मिलती थी। पश्चिम तटकी ओर से मिलने वाली नदियोंमें घग्गर सीधी सरस्वती में, तथा व्यास सतलुजमें मिलकर सतलुज, सरस्वतीमें मिलती होगी। अथवा ये भी दोनों स्वतन्त्र रूप से ही सरस्वती में मिलती हों।

(१)—महाभारत में वर्णन + आता है, कि युद्ध समाप्त होजानेपर युधिष्ठिर, बन्धु-बान्धवों और इष्ट मित्रों के नष्ट होजानेसे खिन्न हो, राज्य-पालन के स्थान पर संन्यास लेनेको तयार होगया। पर अन्तमें अपने भाइयों तथा कृष्ण आदिके समझानेपर हस्तिनापुर जा, उसने अपना राज्य संभाल लिया। तब प्रजाकी अनुमतिसे राज्याभिषिक्त हो, कृष्णकी प्रेरणा होनेपर युधिष्ठिर, शरशायी भीष्मके पास राजनीतिका उपदेश लेनेके लिये, अपने भाइयों तथा कृष्ण आदिके साथ कुरुक्षेत्र जाता है। ये सब व्यक्ति उसी दिन सायंकालको हस्तिनापुर वापस आजाते हैं। अगले दिन प्रातःकाल पुनः भीष्मके पास उपदेश लेनेके लिये जाते हैं। उसी दिन सायंकालको पुनः वापसी पर सब व्यक्तियोंका दृषद्वतीमें स्नान करने और वहीं सन्ध्योपासना आदिके अनन्तर हस्तिनापुरमें प्रवेश करने का उल्लेख है ×।

इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है, कि वर्णन के अनुसार, भीष्म के समीप से चल देने के अनन्तर, हस्तिनापुर के समीप आकर वे सब लोग दृषद्वती में स्नान आदि करते हैं। यात्रा की थकावट को दूर करने के लिये, निवास के समीप आकर स्नान करना उचित ही प्रतीत होता है। इससे यह धारणा दृढ़ होती है, कि हस्तिनापुरके समीप ही कहीं दृषद्वती नदी होनी चाहिए। वर्त्तमान मेरठ ज़िले के अन्तर्गत मवाना तहसील में हस्तिनापुर नामक स्थान को ही, कौरवों की तत्कालीन राजधानी मानने पर यह निश्चय होता है, कि गंगा का ही दूसरा नाम दृषद्वती था, क्योंकि उक्त हस्तिनापुर इसी नदी के दाहिने तट पर बसा है।

महाभारत काल में, वर्त्तमान कुरुक्षेत्र उपनगर [कस्बा] और उसके आस पास का प्रदेश ही प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र न था, प्रत्युत यह एक पर्याप्त विस्तृत प्रान्त था। इसकी सीमायें पश्चिम में सतलुज, पूर्व में गंगा तक फैली हुई थीं ÷। महाभारत का युद्ध, ठीक किस भूमि पर और कितनी भूमि पर हुआ था, यह अभी निश्चित नहीं कहा जासकता। फिर भी युधिष्ठिर आदि का प्रतिदिन प्रातःकाल भीष्म के समीप उपदेश के लिये जाना, और सायंकाल वापस हस्तिनापुर आजाना, इस बात को प्रकट करता है, कि भीष्म को शर-विद्ध होने के अनन्तर कहीं हस्तिनापुर के समीप, अथवा अधिक से अधिक बीस पच्चीस मील के अन्तर पर गंगा तट के आस पास ही रक्खा गया

+ महाभारत, शान्ति०, अध्याय १-५८ तक।

× श्व इदानीं स्वसन्देहं प्रवक्ष्यामि पितामह। उपैति सविता ह्यस्तं रसमापीय पार्थिवम्॥
ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः।
प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं ततो रथानारुरुहुर्मुदान्विताः॥
दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रताः कृतोदकार्थाः कृतजप्यमंगलाः।
उपास्य संध्यां विधिवत्परंतपास्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम्॥ [म० भा०, शान्ति०, ५७।२८-३०]

÷ कुरुक्षेत्र प्रदेश की सीमाओं का विवेचन अभी अगले पृष्ठों में किया जायगा।

…गा। यद्यपि यह स्थान भी कुरुक्षेत्र प्रान्त के अन्तर्गत ही था। वर्तमान कुरुक्षेत्र उपनगर और हस्तिनापुर का अन्तर लगभग एक सौ मील है। तथा निश्चित रथ मार्गों से जाने आने पर और भी अधिक पड़ेगा। इतनी दूरी, घोड़ों के रथों की सवारी पर प्रतिदिन जाने आने के लिये अत्यधिक है। फिर उपदेश के लिये भी कुछ समय होना चाहिये।

(२)-भीष्म की मृत्यु होजाने पर उसके निवास के समीप ही चिता बनाये जाने का महाभारत में उल्लेख है। वहीं पर भीष्म का दाहसंस्कार किया गया। दाह के अनन्तर गंगा में जाकर ही स्नानादि करने का उल्लेख किया गया है+। इससे भी प्रतीत होता है, कि जहां भीष्म शर-शय्या पर लेटे थे, वह स्थान अवश्य ही गंगा के अति समीप था। महाभारत के इस प्रसंग में दृषद्वती नाम का उल्लेख नहीं है।

(३)—महाभारत में एक स्थल× पर कौशिकी [इस नाम की एक नदी] और दृषद्वती के संगम का उल्लेख है। आधुनिक ऐतिहासिक विद्वानों ने विहार प्रान्त की वर्तमान कुशी या कोसी नामक नदी को ही 'कौशिकी' नाम से पहचाना है। यदि यह बात ठीक है, कि विहार की कुशी नदी ही, महाभारत में वर्णित 'कौशिकी' नदी है, तब दृषद्वती के साथ इसके संगम का उल्लेख, यह सिद्ध करता है, कि गंगा का ही दूसरा नाम दृषद्वती था। क्योंकि भागलपुर से कुछ आगे गंगा में ही आकर कौशिकी नदी मिलती है।

(४)—ताण्ड्य महाब्राह्मण÷ और कात्यायन श्रौतसूत्र में सारस्वत तथा दार्षद्वत नामक सत्रों का उल्लेख है। इन प्रसंगों से प्रकृत-सम्बन्धी जो भाव स्पष्ट होता है, वह इसप्रकार है—

सत्रयाजी व्यक्ति विनशन❀ में दीक्षित होकर सरस्वती के दक्षिण तट पर उसके उद्गम की ओर चले। सरस्वती—दृषद्वती का संगम आने पर, संगम से ऊपर की ओर सरस्वती को पार करके दृषद्वती के दक्षिण तट पर पहुँचे। पार करने के पूर्व ही संतरण के दोषों से बचने के लिये अपोनप्त्रिय [अपोनपात् देवता के उद्देश्य से] चरु देवे। और पार होकर वहीं से अष्टाकपाल पुरोडाश के द्वारा आग्नेय इष्टि का प्रारम्भ करे। पुनः दृषद्वती के दक्षिण तट पर उद्गम की ओर चलता हुआ उसके उद्गम स्थान पर पहुँचे। वहां से नदी पार किये विना ही यमुना के उद्गम ='त्रिप्लक्ष अवहरण' नामक स्थान में पहुँचे, वहां 'अवभृथ' का अनुष्ठान करे। वहां से सरस्वती के उद्गमस्थान='प्लक्ष प्रास्रवण' में जाकर अष्टाकपाल पुरोडाश से आग्नेय इष्टि को सम्पन्न करे। वहां से सरस्वती के दक्षिण तट पर, धारा के साथ २ नीचे की ओर दृषद्वती के संगम पर पहुँच कर सत्र को सम्पूर्ण करे।

इस वर्णन में याज्ञिय अंश को छोड़कर, विद्वानों का ध्यान हम केवल इस ओर आकृष्ट

+ म० भा०, अनुशा० २७४।४-१७॥

× कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्याश्च भारत। स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ [वनपर्व, ८१।९५-९६]

÷ ताण्ड्य महाब्राह्मण २५।१०।१२-२३ ॥ कात्या०श्रौ०२४।६।३०-३६ ॥ लाट्या० श्रौ० १०।१९।४ ॥

❀ 'विनशन' उस स्थान का नाम था, जहां सरस्वती नदी समुद्र में गिरती थी। वह एक तत्कालीन तीर्थ-स्थान माना जाता रहा होगा।

करना चाहते हैं, कि सरस्वती—दृषद्वती के संगम के ऊपर, सरस्वती के दक्षिण तट से बाएं तट की ओर पार होकर दृषद्वती के दक्षिण तट पर पहुँचना, इस बात को सिद्ध करता है, कि सरस्वती से पूर्व-दक्षिण की ओर ही दृषद्वती थी + । इसके अतिरिक्त, आगे दृषद्वती के दक्षिण तट पर ऊपर की ओर जाते हुए उद्गम स्थान पर पहुँचकर, वहां से नदी को बिना पार किये ही यमुना के उद्गम स्थान पर पहुँचना इस बात को सिद्ध करता है, कि इन ग्रन्थकारों के ज्ञान में प्राचीन परम्परा के आधार पर यह निश्चय था, कि दृषद्वती के उद्गम से पश्चिम की ओर यमुना का उद्गम स्थान है। ऐसी स्थिति में यमुना से पूर्व ओर की दृषद्वती नदी, गंगा संभव हो सकती है। इस आधार पर भी गंगा का ही दूसरा नाम दृषद्वती प्रतीत होता है ।

(५) स्कन्दपुराण मे तो स्पष्ट ही सरस्वती और गंगा के संगम का उल्लेख पाया जाता है। जो किन्हीं अति प्राचीन परम्पराओं के आधार पर वर्णन कियागया प्रतीत होता है। पुराण के उस प्रसंग से इनके संगम-स्थान का भी अनुमान किया जा सकता है। वह स्थान अम्बाला मण्डल के अन्तर्गत कैथल मण्डी के समीप 'पूंडरी' नामक बस्ती के आसपास कहीं होना चाहिये। स्कन्दपुराण × के इस वर्णन से भी हमारे विचार की अत्यधिक पुष्टि होती है।

ब्रह्मावर्त्त की सीमा—

इन नदियों के स्रोतों को इसप्रकार माने जाने पर अब हम, ब्रह्मावर्त्त प्रदेश की सीमाओं का कुछ अधिक निश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। मनुस्मृति के आधार पर सरस्वती और दृषद्वती के बीच का प्रदेश ब्रह्मावर्त्त, तथा 'ब्रह्मावर्त्त' के अनन्तर अर्थात् नीचे की ओर का प्रदेश 'ब्रह्मर्षि देश' ÷ था। ब्रह्मर्षि देश में चार प्रान्त थे-कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल और शूरसेन। इस रीति पर, वर्त्तमान भौगोलिक विभागों के अनुसार-नाहन राज्य का अधिक भाग, देहरादून का जिला, टिहरी राज्य, सहारनपुर जिले का तथा अम्बाला जिले की जगाधरी तहसील का ऊपरी भाग 'ब्रह्मावर्त्त' देश में आता है।

कुरुक्षेत्र—इसके नीचे 'ब्रह्मर्षिदेश' के कुरुक्षेत्र प्रान्त में अम्बाला जिले का अधिक भाग, करनाल, रोहतक जिले, देहली गुड़गांव जिलों का उत्तरी भाग, मेरठ, मुजफ्फरनगर जिले और सहारनपुर जिले का दक्षिणी भाग तथा पटियाला, नाभा, झींद राज्यों का पर्याप्त भाग आ जाता है।

मत्स्य—कुरुक्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम में मत्स्य प्रान्त था। जिसमें वर्त्तमान राजपूताने का उत्तर-पश्चिमी भाग, तथा जयपुर ग्वालियर राज्योंका और फ़िरोजपुर ज़िलेका अधिक भाग समाविष्ट है।

+ ऐसी स्थिति में नन्दूलाल दे आदि महोदयों का घग्गर को दृषद्वती बताना संगत नहीं कहा जासकता। इसका पहिले भी निर्देश किया जाचुका है।

× स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड, [प्रभासक्षेत्र माहात्म्य], ३२।४७ ॥ इस विषय पर यह सम्पूर्ण अध्याय ही पर्याप्त प्रकाश डालता है।

÷ सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् । तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥
कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः । एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ [मनु० २।१७,१६]

शूरसेन—मत्स्य से पूर्व की ओर तथा कुरुक्षेत्र से दक्षिण में शूरसेन प्रान्त था। जिसमें वर्त्तमान देहली तथा गुड़गांव ज़िलों का दक्षिण भाग, भरतपुर, धौलपुर, करौली आदि राज्यों का पूर्वी भाग,मथुरा, बुलन्दशहर, अलीगढ़, एटा, इटावा, मैनपुरी, आगरा आदि ज़िले समाविष्ट हैं।

पंचाल—ब्रह्मावर्त्त, कुरुक्षेत्र तथा शूरसेन से पूर्व की ओर पंचाल प्रान्त था। जिसके दो भाग थे- उत्तर पंचाल, और दक्षिण पंचाल। जिनमें वर्त्तमान कमायूं डिवीजन का कुछ दक्षिणी भाग, रुहेलखण्ड के सम्पूर्ण ज़िले, और रुहेलखण्ड से पूर्व तथा दक्षिण की ओर का कुछ भाग सम्मिलित था।

कनिंघम ने 'एन्शन्ट ज्याग्रफी ऑफ इन्डिया' नामक पुस्तक के ३३८ पृष्ठ पर [१६२४ ईसवी संस्करण] थानेसर के वर्णन में, महाभारत वनपर्व [८१।२०७] के एक श्लोक को उद्धृत कर, जो यह प्रकट किया है, कि 'ब्रह्मावर्त्त' कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत था, वह इससे असङ्गत होजाता है। कुरुक्षेत्र, ब्रह्मर्षि देश के अन्तर्गत एक प्रान्त था, और ब्रह्मावर्त्त, सर्वथा उससे पृथक् एक प्रदेश का नाम था। संभवतः उद्धृत श्लोक के अन्तिम चरण + का अर्थ समझने में भ्रान्ति होजाने के कारण कनिंघम महोदय ने ऐसा लिख दिया हो।

ब्रह्मावर्त्त की सीमा पर, कर्दम का [सरस्वती तटवर्त्ती] आश्रम—

इसप्रकार ब्रह्मावर्त्त देश की सीमाओं का अधिक निश्चित ज्ञान होजाने पर हमारा वह विचार और भी स्पष्ट तथा पुष्ट होजाता है, कि कपिल का उत्पत्ति स्थान, वर्त्तमान सिरमौर राज्य के अन्तर्गत 'रेणुका' नामक झील के ऊपर की ओर आस पास ही था। यहीं पर कर्दम ऋषि का आश्रम था, जो सरस्वती नदी के दक्षिण तटपर तथा ब्रह्मावर्त्त की पश्चिमी सीमा में अवस्थित था। इसलिये ब्रह्मावर्त्त देश के तत्कालीन राजा स्वायम्भुव मनु का, अपनी कन्या देवहूति का कर्दम के साथ विवाह करने के लिये वहां उपस्थित होना, सर्वथा सामञ्जस्य-पूर्ण है।

+ तदरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं रामहृदानां च मचक्रुकस्य च। एतत्कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते॥

यह सीमा कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत 'समन्तपञ्चक' नामक तीर्थ की है। जिसको पितामह की 'उत्तरवेदि' कहा गया है। यदि कुरुक्षेत्र को ही पितामह [ब्रह्मा] की उत्तरवेदि मान लिया जाय, तो भी कुरुक्षेत्र को अथवा उसके किसी भाग को 'ब्रह्मावर्त्त' नहीं कहा जासकता। वस्तुतः कुरुक्षेत्र को पितामह की उत्तरवेदि कहने से यह स्पष्ट होजाता है, कि उसकी पूर्ववेदि ब्रह्मावर्त्त है। इसप्रकार पूर्वोक्त मनु के श्लोकों का ही आशय इस कथन में ध्वनित होता है, कि पूर्ववेदि-ब्रह्मावर्त्त के अनन्तर, ब्रह्मर्षि देश का अन्यतम प्रथम प्रान्त कुरुक्षेत्र, अथवा तदन्तर्गत 'समन्तपञ्चक' पितामह की उत्तरवेदि है। टी० आर० व्यासाचार्य कृष्णाचार्य ने महाभारत की विशेष शब्द सूची में 'कुरुक्षेत्र' पद पर लिखा है, कि स्वायम्भुव मनु के समय इस [कुरुक्षेत्र] का ही नाम 'ब्रह्मावर्त्त' था। यह कथन भी, मनुस्मृति के साथ विरोध होने के कारण अमान्य है। क्योंकि मनु में इन दोनों की सीमाओं को एक समय में ही पृथक् २ बताया गया है। और महाभारत के किसी लेख से इसका विरोध नहीं होता।

उपसंहार—

इस प्रकरण में गंगा [दृषद्वती] और यमुना के जो वर्णन किये गये हैं, उनके सम्बन्ध में यह कभी विस्मृत न करना चाहिये, कि सरस्वती की सहायक नदियों के रूप में गंगा [दृषद्वती] तथा यमुना का वर्णन उस समय का है, जब सरस्वती नदी अपनी नैसर्गिक धारा में अनवरत प्रवाहित होती थी। अनन्तर उग्र भौगोलिक परिवर्त्तनों के कारण सरस्वती का स्रोत नष्ट होगया, और गंगा यमुना के स्रोत भी महान परिवर्तनों से न बच सके। रामायण महाभारत आदि में गंगा यमुना सम्बन्धी साधारण उल्लेख, अपर काल के ही हैं। परन्तु कहीं २ अति प्राचीन काल की परिस्थिति का भी लेखबद्ध या मौखिक परम्परा-ज्ञान के आधार पर उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार वैदिक साहित्य में भी अति प्राचीन काल की परिस्थितियों का आभास मिलता है। हमने दोनों ही स्थितियों का अतिसंक्षेप में उल्लेख कर दिया है। इनमें पारस्परिक असामञ्जस्य की उद्भावना करना व्यर्थ होगा।

कपिल के उत्पत्ति स्थान का निर्णय होने के साथ २ इस बात को भी भुलाना न होगा, कि कपिल की विद्यमानता उसी प्राचीन काल में मानी जानी चाहिये, जब कि सरस्वती की अविरल जलधारा भूतल पर प्रवाहित हो रही थी।

द्वितीय प्रकरण

कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र

प्रथम प्रकरण में इस बात का निर्णय किया जा चुका है, कि देवहूति-कर्दम के पुत्र परमर्षि कपिल ने अत्यन्त प्राचीन काल में सर्वप्रथम सांख्यशास्त्र का, अपने शिष्य आसुरि के लिये प्रवचन किया। अब इस द्वितीय प्रकरण में हम यह निर्णय करने का यत्न करेंगे, कि कपिल ने आसुरि के लिये क्या केवल मौखिक ही सांख्यशास्त्र का उपदेश किया था ? या किसी ग्रन्थ की भी रचना की ? यदि किसी ग्रन्थ की रचना की, तो वह कौनसा ग्रन्थ था ?

उपलब्ध प्राचीन सांख्यग्रन्थ—

आधुनिक योरुपीय और अनेक भारतीय विद्वानों का यह मत है, कि उपलभ्यमान सांख्यग्रन्थों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ, ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिका ही है [1]। कई विद्वान 'तत्त्वसमास' नामक बाईस सूत्रों के संग्रह को इन कारिकाओं से प्राचीन मानते हैं। इनके अतिरिक्त, पातञ्जल योगदर्शन के व्यासभाष्य तथा सांख्य-योग सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में कुछ वाक्य उद्धृत मिलते हैं, जिनको वाचस्पति मिश्र आदि आचार्यों ने पञ्चशिख की रचना बताया है। पञ्चशिख, कपिल का प्रशिष्य और आसुरि का प्रधान शिष्य था। यदि वाचस्पति के लेख को ठीक मान लिया जाय, जिसके स्वीकार किये जाने में कोई बाधा नहीं दीखती; तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि व्यासभाष्य आदि में उद्धृत सूत्रभूत वाक्य, ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिकाओं से अत्यन्त प्राचीन हैं। इसप्रकार ये तीन सांख्य के प्राचीन ग्रन्थ कहे जासकते हैं—

१—तत्त्वसमास [२२ सूत्र]
२—पञ्चशिख सूत्र
३—सांख्यकारिका [ईश्वरकृष्ण रचित]

अनेक आधुनिक विद्वानों का यह भी विचार है, कि यद्यपि कपिल सांख्यशास्त्र का आदि प्रवर्त्तक माना जासकता है, परन्तु उसने इस विषय पर किसी ग्रन्थ का निर्माण नहीं किया [2]। यदि कोई ग्रन्थ बनाया भी था, तो वह आज संसार में अज्ञात है। कुछ विद्वान् ऐसे अवश्य हैं, जो तत्त्वसमास को कपिल की रचना मानते हैं [3]।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त सांख्य का एक और ग्रन्थ भी उपलब्ध होता है, जिसका नाम 'सांख्यप्रवचनसूत्र' अथवा 'सांख्यषडध्यायी' है। अनेक आधुनिक विद्वानोंका विचार है, कि इस ग्रन्थ

१—A. B. कीथ रचित 'दि हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर' सन् १९२८ का संस्करण, पृष्ठ ४८८ ॥

२—पिछले अध्याय में हमने कुछ विद्वानों के विचार प्रकट किये हैं, जो कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते, उसके द्वारा ग्रन्थ रचना का विचार तो बहुत दूर की बात है।

३—माठरवृत्ति-भूमिका, पृष्ठ २। चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस से प्रकाशित।

के वास्तविक लेखक का अभी तक कुछ पता नहीं है। परन्तु यह एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि ऐसे विशेष ग्रन्थ के, जो छः वैदिक दर्शनशास्त्रों में से एक मुख्य दर्शन समझा जाता है, लेखक का आजतक पता नहीं लगसका। यह और भी आश्चर्यजनक है, कि पाश्चात्य और आधुनिक अनेक भारतीय विद्वान् यह विश्वास करते हैं, कि इस साख्यषडध्यायी ग्रन्थ की रचना, सायण के समय से भी पीछे हुई है। परन्तु जब सायण के बहुत समय पहिले से ही संस्कृत ग्रन्थों के निर्माता अपने ग्रन्थों में अपने नाम ग्राम तथा वंश आदि तक का उल्लेख करते आये हैं। और सायण के आस पास तो यह एक परम्परा सी पाई जाती है कि प्रायः कोई भी विद्वान् ग्रन्थकार अपना तथा अपने मातृ-पितृ वंश का, स्थान एवं समय आदि का उल्लेख करना भी नहीं भूला, फिर नाम का तो कहना ही क्या ? तब क्या कारण है, कि ऐसे समय में भी इन सूत्रों के रचयिता ने अपना कहीं उल्लेख नहीं किया ?

वस्तुतः इसका मूलभूत कारण यही है, कि इन सूत्रों की रचना सायण के अनन्तर हुई ही नहीं, न सायण के समीप पूर्व में हुई। इसके लिये प्रमाणों का निर्देश तो आगे होगा, परन्तु यहां इस बातकी भी उपेक्षा नहीं की जासकती, कि भारतीय विद्वज्जन श्रुति में बहुत पुराने समय से यह परम्परागत धारणा चली आती है, कि ये 'सांख्यसूत्र' कपिल की रचना है। फिर भी गम्भीरता पूर्वक इसका विवेचन करने के लिये आधुनिक विद्वानों ने इस ओर अपना ध्यान आकृष्ट करने का यत्न नहीं किया।

षडध्यायी की अर्वाचीनता के तीन आधार—

जिन आधारों पर यह कहा जाता है, कि सांख्यषडध्यायी सूत्र, चौदहवीं सदी के अनन्तर बनाये गये हैं, वे निम्न लिखित हैं—

(१)—सूत्रों की रचना, ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिकाओं के आधार पर हुई प्रतीत होत है। कई सूत्र इनमें कारिका रूप हैं। सूत्रों की स्वतन्त्र रचना पद्यात्मक होना, असंगत सा प्रतीत होता है। इसलिये संभव है, किसी अज्ञात व्यक्ति ने, सायण के समय के अनन्तर सांख्यकारिकाओं के आधार पर ही इन सूत्रों की रचना की होगी।

(२)—शंकराचार्य, वाचस्पति, सायण और अन्य दार्शनिक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इन सूत्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया, और न इन सूत्रों के उद्धरण ही, उनके ग्रन्थों में कहीं पाये जाते हैं।

(३)—इन षडध्यायीसूत्रों में न्याय और वैशेषिक आदि का नाम आता है। इसके अतिरिक्त कई स्थलों पर जैन तथा बौद्ध मतों का एवं उनके अनेक पारिभाषिक पदों का उल्लेख और उनका खण्डन है।

इसप्रकार इन सूत्रों में न्याय और वैशेषिक का नाम, बौद्ध तथा जैन मतों का प्रत्याख्यान, एवं उनके पारिभाषिक पदों का उल्लेख व खण्डन होने; तथा भारतीय दार्शनिक साहित्य में बहुत समय तक इन सूत्रों का उद्धरण, आदि न होने; और इसके विपरीत उस समय कारिकाओं

का उद्धरण, शंकर आदि के दार्शनिक ग्रन्थों में होने से, एवं सूत्रों की रचना कारिकानुसार होने से हमारा मस्तिष्क इस बात पर विश्वास करने के लिये, अवश्य एक बार आकृष्ट होजाता है कि इन सूत्रों की रचना कपिल के द्वारा नहीं होसकती, जिसको आदिविद्वान् कहा जाता है। परन्तु इस विषय पर जब हम कुछ गम्भीरता से विचार करते हैं, तब हमारे सन्मुख यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप में विकसित हो आता है, कि इन सूत्रों का रचयिता कपिल के अतिरिक्त और कोई नहीं होसकता। प्रसंगतः उपर्युक्त तीन आक्षेप आधारों में से प्रथम आधार का हम इन दो प्रकरणों में विवेचन करेंगे।

दर्शनकार कपिल—

(१)—भारतीय प्रवाद-परम्पराके अनुसार परमर्षि कपिल, सांख्यदर्शनके प्रणेता रूपमें स्मरण किया जाता है। प्रथम प्रकरणमें हमने रामायण, महाभारत, भागवत आदि ग्रन्थोंसे ऐसे प्रसंगोंको उद्धृत किया है, जिनके आधार पर उक्त भारतीय प्रवाद-परम्परा की पुष्टि होती है। यह केवल आर्य साहित्य में ही नहीं, प्रत्युत जैन बौद्ध साहित्योंमें भी उक्त मन्तव्यको इसी रूप में स्वीकार किया जाता रहा है।

(२)—प्रसिद्ध जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर [१] ने अपने ग्रन्थ 'सन्मति तर्क' में एक स्थल पर इसप्रकार लिखा है—

'जं काविलं दरिसणं एसम् दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं।' [काण्ड ३, गाथा ४८]

इस गाथाका संस्कृत रूपान्तर है—'यत् कापिलं दर्शनमेतद् द्रव्यास्तिकनयस्य वक्तव्यम्।' अर्थात् कपिल प्रणीत दर्शन का विषय द्रव्यास्तिकनय कहना चाहिये। 'सन्मति तर्क' के प्रसिद्ध व्याख्याकार जैनाचार्य अभयदेव सूरि ने इन पदों की व्याख्या करते हुए लिखा है—'यत् कापिलम् दर्शनम् सांख्यमतम्।' ग्रन्थकार प्रसंगानुसार अनुकूल या प्रतिकूल जिस किसी अर्थका प्रतिपादन करे, परन्तु इस लेखके इतने अभिप्राय में किसीका विरोध नहीं हो सकता, कि सांख्य नामसे प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धान्त कपिल प्रणीत ही हैं। भारतीय दर्शन-जगत में, दार्शनिक कपिलका सर्व प्रथमस्थान है। वर्तमान संसारके दार्शनिक इतिहासमें दर्शनशास्त्रका सर्वप्रथम ग्रन्थ; परमर्षि कपिलका ही ग्रन्थ है।

कपिलरचित ग्रन्थ-'षष्टितन्त्र' जैन साहित्यके आधार पर—

कपिल ने जिस ग्रन्थकी रचना की थी, उसका नाम 'षष्टितन्त्र' था। इस विचारकी पुष्टिके लिये हम कुछ प्रमाणोंका उल्लेख करते हैं—

(१)—'कल्पसूत्र' [२] नामक जैन ग्रन्थके प्रथम प्रकरणमें महावीर स्वामीके जीवनका उल्लेख है। वहां कुछ ग्रन्थोंके नाम दिये गये हैं, जिनका विशेषज्ञ महावीर स्वामीको बताया गया है। ग्रन्थकार एक वाक्य लिखता है—

१—सिद्धसेन दिवाकर का समय, सर्वदर्शन संग्रहके अभ्यंकर-संस्करण [पूना से प्रकाशित] को परिशिष्ट सूचीमें ४५० ईसवी सन् दिया गया है।

२—सम्पादक और इंग्लिश अनुवादक, रेवरैण्ड जे० स्टेनीसनका संस्करण।

'सट्ठितन्तविसारए' (षष्टितन्त्रविशारदः)

इस वाक्यकी व्याख्या करते हुए यशोविजय लिखता है--'षष्टितन्त्रं कापिलशास्त्रम्, तत्र विशारदः पण्डितः' अर्थात् कपिलके निर्माण किये हुए शास्त्रका नाम षष्टितन्त्र है, उसमें विशारद अर्थात् पण्डित। यह उल्लेख महावीरस्वामीके सम्बन्धमें किया गया है। इससे प्रतीत होता है, महावीर स्वामी ने कपिल रचित षष्टितन्त्रका अध्ययन कर, उसमें विशेष योग्यता प्राप्त की थी। व्याख्याकारके विचारानुसार, जो मूलवाक्यके भावार्थको अच्छीतरह समझ रहा है, यह स्पष्ट होजाता है, कि कपिलका बनाया हुआ 'षष्टितन्त्र' नामक शास्त्र, महावीर स्वामीके समयमें विद्यमान था।

(२)—जैन ग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र' में एक सन्दर्भ इसप्रकार उपलब्ध होता है—

'जं इमं अण्णाणि एहिं मिच्छदिट्ठीहिं सच्छन्दबुद्धिमइ विगप्पियं तं जहा भारहं रामायणं भीमसुरुक्कं कोडिल्लयं घोडयमुहं कणगसत्तरी वेसियं वइसेसियं बुद्धसासणं काविलं लोगायतं सट्ठियन्तं माठरपुराणवागरणनाडगाइ।' [अनुयोगद्वारसूत्र, ४१]

इस सूत्रमें कुछ ग्रन्थों के नामोंका उल्लेख है। यहां बताया है, कि ये ग्रन्थ अज्ञानी, झूठे विचारवाले तथा उच्छृंखल बुद्धि लोगोंने बनाये हैं। जैनमत के अनुकूल न होनेके कारण इन ग्रन्थों या इनके रचयिताओंकी निन्दा कीगई है। इस सूत्रके उद्धृत करनेका हमारा इतना ही प्रयोजन है, कि सूत्रमें 'काविलं सट्ठियन्तम्' का उल्लेख किया गया है। इन पदोंका संस्कृत रूप है 'कापिलं षष्टितन्त्रम्'। अर्थ है--कपिलके द्वारा रचा हुआ 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ। ग्रन्थोंकी सूची में 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थका उल्लेख किया जाना संगत ही है।

सूत्रके पाठके सम्बन्धमें एक बात विचारणीय है। यहां 'काविलं' और 'सट्ठियन्तं' पदों के बीचमें 'लोगायतं' पद रखा हुआ है। इससे भ्रम हो जानेकी संभावना होसकती है। संभव है 'काविलं' यह एक पृथक् ग्रन्थ हो, और 'सट्ठियन्तम्' पृथक्। परन्तु जब हम सूत्रके सब शब्दोंपर गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं, तो मालूम होता है कि सूत्रकारने इन ग्रन्थोंका नाम निर्देश करते हुए उनके किसी विशेष क्रम की ओर ध्यान नहीं दिया। ध्यान न देनेके दोनों ही कारण हो सकते हैं; या तो सूत्रकारको इन ग्रन्थोंके सम्बन्धमें पूरा ज्ञान न हो, अथवा ग्रन्थों का ठीक ज्ञान होने पर भी उनके किसी विशेष क्रमके अनुरोधको जानबूझकर अनावश्यक समझा हो। कुछ भी हो, परन्तु यहां—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् [१]॥

---

१ यह पद्य प्राचीन अनेक ग्रन्थों में प्रसंगवश उद्धृत पाया जाता है। देखें, न्याय वात्स्यायन भाष्य १।२।६॥ सांख्यकारिका व्याख्या [युक्तिदीपिका, कारिका १, पृष्ठ १२ में पाठ भेद से 'यस्य येनाभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः। अर्थतस्त्वसमानानामानन्तर्येऽप्यसंभवः' उद्धृत है। पद्य का अर्थ है—जिस पद का जिस पद के साथ अर्थकृत सम्बन्ध है, वह दूरस्थित हुआ भी उससे सम्बद्ध ही है। जिन पदों में परस्पर अर्थकृत सामर्थ्य नहीं है, उनका समीप पाठ भी उनके संबंध का कारण नहीं होसकता।

इस न्याय के अनुसार 'काविलं' पद का 'सट्ठियंतं' पद के साथ अर्थकृत सम्बन्ध स्पष्ट है। किसी पद का व्यवधान उनके पारस्परिक सम्बन्ध में बाधक नहीं। हमारा विचार है, कि 'लोगायतं' पद 'बुद्धसासणं' पद के ठीक अनन्तर रक्खा जाना चाहिये था। इससे यह स्पष्ट होजाता है, कि वैशेषिक, बुद्धशासन, लोकायत और कापिल षष्टितन्त्र आदि पृथक् २ ग्रन्थ या शास्त्र हैं।

यह भी विचारणीय है, कि नामों की इस सूची में 'काविलं' यह एक ही पद विशेषण रूप है, यह अपने विशेष्य पद की आकांक्षा करता है, जिसकी विशेषता को बतावे। और वह विशेष्य पद यहां 'सट्ठियंतं' ही है। अन्यथा केवल 'काविलं' पद से किसी विशेष अर्थ का बोध नहीं होसकता। इससे इन दोनों पदों का सम्बन्ध और भी स्पष्ट होजाता है। जिससे यह सिद्ध होता है, कि 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ कपिल का बनाया हुआ है।

हम यहां एक ऐसा उदाहरण भी दे देना चाहते हैं, जिससे यह स्पष्ट होजाता है, कि पद-विन्यास अथवा सन्दर्भ-विन्यास में विपर्यय होजाना कोई असंभव बात नहीं है। यद्यपि सदा ही ऐसा नहीं होजाता, परन्तु कदाचित् प्रमाद-वश अथवा स्मृति के विपर्यय से अन्य पदों अथवा सन्दर्भों का उल्लेख करने में ऐसे विपर्यास की संभावना होसकती है। अप्पय्य दीक्षित ने वेदान्तसूत्रों के श्रीकण्ठरचित भाष्य पर 'शिवार्कमणि' नामक [२ । २ । ८ सूत्र की] टीका में एक सन्दर्भ इसप्रकार उद्धृत किया है—

'तदेतत् न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते। न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशः। स्वभावनाशात् स्वरूपनाशप्रसंगात्। इत्यादिकापिलसूत्रैः,

वस्तुस्थित्या न बन्धोऽस्ति तदभावान्न मुक्तता।
विकल्पघटितावेताबुभावपि न किञ्चन ॥..।'

दीक्षित के इस उद्धृत सन्दर्भ में 'इत्यादिकापिलसूत्रैः' इन पदों के अव्यवहितपूर्व जो 'स्वभावनाशात् स्वरूपनाशप्रसंगात्' वाक्य है, यह कापिल सूत्र नहीं है। यद्यपि इससे पूर्व के दोनों वाक्य कापिल सूत्र हैं। वे सांख्यषडध्यायी में यथाक्रम १। १९ और १। ७ संख्या पर स्थित हैं। यह वाक्य वस्तुतः सांख्यसूत्रों के वृत्तिकार अनिरुद्ध का है, जो १। ७ सूत्र की व्याख्या के रूप में उपलब्ध होता है। इस वाक्य के अनन्तर अनिरुद्धवृत्ति में वही श्लोक उद्धृत है, जो दीक्षित ने 'इत्यादिकापिलसूत्रैः' इन पदों के अनन्तर निर्दिष्ट किया है। १। ७ सूत्र पर केवल इतनी ही अनिरुद्धवृत्ति [1] है। इससे यह अभिप्राय स्पष्ट होता है, कि अप्पय्य दीक्षित ने उक्त सन्दर्भ को अनिरुद्धवृत्तिसहित सांख्यसूत्रों के आधार पर उद्धृत किया है। यहां पर 'इत्यादिकापिलसूत्रैः, इन पदों के अनन्तर 'स्वभावनाशात् स्वरूपनाशप्रसंगात्' यह वाक्य आना चाहिये, क्योंकि यह कापिलसूत्र नहीं, प्रत्युत अनिरुद्धवृत्ति का अंश

१—१। ७ सूत्र की अनिरुद्धवृत्ति का पाठ इसप्रकार है—स्वभावनाशात् स्वरूपनाशप्रसंगात्। उक्तञ्च—वस्तुस्थित्या न बन्धोऽस्ति तदभावान्न मुक्तता। विकल्पघटितावेताबुभावपि न किंचन ॥

है। अतः यहां इन पदों का विपर्यास, प्रमादवश अथवा स्मृतिविपर्यय के आधार पर ही कहा जा सकता है। इसीतरह का कोई कारण, अनुयोगद्वारसूत्र के पदों के विपर्यास में भी समझना चाहिये। अप्पय्य दीक्षित के सम्बन्ध में यह संभावना करना, तो उपहासास्पद ही होगा, कि वह सूत्र और वृत्ति के भेद से अपरिचित था।

पांचरात्र सम्प्रदाय की अहिर्बुध्न्यसंहिता के आधार पर—

(२) पाञ्चरात्र सम्प्रदाय की अत्यन्त प्रामाणिक पुस्तक 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' के १२ वें अध्याय में आता है—

सांख्यरूपेण संकल्पो वैष्णवः कपिलादृषेः ।
उदितो यादृशः पूर्वं तादृशं शृणु मेऽखिलम् ॥१८॥
षष्टिभेदं स्मृतं तन्त्रं सांख्यं नाम महामुनेः ।
प्राकृतं वैकृतं चेति मण्डले द्वे समासतः ॥१९॥

'प्राचीन काल में विष्णु [भगवान्] का संकल्प (किसी भी वस्तु के निर्माण की धारणा), सांख्य रूप से कपिल ऋषि के द्वारा जिसप्रकार प्रकट किया गया, वह सब मुझसे सुनो।' यह उपर्युक्त प्रथम श्लोक का शब्दार्थ है। यहां विष्णु के संकल्प को ही सांख्यरूप में परिणत हुआ बतलाया गया है। इसका अभिप्राय यही है, कि कपिल के ऊपर भगवान् की महती कृपा थी, उसी के कारण महर्षि कपिल सर्वप्रथम दर्शनशास्त्र का प्रकाशन कर सका। इतने प्रारम्भिक काल में एक महान तथा गम्भीर दर्शनशास्त्र की रचना करना, कोई साधारण बात नहीं है। उस समय में जब कि तात्विक विवेचना के लिए भौतिकसाधनों का सर्वथा अभाव समझा जाता है; आत्मा, अनात्मा तथा भौतिकवादों के सूक्ष्मतत्त्वों का इतना सही और गंभीर विवेचन, जो आज भी तत्त्वज्ञानियों या वैज्ञानिकों को आश्चर्य में डाल रहा है, एक असाधारण मेधावी पुरुष का ही कार्य होसकता है। उस असाधारणता का श्रेय हम लोग सदा ही भगवान को देते आये हैं। आज भी जिस व्यक्ति को लोकोत्तर गुणों से युक्त पाया जाता है, उसके ऊपर भगवान् की कृपा का कथन, सर्वत्र सुनने में आता है। वास्तविकता को प्रकट करने का यह एक प्रकारमात्र है। इसलिये महर्षि कपिल ने सर्वप्रथम जिस दर्शनशास्त्र का निर्माण किया, उसे भगवान् का संकल्प बताकर निर्देश करना कोई आश्चर्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह भी है, कि इन लोकातिशायी गुणों के कारण ही विशेष व्यक्तियों को भगवान् का अवतार कहा जाने लगता है। प्रथम प्रकरणमें हम स्पष्ट कर आये हैं, कि सांख्य प्रवर्त्तक कपिलको भी विष्णुका अवतार माना गया और लिखा गया। उसी भावनाको लेकर संहिताकारका उक्त लेख होसकता है। परन्तु इसमें वास्तविकता वही है, जो अभी ऊपर प्रदर्शित की गई है। अवतार की कल्पनामें तो वस्तुतः भगवान् और उस विशेष व्यक्ति, दोनों ही का एक प्रकार से अपमान सा प्रतीत होता है।

दूसरे श्लोकमें कहा है, कि महामुनि [कपिल] के उस सांख्यशास्त्रमें साठ पदार्थों का

विवेचन होनेसे उसका नाम षष्टितन्त्र कहा जाता है। संक्षेपसे उसके दो भाग किये गये हैं, एक प्राकृत मण्डल और दूसरा वैकृत मण्डल[1]। अहिर्बुध्न्य संहिताके इन दोनों श्लोकों के समन्वित अर्थसे यह स्पष्ट होजाता है, कि अत्यन्त प्राचीन कालमें महर्षि कपिलने 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ या सांख्यशास्त्र की रचना की।

वेदान्तसूत्र-भाष्यकारों के आधार पर—

(४)—महर्षि व्यास रचित वेदान्त ब्रह्मसूत्रोंका भाष्य करते हुए, [२।१।१] सूत्रपर आचार्य भास्कर लिखता है—

> 'यदि ब्रह्मैवोपादानकारणञ्च, ततः कपिलमहर्षिप्रणीतषष्टितन्त्राख्यस्मृतेरनवकाशो निर्विषयत्वम्।'

यदि ब्रह्म ही उपादान कारणभी मानाजाय, तो यह ठीक न होगा, क्योंकि महर्षि कपिल प्रणीत 'षष्टितन्त्र' नामक शास्त्रमें ऐसा नहीं माना गया, वह शास्त्र विषयरहित होजायगा। उसका कोई प्रतिपाद्य विषय न रहनेसे असंगति होगी।' इन पंक्तियों से यह स्पष्ट होजाता है, कि 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ, महर्षि कपिलकी रचना है। भास्करकी पंक्तिमें आया हुआ 'आख्या' पद, इस बातको सर्वथा स्पष्ट करदेता है, कि महर्षि कपिल प्रणीत ग्रन्थका नाम 'षष्टितन्त्र' है।

(५)—आदि शङ्कराचार्य और वाचस्पति मिश्रके इस प्रसङ्गके निम्नलिखित उद्धरण भी इसी बातको सिद्ध करते हैं, कि कपिल 'षष्टितन्त्र' का रचयिता था। शंकरने वेदान्तसूत्र [२।१।१] के भाष्यमें लिखा है—

> 'स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता।'

भामतीव्याख्याकार वाचस्पति मिश्र इस पक्तिकी व्याख्या करते हुए, अपनी व्याख्यामें लिखता है—

> 'तन्त्र्यते व्युत्पाद्यते मोक्षशास्त्रमनेन इति तन्त्रं तदेवाख्या यस्याः सा स्मृतिः तन्त्राख्या परमर्षिणा कपिलेनादिविदुषा प्रणीता॥'

मोक्षसम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन करने वाली, 'तन्त्र' नामक स्मृति को आदिविद्वान् परमर्षि कपिलने बनाया। शंकर और वाचस्पतिके ये लेख स्पष्ट कर देते हैं, कि 'तन्त्र' नामकी कोई पुस्तक कपिलने लिखी थी, जो कपिल सर्वप्रथम विद्वान् अर्थात् दार्शनिक था। यह तन्त्र, 'षष्टितन्त्र' के अतिरिक्त और कोई ग्रन्थ नहीं होना चाहिये। उपर्युक्त पंक्तियोंमें आया हुआ 'आख्या' पद, सर्वथा स्पष्ट और निश्चित कर देता है, कि यह उस ग्रन्थका नाम था, जो महर्षि कपिलने लिखा। जिन विद्वानों का यह विचार है, कि महर्षि कपिलने आसुरिको पुरुषार्थ ज्ञानका केवल मौखिक ही उपदेश दिया था, उसने किसी तन्त्रकी रचना नहीं की, उन्हें अपने विचार, शंकर आदिके लेखोंसे दुरुस्त करलेने चाहियें। कम से कम यह तो कहा ही जासकता है, कि उनके ये विचार, भास्कर शंकर

[1] षष्टि पदार्थ और प्राकृत वैकृत मण्डलके स्वरूपका विस्तारपूर्वक विवेचन, इसी ग्रन्थके तृतीय प्रकरणमें किया गया है।

और वाचस्पति आदि के विचारों से विरुद्ध हैं। इन आचार्यों ने ऊपर उद्धृत पंक्तियों में आये हुए 'प्रणीत' पद से अपने विचार इस विषय में स्पष्ट कर दिये हैं। शंकर आदि आचार्य इस सिद्धान्तको निश्चित रूपसे मानते थे, कि कपिलने सांख्यशास्त्रपर 'तन्त्र' नामक ग्रन्थकी रचना की।

सांख्य व्याख्याताओं के आधार पर—

(६)—सांख्यकारिकाओं पर 'युक्तिदीपिका' नामक एक व्याख्या है, यह सन् १९३८ ई० में कलकत्तेसे प्रकाशित हुई है। यद्यपि इसके लेखकका अभी तक निश्चय नहीं होसका, पर इसमें सन्देह नहीं किया जासकता, कि यह व्याख्या, कारिकाओं की वाचस्पति मिश्रकृत व्याख्यासे पर्याप्त प्राचीन है [1]। युक्तिदीपिकाकारने अपने ग्रन्थका प्रारम्भ करते हुए प्रथम पन्द्रह श्लोक लिखे हैं। दूसरे श्लोकमें परमर्षिको गुरु मानकर ग्रन्थकारने नमस्कार किया है, दार्शनिक साहित्यमें परमर्षि पद, कपिल के लिये प्रयुक्त होता रहा है। तीसरे श्लोकमें जिज्ञासु आसुरिके लिये, परमर्षि के द्वारा 'तन्त्र' के प्रवचन का निर्देश किया गया है [2]। अगले श्लोकोंमें ग्रन्थकारने यह भी दर्शाया है, कि इस सप्तति नामक प्रकरण अथवा सकल शास्त्रका संक्षेप भी ईश्वरकृष्णने वहीं से किया है। इसका विवेचन हम नवम युक्तमें करेंगे। आगे १४ वां श्लोक इसप्रकार है—

'अल्पग्रन्थमनल्पार्थं सर्वैस्तन्त्रगुणैर्युतम्। पारमर्षस्य तन्त्रस्य बिम्बमादर्शगं यथा॥'

यहां श्लोकके केवल तीसरे चरणपर हम पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। 'पारमर्ष' पदमें 'प्रोक्त' अथवा 'कृत' अर्थमें ही तद्धित प्रत्ययका सामंजस्य होनेसे इस पदका—परमर्षि अर्थात् कपिलके द्वारा प्रवचन अथवा निर्माण किया हुआ तन्त्र—यह अर्थ स्पष्ट होता है। ग्रन्थकार ने सांख्यसप्तति को उसी तन्त्रका प्रतिबिम्ब बताया है। इससे यह परिणाम निकलता है, कि सांख्य सप्तति जिस ग्रन्थका संक्षेप किया गया है, वह 'तन्त्र' नामक ग्रन्थ, कपिलका प्रवचन किया हुआ अर्थात् बनाया हुआ है। यही भाव इस ग्रन्थके तृतीय श्लोकसे भी स्पष्ट होता है।

ब्रह्मसूत्रकार व्यास के आधार पर—

(७)—वेदान्त ब्रह्मसूत्रकार महर्षि व्यास की भी यह धारणा प्रतीत होती है, कि कपिल ने सांख्य पर किसी ग्रन्थ की रचना की थी। व्यास की इस धारणा की पुष्टि के लिये उनके [२।१।१ तथा २।१।३] सूत्र गंभीरतापूर्वक विचारणीय है।

हम अपना विचार प्रस्तुत करने से पूर्व एक बात यहां और लिख देना आवश्यक समझते हैं। आधुनिक कई विद्वान्, कपिल के सम्बन्ध में तो यह सन्देह प्रकट करते हैं, कि उसने किसी

---

१ इसके काल आदिके सम्बन्ध में, इसी ग्रन्थके 'कारिकाओंके व्याख्याकार' नामक प्रकरणमें विवेचन किया गया है।

२ ऋषये परमायार्कमरीचिसमतेजसे। संसारगहनध्वान्तसूर्याय गुरवे नमः॥ २॥

तत्त्वं जिज्ञासमानाय विप्रायासुरये मुनिः। यदुवाच महत्तन्त्रं दुःखत्रयनिवृत्तये॥ ३॥

यह श्लोक, पञ्चशिख के 'आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय' इत्यादि सूत्रका स्मरण करा देता है।

ग्रन्थ का निर्माण नहीं किया, प्रत्युत सांख्य सिद्धान्तों का मौखिक उपदेशमात्र किया है। अनन्तर उसके शिष्यों ने ग्रन्थों की रचना की। परन्तु पतञ्जलिके सम्बन्ध में ऐसा सन्देह आज तक भी किसी ने प्रकट नहीं किया। सब ही प्राचीन और अर्वाचीन विद्वान् इस बात को एकमत होकर स्वीकार करते हैं, कि उपलभ्यमान योगदर्शन साक्षात् पतंजलि की रचना है। इस ग्रन्थ के लिये संस्कृत वाङ्मय में 'योगशास्त्र' 'योगदर्शन' अथवा केवल 'योग' पद व्यवहृत होता चला आया है। इन बातों को मानकर ही हम आगे विचार करते हैं।

महर्षि व्यास वेदान्तसूत्रों में एक सूत्र का निर्देश करता है—

'एतेन योगः प्रत्युक्तः' [२।१।३]

यहां 'एतेन' पद से पूर्वसूत्र [२।१।१] प्रतिपादित अर्थ का अतिदेश किया गया है। अर्थात् प्रथम सूत्र के द्वारा किये हुए सांख्यस्मृति के प्रतिषेध से योगस्मृति का भी प्रतिषेध समझ लेना चाहिये। यहां 'योग' पद से हिरण्यगर्भ[1] अथवा पतञ्जलिप्रणीत योगदर्शन का ग्रहण किया जाता है। उसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों के खण्डन के लिये ही यह अतिदेश सूत्र लिखा गया। यहां जिसप्रकार साक्षात् 'योग' पदका उल्लेख किया है, प्रथम सूत्र में व्यास ने इसप्रकार 'स्मृति' पद का प्रयोग किया है। सूत्र है--

'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्।'

इस सूत्र के दो भाग हैं, एक पूर्वपक्ष और दूसरा उत्तरपक्ष। दोनों ही स्थलों में 'स्मृति' पदका प्रयोग है। सूत्र के प्रथम भाग में पठित स्मृति पदका, वेदान्त दर्शन के सब भाष्यकारों ने 'कपिलप्रणीत शास्त्र' ही अर्थ किया है। कई भाष्यकारों ने तो उस शास्त्र का नाम भी स्पष्टरूप से लिख दिया है। इस सम्बन्ध मे आचार्य भास्कर और आचार्य शंकर तथा वाचस्पति के लेखों का निर्देश हमने, चार और पांच संख्या की युक्तियों में कर दिया है। वहां कपिलप्रणीत 'तन्त्र' अथवा 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है। उसी का सूत्रकारने सूत्र में 'स्मृति' पद से निर्देश किया है। सूत्र मे उत्तरभाग के 'स्मृति' पद से भी उन २ ग्रन्थविशेषों का ही ग्रहण किया गया है, जिनमें वेदान्तानुकूल ईश्वरकारणता का प्रतिपादन समझा जाता है। इसलिये उसकी तुलना में पहले 'स्मृति' पदका प्रयोग भी ग्रन्थ विशेष के लिये ही हो सकता है। इन सूत्रों की वाक्यरचना के आधार पर, हम इस परिणाम तक पहुंचते हैं, कि सूत्रकार व्यास के समय में, व्यास तथा अन्य आचार्यों की भी यह निश्चित धारणा कही जा सकती है, कि कपिल ने अवश्य किसी ग्रन्थ की रचना की थी। व्यासने कपिल के उसी ग्रन्थ के आधार पर अपने सूत्रों में सांख्य सिद्धान्तों की विवेचना की है। व्यास के 'स्मृति'[2] पद के प्रयोग से उस समय में कपिलप्रणीत ग्रन्थ का होना प्रमाणित होता है।

१—वाचस्पति मिश्र के लेखानुसार

२—इन सूत्रों का उक्त अर्थ, उपलभ्यमान शंकर आदि व्याख्याकारों के आधार पर किया गया है। इनके यदि कोई अन्य अर्थ किये जासकें, जिनके अनुसार 'स्मृति' और 'योग' पद का अर्थ ग्रन्थ विशेष न रहे, तो बात दूसरी है।

पञ्चशिख के आधार पर—

(८)—महर्षि कपिल के प्रशिष्य और आसुरि के प्रधान शिष्य आचार्य पञ्चशिख ने भी अपने एक सूत्र में षष्टितन्त्र के लिये ही 'तन्त्र' पदका प्रयोग करके इस अर्थ को स्पष्ट किया है। पञ्चशिख का सूत्र इसप्रकार है –

'आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।'

यदि हम पञ्चशिख के इस सूत्र के भावार्थ के साथ २ सूत्र-पदों की भी, शंकर और वाचस्पति के उपर्युक्त वाक्यों से तुलना करें, तो हम इन सब में परस्पर एक आश्चर्यजनक समानता पाते है। 'आदिविद्वान' 'परमर्षि' 'तन्त्र' 'निर्माण' 'प्रोवाच' 'प्रणीत' आदि पदों और इन वाक्यों के अर्थों की इस समानता के आधार को लेकर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि शंकर और वाचस्पति ने अपने लेख, पञ्चशिख के इस सूत्र के आधार पर ही लिखे है। और इसीलिये कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र के सम्बन्ध में इन सब आचार्यों की एक ही सम्मति मान लेने में हमारे सामने कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

'षष्टितन्त्र' के लिये केवल 'तन्त्र' पद का प्रयोग भी अशास्त्रीय नहीं कहा जासकता। साहित्य में इसप्रकार पूरे नाम के लिये आधे पद का प्रयोग भी अनेक स्थानों पर देखा जाता है। यह लेखक की शैली या इच्छा पर निर्भर है। इस बात की पुष्टि के लिये संस्कृत वाङ्मय से चुनकर अनेक उदाहरण उपस्थित किये जासकते है। हम यहां दो एक का उल्लेख करते है।

(क)—पतंजलिकृत व्याकरण महाभाष्य के प्रथम आह्निक मे एक स्थल पर कहा गया है, कि नाम का आधा हिस्सा पूरे नाम के लिये प्रयुक्त होजाता है। उसके लिये उदाहरण दिया है—

'यथा—देवदत्तो दत्त. सत्यभामा भामा इति[1]।'

अर्थात् देवदत्त के लिये दत्त और सत्यभामा के लिये केवल भामा पद का प्रयोग भी संगत है। लोक में तो ऐसे प्रयोग दैनिक व्यवहार में हम सदा देखते हैं।

(ख)—ईश्वरकृष्णरचित सांख्यसप्तति की २२ वीं कारिका का उत्तरार्ध है—

'तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि।'

उन सोलह पदार्थों में से पांच तन्मात्रा अर्थात सूक्ष्मभूत, पांच स्थूलभूत या महाभूतों को उत्पन्न करते हैं, यहां 'स्थूलभूत' या 'महाभूत' पद के लिये केवल 'भूत' पद का प्रयोग किया गया है। कारिका में पठित 'भूत' पद का सब व्याख्याकारों ने महाभूत या स्थूलभूत अर्थ किया है, और यही अर्थ संगत भी होसकता है। तत्त्वकौमुदी और माठरवृत्ति में 'पंचभूतानि आकाशादीनि' लिखा है। माठर, उत्पत्ति का क्रम दिखाकर आगे लिखता है–*'आकाशादिपृथ्वीपर्यन्तानि महाभूतानीति सृष्टिक्रमः'* यहां स्पष्ट ही 'महाभूत' पद का उल्लेख है। जयमंगला और चन्द्रिका नामक टीकाओं में

1—पस्पशाह्निक [महाभाष्य १।१।१]

'पञ्च महाभूतानि भवन्ति' लिखकर प्रथम ही इस अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। जयमंगला व्याख्या में उपसंहार करते हुए 'आकाशादयः स्थूला विशेषा उच्यन्ते' यह लिखकर 'महा' पद के स्थान पर 'स्थूल' पद का भी प्रयोग किया है।

कदाचित् यह आशंका हो सकती है, कि ईश्वरकृष्ण ने कारिका में छन्दोरचना से बाध्य होकर 'महा' या 'स्थूल' पद का यहां प्रयोग न किया होगा। व्याख्याकारों ने उस पद को जोड़कर अर्थ को संगत कर दिया है, जो सर्वथा स्वाभाविक है। इसलिये यहां पर यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता, कि ईश्वरकृष्ण ने जानबूझकर 'महाभूत' या 'स्थूलभूत' पद के लिये केवल 'भूत' पद का प्रयोग किया है।

परन्तु यह आशंका निर्मूल है, छन्दोरचना में 'पञ्च' पद को हटाकर उसकी जगह 'स्थूल' पद रक्खा जासकता था। अर्थात् 'पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि' के अतिरिक्त 'पञ्चभ्यः स्थूलभूतानि' यह रचना की जासकती थी। अथवा ईश्वरकृष्ण को छन्दोरचना में इतना असमर्थ तो न समझ लेना चाहिये, कि वह एक आवश्यक पद को रचना से बाध्य होकर छोड़ दे; और अर्थ को असंगत होने दे। रचना प्रकारान्तर से भी की जासकती थी। इन्हीं भावनाओं को लेकर संभवतः सांख्य-कारिका की 'युक्तिदीपिका' नामक व्याख्या में इस अर्थ को निम्नरूप में स्पष्ट किया है। व्याख्याकार लिखता है—

'तस्मादपि षोडशकात् गणात् यः पञ्चको गणस्ततः पञ्चमहाभूतान्युत्पद्यन्ते। पूर्वपदलोपेनात्र महाभूतानीति वक्तव्ये भूतानीत्युच्यते। भूतसंज्ञा हि तन्मात्राणां न पृथिव्यादीनामत्र तु सांख्या-चार्याणामविप्रतिपत्तिः।'

'अहंकार से उत्पन्न होने वाले सोलह के समुदाय में से जो पांच का समुदाय तन्मात्रा रूप है, उससे पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। पूर्वपद का लोप करके यहां 'महाभूत' पद के स्थान पर केवल 'भूत' पद का कथन कर दिया गया है। वस्तुतः 'भूत' तन्मात्राओं [सूक्ष्मभूतों] का नाम है, पृथिवी आदि स्थूल भूतों का नहीं, इस विषय में सभी सांख्याचार्य एकमत है।' युक्तिदीपिका कार के इस कथन से यह स्पष्ट होजाता है, कि पूरे नाम के लिये, नाम के आधे भाग का भी प्रयोग कर दिया जाता है। ठीक इसीतरह पञ्चशिख के उपर्युक्त सूत्र में भी 'षष्टितन्त्र' पद के लिये केवल 'तन्त्र' पद का प्रयोग कर दिया गया है। आधुनिक [1] विद्वानों ने भी उक्त सूत्र के 'तन्त्र' पद का प्रयोग 'षष्टितन्त्र' के लिये माना है। इसलिये 'षष्टितन्त्र' के कपिल-कर्त्तृत्व में कोई आपत्ति नहीं रह जाती।

ईश्वरकृष्ण की प्रबल साक्षी के आधार पर—

(६)—यह एक माना हुआ सिद्धान्त है, कि ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिका सांख्यका

१—श्रीयुत कविराज पं० गोपीनाथ जी, सांख्यकारिका की जयमंगला नामक व्याख्या के उपोद्घात में पृष्ठ तीन पर लिखते हैं—It appears from the above that कपिल disclosed the तन्त्र i.e. the secret Wisdom [viz. the सांख्य doctrines or the षष्टितन्त्र] to आसुरि.

अर्थात् कपिल ने आसुरि के लिये 'तन्त्र' =सांख्यतत्त्वों अथवा 'षष्टितन्त्र' को प्रकाशित किया।

मौलिक ग्रन्थ नहीं है। प्रत्युत सांख्य के मूलभूत एक ग्रन्थ के केवल सिद्धान्त भाग का संक्षेप मात्र है। ईश्वरकृष्ण ने स्वयं स्पष्ट शब्दों में लिखा है, कि यह सप्तति, षष्टितन्त्र के अर्थों को लेकर लिखी गई है। ईश्वरकृष्ण ने सप्तति की अन्तिम कारिकाओं में आदि सांख्याचार्यों की परम्परा का जो उल्लेख किया है, और जिसके द्वारा ईश्वरकृष्ण तक, षष्टितन्त्र के पहुँचने का भी निर्देश किया गया है, वह परम्परा इस सिद्धांत को स्पष्ट कर देती है, कि 'षष्टितन्त्र' कपिल की रचना है। उन्हीं कारिकाओं के आधार पर हम यहां कुछ विवेचन करते हैं। ६६वीं कारिका में ईश्वरकृष्ण लिखता है—

'पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।'

पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष के उपायभूत ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले इस गूढ़ 'तन्त्र' का परमर्षि कपिल ने कथन किया। इस कारिका में 'ज्ञान' पद का अर्थ, केवल ज्ञान अर्थात् 'जानना' नहीं है, प्रत्युत 'ज्ञायते ऽनेन' इस व्युत्पत्ति के आधार पर ज्ञानसाधन अर्थात् 'ज्ञान का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र' अर्थ है। क्योंकि इस कारिका में 'समाख्यातम्' क्रियापद है, जिसका अर्थ 'कथन करना' या 'उच्चारण करना' है। ज्ञान [-जानना] का कहा जाना या उच्चारण किया जाना असंभव है। जो उच्चारण किया जाता है, वह शब्द है। उच्चारित शब्द के द्वारा ही हम किसी अर्थ का प्रकाशन करते हैं। और शब्दरूप ही शास्त्र है। इसलिये उपर्युक्त रीति से कारिकापठित 'ज्ञान' पद का अर्थ 'ज्ञान प्रतिपादक शास्त्र' करना ही ठीक है। वस्तुतः यह पद, सत्तरवीं कारिका के अन्त में पठित 'तन्त्र' पद की ओर ही निर्देश करता है। कारिका के प्रायः सब ही व्याख्याकारों ने इस 'ज्ञान' पद का विशेष विवरण नहीं किया है, व्याख्याओं में भी केवल 'ज्ञान' पद का ही प्रयोग कर दिया गया है। वहाँ भी 'ज्ञान' पद का अर्थ, 'ज्ञान प्रतिपादक शास्त्र' ही समझना चाहिये।

सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में इस अर्थ को स्पष्ट कर दिया गया है। वहां पर इस प्रसंग के सब ही स्थलों में 'ज्ञान' पद के प्रयोग के स्थान पर 'शास्त्र' पद का ही प्रयोग किया गया है। ६६ वीं कारिका की अवतरणिका में युक्तिदीपिकाकार लिखता है—

किमर्थं पुनरिदं शास्त्रम्, केन वा पूर्वं प्रकाशितमित्युच्यते।'

इसी कारिका की व्याख्या करते हुए प्रारम्भ में ही फिर लिखता है—

'प्राणिनामपवर्गः स्यादित्येवमर्थमिदं शास्त्रं व्याख्यातम् ।'

सत्तरवीं कारिका के अवतरण में पुनः लिखता है—

'कस्मै पुनरिदं शास्त्रं परमर्षिणा प्रकाशितमिति ।'

सत्तरवीं कारिका की व्याख्या करते हुए लिखता है—

'...परमर्षेर्धर्मार्थं शास्त्रप्रदानं...'...'आचार्यः शास्त्रनिधानं प्रददाविति ।'...'अनुकम्पया भगवान् परमर्षिः शास्त्रमाख्यातवान् ।'

इन उद्धरणों से भी स्पष्ट होजाता है, कि ६६ वीं कारिका में 'पुरुषार्थज्ञानं' पद का अर्थ 'मोक्षोपायभूत ज्ञानप्रतिपादक शास्त्र' ही होना चाहिये। इस कारिका के 'परमर्षि' पद से

सब ही व्याख्याकारों ने कपिल का ग्रहण किया है। इससे यह निश्चित होजाता है, कि ईश्वरकृष्ण इस कारिका के द्वारा जिस अर्थ को स्पष्ट कर रहा है, वह यही है, कि—पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष के लिये ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले गूढ़ 'तन्त्र' का परमर्षि कपिल ने कथन किया। यहां हमने 'तन्त्र' पद का प्रयोग इसीलिये किया है, कि सत्तरवीं कारिका के अन्त में, परमर्षिकथित ज्ञानप्रतिपादक शास्त्र के लिये इसी पद का प्रयोग किया गया है। और ६९ वीं कारिका का 'इदम्' पद भी उसी की ओर संकेत करता है।

जयमंगला टीका में इस अर्थ को प्रकारान्तर से अधिक स्पष्ट किया गया है। ७१ वीं आर्या पर टीकाकार लिखता है—'*इति ज्ञानमयरूपेणागतं सिद्धान्तं षष्टितन्त्रम्*' यहां ज्ञान रूप से आये हुए सिद्धान्त को 'षष्टितन्त्र' बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है, कि ज्ञान का निरूपण अथवा सांख्य सिद्धान्त का प्रतिपादन जिस शास्त्र में किया गया है, उसी का नाम 'षष्टितन्त्र' है।

इसके अनन्तर ७० वीं कारिका में, सांख्याचार्यों की परम्परा का निर्देश करते हुए ईश्वरकृष्ण लिखता है—

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ। आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन बहुधा कृतं तन्त्रम्॥

इस पवित्र और श्रेष्ठ 'तन्त्र' को कपिल मुनिने कृपा पूर्वक आसुरि को [ग्रन्थ रूप, में तथा अध्यापन आदि के द्वारा] दिया, आसुरि ने भी पञ्चशिख को और पञ्चशिख ने बहुत प्रकार से इसका विस्तार किया।

कारिका के 'बहुधा कृतम्' पदों की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार माठर लिखता है—'बहूनां शिष्याणां प्रदत्तम्'। पञ्चशिख ने यह 'तन्त्र' अनेक शिष्यों को दिया अर्थात् पढ़ाया। युक्तिदीपिका व्याख्या में भी इन पदों का अर्थ इसी आशय को लेकर यह किया है—'बहुभ्यो जनकवशिष्ठादिभ्यः समाख्यातम्' अर्थात् जनक वशिष्ठ आदि अनेक शिष्यों को पढ़ाया। जिस 'तन्त्र' को आसुरि से पढ़कर पञ्चशिख ने प्राप्त किया था, उसी तन्त्र को पञ्चशिख ने अनेक शिष्यों को पढ़ाकर तथा लेखन आदि के द्वारा भी बहुत विस्तृत तथा प्रचारित किया, यह इस कारिका का स्पष्ट अर्थ प्रमाणित होता है।

क्या षष्टितन्त्र का कर्त्ता पञ्चशिख है ?—

कारिका के 'तेन बहुधा कृतं तन्त्रम्' इन पदों के आधार पर कुछ आधुनिक[1] विद्वानों का विचार है, कि तन्त्र अथवा षष्टितन्त्र को पञ्चशिख ने ही बनाया है। वे कहते हैं, ईश्वरकृष्ण ने ६९ वीं कारिका में 'समाख्यातम्' क्रियापद रक्खा है, जिसका अर्थ, मुख से उच्चारण करना ही होसकता है। इसलिये कपिल ने किसी ग्रन्थ को उपनिबद्ध नहीं किया, प्रत्युत मौखिक

१— बालराम उदासीनकृत व्याख्या सहित सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृष्ठ ३१८। ६९ वीं कारिका की टिप्पणी। यह भाग पाण्डेय रामावतार शर्मा M. A. का लिखा हुआ है। चीनी विद्वानों के ऐतिह्य के आधार पर भी षष्टितन्त्र को पञ्चशिखकृत माना गया है। [Samkhya System कीथ, पृ० ४८]

उपदेश ही दिया।

परन्तु इन विद्वानों का यह विचार सर्वथा निराधार है—

(क)—उपदेश सदा मौखिक ही होता है, परन्तु उसका ग्रन्थरचना से कोई विरोध नहीं है। जिन विद्वानों ने इस मत को प्रकट किया है, वे भी अपने जीवन में छात्रों को सहस्रशः उपदेश देते रहे हैं, और उनका आधार ग्रन्थ ही रहे हैं। आज भी अनेक अध्यापक ग्रन्थों की रचना करते हैं, और उन्हें अपने छात्रों को अध्ययन भी कराते हैं। यह प्रतिदिन ही महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में देखा जाता है। तात्पर्य यह है, कि उपदेश या अध्यापन तो मौखिक ही हो सकता है, परन्तु वह ग्रन्थरचना का बाधक नहीं है।

(ख)—६९वीं कारिका में तो 'समाख्यातम्' क्रियापद है। परन्तु अगली ७० वीं कारिका में 'प्रददौ' क्रियापद है। जिसका अर्थ 'अच्छी तरह देना' है। कोई सत्ताधारी वस्तु ही किसी को दी जा सकती है। उपदेशों के ग्रन्थ रूप में परिणत हुए बिना उनका दिया जाना असम्भव है। इससे स्पष्ट है, कि आसुरि को कपिल ने 'तन्त्र' का अध्ययन भी कराया, और तन्त्र की ग्रन्थरूप से रचना भी की। 'समाख्यातम्' क्रियापद का अर्थ भी प्रथम कर दिया गया है, जो सर्वथा हमारे विचारों के अनुकूल ही है।

(ग)—वस्तुतः 'बहुधा कृतम्' ये पद, किसी भी रीति पर इस बात को प्रमाणित नहीं कर सकते, कि पञ्चशिख ने तन्त्र की रचना की। यदि ईश्वरकृष्ण को यहां यही अभिप्राय प्रकट करना अभीष्ट होता, तो वह 'कृत तन्त्रम्' इतना ही लिख देता। 'कृत' के साथ 'बहुधा' पद का प्रयोग व्यर्थ था। इसके विपरीत 'बहुधा' पद का प्रयोग तो यह और भी स्पष्ट कर देता है, कि 'तन्त्र' पहले से विद्यमान था, पञ्चशिख ने तो आसुरि से उसका अध्ययन कर, अनेक शिष्यों को पढ़ाया, तथा उस पर व्याख्याग्रन्थ लिखकर उसका अच्छी तरह विस्तार या प्रचार ही किया। 'बहुधा' पद में एक और छिपा हुआ स्वारस्य है, जिसको माठर और युक्तिदीपिका व्याख्याकारों ने स्पष्ट किया है। पञ्चशिख तक गुरुशिष्य परम्परा में यह क्रम रहा, कि गुरु ने एक ही शिष्य को तन्त्र का अध्ययन कराया—कपिल ने आसुरि को और आसुरि ने पञ्चशिख को। परन्तु पञ्चशिख ने इसका अध्ययन बहुत शिष्यों को कराया। यह तात्पर्य 'बहुधा' पद से प्रकट होता है। इसलिये केवल इन पदों के आधार पर पञ्चशिख को षष्टितन्त्र का रचयिता मानना असंगत है।

(घ) उपर्युक्त हेतुओं के अतिरिक्त, पञ्चशिख स्वयं अपने ग्रन्थ में लिखता है, कि महर्षि कपिल ने आसुरि के लिये तन्त्र अथवा षष्टितन्त्र का प्रवचन किया। पञ्चशिख के उस सूत्र को हम पूर्व भी उद्धृत कर चुके हैं। सूत्र इसप्रकार है—

आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच[1]।

१—इस सूत्रमें 'तन्त्र, पदका अर्थ 'षष्टितन्त्र' है, इस बातको छठे हेतु में स्पष्ट और विस्तारपूर्वक लिख आये हैं।

इस प्रसंगमें सूत्रके 'निर्माणचित्तमधिष्ठाय'ये [1] पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं। जिन विद्वानों का यह विचार है, कि कपिलने आसुरिको मौलिक सांख्यसिद्धान्तोंका केवल मौखिक उपदेश किया, किसी ग्रन्थकी रचना नहीं की ; उनके विचारका स्पष्ट उत्तर इन पदोंसे मिल जाता है। सूत्रसे स्पष्ट है कि कपिलने शास्त्रनिर्माणकी भावनासे प्रेरित होकर ही आसुरि के लिये 'तन्त्र' का प्रवचन किया। इससे स्पष्ट है, पञ्चशिखके समय 'तन्त्र' पहलेसे विद्यमान था।

सांख्यसप्ततिकी जयमंगला नामक व्याख्यामें तो इस अर्थको और भी स्पष्ट कर दिया है। वह लिखता है—'बहुधा कृतं तन्त्रं षष्टितन्त्राख्यं षष्टिखण्डं कृतमिति [2]। तत्रैव हि षष्टिरर्था व्याख्याताः।' यहां पर 'बहुधा कृतं तन्त्रम्' ये पद मूलकारिकाके हैं, शेष व्याख्यान ग्रन्थ है। 'तन्त्र' का अर्थ 'षष्टितन्त्राख्यम्' और 'बहुधा' पदका अर्थ 'षष्टिखण्डम्' किया गया है। 'कृतम्' पदको व्याख्याकारने भी उसी तरह रख दिया है। आगेके पदोंसे 'षष्टितन्त्र' को साठ खण्डोंमें विभक्त किये जानेका कारण बताया गया है, कि उसमें ही साठ पदार्थोंका व्याख्यान किया गया है। इससे स्पष्ट है कि 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थको पञ्चशिखने साठ खण्डोंमें कर दिया। क्योंकि उनमें ही साठ पदार्थों का व्याख्यान है। जयमंगलाके इस लेखसे यह निश्चित परिणाम निकलता है कि पञ्चशिखसे पूर्व 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ विद्यमान था। पञ्चशिखने उसमें संक्षेप से प्रतिपादित साठ पदार्थों में से एक २ को लेकर उसके व्याख्याभूत एक २ खण्डकी रचना की। और इसप्रकार साठ पदार्थोंके आधार पर साठ खण्डोंकी रचना होगई। प्रत्येक पदार्थकी पृथक २ व्याख्याके आधार पर साठ खण्डोंमें विभक्त उस पञ्चशिख ग्रन्थमें उक्त पदार्थोंका विस्तारपूर्वक व्याख्यान व विवेचन किया गया। इसलिये पञ्चशिख, मूल षष्टितन्त्र का व्याख्याकार अथवा अध्यापक ही होसकता है, रचयिता नहीं।

'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ है—

जयमंगलाके उक्त लेखसे यह परिणाम भी निकल आता है कि कपिलने सिद्धान्तों का केवल मौखिक ही उपदेश नहीं किया था, प्रत्युत ग्रन्थ की रचना भी की थी, जिस ग्रन्थको पञ्चशिख ने व्याख्यान करके साठ खण्डोंमें विभक्त किया। जयमंगलाके और भी ऐसे वर्णन हैं, जिनसे 'षष्टितन्त्र' के ग्रन्थ स्वीकार किये जाने पर प्रकाश पड़ता है। वे वर्णन इसप्रकार हैं—

(क)—'विस्तरत्वात् षष्टितन्त्रस्य संक्षिप्तरुचिसत्वानुग्रहार्थं सप्ततिकारम्भः।'

[पृ० १, पं० ६-१०। कलकत्ता संस्करण]।

यहां पर 'षष्टितन्त्र' के साथ 'विस्तर पद का प्रयोग होने से यह अर्थ स्पष्ट होता है, कि

१—इन पदोंके अर्थोंका विवेचन विस्तारपूर्वक हम प्रथम प्रकरणमें कर आये हैं।

२—अहिर्बुध्न्य संहितामें 'षष्टितन्त्र' के जिन साठ खण्ड अथवा अध्यायोंका उल्लेख है, वह भी इसी सिद्धान्तपर कल्पना किया गया प्रतीत होता है। यद्यपि सांख्यके साठ पदार्थोंके साथ उनका [संहिताप्रतिपादित साठ पदार्थोंका] पूर्ण रूपसे सामञ्जस्य नहीं है। इसका विस्तारपूर्वक विवेचन इसी ग्रन्थके तृतीय प्रकरणमें किया गया है।

यह कोई शब्दसमूह रूप ग्रन्थ था। 'प्रथने वावशब्दे' [३।३।३३] इस पाणिनीय नियम के अनुसार 'विस्तर' पद का प्रयोग, शब्दसमूह रूप अर्थ कहे जाने पर ही होसकता है। अन्यथा 'विस्तार' पद का प्रयोग ही संगत होगा।

(ख)—'त्रिविधमनुमानमाख्यातमिति षष्टितन्त्रे व्याख्यातं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट-मिति।, [पृ०७,प०२०—२१]

यहां 'त्रिविधमनुमानमाख्यातं' ये मूलकारिका के पद हैं, शेष व्याख्या ग्रन्थ है। जिसमें जयमंगलाकार यह लिखता है, कि अनुमान के तीन विभागों का षष्टितन्त्र में व्याख्यान किया गया है। क्योंकि व्याख्यान का किया जाना किसी ग्रन्थ में ही संभव होसकता है, इसलिये जयमंगला-कार के विचार से 'षष्टितन्त्र' अवश्य कोई ग्रन्थ था[1]।

(ग)—एते षष्टिपदार्थाः, तदर्थं शास्त्रं षष्टितन्त्रमित्युच्यते। [पृ०५६।प० १२]

ये साठ पदार्थ हैं, उनके लिये शास्त्र-'षष्टितन्त्र' इस रूप में कहा जाता है। अर्थात् साठ पदार्थों का वर्णन करने वाले शास्त्र का नाम 'षष्टितन्त्र' है। इससे 'षष्टितन्त्र' का ग्रन्थ होना स्पष्ट ही प्रमाणित होता है।

---

1 यह संभावना कीजासकती है, कि '(क) (ख)' चिन्हित स्थलों में 'षष्टितन्त्र' पद, कपिलप्रणीत मूल षष्टितन्त्र और पञ्चशिख प्रणीत व्याख्याभूत षष्टितन्त्र दोनोंही के लिये प्रयुक्त हुआ माना जासकता है। फिर भी कपिलप्रोक्त षष्टितन्त्र के स्वीकार किये जाने में कोई बाधा नहीं आती। ऐसी स्थिति में डा० कीथ तथा उसके विचारों के अनुयायी अन्य विद्वानों का 'षष्टितन्त्र' नाम के ग्रन्थ को स्वीकार न करना भ्रान्तिपूर्ण ही है। क्योंकि यदि केवल इतनी ही बातको स्वीकार किया जाय, कि षष्टितन्त्र, सांख्य-शास्त्र का ही साधारण नाम है, तो भी यह आशंका बनी ही रहती है, कि जब उस शास्त्र का कोई ग्रन्थही नहीं था, तब वह नाम किसके लिये था ? हमारा तो विचार स्पष्ट है, कि कपिलकी प्रथम रचना का नाम षष्टितन्त्र था। उसके अनन्तर तद्विषयक अथवा तद्व्याख्यानभूत अन्य ग्रन्थ भी इसी नाम से कहलाये। इसतरह साधारण सांख्यशास्त्र के लिये इस पद का प्रयोग होने लगा।

वस्तुतः अनन्तर काल के समान, कपिल की प्रथम रचना के भी दोनों ही नाम थे। षष्टितन्त्र और सांख्यशास्त्र। इस शास्त्र में पदार्थों का दोनों ही दृष्टि से विवेचन है, आध्यात्मिक और आधिभौतिक। आधि-भौतिक दृष्टि से २५ तत्त्वों का विवेचन किया गया है। और उस आधार पर इसे 'सांख्यशास्त्र' अथवा सांख्य-दर्शन' या केवल 'सांख्य' नाम दिया गया। आध्यात्मिक दृष्टि से इसमें साठ पदार्थों का विवेचन है, पचास प्रत्यय-सर्ग, और दश मौलिक अर्थ। आधिभौतिक दृष्टि के २५ तत्त्व ही यहां दश मौलिक अर्थों के रूप में प्रकट किये गये हैं। [इसका स्पष्ट निरूपण तृतीय प्रकरण के अन्तिम पृष्ठों में किया है। इस द्वितीय प्रकरण के अन्तिम पृष्ठों को भी देखिये] इस आधार पर इसे 'षष्टितन्त्र' नाम प्राप्त हुआ। यह अलग बात है, कि किसी समय में कोई नाम अधिक व्यवहृत होता रहा हो, कोई न्यून, तथा अन्य समय में अन्य। परन्तु बिना ग्रन्थ की रचना के किसी भी नाम की कल्पना असंगत ही है। जब वस्तु नहीं, तो नाम किसका ?

इसके अतिरिक्त वाक्यपदीय [१।८] में उद्धृत एक प्राचीन श्लोक की व्याख्या करते हुए, वाक्यपदीय के व्याख्याकार वृषभदेव ने भी लिखा है—'षष्टितन्त्रग्रन्थरचायम्' इससे 'षष्टितन्त्र' नामक किसी ग्रन्थ के होने का निश्चय होता है। इसी प्रकरण में आगे उक्त श्लोक का उल्लेख किया जायगा।

इस प्रकार ६६ और ७० वीं कारिकाओं के द्वारा प्रतिपादित यह परम्परा सम्बन्ध, इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से पुष्ट कर देता है, कि उस पवित्र और श्रेष्ठ 'तन्त्र' की रचना परमर्षि कपिल ने की, और अपने प्रथम शिष्य आसुरि को कृपापूर्वक उसका अध्ययन कराया; आसुरि ने उसी तन्त्र का पञ्चशिख को। पञ्चशिख ने अनेक शिष्यों को पढ़ाकर तथा व्याख्यानभूत ग्रन्थों का निर्माण कर उस 'तन्त्र' का अच्छी तरह विस्तार किया।

आगे ७१वीं आर्या में ईश्वरकृष्ण लिखता है—

शिष्यपरम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः। संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्॥

'आर्यबुद्धि ईश्वरकृष्ण ने, शिष्यपरम्परा से प्राप्त हुए 'तन्त्र' का, उसके सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझकर, आर्या छन्दों के द्वारा संक्षेप किया।' इस आर्या में 'एतत्' पद 'तन्त्र' अथवा षष्टितन्त्र के लिये प्रयुक्त हुआ है। व्याख्याकार आचार्य[१] माठर ने भी 'एतत्' पद की व्याख्या करते हुए, इसका अर्थ 'षष्टितन्त्र' किया है। प्रकरण से भी इसी अर्थ की प्राप्ति होती है। यह 'एतत्' पद, 'संक्षिप्तम्' का कर्म है। इससे स्पष्ट होता है, कि ईश्वरकृष्ण ने उस 'षष्टितन्त्र' को ही आर्या छन्दों के द्वारा संक्षिप्त किया, जो 'षष्टितन्त्र' परमर्षि कपिल से लेकर ईश्वरकृष्ण तक, शिष्यपरम्परा के द्वारा प्राप्त हुआ। व्याख्याकारों ने इस शिष्यपरम्परा में आये हुए अनेक आचार्यों के नामों का भी उल्लेख किया है। इनका विवेचन हम प्रसंगवश आगे करेंगे। यहां केवल इतना ही दिखलाना है, कि कपिलने जिस षष्टितन्त्र की रचना की, और आसुरि को पढ़ाया, वही 'षष्टितन्त्र' शिष्यपरम्परा द्वारा ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ। ईश्वरकृष्ण ने उसका अच्छी तरह अध्ययन किया, और उसमें प्रतिपादित अर्थों को ठीकर समझ कर आर्या छन्दों में उसका संक्षेप किया।

क्या 'षष्टितन्त्र' का कर्त्ता वार्षगण्य था?—

कुछ विद्वानों का मत है, कि 'षष्टितन्त्र' का रचयिता वार्षगण्य है। इन विचारों का आधार भी शास्त्र में मिलता है। योगदर्शन, कैवल्य पाद के १३वें सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि व्यास लिखता है—

'तथाच शास्त्रानुशासनम्—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव[२] सुतुच्छकम्॥'

+ 'तदेव षष्टितन्त्रं आर्याभिः संक्षिप्तम्' माठरवृत्ति, का० ७१ पर।

२—यह पद्य सांख्यसप्तति व्याख्या-जयमंगला के ६३ पृष्ठ पर भी उद्धृत है। वहां 'मायेव सु०' की जगह 'मायावत्तु' पाठ है।

'शास्त्र भी कहता है—गुणों [सत्त्व, रजस्, तमस्] का सूक्ष्मरूप दृष्टिगोचर नहीं होता, तथा जो रूप दृष्टिगोचर होता है, वह माया के समान नश्वर है।' इस भाष्यपंक्ति की व्याख्या करते हुए अवतरणिका में वाचस्पति मिश्र लिखता है—

'अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः'

इस लेख से यह समझा जाता है, कि वाचस्पति मिश्र का यह विचार है, कि भाष्य में निर्दिष्ट पद्य 'षष्टितन्त्र' का है। ब्रह्मसूत्र [२।१।३] के शांकर भाष्य की व्याख्या करते हुए, पुनः वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—

'अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताहस्म भगवान् वार्षगण्यः'[1]

और यह लिखकर उपर्युक्त 'गुणानां परमं रूपं' इत्यादि पद्य को उद्धृत किया हुआ है। वाचस्पति मिश्र के इन दोनों लेखों के समन्वय से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि वह 'षष्टितन्त्र' को वार्षगण्य की रचना समझता है। बालराम[2] उदासीन ने भी इसी आधार पर, साठ पदार्थों का प्रतिपादन करने वाले सांख्यशास्त्र [षष्टितन्त्र] का रचयिता वार्षगण्य को माना है।

इस प्रसंग में प्रो० हिरियन्ना का विचार, तथा उसका विवेचन—

परन्तु अध्यापक हिरियन्ना महोदय ने इस प्रमाण को भी उक्त प्रसंग में असाधन[3] बताया है। उनका अभिप्राय यह है, कि व्यासभाष्य में पाठ 'मायेव' है, अर्थात् 'माया' पद के साथ 'इव' पद का प्रयोग किया गया है। परन्तु भामती में 'मायैव' पाठ है। यहां 'माया' पद के साथ 'एव' पद का प्रयोग है। इससे ज्ञात है, कि 'इव' घटित पाठ 'षष्टितन्त्र' का और 'एव' घटित पाठ वार्षगण्य का है, जैसा दोनों स्थलों पर वाचस्पति मिश्र ने लिखा है। इन दोनों पदों का प्रयोग एक दूसरे के स्थान पर भ्रान्ति के कारण नहीं हुआ, प्रत्युत एक आचार्य के श्लोक को दूसरे आचार्य ने एक पद के परिवर्तन से अपने विचारों के अनुसार प्रस्तुत कर लिया है। इसलिये इन श्लोकों का रचयिता एक व्यक्ति नहीं है। ऐसी स्थिति में उक्त आधार पर वार्षगण्य को षष्टितन्त्र का रचयिता नहीं कहा जासकता। अध्यापक हिरियन्ना महोदय ने और भी अधिक कहा है, कि वार्षगण्य परिणामवादी होता हुआ भी ब्रह्म-परिणामवादी था, और ऐसा मानने पर ही भामती में उक्त श्लोक का उद्धृत किया जाना संगत हो सकता है।

श्रीयुत अध्यापक हिरियन्ना महोदय के इन विचारों के विषय में हमारा निवेदन है, कि जहांतक वार्षगण्य का षष्टितन्त्र के रचयिता न होने का सम्बन्ध है, हम उससे सहमत हैं। परन्तु 'इव' और 'एव' पद के केवल पाठभेद के आधार पर यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती। यह ठीक है, कि 'इव' पद सादृश्य के लिये और 'एव' निर्धारण के लिये प्रयुक्त होता है। परन्तु अत्यधिक

१—इसीलिये योगशास्त्र का व्युत्पादन अर्थात् व्याख्यान करते हुए भगवान् वार्षगण्य ने कहा है—।

२—योगदर्शन ३।१३ की तत्त्ववैशारदी व्याख्या की टिप्पणी, और १७ वीं कारिका की सांख्यतत्त्वकौमुदी में २२८ पृष्ठ की २ टिप्पणी, बाम्बे निर्णयसागर प्रैस संस्करण।

३—जर्नल आफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, Vol. ३, जून १९२९ A.D. पृष्ठ १०७-११२

सादृश्य के लिये भी 'एव' पद का प्रयोग असंगत नहीं है। कोष[1] में 'इव' और 'एव' पदों को समानार्थक कहा है। 'इव' की तरह 'एव' पद भी साम्य अर्थात् सादृश्य अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। इसीलिये 'इव' के प्रयोग में उपमा के समान, 'एव' के प्रयोग में रूपक बन जाता है, जो अवश्य सादृश्य मूलक कहा जाता है। ऐसी स्थिति में भामती का 'एव' घटित पाठ भी किसी अन्य ऐसे विशेष अर्थ को नहीं बतलाता, जो 'इव' घटित पाठ से प्रकट नहीं हो सकता।

अब भामती के 'एव' घटित पाठ को लेकर उक्त श्लोक का अर्थ इसप्रकार किया जा सकता है—'गुणों का परमरूप दृष्टिगोचर नहीं होता, जो दृष्टिगोचर होरहा है, वह माया ही है।' यहां पर दृश्य जगत् को माया बताना, यही प्रकट करता है, कि यह जगत् विनाश-शील है। किसी प्रमाण के आधारपर अभीतक यह अवगत नहीं होसका है, कि वार्षगण्य दृश्यमान जगत् को सर्वथा मिथ्या अथवा काल्पनिक मानता था। भामतीकार ने भी जिस प्रसंग के साथ इस श्लोक को उद्धृत किया है, वहां से भी वार्षगण्य के इसप्रकार के विचारों की ध्वनि प्रतीत नहीं होती। फिर दृश्य जगत् का कारण, जो कि दृष्टिगोचर नहीं होता, और गुणों का परम रूप है, वह क्या है? वह प्रकृति अर्थात् प्रधान है, अथवा ब्रह्म। हमने जहाँ तक वार्षगण्य के विचारों को समझा है, गुणों का परमरूप वह प्रधान को ही कह सकता है, ब्रह्म को नहीं। कम से कम हमने आज तक कोई भी ऐसा लेख नहीं देखा। फिर ब्रह्म को, गुणों का रूप कहना भी सामञ्जस्यपूर्ण नहीं होगा। प्रश्न केवल इतना है, कि दृश्यमान जगत् का मूल उपादान, चेतन है अथवा अचेतन? वार्षगण्य मूल उपादान को चेतन नहीं मानता, प्रत्युत अचेतन[2] प्रधान को ही जगत् का मूल मानता है। उसके विचार से वही गुणों का परम रूप है। ऐसी स्थिति में अध्यापक हिरियन्ना महोदय ने वार्षगण्य को ब्रह्म-परिणामवादी किस आधार पर माना है, हम कह नहीं सकते। इसलिए वार्षगण्य दृश्य जगत् को भी काल्पनिक नहीं मान सकता। उसने 'माया' पद का प्रयोग नश्वरता[3] को ही प्रकट करने के लिये किया है। और इस प्रकार 'एव' 'इव' के पाठभेद में भी अर्थभेद कुछ नहीं होता।

१—'व वा यथा तथैवैवं साम्ये' अमर० ३। ४। ९॥ 'तथैवैवं' इति पाठमाश्रित्य स्वामिमुकुटाभ्यामत्र 'इव' शब्दो गृहीतः। हैमकोश में भी 'एव' पद उपमा अर्थ में कहा है—'एवौपम्ये परिभवे ऽप्यर्थेऽवधारणे'। [व्याख्यासुधा ३। ४। ९]

२—सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका व्याख्या में वार्षगण्य और उसके अनुयायियों के अनेक मतों का उल्लेख है। वहां से उद्धृत निम्नलिखित वाक्य प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डालते हैं—

प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणाऽपरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्त्तते। [पृ० १०२। पं० २४ २५]
करणानां स्वभावातिवृत्तिः प्रधानात् स्वल्पा च स्वतः। [पृ० १०८। पं० १५-१६]
साधारणो हि महान् प्रकृतित्वात् [पृ० १४२। पं० ९]

३—'तस्माद् व्यक्तस्यापगमो विनाशः। स तु द्विविधः— आसर्गप्रलयात् तत्त्वानाम्, किञ्चित्कालान्तरावस्थानादितरेषाम्।' [युक्तिदीपिका, पृ०६७। पं० १६-१७]

इसके अतिरिक्त एक स्थल में इस श्लोक का ऐसा पाठ मिलता है, जहां न 'इव' है, और न 'एव'। वह पाठ सांख्यसप्तति की जयमंगला नामक टीका में दिया गया है। वहां—'तन्माया-वस्तु तुच्छकम' [पृ० ६८। ६१ वीं कारिका की अवतरणिका में] पाठ है। यहां 'इव' पद न होने पर भी उसके अर्थ के बिना कार्य नहीं चलसकता।

इसीप्रकार समन्तभद्र विरचित 'अष्टसहस्री' नामक जैनग्रन्थ की व्याख्या [1] के १४४ पृष्ठ पर उक्त श्लोक को इस रूप में लिखा है—

गुणानां[1] सुमहद्रूपं[2] न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु[3] दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव[4] सुतुच्छकम्[5]॥

वहीं टीका में इसका व्याख्यान इसप्रकार है—

१—सत्वरजस्तमसां सांख्योक्तानाम्। २—प्रधानम्। ३—बुद्धयादिकम्। ४—इवशब्दोऽत्र वाक्यालंकारे। ५—निस्स्वभावम्।

इस व्याख्या में अर्थ करने के लिये 'इव' शब्द का कोई उपयोग नहीं माना है। परन्तु किसीभी सांख्याचार्य ने दृश्य जगत् को सर्वथा तुच्छ अथवा निस्स्वभाव स्वीकार नहीं किया। नश्वर या परिणामी अवश्य माना है। इसप्रकार 'इव' 'एव' के पाठमें अथवा इनके अपाठ में भी अर्थ एक ही करना होगा। ऐसी स्थिति में वाचस्पतिमिश्र के दोनों स्थलों के लेखों का सामञ्जस्य देखते हुए, यह परिणाम निकाला जासकता है, कि वार्षगण्य, षष्टितन्त्र का रचयिता है।

व्यास का 'शास्त्रानुशासनम्' पद, और उसका अर्थ—

इस सम्बन्ध में एक विचार यह है, कि व्यासभाष्य और तत्त्ववैशारदी दोनों के उक्त स्थल के लेखों को मिलाकर देखने से यह स्पष्ट होजाता है, कि यहां 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ के नाम का उल्लेख नहीं है। और भामती के प्रसंग में केवल 'वार्षगण्य' का नाम है। तथा उसे 'योगशास्त्र का व्युत्पादयिता' बताया है। 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ का नाम वहां भी निर्दिष्ट नहीं किया गया। इसलिये यहां एक बात बहुत ध्यान देने की है। आचार्य ने अपने भाष्य में 'तथा च शास्त्रानुशासनम्' लिखकर 'गुणानां परमं रूपं' इत्यादि पद्यका अवतरण किया है। विद्वानोंका ध्यान हम उसके 'शास्त्र' पद की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं।

यहां व्यास का अभिप्राय किसी ग्रन्थ विशेष के निर्देश करने का नहीं प्रतीत होता। यद्यपि वह पद्य किसी ग्रन्थ का ही होसकता है, परन्तु व्यास ने उस ग्रन्थ का निर्देश न करके सामान्य रूप से 'शास्त्र' पद का प्रयोग कर दिया है, जिस शास्त्र पर यह ग्रन्थ लिखा गया होगा। इसीलिये वाचस्पति मिश्र ने इन पदों की व्याख्या करते हुए तत्त्ववैशारदी में 'शास्त्र' पद को उसी तरह रहने दिया है, और उसके पहिले उस शास्त्र का नाम जोड़ दिया है। वहां पर वाचस्पति का लेख इसप्रकार है—

'षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः।'

अर्थात् षष्टितन्त्र शास्त्र का यह अनुशासन = कथन है। इससे यह बात स्पष्ट होजाती है,

---

१—अकलङ्कदेवकृत 'आप्तमीमांसालंकृति' नामक वृत्ति।

कि वाचस्पति मिश्र, षष्टितन्त्र 'शास्त्र' की ओर निर्देश कर रहा है, 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ विशेष की ओर नहीं। अभिप्राय यह है, कि व्यास[1] के बहुत पहले ही 'षष्टितन्त्र' पद एक शास्त्र विशेष [दार्शनिक सिद्धान्तों की एक व्यवस्थित धारा = A particular school of systematic philosophical Doctrines] के लिये साधारण व्यवहार में आने लगा था। यद्यपि सबसे प्रथम 'षष्टितन्त्र' सांख्यसिद्धान्त का मूलग्रन्थ था। सांख्य का आदि प्रवर्त्तक महर्षि कपिल उसका रचियता था। अनन्तर बहुत काल तक जो भी ग्रन्थ उस विषय पर लिखे गये, उनके लिये भी 'षष्टितन्त्र' पदका ही व्यवहार होता रहा। आजभी संस्कृत साहित्य में यह परम्परा चली आती है, कि हम किसी भी आचार्यकी रचनाको, उस विषयके मूल ग्रन्थ अथवा मूललेखक के नाम पर ही प्रायः लिख देते हैं। सांख्य-योग तो सर्वथा समान शास्त्र समझे जाते हैं। यदि उनमें परस्पर कहीं सांख्य के लिये योग, और योगके लिये सांख्य पदका व्यवहार होजाय, तो कुछ आश्चर्य नहीं है। इसलिये वार्षगण्यने जब इस पद्यको लिखा था, उससे बहुत पहिले ही षष्टितन्त्र की रचना होचुकी थी, और वह तद्विषयक सिद्धान्तोंके लिये साधारण रूपसे भी व्यवहार में आने लगा था। वाचस्पति मिश्रने इसीलिये वार्षगण्यको भामती में 'योगशास्त्र व्युत्पादयिता' लिखा है। अर्थात् योगशास्त्र का व्याख्यान करने वाला। चाहे वार्षगण्यने पातञ्जल योगके सिद्धान्तों पर अपना ग्रन्थ लिखा हो, अथवा कापिल सांख्यसिद्धान्तों पर, किसी भी स्थितिमें वह उस विषय के मूलग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' का लेखक नहीं होसकता। वह केवल उसके व्याख्याग्रन्थों का लेखक है। ऐसी स्थितिमें वाचस्पति मिश्रके लेखों के आधार पर जिन विद्वानोंने यह समझा है, कि वार्षगण्य मूल 'षष्टितन्त्र'

१—यद्यपि व्यास का समय अभी अनिश्चित है। श्रीयुत राधाकृष्णन महोदय ने इसका समय ४०० खीस्ट [Indian Philosophy, II. 342] माना है। हमारे विचार से यह समय ठीक नहीं है। व्यास का समय ईश्वरकृष्ण से अवश्य पूर्व होना चाहिये। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि पातञ्जल योगसूत्रों का भाष्यकार व्यास, महाभारत रचयिता व्यास से सर्वथा भिन्न है और उससे पर्याप्त अर्वाचीन भी। तथापि 'षष्टितन्त्र' की रचना का काल महाभारत से भी बहुत प्राचीन है। उस समय तक इस नाम की कुछ विशेष ग्रन्थ-परता नहीं रह गई थी। 'सांख्य' नाम भी व्यवहार में आता था। और लेखक की अपनी अभिरुचि पर निर्भर था, कि वह उसी शास्त्र के लिये 'षष्टितन्त्र' नाम का प्रयोग करे, अथवा 'सांख्य' नाम का। विद्वानों ने महाभारत से पर्याप्त अनन्तर काल में भी 'षष्टितन्त्र' पद का बहुशः प्रयोग किया है। इसी प्रकार योगसूत्रों के भाष्यकार व्यास ने भी 'शास्त्र' पद का प्रयोग इसी अभिप्राय से किया, जिसका स्पष्टीकरण वाचस्पति मिश्र ने 'षष्टितन्त्रशास्त्र' लिखकर कर दिया है। इसका आधार, परम्परा ही कहा जासकता है। वस्तुतः 'षष्टितन्त्र' और 'सांख्य' दोनों नाम प्राचीन हैं। अध्यात्ममार्ग के उपयोगी साठ पदार्थों का निरूपण करने से 'षष्टितन्त्र' तथा प्रकृति एवं प्राकृतिक कुल २४ तत्त्वों अर्थात् आधिभौतिक तत्त्वों और पुरुष के भेद-ज्ञानोपायों का प्रतिपादन करने से इसका 'सांख्य' नाम है। इन दोनों पदों में से किसी भी पद का प्रयोग किये जाने में कोई असामञ्जस्य नहीं समझना चाहिये। यह केवल लेखक की अपनी इच्छा पर निर्भर है।

नामक ग्रन्थका रचयिता था, वह संगत नहीं कहा जासकता।

वाचस्पतिने पातञ्जल सूत्र [१।२५] की तत्त्ववैशारदी में और वेदान्त सूत्र [२।१।१] की भामतीमें 'तन्त्र' अथवा 'षष्टितन्त्र' का रचयिता कपिल को स्वीकार किया है। उस जैसा विद्वान् इतनी स्थूल भ्रान्ति नहीं कर सकता था, कि उसी ग्रन्थका रचयिता वार्षगण्यको भी लिखदे। वाचस्पतिके लेख की वास्तविकता को समझना चाहिये। उसने व्यासभाष्य के 'शास्त्र' पदका 'षष्टितन्त्र शास्त्र' विवरण लिखकर अपनी स्पष्टताको पूरा निभाया है। उसका अभिप्राय यदि ग्रन्थका नाम निर्देश करनेका होता, तो वह 'षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः' के स्थानपर केवल 'षष्टितन्त्रस्यानुशिष्टिः' भी लिख सकता था, जिससे किसी प्रकारके सन्देहका अवकाशही न रहे। परन्तु 'षष्टितन्त्र' के साथ 'शास्त्र' पद रखकर उसने यह स्पष्ट किया, कि उक्त सन्दर्भ, मूल 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थका नहीं, प्रत्युत तद्विषयक शास्त्र का है। और वह 'षष्टितन्त्र' के विषयोंको लेकर की गई रचना, वार्षगण्यकी होसकती है, जिसका श्लोक भामती [२।१।३] में उद्धृत किया गया है। यह एक विशेष ध्यान देनेकी बात है, कि वाचस्पतिने वहां उक्त श्लोकके साथ वार्षगण्य का ही नाम लिखा है, ग्रन्थका नाम नहीं। और ग्रन्थका नाम तत्त्ववैशारदी में भी नहीं है, इससे स्पष्ट होता है, कि वाचस्पति मिश्र, वार्षगण्यको मूल 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थका रचयिता नहीं समझता। वस्तुतः आधुनिक विद्वानोंने तत्त्ववैशारदीके 'शास्त्र' पद प्रयोग की ओर ध्यान न देकर, एक भ्रान्तिमूलक धारणा को जन्म दे दिया, जिसमें वाचस्पति मिश्रका किसी तरह स्वारस्य नहीं है।

वार्षगण्य, मूल 'षष्टितन्त्र' का रचयिता इसलियेभी नहीं कहा जासकता, कि उससे अत्यन्त पूर्ववर्त्ती आचार्य पञ्चशिखने अपने एक सूत्र[1] में 'तन्त्र' अथवा 'षष्टितन्त्र' का प्रवक्ता कपिल को लिखा है, इससे सिद्ध होता है,कि वार्षगण्यसे बहुत पहलेही मूल षष्टितन्त्रकी रचना होचुकी थी।

योगसूत्रों के व्यासभाष्य में 'गुणानां परमं रूपं' इत्यादि पद्य को यद्यपि शास्त्रके नामसे लिखा गया है, और वाचस्पति मिश्रने उसको 'षष्टितन्त्रशास्त्र' का बताया है, 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थका नहीं परन्तु इसीप्रकार का पद्य वाक्यपदीय (प्रथम काण्ड, श्लोक ८) में भी उद्धृत मिलता है। पद्य है—

इदं फेनो न कश्चिद्वा बुद्बुदो वा न कश्चन। मायैषा वत दुष्पारा विपश्चिदिति पश्यति॥

अन्धो मणिमविन्दत् तमनङ्गुलिरावयत्। तमग्रीवः प्रत्यमुञ्चत् तमजिह्वोऽभ्यपूजयत्॥

वाक्यपदीय का व्याख्याकार वृषभदेव इन पद्योंके सम्बन्धमें लिखता है—

इदं फेन इति। षष्टितन्त्रग्रन्थश्चायं यावदभ्यपूजयदिति। दृश्यमानस्य तुच्छतामाह। फेनइति वस्तु सद्भावमात्रं कथितम्॥ परमार्थतो निष्पन्नं तदपि नास्तीत्याह।

व्याख्याकार का लेख इस बातको स्पष्ट रूपमें कह रहा है, कि ये पद्य षष्टितन्त्र ग्रन्थ के हैं। हमारी यह धारणा होती है, कि इनमें प्रथम श्लोक वार्षगण्य का होसकता है। दोनों

[1] 'आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।' इस सूत्र का प्रसंग, पूर्व भी अनेक बार आचुका है।

('इदं फेन' इत्यादि तथा 'गुणानां परमं रूपं' इत्यादि) श्लोकों की समानताके आधारपर यदि इस विचार को ठीक मान लिया जाय तो इससे यह परिणाम निकल आता है, कि वार्षगण्यका ग्रन्थ भी 'षष्टितन्त्र' नामसे प्रसिद्ध था। ऐसा मानने पर भी हमारे इस निश्चय में कोई बाधा नहीं आती, कि मूल 'षष्टितन्त्र' के मौलिक सिद्धान्तों को आधार बनाकर वार्षगण्य ने अपने ग्रन्थ की रचना की थी। इसीलिये उसके ग्रन्थ भी इसी नामसे व्यवहृत होते रहे। वार्षगण्य सांख्य सम्प्रदाय का एक मुख्य आचार्य है। और इसने कई मौलिक सांख्यसिद्धान्तों के सम्बन्ध में अपना विचारभेद भी प्रदर्शित किया है। प्रसंगवश उन मतोंका हमने सप्तम प्रकरणमें उल्लेख किया है। इसप्रकार मूल षष्टितन्त्र का रचयिता कपिल ही माना जासकता है।

एक बात और यहां ध्यान देने योग्य है। वाक्यपदीय में उद्धृत इन श्लोकों में से दूसरा श्लोक, तैत्तिरीय आरण्यक [१।११।५] मे उपलब्ध होता है। परन्तु वृषभदेव के कथनानुसार यह श्लोक षष्टितन्त्र ग्रन्थका होना चाहिये। यह कल्पना नहीं की जासकती, कि यह श्लोक तैत्तिरीय आरण्यक में वार्षगण्य के षष्टितन्त्र ग्रन्थ से लिया गया होगा। भारतीय परम्परा इस बात के लिये एक साधन कही जासकती है, कि तैत्तिरीय आरण्यक, वार्षगण्यके काल से अवश्य प्राचीन माना जाना चाहिये। ऐसी स्थितिमें यही कहना अधिक युक्त होगा, कि वार्षगण्यने इस श्लोक को किसी अन्य स्थल से लेकर अपने ग्रन्थमें स्वीकार कर लिया है। यह भी संभव है, कि लोकोक्ति के रूपमें यह श्लोक बहुत पुराने समय से इसी तरह चला आरहा हो। आवश्यकतानुसार ग्रन्थकारोंने अपने २ ग्रन्थोंमें इसको स्थान दिया। परन्तु प्रतीत होता है, व्याख्याकार वृषभदेवने इन श्लोकोंको वार्षगण्यके ग्रन्थसे ही लिया। इसीतरह के एक और सन्दर्भ का हमने इसी प्रकरण में आगे निर्देश किया है, जिसको वाचस्पति ने ४७ वीं कारिका की सांख्यतत्त्वकौमुदी व्याख्यामें वार्षगण्य के नामसे उद्धृत किया है, जो 'तत्त्वसमास' का १२ वां सूत्र है।

जिस षष्टितन्त्र के आधार पर ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका की रचना की है, उस का रचयिता वार्षगण्य इसलिए भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह सांख्य के एक अवान्तर सम्प्रदाय का मुख्य आचार्य है। विन्ध्यवासी भी उसी सम्प्रदाय का एक आचार्य हुआ है। सांख्य के कई सिद्धान्तों के सम्बन्ध में वार्षगण्य और विन्ध्यवासी का एक ही मत है। परन्तु उन्हीं सिद्धान्तों के सम्बन्ध में ईश्वरकृष्ण के साथ उनका विरोध है। इसलिए ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं का आधार ग्रन्थ, वार्षगण्य की रचना नहीं कहा जा सकता। इन मतभेदों का उल्लेख हमने इसी ग्रन्थ के सप्तम प्रकरण में किया है।

मूल आचार्य अथवा मूल शास्त्र के नाम पर, अन्य रचना का उल्लेख—

हम यहां कुछ ऐसे प्रमाण दे देना चाहते हैं, जिनसे पाठकों को यह निश्चय हो जायगा, कि अन्य आचार्यों की रचनाओं को भी उस विषय के मूल ग्रन्थ या मूल लेखक के नाम पर उद्धृत किया जाता रहा है।

(१)—बृहत्संहिता के व्याख्याकार भट्टोत्पल ने अपनी व्याख्या में ईश्वरकृष्ण की

२२ से ३० तक की नौ कारिकाओं को प्रारम्भ में ही 'तथा च कपिलाचार्यः' कहकर उद्धृत किया है। यह एक निश्चित बात है, कि इन कारिकाओं को ईश्वरकृष्ण ने बनाया है, कपिलाचार्य ने नहीं। परन्तु इस विचार से कि उन कारिकाओं में सांख्य के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है, सांख्य के मूल लेखक कपिलाचार्य के नाम से ही उनका उद्धरण कर दिया है।

(२)—सांख्यकारिका की जयमंगला नामक व्याख्या में २३वीं कारिका की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने लिखा है—

'यथोक्तं सांख्यप्रवचने[1]*—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि' इति नियमाः।*

यम और नियमों का निर्देश करने वाले ये दोनों सूत्र, पातंजल योगदर्शन [२।३०,३२] के हैं। परन्तु इनको जयमंगला के रचयिता ने 'सांख्यप्रवचन' के नाम पर उद्धृत किया है। जिसका आधार सांख्ययोग की समानशास्त्रता अथवा सांख्य की मौलिकता होसकता है। योगका 'सांख्यप्रवचन' यह अपर नाम सांख्य की समानतन्त्रता के आधार पर निर्णय किया गया प्रतीत होता है।

(३)—मनुस्मृति की मेधातिथिकृत व्याख्या में कौटलीय अर्थशास्त्र के कुछ वचन, समानतन्त्र [2] कहकर ही उद्धृत कर दिये गये हैं। इन दोनों ग्रन्थों की समानतन्त्रता का आधार यही कहा जासकता है, कि कौटलीय अर्थशास्त्र राजनीति का ग्रन्थ है, और मनुस्मृति के जिस अध्याय [सप्तम] में अर्थशास्त्र के वचन उद्धृत हैं, उसमें भी राजनीति का वर्णन है। इतनी समानता पर ही मेधातिथि, कौटलीय अर्थशास्त्र को मनुस्मृति का समानतन्त्र समझता है। परन्तु सांख्य-योग तो इतने अधिक समान हैं, कि यदि उन्हें एक ही कह दिया जाय, तो कुछ अनुचित न होगा। ऐसी स्थिति में वार्षगण्य के योगविषयक ग्रन्थ के सन्दर्भ को 'षष्टितन्त्र' के नाम पर कह देना वाचस्पति के लिये असमंजस नहीं कहा जा सकता।

(४)—'सन्मति तर्क' नामक जैन ग्रंथ में एक उद्धरण है।

तथा तत्रभगवता पतञ्जलिनाऽप्युक्तम् 'भोगाभ्यासमनुवर्धन्ते[3] *रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्'*

१—योग का अपरनाम 'सांख्यप्रवचन' भी है। देखें-सर्वदर्शनसंग्रह का सांख्यप्रकरण॥ उदयनकृत न्यायकुसुमाञ्जलि का 'अनुशिष्यते च सांख्यप्रवचने ईश्वरप्रणिधानम्' [२।१७]—यह लेख भी पातञ्जल योग के 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' [१।२३] इस सूत्र का स्मरण कराता है।

२—मनुस्मृति ७।१६१ पर मेधातिथि लिखता है—

'समानतन्त्रेऽप्युक्तम्—द्वे शते धनुषां गत्वा राजा तिष्ठेत् प्रतिग्रहे। भिन्नसंघातनार्थं तु न युध्येताप्रतिग्रहः॥

इसकी तुलना कीजिए कौटलीय अर्थशास्त्र, अधि० १० अ० ५, सूत्र ६४॥ [यह सूत्रसंख्या इसी ग्रन्थकार के द्वारा अनुवादित तथा लाहौर से १९२६ ईसवी में प्रकाशित 'कौटलीयअर्थशास्त्र' के अनुसार दी गई है]। और देखें—मनुस्मृति, मेधातिथि व्याख्या, अ० ७, श्लोक २०५॥ की तुलना करें, कौट० अर्थशास्त्र, अधि०६, अध्या० २, सूत्र ७॥

३—योगसूत्र [२।१५] व्यासभाष्य में 'अनुविवर्धन्ते' पाठ है।

इति। [पृ० १५३। पं० १८]

सन्मतितर्क व्याख्या के रचयिता आचार्य अभयदेव सूरि ने पतंजलि के नाम पर जिन वाक्यों को उद्धृत किया है, वे पतंजलि के ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हैं। प्रत्युत पातंजल योगसूत्र [२।१५] के व्यासकृत भाष्य में ठीक उसी आनुपूर्वी के साथ उपलब्ध होते हैं। इससे स्पष्ट है, कि व्यास के वाक्यों को, उस दर्शन के मूल आचार्य पतंजलि के नाम पर उद्धृत कर दिया गया है।

(५)—मलयगिरि सूरिकृत 'धर्म संग्रहणी वृत्ति' नामक जैन ग्रन्थ के १०७ पृष्ठ पर एक उद्धरण इसप्रकार उल्लिखित है।

यदाह पाणिनिः—'द्विवचनं बहुवचनेन' इति।

यह उक्ति पाणिनीय व्याकरण में कहीं नहीं है। केवल 'अस्मद्' पद के द्विवचन की जगह बहुवचन का प्रयोग कियेजाने का नियम [१।२।५९में] उपलब्ध होता है। उस सूत्र की रचना है—'अस्मदो द्वयोश्च'। परन्तु मलयगिरि सूरि ने जिस प्राकृत नियम का संस्कृत रूपान्तर करके पाणिनि के नाम से उल्लेख किया है, वह पद्यमय सूत्र 'ललितविस्तरा चैत्यवन्दनवृत्ति' नामक जैन ग्रन्थ के १२ पृष्ठ पर 'उक्तञ्च' कहकर उद्धृत हुआ २ इसप्रकार उपलब्ध होता है—

बहुवयणेण दुवयणं छट्ठिविभत्तीए भण्णइ च उत्थी।
जह हत्था तह पाया नमो ऽत्थु देवाहिदेवाणं॥

इस आर्या के प्रथम चरण को ही संस्कृतरूपान्तर करके मलयगिरि सूरि ने पाणिनि के नाम से उद्धृत कर दिया है। इसका कारण यही है, कि पाणिनि वर्त्तमान व्याकरण का उपज्ञ है। इसलिये अन्य आचार्य के कहे हुए भी व्याकरण सम्बन्धी किसी नियम को पाणिनि के नाम पर उद्धृत कर दिया गया है। इस उपर्युक्त सूत्र का पदविपर्यय के साथ 'आवश्यकसूत्र हारिभद्रवृत्ति-युत' नामक जैन ग्रन्थ के ११ पृष्ठ पर भी 'दुव्वयणे बहुवयणं' इसप्रकार निर्देश उपलब्ध होता है[1]।

(६)—हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय[2] की, गुणरत्नसूरिकृत व्याख्या के सांख्यमत प्रकरण में एक लेख इसप्रकार है—

"आह च पतञ्जलिः—'शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते, इति।',

इस आनुपूर्वी का लेख पतञ्जलि के ग्रन्थ में कहीं उपलब्ध नहीं है। पतञ्जलि के योग सूत्र—'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः, [२।२०] पर व्यासभाष्य में यह सन्दर्भ, इसी आनुपूर्वी के साथ उपलब्ध होता है। व्यासभाष्य का पाठ इसप्रकार है—

'शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यः—यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते।'

१—'सम्मति तर्क' नामक जैन ग्रन्थ की अभयदेव सूरिकृत व्याख्या के २७२ पृष्ठ की ८ संख्यागत टिप्पणी के आधार पर।

२—एशियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ता का १९०५ ईसवी सन् का संस्करण, पृष्ठ १०५॥

इन पाठों की तुलना से यह स्पष्ट होजाता है, कि गुणरत्न सूरि ने भाष्यकार व्यास के ही सन्दर्भ को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है, और उसको व्यास के नाम पर न लिखकर, उस दर्शन के मूल आचार्य पतञ्जलि के नाम पर लिखा है।

वाचस्पति के वार्षगण्य सम्बन्धी लेख को भी हम इसी रीति पर समझ सकते हैं। वार्षगण्य ने सांख्य-योग शास्त्र पर किसी ग्रन्थ का निर्माण किया होगा। क्योंकि योग और सांख्य समानशास्त्र हैं, इसलिये वाचस्पति ने, मूल ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' के नाम पर ही उस शास्त्र का निर्देश करदिया, जिस शास्त्र-विषय पर वार्षगण्य ने अपना ग्रन्थ लिखा था। आज भी हम गौतम के न्यायसूत्रों पर अथवा पाणिनि के व्याकरणसूत्रों पर लिखे ग्रन्थों को गौतमीय न्यायशास्त्र या पाणिनीय व्याकरणशास्त्र के नाम से कहसकते हैं।

वार्षगण्य के सम्बन्ध अन्य विचार—

वार्षगण्य के सम्बन्ध में जो नई सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे यह सन्देह होता है, कि क्या यह कोई पृथक् आचार्य था ? या पञ्चशिख का ही दूसरा नाम वार्षगण्य था ? संभव है, एक ही व्यक्ति के ये दोनों नाम हों। सांस्कारिक नाम पञ्चशिख हो और वार्षगण्य गोत्रनाम हो। इनकी एकता बतलाने वाले प्रमाणों का हम यहां संकलन करते हैं।

(१)—योगसूत्र [३,१३] पर भाष्य करते हुए आचार्य व्यास ने लिखा है—

'उक्तञ्च—रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते।'

इस पर व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखता है—

'अत्रैव पञ्चशिखाचार्यसम्मतिमाह—उक्तञ्च इति।'

इस लेख से स्पष्ट प्रमाणित होजाता है, कि व्यासभाष्य में उद्धृत सूत्र, वाचस्पति मिश्र के विचार से आचार्य पञ्चशिख का है। परन्तु सांख्यसप्तति की १३वीं कारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में व्याख्याकार ने लिखा है—

'तथा च भगवान् वार्षगण्य पठति—रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह वर्तन्ते।'

युक्तिदीपिकाकार के इस लेख से स्पष्ट है, कि वह उक्त सूत्र को भगवान् वार्षगण्य की रचना समझता है। यद्यपि इन दोनों स्थलों पर उद्धृत सूत्रपाठ में थोड़ा सा अन्तर है। युक्तिदीपिका में सूत्र का 'परस्परेण' पद नहीं है। और 'प्रवर्त्तन्ते' क्रियापद के स्थान पर केवल 'वर्त्तन्ते' पद है। परन्तु इतना साधारण सा पाठभेद, सूत्ररचयिताओं के भेद का प्रबल प्रमाण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सूत्र की शेष आनुपूर्वी में किसी तरह का अन्तर नहीं है। नागोजी भट्ट ने योग सूत्रवृत्ति में युक्तिदीपिकाकार के अनुसार ही पाठ दिया है, और इस सूत्र को पञ्चशिख का बताया है। वहां पाठ इसप्रकार है—

'तदुक्तं पञ्चशिखाचार्यैः—रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह

प्रवर्त्तते ।' इति ।

केवल अन्तिम क्रियापद का पाठ व्यासभाष्य के पाठ से मिलता है। इसलिये दोनों स्थलों पर एक ही सूत्र को उद्धृत मानने में कोई बाधा नहीं रह जाती।

यद्यपि यह सन्देह किया जासकता है, कि वार्षगण्यन अपने ग्रन्थ में पञ्चशिख सूत्र का उद्धरण किया हो, और वहां से युक्तिदीपिकाकार ने लेकर वार्षगण्य के नाम पर ही यहां उल्लिखित करदिया हो। वार्षगण्य सूत्र का पञ्चशिख के द्वारा उद्धृत किया जाना तो माना नहीं जा सकता। क्योंकि इनको भिन्न आचार्य मानने पर पञ्चशिख को अवश्य ही वार्षगण्य से प्रचीन माना जायेगा। पंचशिख, कपिल का साक्षात् प्रशिष्य था। परन्तु इसबात का भी हमारे पास कोई प्रमाण नहीं, कि वार्षगण्य ने पंचशिख के ग्रन्थ से अपने ग्रन्थ में इस सूत्र का उद्धरण किया होगा। क्योंकि युक्तिदीपिका कार जैसे विद्वान् के सम्बन्ध में इतनी अज्ञान मूलक बात का होना समझ में नहीं आता, कि उसने वार्षगण्य के ग्रन्थ में उद्धृत वाक्यको वार्षगण्य के नाम से यहां लिख दिया होगा।

(२) संभव है, ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हों, इसके लिये हम एक उपोद्बलक प्रमाण और देते हैं। योगदर्शन समाधिपाद के चौथे सूत्र का भाष्य करते हुए आचार्य व्यास ने लिखा है—

> तथा च सूत्रम्—'*एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' इति ।*
>
> इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र तत्त्ववैशारदी में लिखता है-
>
> *एतच्च मतान्तरेऽपि सिद्धमित्याह—तथा च इति । पञ्चशिखाचार्यस्य सूत्रम्—'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' इति ।*

वाचस्पति मिश्र के इस लेख से स्पष्ट होजाता है, कि वह इस सूत्र को पञ्चशिख की रचना मानता है। इसी सूत्र को युक्तिदीपिका व्याख्या में ५ वीं कारिका की व्याख्या करते हुए ४१ वें पृष्ठ की २५, २६ पंक्तियों में दीपिकाकार ने इसप्रकार लिखा है—

> *तेन यच्छास्त्रम्—'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' इति तद्बाध्यते ।*

युक्तिदीपिकाकार ने यहां इस सूत्र को 'शास्त्रम' कह कर उद्धृत किया है। 'शास्त्रम' कह कर और भी अनेक उद्धरण युक्तिदीपिकाकार ने अपनी व्याख्या में दिये हैं। इन दोनों स्थलों के उद्धरणों की परस्पर संगति से यह परिणाम निकलता है, कि संभव है, जितने उद्धरण 'शास्त्र' के नाम से युक्तिदीपिका में उद्धृत किये गये हैं, वे सब पञ्चशिख के हों।

यहां पर पुनः हम अपने पाठकों का ध्यान योगदर्शन व्यासभाष्य के 'गुणानां परमं रूप' उद्धरण की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं, वहां आचार्य व्यास ने इस उद्धरण को 'शास्त्र' के नाम से ही उद्धृत किया है। वहां का पाठ है-'तथा च शास्त्रानुशासनम्' ।[1] उद्धरणों के

१—योगदर्शन, व्यासभाष्य ४ । १३ में वाचस्पति ने 'शास्त्र' पद से षष्टितन्त्रशास्त्र लिया है। इस सम्बन्ध

अवतरण की इस समानता के आधार पर हम इस परिणाम तक पहुँचते हैं, कि इन दोनों स्थलों पर 'शास्त्र' पद का तात्पर्य एक ही होना चाहिये। इससे 'गुणानां परमं रूपं' यह उद्धरण भी पञ्चशिख की रचना कहा जासकेगा।

(३) 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' [ब्रह्मसूत्र २। १। ३] सूत्र के शांकर भाष्य की भामती में इसी 'गुणानां परमं रूपं' उद्धरण को वार्षगण्य के नाम से उद्धृत किया गया है। उपर्युक्त लेखों के साथ संगत होकर वाचस्पति मिश्र का यह लेख भी हमें, पञ्चशिख और वार्षगण्य के एक होने की ओर आकृष्ट करता है। इस सब लेखका सार निम्नलिखित तीन युक्तियों में आजाता है—

(क) एकही सन्दर्भ, पञ्चशिख और वार्षगण्य दोनों के नाम से उद्धृत है।

(ख) एक ही उद्धरण, पञ्चशिख और शास्त्र के नाम से उद्धृत है।

(ग) एक ही उद्धरण, शास्त्र और वार्षगण्य के नाम से उद्धृत है।

इस सबका स्पष्ट परिणाम यह निकल आता है, कि पञ्चशिख, वार्षगण्य, और शास्त्र इन तीनों पदों का प्रयोग, एक ही व्यक्ति या उसकी रचना के लिये किया गया है। इनमें से पञ्चशिख और वार्षगण्य नाम उस व्यक्ति के हैं, और उसके बनाये ग्रन्थ के लिये 'शास्त्र' पद का प्रयोग किया गया है। सांख्याचार्यों की नामसूची[1] में एक स्थल पर पञ्चशिख और वार्षगण्य का पृथक् उल्लेख भी पाया जाता है। पर वहां का पाठ खण्डित और सन्दिग्ध है। अथवा पृथक नामोल्लेख का कारण भ्रम प्रमाद आदि भी हो सकता है।

यद्यपि निश्चित रूप से अभी हम इस बात को नहीं कह सकते, कि पञ्चशिख और वार्षगण्य ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं। फिर भी हमारे सामने ये दो विकल्प अवश्य उपस्थित होते हैं—

(अ)—या तो उपर्युक्त आधारों पर पञ्चशिख और वार्षगण्य, दोनों नाम एक व्यक्ति के माने जाँय।

(इ)—अथवा वाचस्पति मिश्र और युक्तिदीपिकाकार, दोनों में से किसी एक के लेख को अज्ञानमूलक तथा असंगत माना जाय।

इस सम्बन्ध में हमारी धारणा यह है, कि पञ्चशिख और वार्षगण्य दोनों आचार्य सर्वथा भिन्न हैं। पञ्चशिख अत्यन्त प्राचीन आचार्य है, और वार्षगण्य उससे पर्याप्त पश्चाद्वर्त्ती आचार्य। वार्षगण्य का समय, महाभारत युद्ध और पाणिनि के मध्य में स्थिर किया जासकता है, तथा पञ्चशिख, महाभारत से भी पूर्ववर्त्ती आचार्य है।

युक्तिदीपिका में प्रदर्शित, सांख्याचार्यों की नाम सूची में पञ्चशिख और वार्षगण्य का पृथक् उल्लेख, भ्रान्तिमूलक नहीं, प्रत्युत उनके भेद का निश्चायक है। उस प्रसंग में जो पाठ

में पहले हम स्पष्ट करचुके हैं, कि कपिलरचित मूलग्रन्थ-षष्टितन्त्र पर पञ्चशिख आदि आचार्यों के व्याख्या ग्रन्थ भी षष्टितन्त्र नाम से ही व्यवहार में आते थे।

१—युक्तिदीपिका, [सांख्यकारिका व्याख्या] पृष्ठ १७२ पं०, १५, १६॥

खण्डित नहीं, उसमें कोई सन्देह क्यों किया जाय ? इसके अतिरिक्त संख्या एक में जो आपत्ति कीगई है, कि एक ही सूत्र को, युक्तिदीपिकाकार ने वार्षगण्य का और वाचस्पति ने पञ्चशिख का बताया है। इन परस्पर विरुद्ध लेखों का समाधान यह किया जासकता है।

वह सूत्र मुख्यतः पञ्चशिख की रचना है। वार्षगण्य ने अपने ग्रन्थ में उस सूत्र को अपना लिया। अर्थात् अपनी रचना में उसी रूप से स्वीकार कर लिया। यह नहीं, कि उसको उद्धृत किया। अनन्तर युक्तिदीपिकाकार ने वार्षगण्य के ग्रन्थ से अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया। दोनों स्थलों में पठित इस सूत्र का थोड़ा सा पाठभेद, इस विचार का समर्थक कहा जा सकता है, कि पञ्चशिख की रचना को कुछ अन्तर के साथ वार्षगण्य ने अपने ग्रन्थ में स्वीकार करलिया परन्तु व्यासभाष्य में उद्धृत पञ्चशिख की वास्तविक रचना को, परम्पराज्ञान के अनुसार वाचस्पति ने उसी के नाम पर निर्दिष्ट किया। व्यासभाष्य अवश्य वार्षगण्य से पीछे की रचना है। एक वाक्य[1] पर स्वयं भाष्यकार ने वार्षगण्य का नाम दिया है। योगसूत्र [३।१३] में उद्धृत वाक्य को यदि भाष्यकार, वार्षगण्य की रचना समझता, तो वह उसका नाम देसकता था। एक ही वाक्य पर उसका नाम दिये जाने से यह परिणाम निकलता है, कि अन्य उद्धरण, वार्षगण्य की रचना नहीं है प्रत्युत अन्य किसी आचार्य की है। उस सूत्र के 'परस्परेण' पद और क्रिया के साथ प्रयुक्त 'प्र' उपसर्ग की उपेक्षा करके वार्षगण्य ने पञ्चशिख के सूत्र को अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया, उसीको युक्तिदीपिकाकार ने उद्धृत किया। इसलिये वह वार्षगण्य के नाम पर उद्धृत होना सर्वथा संगत था। यदि एक ही ग्रन्थकार एक सूत्र को, दोनों आचार्यों के नाम पर उद्धृत करता, तो अवश्य सन्देहजनक होता।

संख्या दो में जो आपत्ति उपस्थित कीगई है, उसका समाधान स्पष्ट ही है। वाचस्पति ने उस सूत्र को पञ्चशिख का बताया है। युक्तिदीपिकाकार उसे 'शास्त्र' के नाम से उद्धृत करता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है, कि उसने पञ्चशिख के ग्रन्थ को 'शास्त्र' पद से स्मरण किया है।

इसी आधार पर संख्या तीन की आपत्ति भी कुछ महत्त्व नहीं रखती, जिसप्रकार एक स्थल पर पञ्चशिख के ग्रन्थ को 'शास्त्र' पद से स्मरण किया गया है, उसीप्रकार दूसरे स्थल पर वार्षगण्य के ग्रन्थ को भी 'शास्त्र' पद से स्मरण किया जासकता है। सांख्य-ग्रन्थ में पञ्चशिख की रचना को 'शास्त्र' और योग-ग्रन्थ मे वार्षगण्य की रचना को 'शास्त्र' लिखा गया है। इसप्रकार योगसूत्र [४।१३ पर] व्यासभाष्य का वार्षगण्य के ग्रन्थके लिये 'शास्त्र' पद का प्रयोग संगत ही है। प्रस्तुत तथा अगले प्रकरण में हमने इस बात को स्पष्ट किया है, कि 'षष्टितन्त्र' कपिल का मौलिक ग्रन्थ था, परन्तु पञ्चशिख आदि के द्वारा रचित उसके व्याख्या ग्रन्थों को भी, इस नाम से अथवा 'षष्टितन्त्र शास्त्र' नाम से व्यवहृत किया जाता रहा है। क्योंकि प्रथम 'षष्टितन्त्र' एक ग्रन्थ का नाम होते हुए भी, अनन्तर काल में यह सांख्यशास्त्रमात्र के लिये भी प्रयुक्त होने लगा था। इसलिये युक्तिदीपिकाकार और वाचस्पति मिश्र के लेखों में परस्पर कोई विरोध नहीं कहा जा सकता। वे सर्वथा संगत और युक्तियुक्त हैं।

१—योगदर्शन [३।५३] व्यासभाष्य में।

वार्षगण्य के नाम पर दो उद्धरण और भी उपलब्ध होते हैं। योगदर्शन, व्यासभाष्य [३।५३] में पाठ है—

(क)—"*अत उक्तम्—'मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम्' इति वार्षगण्यः।*

सांख्यतत्त्वकौमुदी, वाचस्पति मिश्रकृत। कारिका ४७ पर—

(ख)—"*अत एव-'पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।*"

इन में से पहिले उद्धरण के सम्बन्ध में यह विचारणीय है, कि सूत्र से पहले उल्लिखित 'अत उक्तम्' पद, और सूत्र के अन्त में कहे हुए 'इति वार्षगण्यः' पद, परस्पर असंबद्ध प्रतीत होते हैं। यदि यह मान लिया जाय, कि 'अत उक्तम्' पद व्यास के ही लिखे हुए हैं, तो आदि और अन्त के पदों के असंबद्ध होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। उस स्थिति में इन पदों का अन्वय इसप्रकार किया जासकेगा—'अतः वार्षगण्यः इति उक्तम्'। वाक्य की यह रचना सर्वथा उन्मत्त प्रलाप के समान है। 'उक्तम्' के साथ 'वार्षगण्यः' पद प्रथमान्त नहीं होसकता। 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' [पाणिनीयाष्टक, ३।४।७०] इस पाणिनिनियम के अनुसार 'क्त' प्रत्यय, भाव और कर्म अर्थ में ही होता है, कर्त्ता में नहीं। अतः प्रत्यय के द्वारा कर्त्ता के अनुक्त होने से 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' [२।३।१८] इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार 'वार्षगण्य' पद के साथ यहां तृतीया विभक्ति होनी चाहिये। अर्थात् 'वार्षगण्यः' के स्थान पर 'वार्षगण्येन' यह तृतीयान्त प्रयोग संगत हो सकता है। ऐसी स्थिति में इसके अतिरिक्त हमारे सामने और कोई मार्ग नहीं रह जाता, कि हम 'इति वार्षगण्यः' के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण पाठ को व्यास के द्वारा उद्धृत किया हुआ समझें। इसका अभिप्राय यह होता है, कि व्यास ने वार्षगण्य के ग्रन्थ में "अत उक्तम्-मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम्" यह पाठ देखा, और उसे वहां से उसी तरह उद्धृत करके, अन्त में 'इति वार्षगण्यः' ये पद लिख दिये। इसका परिणाम यह निकलता है, कि उक्त सूत्र वार्षगण्य की अपनी रचना नहीं है प्रत्युत उसने अपने ग्रन्थ में कहीं से उद्धृत किया, और व्यास ने वार्षगण्य के ग्रन्थ से, उस उद्धरण के रूप में ही अपने ग्रन्थ में उद्धृत कर, अन्त में 'इति वार्षगण्यः' जोड़ दिया। संभव है, व्यास को यह निश्चय न होसका हो, कि यह सूत्र वस्तुतः किस ग्रन्थ का है, इसलिये उसने ऐसा किया हो।

एक और भी कल्पना की जा सकती है। संभव है, व्यास ने अन्त में 'वार्षगण्यः' पद न लिखा हो, 'इति' तक ही उसने अपने वाक्य को समाप्त कर दिया हो। अनन्तर किसी प्रतिलिपि लेखक अथवा अध्येता ने पूर्वापर पदयोजना का विचार न करके, कर्णपरम्परा के आधार पर इसको वार्षगण्य की रचना जान इसके साथ 'वार्षगण्यः' पद जोड़ दिया हो। प्रतिलिपि लेखक, प्रायः अधिक विद्वान् भी नहीं होते रहे हैं। इस तरह वह पद, मूलपाठके साथ जुड़ गया, और आज तक उसी अवस्था में चला आरहा है। किसी ने इस की युक्तता अयुक्तता पर ध्यान नहीं दिया।

यह कल्पना आपाततः अवश्य रमणीय प्रतीत होती है, परन्तु पाठ के सम्बन्ध में इसके लिये कोई आधार हमें आज तक उपलब्ध नहीं हुआ। जितने संस्करण अभी

तक व्यासभाष्य के प्रकाशित हुए हैं, उन सब में एक ही पाठ है। तथा 'वार्षगण्यः' पदके, बाद में जोड़े जाने का और भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस कल्पना के ठीक मान लेने पर तो, उक्त सूत्र के वार्षगण्यरचित होने में और सन्देह होजाता है। तब हमारे पास प्रमाण ही क्या रह जायगा, कि यह वार्षगण्य की रचना है। कुछ भी हो, हमारा केवल इतना अभिप्राय है, कि व्यास के वर्त्तमान पाठ के अनुसार उन पदों का यह अर्थ संदिग्ध हो जाता है, कि यह सूत्र वार्षगण्य की रचना है।

परन्तु इसके लिये एक मार्ग सम्भव है, जो युक्त भी प्रतीत होता है। पंक्ति की योजना वस्तुतः इसप्रकार होनी चाहिये। 'अत उक्तम्' ये पद उद्धरण के अंश नहीं हैं। क्योंकि ऐसा मान लेने पर प्रकृत में, उद्धृत वाक्य का पूर्वप्रकरण के साथ संगति का निर्देश करने वाला कोई भी पद नहीं रह जाता। जो ग्रन्थकार उक्त वाक्य को इस प्रसंग में उद्धृत कर रहा है, उस प्रसंग के साथ इस वाक्य की संगति-प्रदर्शन को सूचित करने वाला कोई पद ग्रन्थकार के द्वारा प्रयुक्त हुआ २ अवश्य होना चाहिये। ऐसे स्थानों पर 'अतः', 'एवञ्च', 'तथा च', 'यथा', 'यत्' 'तत्', इत्यादि पदों का प्रयोग किया जाता है। इसलिये यहां भी 'अत उक्तम्' पद, व्यास के अपने होने चाहियें। और पंक्ति का शेष सम्पूर्ण भाग उद्धरण माना जाना चाहिये। उद्धरण का स्वरूप अब यह होगा, अत उक्तम्—"मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम् इति वार्षगण्यः", इसका अभिप्राय यह होता है, कि आचार्य व्यास ने इस पंक्ति को वार्षगण्य के नाम से उद्धृत हुआ २ किसी ग्रन्थ में देखा। उसने उक्त उद्धरण को उसी रूप में, 'अत उक्तम्' लिखकर अपने ग्रन्थ में उद्धृत कर दिया। व्यास ने वार्षगण्य के मूल ग्रन्थ को देखकर वहां इसपंक्ति को उद्धृत नहीं किया। यद्यपि यह कहा जासकता है, कि उद्धरण के स्वरूप का बोधक 'इति' पद व्यास ने यहां नहीं लिखा। परन्तु 'इति' पद का ऐसे स्थलों पर सर्वथा प्रयोग होना ही चाहिये, ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है। यह केवल लेखक की शैली अथवा इच्छा पर निर्भर है। इसप्रकार उक्त उद्धरण का विवेचन करने से यह बात अवश्य प्रकट हो जाती है, कि उक्त सूत्र वार्षगण्य की रचना संभव है। इन पंक्तियों के आधार पर विद्वान् सदियों से यही अर्थ समझते चले आरहे हैं। योगसूत्रों पर वृत्ति लिखते हुए नागोजी भट्ट ने इस [३।५३] सूत्र की वृत्ति में लिखा है—

'अत एवोक्तं वार्षगण्येन— [१] मूर्तिव्यवधिजात्यादिभ्यो भेदातिरेकेण विशेषस्याभावान्मूलेषु नित्यद्रव्येषु पृथक्त्वं विशेषपदार्थो नास्ति' इति।

यद्यपि नागोजी भट्ट ने 'वार्षगण्य' पद के स्थान पर 'वार्षगण्येन' लिखकर पूर्वापर पदों का समन्वय कर दिया है। पर वस्तुतः 'उक्तम्' और वार्षगण्यः' पदों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। भाष्यकार को भी यही अपेक्षित है, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है। विज्ञानभिक्षु[२] भी इस

१—इस सूत्र का यह अर्थ करने में नागोजी भट्ट ने विज्ञानभिक्षु का अनुकरण किया है, विज्ञानभिक्षु का भी यह अर्थ चिन्त्य ही है।

२—योगदर्शन, विज्ञानभिक्षुकृत भाष्य, [३।५३ सूत्र पर],

सूत्र को वार्षगण्य का ही समझता है।

वार्षगण्य का दूसरा उद्धरण इसप्रकार है—

"*अत एव-'पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः*" [सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० ४७].

'पंचपर्वा अविद्या' यह तत्त्वसमास का १२ वां सूत्र है। वाचस्पति के इस लेख से यह परिणाम निकल सकता है, कि तत्त्वसमास, वार्षगण्य की रचना हो। परन्तु यह बात सत्य नहीं है, 'तत्त्वसमास' वार्षगण्य के काल से अत्यन्त प्राचीन है और कपिल की रचना है। प्रतीत होता है, वार्षगण्य ने तत्त्वसमास से इस सूत्र को उसी रूप में अपने ग्रन्थ में लेलिया है। और वाचस्पति ने वार्षगण्य के ग्रन्थ से इसको यहां उद्धृत किया होगा। इसमें सन्देह नहीं, कि सूत्र की इस आनुपूर्वी का मूल आधार तत्त्वसमास है। यह ठीक ऐसी ही बात है, जैसी कि हम अभी पञ्चशिख और वार्षगण्य के एक सूत्र के सम्बन्ध में विवेचन कर आये हैं।

सांख्य में विषय-विवेचन के दो मार्ग—

सांख्य का 'षष्टितन्त्र' नाम, आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्वों का विवेचन करने के आधार पर रक्खा गया है। और आधिभौतिक तत्त्वों का विवेचन होने के आधार पर इसका 'सांख्यदर्शन' अथवा 'सांख्यप्रवचन' भी नाम है। आध्यात्मिक दृष्टि से पदार्थों के विवेचन में दश मौलिक अथवा मूलिक अर्थ और पचास प्रत्यय सर्गों की गणना होने के कारण साठ पदार्थ परिगणित होते हैं। उसी आधार पर इस शास्त्र का नाम 'षष्टितन्त्र' है। तथा आधिभौतिक विवेचन में पच्चीस तत्त्वों का प्रतिपादन किया जाता है, जिनमें चौबीस जड़वर्ग और एक चेतनवर्ग है। जड़वर्ग में एक प्रकृति-मूलकारण और शेष तेईस प्रकृति के कार्य हैं। प्रकृति और पुरुष के विवेक का ज्ञान होजाना ही 'सांख्य' है। इसी को मोक्ष अथवा अपवर्ग कहा जाता है। ऐसे ही विवेकज्ञान का इस शास्त्र में प्रवचन होने से इसका नाम 'सांख्यप्रवचन' अथवा 'सांख्यदर्शन' भी कहा जाता है। इन दोनों ही नामों का मूल हम पञ्चशिख के प्रथम सूत्र में पाते हैं। 'तन्त्र' और 'प्रोवाच' ये पद, शास्त्र के 'षष्टितन्त्र' और 'सांख्यप्रवचन' इन नामों की ओर संकेत करते हैं।

'प्रवचन' में अवश्य ही शास्त्रीय विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन है। उसी का विषय-संक्षेप प्रदर्शन करने के लिये 'तत्त्वसमास' सूत्रों का संकलन किया है। 'प्रवचन' और 'समास' ये दोनों पद परस्परापेक्षी हैं। इससे इनका पारस्परिक सम्बन्ध प्रतीत होता है। जो इन दोनों ग्रन्थों के एक रचयिता को प्रकट करता है। इसप्रकार इन नामों के आधार पर भी यह स्पष्ट ध्वनित होता है, कि षष्टितन्त्रापरनामक सांख्यप्रवचन और तत्त्वसमास का रचयिता एक ही व्यक्ति है। तथा उक्त आधारों पर वह व्यक्ति पञ्चशिख अथवा वार्षगण्य नहीं होसकता। प्रत्युत वह आदिविद्वान् परमर्षि कपिल है।

जैन अथवा जैनेतर साहित्य से इस प्रकरण के प्रारम्भ में जो ऐसे वाक्य उद्धृत किये गये हैं, जिनके द्वारा षष्टितन्त्र अथवा सांख्यशास्त्र के साथ कपिल का सम्बन्ध प्रकट होता है, उन सब

में शास्त्र के लिये कपिल के प्रवचन अथवा प्रोक्तता के भाव स्पष्ट हैं। इस भावना के आधार पर भी यह निर्धारित होता है, कि कापिल षष्टितन्त्र, कपिलप्रोक्त प्रथम सांख्यग्रन्थ था।

फलतः कपिल ही षष्टितन्त्र का कर्त्ता है—

इस लेख से हम यह प्रमाणित कर चुके हैं, कि मूल षष्टितन्त्र का लेखक वार्षगण्य नहीं हो सकता। वार्षगण्य के सम्बन्ध में और भी प्रसंगागत अनेक बातों का निर्देश किया गया है। अब मुख्य, प्रसंग-प्राप्त विचार यह है,—६६वीं कारिका से ७१वीं कारिका तक ईश्वरकृष्ण ने जिन बातों का निर्देश किया है, उनसे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि मोक्षोपयिक ज्ञान के प्रतिपादक जिस 'तन्त्र' का महर्षि कपिल ने सर्वप्रथम प्रकाश किया, वही 'तन्त्र' शिष्यपरम्परा द्वारा ईश्वरकृष्ण तक प्राप्त हुआ है। और उसी का ईश्वरकृष्ण ने इन कारिकाओं में संक्षेप किया है।

यद्यपि सांख्यकारिका के व्याख्याकारों ने अपनी २ व्याख्याओं में शिष्यपरम्परा के अनेक सांख्याचार्यों का नामोल्लेख[1] किया है। परन्तु ईश्वरकृष्ण अपने लेख में सांख्य के तीन आदि आचार्यों का साक्षात् नामोल्लेख करता है—कपिल, आसुरि और पञ्चशिख। सांख्यकारिका के आधारभूत ग्रन्थ को वह कपिल के साथ सम्बद्ध करता है। और इस तरह मूलग्रन्थ के आधार पर अपने ग्रन्थ की रचना का निर्देश कर उसने कारिकाओं की प्रामाणिकता को ही पुष्ट किया है। इस बात को सब व्याख्याकारों ने एक स्वर से माना है। यदि वार्षगण्य, उस मूल षष्टितन्त्र का रचयिता होता, तो ईश्वरकृष्ण अवश्य कहीं न कहीं अपनी कारिकाओं में उसका उल्लेख करता। यह एक असंभव सी और आश्चर्य जैसी बात प्रतीत होती है, कि किसी ग्रन्थकार के ग्रन्थ का संक्षेप किया जारहा हो, और उस प्रसंग में ग्रन्थकार का कहीं नाममात्र को भी उल्लेख न हो, तथा दूसरे आचार्यों के नामों का उल्लेख किया जाय। इसलिये यह एक निश्चित मत है, कि ईश्वरकृष्ण भी वार्षगण्य को 'षष्टितन्त्र' का रचयिता नहीं मानता, जो स्वयं और साक्षात् उसका संक्षेपकर्त्ता है।

प्रकरण का उपसंहार—

ईश्वरकृष्ण इसीलिये ७२ वीं कारिका में अपने इस सम्पूर्ण उल्लेख का उपसंहार इस प्रकार करता है—

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चेति ॥

१—माठर = भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत और देवल नामक आचार्यों का उल्लेख करता है।
युक्तिदीपिकाकार = जनक, वशिष्ठ, हारीत, वाद्वलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर [अथवा ऋषभ, ईश्वर], पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि, वार्षगण्य, कौण्डिन्य, मूक, इन सांख्याचार्यों का उल्लेख करता है। युक्तिदीपिका की मुद्रित पुस्तक में इस पंक्ति का पाठ कुछ खण्डित है। संभव है, यहां कुछ और नाम भी निर्दिष्ट हों। जयमंगला टीका में= 'गर्गगौतमप्रभृतिर्भ्यशाम तं प्रम्या [० तिर्भ्य राम तं प्रम्य, ख.]' ऐसा पाठ है। यह पाठ भ्रष्ट और संदिग्ध है। यहां गर्ग और गौतम दो नाम स्पष्ट हैं।

लगभग सत्तर कारिकाओं के इस ग्रन्थ में जो अर्थ प्रतिपादित कियेगये हैं, वे सम्पूर्ण षष्टितन्त्र के हैं। उनमें से आख्यायिका और परवादों को छोड़ दिया गया है। ईश्वरकृष्ण की इन चार कारिकाओं का सूक्ष्म विवेचन करने से तथा पूर्वप्रदर्शित अन्य प्रमाण एवं युक्तियों के आधार पर हम जिस परिणाम तक पहुँचते हैं, उसका सार निम्न रूप में प्रकट किया जासकता है।

(१) कपिल ने 'तन्त्र' अथवा 'षष्टितन्त्र' नामक सांख्यविषयक प्रथम ग्रन्थ का निर्माण किया, और उसे आसुरि को पढ़ाया।

(२) आसुरि ने वही 'तन्त्र' पञ्चशिख को पढ़ाया।

(३) पञ्चशिख ने अध्यापन, व्याख्यान, लेखन आदि के द्वारा उसका बहुत विस्तार किया।

(४) वही 'तन्त्र' शिष्यपरम्पराद्वारा ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ, जिस परम्परा में भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल, जनक, वशिष्ठ, पतञ्जलि, वार्षगण्य, गर्ग, गौतम आदि अनेक आचार्य हुए।

(५) उस 'तन्त्र' के सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझ कर, ईश्वरकृष्ण ने उसका आर्या छन्द में संक्षेप किया। जो सांख्यसप्तति तथा सांख्यकारिका के नाम से प्रसिद्ध है।

(६) इसलिये जिन विषयों का विवेचन सप्तति में है, वे सब 'षष्टितन्त्र' के हैं।

(७) अर्थोंको स्पष्ट करने वाली षष्टितन्त्रगत आख्यायिका और परवादों को छोड़ दिया गया है। उपर्युक्त वर्णन हमें अन्तिम रूप से इस निर्णय की ओर लेजाता है, कि 'षष्टितन्त्र' कपिल की रचना है। पञ्चशिख, वार्षगण्य या अन्य किसी प्राचीन अथवा अर्वाचीन आचार्य की नहीं।

श्रीयुत कालीपद भट्टाचार्य महोदय ने भी अपने एक लेख[1] में इसी मत को स्वीकार किया है, कि 'षष्टितन्त्र' कपिल की रचना है। तत्त्वसमास सूत्रों को तो आधुनिक अनेक भारतीय[2] तथा पाश्चात्य[3] विद्वानों ने भी कपिल की रचना माना है।

१—He [Kapila] expounded his doctrine in the 'Sastitantra' and started a school of his own with Asuri as his first pupil.

[I. H. Q. Sept. 1932. P. 518.]

२—महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री आदि। JBORS. Vol. 9, 1923. A. D., PP. 151-162.

३—मैक्समूलर आदि।

तृतीय प्रकरण

षष्टितन्त्र अथवा सांख्यषडध्यायी

[सांख्यषडध्यायी ही षष्टितन्त्र है]

सांख्यकारिका में षष्टितन्त्र का स्वरूप—

'षष्टितन्त्र' कपिल की रचना है, इस बात को प्रमाणपूर्वक पिछले प्रकरण में सिद्ध किया जा चुका है। अब यह विवेचन करना आवश्यक है, कि वह षष्टितन्त्र इस समय भी उपलब्ध होता है या नहीं ? यदि उपलब्ध होता है, तो वह कौनसा ग्रन्थ है ?

(१)—इसके उत्तर के लिये दूर न जाकर प्रथम हम, ईश्वरकृष्ण की अन्तिम बहत्तरवीं कारिका को एक बार यहां और दुहरादेना चाहते हैं। कारिका इसप्रकार है—

'सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चेति ॥'

'लगभग सत्तर कारिकाओं के इस ग्रन्थ में जो अर्थ प्रतिपादित किये गये है, निश्चित ही वे सम्पूर्ण षष्टितन्त्र के है। अर्थात् षष्टितन्त्र में और कोई नवीन अर्थ ऐसा नहीं बचा है, जिसका यहां प्रतिपादन न किया गया हो, परन्तु उनमे से आख्यायिका और परवादों को छोड़ दिया गया है।' कारिका का यह वर्णन स्पष्ट कर देता है, कि षष्टितन्त्र का विषयक्रम और रचनाक्रम क्या होगा। इससे हम यह अच्छी तरह पहचान जाते हैं, कि ईश्वरकृष्ण ने जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया है, उसका क्या रूप होना चाहिये। यह निश्चित है, कि उसने जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया, वह वर्त्तमान सांख्य-षडध्यायी ही है। इसी का प्राचीन नाम षष्टितन्त्र है।

सांख्यकारिका में वर्णित षष्टितन्त्र की वर्त्तमान षडध्यायी से तुलना—

ईश्वरकृष्ण की ६८ कारिकाओं का सिद्धान्तभूत प्रतिपाद्य विषय, सांख्य-षडध्यायी के प्रथम तीन अध्यायों में विस्तारपूर्वक वर्णित है; जिसका ईश्वरकृष्ण ने उसी आनुपूर्वी के साथ संक्षेप किया है। दोनों ग्रन्थों की विषयानुपूर्वी की समानता, सचमुच हमें आश्चर्य में डाल देती है। और यह समानता इतने में ही समाप्त नहीं होजाती, प्रत्युत आगे भी चलती है। क्योंकि सांख्यकारिकाओं में प्रतिपादित सम्पूर्ण अर्थ षष्टितन्त्र से लिये गये हैं, इसका निर्देश करने के अनन्तर ईश्वरकृष्ण लिखता है,-मैंने षष्टितन्त्रोक्त आख्यायिकाओं और परवादों को छोड़ दिया है। ये दोनों बातें, वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी में ठीक इसी क्रम से उपलब्ध होती हैं। चतुर्थ अध्यायमें आख्यायिका, और पञ्चम षष्ठ अध्यायों में परवादों का वर्णन है। इससे यह स्पष्ट होजाता है, कि जिस तरह कोई भी व्यक्ति किसी ग्रन्थ का संक्षेप या उसके आशय को लेकर अपना ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ करता है, ठीक उसीतरह ईश्वरकृष्ण ने भी सांख्यषडध्यायी का संक्षेप किया, तथा उसके आशय को अपने ग्रन्थ में लिया है। कहीं २ पर वह एक सूत्र के आधार पर ही एक कारिका लिखदेता है, और कहीं अनेक सूत्रों के आधार पर। तथा कहीं पर इकट्ठे पांच

छः आठ दस सूत्र तक छोड़ देता है। वह इस बात का भी पूरा यत्न करता है, कि जहां तक होसके, कारिका में वे पद भी आजावें, जो सूत्र के है। यहां यह आवश्यक है, कि सब कारिकाओं की तुलना उन सूत्रों के साथ करें, जिनके आधार पर वे लिखी गई हैं।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।१।१॥ न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात् ।१।२॥	दुःखत्रयाभिघाताज जिज्ञासा तदपघातके हेतौ। दृष्टे साऽपार्था चेन् नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥१॥
प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत्तत्प्रतीकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम् ।१।३॥ सर्वासंभवात् संभवेऽपि सत्तासंभवाद्धेयः प्रमाणकुशलैः ।१।४॥ उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ।१।५॥ अविशेषश्चोभयोः ।१।६॥ [1] नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः, साध्यत्वेनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम् ।१।८२॥ तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः ।१।८३॥	दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥२॥
सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्च तन्मात्राणि उभयमिन्द्रियं स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ।१।६१॥	[2] मूलप्रकृतिरविकृतिर् महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥
द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत्, त्रिविधं प्रमाणम्, तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ।१।८७-८८॥ [3] उभयसिद्धिः प्रमाणात्तदुपदेशः ।१।१०२॥	दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्। त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥

१ ये दोनों सूत्र, षडध्यायी में प्रकरणवश आगे लिखे गये हैं। इनका आशयमात्र ३, ४, ५ सूत्रों में भी प्रकारान्तर से आगया है।

२ कारिका में यहां केवल उद्देश रूप से २५ पदार्थों की गणना की गई है। सूत्र के उत्पत्तिक्रम अंश का निर्देश २२ वीं कारिका में किया गया है।

३ यह सूत्र प्रकरणवश आगे लिखा गया है। इसका आशय प्रकारान्तर से ८८ सूत्र के अन्तिम भाग में भी आगया है।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् ।१।८९॥ प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ।१।१००॥ आप्तोपदेशः शब्दः । १।१०१॥	प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम् । तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥५॥
सामान्यतो दृष्टादुभयसिद्धिः ।१।१०३॥	सामान्यतस्तु दृष्टा-दतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः ।१।६०॥	तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥६॥
विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य ॥१।१०८॥	अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् । सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥७॥
सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः ।१।१०९॥ कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः ।१।११०॥ वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरिति चेत् ।१।१११॥ तथाप्येकतरदृष्ट्याऽन्यतरसिद्धेर्नापलापः ।१।११२॥ त्रिविधविरोधापत्तेः। १।११३ ॥ महदाख्यमाद्यं कार्यम् । १।७१॥	सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्, नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः । महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥ ८ ॥
नासदुत्पादो नृशृङ्गवत् ।१।११४॥ उपादाननियमात् । १।११५॥ सर्वत्र सर्वदा सर्वासंभवात् ।१।११६॥ शक्तस्य शक्यकरणात् ।१।११७॥ कारणभावाच्च ।१।११८॥ भावे भावयोगश्चेन्न वाच्यम् ।१।११९॥ न अभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ। १।१२०॥ नाशः कारणलयः ।१।१२१॥	असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥९॥
हेतुमदनित्यं सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।१।१२४॥ मूले मूलाभावादमूलं मूलम् । १ । ६७ ॥ पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम् ।१।६८॥	हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् । सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥
आश्रयत्वादभेदतो वा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा । १ । १२५ ॥	त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।

+ यह सूत्र प्रसंगवश पहले लिखा गया है, इसका अर्थसंबन्ध यहां पर भी है ।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः । १ । १२६ ॥	व्यक्तं, तथा प्रधानं
जडप्रकाशायोगात्प्रकाशः । १ । १४५ ॥	तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥
प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम् ।	प्रीत्यप्रीतिविषादा-
१ । १२७ ॥	त्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
	अन्योन्याभिभवाश्रय-
	जननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२ ॥
लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम् ।१।१२८॥	सत्त्वं लघु प्रकाशक-
	मिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
	गुरु वरणकमेव तमः
	प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥
स्थूलात पञ्चतन्मात्रस्य । १ । ६२ ॥	अविवेक्यादेः सिद्धिः
बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहंकारस्य । १ । ६३ ॥	त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात ।
तेनान्तःकरणस्य । १ । ६४ ॥	कारणगुणात्मकत्वात
ततः प्रकृतेः । १ । ६५ ॥	कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥
उभयान्यत्वात कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत् ।१।१२९	भेदानां परिमाणात्
परिमाणात् । १ । १३० ॥	समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
समन्वयात । १ । १३१ ॥	कारणकार्यविभागात्
शक्तितश्चेति । १ । १३२ ॥	अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥ १५ ॥
तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा । १ । १३३ ॥	
तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम् । १ । १३४ ॥	
कार्यात्कारणानुमानं तत्साहित्यात् । १ । १३५ ॥	कारणमस्त्यव्यक्तं
अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिंगात् । १ । १३६ ॥	प्रवर्त्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः । १ । १३७ ॥	परिणामतः सलिलवत्
	प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥ १६ ॥
शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् । १ । १३९ ॥	संघातपरार्थत्वात्
संहतपरार्थत्वात् । १ । १४० ॥	त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
त्रिगुणादिविपर्ययात् । १ । १४१ ॥	पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्

१ ये सूत्र प्रकरणवश अपने क्रम में पहले ही निर्दिष्ट कर दिये गये हैं ।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
अधिष्ठानाच्चेति । १ । १४२ ॥	कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥
भोक्तृभावात् । १ । १४३ ॥	
कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः । १ । १४४ ॥	
[१]संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य । १ । ६६ ॥	
जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् । १ । १४९ ॥	जननमरणकरणानां
एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः । १ । १५२ ॥	प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च । पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥
वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम् । १ । १५७ ॥	
अनादावद्य यावदभावाद् भविष्यदप्येवम् १।१५८॥	
इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः १ । १५९ ॥	
व्यावृत्तोभयरूपः । १ ।१६० ॥	तस्माच्च विपर्यासात्
अक्षसम्बन्धात् साक्षित्वम् । १ । १६१ ॥	सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
नित्यमुक्तत्वम् । १ ।१६२ ॥	कैवल्यं माध्यस्थ्यं
औदासीन्यं चेति । १ ।१६३ ॥	द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥
[१]द्रष्टृत्वादिरात्मनः । २।२९ ॥	
उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्याच्चित्सान्निध्यात् । ।१ ।१६४ ॥	तस्मात्तत्संयोगा- दचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् । गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

षडध्यायी का प्रथमाध्याय समाप्त ।

विमुक्तविमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य । २ । १ ॥	पुरुषस्य दर्शनार्थं
चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत् ॥ २ । ७ ॥	कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत् ॥२।८	पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि
रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ॥ २ । ९ ॥	संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

---

१ यह सूत्र प्रकरणवश अपने क्रम पर पहले आचुका है ।

* यह सूत्र अपने क्रम के अनुसार आगे आया है ।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम् ॥ २ । १० ॥ [1]प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि उभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि ॥ १ । ६१ ॥	प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस् तस्माद् गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥ २२ ॥
अध्यवसायो बुद्धिः ॥ २ । १३ ॥ तत्कार्यं धर्मादिः ॥ २ । १४ ॥ महदुपरागाद्विपरीतम् ॥ २ । १५ ॥	अध्यवसायो बुद्धिर् धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् । सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥
अभिमानोऽहङ्कारः ॥ २ । १६ ॥ एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम् ॥ २ । १७ ॥	अभिमानोऽहङ्कारस् तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः । एकादशकश्च गणस् तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥
सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् । २।१८ ॥	सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् । भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥
कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् । २।१९ ॥	बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्र त्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि । वाक्पाणिपादपायू— पस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥
उभयात्मकञ्च मनः । २।२६ ॥ गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् । २।२७ ॥	उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात् । गुणपरिणामविशेषान् नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

* यह सूत्र प्रकरणवश अपने क्रम के अनुसार पूर्व लिखा गया है ।

१ सांख्यकारिका की 'युक्तिदीपिका' नामक व्याख्या में इसप्रकार पाठ है—

संकल्पकमत्र मनस्तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम् ।
अन्तस्त्रिकालविषयं तस्मादुभयप्रचारं तत् ॥

बृहत्संहिता की भट्टोत्पलकृत व्याख्या [पृ० ७] में भी यही पाठ है । परमार्थ के चीनी अनुवाद में पूर्वार्ध का पाठ इसके अनुसार है, और उत्तरार्ध का माठर आदि के अनुसार ।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
रूपादिरसमलान्त उभयोः । २।२८ ॥ करणत्वमिन्द्रियाणाम् । २।२९ ॥	रूपादिषु पञ्चानाम् आलोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः । वचनादानविहरणो- त्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥
त्रयाणां स्वालक्षण्यम् । २।३० ॥ सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च । २।३१ ॥	स्वालक्षण्यं वृत्तिस् त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या । सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥
क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः । २।३२ ॥ इन्द्रियेषु साधकतमत्वयोगात् कुठारवत् । २।३९ ॥	युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा । दृष्टे तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥
पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् । २।३६ ॥ आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् । २।४५ ॥ तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् । २।४६ ॥	स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम् ॥ पुरुषार्थ एव हेतुर् न केनचित् कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥
वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च । २।३३ ॥ करणं त्रयोदशविधं बाह्याभ्यन्तरभेदात् । २।३८ ॥ द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद् भृत्यवर्गेषु । २।४० ॥ अव्यभिचारात् । २।४१ ॥	करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् । कार्यं च तस्य दशधा हार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥ ३२ ॥ अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् । साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥
वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च । २।३३ ॥	बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि । वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥ ३४ ॥

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
सर्वसंस्काराधारत्वात्। २।४२ ॥	सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
स्मृत्यानुमानाच्च। २।४३ ॥	तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि
आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात्। २।४५ ॥	॥ ३५ ॥ एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा
	गुणविशेषाः। कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ
तत्कर्मार्जितत्वात् तदर्थमभिचेष्टा लोकवत्। २।४६ ॥	प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥ सर्वं प्रत्युपभोगं
	यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत्। २।४७ ॥	सैव च विशिनष्टि पुनः
	प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

षडध्यायी का द्वितीयाध्याय समाप्त।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
अविशेषाद् विशेषारम्भः। ३।१॥	तन्मात्राण्यविशेषास्
	तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
	एते स्मृता विशेषाः
	शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥
तस्माच्छरीरस्य। ३।२॥	सूक्ष्मा मातापितृजाः
तद्बीजात् संसृतिः। ३।३॥	सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
आविवेकाच्च प्रवर्त्तनमविशेषाणाम्। ३।४॥	सूक्ष्मास्तेषां नियता
उपभोगादितरस्य। ३।५॥	मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥
मातापितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा ३। ।७॥	
पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य। ३।८॥	पूर्वोत्पन्नमसक्तं
	नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
सप्तदशैकं लिङ्गम्। ३।९॥	संसरति निरुपभोगं
व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्। ३।१०॥	भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥
तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात्तद्वादः। ३।११॥	चित्रं यथाश्रयमृते
न स्वातन्त्र्यात्तदृते छायावच्चित्रवच्च। ३।१२॥	स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया।
	तद्वद्विना विशेषैर्
	न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥
मूर्त्तत्वेऽपि न संघातयोगात् तरणिवत्। ३।१३॥	पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन। प्रकृते-
पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः। ३।१६ ॥	र्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
तथाशेषसंस्काराधारत्वात् । २।४२॥ पाञ्चभौतिको देहः । ३।१७॥ न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः । ३।२०॥	सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः । दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥ ४३ ॥
ज्ञानान्मुक्तिः । ३।२३॥ बन्धो विपर्ययात् । ३।२४॥ नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ । ३।२५॥	धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण । ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥
स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् । ३।३५॥ वैराग्यादभ्यासाच्च । ३।३६॥ न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् । ३।५४॥	वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् । ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥
विपर्ययभेदाः पञ्च । ३।३७॥ अशक्तिरष्टाविंशतिधा । ३।३८॥ तुष्टिर्नवधा । ३।३९॥ सिद्धिरष्टधा । ३।४०॥	एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः । गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥ पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् । अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥ ४७ ॥
अवान्तरभेदाः पूर्ववत् । ३।४१ ॥	भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः । तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ ४८ ॥
एवमितरस्याः । ३।४२॥	एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा । सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४९ ॥
आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः । ३।४३॥	आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः । बाह्या विषयोपरमात् पञ्च, नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ ५० ॥
ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा । ३।४४॥	ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः । दानञ्च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ ५१ ॥

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
भेदरादितरहानेन विना । ३।४५॥	न विना भावैर्लिङ्गं न विनालिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः । लिङ्गाख्यो भावाख्यस् तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥ ५२ ॥
दैवादिप्रभेदा । ३।४६॥	अष्टविकल्पो दैवस् तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति । मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् । ३।४७॥ ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला । ३।४८॥ तमोविशाला मूलतः । ३।४९॥ मध्ये रजोविशाला । ३।५०॥	ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस् तमोविशालश्च मूलतः सर्गः । मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥
समानं जरामरणादिजं दुःखम् । ३।५३॥ आवृत्तिस्तत्रापि उत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः । ३।५२॥	तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः । लिङ्गस्याविनिवृत्तेस् तस्माद्दुःखं स्वभावेन ॥ ५५ ॥
अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् । ३।५५॥ प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वा-दुष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् । ३।५८॥ विमुक्तविमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य । २।१॥	इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः । प्रकृतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ ५६ ॥
अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य । ३।५९॥ धेनुवद् वत्साय । २।३७॥	वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य । पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥
कर्मवत् दृष्टेर्वा कालादेः । ३।६०॥ स्वभावाच्चेष्टितमनभिसंधानाद् भृत्यवत् ।३।६१॥ कर्माकृष्टेर्वाप्यनादितः । ३।६२॥	औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः । पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥
विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत्पाके । ३।६३॥ नर्तकीवत् प्रवर्त्तकस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् । ३।६९॥	रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् । पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् । ३।६८॥	नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः । गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥६०॥
दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत् । ३।७०॥	प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति । या दृष्टाऽस्मीति पुनर् न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥६१॥
नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते । ३।७१॥ प्रकृतेराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात् पशुवत् ।३।७२॥	तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥
रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवत् विमोचयत्येकेन रूपेण । ३।७३॥	रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः । सैव च पुरुषस्यार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥६३॥
तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद् विवेकसिद्धिः । ३।७५॥	एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् । अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥
इतर इतरवज्जहाति तद्दोषात् । ३।६४॥ जीवन्मुक्तश्च । ३।७८॥ उपदेश्योपदेष्टृ त्वात्तत्सिद्धिः । ३।७९॥ तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः । २।३४॥	तेन निवृत्तप्रसवाम् अर्थवशात्सप्तरूपविनिवृत्ताम् । प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ॥ ६५ ॥
द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः । ३।६५॥ अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते प्रबुद्ध- रज्जुतत्त्वस्येवोरगः । ३।६६॥ निमित्तत्वमविवेकस्येति न दृष्टहानिः । ३।७४॥	दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या । सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥
कर्मनिमित्तयोगाच्च । ३।६७॥ बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः । ३।७७॥ चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः । ३।८२॥ संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः । ३।८३॥	सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ । तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥ ६७ ॥
विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यो नेतरान्नेतरात् । ३।८४॥	प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ । ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥६८॥

षडध्यायी का तृतीयाध्याय समाप्त ।

कारिकाभिमत षष्टितन्त्र का विषय, षडध्यायी में है—

सांख्यसूत्र और कारिकाओं की इस तुलनासे यह स्पष्ट होजाता है, कि प्रथम बीस कारिकाओं का प्रतिपाद्य विषय, सांख्यषडध्यायी के प्रथमाध्याय से; इक्कीस से सैंतीसवीं कारिका तक सत्रह कारिकाओं का प्रतिपाद्य विषय, सांख्यषडध्यायी के दूसरे अध्याय से; तथा अड़तीसवीं कारिका से लगाकर अड़सठवीं कारिका तक इकत्तीस कारिकाओं का प्रतिपाद्यविषय, सांख्यषडध्यायी के तीसरे अध्याय से लिया गया है। यहां ईश्वरकृष्ण की बहत्तरवीं कारिका के वर्णन के अनुसार कारिकाओं का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य अर्थ, षडध्यायी के तीन अध्यायों में पूरा होजाता है। कारिकानिर्दिष्ट क्रम के अनुसार ही षडध्यायी के चतुर्थ अध्याय में आख्यायिकाओं का प्रासंगिक उल्लेख है, और पञ्चम तथा षष्ठ अध्याय में परवादों का। इन दोनों ही प्रसंगों को कारिकाओं में छोड़ दिया गया है। ईश्वरकृष्ण का यह स्वलिखित वर्णन इस बात को पूर्ण रूप से सिद्ध कर देता है, कि जिस कपिल-प्रणीत षष्टितन्त्र से उसने अपने ग्रन्थ के लिये प्रतिपाद्य अर्थों का संग्रह किया, वह षष्टितन्त्र, वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी ही होसकता है। इस कथन से हमारा यह दावा नहीं है, कि यह सम्पूर्ण सांख्यषडध्यायी इसी आनुपूर्वी के साथ कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र है। यह संभव ही नहीं, प्रत्युत किसी अंश तक निश्चय रूप में कहा जा सकता है, कि इसमें सूत्रों की न्यूनाधिकता हो गई है। अथवा और भी कुछ परिवर्त्तन हो गये हों। फिर भी कपिल की कृति इसी में निहित है, यह निश्चित मत है। इसका विवेचन हमने इसी ग्रन्थ के चतुर्थ और पञ्चम प्रकरण में विस्तारपूर्वक किया है।

षडध्यायी के अर्वाचीन होने का प्रथम आधार—

षडध्यायी के सूत्र कारिकारूप हैं—

पिछले प्रकरण के प्रारम्भ में षडध्यायी की अर्वाचीनता के तीन आधार बताये गये हैं। उनमें प्रथम एक प्रबल युक्ति यह उपस्थित की जाती है, कि अनेक सूत्रों की रचना कारिकाओं से मिलती है। यह बात स्वाभाविक नहीं मालूम होती, कि सूत्र या गद्य रचना में पद्य का मिश्रण हो। परन्तु सांख्यषडध्यायी में अनेक सूत्र श्लोकरूप हैं, जो मौलिक सूत्ररचना में न होने चाहियें। कारिकाओं की रचना तो स्वभावतः पद्यमय है। सूत्रों के बीच में पद्यरचना स्वाभाविक अथवा स्वारसिक नहीं कही जासकती। इसलिये ऐसी रचना अनायास ही हमारे मस्तिष्क को इस ओर आकृष्ट किये बिना नहीं रहती, कि इन सूत्रों का ग्रथन किसी ने कारिकाओं के आधार पर ही कर दिया होगा, तथा इन सूत्रों के ग्रथन का समय भी सायण के पश्चात् ही माना जा सकता है। क्योंकि सायण ने सूत्रों को छोड़, कारिकाओं का ही अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है [1]। ऐसी स्थिति में

---

[1] "The Samkhya Sutra is a late text, it is not used in the Sarvadarcana-sangraha". A. B. कीथ रचित 'दि हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिट्रेचर' ख्रीस्ट १९२८ का संस्करण, पृष्ठ ४८९।

कारिकाओं के आधार पर ही सूत्रों की रचना मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

आपाततः इस युक्ति के सुनने पर कोई भी व्यक्ति यही सोच सकता है, कि संभवतः सांख्यषडध्यायी में अनेक सूत्र श्लोकरूप होंगे। वे कितने भी हों, परन्तु यह केवल लेखक की अपनी शैली पर निर्भर होता है, कि वह पद्यगन्धि गद्य की रचना करदे, अथवा विशुद्ध गद्य या विशुद्ध पद्य की ही रचना करे। गद्य रचना में भी कहीं श्लोक रूप रचना हो जाना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। इस तरह की रचना संस्कृत साहित्य में जहां तहां देखी जाती है। सांख्यषडध्यायी में भी ऐसे सूत्रों की रचना संभव है। यह हम प्रथम दिखला चुके हैं, कि सांख्यकारिका की अड़सठ कारिकाओं का प्रतिपाद्य विषय सांख्यषडध्यायी के प्रथम तीन अध्यायों में आजाता है। इन तीन अध्यायों में केवल तीन सूत्र ऐसे हैं, जिन की रचना श्लोकमय या कारिकारूप कही जाती है। वे सूत्र इसप्रकार हैं—

(१) *हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।* [सां० सू० १।१२४॥ कारिका १०, पूर्वार्ध]

(२) *सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात्।* [सां० सू० २।१८॥ कारिका २५, पूर्वार्ध]

(३) *सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।* [सां० सू० २।३१॥ कारिका २९, उत्तरार्ध]

इन तीनों सूत्रों में से पहले दो सूत्र, दो पृथक् कारिकाओं के प्रथम अर्द्ध भाग हैं। और तीसरा सूत्र, एक कारिका का द्वितीय अर्द्ध भाग है। इन सूत्रों की रचना कारिकाओं के आधार पर है, इसके लिये साधारण उत्तर, जो तीनों सूत्रों के लिये समान रूप से लागू होंगे, आगे लिखेंगे। पहले हम प्रत्येक सूत्र का पृथक् २ विवेचन कर लेना चाहते हैं।

वस्तुतः इन सूत्रों को कारिका-रूप बाद में मिला है—

इनमें से पहले सूत्र के सम्बन्ध में वक्तव्य है, कि इस के ऐसे प्रामाणिक प्राचीन पाठ उपलब्ध हैं, जिनके अनुसार यह सूत्र, श्लोकरूप नहीं कहा जासकता। सांख्यसूत्रों की वर्त्तमान व्याख्याओं में सब से प्राचीन[1] व्याख्या अनिरुद्धवृत्ति है। वहां सूत्र का पाठ निम्नलिखित है—

'*हेतुमदनित्यं सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।*'

अनिरुद्ध, इस सूत्र में 'अव्यापि' पद नहीं पढ़ता, और न उसने इस पद की व्याख्या की है। एक हस्तलिखित प्रति में 'सक्रियं' के स्थान पर 'सक्रियकं' पाठ भी है[2]। यह पाठ भी सूत्र के, श्लोक रूप होने में बाधक है। संभवतः अनिरुद्ध के समय तक इस सूत्र में 'अव्यापि' पदका समावेश नहीं था। यद्यपि कारिकाकार ने छन्दरचना और अर्थकृत सम्बन्ध के आधार पर भी सूत्र में 'अव्यापि' पद बढ़ाकर अनिरुद्ध से बहुत पहले ही कारिका को वर्त्तमान रूप दे दिया था। अनिरुद्ध के अनन्तर अर्थकृत सम्बन्ध की विशेषता को

---

[1] अनिरुद्ध के समय का निर्णय, इसी ग्रन्थ के 'सूत्रों के व्याख्याकार' नामक छठे प्रकरण में किया गया है।

[2] अनिरुद्धवृत्ति, सूत्र १।१२४, पृ०६७ की टिप्पणी। प्रकाशक J. W. Thamas, Baptist Mission Press, Calcutta, 1888, सम्पादक Dr. Richard Garbe.

समझकर किसी लेखक अथवा व्याख्याकार ने या किसी अध्येता ने सूत्र में भी कारिका के संस्कार-वश, इस पद का समावेश कर दिया। विज्ञानभिक्षु के समय सूत्र में 'अव्यापि' पद समाविष्ट किया जाचुका था। अनिरुद्ध ने जब सूत्र के अन्य प्रत्येक पद की व्याख्या की है, तब 'अव्यापि' पद की व्याख्या न किये जाने का कोई कारण अवश्य होना चाहिये। और वह कारण स्पष्ट है, कि उस समय सूत्र में 'अव्यापि' पद का समावेश नहीं था। ऐसी स्थिति में यदि कोई यह आशंका करे, कि अनिरुद्ध के द्वारा 'अव्यापि' पद की व्याख्या न किया जाना; 'अव्यापि' पद को सूत्र का अंश न मानने में कारण नहीं हो सकता; तो आशंकावादी का यह कथन निराधार ही होगा, क्योंकि व्याख्या न किये जाने का कारण उसे अवश्य बताना चाहिये।

दूसरा सूत्र भी कारिका के आधार पर लिखा गया नहीं कहा जासकता, प्रत्युत कारिका ही सूत्र के आधार पर लिखी गई कही जानी चाहिये। इस निश्चय को स्वयं सूत्र की रचना स्पष्ट करदेती है। सूत्र का पाठक्रम इसप्रकार है—

'सात्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात्।'

परन्तु सांख्यकारिका में इस कारिका के प्रथम चरण का पाठ है 'सात्त्विक एकादशकः'। आजतक जितने भी सांख्यकारिका के संस्करण प्रकाशित हुए हैं, उन सब में यही पाठ उपलब्ध होता है। यद्यपि कहा जासकता है, कि यह इतना महत्त्वपूर्ण पाठभेद नहीं है, जो सूत्र के कारिका-रूप होने में कोई बाधा उपस्थित कर सके। यह ठीक है, कि इन दोनों पाठों में केवल लिङ्गभेद है। दोनों ही पाठ छन्दरचना की दृष्टि से एक समान अनुकूल हैं। परन्तु यहां यह लिङ्गभेद भी कुछ विशेषता रखता है।

सूत्र में नपुंसकलिङ्ग पाठ है, और कारिका में पुल्लिङ्ग। सूत्रकारने सामान्य रूप से 'कार्य'; 'इन्द्रिय' या 'करण' को उद्देश्य मानकर नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग किया है। परन्तु चौबीसवीं कारिका में, छन्द रचना से बाध्य होकर कारिकाकारने, 'इन्द्रिय' आदि पदों का समावेश न होसकने के कारण, 'सर्ग' और 'गण' पद का प्रयोग किया है, जो दोनों पुल्लिङ्ग पद हैं। इन्हीं पदों का अगली कारिका में अनुवर्त्तन होने से, इन पदों के सम्बन्ध से बाधित होकर कारिकाकारने पच्चीसवीं कारिका में पुल्लिङ्ग पदों का ही प्रयोग किया है।

अब यदि यह माना जाय, कि सूत्रकार ने इस सूत्र की रचना कारिका के आधार पर की है; तो उसी रूप में भी कारिका को लिखकर सूत्र की रचना में कोई अन्तर नहीं आसकता था। सूत्रकार तो छन्द रचना से बाधित नहीं था। ऐसी स्थिति में पदों का केवल लिङ्गभेद करदेना अनावश्यक और निरर्थक था। परन्तु कारिकाकार के लिये यह बात नहीं कही जासकती। क्योंकि उसे, छन्द रचना में 'इन्द्रिय' आदि पदों के प्रयोग की अनुकूलता न देखकर 'सर्ग' और 'गण' पदों का प्रयोग करना पड़ा। तथा उसी के अनुसार अगली कारिका में पुल्लिङ्ग पद का प्रयोग आवश्यक और सप्रयोजन था। यदि यह कहा जाय, कि सूत्रकारने कारिका से कुछ भेद करने के

लिये ही सूत्रमें लिङ्गभेद कर दिया है, तो यह कथन भी कुछ बल नहीं रखता, क्योंकि अन्य कारिकाओं का रूपान्तर कर देने के समान सूत्रकार इसमें भी सर्वथा परिवर्तन कर सकता था। और फिर ऐसा परिवर्त्तन तो सर्वथा निष्प्रयोजन है, जो छन्द प्रतीति में भी बाधक नहीं। इसलिये सूत्र की रचना, कारिका के आधार पर नहीं कही जासकती। प्रत्युत सूत्र के आधार पर कारिका की रचना मानना अधिक संगत और युक्ति-युक्त होगा।

तृतीय सूत्र का पाठ, आदिशङ्कराचार्य-निर्दिष्ट पाठ के अनुसार 'सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' होना चाहिये। शङ्कराचार्य ने वेदान्त सूत्रों के शाङ्करभाष्य में [२।४।६ सूत्र पर] सांख्य के उक्त सूत्र को उद्धृत किया है। उसने जो पाठ दिया है, वह आर्यारूप कदापि संभव नहीं होसकता। प्रतीत यह होता है, कि वह सूत्र का ही वास्तविक पाठ है। कारिकापाठ के अभ्यास के कारण, बाद में लेखक आदि के प्रमाद से सूत्रपाठ को भी कारिकानुसारी बना दिया गया। उन्होंने इस पाठभेद के महत्त्व को नहीं समझा। वस्तुतः शङ्कराचार्य के पाठ के अनुसार इस सूत्रको रचना भी छन्दोबद्ध नहीं कही जासकती। ईश्वरकृष्ण ने ही सूत्र के पृथक् पदों को समस्त करके उसे कारिका का रूप दिया। शङ्कराचार्य के समय तक सूत्र का पाठ यथावस्थित था, उसके अनन्तर सूत्रपाठ को कारिकानुसारी बनाया गया। परन्तु शाङ्करभाष्य में अब भी पूर्ववत् पाठ बना हुआ है। इन्हीं दिनों कुछ नये भाषा के संस्करणों में इस पाठ को भी भ्रष्ट किया गया है। इसके सम्बन्ध में विशेष विवेचन इसी ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकरण की (१५) संख्या में देखना चाहिये। ऐसी स्थिति में वास्तविक सूत्रपाठ का आधार, कारिका को नहीं कहा जासकता।

सांख्यसूत्रों की रचना का आधार, कारिका नहीं है—

अब हम उन युक्तियों का निर्देश करते है, जो उपर्युक्त सब ही सूत्रों की रचना के लिये समान रूप से इस बात को प्रकट करती है, कि सूत्रों की रचना कारिकाओं के आधार पर नहीं होसकती।

(१)—सांख्यकारिकाकार आचार्य ईश्वरकृष्ण ने अपनी ७१ और ७२ वीं कारिकाओं में स्वयं इस बात को स्वीकार किया है, कि उसने अपनी कारिकाओं के प्रतिपाद्य विषय 'षष्टितन्त्र' से लिये हैं। और आज वे विषय उसी क्रम के अनुसार षडध्यायी में उपलब्ध होते हैं, अन्यत्र नहीं।

क्या सांख्यसप्तति की अन्तिम कारिका ईश्वरकृष्ण की रचना नहीं हैं ?

वी० वी० सोवनी का मत, और उसका विवेचन—

हमारी प्रथम युक्ति का आधार, सांख्यकारिका की अन्तिम कारिका ही हैं। परन्तु इन अन्तिम कारिकाओं के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों को कुछ विप्रतिपत्ति हैं। श्रीयुत वी० वी० सोवनी एम्० ए०, अपनी पुस्तक 'A critical study of the Samkhya System' में लिखते

है—[1]"बहत्तरवीं कारिका इस बात को बतलाती है, कि सप्तति के प्रतिपाद्य विषय का आधार षष्टितन्त्र है। षष्टितन्त्र में कही आख्यायिकाओं और परवादों को यहां छोड़ दिया गया है। सम्भवतः यह कारिका बाद में प्रक्षिप्त हुई मालूम होती है। क्योंकि सप्तति, उनहत्तरवीं [६९] कारिका तक समाप्त हो जाती है, जहां कि गौडपाद का भाष्य समाप्त होता है।"

"गौडपाद[2] भाष्य में अन्तिम तीन कारिका लुप्त हैं। सांख्यकारिका में केवल ६९ आर्या हैं, और एक आर्या लुप्त हो चुकी है, इस बात का निर्देश करने वाला सबसे पहला व्यक्ति विल्सन था। लोकमान्य तिलक ने इकसठवीं [६१] कारिका के गौडपाद भाष्य से उस लुप्त आर्या को ढूंढ निकाला। इस सम्बन्ध में उनका विचार था, कि इस आर्या में अनीश्वरवाद होने के कारण किसी ने इसे लुप्त कर दिया। परन्तु किस आधार पर एक कारिका का लुप्त होना प्रकट होता है, यह कथन कुछ स्पष्ट नहीं है। क्योंकि यदि वर्तमान सत्तरवीं [७०] आर्या को सप्तति का अंग होने से इसलिये अवांछनीय समझा जाता है, कि वह सप्तति के [प्रतिपाद्य विषयों में से किसी भी विषय के वर्णनरूप] आवश्यक अंग को पूरा नहीं करती, तो उनहत्तरवीं [६९] आर्या को भी उसी आधार पर अवांछनीय मानना चाहिये, क्योंकि उसमें भी किसी प्रतिपाद्य विषय [सांख्य-सिद्धान्तभूत] का वर्णन नहीं है। सांख्यके सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो विद्यमान ६८ वीं कारिका में ही समाप्त होजाता है। अब यदि वर्तमान ६९ वीं कारिका इसलिये आवश्यक है, कि वह इस ग्रन्थकी प्रामाणिकता को बतलाती है, तो ७० वीं कारिका भी इसलिये आवश्यक है, कि वह सर्वप्रथम

---

[1] "Karika 72 declares that the subject matter of the Saptati is based on Sastitantra with the exclusion of akhyayika and paravada. The Karika is perhaps a later interpolation because the Saptati ended at Karika 69 where Gaudapada bhasya finishes." [P. 8, line 1-5.]

[2] "The last three Karikas are missing in Gaudapada Bhasya. Wilsoln was the first man to point out that the Samkhya Karika had only 69 verses and one verse was lost. Mr. Tilaka reconstructed the missing verse from bhasya on Karika 61 and thought that it was dropped because it was very atheistic. But it is not clear on what ground the loss of one Karika is manifest. If the already existing 70th verse is to be rejected as not forming an essential part of the Saptati, the 69th verse can also be rejected on the same ground. Disquisition of the principles of the Samkhya is over the 68th Karika and if the 69th Karika is necessary to impress the authenticity of the work, the 70th in needed to give the line of succession of the old teachers, and the uninterrupted tradition of the system.

[foot note on karika 70. P. 53.]

आचार्यों की परम्परा को बतलाती है, और सांख्य परम्परा की अविच्छिन्नताका भी निर्देश करती है।"

श्रीयुत सोवनी के मत का वर्गीकरण—

श्रीयुत सोवनी महोदय के इस लेखका सारांश यह होता है—

(१)—गौडपादभाष्यके आधार पर सर्वप्रथम विल्सनने सांख्यकारिकाओंकी ६६ आर्या बतलाईं, उनके अतिरिक्त एक और आर्या के लुप्त होजानेका निर्देश किया। श्रीयुत सोवनी महोदय के लेखानुसार यह प्रतीत होता है, कि विल्सन ने सांख्यकारिका में ७० आर्या मानी हैं। संभवतः उपलभ्यमान शेष तीन आर्या विल्सन के विचार से प्रक्षिप्त हैं।

(२)—उस लुप्त आर्या की, जिसकी लुप्तता का उद्भावन विल्सन ने किया, लोकमान्य तिलक ने ६१ वीं कारिका के गौडपादभाष्य के आधार पर, पुनः रचना कर डाली।

(३)—परन्तु श्रीयुत सोवनी महोदय इस रचनासे सहमत नहीं प्रतीत होते। उनका कहना है, कि सांख्य सिद्धान्तों का वर्णन ६८ वीं कारिका में ही समाप्त होजाता है। अब यदि सांख्य सिद्धान्त प्रतिपादिका कारिकाओं की ही सत्तर संख्या मानी जाय, तो तिलकोपज्ञ कारिका के होने पर भी सत्तर संख्या पूरी नहीं होती, और 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' वाली कहावत चरितार्थ होती है। अब और एक कारिका की रचना के लिये दूसरे तिलक कहां से आवें? इसलिये श्रीयुत सोवनी महोदय का कथन है, कि सांख्यसिद्धान्त का प्रतिपादन न करने पर भी यदि वर्तमान ६६ वीं आर्या को इस आधार पर कारिकाओं का अंग मान लिया जाता है, कि वह परमर्षि कपिल से नाता जोड़कर इस ग्रन्थकी प्रामाणिकता का निर्देश करती है, तो वर्तमान ७० वीं आर्या को भी इस आधार पर कारिकाओं का अंग मानना आवश्यक है, कि वह प्राचीन आचार्य और सांख्यसिद्धान्त की परम्पराकी अविच्छिन्नता का निर्देश करती है। इस तरह तिलकोपज्ञ आर्या को हटाकर भी कारिकाओंकी सत्तर संख्या पूरी होजाती है।

श्रीयुत सोवनी के मत का विवेचन—

हमने श्रीयुत सोवनी महोदयके लेखका सारांश तीन भागों में विभक्त कर दिया है। अब इस सम्बन्ध में यथाक्रम विवेचन किया जाता है।

(१)—श्रीयुत सोवनी महोदय ने ७२ वीं कारिका को प्रक्षिप्त बताया है, और विल्सन के द्वारा निर्देश की हुई सत्तर संख्याकी कमीको पूरा करनेके लिये आपने वर्त्तमान सत्तरवीं कारिका की प्रबल वकालत की है। ७१ वीं कारिका के सम्बन्ध में आपने कोई निर्देश नहीं किया। अब थोड़ी देर के लिये मान लीजिये, कि ७२ वीं कारिका प्रक्षिप्त है। ईश्वरकृष्णने उसकी रचना नहीं की। इस कारिका में वर्णन किया गया है, कि 'सप्ततिमें प्रतिपादित सम्पूर्ण सांख्य सिद्धान्त षष्टितन्त्र से लिये गये हैं।' अब, जब कि हम इस कारिका को प्रक्षिप्त मान लेते हैं, हमारे पास क्या

प्रमाण है, कि ईश्वरकृष्ण ने सत्तर कारिकाओं में ही सांख्यसिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ? सांख्य-विषय का प्रतिपादन करने वाली कारिकाओंकी सत्तर संख्या का बोध तो हमें, इस अन्तिम कारिका के ही आधार पर होता है, उसीको हम प्रक्षिप्त मान लेते हैं। जिस टहनी पर बैठे हैं, उसी की जड़ पर कुल्हाड़ा चलाने को तयार हैं। शास्त्रचर्चा में यह वंचना अन्याय है। हम पूछते हैं, श्रीयुत विल्सन और उनसे सहमत अन्य विद्वानों के मस्तिष्क में यह भावना कहां से आई ? कि सांख्यार्थ-प्रतिपादिका कारिका सत्तर होनी चाहियें।

कहा जासकता है,कि इस भावनाकी उत्पत्तिमें परम्परागत कारण होसकता है। परम्परा से इस ग्रन्थ का नाम भी सांख्यसप्तति आदि कहा जाता रहा है। इसीसे समझा जासकता है, कि इसमें सत्तर कारिका रही होंगी। ऐसी स्थिति में अन्तिम कारिका अनावश्यक और प्रक्षिप्त कही जासकती है[1]। परन्तु हम फिर पूछते है, कि इस ग्रन्थके नामके साथ 'सप्तति' पदका प्रयोग होने परभी, उस सप्तति पदके प्रयोग मात्रसे यह बात कैसे मालूम होसकी, कि उन सबही सत्तर कारिकाओं में सांख्य सिद्धान्त का प्रतिपादन ही होना चाहिये ? अन्तिम तीन कारिकाओंके प्रक्षिप्त होने का विचार रखने वाले सबही आधुनिक विद्वान यही लिखते हैं, कि सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली सत्तर कारिका होनी चाहियें। इस भावना का उद्‌गम, केवल सप्तति पदके प्रयोग से कैसे होसकता है ? इसलिये यह धारणा असंगत नहीं कही जासकती, कि श्रीयुत विल्सन आदि विद्वानोंने इस भावना को अन्तिम कारिका के आधार पर ही अपने मस्तिष्कों में स्थान दिया है, और अब उसीको प्रक्षिप्त कहने के लिये तयार है।

अन्तिम कारिकाओं को प्रक्षिप्त मानने में विल्सन के मत का आधार, और उसका विवेचन—

श्रीयुत विल्सन आदि का, अन्तिम कारिकाओं को प्रक्षिप्त बताने के लिये यह आधार, कि उन पर गौडपाद का भाष्य नहीं है, सर्वथा असंगत है। यदि गौडपाद ने उन पर भाष्य नहीं किया है, तो अन्य सब ही व्याख्याकारों ने उन कारिकाओंपर भाष्य किये हैं। कहा जासकता है, कि गौडपाद के समय तक इन कारिकाओं का प्रक्षेप नहीं हुआ था। इसलिये उसने भाष्य नहीं किया। अनन्तर प्रक्षेप होने पर वाचस्पति आदि ने इनका भाष्य किया। परन्तु यह कथन सर्वथा असंगत है। गौडपाद से अत्यन्त प्राचीन आचार्य माठर ने इन सब ही अन्तिम कारिकाओं का व्याख्यान किया है और युक्तिदीपिका, तथा परमार्थ के चीनी अनुवाद में भी इन सब आर्याओं की व्याख्या विद्यमान है, जिनका समय निश्चित ही गौडपाद से प्राचीन है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है, कि गौडपाद के समय में ये कारिकायें नहीं थीं। अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों पर

[1] यद्यपि लोकमान्य तिलक ने इसको प्रक्षिप्त न मानकर ईश्वरकृष्णकी रचना ही बतलाया है।

[गीता रहस्य, प्रथम हिन्दी संस्करण, पृ० १६२ की टिप्पणी]

पतञ्जलि का[1] भाष्य नहीं है। क्या वे प्रक्षिप्त मान लिये जायें? यजुर्वेद के कई मन्त्रों पर उव्वट का भाष्य[2] नहीं है, तो क्या यह मान लिया जाय, कि उव्वट के समय तक वे मन्त्र नहीं थे, बाद में किसी ने बनाकर जोड़ दिये। इसके अतिरिक्त यह भी होसकता है, कि गौडपाद ने इन पर भाष्य किया हो और वह किसी कारण से खण्डित हो गया हो। खण्डित होने के निम्न लिखित कारण हो सकते हैं:—

(क)—प्रतिलिपि करते समय लेखक के प्रमाद से ऐसा हो गया हो, और आगे के लिये वही प्रतिलिपि, अन्य प्रतिलिपियों का आधारभूत बन गई हो, तथा पहली प्रतिलिपि नष्ट हो गई हो।

(ख)—मूल हस्तलिखित ग्रन्थ का अन्तिम पत्र किसी तरह [वर्षा, दीमक, अग्नि, वायु आदि के सम्पर्क से] नष्ट हो गया हो, और वही खण्डित ग्रन्थ आगे की प्रतिलिपियों के लिये आधार बना हो।

गौडपाद भाष्य के अन्तिम भाग का खण्डित होना, सांख्यकारिका के उपलभ्यमान अन्य व्याख्यानों के अन्तिम भाग की उससे तुलना करने पर भी स्पष्ट हो जाता है। हम कुछ व्याख्यानों के अन्तिम भाग, पाठकों के सुभीते के लिये यहां उद्धृत करते हैं

'आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चेति। परेण सह वादः परवादः तेन वर्जिताश्च। इति परिसमाप्तमिति।' [आचार्य माठर]

'परमर्षादियथोक्तागमेन प्रमाणत्रयं पुरस्कृत्य तर्कदृशा विचारः कृतः। न चास्य मूलकनकपिण्डस्येव स्वल्पमपि दोषजातमस्तीति।' [युक्तिदीपिका]

युक्तिदीपिकाकार ने इसके आगे चार श्लोक और लिखकर अपने ग्रन्थ का उपसंहार किया है।

'परं बन्धमोक्षोपयोगितोऽर्थः दर्शितो इति तस्मात् सम्पूर्णमेव सप्ततिरिति।' [जयमंगला]

'सेयं षष्टिपदार्थी कथितेति सकलशास्त्रार्थकथनान्नेदं प्रकरणम्, अपि तु शास्त्रमेवेदमिति सिद्धम्।' [आचार्य वाचस्पति मिश्र]

'तथा चात्रैतत्षष्टिपदार्थविवेचनान्नेदं प्रकरणं किन्तु तन्त्रमेवेति सिद्धम्।' [नारायणतीर्थकृत सांख्यचन्द्रिका]

'येषा विचारात् सम्यक् पञ्चविंशतितत्त्वविवेचनात्मिका सम्पद्यते संवित्तिरिति।' [गौडपाद भाष्य]

इन सब ही व्याख्यानों की अन्तिम पंक्तियों को परस्पर तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है, कि जैसे ऊपर के अन्य सब व्याख्यानों में ग्रन्थ की समाप्ति द्योतक भावना ध्वनित होती है.

---

[1] व्याकरण महाभाष्य, अ० ४, पा० १, सूत्र ४, ५, ८, ६, ११, १२, २३, २४, २८, २६, ४५–४७ इत्यादि। यह केवल निर्देशमात्र किया गया है, अष्टाध्यायी के अन्य अनेक सूत्रों पर भाष्य नहीं मिलता।

[2] यजुर्वेद, अ० २४ मन्त्र ३-१६ और २१-४० पर उव्वट का भाष्य नहीं है।

वैसी गौडपाद भाष्य की पंक्तियों में नहीं हैं। केवल 'इति' पद का प्रयोग तो उसने अनेक कारिकाओं के अन्त में किया है। इसलिये यह संभावना होती है, कि कदाचित गौडपाद के भाष्य का अन्तिम भाग खण्डित हो गया हो।

गौडपाद भाष्य के अन्त में एक श्लोक भी मिलता है—

'सांख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणं हि। यत्रैताः सप्ततिरार्या भाष्यन्चात्र गौडपादकृतम्॥'

गौडपाद भाष्य के बनारस संस्करण में सम्पादक महोदय ने इस पर एक टिप्पणी लिखी है—'एतत् पद्यं केनचिल्लेखकादिना निर्मायोपक्षिप्तम्, न ग्रन्थकृन्निर्मितम्, आर्यादिष्वनन्तर्भावादिति'। सम्पादक महोदय के इस हेतुपद से सन्देह होता है, कि क्या वे टिप्पणी के इस 'ग्रन्थकृत्' पद से ईश्वरकृष्ण का निर्देश करते हैं? आर्याओं में इस का अन्तर्भाव न होने के कारण यह ग्रन्थकार की रचना नहीं है, इस कथन के अनुसार 'ग्रन्थकृत्' पद का प्रयोग यहां ईश्वरकृष्ण के लिये ही संभव हो सकता है। क्योंकि प्रकृत आर्याओं का ग्रथन उसने ही किया है। इस श्लोक के सम्बन्ध में सम्पादक महोदय का यह विचार संगत मालूम नहीं होता। वस्तुतः इस श्लोक का ईश्वरकृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रीयुत हरदत्त शर्मा एम० ए० द्वारा सम्पादित गौडपादभाष्य के पूना संस्करण में कोई टिप्पणी या कोई सन्देह चिन्ह इस श्लोक के साथ नहीं है।

यदि 'आर्यादिषु' के आदि पद से सम्पादक महोदय ने भाष्य का भी ग्रहण किया है, तो इसका अभिप्राय होगा कि, यह श्लोक, न आर्याओं में अन्तर्भूत हो सकता है, और न भाष्य में। वस्तुतः ऐसी स्थिति में हेतु के 'आर्या' पद का उल्लेख व्यर्थ था। आर्याओं में तो इस श्लोक के अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। श्लोक स्वयं कह रहा है, कि ईश्वरकृष्ण से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। गौडपाद भाष्य में इसके अन्तर्भाव की सम्भावना हो सकती है और संगत भी यही प्रतीत होता है, कि अपने भाष्य का उपसंहार करते हुए गौडपाद ने ही इस श्लोक को लिखा हो। यदि इस बात को मान लिया जाय, कि यह श्लोक गौडपाद का ही लिखा है, तो यह स्पष्ट है, कि गौडपाद सत्तर आर्याओं का साक्षात् निर्देश कर रहा है, और उन पर ही अपना भाष्य बतला रहा है। इससे यह परिणाम निकलता है, कि गौडपाद भाष्य के आधार पर तिलक द्वारा ग्रथित कारिका को विद्यमान कारिकाओं में यथास्थान जोड़ देने से कारिकाओं की सत्तर संख्या पूरी होजाती है, और विल्सन तथा तिलक के लेखों का समन्वय होता है।

परन्तु हमारा प्रश्न इसके आगे उसी तरह विद्यमान है। गौडपाद भाष्ययुत इन सत्तर कारिकाओं में अन्तिम कारिका सांख्य-सिद्धान्त का वर्णन नहीं कर रही, फिर भी सत्तर कारिकाओं में सांख्य-सिद्धान्त के वर्णन का उल्लेख, गौडपाद के इस श्लोक में भी स्पष्ट है। यहां लिखा है, कि—कपिलप्रोक्त, मोक्षकारण, शास्त्र का इन सप्तति [७०] आर्याओं में वर्णन किया गया है। परन्तु तिलकोपज्ञ आर्या को मिलाकर भी, शास्त्रीय अर्थ की प्रतिपादक सत्तर आर्या पूरी नहीं होतीं। तब गौडपाद के भी लेख का सामञ्जस्य कैसे?

इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान है, कि गौडपाद का यह श्लोक, बहत्तरवीं आर्या के भाष्य के अन्त में लिखा गया होगा। इस श्लोक का 'सप्तति' पद, बहत्तरवीं आर्या के 'सप्तति' पद का स्मरण करा रहा है। और उसी आर्या के भावार्थ को गोडपाद ने, अपने ग्रन्थ के उपसंहार रूप में, इस श्लोक से प्रकट किया है। इसलिए भी बहत्तरवीं आर्या को प्रक्षिप्त कहना संगत न होगा। वस्तुतः 'सप्तति' पद, सम्पूर्ण ग्रन्थ का द्योतक है, गिनती की सत्तर आर्याओं का नहीं। चाहे शास्त्रीय अर्थ का प्रतिपादन सत्तर से कम आर्याओं में ही हो, और सम्पूर्ण आर्या चाहे सत्तर से अधिक हों, पर ग्रन्थ का व्यवहार 'सप्तति' पद से ही होता रहा है। ऐसी ही अवस्था में बहत्तरवीं आर्या का, तथा गौडपाद के अन्तिम श्लोक का भी 'सप्तति' पद प्रयोग संगत कहा जासकता है। ग्रन्थ के 'सप्तति' नाम के सम्बन्ध में अभी आगे आवश्यक निर्देश किया जायगा।

अन्तिम कारिकाओं के प्रक्षिप्त न होने का एक और कारण—

इसके अतिरिक्त एक और कारण है, जिसके आधार पर ६६ वीं आर्या से अगली तीन आर्याओं का प्रक्षिप्त होना, असंभव कहा जा सकता है। मान लीजिये, अन्तिम तीन आर्या नहीं हैं, वर्त्तमान ६६ वीं आर्या ही, अन्तिम आर्या है। वह बतलाती है, कि 'पुरुषार्थ [1] के उपाय भूत ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले इस शास्त्र को परमर्षि कपिल ने कहा।' इस कथन के आधार पर हमारे सामने एक नई समस्या खड़ी होजाती है। क्योंकि इस कथन से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, कि इस सांख्यकारिका रूप शास्त्र को कपिल ने कहा, तब कपिल ही इसका रचयिता माना जाने लगेगा। इस ग्रन्थ से ईश्वरकृष्ण का सम्बन्ध बताने वाला कोई साधन हमारे पास नहीं रह जाता। केवल परम्परा, इस साक्षात उल्लेख की बराबरी नहीं कर सकती। क्योंकि अन्तिम कारिका का जब साक्षात लेख हमें यह बतायेगा, कि यह शास्त्र कपिल का कहा हुआ है, तो इसके विरुद्ध केवल प्रस्तुत परम्परा पर कौन विश्वास करेगा? अभिप्राय यह है, कि यदि ६६ वीं कारिका ही को अन्तिम मान लिया जाय, तो उसमें कहा अर्थ, अधूरा और अप्रासंगिक प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में वही नहीं, कि यह आर्या ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर ही कुछ प्रभाव नहीं डालती, प्रत्युत एक नया अनर्थ भी हमारे सामने उपस्थित कर देती है, कि अब कपिल को ही इस ग्रन्थ का रचयिता मानने की संभावना हो जायगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर यह तभी प्रभाव डाल सकती है, जबकि अगली कारिकाओं के साथ इसका सम्बन्ध माना जाय, अन्यथा इस कारिका का उल्लेख व्यर्थ और अप्रासंगिक स्पष्ट है। वस्तुतः इन अन्तिम आर्याओं की सत्ता, गौडपाद भाष्य पर आधारित नहीं है, कारिकाओं की अपनी रचना, परस्पर आर्थिक ग्रथन और अर्थ की पूर्णता ही उनकी सत्ता के मूल

[1] 'पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।'

आधार हैं। कारिका प्रथम और भाष्य पीछे है। उन पर केवल गौडपादकृत भाष्य का न होना, उनकी आवश्यक सत्ता को नष्ट नहीं कर सकता।

सांख्यसप्तति के लिये लोकमान्य तिलक द्वारा एक आर्या की कल्पना—

(२)—श्रीयुत वी० वी० सोवनी के लेखानुसार, विल्सन महोदय ने एक कारिका को लुप्त हुआ बताया। लोकमान्य तिलक ने, वर्त्तमान ६१ वीं कारिका के गौडपाद भाष्य के आधार पर उस कारिका की पुनः रचना की है। वह कारिका इसप्रकार है—

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते[1] कालं परे स्वभावं वा। प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च[2]॥'

लोकमान्य तिलक का कहना है, कि यह कारिका किसी ईश्वरपक्षपाती व्यक्ति ने यहां से निकाल दी, क्योंकि इस कारिका में ईश्वरवाद का खण्डन है। इस आधार पर लोकमान्य तिलक, ईश्वरकृष्ण को भी कट्टर निरीश्वरवादी बताते हैं। श्रीयुत विल्सन महोदय के कथनानुसार, वे मूल विषय पर ६९ आर्या मानते हैं, और शेष तीन आर्याओं को उपसंहारात्मक कहते हैं। परन्तु इनको ईश्वरकृष्ण की ही रचना मानते हैं। उन्होंने इन अन्तिम आर्याओं को प्रक्षिप्त नहीं माना है[3]।

उसका विवेचन—

इस सम्बन्ध में हमारा विचार है, कि मूल विषय पर ६९ आर्याओं के मानने में ही लोकमान्य तिलक और विल्सन महोदय को मौलिक भ्रान्ति हुई है। हम यह नहीं कह सकते, कि उन्होंने यह किस आधार पर समझ लिया, कि वर्त्तमान ६९ आर्याओं में मूलविषय का प्रतिपादन है, जब कि मूलविषय का प्रतिपादन ६८ वीं कारिका में ही समाप्त होजाता है। सम्भव है, ६९ आर्याओं पर ही गौडपाद का भाष्य देखकर सर्वप्रथम श्रीयुत विल्सन महोदय को यह भ्रान्ति हुई, और इसी के आधार पर लोकमान्य तिलक की कल्पित आर्या ने इस भ्रान्ति की जड़ को और दृढ़ कर दिया। यह आश्चर्य की बात है, कि लोकमान्य तिलक ने भी विल्सन महोदय के कथन को आंख मूंदकर स्वीकार कर लिया और वर्त्तमान ६९ वीं आर्या के प्रतिपाद्य विषय पर ध्यान नहीं दिया। प्रतीत होता है, कारिका कल्पना की प्रसन्नता से प्रभावित होकर उनकी दृष्टि ६९ वीं आर्या के विषय तक न पहुंचसकी; और मूल विषय पर आर्याओं की सत्तर संख्या पूरी हुई समझकर कृतकृत्य होगई। परन्तु फिर भी मूल विषय पर ७० आर्या पूरी न होसकीं। 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' का न्याय यहां पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है। वस्तुतः उपसंहारात्मक अन्तिम

---

१ श्रीयुत हरदत्त शर्मा एम० ए० महोदय ने 'ब्रुवते' पद के स्थान पर 'पुरुषं' पद रखकर इसमें संशोधन किया है। [गौडपाद भाष्य, कारिका ६१ की टिप्पणी में, पूना संस्करण, पृष्ठ ४४]।

२ गीतारहस्य, प्रथम हिन्दी संस्करण [सन् १९१६ ईसवी], पृ० १६२ ॥

३ गीता रहस्य, प्रथम हिन्दी संस्करण [सन् १९१६ ईसवी] पृ० १६२, १६३ की टिप्पणी

आर्याओं की संख्या, चार है, और मूल विषय ६८ आर्याओं में समाप्त होता है। जैसा कि हम षडध्यायीसूत्र और कारिकाओं की परस्पर तुलना में स्पष्ट कर आये हैं। इसलिये तिलकोपज्ञ आर्या की कल्पना का कोई भी स्पष्ट आधार नहीं कहा जासकता।

तिलक कल्पित आर्या का शास्त्रीय विवेचन—

अब इस कल्पित आर्या की विवेचना, हम शास्त्रीय दृष्टि से भी करना चाहते हैं। इसमें ईश्वर, काल और स्वभाव की मूलकारणता का निषेध किया गया है। अर्थात् ये तीनों पदार्थ, सृष्टि के उपादान कारण नहीं होसकते। जिस गौडपाद भाष्य के आधार पर इस आर्या की कल्पना की गई है, वहां इस कारणमाला में चौथे पदार्थ 'पुरुष' का भी निर्देश किया गया है। परन्तु लोकमान्य तिलक ने इस आर्या मे उसे ग्रथित नहीं किया, उसे छोड़ देने का कोई कारण भी उन्होंने नहीं बताया। पं० हरदत्त शर्मा एम्० ए० महोदय ने 'ब्रुवते' पद के स्थान पर 'पुरुषं' पद रखकर इस न्यूनता को पूर्ण करने का यत्न किया है।

हम पूछते हैं, ईश्वर को सृष्टि का उपादान न मानने के कारण कोई भी व्यक्ति निरीश्वरवादी कैसे कहा जासकता है ? पातञ्जल योगदर्शन भी ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण नहीं मानता, परन्तु उसे निरीश्वरवादी नहीं कहा जासकता। न्याय-वैशेषिक भी ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण नहीं कहते, पर वे भी निरीश्वरवादी नहीं हैं; और न कोई अन्य दार्शनिक उन्हें निरीश्वरवादी कहता है। ईश्वर की तरह पुरुष की भी उपादानकारणता का यहां निषेध होने से, ईश्वरकृष्ण को तब पुरुषवादी भी नहीं माना जाना चाहिये। इसका अभिप्राय यह होगा, कि लोकमान्य तिलक के कथनानुसार वह केवल जड़वादी रह जायगा। ईश्वरकृष्ण के सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह बात कहा जानी शास्त्रविरुद्ध और असंगत है। यदि पुरुष की उपादानता का प्रत्याख्यान करने पर भी वह पुरुष को मानता है, तो ईश्वर की उपादान-कारणता का खण्डन करने पर भी वह निरीश्वरवादी नहीं कहा जासकता, और न ऐसी कारिका को जिसमें इस अर्थ का उल्लेख किया गया है, निरीश्वरवाद का प्रतिपादन करने वाली कहा जासकता है। ऐसी स्थिति मे इस आर्या के, मूलग्रन्थ से निकालेजाने का कोई भी आधार सम्भव नहीं होता। यदि केवल ईश्वर की उपादानकारणता का प्रतिपादन न करने से ही इसको मूल ग्रन्थ से किसी ने निकाल दिया, तो केवल शंकरमतानुयायी दर्शन ग्रन्थों मे वर्णित ईश्वर सम्बन्धी स्थलों के अतिरिक्त अन्य सब ही ईश्वरवर्णनपरक स्थलों को निकालने का क्यों नहीं यत्न किया गया ? वस्तुतः इस आर्या के निकाल देने का यह आधार कल्पनामात्र है, और शास्त्रीय दृष्टि से सर्वथा असंगत है।

सांख्यकारिकाओं पर गौडपाद भाष्य से अत्यन्त प्राचीन व्याख्यान, आचार्य माठर का है। यदि इन दोनों व्याख्यानों को परस्पर मिलाकर देखा जाय, तो यह स्पष्ट होजाता

है, कि गौडपाद का भाष्य माठर के व्याख्यान का अनुकरणमात्र है। ६१ वीं आर्या के माठरकृत व्याख्यान को सूक्ष्मदृष्टि से विचारने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि व्याख्याकार ने स्वयं, कारिका वर्णित प्रकृति की सुकुमारतरता को स्पष्ट करने के लिये, व्याख्या के मध्य में उन पंक्तियों को लिखा है, जिनके आधार पर इस आर्या की कल्पना की गई है। गम्भीरतापूर्वक विचारने पर भी हम इस बात को न समझसके, कि इस उपादानकारणता निषेध के प्रसंग में लोकमान्य तिलक ने पुरुष को छिपाने का क्यों यत्न किया है ? गीतारहस्य के १६३ पृष्ठ की टिप्पणी में उन्होंने किसी बहाने भी पुरुष का उल्लेख नहीं आने दिया। मालूम ऐसा होता है, कि संभवत: वे सांख्यदृष्टि से, प्रकृति के समान, पुरुष को भी सृष्टि का मूलकारण [1] समझते हैं। यदि मूलकारण से उनका अभिप्राय उपादान कारण ही है, तो उन्होंने सांख्य सिद्धान्त को समझने में भूल की है। यदि मूल कारण से उनका और अभिप्राय है, तो कुछ नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उन्होंने इन पदों का अपना पारिभाषिक अर्थ प्रकट नहीं किया है, और कारणता की दृष्टि से पुरुष को प्रकृति के समकक्ष ही रक्खा है। यदि इसी विचार से उन्होंने ईश्वर, काल और स्वभाव के साथ पुरुष का उल्लेख नहीं किया है, तो यह क्रम कदापि आर्यजनोचित नहीं कहा जा सकता। उन्होंने इस आर्या के निकाले जाने का आधार कल्पना करने के लिये ही यहां निरीश्वरवाद की दुहाई दी मालूम होती है, और इसीलिये उपादान कारण निषेध की सूची में पुरुष का उल्लेख नहीं किया। जब कि गौडपाद और माठर दोनों ही के व्याख्यानों में, इस प्रसंग में पुरुष का उल्लेख है।

संभवत: प० हरदत्त शर्मा एम० ए० महोदय का ध्यान, लोकमान्य तिलक की इस सूक्ष्म दृष्टि तक नहीं पहुँच पाया, और उन्होंने कल्पित आर्या में 'ब्रुवते' पद के स्थान पर 'पुरुषं' पद रखकर संशोधन कर दिया। अब लोकमान्य तिलक के अनुसन्धान और शर्मा जी के संशोधन के आधार पर ईश्वरकृष्ण न ईश्वरवादी रहता है, न पुरुषवादी, केवल प्रकृतिवादी या जड़वादी रह जाता है। इसप्रकार 'घट्टकुट्यां प्रभात:' न्याय के अनुसार फिर वे उसी स्थिति में पहुँच जाते हैं। अर्थात् ईश्वरकृष्ण के केवल प्रकृतिवादी रह जाने की संभावना का कोई भी समाधान उनके पास नहीं है, जो इस कल्पित आर्या को स्वीकार करते हैं। इसलिये न तो मूल ग्रन्थ में इस आर्या के निकाले जाने का कोई आधार है, और न इसकी पुन: रचना का ही कोई आधार है। यह केवल लोकमान्य तिलक की कल्पना, श्रीयुत विल्सन महोदय की भ्रान्ति पर ही आधारित है। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होकर ही वे वास्तविकता को न देख सके [2]।

---

[1] 'इसलिये, उन्होंने [सांख्यों ने] यह निश्चित सिद्धान्त किया है, कि प्रकृति और पुरुष को छोड़, इस सृष्टि का और कोई तीसरा मूल कारण नहीं है।,

[गीतारहस्य, पृ०१६३, पंक्ति २—६। प्रथम हिन्दी संस्करण]

[2] लोकमान्य तिलक को हमने सदा ही हार्दिक आस्था से देखा है, फिर भी उनके विचारों से सहमत न होने के कारण हमें ये सच्चे शब्द लिखने पड़े हैं इसके लिये हम उनकी दिवंगत आत्मा से क्षमा के प्रार्थी हैं।

तिलकोपज्ञ आर्या के लिये, डा० हरदत्त शर्मा की प्रबल वकालत, और उसका आवश्यक विवेचन।

श्रीयुत हरदत्त शर्मा एम०ए० महोदय ने इस तिलकोपज्ञ आर्या की यथार्थता और मौलिकता को सिद्ध करने के लिये बड़ा जोर मारा है। आपने लोकमान्य तिलक के लेखानुसार इस बात को स्वीकार करके, कि ६१वीं आर्या का गौडपाद भाष्य एक आर्या का भाष्य नहीं, प्रत्युत दो आर्याओं का भाष्य है, आगे यहां तक कल्पना कर डाली है, कि यह ६१वीं आर्या का भाष्य भी हमें इस समय मौलिक आनुपूर्वी में उपलब्ध नहीं हो रहा। आपकी धारणा है, कि ईश्वर निराम को महन न करने वाले किसी कुटिलमति ने पहले इस [तिलकोपज्ञ] आर्या को ग्रन्थ से लुप्त किया, फिर किसी ने यह समझ कर, कि यह भाष्य विना आर्या के है, ६१वीं आर्या के भाष्य के बीच में मिला दिया।

शर्मा जी की यह कितनी भोली कल्पना है। हम पूछते है, कि उस जमाने में किसी को यह कैसे मालूम हो गया, कि यह भाष्य बिना आर्या के है। श्रीयुत मोक्ष्मी महोदय और लोकमान्य तिलक आदि विद्वानों के लेखानुसार तो श्रीयुत विल्सन महोदय ही सर्वप्रथम ऐसे व्यक्ति है, जिन्होंने एक कारिका के लुप्त होने का सबसे पहले निर्देश किया। यदि उस काल में भी किसी को यह मालूम हो गया था, कि भाष्य बिना आर्या के है, आर्या लुप्त होगई है; तो उस समय के साहित्य में कहीं न कहीं प्रसंगवश इसका उल्लेख आया होता। उल्लेख को भी जाने दीजिये, जब किसी के ज्ञान में यह बात आ गई थी, तो कम से कम, परम्परा में ही यह चली आती। इस सम्बन्ध में यह कल्पना तो व्यर्थ ही होगी, कि जिसे यह बात मालूम हुई थी, उसने पाप की तरह इसे छिपा के रक्खा। फिर भाष्य को उलट फेर को दूसरे विद्वानों ने कैसे सहन किया होगा? फिर जिस प्रतिलिपि में यह उलट फेर किया गया, क्या भारत भर में इस ग्रन्थ की वह एक ही प्रति थी? जिस प्रति से कारिका लुप्त की गई, उसके सम्बन्ध में भी ये प्रश्न समान हैं। फिर गौडपाद भाष्य की ही उलट फेर नहीं, उससे अत्यन्त प्राचीन माठर वृत्ति के उलट फेर की भी कल्पना करनी पड़ेगी। क्योंकि उसके व्याख्यान से भी यही प्रकट होता है, कि यह एक ही आर्या का भाष्य है, दो का नहीं। शर्मा जी के कथनानुसार, अब न मालूम कितने कुटिलमति व्यक्तियों को ढूंढना पड़ेगा। सचमुच यदि कोई कुटिलमति होता, तो वह कारिका के साथ भाष्य को भी कभी न छोड़ता'। वह कैसा कुटिलमति था? जो एक कारिका को निकाल कर समझ बैठा', कि बस अब ईश्वर को आंच न आसकेगी। हमे तो यह मति का कौटिल्य और ही जगह मालूम हो रहा है।

शर्मा जी लिखते हैं, कि ६१वीं आर्या के वर्त्तमान गौडपाद भाष्य की आनुपूर्वी में अर्थकृत सामञ्जस्य नहीं है। आप कहते हैं, कि "तत्र सुकुमारतरं वर्णयति' इसके अनन्तर, भाष्य का 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' इत्यादि अन्तिम भाग पढ़ना चाहिये। 'सुकुमारतरं वर्णयति' इसके

अनन्तर 'केचिदीश्वरं कारणम् ब्रुवते' इत्यादि पाठ अत्यन्त असंगत है। क्योंकि ईश्वरादि की कारणता का कथन, प्रकृति की सुकुमारतरता का वर्णन नहीं है, इस बात को कोई स्थूलबुद्धि पुरुष भी भांप सकता है*।"

प्रतीत यह होता है, शर्मा जी को इस ग्रन्थ के समझने में कुछ भ्रम हुआ है। यह कहना तो ठीक है, कि ईश्वरादि की कारणता का कथन, प्रकृति की सुकुमारतरता का वर्णन नहीं है। परन्तु ईश्वरादि की उपादानकारणता के निषेध द्वारा, प्रकृति की उपादानकारणता का प्रतिपादन ही, प्रकृति की सुकुमारतरता का वर्णन है। इसीलिये 'सुकुमारतरं वर्णयति' इस पंक्ति का संबन्ध, अनन्तरपठित 'केचिदीश्वरं कारणम ब्रुवते' इतनी ही पंक्ति के साथ नहीं है। प्रत्युत ईश्वरादि की उपादानकारणता का निषेध करके केवल प्रकृति की उपादानकारणता को सुपुष्ट किया है; और इसीलिये पुरुष जब उस के स्वरूप को जान लेता है, तो प्रकृति यह समझकर कि इसने मेरे स्वरूप को पहचान लिया है, पुरुष के सन्मुख फिर नहीं आती। यहां तक प्रकृति की सुकुमारतरता का वर्णन है, और यहां तक के ग्रन्थ के साथ उस पंक्ति का सम्बन्ध है। अभिप्राय यह है, कि प्रकृति की उपादानकारणता माने जाने पर ही यह संभव है, कि वह अपने स्वरूप के पहचाने जाने पर पुरुष के सामने अपना खेल नहीं रचती, उस में छिप जाती है। ईश्वरादि की उपादानकारणता में यह संभव नहीं है। यही प्रकृति की सुकुमारतरता का वर्णन है। और इतने ग्रन्थ के अनन्तर ही भाष्य में 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' यह पंक्ति है। इसलिये 'सुकुमारतरं वर्णयति' और 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' इन पंक्तियों के मध्य का ग्रन्थ, ईश्वरादि की उपादानकारणता का निषेध करके केवल प्रकृति की उपादानकारणता की पुष्टि द्वारा, विवेकज्ञान होने पर उस पुरुष के लिये फिर सृष्टिरचना न करना ही प्रकृति की सुकुमारतरता का वर्णन करता है। इसी का 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' इस पंक्ति के द्वारा उपसंहार किया गया है। इसीलिये भाष्यकार ने इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए अन्तिम पंक्ति में लिखा है—

'*अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं सुभोग्यतरं न किञ्चिदीश्वरादिकारणमस्तीति मे मतिर्भवति।*'

'इसीलिये प्रकृति से सुकुमारतर अर्थात् सुभोग्यतर कोई भी ईश्वरादि कारण नहीं है, यह मेरी धारणा है'। भाष्यकार की इस अन्तिम उपसंहारात्मक पंक्ति का सामञ्जस्य, श्रीयुत शर्माजी के द्वारा निर्दिष्ट ग्रन्थ योजना के अनुसार सर्वथा असंभव है। मालूम होता है, इसीलिये उनको यहां एक और निराधार कल्पना करनी पड़ी है।

* 'तत्र सुकुमारतरं वर्णयति'—एतदनन्तरं भाष्यचरमभागः 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' इति पठनीयः। 'सुकुमारतरं वर्णयति' इत्यनन्तरं 'केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते' इत्यादिपाठस्तु नितरामसंगत एव। नहीश्वरादीनां कारणत्वं प्रकृतेः सुकुमारतरत्ववर्णनम्। अतो ध्रुवं केनचिदीश्वरनिरासासहिष्णुना कारिकेयं लोपिता। अन्येन च केनचिद्‌राकेण भाष्यमेतन्मूलकारिकाविहीनमिति मत्वा तथैकषष्टितमकारिकाभाष्यान्तर्निवेशितं यथा स्थूलदर्शनैरपि विभाव्यते।'

श्रीयुत हरदत्तशर्मा एम. ए. महोदयसम्पादित, गौडपादभाष्य, पूना संस्करण, ६१ कारिका भाष्य की टिप्पणी; पृष्ठ ५६।

शर्मा जी लिखते हैं, कि इस पंक्ति को भाष्य की उलटफेर करने वाले व्यक्ति ने अपनी ओर से यहां जोड़ दिया है[1]। परन्तु शर्मा जी ने इसके लिये कोई भी युक्ति उपस्थित नहीं की। केवल कल्पना के बल पर इस बात को कैसे स्वीकार किया जासकता है, कि यह भाष्यकार की अपनी पंक्ति नहीं है, प्रत्युत किसी ने प्रक्षिप्त करदी है। पहिले तो एक निराधार भ्रान्तिमूलक आर्या की कल्पना, फिर ईश्वरकृष्ण को बलात् निरीश्वरवादी ठहराकर, मूलग्रन्थ से आर्या के निकाले जाने की दूसरी कल्पना, पुनः एक ही आर्या के भाष्य को उसके कान पूंछ मरोड़कर दो आर्याओं के लिये असामञ्जस्य पूर्ण रीति पर तय्यार करने की तीसरी कल्पना, उस असामञ्जस्य को सामञ्जस्य का रूप देने के लिये भाष्य के उलटफेर करने की चौथी कल्पना, उलटफेर से भाष्यगत अर्थों का समन्वय न होने पर उसके लिये भाष्य में प्रक्षेप की पांचवी कल्पना, यह कल्पना परम्परा कहां समाप्त होगी? यह कल्पनाजाल का किला इन्द्रजाल ही बन रहा है। आपातरमणीयता में ही इसका अस्तित्व है। यह श्रीयुत शर्मा जी की सूक्ष्मदृष्टि का ही सामर्थ्य और साहस है। यह तो केवल गौडपादभाष्य के ऊपर ही कल्पनाएं हैं। माठर व्याख्यान के समन्वय का तो अभी सवाल ही नहीं। श्रीयुत शर्माजी ने माठरव्याख्यान[2] के सम्बन्ध में 'यथाकथञ्चित् संग्रन्थनं' कहकर पीछा छुड़ा लिया है। वस्तुस्थिति यह है, कि माठर और गौडपाद के ये व्याख्यान एक ही आर्या के हैं, दो के नहीं। दो आर्याओं के व्याख्यान की भ्रान्ति ने ही यह अनर्थपरम्परा खड़ी की है। ऐसी स्थिति में, ६१वीं आर्या के भाष्य को, दो आर्याओं का भाष्य कोई स्थूलबुद्धि ही समझ सकता है।

हमें आश्चर्य है, कि ग्रन्थ और तत्प्रतिपादित अर्थों का असामञ्जस्य भले ही होजाय, भले ही उसमें अनेक निराधार कल्पनाएं करनी पड़ें, परन्तु श्रीयुत विल्सन महोदय का भ्रान्ति मूलक कथन, टस से मस नहीं होना चाहिये, वह तो पत्थर की लकीर है, यह मस्तिष्कगत, दासतापूर्ण मनोवृत्ति, न मालूम भारतीय विद्वानों को कहां ले जाकर पटकेगी?

तिलकोपज्ञ आर्या की रचना भी शिथिल है—

---

[1] अत एव 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' इत्येतदनन्तरं तेन 'अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं सुभोग्यतरं न किञ्चिदीश्वरादिकारणमस्तीति मे मतिर्भवति' इति सङ्गत्यर्थं प्रक्षिप्तम्। यथा च नैतत्संगच्छते तथा स्फुटमेव। परं च, ईश्वरादीनां सुभोग्यत्वादिकथनमपि भृशमनर्थकम्। एवं माठरवृत्तावपि यथाकथञ्चित्संग्रन्थनमेव।' श्रीयुत हरदत्तशर्मा एम. ए. महोदय द्वारा सम्पादित, गौडपादभाष्य, पूना संस्करण, ६१ कारिका भाष्य की टिप्पणी, पृष्ठ २६॥

[2] एवं माठरवृत्तावपि यथाकथञ्चित् संग्रन्थनमेव। [श्रीयुत हरदत्त शर्मा एम० ए० द्वारा सम्पादित, गौडपादभाष्य, पूना संस्करण, ६१ कारिका भाष्य की टिप्पणी, पृष्ठ २६।

छन्दःशास्त्र की दृष्टि से तिलककल्पित आर्या की रचना भी शिथिल है। छन्दःशास्त्र[1] के अनुसार आर्या के विषम गणों [१, ३, ५ आदि] में जगण का प्रयोग कदापि नहीं होता। परन्तु इस तिलकोपज्ञ आर्या में द्वितीय अर्द्ध का प्रथम गण जगण है। आर्या मात्रिक छन्द है, इसमें चार मात्राओं का एक गण समझा जाता है। मध्यगुरु [। ऽ ।] जगण होता है। इस नियम के अनुसार प्रस्तुत तिलकोपज्ञ आर्या के उत्तरार्द्ध का प्रथम गण [प्रजाः क] जगण है, जिसका प्रयोग यहां छन्दःशास्त्र के सर्वथा प्रतिकूल है। ईश्वरकृष्ण रचित ७२ आर्याओं में किसी भी जगह ऐसा असंगत प्रयोग नहीं है। इस कारण से भी यह आर्या ईश्वरकृष्ण की रचना नहीं कही जा सकती।

श्रीयुत सोवनी के अवशिष्ट मत का विवेचन—

(३)—श्रीयुत सोवनी महोदय ७२ वीं कारिका को प्रक्षिप्त बतलाते हैं। ७१ वीं कारिका के सम्बन्ध में वे मौन हैं। ७० वीं कारिका को सप्तति का अंग बताने के लिये उन्होंने काफी वकालत की है। ७०वीं कारिका को सप्तति का अंग मानने तक हम उनसे सहमत हैं, परन्तु जिस आधार पर वे ७०वीं कारिका को सप्तति का अंग बताते हैं, ठीक वही आधार ७१ और ७२ कारिकाओं को भी इस ग्रन्थ का भाग मानने में लागू होजाता है। इसके विवेचन के लिये हम ६९-७२ कारिकाओं को यहां १,२,३ और ४ की संख्याओं से निर्देश करेंगे।

सांख्यतत्त्वों अर्थात् सिद्धान्तों का प्रतिपादन न करने पर भी पहली करिका इसलिये आवश्यक है, कि वह इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर प्रभाव डालती है। दूसरी इसलिये इस ग्रन्थ का भाग होना आवश्यक है, कि वह प्राचीन आचार्यों की परम्परा का निर्देश करती है। तीसरी इस ग्रन्थ का भाग होना इसलिये अत्यन्त आवश्यक है कि वह शिष्यपरम्परा के द्वारा उस मूलशास्त्र को ईश्वरकृष्ण तक पहुँचने का निर्देश करती है। और चौथी सबसे अधिक इसलिये आवश्यक है, कि वह उसी मूल ग्रन्थ के आधार पर—जिसका परमर्षि कपिल ने सर्वप्रथम उपदेश किया—इस ग्रन्थ की रचना का निर्देश करके इसकी प्रामाणिकता को सुपुष्ट करती है। तात्पर्य यह है, कि इन कारिकाओं में से एक भी पंक्ति को यदि कोई अलग करने की कल्पना करे, तो प्रतिपाद्य अर्थ अधूरा रहकर अनर्थ ही होगा। इन चारों आर्याओं का परस्पर आर्थिक सामञ्जस्य, इतना संघटित और संतुलित है, कि उसमें से एक पद भी हटाया जाना अनर्थ का हेतु हो सकता है। इसलिये इनमें से किसी भी कारिका को प्रक्षिप्त बताना दुःसाहसमात्र है।

---

[1] लक्ष्मैतत् सप्तगणा गोपेता भवति नेह विषमे जः।
षष्ठोऽयं न लघुर्वा प्रथमे ऽर्द्धे नियतमार्यायाः॥
षष्ठे द्वितीयलात् परके न्ले मुखलाच्च स यतिपदनियमः।
चरमेऽर्द्धे पञ्चमके तस्मादिह भवति षष्ठो लः॥ [वृत्तरत्नाकर]

वस्तुतः ग्रन्थ के पूर्वापर का परस्पर असामञ्जस्य, रचना की विशृंखलता, आर्थिक सम्बन्धों का अभाव या परस्पर विरोध, मौलिक सिद्धान्तों का विरोध आदि प्रबल कारणों के रहते हुए ही किसी ग्रन्थांश को प्रक्षिप्त कहा जा सकता है। मूल ग्रन्थ के किसी भाग पर केवल एक भाष्य का न होना, प्रक्षेप का कारण मानना तो शास्त्र के साथ सर्वथा उपहास ही करना है।

कारिकाओं की संख्या पर अय्या स्वामी शास्त्री का विचार—

सांख्यसप्तति और उसकी चीनी व्याख्या के संस्कृतरूपान्तरकार[1] श्रीयुत अय्या स्वामी शास्त्री ने उक्त ग्रन्थ की भूमिका[2] में लिखा है, कि वर्तमान ६३ वीं आर्या का तथा उसकी व्याख्या का परमार्थ ने चीनी भाषा में अनुवाद नहीं किया। इस आधार पर उन्होंने परिणाम निकाला है, कि परमार्थ के अनुवाद के अनन्तर किसी ने इस कारिका को यहां प्रक्षिप्त कर दिया है[3]। वस्तुतः परमार्थ के समय यह कारिका और इसकी व्याख्या थी ही नहीं। इसीप्रकार वर्तमान अन्तिम आर्या की अवतरणिका में चीनी अनुवाद का संस्कृतरूप है—

'इह मेधावी कश्चिदाहार्याम्—'

'यहां पर किसी मेधावी ने इस आर्या को कहा-'। इस लेख से यह परिणाम निकलता है, कि किसी बुद्धिमान् व्यक्ति ने इस आर्या को यहां मिला दिया है[4], यह आर्या ईश्वरकृष्ण की रचना नहीं है। इसप्रकार इन दोनों [६३ और ७२] आर्याओं के, मूलग्रन्थ में न रहने से कारिकाओं की संख्या केवल ७० रहजाती है। न एक न्यून, न एक अधिक। और न लोकमान्य तिलक के समान किसी अन्य आर्या की कल्पना ही करनी पड़ती है।

अय्यास्वामी के विचार का विवेचन—

यह ठीक है, कि अय्यास्वामी शास्त्री के विचारानुसार तिलकोपज्ञ आर्या को ईश्वरकृष्ण की रचना मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। और आर्याओं की सप्तति संख्या भी पूरी हो-जाती है। परन्तु अब इन विचारों के साथ यह भावना नहीं रहती, कि सत्तर आर्याओं में सांख्य-सिद्धान्त विषय का ही प्रतिपादन होना चाहिये। क्योंकि अय्यास्वामी के विचार से सिद्धान्त विषय का प्रतिपादन ६७ आर्याओं में ही समाप्त हो जाता है। और उपसंहार की चार आर्याओं में से अन्तिम को निकालकर शेष तीन को इनमें जोड़ने से ७० संख्या पूरी हो जाती है।

---

[1] परमार्थ ने सांख्यसप्तति और उसकी एक व्याख्या का चीनी भाषा में जो अनुवाद किया था, उसीका श्रीयुत अय्या स्वामी शास्त्री ने पुनः 'सुवर्णसप्तति शास्त्र' नाम से संस्कृत रूपान्तर कर दिया है।

[2] सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ ४३।

[3] सुवर्णसप्ततिशास्त्र, आर्या ६३ की टिप्पणी, सं० १।

[4] सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ ४३।

यद्यपि अपने विचार की पुष्टि के लिये अय्यास्वामी ने भी उसी आधार का आश्रय लिया है, जिसका विल्सन आदि ने अपने विचारों के लिये। और वह आधार है—कारिका पर व्याख्या का न होना। अन्तर इतना है, कि विल्सन आदि उन आर्याओं को प्रक्षिप्त कहते हैं, जिन पर गौडपाद का भाष्य नहीं है। और अय्यास्वामी उसको प्रक्षिप्त कहते हैं, जिस आर्या पर चीनी अनुवाद नहीं है। यह बात निश्चित है, कि चीनी अनुवाद, गौडपाद से प्राचीन है। ऐसी स्थिति में डॉ० विल्सन आदि का कथन सर्वथा निराधार रह जाता है।

अब अय्यास्वामी के इस विचार के लिये, कि ६३ वीं आर्या पर चीनी अनुवाद न होने से वह प्रक्षिप्त है, हम पहले ही इन पृष्ठों में कह चुके हैं, कि माठरवृत्ति आदि प्राचीन व्याख्याओं[1] में इस आर्या की व्याख्या विद्यमान है।

तिलक ने अपनी कल्पित कारिका को मूलग्रन्थ से निकाले जाने का कोई कारण [उसमें ईश्वर का खण्डन होना] बताया, चाहे वह कारण कल्पित ही हो। इसीप्रकार अन्तिम कारिकाओं को प्रक्षिप्त कहने वाले व्यक्ति, उनके प्रक्षेप का कारण बताते हैं, कि उनमें मूल विषय का प्रतिपादन नहीं है। और ग्रन्थ में जोड़े जाने का कारण बताते हैं, कि उनमें प्रस्तुत ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध में अनेक आवश्यक सूचनाओं का वर्णन है। परन्तु अय्यास्वामी ने जिस ६३ वीं कारिका को प्रक्षिप्त बताया है, उसका यहां प्रक्षेप होने में कोई भी कारण निर्दिष्ट नहीं किया अर्थात् जिस किसी विद्वान् ने भी इस कारिका को यहां प्रक्षिप्त किया होगा, उसने किस कारण से अथवा किस प्रयोजन के लिये इसका प्रक्षेप किया; यह स्पष्ट होना चाहिये। परन्तु अय्यास्वामी ने इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला है।

चीनी अनुवाद का आधार माठरवृत्ति को मानने पर यह आशंका हो सकती है, कि चीनी में इसका अनुवाद क्यों नहीं हुआ ? इसके लिये निम्न विचार प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(क)—६२ वीं आर्या के चीनी अनुवाद के अन्तिम भाग में, ६३ वीं आर्या का भी कुछ आशय आजाने से, तथा ६४ वीं आर्या में प्रकारान्तर से इसी अर्थ का पुनः कथन किये जाने से, संभव है अनुवादक ने यहां इसके अनुवाद की उपेक्षा करदी हो।

(ख)—माठरवृत्ति में भी ६३ वीं आर्या की कोई विशेष व्याख्या नहीं। केवल आर्या के पदों का अन्वय मात्र ही दिखा दिया गया है। यह भी अनुवाद की उपेक्षा का कारण हो सकता है।

(ग)—यह भी संभव है, कि उपलभ्यमान चीनी अनुवाद में, किसी समय यहां का पाठ खण्डित हो गया हो, और इसी कारण आज वह अनुपलब्ध हो।

इस के अतिरिक्त प्रस्तुत अर्थक्रम के अनुसार, ६३ वीं आर्या को ग्रन्थ से बाहर किया भी

[1]—यद्यपि अय्यास्वामी शास्त्री ने माठरवृत्ति का काल बहुत अर्वाचीन [१००० A. D. के लगभग] बताया है, परन्तु इस विचार की तथ्यता के लिये इसी ग्रन्थ के सप्तम प्रकरण का माठर-प्रसंग देखें।

नहीं आसकता। ६२ वीं आर्या में प्रकृति को बन्ध और मोक्ष दोनों का आधार कहा है। इसके आगे ही किस रूप से प्रकृति बन्ध का आधार है, और किस रूप से मोक्ष का; इसी को ६३ वीं आर्या में वर्णित किया गया है। इसके आगे, जिस एक रूप से प्रकृति मोक्षका आधार है, उस विवेकज्ञान का निरूपण ६४ वीं आर्या में है। इसप्रकार अर्थक्रम के अनुसार, ६३ वीं आर्या को यहां से हिलाया नहीं जा सकता। इस अर्थ का आर्याओं में और भी कहीं इस रूप में निरूपण नहीं है, जिससे इसे गतार्थ समझा जाता। ऐसी स्थिति में केवल चीनी अनुवाद उपलब्ध न होने के कारण ६३ वीं आर्या को प्रक्षिप्त बताना निराधार है। यही बात अन्तिम आर्या के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अन्तिम आर्या के, पहली आर्याओं के साथ अर्थ सम्बन्ध को इसी प्रकरण में विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जाचुका है।

क्योंकि इस आर्या का चीनी अनुवाद उपलब्ध है, अतः अय्यास्वामी शास्त्री ने यह स्वीकार किया है, कि इस आर्या का प्रक्षेप, चीनी अनुवाद होने से पूर्व ही हो चुका था। यद्यपि यह अनुमान किया जाना भी कठिन है, कि चीनी अनुवाद से कितने पूर्व इस आर्या का प्रक्षेप हुआ। परन्तु हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं, कि इस आर्या के चीनी अनुवाद की अवतरणिका के आधार पर इसके प्रक्षिप्त होने का भी अनुमान नहीं किया जा सकता।

(क)—पहली बात तो यह है, कि चीनी अनुवाद की इस अवतरणिका के पाठ के सम्बन्ध में भी हम सर्वथा निःसन्दिग्ध नहीं हैं। संभव होसकता है, अनुवाद के वास्तविक पाठ में लेखकादि प्रमाद से कुछ अन्तर आकर, पाठ का वर्त्तमान उपलब्ध आकार बन गया हो। और वास्तविक पाठ कुछ इसप्रकार का हो—

'इहापि स विपश्चिदाहार्यम्-'

उपान्त्य आर्या में ईश्वरकृष्ण ने अपने लिये 'आर्यमति' पद का प्रयोग किया है। संभव है, चीनी अनुवादक ने इसी समीप संस्मरण से उसका 'स विपश्चित' इन पदों के द्वारा उल्लेख किया हो। परन्तु चीनी लिपि में इन उच्चारणों के लिये जो आकृतियां हैं, उनकी समानता असमानता के सम्बन्ध में हम निश्चित सम्मति नहीं देसकते।

(ख)—दूसरी यह भी विचारणीय बात है, कि माठरवृत्ति में इस तरह की कोई अवतरणिका नहीं है। इन दोनों ग्रन्थों [माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद] की उपान्त्य कारिका की अवतरणिका तथा अन्तिम आर्या की व्याख्याओं में अत्यधिक समानता है। इससे यह अनुमान किया जासकता है, कि चीनी अनुवादक, माठरवृत्ति के प्रतिकूल, अन्तिम आर्या की अवतरणिका में ऐसा लेख नहीं लिख सकता, जो इस आर्या के ईश्वरकृष्ण रचित होने में सन्देह उत्पन्न करे।

(ग)—इसके अतिरिक्त अन्तिम आर्या का अन्तिम पद, इस बात को स्पष्ट करता है, कि ग्रन्थ की समाप्ति यहीं पर होनी चाहिये। यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है, कि यह अन्तिम

'इति' पद, माठरवृत्ति और सुवर्णसप्ततिशास्त्र के पाठों में ही है। माठर में इस पद का विवरण किया है। और चीनी व्याख्यान में भी इसका व्याख्यान उपलब्ध है। अन्य किसी व्याख्या में अन्तिम पद 'इति' उपलब्ध नहीं होता। वहां कालान्तर में किसी कारण 'इति' पद के स्थान पर 'अपि' पद आगया है। इससे यह अनुमान किया जासकता है, कि चीनी अनुवादक इस आर्या को ग्रन्थ की अन्तिम आर्या समझता था। और इस आर्या पर ही ग्रन्थ की समाप्ति समझता था। फिर वह इस आर्या की अवतरणिका में ऐसा लेख नहीं लिख सकता था, जो इस भावना के प्रतिकूल हो। ऐसी स्थिति में ६३ वीं और ७२ वीं आर्या को प्रक्षिप्त मानना, अर्थात् ईश्वरकृष्ण की रचना न मानना युक्तिसंगत नहीं कहा जासकता।

यदि अन्तिम ७२ वीं आर्या की अवतरणिका का वही रूप ठीक मान लिया जाय, जो चीनी अनुवाद के संस्कृतरूपान्तर में दिया गया है, और उसका वही अर्थ समझा जाय, जो अय्यास्वामी शास्त्री ने समझा है, तो उससे यह अभिप्राय भी स्पष्ट होजाता है, कि चीनी अनुवादक परमार्थ इस बात को निश्चित रूप में जानता था, कि यह कारिका ईश्वरकृष्ण की रचना नहीं है फिर भी उसने इसके चीनी अनुवाद में क्यों आदर किया ? यह स्पष्ट नहीं होता।

यह निश्चित है, कि परमार्थ ने सांख्यसप्तति की किसी प्राचीन संस्कृत व्याख्या का ही चीनी भाषा में अनुवाद किया था। वह प्राचीन संस्कृत व्याख्या–माठरवृत्ति ही संभव है। तब माठरवृत्ति में भी इस भावना का कुछ निर्देश होना चाहिये था, जो ७२ वीं आर्या की अवतरणिका के चीनी अनुवाद में प्रकट की गई है। परन्तु माठरवृत्ति में इस भावना की गन्ध का भी न होना, स्पष्ट करता है, कि चीनी अनुवाद का पाठ सन्दिग्ध है। फिर यदि परमार्थ, इस बात को जानता था, कि अन्तिम कारिका ईश्वरकृष्ण की रचना नहीं है, तो इसका कुछ सूत्र भारतीय परम्परा में भी मिलना चाहिये था, बहरहाल उसने इस बात को भारत में रहते हुए ही जाना होगा। परन्तु इस विषय के भारतीय साहित्य में तथा परम्परा या अनुश्रुति में भी किसी ऐसी भावना का पता नहीं लगता। न सांख्यसप्तति के ही किसी अन्य व्याख्याकार ने ऐसा लिखा है। इसलिये भी ७२ वीं आर्या की अवतरणिका के चीनी अनुवाद और संस्कृतरूपान्तर का वर्त्तमान पाठ, सन्दिग्ध समझा जाना चाहिये। जिससे अन्तिम आर्या के, मूलग्रन्थ का भाग माने जाने में कोई बाधा नहीं रहती।

सप्तति संख्या और तनुसुखराम शर्मा—

चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस से प्रकाशित माठरवृत्ति की भूमिका में श्रीयुत तनुसुखराम शर्मा महोदय ने, कारिकाओं की सप्तति संख्यापूर्त्ति का एक और मार्ग भी सुझाया है। आपका विचार है, कि—[1]"ग्रन्थ के—सांख्यसप्तति—इस नाम के आधार पर, सांख्यसिद्धान्त का प्रति-

[1]—बनारस से प्रकाशित गाडपादभाष्य की भूमिका [संस्कृत में], पृष्ठ ७।

पावन करने वाली कारिकाओं की संख्या सत्तर होनी चाहिये। परन्तु सब पुस्तकों में ६६ 'आर्याओं[1] के द्वारा ही अर्थ का प्रतिपादन देखा जाता है। इसलिये बाल गंगाधर तिलक ने ६१ वीं कारिका की माठरवृत्ति[2] को सूक्ष्मदृष्टि से विचारपूर्वक देखकर एक[3] आर्या का संकलन किया।"

"इस प्रसङ्ग में यह भी विचारणीय है, कि वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता [१।७] की भट्टोत्पलकृत 'विवृति' नामक व्याख्या में सांख्यसप्तति की २७ वीं आर्या का पाठ इसप्रकार दिया गया है—

संकल्पकमत्र मनस्तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम्। अन्तस्त्रिकालविषयं तस्मादुभयप्रचारं तत्॥"[4]

यहां उत्तरार्ध का पाठ प्रचलित[5] पाठ से भिन्न है। इसलिये यह संदेह भी किया जा सकता है, कि प्रस्तुत पाठ के उत्तरार्ध भाग का, वास्तविक पूर्वभाग नष्ट हो गया है। उस नष्ट

---

[1]—विल्सन और तिलक की तरह तनुसुखराम शर्मा महोदय ने भी सांख्यसिद्धान्त का प्रतिपादन ६६ आर्याओं में माना है। परन्तु यह कथन सर्वथा असंगत है। पहले भी इसका निर्देश कर दिया गया है। वस्तुतः मूल अर्थ का प्रतिपादन ६८ आर्याओं में ही समाप्त हो जाता है।

[2]—परन्तु गीतारहस्य [प्रथम संस्करण, पृ० १६३] में स्वयं तिलक ने लिखा है, कि उन्होंने गौडपादभाष्य के आधार पर इस आर्या का संकलन किया है।

[3]—वह आर्या इसप्रकार है—

'कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा। प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च॥'

इस आर्या के 'ब्रुवते' पद के स्थान पर, हरदत्त शर्मा एम्० ए० महोदय के समान, तनुसुखराम शर्मा ने भी 'पुरुषं' पद का प्रयोग किया है, जो तिलक के पाठ में नहीं है।

[4]—यह पाठ, भट्टोत्पल-विवृति के अतिरिक्त, सांख्यसप्तति की 'युक्तिदीपिका' नामक व्याख्या में भी उपलब्ध होता है। चीनी अनुवाद में पूर्वार्ध, युक्तिदीपिका अथवा भट्टोत्पल-विवृति के अनुसार है; और उत्तरार्ध, माठर आदि के प्रचलित पाठ के अनुसार।

[5]—आर्या का प्रचलित पाठ इसप्रकार है—

उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात्। गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाच्च॥

अन्तिम पद के स्थान पर 'बाह्यभेदाच्च' [गौडपाद, वाचस्पति] तथा 'बाह्यभेदाश्च' [जयमङ्गला, चन्द्रिका] ये पाठान्तर भी हैं।

युक्तिदीपिका और भट्टोत्पल के पाठ में आर्या के पूर्वार्ध की आनुपूर्वी भी प्रचलित पाठ के साथ समानता नहीं रखती। यद्यपि एक पद ['साधर्म्यात्' प्रचलित पाठ; 'समाख्यातम्' युक्तिदीपिका, भट्टोत्पल पाठ] को छोड़कर शेष सब पद दोनों पाठों में समान ही हैं, परन्तु उनकी आनुपूर्वी में अन्तर है। दोनों प्रकार के पाठों को सन्मुख रख, उनकी समानता असमानता इसप्रकार स्पष्ट की जा सकती है —

संकल्पकं अत्र मनः तच्च इन्द्रियं उभयथा समाख्यातम्। [युक्तिदीपिका, भट्टोत्पल पाठ]
उभयात्मकं अत्र मनः संकल्पकं इन्द्रियं च साधर्म्यात्। [प्रचलित पाठ]

इन पाठों की आनुपूर्वी में कुछ भेद होने पर भी, अर्थ में कोई विशेषता नहीं है। और पद भी प्रायः समान ही हैं, इसलिये ऐसा भेद, कोई वास्तविक भेद नहीं कहा जा सकता। उत्तरार्ध का पाठ अवश्य भिन्न है, जो विचारणीय है। इसका विवेचन मूलग्रन्थ में ऊपर देखिये।

हुए पूर्वार्ध पाठ के साथ, आर्या के प्रस्तुत पाठ के उत्तरार्ध भाग को जोड़कर एक २७ वीं आर्या थी। और प्रचलित पाठ की आर्या २८ वीं थी।"

श्रीयुत तनुसुखराम शर्मा महोदय ने इन पाठों के आधार पर जो उद्भावना प्रकट की है, वह विचारणीय अवश्य है। वे मानते हैं, कि मूल अर्थ की प्रतिपादक आर्याओं की संख्या ७० होनी चाहिये। तिलक की कल्पना का यद्यपि उन्होंने साक्षात् प्रतिषेध नहीं किया; परन्तु उसकी समता में अपनी एक नई कल्पना प्रस्तुत करदी है, जिसको सर्वथा निराधार नहीं कहा जा सकता। सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका व्याख्या में इसी पाठ के अनुसार विवरण होने से उक्त कथन की प्रामाणिकता को अच्छी सहायता मिल जाती है। इसप्रकार मूल अर्थ की सत्तर आर्या मानने पर भी श्री तनुसुखराम शर्मा ने उपसंहारात्मक अन्तिम चार आर्याओं को ईश्वरकृष्ण की ही रचना माना है; उन्हें प्रक्षिप्त नहीं माना।

श्रीयुत शर्माजी की इस उद्भावना के सम्बन्ध में हमारा विचार है, कि २७ वीं आर्या के उत्तरार्ध का पाठभेद ही उनके इस कथन का आधार कहा जा सकता है। पूर्वार्ध के पाठ में आनुपूर्वी का कुछ अन्तर होने पर भी, अर्थ की सर्वात्मना समानता होने से उसे भिन्न पाठ नहीं कहा जा सकता। भिन्न पाठ वाले उत्तरार्ध के साथ जिस पूर्व भाग के नष्ट हो जाने की संभावना की गई है, उसका कोई आधार अवश्य होना चाहिये। सप्तति की किसी भी व्याख्या में उसकी कोई सूचना या निर्देश नहीं मिलता। नष्ट आर्या के स्वरूप का भी कोई अनुमान नहीं लगाया गया। प्रस्तुत प्रसंग में अर्थ की भी कोई असंगति मालूम नहीं होती। जिसके कारण बीच में कारिका के टूट जाने या निकल जाने का अनुमान लगाया जा सके। फिर उसके नष्ट होजाने का भी कोई कारण शर्मा जी ने नहीं बताया। ये सब ऐसी बाते हैं, जिन पर प्रकाश डाला जाना आवश्यक था। अन्यथा किसी कारिका या उसके भाग का नष्ट होना या कल्पना किया जाना, निराधार ही होगा।

उत्तरार्ध के जिस पाठ भेद के आधार पर, उसके पूर्वार्ध के नष्ट होने की कल्पना की गई है, वह अवश्य विचारणीय है। इस उत्तरार्ध में अन्तःकरण मन को त्रिकालविषयक बताया गया है, और कहा गया है, कि इसी कारण उसे दोनों रूप—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप—माना जाना चाहिये। मन को उभयरूप तो इस आर्या के पूर्वार्ध में ही बता दिया गया है, उत्तरार्ध में केवल उसके त्रिकालविषय होने का ही नया कथन है। मनकी उभयरूपता में इसको [त्रिकालविषयत्व को] हेतुरूप से उपस्थित किया गया है। यदि हेतु का निर्देश यहां न भी किया जाय, तो मनकी उभयरूपता तो पूर्वार्ध से स्पष्ट ही है। आगे ३३ वीं आर्या के चतुर्थ-चरण[1] में अन्तःकरण की त्रिकालविषयता का भी निरूपण कर दिया गया है। इसलिये प्रस्तुत

---

[1] त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्।

आर्या में उसका कथन अनावश्यक ही कहा जा सकता है। क्योंकि यहां पर (प्रस्तुत २७ वीं आर्या में) इस हेतु का कथन न किये जाने पर भी मूल अर्थ के प्रतिपादन में कोई अन्तर या न्यूनता नहीं आती, इसलिये २७ वीं आर्या के उत्तरार्ध का युक्तिदीपिका तथा भट्टोत्पल संमत पाठ कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण या अवश्य स्वीकरणीय नहीं कहा जा सकता।

इसके विपरीत प्रस्तुत आर्या के प्रचलित पाठ का उत्तरार्ध, इन्द्रियों के नानात्व, विचित्रता या विभेद के कारण का प्रतिपादन करता है, जो जगत् के नानात्व का भी उपलक्षण कहा जा सकता है, और मनकी उभयात्मकता का भी उसी तरह साधक है। इस अर्थ का प्रतिपादन कारिकाओं में अन्यत्र कहीं नहीं है। मनकी उभयात्मकता और इन्द्रियों की परस्पर या उनसे मनकी विलक्षणता के कारण का निर्देश करके उत्तरार्ध का पूर्वार्ध के साथ. अर्थकृत सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। फिर मनकी उभयात्मकता में, उसका त्रिकालविषयक होना, इतना स्पष्ट हेतु नहीं है, जितना कि गुणपरिणामविशेष। इसलिये प्रस्तुत आर्या के उत्तरार्ध का प्रचलित पाठ ही अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है।

फिर भी दूसरे पाठ की प्राचीनता में भी सन्देह नहीं किया जा सकता, युक्तिदीपिका का समय चीनी अनुवाद से प्राचीन[1] है। प्रतीत होता है, चीनी अनुवादक के सन्मुख दोनों प्रकार के पाठ थे। परन्तु उसने पाठ की विशेषता या अर्थ-गाम्भीर्य के कारण उत्तरार्ध के प्रचलित पाठ को ही स्वीकार किया है। जब कि पूर्वार्ध के पाठ की आनुपूर्वी, युक्तिदीपिका के अनुसार दी गई है। यह भी संभव हो सकता है, कि उत्तरार्ध के इस पाठ का उपज्ञ, युक्तिदीपिकाकार ही हो। मन की उभयात्मकता में उसने ही त्रिकालविषयत्व हेतु की उद्भावना कर, उसका मूल ग्रन्थ में सन्निवेश कर दिया हो, और पूर्वनिर्दिष्ट कारण को हटा दिया हो। उसके ग्रन्थ को देखने से उसकी उद्भट-मनोवृत्ति का पता लगता है। आशा हो सकती है, कि उसने ऐसा परिवर्त्तन कर दिया हो। भट्टोत्पल ने बृहत्संहिता की विवृति में, युक्तिदीपिका के आधार पर ही आर्याओं का उल्लेख किया है, यह निश्चित है। भट्टोत्पल से बहुत पहले ही चीनी अनुवादक परमार्थ के सन्मुख दोनों पाठ थे। इस में यह एक अच्छा प्रमाण है, कि उसने आर्या का पूर्वभाग, युक्तिदीपिका के अनुसार, और उत्तरभाग प्राचीन प्रचलित पाठ के अनुसार माना है। प्रचलित पाठ की अर्थ-कृत विशेषता के कारण, युक्तिदीपिका के पाठ की उसने उपेक्षा की है। माठर तो युक्तिदीपिका से पर्याप्त प्राचीन है, पर अनन्तर होने वाले व्याख्याकारों ने भी युक्तिदीपिका के पाठ को उपेक्षणीय ही समझा है। ऐसी स्थिति में इसके साथ, किसी पूर्वभाग के नष्ट होने की कल्पना करके एक नई आर्या की उद्भावना करना असंगत ही होगा।

---

[1] 'सांख्यसप्तति के व्याख्याकार' नामक प्रकरण में युक्तिदीपिका-प्रसंग देखें।

'सप्तति' संख्या की भावना—

इस प्रसंग में जितने विद्वानों के विचार हमने प्रस्तुत किये हैं, उन सब में ही यह एक निश्चित भावना पाई जाती है, कि आर्याओं की संख्या ठीक सत्तर होनी चाहिये। यद्यपि कुछ विद्वानों ने मूल अर्थ की प्रतिपादक आर्याओं की ही सत्तर संख्या मानी है, और कुछने ग्रन्थ की सम्पूर्ण आर्याओं की संख्या सत्तर मानी है, चाहे वे मूल अर्थ का प्रतिपादन करती हों, अथवा उनमें से कुछ न भी करती हों। इस भावना का कारण, इस ग्रन्थ के साथ 'सप्तति' पद का सम्बन्ध ही, कहा जासकता है। प्रचलित क्रम के अनुसार इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण आर्याओं की संख्या ७२ है। जिनमें ६८ आर्या मूल अर्थ का प्रतिपादन करने वाली हैं, और शेष चार उपसंहारात्मक हैं। ग्रन्थकार ने इन चार आर्याओं में, इस विषय के मूल ग्रन्थ का,—जहां से ६८ आर्याओं का प्रतिपाद्य विषय लिया गया है—, उसके उपदेष्टा का, अपने तक उस ज्ञान के प्राप्त होने का, तथा मूलग्रन्थ के साथ अपने ग्रन्थ के सम्बन्ध का, वर्णन किया है। ग्रन्थकार ने अन्तिम आर्या में स्वयं इस बात को लिखा है, कि—षष्टितन्त्र के सम्पूर्ण अर्थों का इस 'सप्तति' में वर्णन किया गया है—। इस आधार पर अनेक विद्वानों ने यह समझा, कि अर्थप्रतिपादक आर्याओं की संख्या, पूरी सत्तर होनी चाहिये। पर दूसरे विद्वानों [अय्यास्वामी आदि] ने इसकी भी कुछ पर्वाह न की, और उन्होंने कुल आर्याओं की संख्या ही सत्तर बताई। आधुनिक विद्वानों ने इस दिशा में इतनी अधिक कल्पना कर डाली हैं, कि यह, सत्तर संख्या का ग्रन्थ के साथ सम्बन्ध, एक वहम की हालत तक पहुंच गया है। इस सत्तर के वहम में पड़कर विद्वानों ने, ग्रन्थ के वास्तविक कलेवर की ओर ध्यान नहीं दिया। इसप्रकार अनेक आर्याओं की खासी तोड़ फोड़ की गई है। वस्तुतः ग्रन्थ का कलेवर ७२ आर्याओं में ही पूरा होता है। जिनके विषय का निर्देश अभी ऊपर किया गया है।

७२ कारिकाओं के ग्रन्थ का 'सप्तति' नाम क्यों ?—

इस प्रसंग में यह विवेचन करना भी आवश्यक है, कि इस ७२ कारिकाओं के ग्रन्थ के लिये 'सप्तति' पद का प्रयोग कहां तक उचित है। वस्तुतः यहां 'सप्तति' पद का प्रयोग लगभग संख्या को लेकर ही किया गया है। इसलिये सम्पूर्ण ग्रन्थ का ही नाम 'सप्तति' समझना चाहिये, केवल सत्तर आर्याओं का नहीं। ७२ आर्याओं के होने पर भी 'सप्तत्यां किल येऽर्थाः' के द्वारा स्वयं ग्रन्थकार प्रदर्शित स्वारस्य के आधार पर लोक में इस ग्रन्थ का नाम ही 'सप्तति' प्रसिद्ध हो गया। प्रामाणिक व्याख्याकारों ने भी इस पद का इसी रूप में प्रयोग किया है। जय-मंगला व्याख्या के कर्त्ता ने प्रथमश्लोक में ही लिखा है—

'क्रियते सप्ततिकायाष्टीका जयमंगला नाम'

पृष्ठ ५६ [५१ आर्या की व्याख्या] पर जयमंगलाकार पुनः लिखता है—

'एते प्रत्ययसर्गभेदाः पञ्चाशत् पदार्थाः, अस्तित्वादयश्च दश । ते चास्यामेव सप्तत्यां निर्दिष्टाः'[1],

इन स्थलों में 'सप्तति' पद का प्रयोग, प्रस्तुत ग्रन्थ के लिये ही किया गया है। क्योंकि प्रथम स्थल में 'सप्तति' पद का प्रयोग किये जाने पर भी जयमंगला टीका, पूरी बहत्तर आर्याओं पर है। इसीप्रकार द्वितीय स्थल में बताया गया है, कि—पचास प्रत्ययसर्ग, और दश अस्तित्व आदि मौलिक पदार्थों का इसी 'सप्तति' में निर्देश किया है। परन्तु इन सब पदार्थों का निर्देश ६८ आर्याओं में ही समाप्त हो जाता है। इसलिये यहां भी 'सप्तति' पद का प्रयोग, पूरे ग्रन्थ के लिये ही किया गया है, किसी परिमित संख्या के विचार से नहीं।

युक्तिदीपिकाकार ने भी प्रारम्भिक श्लोकों में एक श्लोक इसप्रकार लिखा है—

"तस्मादीश्वरकृष्णेन संक्षिप्तार्थमिदं कृतम् । सप्तत्याख्यं प्रकरणं सकलं शास्त्रमेव वा ॥"

युक्तिदीपिकाकार ने तो 'सप्तति' पद के आगे 'आख्या' पद का भी प्रयोग किया है, जिससे इस ग्रन्थ की 'सप्तति' संज्ञा का स्पष्टीकरण होता है। इस व्याख्याकार ने भी अपनी व्याख्या, पूरी ७२ आर्याओं पर ही लिखी है। इसप्रकार आर्याओं की बहत्तर संख्या होने पर भी उसके 'सप्तति' नाम में कोई अस्वारस्य अथवा अनौचित्य नहीं है। प्रक्षेप की गाथा को लेकर आर्याओं के संख्यासम्बन्धी उन्मार्ग के उद्भावन का श्रेय श्रीयुत विल्सन महोदय को ही है।

भारतीय साहित्यिक परम्परा में अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जहां इसप्रकार के प्रयोग लगभग संख्या के आधार पर किये गये हैं। कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं:—

(१)—अभिनवगुप्ताचार्य प्रणीत 'परमार्थसार' में १०५ आर्या हैं। परन्तु ग्रन्थकार ने स्वयं अन्तिम आर्या में 'आर्याशतक' कहकर इसका उल्लेख किया है। अन्तिम आर्या है—

"आर्याशतेन तदिदं संक्षिप्तसारमतिगूढम् । अभिनवगुप्तेन मया ॥१०५॥"

(२)—काश्मीरदेशोद्भव आचार्य क्षेमेन्द्र रचित 'पुरुषार्थशतक' में १०५ श्लोक हैं। मुख्य विषय पर श्लोकों की संख्या १०२ है। दो श्लोक मंगलाचरण और एक उपसंहार का है। फिर भी ग्रन्थ का नाम 'शतक' ही है। हमने जयपुर संस्करण की प्रति से यह संख्या लिखी है।

(३)—गोवर्धनाचार्य प्रणीत 'आर्यासप्तशती' में कुल श्लोक ७५६ हैं। ग्रन्थ की प्रारम्भिक भूमिका के ५४, जिसको 'ग्रन्थारम्भोचितव्रज्या' नाम दिया गया है। उपसंहार के ६ श्लोक हैं।

---

[1] ७१ वीं आर्या की व्याख्या में 'आर्याभिः' पद का विवरण करते हुए जयमंगलाकार लिखता है—'आर्याभिः, इति । सप्तत्येत्यर्थः । 'दुःखत्रयाभिघातात्' 'एतत् पवित्र' इति सप्तत्याभिहितम् ।" यद्यपि यहां टीकाकार ने सांख्यसप्तति की प्रथम आर्या से लगाकर सत्तरवीं आर्या तक का निर्देश 'सप्तति' पद से किया है। परन्तु टीकाकार का यह लेख संगत नहीं है। क्योंकि ईश्वरकृष्ण ने सांख्य-सिद्धान्त का संक्षेप 'एतत् पवित्र' [७०] इस आर्या तक नहीं किया है, प्रत्युत वह 'प्राप्ते शरीर-भेदे' [६८] इस आर्या पर ही समाप्त हो जाता है।

और मुख्य विषय पर ६६६ श्लोक हैं। फिर भी इस ग्रन्थ के 'आर्यासप्तशती' नाम में कोई अस्वारस्य अथवा अनौचित्य नहीं समझा जाता। हमने यह संख्या, ईसवी सन् १८८६ के निर्णयसागर संस्करण से लिखी है।

(४)—हाल अपरनामधेय श्री सातवाहन प्रणीत 'गाथासप्तशती' के कुल श्लोकों की संख्या ७०३ है। जिनमें से ६ श्लोक उपक्रमोपसंहार के और ६६७ मुख्य विषय के हैं। फिर भी इस ग्रन्थ का उचित और उपयुक्त नाम 'सप्तशती' ही है। हमने यह संख्या निर्णयसागर संस्करण से ली है।

(५)—साम्ब कवि प्रणीत 'साम्बपञ्चाशिका' नामक लघु काव्य में ५३ श्लोक हैं। परन्तु इसका नाम 'पञ्चाशिका' ही है, जिसके अनुसार इसमें केवल ५० श्लोक होने चाहियें। हमने यह संख्या निर्णयसागर संस्करण के अनुसार लिखी है।

(६)—राजा रघुराजसिंह कृत 'जगदीशशतक' नामक लघुकाव्य में ११० पद्य हैं। १०१ पद्यों में जगदीश (भगवान) का स्तवन है। ८ पद्यों में अपने नाम निर्देश के साथ अपने शुभ (कल्याण) के लिये प्रार्थना है। अन्तिम एक पद्य में काव्य का रचनाकाल और उपसंहार है। फिर भी काव्य का नाम 'शतक' ही है। हमने यह संख्या बनारस संस्करण से ली है।

फलतः सूत्रों की रचना, कारिकाओं के आधार पर नहीं—

इसप्रकार इन अन्तिम चार कारिकाओं के सम्बन्ध में प्रासंगिक विवेचन करने के अनन्तर अब हम मुख्य प्रकरण पर आते हैं। इन अन्तिम ७१ और ७२ आर्याओं में स्वयं ईश्वरकृष्ण ने इस बात को स्वीकार किया है, कि इन आर्याओं का प्रतिपाद्य विषय 'षष्टितन्त्र' से लिया गया है। और आज वह सम्पूर्ण विषय उसी क्रम के अनुसार षडध्यायी में ही उपलब्ध होता है, अन्यत्र नहीं। इससे यह सिद्ध है, कि षडध्यायी का ही प्राचीन नाम 'षष्टितन्त्र' है, और इसी के आधार पर ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं की रचना की है। इस प्रथम युक्ति में हमने यह बताया, कि कारिकाकार ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है, कि उसने अपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय 'षष्टितन्त्र' से लिये हैं।

(२)—परन्तु इसके विपरीत सांख्यसूत्रों में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है, जिससे कारिकाओं के आधार पर उनका बनाया जाना प्रकट हो। इन दोनों ही ग्रन्थकारों में से एक स्वयं इस बात को लिखता है, कि मैंने अमुक ग्रन्थ से इन अर्थों को लिया; परन्तु दूसरा ग्रन्थ इस सम्बन्ध में कुछ भी निर्देश नहीं करता, प्रत्युत पहले ग्रन्थ के प्रतिपाद्य अर्थ, ठीक उसके लेखानुसार ही दूसरे ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं। इससे सही अनुमान यही निकलता है, कि पहले ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय, दूसरे से लिया गया है। बिना किसी प्रबल प्रमाण के इस कथन का विपर्यय कैसे स्वीकार किया जा सकता है? वस्तुतः आधुनिक विद्वानों को ये सन्देह, कि—वर्त्तमान षडध्यायी आधुनिक रचना है — इसके अन्तर्गत जहां तहां आये हुए कुछ अन्य दार्शनिकों के पारिभाषिक

पद तथा मतों के उल्लेखों के कारण ही हुए हैं। उन सबका विस्तारपूर्वक विवेचन, इसी ग्रन्थ के चतुर्थ और पञ्चम प्रकरण में किया गया है।

(३)—इस बात का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, कि कारिकाओं का सम्पूर्ण विषय, षडध्यायी के तीन अध्यायों में समाप्त हो जाता है। उपर्युक्त कारिकारूप कहे जाने वाले तीनों सूत्रों में से पहला सूत्र षडध्यायी के प्रथम अध्याय का, और शेष दोनों सूत्र द्वितीय अध्याय के हैं। इन सूत्रों के कारण यदि हम इस बात को स्वीकार कर लेते हैं, कि सांख्यसूत्रों की रचना कारिकाओं के आधार पर हुई है, तो शेष अध्यायों में कोई भी रचना श्लोकमय नहीं होनी चाहिये। क्योंकि सांख्यकारिका, विषय निर्देश के अनुसार षडध्यायी के तीन ही अध्यायों का आधार हो सकती है, शेष का नहीं। इसका परिणाम यह निकलता है, कि यदि शेष अध्यायों में भी कोई श्लोकमय रचना हों, तो उनका भी आधार, कोई पद्यमय ग्रन्थ माना जाना चाहिये। अन्यथा प्रथम तीन अध्यायों की रचना को भी स्वतन्त्र मानना चाहिये। क्योंकि एक ही ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह अर्ध-जरतीय न्याय सर्वथा असंगत है, कि ग्रन्थ की रचना समान होने पर भी आधे ग्रन्थ को किसी अन्य ग्रन्थ के आधार पर और आधे को स्वतन्त्र रूप से रचित माना जाय। अब हम शेष अन्तिम तीन अध्यायों में से कुछ ऐसे सूत्रों का उल्लेख करते हैं, जिनकी रचना पद्यमय है।

(क)–'तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत्' [४। १६] यह आर्या छन्द का चतुर्थ चरण है।

(ख)–'सक्रियत्वाद्गतिश्रुतेः' [५। ७०] यह अनुष्टुप् का एक चरण है।

(ग)–'निजधर्माभिव्यक्तेर्वा वैशिष्ट्यात्तदुपलब्धेः।' [५। ६५] यह आर्या छन्द का द्वितीय अर्द्धभाग है।

(घ)–'ध्यानं निर्विषयं मनः' [६। २५] यह अनुष्टुप् छन्द का एक चरण है।

(ङ) 'पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः' [६। ४५] यह आर्या छन्द का चतुर्थ चरण है।

इन निर्देशों के आधार पर यह स्पष्ट परिणाम निकाला जासकता है, कि पद्यगन्धि गद्य की रचना, लेखक की अपनी शैली या इच्छा पर निर्भर है, किसी गद्यग्रन्थ में दो चार वाक्यों की पद्य-मय रचना, इस मत का आधार नहीं बनाई जा सकती, कि वह ग्रन्थ किसी अन्य पद्यमय ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है।

इसके अतिरिक्त सांख्यषडध्यायी की ही ऐसी रचना हो, यह बात नहीं है। अन्य भी अनेक सूत्रग्रन्थों अथवा गद्यग्रन्थों में इसप्रकार की रचना जहां तहां देखी जाती है। इसके दो चार उदाहरण यहां दे देना आवश्यक होगा। पाणिनीय अष्टाध्यायी से कुछ उदाहरण इसप्रकार हैं—

(क)–'पश्चिमत्स्यमृगान् हन्ति, परिपन्थञ्च तिष्ठति। [४। ४। ३५-३६] यह अनुष्टुप् छन्द का अर्द्धभाग है।

(ख)'अन्तश्च तवै युगपत् क्षयो निवासे जयः करणम्।' [६। १। २००-२०२] यह आर्या छन्द का द्वितीय अर्द्धभाग बन जाता है।

(ग) 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ।' [६ । ३ । १०९] यह इन्द्रवज्रा वृत्त का एक चरण है। अनुष्टुप् के एक चरण रूप तो अष्टाध्यायी के अनेक सूत्र हैं।

चौदहवीं सदी में सांख्यसूत्रों की रचना का असांगत्य—

(४)—कहा यह जाता है, कि इन षडध्यायी सूत्रों का ग्रथन, सायण के बाद चौदहवीं ईसवी सदी में, कारिकाओं के आधार पर किसी पण्डित ने किया है[1]। भारतीय इतिहास के संसार में यह ऐसा समय है, जबकि प्रायः कोई भी ग्रन्थ लेखक, ग्रन्थ में अपना नाम लिखना नहीं भूलता था। नाम ही नहीं, अनेक लेखकों ने तो नाम के साथ-साथ अपने गांव का, अपने आश्रय-दाता का, अपने देश और वंश तक का उल्लेख किया है। ऐसे समय में यही एक ऐसा भला आदमी परोपकारी पैदा हुआ, कि कारिकाओं के आधार पर षडध्यायी जैसा ग्रन्थ बना डाला, और बनाया भी कपिल के नाम पर। अपना नाम धाम ग्राम सब छिपा गया, और पी गया उन्हें एक खून के घूंट की तरह। आश्चर्य तो इस बात का है, कि किसी भलेमानस ने फूटे मुंह से उसका विरोध भी तो नहीं किया! आज तक के साहित्य में किसी भी विद्वान् ने यह नहीं लिखा, कि ये सूत्र, कपिल के बनाये हुए नहीं हैं। प्रत्युत तथाकथित सूत्ररचना के कुछ ही वर्षों बाद उस पर व्याख्यायें भी लिखी जाने लगीं, और कपिल के ही नाम से उन सूत्रों का निर्देश होने लगा[2]।

अब इस पण्डित की कल्पना करने वाले आधुनिक विद्वानों से हम पूछते हैं, कि ऐसा करने से उसका अपना क्या प्रयोजन था? उसे कारिकाओं से सूत्र बनाने की क्यों आवश्यकता हुई? और वह भी कपिल के नाम पर। जब उसने अपना नाम धाम आदि सब छिपाया,[3] और सड़सठ अड़सठ कारिकाओं का रूपान्तर करके सूत्र बना डाले, तो क्या इन तीन पंक्तियों के लिये ही उसकी सब विद्वत्ता नष्ट हो चुकी थी? क्या उसकी प्रतिभा इतने ही के लिये कहीं घास चरने चली गई थी? जो इन तीन कारिकाओं को उसी तरह छोड़ दिया। उनको भी उसने रूपान्तर करके क्यों नहीं छिपा डाला? साहित्यिक चोर के रूप में बदनाम होने के लिये क्यों उसने उन्हें उसी तरह रहने दिया? यह कहना तो केवल उपहासास्पद होगा, कि उन कारिकाओं का रूपान्तर हो ही नहीं सकता होगा। वह आज भी हो सकता है, और तब भी हो सकता था। उसमें कोई ऐसे गूढ़ रहस्य छिपे नहीं हैं, जो उन्हीं पदों की उसी आनुपूर्वी के द्वारा प्रकट किये जा सकें। इसलिये सचमुच ही आधुनिक विद्वानों का यह कहना, कि ये षडध्यायी सूत्र, कारिकाओं के आधार पर

---

[1]—इस मत का विवेचन इसी ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकरण में विस्तारपूर्वक किया गया है।

[2]—इसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन, चतुर्थ प्रकरण में किया गया है।

[3]—यद्यपि आधुनिक विद्वान् इसके छिपाये जाने का भी आज तक कोई विशेष कारण नहीं बता सके हैं। वस्तुतः उनका यह कथन कोरी कल्पना ही है।

सायण के बाद चौदहवीं सदी, में किसी ने बना दिये होंगे, ठीक नहीं है।

ये चार उपयुक्त स्वतन्त्र युक्तियां हमने इस बात के लिये उपस्थित कीं, कि षडध्यायी सूत्रों की रचना, कारिकाओं के आधार पर नहीं कही जा सकती। वस्तुस्थिति यह है, कि न सायण के पीछे और न पहले ही कपिल के नाम पर किसी पण्डित ने इन सूत्रों को बनाया. प्रत्युत यह कपिल की अपनी ही रचना है। हमारा यह दावा कदापि नहीं है, कि वर्त्तमान सम्पूर्ण सांख्य-षडध्यायी इसी आनुपूर्वी में कपिल की रचना है। संभव है, इसमें अनेक न्यूनाधिकता हुई हों। इसप्रकार के कई स्थलों का निर्देश हमने इसी ग्रन्थ के पञ्चम प्रकरण में किया है। हमारा यह निश्चित मत है, कि कपिल की अपनी रचना, इसी षडध्यायी के अन्तर्गत निहित है। और इसी दृष्टि से हम इसे कपिल की रचना कहते हैं। इसप्रकार ७१ और ७२ वीं कारिकाओं के वर्णन के आधार पर यह एक निश्चित सिद्धान्त मालूम हो जाता है, कि इस सांख्यषडध्यायी का ही एक पुराना नाम 'षष्टितन्त्र' भी है जिसको आधार मानकर ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं की रचना की है। यह इस मन्तव्य के लिये सबसे प्रबल और प्रथम युक्ति है, जिसका वर्णन इस प्रकरण के प्रारम्भ से लगाकर यहां तक विस्तार पूर्वक किया गया है।

षडध्यायी ही 'षष्टितन्त्र' है, इसमें अन्य युक्ति—

(२)—उक्त अर्थ की सिद्धि के लिये दूसरी युक्ति इसप्रकार उपस्थित की जाती है। सांख्य के एक प्राचीन आचार्य देवल के किसी ग्रन्थ का एक लम्बा सांख्यसम्बन्धी सन्दर्भ, याज्ञवल्क्य स्मृति की अपरादित्य विरचित टीका अपरार्का [प्रायश्चित्ताध्याय, १०६] में उपलब्ध[1] होता है। वहां पर, जिन ग्रन्थों के आधार पर देवल ने सांख्यसिद्धान्तों का संक्षेप किया है, उनका नाम 'तन्त्र' लिखा है। यह 'तन्त्र' पद हमारा ध्यान 'षष्टितन्त्र' की ओर आकर्षित करता है। हम देखते हैं कि देवल के उस संदर्भ में षडध्यायी के अनेकों सूत्र विद्यमान है। जिन पंक्तियों की आनुपूर्वी सूत्रों से नहीं मिलती, उनमें भी आशय सब, सूत्रों के अनुसार ही हैं। देवल स्वयं लिखता है,—जो पूर्वप्रणीत गम्भीर 'तन्त्र' हैं, उन्हीं को संक्षेप से मैं यहां लिखता हूं। और उसके उस सन्दर्भ के साथ, शब्द तथा अर्थ की अत्यधिक समानता षडध्यायी सूत्रों के साथ हम पाते हैं। इससे स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि देवल ने जिस ग्रन्थ के आधार पर सांख्यसिद्धान्तों का संक्षेप किया है, वह सांख्यषडध्यायी ही हो सकता है। उसका नाम देवल ने 'तन्त्र' लिखा है। इस आधार पर भी यह निश्चित होता है, कि सांख्यषडध्यायी का ही 'तन्त्र' अथवा 'षष्टितन्त्र' पद से उल्लेख किया गया है। देवल का लेख, ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन है।

---

[1]—इसका पूरा विवरण हमने इसी ग्रन्थ के चतुर्थ [संख्या २२ पर] और अष्टम [देवल के प्रसंग] प्रकरण में किया है। वहां पर देखना चाहिये।

(३)—इस प्रसंग में तीसरा एक और उपोद्बलक प्रमाण उपस्थित किया जाता है, जिसके द्वारा इस मन्तव्य पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है, कि षडध्यायीसूत्र, कारिकाओं की अपेक्षा पर्याप्त प्राचीन हैं, इसलिये उनको कारिकाओं का आधार माना जासकता है, कारिकाओं को सूत्रों का आधार नहीं। अत एव इन्हीं सूत्रों को 'षष्टितन्त्र' कहने में कोई बाधा नहीं रहती। वह उपोद्बलक इसप्रकार समझना चाहिये,

सांख्यकारिका [२१] मे प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये अन्ध+पङ्गु दृष्टान्त का उल्लेख किया गया है। परन्तु अन्य प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं पाया जाता। महाभारत में इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये उदाहरण रूप से स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का ही निर्देश किया गया है। वहां लिखा है।

"*अक्षरक्षरयोरेप द्वयोः सम्बन्ध उच्यते। स्त्रीपुंसोश्चापि भगवन् सम्बन्धस्तद्वदुच्यते ॥*[1]"

परमात्मा और प्रकृति का सम्बन्ध इसीप्रकार समझा जाता है, जैसे लोक में पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध। षडध्यायी में इसी अर्थ को प्रकट करने के लिये सूत्र [२।६] आता है, 'रागविरागयोर्योगः सृष्टिः'। 'राग' और 'विराग' पदों से 'स्त्री' और 'पुरुष' की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है। यह निश्चित है, कि सूत्र में केवल साधारण अर्थ का ही निर्देश है, उसको अधिक स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त की कल्पना व्याख्याकारों का कार्य है।

ईश्वरकृष्ण के पूर्ववर्ती आचार्यों ने अन्ध+पंगु दृष्टान्त का उल्लेख न कर, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को ही उक्त अर्थ की स्पष्ट प्रतीति के लिये उपस्थित किया है, इससे निश्चित होता है, कि यह दृष्टान्त ईश्वरकृष्ण की ही कल्पना है। सांख्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत वार्षगण्य आचार्य के अनुयायियों ने भी स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का ही इस प्रसंग में उल्लेख किया है। उनका लेख है—

वार्षगणानां तु यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टांतः।"[2]

माठरवृत्ति में भी इस अर्थ का संकेत मिलता है। वहां लिखा है—

तद्यथा स्त्रीपुरुषसंयोगात् पुत्रः संभवति। एवं प्रधानपुरुषसंयोगात् सर्गोत्पत्तिर्भवति।"[3]

इससे यह परिणाम निकलता है, कि मूलसूत्र में जो अर्थ साधारण रूप से निर्दिष्ट है, उसकी विशेष स्पष्टता के लिये व्याख्याकारों ने दृष्टान्त की ऊहना की। इसके लिये प्रथम विद्वानों ने 'स्त्री+पुरुष' सम्बन्ध का दृष्टान्त कल्पना किया। पुराणों मे भी जगत्सर्ग के विषय में यह भावना सर्वत्र पाई जाती है। अनन्तर ईश्वरकृष्ण ने 'अन्ध+पंगु' दृष्टान्त का कल्पना की है। सचमुच ही यदि षडध्यायी सूत्र, इन कारिकाओं के आधार पर बने होते, तो यह संभव नहीं था, कि इतना आवश्यक दृष्टान्त इन सूत्रों में छोड़ दिया जाता।

[1]—महाभारत, शान्तिपर्व ३१०।१२॥ कुम्भघोण संस्करण।

[2]—युक्तिदीपिका, पृष्ठ १७०, पं० २७-२८।

[3]—माठरवृत्ति, आर्या २१ पर।

(४)—सांख्यसप्तति की ७२ वीं अन्तिम आर्या के आधार पर हम षष्टितन्त्र के रचना क्रम अर्थात् उस ग्रन्थ के स्थूल ढांचे को भी अच्छी तरह समझपाते हैं। अन्तिम आर्या के लेखानुसार उसमें [षष्टितन्त्र में] प्रथम सांख्यसिद्धान्तों का वर्णन, अनन्तर उनकी उपोद्घलक आख्यायिकाओं का निर्देश, और उसके बाद परवादों का उल्लेख होना चाहिये। पदार्थनिर्देश का यह क्रम, वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी में ही उपलब्ध है। इसलिये अनिवार्य रूप से इसी ग्रन्थ को कारिकाओं की रचना का आधारभूत 'षष्टितन्त्र' मानना युक्तियुक्त है।

षष्टितन्त्र और अहिर्बुध्न्यसंहिता—

षष्टितन्त्र के रचनाक्रम तथा उसके स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों की कुछ विप्रतिपत्ति हैं। हमारे सन्मुख षष्टितन्त्र का एक और स्वरूप भी है, जिसका उल्लेख, पाञ्चरात्र सम्प्रदाय की 'अहिर्बुध्न्य संहिता' में किया गया है। वहां साठ पदार्थों के आधार पर इस ग्रन्थ के साठ भेद लिखे हैं। उसके वर्णन से ऐसा मालूम होता है, कि संहिताकार उन साठ भेदों को ग्रन्थ के साठ अध्याय अथवा प्रकरण समझता है, और प्रत्येक अध्याय में एक एक पदार्थ का निरूपण या विवेचन मानता है, तथा निरूपणीय पदार्थ के नाम पर ही उस अध्याय का नाम रखता है। इन साठ पदार्थों का उसने दो भागों में विभक्त किया है। (१) प्राकृत मण्डल, और (२) वैकृत मण्डल। प्राकृत मण्डल में बत्तीस और वैकृत मण्डल में अट्ठाईस पदार्थों का समावेश है। पहले का नामान्तर 'तन्त्र' तथा दूसरे मण्डल का 'काण्ड' नामान्तर बताया है। संहिता[1] के अनुसार वे साठ पदार्थ, तथा उनके नाम के आधार पर वे अध्याय इसप्रकार हैं—

अहिर्बुध्न्य संहिताके साठ पदार्थ

प्राकृत मण्डल

१=ब्रह्मतन्त्र।
२=पुरुषतन्त्र।
३=शक्तितन्त्र,
४=नियतितन्त्र,
५=कालतन्त्र,
६–८=गुणतन्त्र=
६=सत्त्वतन्त्र,
७=रजस्तन्त्र,
८=तमस्तन्त्र,
९=अक्षरतन्त्र,
१०=प्राणतन्त्र,
११=कर्तृतन्त्र,
१२=स्वामितन्त्र,
१३–१७=ज्ञानतन्त्र–
१३=घ्राणीयतन्त्र,
१४=रासनतन्त्र,

[1] षष्टिभेदं स्मृतं तन्त्रं सांख्यं नाम महामुने। प्राकृतं वैकृतं चेति मण्डले द्वे समासतः ॥१९॥
प्राकृतं मण्डलं तत्र द्वात्रिंशद्भेदमिष्यते। तत्राद्यं ब्रह्मतन्त्रं तु द्वितीयं पुरुषाङ्कितम् ॥२०॥
त्रीणि तन्त्राण्यथान्यानि शक्तेर्नियतिकालयोः। गुणतन्त्राण्यथ त्रीणि तन्त्रमक्षरपूर्वकम् ॥२१॥
प्राणतन्त्रमथान्यत्तु कर्तृतन्त्रमथेतरत्। सामितन्त्रमथान्यत्तु ज्ञानतन्त्रमथेतरत् ॥२२॥
क्रियातन्त्राणि पञ्चाथ मात्रातन्त्राणि पञ्च च। भूततन्त्राणि पञ्चेति त्रिंशद्द्वे च भिदा इमाः ॥२३॥

१८-२२ = क्रियातन्त्र =
- १५ = चाक्षुषतन्त्र,
- १६ = त्वाचतन्त्र,
- १७ = श्रौत्रतन्त्र,
- १८ = वचनतन्त्र
- १९ = आदानतन्त्र
- २० = विहरणतन्त्र
- २१ = उत्सर्गतन्त्र
- २२ = आनन्दतन्त्र

२३-२७ = मात्रातन्त्र =
- २३ = गन्धतन्त्र
- २४ = रसतन्त्र
- २५ = रूपतन्त्र
- २६ = स्पर्शतन्त्र
- २७ = शब्दतन्त्र

२८-३२ = भूततन्त्र =
- २८ = पृथिवीतन्त्र
- २९ = जलतन्त्र
- ३० = तेजस्तन्त्र
- ३१ = वायुतन्त्र
- ३२ = आकाशतन्त्र [1]

वैकृत मण्डल

१-५ = कृत्यकाण्ड = [2]
- १ = सृष्टिकाण्ड
- २ = स्थितिकाण्ड
- ३ = प्रलयकाण्ड

प्राकृतं माण्डलं प्रोक्तं वैकृतं मण्डलं शृणु । अष्टाविंशतिभेदं तन्मण्डलं वैकृतं स्मृतम् ॥२४॥
कृत्यकाण्डानि पञ्चादौ भोगकाण्डं तथापरम् । वृत्तकाण्डं तथैकं तु क्लेशकाण्डानि पञ्च च ॥२५॥
त्रीणि प्रमाणकाण्डानि ख्यातिकाण्डमतः परम् । धर्मकाण्डमथैकं च काण्डं वैराग्यपूर्वकम् ॥२६॥
अथैश्वर्यस्य काण्डं च गुणकाण्डमतः परम् । लिङ्गकाण्डमथैकं च दृष्टिकाण्डमतः परम् ॥२७॥
आनुश्रविककाण्डं च दुःखकाण्डमतः परम् । सिद्धिकाण्डमथैकं च काण्डं काषायवाचकम् ॥२८॥
तथा समयकांड च मोक्षकाण्डमतः परम् । अष्टाविंशतिभेदं तदित्थं विकृतिमण्डलम् ॥२९॥
षष्टितन्त्राण्यथैकैकमेषां नानाविधं मुने । षष्टितन्त्रमिदं सांख्यं सुदर्शनमयं हरेः ॥३०॥
आविर्बभूव सर्वज्ञात् परमर्षेर्महामुने । [अहिर्बुध्न्यसंहिता, अध्याय १२]

[1] अहिर्बुध्न्य संहिता में साक्षात् तन्त्रों के जो नाम दिये गये हैं, उनको हमने प्रथम श्रेणी में रख दिया है। जो नाम द्वितीय श्रेणी में दिये गये हैं, वे सब हमने अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अपनी ओर से लिखे हैं।

[2] पांच कृत्य क्या हैं ? इनका हम पूरा निर्णय नहीं करसके। अहिर्बुध्न्य संहिता के अध्याय १४, श्लोक १४-१५ में भगवत्संकल्प के संक्षेप में पांच भेद किये गये हैं। सृष्टि, स्थिति, अन्त, निग्रह, अनुग्रह। ये भगवान् की शक्ति के परिणाम हैं। विभु की क्रियाशक्ति को अध्याय ६।४ में 'सर्वकृत्यकरी' कहा है। ये उपर्युक्त पांच ही सब 'कृत्य' प्रतीत होते हैं। इस आधार पर कृत्यकाण्ड के ये पांच भेद हो सकते हैं। इस प्रसंग में सायण ने सर्वदर्शनसंग्रहान्तर्गत शैवदर्शन में भोजराज का एक प्रमाण इसप्रकार उद्धृत किया है

कृत्यपञ्चकञ्च प्रपञ्चितं भोजराजेन—
पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहारतिरोभावः। तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य ॥ इति ॥

[१८० पृष्ठ, पूना संस्करण]

संहिता के 'निग्रह' पद के स्थान पर भोजराज ने 'तिरोभाव' पद का प्रयोग किया है। इनके आशय में कोई अन्तर नहीं है।

	४ = निग्रहकाण्ड	१७ = धर्मकाण्ड
	५ = अनुग्रहकाण्ड	१८ = वैराग्यकाण्ड
६ = भोगकाण्ड		१९ = ऐश्वर्यकाण्ड
७ = वृत्तकाण्ड		२० = गुणकाण्ड
८-१२ = क्लेशकाण्ड	८ = अविद्याकाण्ड	२१ = लिङ्गकाण्ड
	९ = अस्मिताकाण्ड	२२ = दृष्टिकाण्ड
	१० = रागकाण्ड	२३ = आनुश्रविककाण्ड
	११ = द्वेषकाण्ड	२४ = दुःखकाण्ड
	१२ = अभिनिवेशकाण्ड	
१३-१५ = प्रमाणकाण्ड =		२५ = सिद्धिकाण्ड
	१३ = प्रत्यक्षकाण्ड	२६ = काषायकाण्ड
	१४ = अनुमानकाण्ड	२७ = समयकाण्ड
	१५ = आगमकाण्ड	२८ = मोक्षकाण्ड [1]
१६ = ख्यातिकाण्ड		

इन साठ भेदों या पदार्थों का विवेचन, सांख्यदृष्टिकोण से अहिर्बुध्न्यसंहिता के और किसी भी स्थल में उपलब्ध नहीं होता। इस षष्टितन्त्र का भी आविर्भाव यहां कपिल के द्वारा ही हुआ बताया गया है। परन्तु सांख्यकारिका और उसके सम्पूर्ण व्याख्यानों में षष्टितन्त्र के जिन साठ पदार्थों का उल्लेख है, उनके क्रमिक वर्णन का मौलिक आधार कुछ भिन्न प्रकार का ही प्रतीत होता है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में प्रतिपादित साठ पदार्थों के साथ उनका आपाततः सामञ्जस्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

षष्टितन्त्र के साठ पदार्थ—

सांख्यकारिकाभिमत साठ पदार्थों का निर्देश इसप्रकार है—

५—विपर्यय
९—तुष्टि
८—सिद्धि
२८—अशक्ति
१०—मौलिकार्थ

इन सबके पृथक् २ भेद निम्नलिखित हैं—

विपर्यय—

१—तम = अविद्या

[1] अहिर्बुध्न्यसंहिता में साक्षात् काण्डों के जो नाम दिये गये हैं, उनको हमने प्रथम श्रेणी में रख दिया है। जो नाम द्वितीय श्रेणी में दिये गये हैं, वे सब हमने अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अपनी ओर से लिखे हैं।

२—मोह	=अस्मिता
३—महामोह	=राग
४—तामिस्र	=द्वेष
५—अन्धतामिस्र	=अभिनिवेश

तुष्टि—

	माठर पाठ	यु० दी० पाठ	वाच० पाठ
१—प्रकृति	=अम्भ		
२—उपादान	=सलिल		
३—काल	=ओघ		
४—भाग्य	=वृष्टि		
५—अर्जनोपरम	=तार	सुतार*	पार
६—रक्षणोपरम	=सुतार	सुपार*	सुपार
७—क्षयोपरम	=सुनेत्र		पारावार
८—अतृप्त्युपरम-[भोगोपरम]१	=सुमरीच	सुमारीच	अनुत्तमाम्भ*
९—हिंसोपरम	=उत्तमाम्भसिक	उत्तमाभय	उत्तमाम्भ*

सिद्धि—

१—ऊह	=तार	तारक	तारतार
२—शब्द	=सुतार		
३—अध्ययन	=तारतार२	तारयन्त	तार

१ 'सङ्गोपरम' जयमंगला व्याख्या का अभिमत पाठ है।

* यह चिन्ह जिन नामों पर लगा है, वे जयमंगला व्याख्या को भी अभिमत हैं। उस के शेष नाम माठर पाठ के ही अनुसार हैं।

२ जयमंगला में 'तारवि [?]' ऐसा सन्दिग्ध पाठ निर्दिष्ट है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में प्रथम तीन सिद्धियों के क्रम को यहां विपरीत कर दिया है। अर्थात् 'ऊह' के स्थान पर 'अध्ययन' और 'अध्ययन' के स्थान पर 'ऊह' को माना है। परन्तु दूसरी संज्ञाओं के क्रम को नहीं बदला। इसप्रकार माठर आदि अन्य आचार्यों ने 'ऊह' सिद्धि की दूसरी संज्ञा 'तार' बतलाई है। परन्तु वाचस्पति मिश्र 'अध्ययन' सिद्धि का दूसरा नाम 'तार' कहता है। 'शब्द' नामक सिद्धि दोनों क्रमों के अनुसार मध्य में आजाती है। इसलिये उस का दूसरा नाम दोनों क्रमों में 'सुतार' ही रहता है। और वाचस्पति मिश्र के मत से तृतीय सिद्धि 'ऊह' का दूसरा नाम 'तारतार' हो जाता है।

	माठरपाठ	यु. दी. पाठ	वाच० पाठ
४—आत्मिकदुःखविघात	=प्रमोद		
५—भौतिकदुःखविघात	=प्रमुदित		मुदित
६—दैविकदुःखविघात	=मोहन [1]	मोदमान	मोदमान
७—सुहृत्प्राप्ति	=रम्यक		
८—दान	=सदाप्रमुदित		सदामुदित

अशक्ति—

एकादश इन्द्रियवध	ज्ञानेन्द्रियवध	१—चक्षुर्वध	=अन्धता
		२—रसनवध	=सुप्तिता [जडता]
		३—घ्राणवध	=अजिघ्रता [घ्राणपाक]
		४—त्वग्वध	=कुष्ठता
		५—श्रोत्रवध	=बधिरता
	कर्मेन्द्रियवध	६—वाग्वध	=मूकता
		७—पाणिवध	=कुणिता
		८—पादवध	=पङ्गुता
		९—पायुवध	=गुदावर्त्त [उदावर्त्त]
		१०—उपस्थवध	=क्लीबता
		११—मनोवध	=उन्माद
सप्तदश बुद्धिवध		१२—प्रकृतिवध	=अनम्भ
		१३—उपादानवध	=असलिल
		१४—कालवध	=अनोघ
		१५—भाग्यवध	=अवृष्टि
		१६—अर्जनोपरमवध	=अतार
		१७—रक्षणोपरमवध	=असुतार
		१८—क्षयोपरमवध	=असुनेत्र
		१९—अतृप्त्युपरमवध	=असुमरीच

[1] जयमंगला व्याख्या में यहां 'मोदन' पाठ है। संभवतः माठरग्रन्थ का भी यहां मूलपाठ, मोदमान' हीं रहा होगा। लेखक प्रमाद आदि से 'मा' निकल कर 'मोदन' पाठ रह गया। अनन्तर उपर्युक्त कारणों से ही माठरग्रन्थ में 'मोहन' पाठ बनगया।

सप्तदश बुद्धिवध

२०—हिंसोपरमवध [1]	= अनुत्तमाम्भसिक
२१—ऊहवध	= अतार
२२—शब्दवध	= असुतार
२३—अध्ययनवध	= अतारतार
२४—आत्मिकदुःखविघातवध	= अप्रमोद
२५—भौतिकदुःखविघातवध	= अप्रमुदित
२६—दैविकदुःखविघातवध	= अमोहन
२७—सुहृत्प्राप्तिवध	= अरम्यक
२८—दानवध [2]	= असदाप्रमुदित

मौलिकार्थ—[चन्द्रिकाकार के अतिरिक्त अन्य सब आचार्यों के मतानुसार]

१—एकत्व २—अर्थवत्त्व ३—पारार्थ्य	केवल प्रधान की अपेक्षा से
४—अन्यत्व ५—अकर्तृत्व ६—बहुत्व	केवल पुरुष की अपेक्षा से
७—अस्तित्व ८—वियोग ९—योग	दोनों की अपेक्षा से
१०—स्थिति	स्थूल और सूक्ष्म शरीरों की अपेक्षा से

[चन्द्रिकाकार नारायणतीर्थ [3] के मतानुसार]

---

[1] १२ से लेकर २० तक, तुष्टि के विपर्यय से प्राप्त नौ अशक्तियों का उल्लेख किया गया है। योगमार्गोन्मुख बुद्धिगत भावनाओं के विपर्यय अथवा विनाश से ही होने के कारण इन को बुद्धिवध कहा गया है।

[2] २१ से २८ तक, सिद्धि के विपर्यय से प्राप्त आठ अशक्तियों का उल्लेख है। तुष्टि विपर्यय के समान ये भी आठ बुद्धिवध हैं। इसप्रकार ११ इन्द्रियवध, और तुष्टि तथा सिद्धि के विपर्यय से प्राप्त १७ बुद्धिवध मिलाकर २८ अशक्ति, अध्यात्म योगी के मार्ग में बाधक रूप से उपस्थित होती हैं। 'ऊह' आदि पदों के साथ 'नञ्' का प्रयोग करके 'अनूह' आदि शब्दों के द्वारा भी व्याख्याकारों ने सिद्धिविपर्यय रूप अशक्ति का निर्देश किया है। परन्तु हमने एक ही क्रम रखने के कारण, अन्त में सब के साथ 'वध' पद का ही प्रयोग किया है। माठरपाठों के साथ ही 'नञ्' लगाकर हमने दूसरे नामों का उल्लेख कर दिया है। यहां पर पाठान्तरों का निर्देश अनावश्यक समझकर छोड़ दिया है।

[3] नारायणतीर्थ ने अपनी चन्द्रिका नामक व्याख्या में सांख्यसप्तति की ७२ वीं कारिका पर लिखा है—

१—पुरुष
२—प्रकृति
३—बुद्धि
४—अहंकार
५—सत्त्व
६—रजस्
७—तमस्
८—पांच तन्मात्रा
९—एकादश इन्द्रिय
१०—पञ्च महाभूत

हमने ऊपर अहिर्बुध्न्यसंहिता और षडध्यायी, तत्त्वसमास तथा सांख्यकारिका के आधार पर साठ पदार्थों का निर्देश किया है। षडध्यायी, तत्त्वसमास और सांख्यकारिका में इन साठ पदार्थों के प्रतिपादन का क्रम सर्वथा समान है। परन्तु अहिर्बुध्न्य संहिता में साठ पदार्थों की गणना कुछ भिन्न प्रकार से ही की गई है, जैसा कि ऊपर के निर्देश से स्पष्ट है। इन दो प्रकार से प्रतिपादित साठ पदार्थों का परस्पर सामञ्जस्य कहा तक हो सकता है, इसका निर्देश हम निम्न लिखित रीति पर कर सकते हैं।

षाष्टितन्त्र के साठ पदार्थों का, अहिर्बुध्न्यसंहिताप्रतिपादित साठ पदार्थों के साथ सामञ्जस्य—

(१)—अहिर्बुध्न्यसंहिता के प्राकृतमण्डल मे सांख्य के ५ विकार (२८-३२ तक पांच भूत) स्पष्ट निर्दिष्ट हैं। यदि पांच ज्ञान और पांच क्रिया रूप वृत्तियों के निर्देश से उनके साधन-भूत इन्द्रियों का निर्देश समझ लिया जाय, तो १३ से २२ तक दश इन्द्रियों का भी निर्देश आ-जाता है। इसप्रकार सांख्य के १५ विकारों का उल्लेख, अहिर्बुध्न्यसंहिता के प्राकृतमण्डल में

"षष्टिपदार्था गणिता ग्रन्थान्तरे, यथा
'पुरुषः प्रकृतिर्बुद्धिरहंकारो गुणास्त्रयः। तन्मात्रमिन्द्रियं भूतं मौलिकार्थाः स्मृता दश॥'"

बालराम उदासीन ने भी सांख्यतत्त्वकौमुदी की स्वरचित टीका में ७२ कारिका पर इस श्लोक को 'ग्रन्थान्तरे षष्टिपदार्थी यथा' यह लिखकर उद्धृत किया है। टीका का यह अन्तिम भाग, रामावतार पाण्डेय लिखित है। संभवतः पाण्डेय महोदय ने यह श्लोक चन्द्रिका से ही लिया मालूम होता है।

नारायणतीर्थ ने अपने व्याख्यान में लिखा है, कि ये साठ पदार्थ 'ग्रन्थान्तर में गिनाये गये हैं। और आगे 'यथा' कहकर वह इस श्लोक को लिखता है। इससे निम्ननिर्दिष्ट दोनों परिणाम निकलते हैं। (१)ग्रन्थान्तर में पठित श्लोक को नारायणतीर्थ ने यहां उद्धृत किया हो। (२)—ग्रन्थान्तर में केवल साठ पदार्थों की गणना की हुई हो, और उन पदार्थों को नारायणतीर्थ ने स्वयं श्लोक में बद्ध करके यहां निर्देश कर दिया हो। इसका विस्तारपूर्वक विवेचन इसी प्रकरण में आगे किया जायगा।

आजाता है। सांख्य (इस पद से हम इस प्रकरण में केवल सांख्यषडध्यायी, तत्वसमास तथा सांख्यकारिकाओं का ही ग्रहण करेंगे) में भी इन १५ विकारों का तत्त्वगणना में उपयोग है, और अहिर्बुध्न्य संहिता में भी। परन्तु सांख्य में आधिभौतिक [1] दृष्टि से ही २५ तत्वों की गणना में इनका उपयोग है, षष्टि पदार्थों की गणना में नहीं। इसके विपरीत अहिर्बुध्न्यसंहिता में, अपनी रीति पर, षष्टिपदार्थों की गणना में ही इनका उपयोग किया गया है। प्रतिपाद्य विषय की समानता होने पर भी इन दोनों क्रमों में तत्त्वों की गणना मूलक यह महान भेद है।

(२)—सांख्य के पांच प्रकृति-विकृति (तन्मात्र रूप), अहिर्बुध्न्यसंहिता में २३ से २७ तक 'मात्रा' पद से साक्षात् निर्दिष्ट हैं। सांख्य के अनुसार यद्यपि २५ तत्वों की गणना में इनका इसी रूप में उपयोग है, षष्टिपदार्थों की गणना में नहीं। परन्तु संहिता में, साक्षात षष्टिपदार्थों की गणना में ही इनका उपयोग किया गया है।

(३)—संहिता मे प्रकृति का निर्देश, सत्व रजस् और तमस (६ से ८ तक) इनको पृथक् २ गिनाकर किया गया है, 'प्रकृति' पद से प्रकृति का उल्लेख नहीं है। इसप्रकार सांख्य के २५ तत्वों में परिगणित एक तत्त्व को संहिता में तीन भागों में विभक्तकर षष्टि पदार्थों की गणना मे उपयोग किया गया है। यदि संहिता में 'शक्ति' पद से प्रकृति का निर्देश माना जाय, तो अधिक युक्तियुक्त होगा। इसप्रकार प्रधान [कारणरूप प्रकृति] एक तत्त्व का, एक ही पद से निर्देश होना संगत होता है। सत्त्व, रजस्, तमस् का पृथक् निर्देश, कारण की वैषम्य अवस्था का साधारण रूप से बोधक कहा जा सकता है। यद्यपि पदार्थों की केवल साठ संख्या पूरी करने के लिए इसप्रकार का निर्देश कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। तथा इससे संहिताकार के षष्टि पदार्थ अथवा षष्टितन्त्रसम्बन्धी—ज्ञान पर विपरीत प्रभाव ही पड़ता है। सांख्य में षष्टि पदार्थों की गणना में प्रकृति का स्वरूपेण उपयोग नहीं है, प्रत्युत उसके कुछ विशेष धर्मों की गणना में उपयोगिता के आधार पर प्रकृति का भी साठ पदार्थों में समावेश[2] माना गया है।

(४) संहिता में 'ब्रह्म' और 'पुरुष' पदों से पृथक् २ साक्षात् रूप में ही परमात्मा और जीवात्मा का निर्देश किया गया है। सांख्य में इन दोनों का 'पुरुष' पद से ही, आधिभौतिक दृष्टि से तत्त्व गणना के अवसर पर, ग्रहण कर लिया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से षष्टि पदार्थ गणना में प्रकारान्तर से इनका समावेश है।

---

[1] सांख्य में आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों के आधार पर तत्त्वों का परिगणन और विवेचन किया गया है। २५ तत्वों की गणना, आधिभौतिक दृष्टि से, तथा षष्टि पदार्थों की गणना आध्यात्मिक दृष्टि से है। आध्यात्मिक गणना में, आधिभौतिक दृष्टि से परिगणित २५ तत्त्व, दश मौलिक अर्थों में समाविष्ट हो जाते हैं। और अध्यात्म मार्ग के लिये अत्यावश्यक ५० प्रत्यय सर्गों का पृथक् प्रतिपादन किया गया है। इन दोनों को मिलाकर ही सांख्य में षष्टि पदार्थों की गणना पूर्ण होती है।

[2] दश मौलिक अर्थों में इसका समावेश हो जाता है, इसका स्पष्ट विवरण इसी प्रकरण में आगे किया जायगा।

इसप्रकार अहिर्बुध्न्य संहिता के षष्टि पदार्थों में परिगणित प्राकृत मण्डलान्तर्गत २६ तत्त्वों का सामञ्जस्य, सांख्य के २५ तत्त्वों में परिगणित २२ तत्त्वों के साथ स्थित होता है। सांख्य के इन २२ तत्त्वों में. १५ विकार, १ प्रकृति, अप्रकृति-अविकृति पुरुष, ५ प्रकृति-विकृति पदार्थ परिगणित हो जाते हैं। प्रकृति-विकृति समाविष्ट बुद्धि और अहंकार, तथा विकृति समाविष्ट मनका संहिता में उल्लेख नहीं हैं। इसप्रकार हम कह सकते हैं, कि बुद्धि, अहंकार और मन, इन तीनों अन्तःकरणों का अहिर्बुध्न्य संहिता में उल्लेख नहीं किया गया।

(५) प्राकृतमण्डल में उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त, छः पदार्थों का उल्लेख और है। जिनमें १० संख्या पर प्रतिपादित 'प्राणतन्त्र' सांख्य के पांच प्राण आदि ही हो सकते हैं, जो अन्तःकरणों के सामान्य वृत्तिमात्र हैं। यद्यपि सांख्यमतानुसार प्राणों का, तत्त्वगणना में कोई उपयोग नहीं है। परन्तु संहिता में वृत्तियों के निर्देश से, उनके साधनभूत इन्द्रियों का निर्देश मान लेने के समान, प्राण आदि अन्तःकरण की सामान्यवृत्तियों से अन्तःकरण का ही निर्देश संहिता में मान लिया जाय, तो तीनों अन्तःकरणों का भी उल्लेख संहिता में आ ही जाता है।

संहिता में प्राण को एक गिना है, तथा उसका उपयोग साक्षात् षष्टि पदार्थों की गणना में माना है। सांख्य में प्राणवृत्तिक अन्तःकरण, पृथक् तीन संख्या में, २५ तत्त्वों की गणना के लिए उपयोगी माने गये हैं। इसप्रकार सांख्य में आधिभौतिक दृष्टि से परिगणित २५ तत्त्वों का संहिता के प्राकृत मण्डलान्तर्गत षष्टि पदार्थों में परिगणित २७ पदार्थों के साथ सामञ्जस्य होता है। परन्तु सांख्य के ये २५ तत्त्व, अध्यात्मदृष्टि से साठ पदार्थों की गणना के समय, दस मौलिक अर्थों में ही समाविष्ट हो जाते हैं। यह दोनों क्रमों का परस्पर भेद है।

(६)—प्राकृतमण्डल के शेष पांच [नियति, काल, अक्षर, कर्तृ, सामि] पदार्थों का सांख्य में मुख्यतया साक्षात वर्णन नहीं है। तत्त्व गणना में तो इनका किसी तरह भी उपयोग नहीं है। इनमें से काल[1], कर्तृ[2], इन दो का सांख्य में यत्र तत्र प्रासंगिक उल्लेख है। अक्षर और सामि का उल्लेख सर्वथा नहीं है। यदि नियति का अर्थ स्वभाव माना जाय, तो जहां तहां व्याख्या[3]ग्रन्थों में इसका भी उल्लेख मिलता है। और इसका सम्बन्ध, पुरुष तथा प्रकृति इन दोनों की अपनी निजी स्थिति के साथ जोड़ा जा सकता है। नियति का अर्थ, पुण्य-पाप रूप कर्म माने जाने पर इसका सम्बन्ध, जीव-पुरुष के साथ ही कहा जा सकता है। इनको अतिरिक्त तत्त्व

---

[1] सांख्यसूत्र, १।१२॥ २।१२॥ ३।६०॥ ४।१६,२०॥ सांख्यकारिका ५०॥

[2] सांख्यसूत्र, १।१०६,१६४॥ ५।४६॥ ६।५४,६४॥ सांख्यकारिका, १६,२०॥

[3] सांख्यकारिका २७ पर गौडपादभाष्य।

माने जाने का कोई उल्लेख मूलसांख्य में उपलब्ध नहीं है[1]।

उक्त 'सामि' पद के स्थान पर 'स्वामि' पाठ भी उपलब्ध होता है। यदि यह ठीक है, तो अक्षर, कर्तृ तथा स्वामि के सामञ्जस्य पर भी कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। वस्तुतः चेतन तत्त्व के सम्बन्ध में ही इनका निर्देश किया गया प्रतीत होता है। चेतन तत्त्व को सांख्य, अक्षर अर्थात् अविनाशी मानता है। वह कर्त्ता भी है, भले ही वह [कर्तृत्व], अधिष्ठातृत्व रूप में सान्निध्यमात्र से माना गया है[2]। उसके स्वामी होने में सन्देह हो ही नहीं सकता। ब्रह्म अर्थात् परमात्मा अखिल प्रकृति का स्वामी है, और जीवात्मा भी उसके [प्रकृति के] कुछ विकृत अंश का। इसप्रकार इनका सामञ्जस्य किया जा सकता है। परन्तु सांख्य दृष्टि से साठ पदार्थों की गणना में इनका कोई उपयोग नहीं है।

(७)—प्राकृतमण्डल के अनन्तर अब वैकृतमण्डल के सम्बन्ध में विवेचन किया जाता है। वैकृतमण्डल के २८ पदार्थों में से ८ से १२ तक पांच, सांख्य के पांच विपर्यय हैं। दश मौलिक अर्थों के अतिरिक्त, ५० प्रत्यय सर्गों में सर्वप्रथम इनका वर्णन है। सांख्य के षष्टि पदार्थों की गणना में इनका साक्षात् उपयोग है। संहिता में भी इन्हें साक्षात् षष्टि पदार्थों की गणना में उपयुक्त किया है। यह इन दोनों क्रमों की समानता है।

(८)—१३ से १५ तक तीन, सांख्य के तीन प्रमाण हैं। यद्यपि यहां संहिता में इन्हें षष्टि पदार्थों की गणना में उपयुक्त माना गया है। परन्तु सांख्य में किसी तरह की भी गणना के लिये इनका कोई उपयोग नहीं है। वैसे सांख्य में इनका प्रासंगिक वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है।

(९)—१६ से १९ तक चार, बुद्धि के [सात्त्विक] धर्म हैं। न ये सांख्याभिमत अति-

---

[1] श्रीयुत पं० हरदत्त शर्मा एम्० ए० महोदय ने गौडपादभाष्य [पूना संस्करण] की भूमिका के २५ पृष्ठ पर लिखा है—'षष्टितन्त्रे च ब्रह्मपुरुषशक्तिनियतिकालाख्यानि पञ्च सर्गकारणानि पूर्वपक्षतयोपन्यस्तान्युपलभ्यन्ते'। अर्थात् षष्टितन्त्र में पूर्वपक्ष रूप से ब्रह्म, पुरुष, शक्ति, नियति और काल को सृष्टि का कारण बताया है। श्रीयुत शर्मा महोदय ने सृष्टि के पांच कारणों को पूर्वपक्ष रूप से उल्लिखित हुआ २ षष्टितन्त्र के किस स्थल में देखा, यह हम मालूम नहीं कर सके। शर्मा जी ने भी इसका निर्देश यहां नहीं किया है। यदि उनका अभिप्राय अहिर्बुध्न्यसंहिता के इस प्रकरण से ही है, जिसमें कि ब्रह्म, पुरुष, शक्ति, नियति और काल, इनका उल्लेख है, तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं, कि श्रीयुत शर्मा महोदय का उपर्युक्त लेख सर्वथा असङ्गत और मिथ्या है। क्योंकि संहिता के इस प्रकरण में न तो कार्यकारण का कोई प्रसङ्ग है, और न पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष का। यहां केवल साठ पदार्थों की गणना की गई है। जिनको 'षष्टितन्त्र' नाम का आधार कहा गया है। शर्मा जी ने यह कैसे समझ लिया, कि ब्रह्म आदि को यहां पूर्वपक्ष रूप से सृष्टि का कारण बताया गया है? जब कि इस बात का यहां कोई चिह्न तक नहीं है। वस्तुतः तत्त्वार्थ के विवेचन में ऐसी विचार-रीति विद्वानों को शोभा नहीं देती।

[2] इस सिद्धांत का विवेचन, 'सांख्यसिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक किया गया है।

रिक्त तत्त्व हैं, और न इनका किसी तरह की भी गणना में कोई उपयोग है। प्रमाणों के समान इनका भी सांख्य में प्रासंगिक वर्णन अवश्य है।

(१०)—प्राकृतमण्डल में भी [६ से ८ तक] "गुणतन्त्र" है; और वैकृतमण्डल में भी [२० वां] 'गुणकाण्ड' है। इनके प्रतिपाद्य विषय के भेद का कुछ पता नहीं लग सका। दोनों मण्डलों में निर्देश किये जाने का कोई कारण संहिता में भी उल्लिखित नहीं किया गया। दोनों जगह 'गुण' की गणना करके साठ पदार्थों की संख्या पूरी करने में असामञ्जस्य भी प्रतीत होता है। तथा संहिताकार के षष्टितन्त्र सम्बन्धी ज्ञान पर कुछ विपरीत प्रभाव भी ध्वनित होता है।

(११)—२१ से २३ तक [लिङ्ग, दृष्टि, आनुश्रविक] तीन, उक्त तीन प्रमाणों [१३ से १५ तक] के समान ही हैं। इनमें पुनरुक्तता प्रतीत होती है। अथवा निम्ननिर्दिष्ट रीति पर इनका विषय, भिन्न भी संभव हो सकता है। प्रतीत होता है, मूल कारण को प्रमाणपूर्वक सिद्ध करने के लिये इन काण्डों का पृथक् निर्देश किया गया हो। जैसे कि—

(क)—लिङ्गकाण्ड में अनुमान प्रमाण के आधार पर, अव्यक्त को सुखदुःखमोहात्मक सिद्ध किया गया हो।

(ख)—अव्यक्त के कार्यभूत इस दृश्यमान व्यक्त को, सुखदुःखमोहात्मक रूप से दृष्टि-काण्ड में प्रतिपादित किया गया हो।

(ग)—और आनुश्रविक काण्ड में, अव्यक्त तथा व्यक्त की सुखदुःखमोहात्मकता के प्रतिपादन के लिये, इस अर्थ को पुष्ट करने वाली शब्दप्रमाणभूत श्रुति स्मृतियों का निर्देश किया गया हो। फिर भी सांख्यमतानुसार षष्टि पदार्थों की गणना में इनका कोई उपयोग नहीं माना गया है। यद्यपि सांख्य में प्रसगवश इनका विवेचन जहां तहां[1] आता ही है।

(१२)—२४ वीं संख्या पर 'दुःखकाण्ड' है। सांख्य में भी त्रिविध दुःखों का[2] वर्णन है। परन्तु किसी तरह की भी पदार्थ गणना में वहां इनका उपयोग नहीं है।

(१३)—२५ वां सिद्धिकाण्ड है। सांख्य में सिद्धियों की संख्या आठ मानी है। और षष्टि पदार्थों की साक्षात् गणना में वहां उनका उपयोग किया गया है। परन्तु यहां संहिता में सिद्धि एक ही गिनाई गई है। संभव है, इस काण्ड का प्रतिपाद्य विषय, सांख्याभिमत ८ सिद्धियों का वर्णन न हो। क्योंकि इनको सामान्य रूप से एक संख्या में गिनाना, पदार्थ गणना के लिये सर्वथा अनुपयोगी है। तथा योगवर्णित सिद्धियां ही इस काण्ड का प्रतिपाद्य विषय हों, जिनका वर्त्तमान योगदर्शन के विभूतिपाद में वर्णन किया गया है।

[1] (क) सांख्यसूत्र, १।६२–६५॥१२१–१३७॥ सांख्यकारिका १४–१६ ॥
(ख) सांख्यसूत्र, ५।१२५–१२६॥ सांख्यकारिका ११ ॥

[2] सांख्यसूत्र, १।१॥ तत्त्वसमास २२॥ सांख्यकारिका १ ॥

[3] सांख्यसूत्र, ३।४०, ४४॥ तत्त्वसमास १५॥ सांख्यकारिका ५१ ॥

(१४)—२८ पर मोक्षकाण्ड है। सांख्य का, त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति रूप पुरुषार्थ अथवा अपवर्ग ही मोक्ष है। इसको कैवल्य आदि पदों से भी कहा जाता है। यद्यपि सांख्य में प्रसंगवश अनेक स्थलों [1] पर इसका वर्णन है। परन्तु किसी तरह की भी पदार्थ गणना में इसका उपयोग नहीं है।

(१५)—वैकृत मण्डल के प्रथम तीन [सृष्टि, स्थिति, प्रलय], सांख्य में भी प्रसंगवश [2] वर्णित हैं। परन्तु उनका किसी तरह की भी पदार्थ गणना में कोई उपयोग नहीं है।

(१६)—चतुर्थ और पचम काण्ड, निग्रह तथा अनुग्रह विषयक बताये गये हैं। ये निग्रह और अनुग्रह सृष्टि के ही अवान्तर भेद हैं। सर्ग के प्रारम्भ काल की अमैथुनी सृष्टि को सांख्य में अनुग्रह [3] सर्ग कहा गया है, अनन्तर होने वाली चौदह प्रकार की भौतिक सृष्टि को निग्रह सर्ग कहा जाता है। सांख्य में इनका प्रसंगप्राप्त वर्णन होने पर भी तत्त्वगणना में कोई उपयोग नहीं है।

(१७)—वैकृतमण्डल का छठा [भोग], पुरुषार्थ का ही अंग है। सांख्य में भोग [4] और अपवर्ग दोनों को पुरुषार्थ बताया है। इसलिये प्रसंगवश सांख्य में भोग का वर्णन अवश्य है। परन्तु पदार्थ गणना में इसका कोई उपयोग वहां नहीं माना गया।

(१८)—वैकृतमण्डल के शेष तीन [७-वृत्त, २६-काषाय, २७-समय], ऐसे पदार्थ हैं, जिनका सांख्य में वर्णन नहीं है। योग प्रकरणों में रागादि मलों के लिये 'कषाय' [5] पद का प्रयोग किया गया है। सम्भव है, इस काण्ड का प्रतिपाद्य विषय वही हो।

(१९)—वैकृत मण्डल के २७ [समय] का, प्राकृत मण्डल के ५ [काल] से भेद भी विवेचनीय है। एक ही वस्तु का दो नामों से पदार्थ गणना में उपयोग किया जाना असमञ्जस प्रतीत होता है।

षष्टितन्त्र के दश मौलिक अर्थों के सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद, और उसका सामञ्जस्य—

अहिर्बुध्न्य संहिता में उपवर्णित षष्टितन्त्र के साठ पदार्थों का विवेचन करने के अनन्तर सांख्य के षष्टि पदार्थों के सम्बन्ध में भी कुछ निर्देश आवश्यक हैं। सांख्य में उपवर्णित साठ पदार्थों को भी दो भागों में विभक्त किया गया है। (१)—पचास प्रत्ययसर्ग अर्थात् बुद्धिसर्ग। (२)—दश मौलिक अर्थ। इन में से—

---

[1] सांख्यसूत्र, १।१॥ ६।६५, ७८, ८४॥ तत्त्वसमास २०॥ सांख्यकारिका, ४४, ६४-६६। ६८॥

[2] सांख्यसूत्र, १। ६१॥ २। १-१२। १७, १८, २०-२२॥ ३। १२१॥ तत्त्वसमास ५। ६। १७। १८॥ सांख्यकारिका, १५। २२। २४। २५॥

[3] सांख्यसूत्र, ३। १६४॥ सांख्यकारिका ५२ पर माठरभाष्य।

[4] तत्त्वसमास १७। १८॥ सांख्यकारिका २१। २३॥

[5] 'रागादयः खलु कषायाश्चित्तवर्तिनः' योगसूत्र १। १५॥ पर तत्त्ववैशारदी, वाचस्पति मिश्र कृत।

(१)—पचास प्रत्ययसर्गों [1] के सम्बन्ध में किसी आचार्य का कोई मतभेद नहीं है। सब ही मूल ग्रन्थों [2] और उनके व्याख्याग्रन्थों में इनका समान रूप से ही उल्लेख उपलब्ध होता है। यह संभव है, कि प्रत्ययसर्ग पठित इन पचास पदार्थों में से कुछ एक पदार्थों के व्याख्यान करने में किन्हीं व्याख्याकार आचार्यों के परस्पर मत भेद हों, परन्तु पदार्थों के मौलिक स्वरूप को स्वीकार करने में किसी का भी मतभेद नहीं है।

(२)—परन्तु दश मौलिकार्थों के सम्बन्ध में अन्य सब ही आचार्यों से, चन्द्रिका [सांख्यकारिका की एक टीका] के रचयिता नारायणतीर्थ का मतभेद है। इस भेद को हम पीछे लिख चुके हैं। सुविधा के लिये उसका पुनः निर्देश किया जाता है—

चन्द्रिकाकार नारायण तीर्थ	अन्य सब आचार्य
१—पुरुष	१—एकत्व
२—प्रकृति	२—अर्थवत्त्व
३—बुद्धि	३—पारार्थ्य
४—अहंकार	४—अन्यत्व
५—सत्त्व	५—अकर्तृत्व
६—रजस्	६—बहुत्व
७—तमस्	७—अस्तित्व
८—पञ्चतन्मात्रा	८—वियोग
९—एकादश इन्द्रिय	९—योग
१०—पञ्च महाभूत	१०—स्थिति

प्रतीत होता है, तीर्थ [3] ने सांख्य के २५ तत्त्वों को ही दश मौलिकार्थ माना है, कुछ तत्त्व उसी रूप में गिने हैं, और कुछ का वर्गीकरण कर दिया है।

---

[1] प्रत्ययसर्ग में पचास पदार्थ ये हैं:—
५ विपर्यय, ९ तुष्टि, ८ सिद्धि, २८ अशक्ति। इन का पृथक् २ निर्देश पीछे किया जा चुका है।

[2] सांख्यषडध्यायी, तत्त्वसमास, और सांख्यकारिकाओं को हमने यहां मूलग्रन्थ माना है। पञ्चशिख के उपलभ्यमान सूत्रों में ये अर्थ नहीं हैं। संभव है, अनुपलब्ध ग्रन्थ में हों। इसीलिये उसे यहां नहीं गिना है। व्याख्याग्रन्थ=सांख्यषडध्यायी,—अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु, महादेव। सांख्यकारिका—माठर, युक्तिदीपिका, गौडपाद, जयमंगला, वाचस्पति, चन्द्रिका। तत्त्वसमास—सिमानन्द, भावागणेश आदि के व्याख्यान, 'सांख्यसंग्रह' नाम से दो भागों में चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस से प्रकाशित।

[3] इस प्रकरण में चन्द्रिकाकार नारायणतीर्थ को, संक्षेप का विचार करके, हमने केवल 'तीर्थ' पदसे स्मरण किया है।

पुरुष = न प्रकृति न विकृति

प्रकृति = केवल प्रकृति [मूलप्रकृति]

इन दो तत्त्वों को उसी रूप में गिन लिया गया है। सात प्रकृति-विकृतियों में से दो—बुद्धि और अहंकार—को भी उसी रूप में गिन लिया गया है। परन्तु पञ्चतन्मात्राओं का एक वर्ग मानकर उनको एक ही संख्या मे गिना है। सोलह विकारों के दो वर्ग मान लिये हैं, एक इन्द्रियवर्ग दूसरा महाभूतवर्ग। इसतरह इन को दो संख्या में गिन लिया है। ये सब मिलकर सात मौलिकार्थ होते हैं, और उधर २५ तत्त्व पूरे हो जाते हैं। मौलिकार्थों की दश संख्या पूरी करने के लिये, सत्त्व-रजस्-तमस् को पृथक् करके जोड़ा गया है। प्रकृति की गणना कर लिये जाने पर केवल संख्या पूर्त्ति के लिये सत्त्व रजस्-तमस् को पृथक् करके गिनना कुछ समञ्जस प्रतीत नहीं होता।

परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है। यह मत, तीर्थ का अपना ही मत मालूम नहीं देता। यहां पर उसका लेख इसप्रकार है—

"षष्टिपदार्था गणिता ग्रन्थान्तरे, यथा—

पुरुषः प्रकृतिर्बुद्धिरहंकारो गुणास्त्रयः। तन्मात्रमिन्द्रियं भूतं मौलिकार्थाः स्मृता दश ॥

विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः। करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम् ॥

इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः[1]*। इति ॥*

तीर्थ के इस लेख से स्पष्ट है, कि उसने इन साठ पदार्थों का उल्लेख किसी ग्रन्थान्तर के आधार पर ही किया है। वह ग्रन्थान्तर कौन हो सकता है, इसका निर्णय करना कठिन है। इन श्लोकों में से अन्तिम डेढ़ श्लोक, जिसमें पचास प्रत्यय सर्गों का निर्देश है, ठीक वही हैं, जो वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी के अन्त मे 'राजवार्त्तिक' नामक ग्रन्थ से उद्धृत करके लिखे हैं[2]। चन्द्रिका के प्रथम श्लोक का चतुर्थ चरण भी मिश्रोद्धृत प्रथम डेढ़ श्लोक के अन्तिम चरण के साथ बिल्कुल मिलता है। वाचस्पति मिश्र ने राजवार्त्तिक से जिन श्लोकों को सांख्यतत्त्वकौमुदी के अन्त में उद्धृत किया है, वे श्लोक सांख्य के अन्य किसी ग्रन्थ में भी, प्रस्तुत प्रसंग में आज तक हमें उद्धृत हुए नहीं मिले हैं। यद्यपि युक्तिदीपिका के प्रारम्भिक पन्द्रह श्लोकों में ये तीन श्लोक भी हैं। परन्तु वहां इनका उद्धृत होना स्पष्ट नहीं है। इससे संभावना यही होती है, कि तीर्थ ने

---

[1] चन्द्रिका व्याख्या [सांख्यकारिका ७२]

[2] वे श्लोक इसप्रकार हैं—

"तथा च राजवार्त्तिकम्—

प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता। पारार्थ्यञ्च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च ॥

शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश। विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ॥

करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम्। इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः ॥ इति"

अन्तिम डेढ़ श्लोक को, जिन में पचास प्रत्ययसर्गों का उल्लेख है, वाचस्पति के ग्रन्थ से ही लिया है। यह बात कारणान्तरों से भी सिद्ध है, कि चन्द्रिका लिखते समय तीर्थ के सम्मुख सांख्यतत्त्व कौमुदी विद्यमान थी।[1] तथा कौमुदी की पर्याप्त छाया चन्द्रिका में है।

अब प्रश्न यह है, कि तीर्थ ने वाचस्पतिप्रतिपादित दश मौलिकार्थों को क्यों छोड़ा ? और उनसे भिन्न दश मौलिकार्थों का किस आधार पर प्रतिपादन किया ? वाचस्पतिप्रतिपादित मौलिकार्थों को छोड़ देने का कारण बताने से पूर्व, तीर्थप्रतिपादित मौलिकार्थों के आधार का हम निर्देश करना चाहते हैं।

अहिर्बुध्न्य संहिता में उपवर्णित षष्टितन्त्र के प्रथम प्राकृतमण्डल में ३२ पदार्थों के आधार पर ३२ तन्त्रों का निर्देश किया गया है। वहां पर प्रतिपादित २६ पदार्थों का सामञ्जस्य सांख्य के २५ तत्त्वों के साथ होता है, यह हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। संहिता में 'भूततन्त्र' और 'मात्रा तन्त्र' का निर्देश है। यद्यपि वहां इनकी संख्या पांच २ बतलाई है, परन्तु इनका निर्देश, एक २ वर्ग मानकर ही किया गया है। तीर्थ ने इन वर्गों को इसी रूप में स्वीकार किया है। क्योंकि उसने २५ तत्त्वों को दश संख्या में ही समाविष्ट करना है। इसलिये एक वर्ग को एक संख्या में ही गिना है।

संहिता में इन्द्रियों के दो वर्ग किये हैं, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, इन के लिये वहां 'ज्ञान तन्त्र' और 'क्रियातन्त्र' नाम दिये गये हैं। यद्यपि इनकी संख्या भी वहां पांच २ मानी गई है, परन्तु तीर्थ ने दस संख्या के सामञ्जस्य के कारण सम्पूर्ण इन्द्रिय वर्ग को एक संख्या में ही गिना है। इसप्रकार 'पञ्चभूत', 'तन्मात्रा' और 'इन्द्रियवर्ग' को लेकर तीर्थ के विचार से तीन मौलिक अर्थ होजाते हैं; जिनका आधार अहिर्बुध्न्य संहिता को कहा जासकता है।

संहिता में 'गुणतन्त्र' से तीन गुणों का पृथक् २ निर्देश स्वीकार किया गया है। क्योंकि वहां 'गुणतन्त्र' को तीन भागों में विभक्त किया है, ठीक उसी तरह तीर्थ ने भी सत्त्व-रजस-तमस को पृथक् २ तीन संख्याओं में गिना है; जब कि दोनों ग्रन्थकारों ने प्रकृति की पृथक् स्वतन्त्र गणना भी की है। यह दोनों की आश्चर्यजनक समानता है।

संहिता में 'ब्रह्मतन्त्र' का निर्देश किया गया है। यदि यहां सांख्यमतानुसार 'ब्रह्म' पद से प्रकृति[2] का ही ग्रहण किया जाय, तो प्रकृति और पुरुष इन दो पदार्थों का निर्देश भी तीर्थ के निर्देश के साथ पूर्ण रूप से संतुलित होता है। दोनों के वर्णन की यह समानता उस समय

---

[1] इसका विवेचन इसी ग्रन्थ के 'सांख्यकारिका के व्याख्याकार' नामक प्रकरण में विस्तारपूर्वक किया गया है।

[2] "अव्यक्तं प्रकृतिर्माया प्रधानं ब्रह्म कारणम्। अव्याकृतं तमः पुण्यं क्षेत्रमक्षरनामकम्॥ बहुधात्मकाविभागानि तस्यामी ते जगुर्बुधाः।" -सांख्यसंग्रह, पृष्ठ ९, पंक्ति १६-१८॥ 'प्रकृतिः प्रधानमधिकुरुते। ब्रह्म अव्यक्तं बहुधात्मकं मायेति पर्यायाः।' सांख्यकारिका २२ पर माठरभाष्य। भगवद्गीता में भी अनेक स्थानों पर 'प्रकृति' के लिये 'ब्रह्म' पदका प्रयोग किया गया है। देखिये-भगवद्गीता, १४।३-४॥

श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों के लिये 'ब्रह्म' पदका प्रयोग

में और भी अधिक समीप प्रतीत होती है, जबकि हम, प्रकृति का कथन करदेने पर दोनों ग्रन्थों में सत्त्व-रजस्-तमस् का पृथक् २ उल्लेख समान रूप में ही पाते हैं। प्रकृति पद से उसकी साम्यावस्था तथा सत्त्व-रजस्-तमस् पदों से उसकी विषमावस्था का निर्देश किया गया है। सत्त्व आदि के प्रकाश आदि धर्म, विषमावस्था में इनके पृथक् निर्देश के प्रयोजक कहे जासकते हैं।

संहिताप्रतिपादित षष्टितन्त्र के इस भाग का 'प्राकृतमण्डल' नाम, तथा दस संख्या में वर्गीकृत, तीर्थद्वारा निर्दिष्ट इन पदार्थों के लिये मौलिक अथवा मूलिक नाम भी इस परिणाम को ध्वनित करते हैं, कि तीर्थ ने जिस ग्रन्थान्तर के आधार पर इन मौलिक अर्थों की गणना की है, वह अहिर्बुध्न्य संहिता का यह लेख कहा जासकता है।

पचास प्रत्ययसर्गों का निर्देश करने के लिये तीर्थ ने वाचस्पति के ग्रन्थ में उद्धृत राजवार्तिक श्लोकों के अंतिम भाग (डेढ़ श्लोक) को अपने ग्रंथ में स्वीकार किया, और संहिता के आधार पर इन दस मौलिक अर्थों को अधिक युक्तियुक्त समझकर, वाचस्पति प्रतिपादित अर्थों को छोड़ दिया। स्वीकृत श्लोकों के साथ सम्बद्ध करने के लिये तीर्थ ने इन दश मौलिक अर्थों को भी अनुष्टुप् छन्द में बांधकर उनके साथ जोड़ दिया, यही सम्भव प्रतीत होता है।

अब इस बात का विवेचन करना आवश्यक है, कि दोनों प्रकारों से वर्णित दश मौलिकार्थ, क्या परस्पर सर्वथा भिन्न हैं? अथवा इनका यह भेद आपाततः ही प्रतीत होने वाला है, और इनमें कुछ आन्तरिक सामञ्जस्य हो सकता है। तथा इन दोनों प्रकारों में से कौनसा प्रकार अधिक युक्तियुक्त और प्रामाणिक है।

दश मौलिक अर्थ, २५ तत्त्वों के ही प्रतिनिधि हैं—

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुंच जाते हैं, कि दोनों ही

किया गया है।

'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥

ऐतरेय आरण्यक (१।३।६) में भी 'प्रकृति' के अर्थ में 'ब्रह्म' पदका प्रयोग किया गया है। वहां का लेख है—

'यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वागिति यत्र ह क्व च ब्रह्म तद्वाग्, यत्र वाक् तद्वा ब्रह्मेत्येतदुक्तं भवति।'' इस पर आचार्य सायण लिखता है—

'ब्रह्म एवाभिधेयं जगत्, पदार्थरूपेण यत्र यत्रास्ति, तत्र तत्राभिधायकं नाम, तथा यत्र यत्र वाचकः शब्दस्तत्र तत्राभिधेयपदार्थरूपं ब्रह्म इति।'

यहां दृश्यमान जगत् को, जो प्रकृति का कार्य है, 'ब्रह्म' पद से कहा गया है। यह कार्य द्वारा कारण का निर्देश है।

प्रकारों में अर्थों का कोई प्रबल भेद नहीं है। किस सीमा तक यही केवल अर्थ के प्रतिपादन-प्रकार का ही भेद है। तीर्थ तो स्पष्ट ही २५ तत्त्वों को वर्गीकृत करके दश मौलिक अर्थों के रूप में उपस्थित करता है। अन्य सब आचार्यों के मतानुसार कहे हुए दश मौलिक अर्थ भी अपने स्वरूप के साथ २ पच्चीस तत्त्वों का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करते है, यह प्रमाणपूर्वक नीचे निर्दिष्ट किया जाता है।

वाचस्पति ने साठ पदार्थों का निर्देश करने के अनन्तर लिखा है—

"एकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यञ्च प्रधानमधिकृत्योक्तम्, अन्यत्वमकर्तृत्वं बहुत्वञ्चेति पुरुषमधिकृत्य, अस्तित्वं वियोगो योगश्चेत्युभयमधिकृत्य, स्थितिः स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्य[1]।"

अर्थात् पहले तीन धर्म प्रकृतिगत, अगले तीन पुरुषगत, और उससे अगले तीन उभयगत होने के कारण, ये नौ मौलिक अर्थ अपने उन २ स्वरूपों के साथ प्रधान और पुरुष का निर्देश करते हैं। दसवां 'स्थिति' नामक मौलिक अर्थ, स्थूल और सूक्ष्म शरीरों को लक्ष्य करके निर्देश किया गया है, स्थूल शरीर पाञ्चभौतिक होने से पांच स्थूलभूतों का प्रतीक है, और सूक्ष्म शरीर शेष अठारह तत्त्वों का प्रतीक है, क्योंकि उसकी रचना इन्हीं अठारह तत्त्वों के आधार पर बताई गई है। वे अठारह तत्त्व इसप्रकार हैं—पांच सूक्ष्म भूत [=पञ्च तन्मात्रा], एकादश इन्द्रिय [मन के सहित], अहंकार और बुद्धि। इसप्रकार ये दश मौलिक अर्थ भी २५ तत्त्वों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। और इस दृष्टि से, दोनों प्रकारों के वर्णित मौलिकार्थों में कोई प्रबल भेद नहीं रह जाता।

इस अर्थ का केवल वाचस्पति की व्याख्या में ही नहीं, प्रत्युत उससे प्राचीन व्याख्या जयमंगला में भी प्रतिपादन किया गया है। जयमंगला का लेख इसप्रकार है—

'एकत्वमर्थवत्वं पारार्थ्यञ्चेति प्रधानमधिकृत्योक्तम्। अन्यत्वमकर्तृत्वं बहुत्वञ्चेति पुरुषमधिकृत्य। अस्तित्वं योगो वियोगश्चेत्युभयमधिकृत्य स्थितिः स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्य[2]।'

इनके अतिरिक्त सांख्यकारिका के सर्वप्राचीन व्याख्याकार आचार्य माठर ने भी ७२वीं कारिका की व्याख्या में इसी अर्थ को संक्षेप से निर्दिष्ट किया है। चीनी अनुवाद में भी इसका संकेत मिलता है। इसलिये इन सब आधारों पर दश मौलिकार्थों के सम्बन्ध में जो परिणाम अभी प्रकट किया है, उसकी पुष्टि होती है।

दश मौलिकार्थों के इन दोनों प्रतिपादन-प्रकारों में कौनसा अधिक युक्तियुक्त और प्रामाणिक है, इसका भी विवेचन होना आवश्यक है। यह बात तो निश्चित है,

---

[1] सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका ७२।

[2] जयमंगला व्याख्या, कारिका ५१। इस लेख से यह भी स्पष्ट होता है, कि वाचस्पति ने इस सन्दर्भ को यहीं से लेकर अपने ग्रंथ में इसका उपयोग किया है। कारणान्तरों से यह सिद्ध है, कि जयमंगला व्याख्या, वाचस्पति से प्राचीन है। इसका विस्तारपूर्वक विवेचन इसी ग्रन्थ के 'सांख्यकारिका के व्याख्याकार' नामक प्रकरण में किया गया है।

कि सांख्य में २५ तत्त्वोंके ज्ञान से मुक्ति का होना बताया गया है। प्रामाणिकों का एक वचन भी है—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः। जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥

इसप्रकार २५ तत्त्वों के ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति का कथन इस बात को स्पष्ट करता है, कि अध्यात्म मार्ग में भी इन तत्त्वों का साक्षात् उपयोग है। ऐसी स्थिति में यद्यपि तीर्थ द्वारा प्रदर्शित दश मौलिकार्थ, अधिक संगत तथा युक्तियुक्त मालूम होते हैं। क्योंकि तीर्थ के मौलिकार्थों में साक्षात् २५ तत्त्वों को ही गिनाया है।

परन्तु जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं, कि मुक्ति के लिये प्रकृति-पुरुष विवेक ज्ञान के आवश्यक होने पर भी, प्रकृति और पुरुष के किन स्वरूपों को जानने के लिये हमें यत्न करना है; अर्थात् प्रकृति और पुरुष को किस स्वरूप में हम जानें, कि जिससे उनके विवेक का हमें ज्ञान हो, तो हमारे सामने कुछ और भी वस्तु आती हैं। प्रकृति के स्वरूप को जानने के लिये उसके एकत्व का ज्ञान आवश्यक है, वह प्रयोजनवाली होती है, वह दूसरे के ही लिये प्रवृत्त होती है, वह कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है, उसका वास्तविक अस्तित्व है। जब वह पुरुष के साथ युक्त है, तब वह पुरुष के लिये शब्दादि की उपलब्धि रूप भोग को सिद्ध करती है। विवेक ज्ञान हो जाने पर पुरुष से वियुक्त हो जाती है, और तब पुरुष के लिये अपवर्ग को सिद्ध करती है।

इसीप्रकार पुरुष के सम्बन्ध में भी ये ही बातें आवश्यक ज्ञातव्य होती हैं, कि पुरुष प्रकृति से अन्य है, वह अकर्त्ता है, और स्वरूप से नाना है। उसका भी अस्तित्व वास्तविक है। वह जब प्रकृति से युक्त रहता है, तब बन्ध अवस्था में पड़ा हुआ कहलाता है। और जब विवेक-ज्ञान हो जाने पर प्रकृति से वियुक्त होता है, तब वह मुक्त या अपवर्ग अवस्था में कहा जाता है, भले ही वह नित्य-मुक्त है। ये ही सब बातें हैं, जो अध्यात्म मार्ग में जाने वाले व्यक्ति के लिये, प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध में जाननी अत्यन्त आवश्यक हैं, इन्हीं के साक्षात् ज्ञान पर प्रकृति-पुरुष के विवेक का ज्ञान आधारित है। इसप्रकार दश मौलिकार्थों में से प्रथम नौ प्रकृति और पुरुष के प्रतीक हैं; तथा अस्तित्व आदि धर्मों के द्वारा अध्यात्म मार्ग में उनके उपयोग को स्पष्ट करते हैं।

यह स्थूल शरीर, जो कि हमारे सम्पूर्ण सांसारिक भोगों का आधार है, इसकी पाञ्च-भौतिकता, जन्म, मरण, नश्वरता, अशुचिता आदि भावनाओं की दृढ़ता से वैराग्य की उत्पत्ति होना, और सांसारिक भोगों की क्षण-भंगुरता को समझकर अध्यात्म मार्ग की ओर प्रवृत्त होना, ये सब बातें शरीर के उपादान, पांच महाभूतों की वास्तविकता के ज्ञान पर ही आधारित हैं। एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाने का साधन, कर्म या धर्माधर्मों के आधारभूत सूक्ष्मशरीर की वास्तविकता को समझना भी अध्यात्म मार्ग की प्रवृत्ति के लिये अत्यावश्यक है। दश मौलि-कार्थों में से दशवां अर्थ 'स्थिति' इनका प्रतीक है। और अध्यात्म मार्ग में इस रूप से इनकी उप-योगिता को स्पष्ट करता है। ये ही सब चीजें, पच्चीस तत्त्वों के वे स्वरूप हैं, जिनका वास्तविक ज्ञान अध्यात्म मार्ग में अत्यन्त उपयोगी है। ये ही पदार्थ, २५ मूलभूत तत्त्वों के आधार पर वर्णित

होने के कारण 'मौलिकार्थ' कहे जाते हैं।

तत्त्वों के विवेचन की दो दिशा—

पच्चीस तत्त्वों का इसप्रकार का विवेचन, कि—प्रकृति तत्त्व-सत्त्वरजस्तमोमयी है, सत्त्व आदि के, प्रकाश आदि धर्म हैं। प्रकृति से महत्तत्त्व और उससे अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है, सात्त्विक सृष्टि-इन्द्रियां, और तामस सृष्टि-तन्मात्रा। तन्मात्राओं से पांच स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है, जिनका कि यह सब जगत् परिणाम है। पुरुष भोगों को किस प्रकार भोगता है? इन्द्रियां क्या कार्य करती हैं? अन्तःकरणों के कार्य क्या हैं?—प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध में ये सब बातें, तत्त्वों के आधिभौतिक विवेचन में ही उपयोगी हैं। यद्यपि यह विवेचन अथवा इनका ज्ञान भी अध्यात्म मार्ग में उपयोगी होता है, परन्तु परम्परा से ही उपयोग है, साक्षात् नहीं। प्रकृति आदि के जो एकत्व आदि धर्म कहे गये हैं, वे ही अध्यात्म-मार्ग में साक्षात् उपयोगी हैं। इसलिये २५ मूलभूत तत्त्वों पर आधारित उन दश अर्थों को ही 'मौलिकार्थ' कहा गया है। तीर्थदर्शित दश मौलिकार्थों की कल्पना में यही न्यूनता है, कि वहां प्रकृति आदि के उन भावों को स्पष्ट नहीं किया गया, जिनके ज्ञान के आधार पर अध्यात्ममार्ग प्रस्फुटित होता है। अत एव हमारी ऐसी धारणा है, कि प्राचीन आचार्यों ने जिन दश मौलिकार्थों का निर्णय किया है, वे ही अधिक युक्तिसंगत और प्रामाणिक हैं। उनमें २५ तत्त्वों का भी समावेश है, और उन्हीं पर आधारित उन धर्म अथवा भावनाओं का भी, जिनसे प्रेरित होकर कोई भी व्यक्ति, अध्यात्ममार्ग में सफलता को प्राप्त करता है।

सांख्य ग्रन्थों के गम्भीर स्वाध्याय के परिणाम स्वरूप, उनमें दो प्रकार से पदार्थों का विवेचन स्पष्ट होता है। एक आधिभौतिक दृष्टि से, दूसरा आध्यात्मिक दृष्टि से। २५ तत्त्वों का विवेचन आधिभौतिक दृष्टि से किया गया है। तथा षष्टि पदार्थों का विवेचन आध्यात्मिक दृष्टि से हुआ है। २५ तत्त्वों के सम्बन्ध में कोई भी मतभेद सांख्यग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। इसी प्रकार षष्टि पदार्थों के सम्बन्ध में भी कोई गणना योग्य मतभेद सांख्य ग्रन्थों में नहीं है। दश मौलिकार्थों के सम्बन्ध में मतभेद का जो आधार कल्पना किया जा सकता है, उसका अभी हम विवेचन कर आये हैं। परन्तु पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अहिर्बुध्न्य संहिता नामक ग्रन्थ में जो सांख्य के षष्टि पदार्थों की गणना की गई है, वह सांख्य प्रदर्शित षष्टि पदार्थों से अवश्य ही कुछ भिन्न है। इन दोनों का जहां तक सामञ्जस्य हो सकता है, वह सब हम पीछे विवेचन कर चुके हैं।

संहिता का षष्टितन्त्र, सांख्यसप्तति का आधार नहीं—

अहिर्बुध्न्य संहिता में कुछ ऐसे पदार्थों को भी गिनाया गया है, जिनका सांख्यग्रन्थों में बिल्कुल भी उल्लेख नहीं मिलता। जैसे कि—

४. नियतितन्त्र ६. अक्षु तन्त्र १२. सामितन्त्र	प्राकृतमण्डल	७. वृत्तकाण्ड २६. कषायकाण्ड २७. समयकाण्ड	वैकृतमण्डल

इनके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक पदार्थ हैं, जिनका सांख्यग्रन्थों में प्रासंगिक वर्णन है, षष्टि पदार्थों में उनको नहीं गिना गया। परन्तु संहिता, उनकी भी गणना षष्टि पदार्थों में करती है। इनका निर्देश हम पहले कर आये हैं। ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं में उन्हीं षष्टि पदार्थों को स्वीकार किया है, जिनका सांख्यग्रन्थों में किये वर्णन का हम अभी उल्लेख कर आये हैं। अर्थात् पचास प्रत्ययसर्ग और दश मौलिकार्थ। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है, कि ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं की रचना के लिये जिस 'षष्टितन्त्र' को आधार माना है; वह, अहिर्बुध्न्य संहिता में प्रदर्शित षष्टितन्त्र नहीं हो सकता। क्योंकि इन दोनों के पदार्थ विवेचन में अन्तर है, जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर आये हैं। इसलिये वर्त्तमान षडध्यायी को ही कारिकाओं का आधारभूत 'षष्टितन्त्र' माना जा सकता है। ईश्वरकृष्ण ने अन्तिम ७२ वीं कारिका में 'षष्टितन्त्र' का जो स्वरूप बतलाया है, वह सांख्यषडध्यायी में ही उपलब्ध होता है, अन्यत्र नहीं।

सांख्यकारिका के अन्यतम व्याख्याकार नारायण तीर्थ ने भी ७२ वीं कारिका पर व्याख्या करते हुए, अपनी व्याख्या चन्द्रिका में इस अर्थ को स्वीकार किया है। तीर्थ लिखता है—

'तत्र यथा कपिलोक्तषडध्याय्यां चतुर्थाध्याये आख्यायिका पञ्चमे परवादः, तथात्र न वर्तत इति भावः।'

जिसप्रकार कपिलोक्त षडध्यायी में, चतुर्थाध्याय में आख्यायिका और पञ्चमाध्याय में परवाद हैं, उसप्रकार सांख्यकारिका में नहीं हैं। अर्थात् सांख्यकारिका में न आख्यायिकाओं और परवादों को छोड़ दिया गया है। तीर्थ के इस लेख से स्पष्ट है, कि वह षडध्यायी को ही कारिकाओं का आधार मानता है[1]। इन सब उल्लेखों के आधार पर यह परिणाम निर्धारित होता है, कि ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिकाओं की रचना के लिये जिस 'षष्टितन्त्र' को आधार माना है, वह वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी ही है। पूर्व समय में 'कपिलोक्त-षष्टितन्त्र' पद इसी के लिये व्यवहृत होता रहा है।

संहिता के षष्टितन्त्र-सम्बन्धी वर्णन का आधार—

इस प्रसंग में एक और आवश्यक विवेचनीय बात यह रह जाती है, कि अहिर्बुध्न्य संहिता में वर्णित षष्टितन्त्र का आधार क्या हो सकता है? यह तो निश्चित मत है, कि जिन

[1] तीर्थ ने उपर्युक्त पंक्ति में यह भी स्पष्ट उल्लेख किया है, कि यह षडध्यायी कपिल प्रणीत है। जो आधुनिक विद्वान् यह समझते हैं, कि ईसवी चौदहवीं सदी के अनन्तर इन सूत्रों की किसी ने रचना करदी उनको इस लेख पर ध्यान देना चाहिये। नारायण तीर्थ का समय, अब से लगभग साढ़े चार सौ वर्ष से अधिक पूर्व ही है। ऐसी स्थिति में कथित सूत्र रचना के अति समीप काल में होने वाला यह नारायण तीर्थ भी यही धारणा रखता है; कि ये सूत्र कपिल-प्रणीत हैं। उस समय के साहित्य में इस बात का कहीं भी उल्लेख न होना, कि ये सूत्र कपिल के नाम पर किसी ने बना दिये हैं, प्रत्युत उसके विरुद्ध, कपिल-प्रणीतता के उल्लेखों का होना, इस बात को सर्वथा स्पष्ट कर देता है, कि चौदहवीं सदी के आस-पास सूत्रों की रचना की कल्पना, सर्वथा निराधार और असङ्गत है।

षष्टि पदार्थों के वर्णन के आधार पर, षडध्यायी 'षष्टितन्त्र' है, जिनको सांख्यकारिका ने भी अपना आधार बनाया है, वे संहिता प्रतिपादित षष्टितन्त्र के आधार नहीं हो सकते। तब संहिता में किस षष्टितन्त्र का वर्णन है ? इसका विवेचन किया जाना आवश्यक है।

यह हम पहले लिख चुके हैं, कि कपिल के षष्टितन्त्र पर पूर्वकाल में जो व्याख्याग्रन्थ, अथवा उसके सिद्धांतों के आधार पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे जाते रहे, वे भी लोक में 'षष्टितन्त्र' नाम से ही व्यवहृत होते रहे हैं। अभिप्राय यह है, कि 'षष्टितन्त्र' पद षष्टितन्त्र शास्त्र के लिये प्रयुक्त होता रहा है। यही कारण है, कि इस शास्त्र के साथ, पंचशिख एवं वार्षगण्य आदि आचार्यों के नाम भी यत्र तत्र सम्बद्ध पाये जाते हैं। इन आचार्यों ने अवश्य ही षष्टितन्त्र के व्याख्यानग्रन्थ अथवा सिद्धांतों को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे होंगे। उन ग्रन्थों के कुछ खण्ड, अब भी जहां तहां दार्शनिक ग्रन्थों में उद्धृत हुए २ उपलब्ध होते है।

पंचशिख के जो भी ग्रन्थ रहे होंगे, वे अहिर्बुध्न्य संहिता में वर्णित षष्टितन्त्र का आधार नहीं कहे जा सकते। क्योंकि ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं में जिस षष्टितन्त्र की गुरुशिष्य-परम्परा का उल्लेख किया है, उसमें पंचशिख का भी नाम है। और वह षष्टितन्त्र वही है, जिसको ईश्वरकृष्ण ने अपने ग्रन्थ का आधार मान कर स्वीकार किया है। जो कि संहिता के षष्टितन्त्र से भिन्न है। तात्पर्य यह है, कि पञ्चशिख, षष्टितन्त्र के उन सिद्धान्तों की परम्परा से सम्बद्ध है, जो षडध्यायी, तत्त्वसमास और सांख्यकारिकाओं में समान रूप से वर्णन किये गये हैं। परन्तु संहिता में उन सिद्धांतों को उसी रूप में, अथवा सर्वात्मना, स्वीकार नहीं किया गया। इसलिये पञ्चशिख के ग्रन्थ, संहितावर्णित षष्टितन्त्र के आधार नहीं हो सकते। यह मत, ईश्वरकृष्ण की अन्तिम उपसंहारात्मक कारिकाओं के अनुसार निर्धारित होता है।

सांख्यकारिका के व्याख्याकारों ने सांख्याचार्यों की जो सूचियां पृथक् २ निर्दिष्ट की हैं, उनमें से एक [1] सूची में वार्षगण्य का भी नाम है। ईश्वरकृष्ण ने स्वयं जो सूची आचार्यों की निर्दिष्ट की है, उसमें वार्षगण्य का नाम नहीं है। वहां केवल सर्वप्रथम अविच्छिन्न परम्परा से होने वाले. कपिल-आसुरि-पञ्चशिख इन तीन सांख्याचार्यों का ही उल्लेख है। इससे यह प्रकट होता है, कि वार्षगण्य आचार्य, पञ्चशिख से पर्याप्त समय के अनन्तर हुआ होगा। फिर भी वार्षगण्य को प्राचीन आचार्य ही माना जाता है। पञ्चशिख के अनन्तर होने पर भी उसके प्रादुर्भाव का समय [2] पर्याप्त प्राचीन है।

प्रतीत यह होता है, कि वार्षगण्य ने अपने समय में विशेषतया योगशास्त्र पर ही ग्रन्थों का निर्माण किया था। जो विषय दोनों शास्त्रों के समान हैं, योगशास्त्र के किसी भी ग्रन्थ में

[1] सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में ७१ वीं कारिका की व्याख्या पर जो सांख्याचार्यों की सूची दीगई है, उसी में आचार्य वार्षगण्य का नाम निर्दिष्ट किया गया है।

[2] वार्षगण्य के समय आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन, इसी ग्रन्थ के 'प्राचीन सांख्याचार्य' नामक प्रकरण में किया गया है।

प्रतिपादित होने पर भी उनका मेल सांख्य के साथ होना स्वाभाविक है। परन्तु ऐसे भी विषय हैं, जिनका विशेष सम्बन्ध योग के साथ ही है। वाचस्पति मिश्र ने भी भामती में वार्षगण्य को 'योगशास्त्रव्युत्पादयिता'[1] ही लिखा है। इससे स्पष्ट है, कि वार्षगण्य के ग्रन्थ योगशास्त्र पर ही थे। हमारी ऐसी धारणा है, कि अहिर्बुध्न्य संहिता मे जिस षष्टितन्त्र का वर्णन किया गया है, उसका आधार वार्षगण्य के ग्रन्थ ही अधिक संभव हो सकते हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिता के षष्टि-तन्त्र की, सांख्य के साथ उतनी ही समानता संभव हो सकती है, जितनी कि दो समानशास्त्रों में होनी चाहिये। दोनों की समानता और विषमता का उल्लेख हम पीछे विस्तारपूर्वक कर आये हैं। यहां कुछ और भी ऐसे उपोद्बलक उपस्थित करना चाहते हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जायगा, कि अहिर्बुध्न्यसंहिता के षष्टितन्त्र का सामञ्जस्य, योग के साथ ही अधिक है, और उससे हमारी उक्त धारणा ही पुष्ट होती है।

(१)—संहितागत षष्टितन्त्र के विवेचन की १६ संख्या में हमने प्राकृतमण्डल के कालतन्त्र [५ संख्या] और वैकृतमण्डल के समयकाण्ड [२७ संख्या] का उल्लेख किया है। सांख्य में 'काल' और 'समय' इन दोनों पदों का भिन्न अर्थों में प्रयोग नहीं है। परन्तु संहिता में इन दोनों पदों का प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों में किया गया है। इसीलिये प्राकृतमण्डल में [५ वां] काल-तन्त्र पृथक् गिनाया है, और वैकृतमण्डल में [२७ वां] समयकाण्ड पृथक्। इसीप्रकार योग में भी इन दोनों पदों का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है। पातञ्जल योगदर्शन का सूत्र है—

'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्'[2]।

इस सूत्र में 'काल' और 'समय' इन दोनों पदों का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है। यहां 'समय' पद, काल के अर्थ में प्रयुक्त न होकर शपथ या आचार आदि अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। यही अर्थ संहिता में भी स्वीकार किया जा सकता है। अन्यथा दोनों पदों का वहां समानार्थक प्रयोग मानने पर संहिता का असामञ्जस्य स्पष्ट ही है।

(२)—वैकृतमण्डल का २६ वां काषायकाण्ड भी योग के साथ ही अधिक सामञ्जस्य रखता है। योग में रागादि मलों अथवा क्लेशों के लिये 'कषाय' पद का भी प्रयोग किया जाता है। इस काण्ड में उन्हीं का प्रतिपादन अधिक सम्भव हो सकता है।

(३)—वैकृतमण्डल के २२, २३ वें काण्डों का विषय भी संभवतः योगदर्शन के [१।१५ के] आधार पर लिया गया होगा। वार्षगण्य ग्रन्थ के योगविषयक होने के कारण हमने संहिता के-सांख्य में अवर्णित-पदार्थों की योग से तुलना की है।

(४)—इसीप्रकार संहिता में 'ब्रह्म' पद से वर्णित इसप्रकार का ईश्वर, योग[3] में स्वीकार

---

[1] वेदान्तसूत्र २।१।३ के शाङ्करभाष्य पर भामती व्याख्या में।

[2] योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३१।

[3] योगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र २३,२४।

किया गया है। सांख्य में केवल अधिष्ठाता ईश्वर [1] मान्य है।

(५)—प्राकृतमण्डल का ६ वां 'अक्षरतन्त्र' है, उसका सामञ्जस्य भी योग से ही अधिक प्रतीत होता है। इस तन्त्र में ऐसे ही अक्षरों या पदों का वर्णन होगा, जिन के आधार पर ईश्वर-प्रणिधान में सहायता होती है। इस तन्त्र का विषय योगदर्शन के समाधिपाद के २७, २८ सूत्रों के आधार पर निर्णय किया जासकता है।

(६)—वैकृतमण्डल के ७ वें वृत्तकाण्ड का विषय भी योगदर्शन के साधनपाद के सूत्र ३०, ३२ के आधार पर निश्चय किया जाना संभव है। इन सूत्रों में यम और नियमों का उल्लेख है। योगी के लिये ये प्रथम आवश्यक कर्त्तव्य हैं। 'वृत्त' के साथ इनका सामञ्जस्य घटित होता है।

गोल चक्र को भी 'वृत्त' कहते है। जन्म-मरण और उत्पत्ति-प्रलय का निरन्तर चलने वाला चक्र भी इस काण्ड का विषय कहा जासकता है, परन्तु पांच कृत्य काण्डों में उत्पत्ति आदि का वर्णन आजाता है। 'पञ्च कर्मात्मानः' इस तत्त्वसमास के ११ वें सूत्र के आधार पर भी उत्पत्ति आदि पांच कृत्यों का स्वीकार किया जाना ही अधिक युक्तिसंगत है। 'सांख्यसंग्रह' नाम से प्रकाशित तत्त्वसमास सूत्रों की टीकाओं में ११ वें सूत्र पर बताये पांच कर्म, विवेचनीय हैं। [2]

वृत्तकाण्ड का विषय, प्राणायाम के आधार पर, प्राण की वृत्ताकार गति के अनुसार भी निर्णय किया जासकता है। [3]

(७)-इसमें किसी प्रकार काकोई सन्देह नहीं, कि योगशास्त्र में आधिभौतिक तत्त्वों का विवेचन सर्वथा सांख्यानुकूल ही माना गया है। इसलिये वार्षगण्य के ग्रन्थ में भी इन पदार्थों का विवेचन उसी रूप में आसकता है। यह बात निश्चित है, कि सांख्य में करण तेरह [पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि] माने गये हैं। इस विषय में वार्षगण्य का अपना निजी सिद्धान्त भिन्न है। वह ग्यारह ही करण मानता [4] है। अहंकार और मन को वह बुद्धि से पृथक् नहीं मानता। हम देखते हैं, कि अहिर्बुध्न्य संहिता में भी अहंकार और मनका कहीं भी षष्टि पदार्थों में निर्देश नहीं किया गया। 'भोग' काण्ड से केवल बुद्धि का निर्देश है। ज्ञान, धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य इन बुद्धिधर्मों का स्पष्ट उल्लेख कर उसको और भी स्पष्ट किया है। इस आश्चर्यजनक समानता के कारण भी हम कह सकते हैं, कि अहिर्बुध्न्य संहिता के षष्टितन्त्र का आधार वार्षगण्य का ग्रन्थ ही रहा होगा।

---

[1] सांख्य के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हमने 'सांख्यसिद्धान्त' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में किया है।

[2] इस वृत्त-विवेचन के सम्बन्ध में कीथ और श्रेडर के लेख भी द्रष्टव्य और समालोच्य हैं। कीथ का 'सांख्य सिस्टम' पृ० ६०-६३। श्रैडर का Z. D. M. G. १९१४, पृष्ठ १०२-१०७।

[3] इसके लिये देखें—सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ ३७७-३८१। अभ्यंकर सम्पादित पूना संस्करण।

[4] देखें—युक्तिदीपिका, पृष्ठ १३२- पं० २८।

कापिल षष्टितन्त्र और संहिताकार—

इस बात के भी आधार हैं, कि संहिताकार को 'षष्टितन्त्र' के सांख्यीय साठ पदार्थों के सम्बन्ध में परिमार्जित ज्ञान नहीं था। सांख्य के २५ तत्त्वों का, संहिताप्रतिपादित पदार्थों के साथ जो सामञ्जस्य हमने पूर्व प्रकट किया है, वे सब पदार्थ, षष्टि पदार्थों की गणना के अनुसार दश मौलिकार्थों में ही समाविष्ट होजाते हैं। प्रत्ययसर्ग के पांच विपर्ययों का, संहिता के वैकृतमण्डल में साक्षात् निर्देश है। इसप्रकार सांख्य के षष्टि पदार्थों में से, संहिता में केवल १५ पदार्थ प्रतिपादित होते हैं, तथा ६ पदार्थ प्राकृतमण्डल के, एवं २३ पदार्थ वैकृतमण्डल के और शेष रह जाते हैं, जिनका सांख्यीय साठ पदार्थों में से किसी के साथ कोई सामञ्जस्य नहीं होपाता। दूसरी ओर सांख्यप्रतिपादित षष्टि पदार्थों में से ४५ और ऐसे पदार्थ शेष रह जाते हैं, जिनका संहिता में संकेत भी नहीं है। इसप्रकार किसी तरह से भी सांख्यके षष्टि पदार्थों के साथ, संहिता की गणना का सामञ्जस्य नहीं बैठता।

यह बात निश्चित है, यदि संहिताकार को सांख्यकारिका के आधारभूत षष्टितन्त्र और उसमें प्रतिपादित षष्टि पदार्थों का वास्तविक ज्ञान होता, तो इन पदार्थों की गणना में ऐसा गड़-बड़ घोटाला न होपाता। इसलिये युक्तिमूलक संभावना यही है, कि कुछ वार्षगण्य के योग-सम्बन्धी व्याख्याग्रन्थों के आधार पर और कुछ इधर उधर से सुन जानकर संहिताकार ने, कापिल षष्टितन्त्र के साठ पदार्थों की संख्या पूरी गिनाने का असफल यत्न किया है। असफलता में यह प्रबल प्रमाण है, कि प्राकृतमण्डल में 'गुणतन्त्र' रखकर, फिर वैकृतमण्डल में भी 'गुणकाण्ड' गिनाया गया है। इस पर भी विशेषता यह है, कि प्राकृतमण्डल के गुणतन्त्र में, सत्त्व--रजस्--तमस् इन तीनों गुणों को पृथक् पृथक् तीन संख्याओं में गिनकर भी साठ संख्या पूरी नहीं होपाई, और वैकृतमंडल में फिर एक बार 'गुण' को गिन लिया गया। इन सब आधारों पर हमारी निश्चित धारणा है, कि संहिताकार को कापिल षष्टितन्त्र के साठ पदार्थों का परिमार्जित ज्ञान नहीं था। इसीलिये संहिता की षष्टि पदार्थ गणना में भारी मौलिक भूल हुई है।

यहां पर यह एक विचारणीय बात रह जाती है, कि संहिताकार ने जिस किसी षष्टि-तन्त्र का भी उल्लेख किया हो; पर उसका सम्बन्ध उसने कपिल के साथ ही बताया है। हमारे सामने, कपिल से सम्बन्ध रखने वाले षष्टितन्त्र के सम्बन्ध में अब दो साक्षी उपस्थित हैं। एक ईश्वरकृष्ण और दूसरी अहिर्बुध्न्य संहिता। दोनों में ही परस्पर महान् अन्तर है, जैसा कि हम पूर्व निर्देश कर आये हैं। ऐसी स्थिति में यह बात प्रकट होती है, कि षष्टितन्त्र की किसी शाखा का प्रतिपादन करने पर भी संहिताकार ने उसके मूल रचयिता का सम्बन्ध उसके साथ अनिवार्य माना है। योग भी सांख्य का ही एक विभाग है। उसके मौलिक सिद्धांतों का आधार, षष्टितन्त्र[1]

[1] प्रकृति पुरुष के भेदज्ञान के लिये, अन्तिम साधन समाधि ही है। सांख्यसूत्र, ४।१४ और ५।११६ में इस अर्थ का संकेत किया है। सांख्य के इसी एकदेश को लेकर योगशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। समाधि का ही विस्तार-पूर्वक विवेचन योग का विषय है, जो सांख्य का ही एक अङ्ग है। सांख्य अथवा षष्टितन्त्र के सब ही

ही है, और षष्टितन्त्र का मूल रचयिता, कपिल के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता, इस बात को संहिताकार भूल नहीं सका है। इसलिये संहिताप्रतिपादित षष्टितन्त्र का सम्बन्ध भी कपिल के साथ बताना, असामञ्जस्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

यह भी संभव है, कि संहिताकार षडध्यायी सूत्रों से परिचित हो, पर अध्यात्म मार्ग ही उसका मुख्य विषय होने के कारण वह उन्हीं विचारों को सन्मुख लाया, जो उसने समाधि मार्ग में उपयोगी समझे हों, और उनको भी वह षष्टितन्त्र के साथ सम्बद्ध करने के लिये प्रयत्नशील हुआ हो। यह कहने में हमें संकोच नहीं है, कि यह उसका अपना ही प्रयत्न था, इस रूप में कोई प्राचीन मौलिक आधार उसके विचारों के लिये उपलब्ध नहीं होता। अभिप्राय यह है, कि जहां तक संहिता के षष्टि पदार्थों की गणना का विचार है; इस सम्बन्ध में हमारा स्पष्ट मत यह है, कि संहिताकार का यह अपना ही प्रयत्न था, इस अंश में वार्षगण्य का कोई हाथ नहीं है। वैसे साधारण रूप में वार्षगण्य के विचारों को उसने अपने लेख का आधार बनाया हो, यह संभव है।

षष्टितन्त्र का रूप, और आधुनिक विद्वान्—

श्रीयुत कविराज पं० गोपीनाथ जी एम्० ए० ने 'जयमंगला [सांख्यकारिका की एक व्याख्या] की भूमिका में ५ वें पृष्ठ पर लिखा है- "[1] अहिर्बुध्न्य संहिता में षष्टितन्त्र का वर्णन इस बात को प्रकट करता है, कि यह ग्रन्थ साठ अध्यायों या प्रकरणों में था। पहले ३२ का प्राकृतमण्डल [जो 'तन्त्र' कहे जाते थे] और शेष २८ का वैकृतमण्डल [जो 'काण्ड' कहे जाते थे] नाम था। चीन की परम्पराओं के अनुसार, साठ हज़ार श्लोकों का यह षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ, पञ्चशिख ने रचा था। अब यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाता है, कि यह ग्रन्थ साठ अध्यायों अथवा प्रकरणों में विभक्त था, और प्रत्येक अध्याय में एक हजार श्लोक थे, और प्रत्येक अध्याय का विषय भिन्न २ था, तो राजवार्तिक और अहिर्बुध्न्यसंहिता इन दोनों ग्रन्थों के उल्लेख, चीन की परम्पराओं के साथ मेल खा सकते हैं।"

श्रीयुत कविराज जी के इस लेख से यह बात स्पष्ट होती है, कि आपने तीनों [राज-

---

मौलिक सिद्धान्त, योग को मान्य हैं।

[1] The account of षष्टितन्त्र in the अहिर्बुध्न्य संहिता [12. 18-30] shows that the work was in sixty chapters, thirty-two forming the so-called प्राकृतमण्डल [called तन्त्र] and the rest the वैकृतमण्डल [called काण्ड]. According to the Chinese tradition षष्टितन्त्र was by पञ्चशिख and consisted of sixty thousand verses. If it is assumed that the book was divided into sixty chapters, with one thousand verses in each, and that each chapter dealt with a separate topics, the statements of the राजवार्तिक and of the अहिर्बुध्न्यसंहिता may be reconcile to the Chinese tradition.

वार्त्तिक, अहिर्बुध्न्यसंहिता, चीनपरम्परा] स्थलों में केवल साठ संख्या के ही सामञ्जस्य को दिखाने का यत्न किया है। चीन परम्परा के अनुसार षष्टितन्त्र के साठ अध्यायों में कौन से साठ भिन्न २ विषय प्रतिपादित थे, यह तो अभी अज्ञानान्धकार से ही आवृत है, पर राजवार्त्तिक और संहिता के साठ पदार्थों के सामञ्जस्य के सम्बन्ध में भी श्रीयुत कविराज जी ने कोई निर्देश नहीं किया है। यदि केवल इतनी ही बात है, कि राजवार्त्तिक में साठ पदार्थों का नाम निर्देश किया है, संहिता में साठ अध्याय कहे गये हैं, और चीन परम्परा में साठ हजार श्लोकों का प्रवाद प्रचलित है, और इसप्रकार केवल साठ संख्या के सब स्थलों में समान होने से ही इनका परस्पर सम्बन्ध या सामञ्जस्य संघटित होता है, तब कहना पड़ेगा, कि यह इन तीनों का सम्बन्ध या सामञ्जस्य,

मद्गृहे बदरीचक्रं त्वद्गृहे बदरीतरुः। बादरायणसम्बन्ध आयोऽस्तु सर्वदा ॥

के समान निरर्थक ही है। राजवार्त्तिक और संहिता के साठ पदार्थों में कोई मेल नहीं है, यह पिछले पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त संहिता में एक पदार्थ की अनेक स्थल और अनेक रूप में गणना, सांख्य में उपयुक्त पदार्थों की उपेक्षा, अनुपयुक्त तथा अनावश्यक पदार्थों की गणना आदि से यह स्पष्ट हो जाता है, कि संहिताकार ने, जिस किसी भी तरह हो सके, साठ की संख्या को पूरा करने का यत्न किया है।

चीन की प्रवाद-परम्पराओं के आधार पर यह कहा जाता है, कि साठ सहस्र श्लोकों के इस षष्टितन्त्र ग्रन्थ को पञ्चशिख ने बनाया। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि पञ्चशिख ने षष्टितन्त्र के विस्तृत व्याख्या ग्रन्थों को लिखा, चाहे वे ग्रन्थ साठ सहस्र श्लोकों में हों, अथवा साठ सौ श्लोकों में या और न्यूनाधिक में। परन्तु यह निश्चित मत है, कि पञ्चशिख, मूल षष्टितन्त्र [आदि सांख्यग्रन्थ] का रचयिता नहीं है। और न उसका ग्रन्थ, संहितावर्णित षष्टितन्त्र का आधार कहा जा सकता है। इसको विस्तारपूर्वक हम पहले सिद्ध कर चुके हैं। भारतीय प्रवाद-परम्परा इसके लिये प्रमाण है, कि सांख्य के सर्वप्रथम ग्रन्थ [मूल षष्टितन्त्र] की रचना सर्वज्ञकल्प परमर्षि कपिल ने की है। चीनदेशीय प्रवाद-परम्परा का यही आधार हो सकता है, कि कापिल मूल षष्टितन्त्र पर जो विस्तृत व्याख्याग्रन्थ पञ्चशिख ने लिखे, वे भी लोक में षष्टितन्त्र नाम से ही व्यवहृत होते रहे। अन्यथा चीनदेशीय परम्परा की तुलना में, आधुनिक अनेक विद्वानों का, भारतीय प्रवाद-परम्परा की अप्रधानता का उद्घोषण करना, सर्वथा प्रमाणशून्य ही कहा जायगा। इसलिये भारतीय प्रवाद-परम्परा के आधार पर, मूल षष्टितन्त्र का रचयिता परमर्षि कपिल, और चीन देशीय प्रवाद-परम्परा के अनुसार, उसके विस्तृत व्याख्यानभूत षष्टितन्त्र का रचयिता पञ्चशिख[1], संगत ही होता है।

फिर यह भी है, कि चीन की अनुश्रुतियां कोई स्वतंत्र आधार नहीं रखतीं। वे तद्विषयक

---

[1] पञ्चशिख अथवा वार्षगण्य ने मूल षष्टितन्त्र की रचना नहीं की है। उसका रचयिता परमर्षि कपिल ही है। उक्त दोनों आचार्य उसके व्याख्याकार आदि ही हो सकते हैं। इस सबका विवेचन, इसी ग्रंथ के 'कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र' नामक द्वितीय प्रकरण में किया जा चुका है

भारतीय अनुश्रुति, या साहित्य पर ही आधारित कही जा सकती हैं। यदि इसप्रकार की किसी भारतीय अनुश्रुति या साहित्य से उनकी टक्कर हो जाती है, तो उनकी [अन्य देशीय जनश्रुतियों की] अमान्यता स्पष्ट है। उनके संतुलन में भारतीय पक्ष को ही प्रबल माना जायगा। क्योंकि वह आधारभूत है। ऐसी स्थिति में अन्यदेशीय परम्पराओं का भ्रमपूर्ण होना सम्भव है।

षष्टितन्त्र के साठ अध्यायों की कल्पना, और प्रत्येक अध्याय का भिन्न २ विषय, यह पञ्चशिख के व्याख्यानभूत षष्टितन्त्र के सम्बन्ध में ही कहा जा सकता है। क्योंकि उसने 'षष्टितन्त्र' के साठ पदार्थों में से प्रत्येक पदार्थ को लेकर एक एक अध्याय मे विशद विवेचन किया होगा।[1] सांख्यकारिका की जयमंगला नामक व्याख्या के एक वर्णन से भी यह बात अत्यन्त स्पष्ट होती है, कि षष्टितन्त्र पहले से ही विद्यमान था, उसके एक एक पदार्थ को लेकर पञ्चशिख ने साठ खण्डों में प्रतिपादन किया, और इसप्रकार एक ही ग्रन्थ के साठ खण्ड हो गये, जिनमें साठ पदार्थों का व्याख्यान किया गया। जयमंगला का वह वर्णन इसप्रकार है —

"पञ्चशिखेन मुनिना बहुधा कृतं तन्त्रं षष्टितन्त्राख्यं षष्टिखण्डं कृतमिति।
तत्रैव हि षष्टिरर्था व्याख्याताः।" [कारिका ७० पर]

पञ्चशिख का ग्रन्थ चाहे साठ खंडों में हो, अथवा साठ अध्याय या प्रकरणों में, इन वर्णनों से इतना तो स्पष्ट ही है, कि पञ्चशिखने 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ के साठ पदार्थों के आधार पर अपने ग्रन्थ को साठ खंडों में रचा, और प्रत्येक खंड में एक एक पदार्थ का विशद विवेचन किया। इसलिये पञ्चशिख, मूल षष्टितन्त्र का रचयिता नहीं कहा जा सकता। इसीलिये मूल 'षष्टितन्त्र' में, साठ अध्यायों या खण्डों की कल्पना नहीं की जा सकती। वहां तो केवल साठ पदार्थों का एक ग्रन्थ रूप में ही आवश्यक वर्णन है। तथा उन पदार्थों के अनेक अवान्तर स्वरूप अर्थों का भी प्रासंगिक उल्लेख है। अत एव वर्त्तमान षडध्यायी के षष्टितन्त्र न होने में यह युक्ति भी उपस्थित नहीं की जा सकती, कि इसमें साठ खण्ड या अध्याय नहीं हैं।

पञ्चशिख ने जिस षष्टितन्त्र के साठ पदार्थों का साठ खण्डों में विशद विवेचन किया, वही षष्टितन्त्र,[2] ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं का भी आधार है, जैसा कि पूर्व विवेचनानुसार उसकी अन्तिम चार उपसंहारात्मक कारिकाओं से स्पष्ट होता है। उसने ७२ वीं कारिका में षष्टितन्त्र की आनुपूर्वी का जो उल्लेख किया है, वह वर्त्तमान सांख्यसूत्रों [सांख्यषडध्यायी] में ही संघटित

---

[1] पञ्चशिख के नाम पर जो सूत्र या सन्दर्भ आजतक उपलब्ध हो सके हैं, वे बहुत ही थोड़े हैं। उनके आधार पर न तो यह निश्चय किया जा सकता है, कि उनके ग्रन्थ के साठ खण्ड किस प्रकार के होंगे, और न इस बात का निर्णय हो सका है, कि ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं का वे आधार हैं। यद्यपि ईश्वरकृष्ण का अपना वर्णन, आधार के प्रश्न को लेकर षडध्यायी के पक्ष में जाता है।

[2] यह षष्टितन्त्र, संहिता प्रतिपादित षष्टितन्त्र नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वरकृष्ण ने अपनी गुरु परम्परा में पञ्चशिख का उल्लेख किया है, और ईश्वरकृष्ण ने 'षष्टितन्त्र' के जिन साठ पदार्थों को अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया है, उसका सामञ्जस्य संहिता के पदार्थों के साथ बिलकुल नहीं है।

होता है। संहिता के षष्टितन्त्र के साथ उसका कोई भी सामञ्जस्य नहीं है। इसलिये, तथा पूर्व वर्णित अन्य हेतुओं से भी वर्त्तमान सांख्यसूत्रों के 'षष्टितन्त्र' होने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

तृतीय प्रकरण समाप्त



वर्त्तमान सांख्यसूत्रों के उद्धरण

चतुर्थ प्रकरण

इस ग्रन्थ के द्वितीय प्रकरण के आरम्भ में हमने उन तीन मौलिक आक्षेपों का उल्लेख किया है, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है, कि ये उपलभ्यमान षडध्यायी सूत्र न प्राचीन हैं, न कपिलप्रणीत; प्रत्युत ईसा के चतुर्दश शतक के अनन्तर ही किसी अज्ञात व्यक्ति ने इनकी रचना कर दी है। उनमें से प्रथम आक्षेप का विस्तारपूर्वक विवेचन हम द्वितीय तथा तृतीयप्रकरण में कर आये हैं। अब यहां द्वितीय आक्षेप का विवेचन करने के लिए यह चतुर्थ प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है, द्वितीय आक्षेप का स्वरूप है, कि—'शङ्कराचार्य, वाचस्पति, सायण और अन्य दार्शनिक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इन सूत्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया, और न इन सूत्रों के उद्धरण ही उनके ग्रन्थों में पाये जाते हैं, जब कि सांख्यकारिका के उद्धरण उन ग्रन्थों में मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि सायण आदि के अनन्तर ही इन सूत्रों की रचना हुई होगी।

एक ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थ का उद्धृत न होना, उनकी पूर्वापरता का नियामक नहीं—

इस सम्बन्ध में हमारा वक्तव्य है, कि किसी एक ग्रन्थ की अर्वाचीनता के लिये यह साधक प्रमाण नहीं कहा जा सकता, कि किन्हीं विशेष ग्रन्थों में उसके उद्धरण अथवा उल्लेख नहीं हैं। यदि इस कथन को साधक प्रमाण मान लिया जाय, तो साहित्यिक प्राचीनता तथा अर्वाचीनता का दुर्ग सहसा भूमिसात् हो जायगा। किसी भी लेख का पौर्वापर्य-विवेचन, विशृंखलित तथा अशक्य हो जायगा। यद्यपि यह संभव है, कि किसी ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थ का उल्लेख, उस की अपेक्षा अन्य ग्रन्थ की प्राचीनता का साधक कहा जा सकता है, परन्तु उल्लेख न होना, अर्वाचीनता का साधक नहीं कहा जासकता। ऐसे अनेक प्रमाण हमारे सन्मुख विद्यमान हैं, कि एक प्राचीन ग्रन्थ के, उसी विषय के अर्वाचीन ग्रन्थ में कोई उल्लेख अथवा उद्धरण नहीं पाये जाते। क्या इससे हम उस प्राचीन ग्रन्थ को, उस अर्वाचीन ग्रन्थ की अपेक्षा नवीन मान लेंगे? इसके लिये कुछ उदाहरण हम यहां उपस्थित करते हैं।

(१) सायण ने ऋग्वेद भाष्य में, दो एक स्थलों पर वेङ्कटमाधव के अतिरिक्त, अपने से प्राचीन किसी भी भाष्यकार का उल्लेख नहीं किया है। अभी तक स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्गीथ, भट्टभास्कर, आत्मानन्द आदि अनेक, सायण से प्राचीन भाष्यकारों के भाष्य, सम्पूर्ण या खण्डित रूप में उपलब्ध हो चुके हैं। इनमें से प्रथम तीन और वेङ्कट माधव[1] के भाष्यों को हमने

[1] ऋग्वेद का वेङ्कटमाधव कृत भाष्य हमारे स्नेहीमित्र श्रीयुत डा० लक्ष्मणस्वरूप जी M.A, D.Phill [Oxon] प्रिन्सिपल ओरियण्टल कालेज लाहौर ने सम्पादित किया है। इसके सम्पादन में हमने स्वयं पूर्ण सहयोग दिया है। लाहौर की मोतीलाल बनारसीदास फर्म इसको प्रकाशित कर रही है। तीन

आद्यापान्त गंभीरतापूर्वक पढ़ा है। सायणभाष्य में इनका उल्लेख अथवा उद्धरण न होने से इनकी प्राचीनता नष्ट नहीं हो सकती। वेङ्कटमाधव ने अपना भाष्य सायण की अपेक्षा लगभग चार सौ वर्ष पूर्व लिखा, और स्कन्दस्वामी आदि तीनों भाष्यकार तो सायण से लगभग एक सहस्र[1] वर्ष पुराने हैं। अब सायण के वेदभाष्य में इनके उद्धरण या उल्लेख न होने से क्या इनको सायण की अपेक्षा अर्वाचीन माना जासकता है?

(२)—इन्हीं सांख्यषडध्यायी सूत्रों पर अनिरुद्ध की एक वृत्ति है। इसको विज्ञानभिक्षु से प्राचीन और सर्वदर्शनसंग्रहकार माधव से अर्वाचीन कहा जाता है। यद्यपि अनिरुद्ध के इस काल में अनेक सन्देह हैं, फिर भी यह निश्चित है, कि अनिरुद्ध की अपेक्षा सांख्यसप्तति का रचयिता ईश्वरकृष्ण अति प्राचीन आचार्य है। सांख्यसप्तति की रचना के अनन्तर इस की कारिकाओं के उद्धरण, आर्य बौद्ध जैन साहित्य में जहां कहीं सांख्य का वर्णन आता है, प्रायः मिलते हैं। परन्तु अनिरुद्ध वृत्ति में सांख्यसप्तति की एक भी कारिका का उद्धरण नहीं है, न कहीं उसमें इनका किसी तरह का भी उल्लेख है। क्या इससे यह मान लिया जाय, कि अनिरुद्ध की अपेक्षा ईश्वरकृष्ण अर्वाचीन है?

(३)—इसी तरह वेदान्ती महादेव की सांख्यसूत्रवृत्ति में भी ईश्वरकृष्ण का एक भी वाक्य उद्धृत नहीं है, न कहीं उसका उल्लेख है, जब कि इन दोनों ही वृत्तियों में अन्य अनेक ग्रन्थों के सन्दर्भ प्रमाण रूप में उद्धृत हैं।

(४)—काश्मीरक सदानन्द यति विरचित अद्वैत ब्रह्मसिद्धि के चतुर्थ मुद्गर प्रहार में एक वाक्य इसप्रकार है—

"व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् इति सूत्रे भाष्यकारैः प्रतिपादनात् अतिरिक्तधर्मिकल्पने गौरवाच्च[2]।"

यह सूत्र सांख्यषडध्यायी के तीसरे अध्याय का दसवां है। इसीप्रकार एक और सूत्र—

भाग प्रकाशित हो चुके हैं। खेद है, कि पंजाब की राजनैतिक दुर्घटनाओं में इस ग्रन्थ की अन्तिम पाण्डुलिपि भी नष्ट होगई है। स्कन्दस्वामी, नारायण और उद्गीथ इन तीनों आचार्यों ने मिलकर ऋग्वेद पर एक भाष्य लिखा है। भाष्य का प्रथम भाग स्कन्दस्वामी ने, मध्यभाग नारायण ने, तथा अन्तिम भाग उद्गीथ ने प्रस्तुत किया है। इसके प्रारम्भ का कुछ अंश मद्रास से प्रकाशित हुआ था, शेष उपलब्ध हस्तलिखित भाग को भी हमने देखा है। वेङ्कटमाधव की अनुक्रमणी [८।४।६॥ श्रीयुत कुन्हन राज M. A. D. Phill. द्वारा सम्पादित, तथा मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित] के एक श्लोक के आधार पर इन तीनों की मिलित रचना का निश्चय होता है। श्लोक इसप्रकार है—

"स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात्। चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम्॥"

[1] श्रीयुत डा० लक्ष्मणस्वरूप M.A., D. Phill. महोदय ने स्कन्दस्वामी का काल, ईसा के पञ्चमशतक का अन्त निश्चित किया है। निरुक्त, स्कन्दमहेश्वर टीका सहित की भूमिका, पृष्ठ ६५। वेंकटमाधव का काल, कुन्हनराज सम्पादित 'माधवानुक्रमणी' की भूमिका में देखें।

[2] 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ २६०॥ कलकत्ता विश्वविद्यालय से ईसवी सन् १८३२ में प्रकाशित संस्करण के आधार पर अद्वैतब्रह्मसिद्धि की यह पृष्ठ संख्या दी गई है।

"यदपि-'सप्तदशैकं लिङ्गम्' इत्यादिना लिङ्गशरीरप्रक्रिया प्रदर्शिता सापीहैव।" [पृष्ठ २६२] भी इस ग्रन्थ में उद्धृत किया गया है। यह सांख्यषडध्यायी के तीसरे अध्याय का नौवां सूत्र है। प्रस्तुत अद्वैतब्रह्मसिद्धि ग्रन्थ ईसा के पञ्चदश [1] शतक के प्रारम्भ का है। विज्ञानभिक्षु को इसने अनेक स्थलों [2] पर स्मरण किया है, इसलिये अवश्य ही यह विज्ञानभिक्षु का पश्चाद्वर्त्ती विद्वान् है। सांख्यसिद्धान्त-प्रतिपादन के प्रसंग में प्रमाण रूप से ग्रन्थकार ने षडध्यायी सूत्रों को ही अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है, सांख्यसप्तति की कोई भी कारिका अथवा उसका पद, इस ग्रन्थ में उद्धृत नहीं है। यह भी नहीं कहा जासकता, कि वह कारिकाओं से अपरिचित था। क्योंकि एक स्थल पर उसने वाचस्पति मिश्र के नाम से एक वाक्य लिखा है —

"तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रैः- 'सर्वे भावा हि यथास्वा व्याख्याताः' इति।" [[3]पृष्ठ २४]

जो सांख्यसप्तति की व्याख्या सांख्यतत्त्वकौमुदी [4]का है।

इसप्रकार अन्य अनेक ग्रन्थों के उद्धरण इस ग्रन्थ में होते हुए भी सांख्यसप्तति का कोई भी उद्धरण नहीं है, जब कि सांख्यषडध्यायी के उद्धरण इसमें विद्यमान हैं। ग्रन्थकार की यह प्रवृत्ति एक विशेष भावना को प्रकट करती है। और वह यह है, कि कोई भी ग्रन्थकार अपने विचारों के अनुसार, समान विषयक ग्रन्थों में से किसी को भी उद्धृत कर सकता है। इससे अनुद्धृत ग्रन्थ की उस समय में अविद्यमानता सिद्ध नहीं की जासकती। इसीप्रकार शङ्कराचार्य आदि ने कारिकाओं को उद्धृत कर दिया है, सूत्रों को नहीं,। केवल इस आधार पर उस काल में सूत्रों की अविद्यमानता सिद्ध करना अशक्य है। यद्यपि शङ्कराचार्य आदि के ग्रन्थों में भी सांख्यसूत्रों के उद्धरण मिलते हैं। उनका निर्देश इसी प्रकरण में आगे किया गया है।

(५)—इसीप्रकार सर्वदर्शनसंग्रहकार ने भी अपने ग्रन्थ में सांख्यसप्तति के अनेक व्याख्यानों में से केवल एक वाचस्पति मिश्र के व्याख्यान को ही उद्धृत [5] किया है। क्या इससे यह परिणाम निकाला जासकता है ? कि सांख्य सप्तति के अन्य व्याख्याकार माठर आदि, सायण से पीछे के हैं ? इस सम्बन्ध में यही कहा जासकता है, कि पठनपाठन प्रणाली में अधिक प्रचार के कारण सायण सांख्यतत्त्वकौमुदी को ही उपलब्ध कर सका, होते हुए भी माठर आदि

[1] विज्ञानभिक्षु का समय भी अभी तक सन्दिग्ध है। इसलिये भिक्षु से परवर्त्ती होने पर भी, सदानन्द यति का यह समय, उसके ग्रन्थ की आभ्यन्तर परीक्षा के आधार पर निश्चित होता है। देखें-- श्रीयुत वामन शास्त्री लिखित, इसी ग्रन्थ की भूमिका, पृष्ठ १३ ।

[2] इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २७, पंक्ति ५। पृ०२६०, पं० २०-२३, तथा टिप्पणी ३ पर ।

[3] कलकत्ता विश्वविद्यालय से ईसवी सन् १९३२ में प्रकाशित संस्करण के आधार पर, अद्वैतब्रह्मसिद्धि की यह पृष्ठ संख्या दी गई है।

[4] तुलना करें—'अनया च दिशया सर्वे भावा व्याख्याताः' १३ कारिका पर सांख्यतत्त्वकौमुदी। उपर्युक्त पंक्ति तात्पर्यटीका अथवा भामती में भी उपलब्ध होती है।

[5] सर्वदर्शनसंग्रह, १४ सांख्यदर्शन, पंक्ति ३१, पृष्ठ ३१८। पूना, सन् १९२४ ई० का अभ्यंकर-संस्करण।

व्याख्यानों का उसे पता न लगसका। इसीप्रकार अनेक सदियों से साधारण पठनपाठनप्रणाली में न रहने के कारण सांख्यसूत्र, लुप्तप्राय से रहे, इसप्रकार उनकी उपेक्षा होती रही, और सांख्य-कारिकाओं का प्रचार होने के कारण, तात्कालिक विद्वान् प्रायः उन्हीं का उल्लेख करते रहे। इसके अतिरिक्त शङ्कराचार्य या सायण कोई ऐसे केन्द्र नहीं हैं, कि जिस ग्रन्थ को उन्होंने उद्धृत [1] नहीं किया है, उसकी उस समय में सर्वथा असत्ता ही मानली जाय। इसप्रकार तो साहित्य क्षेत्र में विशृंखलता के बीज-वपन को कोई रोक ही न सकेगा, और उनसे अनुद्धृत अन्य सम्पूर्ण साहित्य से उस समय में नकार कर देना होगा।

इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष की ओर से यह बात कही जासकती है, कि यद्यपि सायण के ऋग्वेदभाष्य में स्कन्दस्वामी आदि के, तथा अनिरुद्ध और महादेव की सांख्यसूत्रवृत्तियों में ईश्वरकृष्ण के उद्धरण एवं उल्लेख आदि नहीं है, तथापि प्रमाणान्तरों से यह बात सिद्ध है, कि सायण और अनिरुद्ध आदि की अपेक्षा स्कन्दस्वामी तथा ईश्वरकृष्ण आदि प्राचीन हैं। तथा सायण अनिरुद्ध आदि के ग्रन्थों में उनके उद्धरण अथवा उल्लेख न होने पर भी उनसे प्राचीन अन्य अनेक ग्रन्थों में उनके उद्धरण तथा उल्लेख पाये जाते हैं।

ठीक यही युक्ति इन सांख्यसूत्रों के लिये भी कही जा सकती है। यद्यपि शङ्कराचाय, वाचस्पति और सायण आदि के ग्रन्थों में इनके उद्धरण तथा उल्लेख नहीं पाये जाते, तथापि उनके लगभग समीप काल के तथा उनसे भी और प्राचीन काल के अन्य अनेक ग्रन्थों में इन सूत्रों के उद्धरण तथा उल्लेख बराबर पाये जाते हैं, और इन आचार्यों के ग्रन्थों में भी कुछ सांख्यसूत्रों के उद्धरण हमने इसी प्रकरण में आगे दिखलाये हैं। एतत्सम्बन्धी उल्लेखों का हम द्वितीय तथा तृतीय प्रकरणों में पर्याप्त विवेचन कर आये हैं, और उनके आधार पर यह सिद्ध कर आये हैं, कि महर्षि कपिल ने 'षष्टितन्त्र' नामक एक ग्रन्थ की रचना की, और वह 'षष्टितन्त्र' वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी अथवा सांख्यप्रवचन सूत्र ही है। अब इस प्रकरण में हम केवल इन सांख्यसूत्रों के उद्धरणों का ही निर्देश करेंगे।

सूत्रों का रचनाकाल, चतुर्दश शतक असंगत है—

यह कहा जाता है, कि इन सूत्रों की रचना, ईसा के चतुर्दश शतक के अनन्तर हुई है। परन्तु यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात है, कि उसके समीप काल में लिखे जाने वाले साहित्य में किसी भारतीय विद्वान् ने इसका निर्देश नहीं किया। प्रत्युत इसके विपरीत उस समय से आज तक भारतीय परम्परा के विद्वानों की यही धारणा चली आती है, कि ये सूत्र कपिल प्रणीत हैं।

---

[1] सर्वदर्शनसंग्रह के जैमिनि दर्शन में, पृ० २७३ [पूना, अभ्यंकर-संस्करण] पर सायण ने माधवीमाधव का उल्लेख किया है, मेघदूत आदि का नहीं। क्या इससे यह समझा जासकता है ? कि सायण के समय में मेघदूत नहीं था ?

सांख्यतत्त्वकौमुदी के आधुनिक प्रसिद्ध व्याख्याकार श्रीयुत बालराम उदासीन ने अपनी व्याख्या में सूत्रों के अनेक उद्धरणों के साथ कापिल[1] का निर्देश किया है। शाकाब्द १८२६ के आश्विन मास की 'संस्कृतचन्द्रिका' नामक संस्कृत मासिक पत्रिका [कोल्हापुर से प्रकाशित] में श्रीयुत पं० अप्पा शर्मा राशिवडेकर विद्यावाचस्पति का 'केन प्रणीतानि सांख्यसूत्राणि' शीर्षक एक लेख[2] प्रकाशित हुआ था। आपने इन सूत्रों को कपिलप्रणीत माना है।

तत्त्वसमास की 'सर्वोपकारिणी' टीका के प्रारम्भ में ही एक सन्दर्भ इसप्रकार है—

"सूत्रषडध्यायी तु वेदपारगपरमर्षिभगवत्कपिलप्रणीता।"

यह वाक्य जिस सन्दर्भ का अंश है, उसका विवेचन हम प्रथम प्रकरण में विस्तारपूर्वक कर आये हैं। यहां इसके उद्धृत करने का केवल इतना प्रयोजन है, कि अब से कुछ शताब्दी पूर्व अर्थात् सर्वोपकारिणी-टीकाकार के समय भी विद्वानों की यह धारणा थी, कि यह षडध्यायी कपिल की ही रचना है। यद्यपि सर्वोपकारिणी टीका का रचनाकाल अभी तक निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका है, फिर भी इतना कहा जा सकता है, कि यह रचना अब से कई शताब्दी[3] पूर्व की है।

विज्ञानभिक्षु सांख्यप्रवचन भाष्य के प्रारम्भ में लिखता है—

"अध्यनिरोधेनानापत्तौ: षडध्यायीरूपेण विवेकशास्त्रेण कपिलमूर्त्तिर्भगवानुपदिदेश।"

इस लेख से सर्वथा स्पष्ट है, कि वह षडध्यायी को भगवान् कपिल की रचना समझता है। उसने अन्तिम सूत्र पर अपने भाष्य का उपसंहार पंक्तियों में भी फिर इस अर्थ को दुहराया है। वह लिखता है—

"तदिदं सांख्यशास्त्रं कपिलमूर्तिर्भगवान् विष्णुरखिललोकहिताय प्रकाशितवान्।"

विज्ञानभिक्षु का समय १५५० ईसवी सन् बतलाया जाता है, जो कि सांख्यसूत्रों के तथाकथित रचनाकाल से लगभग एक सौ वर्ष अनन्तर का है।

सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार अनिरुद्ध ने भी अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में इसप्रकार लिखा है—

"अतिकारुणिको महामुनिर्जगदुद्दिधीर्षु: कपिलो मोक्षशास्त्रमारभमाण: प्रथमसूत्रं चकार।"

अनिरुद्ध के इस लेख से स्पष्ट है, कि वह इन सांख्यसूत्रों का रचयिता, कपिल को

---

[1] "तथा चाहुः महर्षिकपिलाचार्याः—'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्'।" पृ० ६५, "सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्' इति कापिलसूत्रेण" पृ०१७६। "त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः' इति कापिलं सूत्रं" पृ० १७७। यह पृष्ठनिर्देश, निर्णयसागर प्रेस बम्बई से सं० १९६६ विक्रमी में प्रकाशित संस्करण के आधार पर किया गया है।

[2] इस लेख का विस्तारपूर्वक विवेचन हमने इसी ग्रन्थ के पञ्चम प्रकरण में किया है।

[3] इसके काल का निर्णय 'सूत्रों के व्याख्याकार' नामक प्रकरण में किया गया है।

मानता है। इसका समय ¹ १५०० ईसवी सन कहा जाता है। अर्थात् सांख्यसूत्रों के तथाकथित रचनाकाल से लगभग पचास वर्ष बाद।

ठीक इसीप्रकार वेदान्तसूत्रों पर श्रीकण्ठभाष्य के टीकाकार अप्पय्य दीक्षित ने भी इन सूत्रों को कपिल के नाम से उद्धृत किया है। वह २।२।१ सूत्र भाष्य की टीका में लिखता है—

"प्रधानकारणवादे पक्षपातहेतु 'परिच्छिन्नत्वान्न सर्वोपादानम्' इत्यादिकापिलसूत्रोक्तं सूचयन् पूर्वपक्षयति-प्रधानेति।"

"'परिच्छिन्नत्वान्न सर्वोपादानम्' यह सांख्यषडध्यायी के प्रथम अध्याय का ७६ वां सूत्र है। अप्पय्य दीक्षित ने इसको कपिलप्रणीत कहा है। इसीतरह श्रीकण्ठभाष्य २।२।८ की टीका में दीक्षित पुनः लिखता है—

तदेतत्-'न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते' 'न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशः' इत्यादिकापिलसूत्रैः।"

यहां दीक्षित ने सांख्यषडध्यायी के दो सूत्रों को उद्धृत किया है, और उन्हें कापिल अर्थात् कपिलप्रणीत कहा है। ये दोनों सूत्र यथाक्रम षडध्यायी में १।१६ और १७ संख्या पर निर्दिष्ट हैं। अप्पय्य दीक्षित का समय खीस्ट पञ्चदश शतक का अंत अथवा षोडश शतक का प्रारम्भ माना जाता है। यदि इस काल को सर्वथा ठीक मान लिया जाय तो भी सांख्यसूत्रों के तथाकथित रचनाकाल से इसका केवल पचास साठ वर्ष के लगभग अन्तर होता है, जो कि परस्पर पर्याप्त समीप है।

अब यहां यह एक अत्यन्त विचारणीय बात है, कि सांख्यसूत्रों के तथाकथित रचनाकाल के इतने अधिक समीप होने वाले अनिरुद्ध आदि विद्वानों का भी यह विचार है, कि ये सूत्र कपिलप्रणीत हैं। यदि यह सत्य माना जाय, कि तथाकथित काल में ही किसी व्यक्ति ने इन सूत्रों की रचना करदी होगी, तब यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात है, कि उन सूत्रों को तात्कालिक विद्वानों ने कपिलप्रणीत कैसे मान लिया। और इसको सिद्ध समझकर उन्होंने उस ग्रन्थ पर व्याख्यान भी लिख डाले, तथा प्रमाणरूप में कपिल के नाम से उनको उद्धृत भी किया, जब कि उन्हें इन असत्य विचारों का विरोध करना चाहिये था। परन्तु आज तक भारतीय परम्परा के किसी भी विद्वान का यह लेख नहीं है, कि ये सूत्र कपिल-रचित नहीं। प्रत्युत चतुर्दश शतक के अनन्तर काल की तरह पूर्व काल में भी उसी तरह विद्वान् इस शास्त्र को कपिल की रचना मानते और लिखते चले आ रहे हैं। इस विषय का विवेचन हमने द्वितीय तथा तृतीय

---

¹ अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षुका समय हमने श्रीयुत पं० वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर द्वारा सम्पादित; निर्णय-सागर प्रैस बम्बई से प्रकाशित, 'सर्वदर्शनसंग्रह' के अन्तिम परिशिष्टों में संगृहीत सूची के आधार पर दिया है। परन्तु यह समयनिर्देश संगत नहीं है। विज्ञानभिक्षु आदि के समय का निर्णय हमने इसी ग्रन्थ के 'सूत्रों के व्याख्याकार' नामक प्रकरण में किया है।

प्रकरण में विस्तारपूर्वक कर दिया है। यहां इस प्रसङ्ग के उल्लेख का हमारा केवल यही अभिप्राय है, कि चतुर्दश शतक के पश्चाद्वर्त्ती और पूर्ववर्त्ती दोनों ही कालों में सांख्य की समान स्थिति का सामञ्जस्य ठीक २ जाना जा सके। क्योंकि इन सूत्रों के कपिलरचित होने की भावना दोनों कालों में लगातार समान रूप से प्रवाहित देखी जा रही है। इसलिये अब हम चतुर्दश शतक के पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों में आये इन सूत्रों के उद्धरणों को ही इस प्रकरण में निर्दिष्ट करेंगे।

इन उद्धरणों के दो विभाग समझने चाहियें। एक - विक्रम के चतुर्दश शतक से लेकर पर्वकाल की ओर ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति के रचना काल तक, दूसरा—उससे भी पूर्वकाल का। पहले प्रथम विभाग के ही उद्धरणों का निर्देश किया जाता है।

सूतसंहिता की टीका और सांख्यसूत्र—

(१)—सूतसंहिता का व्याख्याकार विद्यारण्य, पृष्ठ ४०७[1] पर इसप्रकार लिखता है—

"*अत एव सांख्यैरुच्यते—'सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था मूलप्रकृतिः' इति।*"

सांख्य के इस वाक्य को उद्धृत करने वाला यह विद्यारण्य, माधव मन्त्री ही है, जिसका अपर नाम सायण कहा जाता है। सूतसंहिता की टीका के प्रारम्भ में टीकाकार ने स्वयं लिखा है—

'*वेदशास्त्रप्रतिष्ठात्रा श्रीमन्माधवमन्त्रिणा। तात्पर्यदीपिका सूतसंहितायां विधीयते॥*'

इससे यह स्पष्ट होता है, कि विद्यारण्य, माधवमन्त्री ही है, जो कि सायण के नाम से भी प्रसिद्ध है। उक्त वाक्य के निर्देश की रीति से यह स्पष्ट है, कि यह वाक्य किसी सांख्य ग्रन्थ से उद्धृत किया गया[2] है। इस बात में भी कोई सन्देह का अवकाश नहीं है कि सांख्य के इस उक्त अर्थ को बतलाने वाला कोई भी वाक्य सांख्यसप्तति में नहीं है। तात्पर्य यह है, कि 'सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है' इस अर्थ का प्रतिपादक कोई भी वाक्य ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति में उपलब्ध नहीं होता। सांख्य के और भी किसी ग्रन्थ में [तत्त्वसमास आदि में] यह वाक्य उपलब्ध नहीं होता। केवल सांख्यषडध्यायी में ही इसप्रकार का पाठ उपलब्ध है। पहले अध्याय का ६१ वां सूत्र है—

"*सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः*"

इससे यह निश्चित होता है, कि माधव अथवा सायण से पूर्व यह सूत्र विद्यमान था। सायण ने सर्वदर्शनसंग्रह में भी इस भाव को इन्हीं पदों से प्रकट किया है। वह लिखता है—

"*प्रकरोतीति प्रकृतिरिति व्युत्पत्त्या सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थाया अभिधानात्।*"

[सांख्यदर्शन १४ प्रकरण पृष्ठ ३११ पं० ६-७ अभ्यंकर संस्करण

सूतसंहिता की टीका में उद्धृत वाक्य के साथ सायण के इस लेख की समानता स्पष्ट

---

[1] यह पृष्ठ संख्या हमने मद्रास संस्करण के आधार पर दी है।

[2] इस भाव को श्रायुत T. R. चिन्तामणि M. A. महोदय ने भी स्वीकार किया है। J. O. R. मद्रास १६२८।

है। षडध्यायी के सूत्र में सत्त्व रजस् तमस् के साथ 'गुण' पद का प्रयोग नहीं है, और 'प्रकृति' पद के साथ 'मूल' पद नहीं है, सर्वदर्शनसंग्रह में भी 'मूल' पद नहीं है। इसप्रकार यह पाठ-भेद नगण्य है। इसी प्रकरण में हम आगे ऐसे बहुत से उदाहरण संस्कृत साहित्य से दिखायेंगे, जिनसे स्पष्ट होगा, कि इसप्रकार के अनेक उद्धरण हैं, जिनमें प्रायः साधारण पाठ-भेद उपलब्ध होते हैं। इसलिये उक्त सूत्र ही सूतसंहिता की टीका में उद्धृत किया गया है, इस विचार के स्वीकार करने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

यह बात कही जासकती है, कि यदि सायण से पूर्व ये सूत्र विद्यमान थे, तो उसने कारिकाओं के समान 'सर्वदर्शनसंग्रह' में भी इनको उद्धृत क्यों नहीं किया? इसके कारणों का निर्देश हम प्रथम ही संक्षेप में कर आये हैं, और विस्तारपूर्वक इस प्रकरण के अन्त तक हो जायेगा। यहां हम पाठकों का ध्यान पुनः इस ओर आकृष्ट करना चाहते हैं, कि 'सत्त्व-रजस्-तमस की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है' इस अर्थ को जानने का मूलस्रोत, षडध्यायी के उक्तसूत्र के अतिरिक्त, सांख्यशास्त्र के अन्य किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। इसलिये यह निश्चित होता है, कि संस्कृत वाङ्मय में जहां कहीं भी इन शब्दों के साथ इस अर्थ को प्रकट किया गया है, उस सबका मूल आधार षडध्यायी का यही सूत्र है, इसमें कोई सन्देह नहीं किया जासकता। यह भी एक कारण है, कि जो अर्थ, सूत्र और कारिकाओं में समान रूप से उपलब्ध होते हैं, उनके निर्देश के लिये सायण ने, अधिक प्रचार के कारण कारिकाओं को ही उद्धृत किया है। परन्तु जो अर्थ, केवल सूत्रों में ही हैं, उनके लिये सूत्र को उद्धृत करना पड़ा है।

मल्लिनाथ और सांख्यसूत्र—

(२)—नैषधीय चरित के व्याख्याकार मल्लिनाथ ने प्रथम सर्ग के ५६ वें श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"*अणुपरिमाणं मनः इति सूत्रणात्।*"[1]

यहां पर 'सूत्रणात्' पद से यह स्पष्ट हो जाता है, कि मल्लिनाथ इस वाक्य को किसी दर्शन का सूत्र समझकर ही उद्धृत कर रहा है। मन के अणुपरिमाण को बतलाने वाले सूत्र, न्याय तथा वैशेषिक में भी उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनकी पदानुपूर्वी का, उद्धृत सूत्र से संतुलन करने पर प्रतीत होता है, कि मल्लिनाथ की दृष्टि उनकी ओर नहीं है। गौतमकृत न्यायसूत्रों में मन के अणुपरिमाण का निर्देशक सूत्र इसप्रकार है—

"*यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु*" [३।२।६३]

इसीप्रकार वैशेषिक सूत्रों में इस अर्थ का द्योतक सूत्र है —

---

[1] किन्हीं प्रतियों में 'सूत्रणात्' के स्थान पर 'तार्किकाः' पाठान्तर भी है। परन्तु उससे भी हमारे परिणाम में कोई अन्तर नहीं आता।

"तदभावादणु मनः" [७।१।२३]

गौतम के 'यथोक्तहेतुत्वात्' का अभिप्राय है--अर्थग्रहण का अयौगपद्य[1]। अर्थात् घ्राणादि इन्द्रियों के द्वारा गन्ध आदि अर्थों का युगपत्-एक साथ ग्रहण न किया जाना, मन की अणुता को सिद्ध करता है। इसीप्रकार वैशेषिक के 'तदभावात्' का अर्थ --विभुता का न होना'--है। हम देखते हैं, कि इन सूत्रों की आनुपूर्वी, उद्धृत सूत्र के साथ समानता प्रकट नहीं कर रही। परन्तु उक्त अर्थ का ही प्रतिपादक षडध्यायीसूत्र, उद्धृत सूत्र के साथ अत्यधिक समानता रखता है। सूत्र है—

"अणुपरिमाणं तत् (३।१४)

यहां सूत्र में 'तत्' सर्वनाम मन के लिये प्रयुक्त हुआ है। सूत्रकार ने प्रकरण के अनुसार साक्षात् 'मनस्' पद का निर्देश न करके 'तत्' सर्वनाम का ही प्रयोग कर दिया है। परन्तु उद्धर्त्ता के ग्रन्थ में तो वह प्रकरण--प्रसंग नहीं है, इसलिये प्रतीत होता है कि उसने सर्वनाम के स्थान पर, स्पष्ट प्रतीति के लिये साक्षात् मनस्-पद का ही प्रयोग कर दिया। इसप्रकार यह निश्चित परिणाम निकलता है, कि मल्लिनाथ ने सांख्यसूत्र को ही अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

यह कहा जा सकता है, कि मल्लिनाथ ने संभवतः न्याय अथवा वैशेषिक सूत्र के आशय को लेकर स्वयं ही इस वाक्य की रचना करदी हो। परन्तु यह कथन नितान्त असंगत होगा। क्योंकि मल्लिनाथ की शैली से यह बात प्रकट होती है, कि वह स्वयं इस वाक्य को उद्धृत कर रहा है। इसलिये यह स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रह जाती, कि यहां पर षडध्यायी-सूत्र को ही उद्धृत किया गया है।

मल्लिनाथ का समय, ईसा के चतुर्दश शतक का पूर्वार्द्ध[2] बतलाया जाता है, जो निश्चित ही सायण के पीछे का नहीं है। यहां यह लिखदेना भी आवश्यक होगा, कि मन की अणुता का प्रतिपादन करने वाले कोई भी पद ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति में उपलब्ध नहीं है, जो उक्त उद्धरण के आधार कहे जा सकें।

वर्धमान और सांख्यसूत्र—

(३) उदयनकृत न्यायकुसुमाञ्जलि की 'प्रकाश' नामक व्याख्या का रचयिता प्रसिद्ध नैयायिक वर्धमान प्रथम स्तबक में लिखता है—

---

[1] इस सूत्र से कुछ पूर्व गौतम ने, एक शरीर में एक ही मन सिद्ध करने के लिये हेतु दिया है—'तदयौगपद्या-देकं मनः'। उसी अयौगपद्य हेतु का इस सूत्र में अतिदेश किया गया है। इसीप्रकार वैशेषिक का इस सूत्र से पूर्व सूत्र है—'विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा'। इस सूत्र के 'विभवात्' हेतु के अभाव का उत्तरसूत्र में निर्देश किया गया है।

[2] मल्लिनाथ के समय का निर्देश श्रीयुत, अभ्यङ्कर महोदय द्वारा सम्पादित सर्वदर्शनसंग्रह के परिशिष्ट में संगृहीत सूची के आधार पर दिया गया है।

"*प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः तस्मात् पञ्चतन्मात्राणि—इति सांख्याः ।*"

वर्धमान के 'इति सांख्याः' इन पदों के निर्देश से प्रतीत होता है, कि उसने उक्त वाक्य को किसी सांख्य ग्रन्थ से उद्धृत किया है। सांख्यसप्तति में इस अर्थ को प्रकट करने के लिये निम्नलिखित कारिका है—

"*प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।*" [२२]

वर्धमान के उद्धृत वाक्य से कारिका की तुलना करने पर, इनकी परस्पर असमानता स्पष्ट प्रतीत होजाती है। कारिका के 'ततोऽहंकारः' पदों के स्थान पर वर्धमान 'महतोऽहंकारः' पद लिखता है। और वर्धमान के उद्धृत 'तस्मान् पञ्चतन्मात्राणि' ये पद तो निश्चित कर देते हैं, कि उक्त सन्दर्भ का उद्धर्त्ता, अपने उद्धरण का आधार, कारिका को कदापि नहीं समझ रहा। कारिका को आधार न समझने का एक विशेष कारण यह भी है, कि उस स्थिति में वर्धमान, कारिका को ही उद्धृत करता, उसका गद्यात्मक सन्दर्भ बनाने का कोई भी कारण प्रतीत नहीं होता, और फिर वह भी कारिका के पदों के साथ समानता नहीं रखता। इसलिये निश्चित रूप से कहा जासकता है, कि वर्धमान के उद्धरण का आधार षडध्यायीसूत्र ही है। सूत्र इसप्रकार है—

"*प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि*" [१।६१]

सूत्र के साथ, उद्धृत सन्दर्भ का पाठ सर्वथा समानता रखता है। केवल सूत्र के 'अहंकारात्' पद के स्थान पर वर्धमान ने 'तस्मात्' पद रख दिया है, जो उसके अव्यवहित पूर्व में पठित 'अहंकार' पद का परामर्श करता है। ऐसी स्थिति में यह पाठभेद सर्वथा नगण्य है।

वर्धमान का समय ईसा के त्रयोदश शतक[1] का प्रारम्भ अथवा द्वादश शतक का अन्त बतलाया जाता है, जो निश्चित ही सायण से प्राचीन है।

क्षीरस्वामी और सांख्यसूत्र—

(४)—अमरकोष के प्रसिद्ध व्याख्याकार क्षीरस्वामी ने कालवर्ग के २६वें श्लोक की व्याख्या में लिखा है—

"*प्रारम्भात् क्रियतेऽनया प्रकृतिः-सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था-अव्यक्ताख्या ।*"

क्षीरस्वामी ने जो यह प्रकृति का स्वरूप निरूपण किया है, उसका आधार, षडध्यायी के [१।६१] सूत्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जासकता। इसलिये क्षीरस्वामी के काल में इस सूत्र की विद्यमानता निश्चित होती है। क्षीरस्वामी का काल ईसा के एकादश शतक का अन्त[2] अनुमानित किया जाता है, जो निश्चित ही सायण से प्राचीन है।

---

१ वर्धमान के समय का यह निर्देश, श्रीयुत अभ्यङ्कर महोदय द्वारा सम्पादित सर्वदर्शनसंग्रह के परिशिष्ट में संगृहीत सूची के आधार पर दिया गया है।

२ देखें - अमरकोष, क्षीरस्वामी व्याख्या सहित की भूमिका।

जैन विद्वान् सिद्धर्षि और सांख्यसूत्र —

(४)—प्रसिद्ध जैन विद्वान सिद्धर्षि ने 'उपमितिभवप्रपञ्चा कथा' नामक अपने ग्रन्थ[1] में अनेक दार्शनिक मतों का प्रसंगवश निरूपण किया है। उनमें सांख्यमत का भी उल्लेख है। सिद्धर्षि के सन्दर्भ में सांख्यषडध्यायी का १। ६१ सूत्र इसप्रकार सन्निहित है—

"*सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेः···महान्···बुद्धिरित्यर्थः। बुद्धेश्चाहंकारः।···अहंकारादेकादशेन्द्रियाणि···पञ्चतन्मात्राणि···तेभ्यः···पञ्च महाभूतानि। ·····पुरुषः···।*"

सांख्यसप्तति की २२ वीं आर्या में तत्त्वों की उत्पत्ति का जो क्रम निर्देश किया गया है, वहां अहंकार से 'षोडशक गण' की उत्पत्ति कही है। इन्द्रिय और तन्मात्राओं का पृथक् निर्देश नहीं है, जैसा कि सूत्र में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त सिद्धर्षि के ग्रन्थ की प्रथम पंक्ति, उक्त सूत्र के साथ सर्वथा समानता रखती है, जब कि सांख्यसप्तति में उसका सर्वथा अभाव है। 'कथा'–सन्दर्भ की तुलना के लिये सांख्यसूत्र देखिये—

"*सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान्। महतोऽहंकारः अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियम्। तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुषः।*"

यह तुलना निश्चय करादेती है, कि सिद्धर्षि ने उक्त सन्दर्भ, षडध्यायी के इस सूत्र के आधार पर ही लिखा है।

सिद्धर्षि ने अपने ग्रन्थ को ९६२ विक्रम संवत्[2] में समाप्त किया था। इसके अनुसार ख्रीस्ट नवम शतक के अन्त में उक्त षडध्यायी सूत्र की विद्यमानता का निश्चय होता है। यह समय निश्चित ही सायण से कई सदी पूर्व है।

डॉ० कीथने लिखा[3] है, कि 'उपमितिभवप्रपञ्चा कथा' में जो सांख्यसूत्र उद्धृत हैं, वे षडध्यायी में उपलब्ध नहीं होते। परन्तु उक्त तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है, कि डॉ० कीथ के लेख

---

[1] 'उपमितिभवप्रपञ्चा कथा' कलकत्तासे ख्रीस्ट १८९९ में डॉक्टर पीटर पीटर्सन द्वारा प्रकाशित। पृष्ठ ६६६-७

[2] उक्त ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक प्रशस्ति मुद्रित है, जो भिल्लमाल के जैन मन्दिर स्थित शिलालेख से लीगई है। सिद्धर्षि ने अपना काल उसमें लिखा है—

संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसहितेऽतिलंघिते चास्याः।
ज्येष्ठे सितपञ्चम्यां पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत्॥

यह ९६२ संवत्सर, वीर सवत् है, अथवा विक्रमसंवत् ? यह अभी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जासकता। परन्तु डा० पीटर्सन महोदय ने इसी ग्रन्थ की भूमिका [पृष्ठ ७—१५] में इस संवत्सर को विक्रम संवत् बताया है, जो ख्रीस्ट ९०४ में पड़ता है। यदि डा० पीटर्सन के लेख को ठीक माना जाय, तो ख्रीस्ट नवम शतक के अन्त में षडध्यायी सूत्र की स्थिति निश्चित होती है। यदि इसको वीर-संवत् माना जाय, तो यह काल लगभग ४५० वर्ष और पहले जापड़ता है।

[3] हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, पृष्ठ ४८९।

की यथार्थता कहां तक है। कीथ जैसे विद्वान् के लिये इतना असत्य लिखना, सचमुच ही बहुत लज्जाजनक होना चाहिये।

वाचस्पति मिश्र और सांख्यसूत्र—

(६)—प्रसिद्ध षड्दर्शन व्याख्याकार वाचस्पति मिश्रने सांख्यसप्तति की व्याख्या तत्त्वकौमुदी में ४७ वीं आर्या की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"अत एव 'पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।"

तत्त्वसमास सूत्रों मे १२ वां सूत्र 'पंचपर्वा अविद्या' है। यह सूत्र तत्त्वकौमुदी में वार्षगण्य के नाम से किस प्रकार उद्धृत हुआ है, इसका विवेचन हम 'कपिल-प्रणीत षष्टितन्त्र' नामक द्वितीय प्रकरण में कर आये है। वस्तुत: मूल रूप से यह सूत्र तत्त्वसमास का ही है। वाचस्पति के लेख के आधार पर इस सम्बन्ध में दो ही विकल्प किये जासकते हैं—

(क)—तत्त्वसमास सूत्रों की रचना वार्षगण्य ने की हो; अथवा

(ख)—तत्त्वसमास के इस सूत्र को वार्षगण्य ने अपने ग्रन्थ में स्वीकार कर लिया हो।

पहले विकल्प के असामञ्जस्य को हम द्वितीय प्रकरण में स्पष्ट कर आये हैं। क्योंकि वार्षगण्य से भी प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों[1] मे इन सूत्रों के उल्लेख पाये जाते हैं। अतएव—कदाचित् इस सूत्र को तत्त्वसमास सूत्रकारने ही वार्षगण्य के ग्रन्थ से ले लिया है— इस तीसरे विकल्प की तो कल्पना करना ही अशक्य है। ऐसी स्थिति में दूसरा विकल्प ही स्वीकार किया जा सकता है। तब हम कह सकते हैं, कि तत्त्वसमास के इस सूत्र को वार्षगण्य ने अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया, और वाचस्पति ने वहां से इसको अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया। चाहे यह उद्धरण वार्षगण्य के ग्रन्थ को देखकर किया गया हो, अथवा परम्परा ज्ञान के आधार पर, दोनों ही स्थितियों में वाचस्पति मिश्र से पूर्व, इस सूत्र की विद्यमानता निश्चित है।

षडध्यायी सूत्रों को अर्वाचीन [ईसा के चतुर्दश शतक के अनन्तर रचित] मानते हुए भी अनेक आधुनिक[2] विद्वानों ने तत्त्वसमास सूत्रों को इनसे प्राचीन माना है। फिर भी हम देखते हैं, कि सायण अथवा शङ्कराचार्य के ग्रन्थों में इन सूत्रों के भी उद्धरण उपलब्ध नहीं होते। इसीतरह षडध्यायी सूत्रों को भी प्राचीन क्यों नहीं माना जा सकता? कुछ मनचले विद्वानों ने[3]

---

[1] इसी प्रकरण के अन्तिम भाग में देवल के ग्रन्थ से तत्त्वसमास सूत्रों के उद्धरणों का निर्देश किया जायगा। वार्षगण्य की अपेक्षा देवल पर्याप्त प्राचीन आचार्य है। देखें—इसी ग्रन्थ का 'सांख्य के प्राचीन आचार्य' नामक अष्टम प्रकरण।

[2] मैक्समूलर। टी.आर. चिन्तामणि [J.O.R.मद्रास १६२८] आदि।

[3] गौडपादभाष्य सहित सांख्यकारिका, [ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना, १६३३ ई० संस्करण] की, श्रीयुत डा० हरदत्तशर्मा M.A. लिखित भूमिका पृष्ठ २१, पंक्ति ४-६।

तो इस विपर्यास के भय से तत्त्वसमास सूत्रों को भी सायण से अर्वाचीन कह दिया है। वस्तुतः उनका यह कथन उपहासास्पद ही है। संभवतः ऐसे व्यक्तियों ने अपने मस्तिष्क को इतना सुकुमार और श्रमहीन बना लिया है, कि वे उससे कुछ काम ही नहीं लेना चाहते। वे कुछ निराधार संकेतों के सहारे इस बात को समझे बैठे हैं, कि सायण ने जिस ग्रन्थ का उद्धरण अपने ग्रन्थों में नहीं दिया, वह अवश्य सायण से अर्वाचीन है। विशेषकर सांख्यविषयक ग्रन्थ तो अवश्य ही। चाहे सायण से प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में उनके कितने ही उद्धरण हुआ करें, उन्हें इससे कोई प्रयोजन नहीं, अपना उल्लू सीधा होना चाहिये। इसप्रकार वाचस्पति मिश्र के समय अर्थात् विक्रम के नवम शतक से पूर्व ही तत्त्वसमास सूत्रों की विद्यमानता सिद्ध होती है।

इस सूत्र के प्रसङ्ग में अश्वघोष रचित बुद्धचरित[1] भी द्रष्टव्य है। १२वें अध्याय में बुद्ध को अराडकालाम के द्वारा अपने [अभिमत सांख्य] सिद्धांत का उपदेश देते हुए, ३३ और ३७वें श्लोक का पूर्वार्द्ध यथाक्रम इसप्रकार है—

"*इत्यविद्या हि विद्वांसः पञ्चपर्वा समीहते।*"
"*अनयाऽविद्यया बालः संयुक्तः पञ्चपर्वया॥*"

अश्वघोष का समय खीस्ट प्रथम शतक के समीप बताया जाता है। और तम मोह आदि को 'पञ्चपर्वा अविद्या' इन पदों से सांख्यतत्त्वसमास सूत्रों में ही सर्वप्रथम प्रदर्शित किया गया उपलब्ध होता है। यद्यपि अश्वघोष का समय खीस्ट प्रथम शतक हो, परन्तु उसके द्वारा प्रतिपादित अराडकालाम की उक्तियां बुद्धकाल में मानी जायें, जबकि वे वस्तुतः कही गई थीं, तब सांख्य के इस सूत्र की स्थिति निश्चित ही बुद्धकाल से भी पूर्व माननी पड़ती है।

गोपालतापिनी और सांख्यसूत्र—

(७)—कुछ उपनिषद् अति प्राचीन है। शेष अनेक उपनिषदों की रचना पर्याप्त अर्वाचीन काल तक होती रही है। प्राचीन उपनिषदों में सांख्य सिद्धान्त और पञ्चविंशति तत्त्वों का अनेक स्थलों पर वर्णन है। परन्तु एक अन्य उपनिषद् में सांख्य का सूत्र भी उपलब्ध होता है। उपनिषद् का सन्दर्भ इसप्रकार है—

"*अव्यक्तमेकाक्षरम्। तस्मादक्षरान्महत्। महतोऽहङ्कारः। तस्मादहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि तेभ्यो भूतानि।*" [गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद् १[2]]

सांख्यषडध्यायी का सूत्र है—

"*प्रकृतेर्महान्। महतोऽहंकारः। अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि,....तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि।*" [१।६१]

---

[1] E. B. Cowell M. A., द्वारा सम्पादित, खीस्ट १८९३ का Oxford संस्करण।

[2] ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः' निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९२५ ईसवी सन् का संस्करण।

उपनिषद् की पदानुपूर्वी सूत्र के साथ अत्यधिक समानता रखती है। कारिका की पदानुपूर्वी में इससे बहुत भेद है। इसलिये उपनिषद् के इस लेख का आधार षडध्यायीसूत्र ही होसकता है। यद्यपि यह उपनिषद् अर्वाचीन है, फिर भी इसका रचनाकाल ईसा के अष्टम नवम शतक तक अनुमान किया जा सकता है, इसके अनन्तर नहीं।

कैयट और सांख्यसूत्र—

(८)—व्याकरण महाभाष्य ४।१।३ के एक सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए कैयट लिखता है—
"सदपि लिङ्गं सूक्ष्मत्वात् प्रत्यक्षेणाशक्यं ग्रहीतुम्, तत्कृतकार्यदर्शनादनुमीयते।"

विद्यमान भी लिङ्ग सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्षद्वारा नहीं जाना जासकता। उससे उत्पन्न कार्य के देखे जाने से ही, उसका अनुमान होता है। कैयट का यह लेख, षडध्यायी के प्रथम अध्याय के १०६ और ११० सूत्रों के आधार पर लिखा हुआ कहा जा सकता है। सूत्र इस-प्रकार हैं—

"सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः। कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः।"

यद्यपि यह कहा जासकता है, कि सांख्यसप्तति की ८ वीं कारिका के आधार पर ही कैयट का यह लेख क्यों न माना जाय? परन्तु इसके न माने जाने का कारण यह है, कि कारिका में 'कार्य' पद के साथ 'दर्शन' पद नहीं है, कैयट के पाठ में 'दर्शन' पद है, और सूत्र में भी 'दर्शन' पद है। इसलिये कैयट के इस लेख के आधार, षडध्यायी के उक्त सूत्र ही कहे जासकते हैं, कारिका नहीं। कैयट का पाठ सूत्रों के साथ ही अधिक मिलता है। कैयट का काल ईसा का एकादश शतक माना जाता है, जो सायण से निश्चित ही प्राचीन है।

पार्थसारथिमिश्र और सांख्यसूत्र—

(९)—शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथिमिश्र, सांख्यमतखण्डन प्रसंग में लिखता है—
"न ह्यत्यन्तासतामुत्पत्तिः संभवति शशविषाणस्याप्युत्पत्तिप्रसंगात्, असदुत्पत्तौ च सर्वत्र सर्वं स्यान्नियमो न स्यात्, तन्तुभ्यः पटो मृत्तो घट इति[1]*।"*

मिश्र का यह सन्दर्भ, सांख्य के 'नासदुत्पादो नृशृङ्गवत्' १।११४॥ और 'सर्वत्र सर्वदा सर्वासंभवात्' १।११६। इन सूत्रों के आधार पर लिखा गया प्रतीत होता है। यद्यपि यह कहा जा सकता है, कि इसका आधार, सांख्यसप्तति की ९ वीं कारिका है, और इस सन्दर्भ के अनन्तर मिश्र ने इसको उद्धृत भी किया है। परन्तु जब हम इन तीनों की परस्पर तुलना करते हैं, तो हमें स्पष्ट हो जाता है, कि मिश्र के सन्दर्भ का आधार, सांख्य के उक्त सूत्र ही हैं। सन्दर्भ की प्रथम पंक्ति ११४ सूत्र के साथ अत्यधिक समानता रखती है।

---

[1] शास्त्रदीपिका, सांख्यमत खण्डन प्रकरण, पृष्ठ ११४, निर्णयसागर प्रेस बम्बई से सन् १९२५ ईसवी में प्रकाशित संस्करण।

नासदुत्पादः = न ह्यसतामुत्पत्तिः

नृशृङ्ग = शशविषाण

सूत्र और सन्दर्भ के 'न — असत् — उत्पाद' इन पदों में परस्पर आश्चर्य जनक समानता दृष्टिगोचर हो रही है। जब कि कारिका में इसके स्थान पर 'असदकरणा' पद हैं। सूत्र के 'नृशृङ्ग' पद के स्थान पर सन्दर्भ में 'शशविषाण' पद है, जिसका कारिका में सर्वथा अभाव है।

इसीप्रकार सन्दर्भ का अगला भाग भी, सूत्र के साथ ही अधिक समानता रखता है। यद्यपि सूत्र और कारिका के 'सर्वासंभवात्' तथा 'सर्वसंभवाभावात्' पदों में कोई विशेष भेद नहीं है, परन्तु सन्दर्भ का 'सर्वत्र' पद, कारिका से अपना भेद और सूत्र के साथ अपनी समानता को प्रकट करता है। कारिका के 'सर्वसंभवाभावात्' इस हेतु पद की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने 'सर्वं कार्यजातं सर्वस्माद् भवेत्' इसप्रकार पञ्चम्यन्त पद से ही अर्थ का प्रकाशन किया है। अन्य व्याख्याकारों ने भी प्रायः ऐसा ही किया है। परन्तु पार्थसारथि मिश्र ने उसी आशय को सप्तम्यन्त पदसे प्रकट किया है, जो सूत्र के साथ समानता रखता है। इस सन्दर्भ के अनन्तर ९ वीं कारिका का उद्धरण, असदुत्पत्ति के बाधक हेत्वन्तरों का निर्देश कर देने के विचार से हो सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है, कि पार्थसारथि मिश्र के इस सन्दर्भ के आधार, सांख्य के उक्त सूत्र ही हैं।

यद्यपि पार्थसारथि मिश्र के समय का अभी तक ठीक निश्चय नहीं है, परन्तु इतना निश्चय है, कि सायण से यह प्राचीन है। यह कहा जासकता है, कि मिश्र के उक्त सन्दर्भ में सांख्यसूत्रों का उद्धरण नहीं है, फिर भी वहां सूत्रों की छाया से नकार नहीं किया जासकता। और वह भी सूत्रों की तात्कालिक विद्यमानता में प्रमाण है।

आचार्य श्रीकण्ठ और सांख्यसूत्र -

(१०)—शैव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य श्रीकण्ठ ने वेदान्तसूत्रों के भाष्य में एक स्थल पर लिखा है—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः—इत्यंगीकारात्।" [२ । २ । १]

सांख्यषडध्यायी के १ । ६१ सूत्र के प्रथम अंश को ही आचार्य श्रीकण्ठ ने यहां उद्धृत किया है। उद्धृत पाठ की आनुपूर्वी सूत्र के साथ अक्षरशः समानता रखती है। अन्तिम 'इत्यंगीकारात्' पदों से यह स्पष्ट है, कि श्रीकण्ठ उक्त वाक्य को किसी ग्रंथ से उद्धृत कर रहा है।

श्रीकण्ठ के समय का यद्यपि अभीतक ठीक २ निश्चय नहीं हो सका है, परन्तु सम्भावना की जाती है, कि यह ख्रीस्ट के नवम शतक का आचार्य हो, जो सायण से पर्याप्त प्राचीन है।

आचार्य्य गौडपाद और सांख्यसूत्र—

(११)—सांख्यसप्तति के अन्यतम व्याख्याकार गौडपाद ने भी दो स्थलों पर प्रकृति का स्वरूप बतलाने के लिये जिन दो वाक्यों का उल्लेख किया है, वह षडध्यायी के एक सूत्र का ही

भाग है। आचार्य गौडपाद पृष्ठ[1] १६ पर लिखता है—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम्।"

इसके अनन्तर पुनः पृष्ठ[1] २५ पर पाठ है—

"प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था।"

षडध्यायी का सूत्र इसप्रकार है—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।" [१।६१]

इतना ही नहीं, कि सांख्यसप्तति में इस आनुपूर्वी का पाठ ही न हो, प्रत्युत इस अर्थ को बतलाने वाला किसी तरह का भी पाठ नहीं है। सांख्य के उपलब्ध मौलिक[2] ग्रंथों में भी इस प्रकार का कोई पाठ नहीं मिलता। इसलिये इस अर्थ का आधार षडध्यायीसूत्र के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। गौडपाद का समय विक्रमीय षष्ठ शतक के अन्त[3] अथवा सप्तम शतक के प्रारम्भ के समीप अनुमान किया गया है। यह गौडपाद, सायण तथा वाचस्पति आदि से निश्चित ही प्राचीन है।

हरिभद्रसूरि और सांख्यसूत्र —

(१२)—जैनाचार्य हरिभद्रसूरि से अपने ग्रन्थ -- षड्दर्शनसमुच्चय - के सांख्यमत प्रकरण में लिखा है—

"सत्त्वं रजस्तमश्चेति ज्ञेयं तावद् गुणत्रयम्। एतेषां या समावस्था सा प्रकृतिः किलोच्यते॥"

ये सन्दर्भ ३५ और ३६ वें श्लोक के पूर्वार्द्ध हैं। इनकी रचना और आनुपूर्वी से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, कि ये सन्दर्भ, सांख्यषडध्यायी के १।६१ सूत्र के आधार पर लिखे गये हैं। क्योंकि इस अर्थ को सांख्य-कारिकाओं में, किसी भी रूप में प्रकट नहीं किया गया। इसलिये इनका आधार षडध्यायीसूत्र ही कहा जा सकता है। हरिभद्रसूरि का समय खीस्ट नवम शतक[4] का अन्त कहा जाता है।

---

[1] बनारस प्रिन्टिंग प्रेस से कृष्णदास गुप्त द्वारा प्रकाशित संस्करण के आधार पर यह पृष्ठ संख्या दी गई है। क्रमशः कारिका १६ और २३ के गौडपादभाष्य में इन पाठों को देखें।

[2] तत्त्वसमास, पञ्चशिख सूत्र, वार्षगण्य के उद्धृत सन्दर्भ आदि से ही हमारा तात्पर्य है।

[3] इसी ग्रन्थ के 'कारिका के व्याख्याकार' नामक प्रकरण में गौडपाद का प्रसंग देखें।

[4] यह समय-निर्देश, श्री वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह' की अन्तिम सूचियों के आधार पर दिया गया है।

हरिभद्रसूरि, 'उपमितिभवप्रपञ्चाकथा' के कर्त्ता सिद्धर्षि का धर्म-गुरु था। सिद्धर्षि ने अपना काल ९६२ संवत्सर लिखा है [देखें—भिल्लमाल जैन मन्दिर की प्रशस्ति, उक्त ग्रन्थ के प्रारम्भ में मुद्रित, पीटर्सन द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, १८९९ ईसवीं संस्करण]। यदि इस संवत्सर को विक्रम संवत् माना जाय, तो हरिभद्र का उक्त समय आता है। यदि यह सम्वत्सर, वीर सम्वत् हो, तब हरिभद्र का समय इससे लगभग ४५० वर्ष और पूर्व चला जायगा। डा० पीटर्सन ने उक्त ग्रन्थ की भूमिका में इस संवत्सर को विक्रम सम्वत् माना है। इसकी वास्तविकता का निर्णय अपेक्षित है।

शङ्कराचार्य और सांख्यसूत्र—

(१३)—वेदान्तसूत्रों के भाष्यकार, आदि शङ्कराचार्य ने २।१।२६ सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है—

"ननु नैव तैर्निरवयवं प्रधानमभ्युपगम्यते, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा नित्यास्तेषां साम्यावस्था प्रधानं तैरेवावयवैस्तत्सावयवमिति ।"

शङ्कराचार्य के इस सन्दर्भ में 'तैः' इस प्रथम सर्वनाम पद से सांख्यों का ही ग्रहण किया जा सकता है। 'अभ्युपगम्यते' यह क्रिया-पद, उनके अभ्युपगम अर्थात् उनके किसी सिद्धान्त का निर्देश करता है। वह अभ्युपगम अथवा सिद्धान्त, अगले पदों से प्रकट किया गया है— 'सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः तेषां साम्यावस्था प्रधानम्।' सांख्य के इस सिद्धान्त का आधार, षडध्यायी का केवल १।६१ सूत्र ही हो सकता है। यह हम पहले भी निर्देश कर आये हैं।

वर्त्तमान सांख्यसूत्रों को अर्वाचीन कहने के पक्षपाती यह बतायें, कि यदि शंकराचार्य के समय ये सूत्र नहीं थे, तो उसने किस आधार पर सांख्यों के इस 'अभ्युपगम' का उल्लेख किया है। सांख्यसप्तति अथवा सांख्य के अन्य किसी भी उपलब्ध ग्रन्थ में इस अभ्युपगम का उल्लेख नहीं पाया जाता। केवल सांख्यषडध्यायी में ही यह उपलब्ध है। इसलिये शंकराचार्य के समय में सांख्यसूत्रों का वर्त्तमान होना स्थिर होता है।

(१४)—आदि शङ्कराचार्य के वेदान्तसूत्र-भाष्य में सांख्यषडध्यायी का एक सूत्र और उपलब्ध होता है। २।४।६ सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है—

"अथवा तन्त्रान्तरीयाभिप्रायात् समस्तकरणवृत्तिः प्राण इति प्राप्तम्। एवं हि तन्त्रान्तरीया आचक्षते—'सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' इति।"

इस सन्दर्भ में 'सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' यह सांख्यषडध्यायी के दूसरे अध्याय का ३१ वां सूत्र है।

यहां यह कहा जा सकता है, कि सांख्यसप्तति की २६ वीं आर्या का उत्तरार्द्ध ही भाष्य में उद्धृत किया गया है, सांख्यषडध्यायी का सूत्र नहीं।

परन्तु यह कहना युक्त न होगा। क्योंकि जिस पाठ को शङ्कराचार्य ने उद्धृत किया है, वह कारिका अथवा आर्या रूप होना असम्भव है। उस पाठ में आर्या छन्द नहीं बन सकता। यह कहना भी निराधार होगा, कि शंकराचार्य ने कारिका के आधार पर ही कुछ पाठभेद करके ऐसा लिख दिया; क्योंकि उद्धृत वाक्य से पूर्व और अपर के 'आचक्षते' तथा 'इति' ये पद इस बात को स्पष्ट करते हैं, कि शंकराचार्य यहां तन्त्रान्तर के पाठ को ही उद्धृत कर रहा है। वह पाठ आर्या की आनुपूर्वी में कभी सङ्गत नहीं हो सकता। यद्यपि उद्धृत पाठ में आर्या के पाठ से बहुत ही साधारण भेद है, परन्तु वह भेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उस भेद के आधार पर सूत्र की वास्तविक आनुपूर्वी का पता लगता है।

यद्यपि षडध्यायी की मुद्रित पुस्तकों में इस समय सूत्र का पाठ भी कारिकानुसारी ही उपलब्ध होता है, परन्तु यह निश्चित रूप में कहा जा सकता है, कि शङ्कराचार्य के समय सूत्र-पाठ की वही आनुपूर्वी थी, जो उसने उद्धृत की है। पश्चात् कारिकापाठ के अभ्यास के कारण प्रमादवश लेखकों द्वारा सूत्रपाठ को भी कारिकानुसारी बना दिया गया, शङ्कराचार्य का पाठ इस बात का प्रबल प्रमाण है। शांकर भाष्य के जितने भी प्रामाणिक संस्करण[1] उपलब्ध होते हैं, और जो भिन्न २ पाण्डु लिपियों के आधार पर, भिन्न २ प्रदेशों से प्रकाशित किये गये हैं; सब में यही एक पाठ है। पर अब शाङ्करभाष्य के हिन्दी [2]अनुवाद में जो पाठ दिये हैं, वे भ्रष्ट कर दिये गये हैं। कारिकापाठ के अभ्यास के कारण, हिन्दी अनुवादकों ने शाङ्करभाष्य के पाठ को भी कारिकानुसारी बना दिया है, जो सर्वथा असंगत है।

जिन आधुनिक विद्वानों ने इस बात का बहुत ही ढिंढोरा पीटा है, कि सायण, वाचस्पति और शङ्कराचार्य के ग्रन्थों में इन सूत्रों के उद्धरण नहीं मिलते, वे आंखें खोलकर देखें। इन तीनों ही आचार्यों के ग्रन्थों में उद्धृत सांख्यसूत्रों का हमने निर्देश किया है। यदि पाश्चात्य विद्वानों की मनोवृत्ति के दास होकर हम पक्षपात के चश्मे को दृष्टि से न हटाना चाहें, तो दूसरी बात है। ऐसे लोगों के लिये भर्तृहरि लिख गया है—'ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति।'

गर्भोपनिषद् और सांख्यसूत्र।

(१५)—गर्भोपनिषद् के तीसरे सन्दर्भ में तत्त्वसमास के निम्नलिखित दो सूत्र उपलब्ध होते हैं।

"अष्टौ प्रकृतयः। षोडश विकाराः।"

ये दोनों सूत्र, तत्त्वसमास के प्रथम और द्वितीय सूत्र हैं। इनमें सम्पूर्ण अचेतन वर्ग का संग्रह हो जाता है। गर्भ में देहाङ्गों के पूर्ण होजाने पर उपनिषद् में बताया गया है, कि इस देह में उक्त सम्पूर्ण तत्त्वों का समावेश है। 'अष्टौ प्रकृतयः षोडश विकाराः शरीरे तस्यैव देहिनः।' इसप्रकार प्राकृतिक शरीर के कारण-तत्त्वों का निर्देश, गर्भोपनिषद् में तत्त्वसमास के उक्त दो सूत्रों के उल्लेख द्वारा कर दिया गया है। उपनिषद् का यह कथन सर्वथा सांख्यसिद्धान्त के अनुसार ही हुआ है।

यद्यपि सब उपनिषदों का काल एक नहीं है। इनके अनुयायियों का एक बहुत बड़ा समुदाय तो इनको भगवान् का निःश्वसित ही मानता है, पर अनुसन्धान करने वाले के लिये यह

---

[1] १—पूना संस्करण, २—वाणीविलास संस्करण, ३—चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस संस्करण, ४—बम्बई का मूलमात्र संस्करण, ५—रत्नप्रभा-भामती-आनन्दगिरि टीका सहित बम्बई संस्करण, ६—भामती-कल्पतरु-कल्पतरुपरिमल टीकायुक्त सहित बम्बई संस्करण।

[2] १—ब्रह्मचारी विष्णुकृत हिन्दी अनुवाद, 'वेदान्तकेसरी' कार्यालय आगरा से प्रकाशित। २—अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय काशी से प्रकाशित।

बात विशेष महत्व नहीं रखती। फिर भी गर्भोपनिषद् का समय शंकराचार्य से पश्चात् नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है, कि शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र आदि के भाष्यों में गर्भोपनिषद् को कहीं उद्धृत नहीं किया है, परन्तु ईशादि ग्यारह और कौषीतकि उपनिषद् के अतिरिक्त अन्य अनेक उपनिषदों को वेदान्त सूत्रों के भाष्य में उद्धृत किया है। उनमें से ये नाम उल्लेखनीय हैं—जाबाल उपनिषद्, ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्, नारायण उपनिषद्। गर्भोपनिषद् इनकी अपेक्षा कहीं उच्चकोटि की उपनिषद् है। वह अवश्य ही शङ्कराचार्य के काल से पर्याप्त प्राचीन कही जा सकती है।

इस उपनिषद् में उक्त दो सूत्रों का उल्लेख भी आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। उपनिषत्कार के लेख से ही यह बात स्पष्ट होती है, कि वह सांख्य से परिचित था और, यह भी जानता था, कि सांख्य, दुःखनिवृत्ति के मार्ग का प्रदर्शक शास्त्र है। उपनिषत्कार लिखता है—

"*यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे। अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्॥* [४]

गर्भवास में अत्यन्त क्लेश का अनुभव करता हुआ चेतन, उक्त प्रार्थना करता है। उपनिषत्कार उस क्लेश के नाश के लिये सांख्य योग के अभ्यास का निर्देश करता है। इससे निःसन्दिग्ध कहा जा सकता है, कि वह सांख्य योग से पर्याप्त परिचित था। ऐसी स्थिति में उसकी रचना के बीच, सांख्य सूत्रों का निर्देश सर्वथा सामञ्जस्य पूर्ण है।

भगवदज्जुकीय और सांख्यसूत्र—

(१६)—'भगवदज्जुकीयम्' नामक एक प्रहसन है, जो सन् १९२५ ईसवी में मद्रास से प्रकाशित हुआ है। इस प्रहसन में प्रसंगवश, तत्त्वसमास के कुछ सूत्र उद्धृत उपलब्ध होते हैं। प्रहसन का सन्दर्भ इसप्रकार है।

परिव्राजकः—*अस्ति किञ्चिदपि ज्ञातम्।*

शाण्डिल्यः—*अत्थि, अत्थि। पभूदं वि अत्थि।*

[*अस्ति, अस्ति। प्रभूतमपि अस्ति*]

परिव्राजकः—*भवतु, श्रोष्यामस्तावत्।*

शाण्डिल्यः—*सुणादु भअवो।* [*शृणोतु भगवान्*]—

अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः, आत्मा, पञ्च वायवः, त्रैगुण्यम्, मनः, सञ्चरः प्रतिसञ्चरश्च इति। एव्वं भअवदा जिणेण पिडअपुत्थएसु उत्तम् [*एवं भगवता जिनेन पिटकपुस्तकेषु उक्तं*]

परिव्राजकः—*शाण्डिल्य! सांख्यसमय एषः, न शाक्यसमयः।*

शाण्डिल्यः—*बुभुक्खाए, ओदणगदाए चिन्ताए अण्णं चिन्तिदं, अण्णं मन्तिदं,* [*बुभुक्षया ओदनगतया चिन्तया अन्यत् चिन्तितं अन्यत् मन्त्रितम्*]।

एक आश्रम में शाण्डिल्य नामक ब्रह्मचारी भिक्षा की अभिलाषा से आता है। आश्रम-वासी एक परिव्राजक के साथ उसका वार्त्तालाप इसप्रकार होता है—

परिव्राजक—आप कुछ जानते भी हैं?

शाण्डिल्य—हां २, बहुत कुछ जानता हूँ ।

परिव्राजक—जरा सुनें तो सही ।

शाण्डिल्य—सुनिये श्रीमान,—

'*अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः, आत्मा, पञ्च वायवः, त्रैगुण्यम्, मनः, सञ्चरः, प्रतिसञ्चरश्च इति* । इसप्रकार जिन भगवान् ने पिटक पुस्तकों में कहा है ।

परिव्राजक—शाण्डिल्य ! यह तो सांख्यसिद्धान्त है, शाक्यसिद्धान्त नहीं ।

शाण्डिल्य—ओः ! भूख के कारण भात की चिन्ता में ध्यान चले जाने से, सोचा और कुछ था कह और कुछ दिया ।

'भगवदज्जुकीयम' के इस प्रसंग मे सांख्यसिद्धान्त के नाम पर कुछ सूत्र कहे गये हैं । ये सूत्र तत्त्वसमास के हैं । इनको निम्न रीति पर तत्त्वसमास से तुलना किया जा सकता है—

भगवदज्जुकीयम	तत्त्वसमास	
अष्टौ प्रकृतयः	अष्टौ प्रकृतयः	सूत्र १
षोडश विकाराः	षोडश विकाराः	,, २
आत्मा	पुरुषः	,, ३
पञ्च वायवः	पञ्च वायवः	,, ११
त्रैगुण्यम	त्रैगुण्यम	,, ४
सञ्चरः	सञ्चरः	,, ५
प्रतिसञ्चरश्च	प्रतिसञ्चरः	,, ६

यहां केवल तीसरे सूत्र में पाठभेद है । तत्त्वसमास में 'पुरुषः' और भगवदज्जुकीयम् में 'आत्मा' पाठ है । यह पाठभेद नगण्य है, क्योंकि ये दोनों ही पद दार्शनिक साहित्य में चेतन-सत्ता के लिये सामान्य रूप से प्रयुक्त होते हैं । 'मनः' तत्त्वसमास में नहीं है । शेष पाठ दोनों स्थलों पर समान है । इससे स्पष्ट है, कि 'भगवदज्जुकीयम' के पाठ का स्रोत 'तत्त्वसमास' ही हो सकता है ।

'भगवदज्जुकीयम्' का समय एक प्रकार से निश्चित है । काञ्ची[1] का पल्लववंशीय राजा महेन्द्रविक्रमवर्मन् ख्रीस्ट के सप्तमशतक के मध्य में विद्यमान था । इसके मामण्डूर नामक स्थान के शिलालेख में 'भगवदज्जुकीयम' प्रहसन और उसके कर्त्ता बोधायन कवि का उल्लेख है । इससे स्पष्ट होता है, कि उक्त कवि और उसका काव्य, राजा महेन्द्रविक्रमवर्मन के समकालिक अथवा उससे कुछ पूर्व ही हो सकते हैं । इसप्रकार सप्तम शतक के प्रारम्भिक भाग से अनन्तर 'भगव-

---

[1] यह ऐतिहासिक भाग, श्रीयुत टी. आर. चिन्तामणि M. A. महोदय के एक लेख के आधार पर है, जो J. O. R. [जर्नल ऑफ् ओरियण्टल रिसर्च] मद्रास, ऐप्रिल १६२८ में प्रकाशित हुआ है ।

दण्डुकीयम्' का समय नहीं माना जा सकता, जो कि सायण और वाचस्पति से ही नहीं, प्रत्युत आदि शङ्कराचार्य के [अब तक माने हुए] तथाकथित काल से भी प्राचीन है। ऐसी स्थिति में जो आधुनिक विद्वान् सांख्यषडध्यायी सूत्रों को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिये यह युक्ति उपस्थित करते हैं, कि शंकर आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इनका उल्लेख नहीं किया है, वे इसका क्या उत्तर दे सकते हैं, कि शंकर आदि आचार्यों ने अपने से प्राचीन तत्त्वसमास सूत्रों का भी अपने ग्रन्थों में उल्लेख क्यों नहीं किया? इसलिये जिसप्रकार शंकर आदि के ग्रन्थों में, कारणान्तरों से सिद्ध प्राचीन तत्त्वसमास सूत्रों का उल्लेख न होने पर भी उनकी प्राचीनता नष्ट नहीं हो सकती; इसीप्रकार सांख्यषडध्यायी सूत्रों की, कारणान्तरों से सिद्ध प्राचीनता, केवल शंकर आदि के ग्रन्थों में उनका उल्लेख न होने से नष्ट नहीं की जा सकती। यद्यपि शंकराचार्य आदि के ग्रन्थों में भी हम सांख्यषडध्यायी सूत्रों के उल्लेखों का निर्देश कर चुके हैं, और ऐसी स्थिति में विरोधियों की उक्त युक्ति कोई महत्त्व नहीं रखती, फिर भी प्रतिबन्दी उत्तर की विवक्षा से हमने इस युक्ति का निर्देश कर दिया है।

युक्तिदीपिका में तत्त्वसमास सूत्र—

(१७)—सांख्यकारिका की व्याख्या युक्तिदीपिका में २६ वीं आर्या की व्याख्या करते हुए तत्त्वसमास के एक सूत्र 'पञ्च कर्मयोनयः' का उल्लेख है। केवल सूत्र का ही नहीं, प्रत्युत इन सूत्रों की एक प्राचीन व्याख्या के आधार पर युक्तिदीपिकाकार ने इस सूत्र का विशद व्याख्यान भी किया है। इसका निर्देश हम आगे छठे[1] प्रकरण में करेंगे। जब इन सूत्रों की एक व्याख्या ही ख्रीस्ट पञ्चम शतक के अन्त तक होने वाले युक्तिदीपिकाकार से प्राचीन मिलती है, तब इन सूत्रों के और भी प्राचीन होने में क्या सन्देह किया जा सकता है?

उद्योतकर और सांख्यसूत्र—

(१८)—गौतम न्यायसूत्रों के वात्स्यायन भाष्य का व्याख्याकार उद्योतकर, अपने ग्रन्थ न्यायवार्तिक के ४५८ पृष्ठपर[2] लिखता है—

"यदा भवन्तः—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थां प्रकृतिं वर्णयन्ति" [न्या० सू० ४।१।२१]

यहां उद्योतकर ने सांख्यसिद्धान्त का प्रत्याख्यान करने के लिये सांख्य-मत का निर्देश किया है। जिन पदों के द्वारा यह निर्देश किया गया है, वे अवश्य किसी सांख्याचार्य अथवा सांख्यग्रन्थ के होने चाहियें। उद्योतकर के 'भवन्तः' और वर्णयन्ति' ये पद इस बात को स्पष्ट करते हैं, कि इनके मध्य का पाठ अवश्य किसी सांख्यग्रन्थ का होगा। 'भवन्तः' पद प्रकरण के अनु-

---

[1] देखिये—'तत्त्वसमास सूत्रों के व्याख्याकार' नामक प्रसंग में '२—तत्वसमास सूत्रवृत्ति=क्रमदीपिका' शीर्षक के नीचे (च) चिन्हित सन्दर्भ।

[2] चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस १९१५ ई० के संस्करण के आधार पर।

सार सांख्याचार्य के लिये ही प्रयुक्त किया गया है, और 'वर्णयन्ति' क्रियापद उसकी रचना अथवा ग्रन्थ का निर्देश करता है। इसप्रकार उद्योतकर ने स्पष्ट ही सांख्यषडध्यायी के १।६१ सूत्र के प्रथम भाग को ही यहां उद्धृत किया है, जो सर्वथा 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' इसी आनुपूर्वी के साथ पढ़ा गया है। यह हम पहले भी लिख आये हैं, कि इस आनुपूर्वी के साथ अथवा किसी भी आनुपूर्वी के साथ इस अर्थ को सांख्य के अन्य किसी भी ग्रन्थ में प्रतिपादित नहीं किया गया। इसलिये उद्योतकर के इस लेख का भी आधार सांख्यषडध्यायी का उक्त सूत्र ही हो सकता है।

उद्योतकर का समय अभीतक सर्वथा निश्चित नहीं है। सर्वदर्शनसंग्रह के अभ्यंकर-संस्करण में दी हुई प्राचीन आचार्यों की सूची के अनुसार 'उद्योतकर का समय ६३५ ईसवी सन् बताया गया है। हमारे विचार से यह समय सर्वथा अशुद्ध प्रतीत होता है। उद्योतकर इतना अर्वाचीन आचार्य नहीं कहा जासकता, जो खीस्ट के सप्तम शतक में माना जाय। हमने इसी ग्रन्थ के परिशिष्ट रूप 'उपसंहार' नामक प्रकरण में उद्योतकर का समय निर्धारित करने का यत्न किया है। हमारी धारणा है, कि वह खीस्ट के द्वितीय शतक का आचार्य है। थोड़ी देर के लिये इसे सप्तम शतक का ही मान लिया जावे, तो भी यह शंकराचार्य आदि के तथाकथित काल से प्राचीन ही मानना पड़ेगा।

सांख्यसप्तति से प्राचीन ग्रन्थों में सांख्यसूत्र—

अभी तक हमने उन ग्रन्थों से सांख्यषडध्यायी सूत्रों के उद्धरणों का उल्लेख किया है, जिनका समय सायण के समीप से लगाकर सांख्यसप्तति के रचनाकाल तक के मध्य में निर्धारित किया जाता है। उन उद्धरणों के सम्बन्ध में यथास्थान हम यह भी निर्देश करते आये हैं, कि अमुक उद्धरण कारिका का क्यों नहीं होसकता, और सूत्र का ही क्यों होसकता है। परन्तु अब हम उन ग्रन्थों से इन सूत्रों के उद्धरणों का निर्देश करेंगे, जो निश्चित ही सांख्यसप्तति की रचना से पूर्व के हैं। इसलिये उन उद्धरणों का कारिका से तुलना करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन और सांख्यसूत्र—

(१६)—महर्षि गौतम प्रणीत न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने सांख्य के सत्कार्य सिद्धान्त को दिखलाते हुए ४।१।४८ सूत्र पर इसप्रकार लिखा है—

"*प्राङ्निष्पत्तेर्निष्पत्तिधर्मकं नाऽसत्, उपादाननियमात्*' ।"

इस सन्दर्भ में प्रारम्भ से 'नासत्' पर्यन्त प्रतिज्ञावाक्य है। उसकी सिद्धि के लिये 'उपादाननियमात्' हेतु दिया गया है। यह हेतुपद सांख्यषडध्यायी के उस प्रकरण का सर्वप्रथम [१।११५] सूत्र है, जिसमें सत्कार्यवाद को सिद्ध किया गया है। इससे स्पष्ट होता है, कि वात्स्यायन ने सत्कार्य की सिद्धि के लिये यहां पर षडध्यायी के सूत्र को ही उद्धृत किया है।

वात्स्यायन मुनि ने ४।१।५० सूत्र की अवतरणिका में इसी सूत्र को पुनः उद्धृत किया है। वह लिखता है—

"यत्पुनरुक्तं प्रागुत्पत्तेः कार्यं नासत्, उपादाननियमात् इति"

इससे भी स्पष्ट होता है, कि वह सांख्यसिद्धान्त-सत्कार्यवाद की पुष्टि के लिये, सांख्य के द्वारा उपस्थापित हेतु का ही यहां निर्देश कर रहा है' और इस अर्थ की सिद्धि के लिये यह हेतु षडध्यायी के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। इसलिये वात्स्यायन के समय में भी षडध्यायी की विद्यमानता को स्वीकार करना अनिवार्य होजाता है।

उक्त उद्धरण के सम्बन्ध में श्री हरदत्त शर्मा M. A. के विचार, तथा उनकी आलोचना—

सांख्य सूत्रों की प्राचीनता के सम्बन्ध में, अखिल भारतीय प्राच्य परिषद [All India Oriental Conference] के १६२८ ईसवी सन् के लाहौर सम्मेलन में हमने एक निबन्ध [1] पढ़ा था। उसी आधार को लेकर श्रीयुत हरदत्त शर्मा M. A. महोदय ने हमारे विचारों के विरुद्ध कुछ उट्टङ्कनाएं की हैं। उनके सम्बन्ध में हम यहां कुछ प्रकाश डाल देना चाहते हैं। वात्स्यायन के उक्त उद्धरण को लेकर शर्मा महोदय ने लिखा [2] है—

"नात्र सांख्यसूत्रेभ्यो वात्स्यायनकृतादानगन्धोऽपि। अपितु विपरीतमेव सुवचम्।"

अर्थात् यहां पर सांख्यसूत्रों से वात्स्यायन के द्वारा कुछ लिये जाने का गन्ध भी नहीं है। अपितु इससे विपरीत कहना ही ठीक होगा। अर्थात् सांख्यसूत्रकार ने ही इस हेतु को वात्स्यायन से लिया है।

अब श्रीयुत शर्मा [3] जी से पूछा जा सकता है, कि आपको वात्स्यायन के सन्दर्भ में तो यह गन्ध नहीं आया, कि यह सूत्र अथवा हेतुपद सांख्यसूत्र से लिया गया है, परन्तु सूत्रकारने वात्स्यायन के सन्दर्भ से यह हेतु लिया है, इसका गन्ध कैसे आगया ? इसके लिये आपकी घ्राणशक्ति इतनी तीव्र कैसे बन गई ? सांख्य के सूत्र में आपको यह गन्ध आजाने का क्या कारण है, आपने कुछ भी निर्देश इसके लिये नहीं किया।

पर अब यह स्पष्ट कर देना युक्त होगा, कि वात्स्यायन के सन्दर्भ में यह हेतुपद, सांख्यग्रन्थ से ही लिया गया है। नैयायिक अथवा गौतममतानुयायी, सत्कार्यसिद्धान्त को स्वीकार

---

[1] यह निबन्ध 'Antiquity of the Samkhya-Sutras' शीर्षक से Proceedings of the 5th Oriental Conference, Lahore, II. PP 855-882 में मुद्रित होचुका है।

[2] सांख्यसप्तति के गौडपाद भाष्य का पूना संस्करण, उपोद्घात पृष्ठ २२। यही उपोद्घात शर्मा जी ने सांख्यतत्त्वकौमुदी के स्वसंपादित संस्करण में भी मुद्रित कराया है।

[3] श्रीयुत शर्मा जी, कुछ ही वर्ष पूर्व स्वर्गवासी हो चुके हैं। हमें खेद है, कि हम अपने अन्य विशेष कार्यों में संलग्न रहने के कारण उनके जीवन काल में ही इस ग्रन्थ को प्रकाशित न कर सके। फिर भी श्रीयुत शर्मा जी के विचारों के अनुयायी जो भी अन्य विद्वान् हैं, उनसे हमारा यह नम्र निवेदन है, कि वे उनके प्रतिनिधि होकर इस पर विचार करें। आलोचना प्रसंग में यदि शर्मा जी के लिये हमसे कोई अनुपयुक्त शब्द प्रयुक्त होगये हों, तो हम दिवंगत आत्मा से क्षमा के प्रार्थी हैं।

नहीं करते, वे आरम्भवादी हैं। उत्पत्ति से पूर्व कार्य की किसी तरह की भी सत्ता को वे स्वीकार नहीं करते। यहां पर वात्स्यायन ने सत्कार्यवाद का अवतरण किया है, अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य असत् नहीं हो सकता, यह पक्ष अथवा सिद्धान्त वात्स्यायन का अपना नहीं है, यह सांख्य का सिद्धांत है। वाचस्पति मिश्र ने भी टीका करते हुए इसी प्रसंग में लिखा है—'*नास-दुत्पद्यते*······'*इत्याचक्षते सांख्याः*'। अब यदि वात्स्यायन उस पक्ष की सिद्धि के लिये उन्हीं आचार्यों के द्वारा उपस्थापित हेतु को यहां निर्दिष्ट करता है, जिन्होंने उस पक्षको स्वीकार किया है, तब तो ठीक है, क्योंकि आगे उस पक्ष का वह प्रत्याख्यान करना चाहता है। और यदि वह अपनी ओर से ही हेतु उपस्थित कर उसका खण्डन करता है, तो दूसरा उसे क्यों मानेगा? दूसरे का खण्डन करने के लिये तो वही बात कही जा सकती है, जो उसने स्वयं प्रथम स्वीकार की हुई हो। ऐसी स्थिति में यदि वात्स्यायन स्वयं ही ऐसे हेतु की उद्भावना करता, और उसका खण्डन करता है, जिसको दूसरे ने नहीं माना, तो उसका कथन अनर्गल और असंगत ही कहा जायगा। इसलिये सिद्ध होता है, कि सांख्यसिद्धान्त के समर्थन के लिये सांख्य-पठित हेतु को ही यहां पर वात्स्यायन ने उद्धृत किया है।

वात्स्यायन के दो सन्दर्भों को हमने उद्धृत किया है। द्वितीय सन्दर्भ के सम्बन्ध में श्रीयुत शर्मा महोदय लिखते हैं—

"यदि[1] 'इति' यह पद परग्रन्थ से उद्धृत वचन का द्योतक है, तो प्रथम सन्दर्भ में 'उपादान-नियमात्' के आगे 'इति' पद का प्रयोग क्यों नहीं है? और यह भी बात है, कि द्वितीय भाष्यखण्ड में 'इति' पद का प्रयोग 'उपादाननियमात्' इतने ही के साथ नहीं है, प्रत्युत 'प्रागुत्पत्तेः कार्यं नासत्, उपादाननियमात्' इतने सन्दर्भ के साथ है। यह सन्दर्भ, वात्स्यायन ने अपने ही पहले वाक्य में कुछ पदों का परिवर्त्तन करके यहां उद्धृत किया है।"

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है, कि हमने कहीं भी ऐसी प्रतिज्ञा नहीं की है कि पर वाक्य के उद्धरण के साथ 'इति' पद का अवश्य ही प्रयोग होना चाहिये। परन्तु यदि किसी उद्धरण के साथ 'इति' पद का प्रयोग किया है, तो वह उस अर्थ को और स्पष्ट ही कर देता है। हम मान लेते हैं, कि वात्स्यायन ने प्रथमवाक्य में कुछ पदों का परिवर्त्तन करके द्वितीय सन्दर्भ लिखा है, परन्तु इसमें यह बहुत ही ध्यान देने की बात है, कि वात्स्यायन ने अपने ही पदों में परिवर्त्तन किया है, पर पद

---

[1] "अत्रोच्यते—इह यदि 'इति' इति पदं परग्रन्थोद्धृतवचनद्योतकं, तर्हि किं नाम वात्स्यायनेन प्रथमे सन्दर्भे [४ । १ । ४८ भाष्ये] 'उपादाननियमात्' इत्यनन्तरं 'इति' इतिपदप्रयोगो न कृतः? अथ च द्वितीये भाष्यखण्डे 'यत्पुनरुक्तं' इत्यादौ 'इति' इतिशब्दस्य सम्बन्धो न केवलं 'उपादाननियमात्' इत्येतावन्मात्रेण' अपि तु 'प्रागुत्पत्तेः कार्यं नासत् उपादाननियमात्' इत्येतावता सन्दर्भेणास्तीति स्फुटमेव। एष चोद्धारो वात्स्यायनेन स्वस्यैव पूर्वोक्तस्य वाक्यस्य किञ्चित्पदपरिवृत्त्या कृत इति।" सांख्यसप्तति गौडपादभाष्य, ओरियण्टल बुक एजेंसी, पूना १९३३, संस्करण का उपोद्घात; पृष्ठ २२।

में नहीं। हेतुपद को वात्स्यायन ने यहां भी उसी रूप में रहने दिया है। दोनों सन्दर्भों की परस्पर तुलना करने से यह स्पष्ट होजाता है, कि परिवर्त्तन केवल प्रतिज्ञापदों में ही किया गया है, हेतुपद में नहीं। क्योंकि प्रतिज्ञापद वात्स्यायन के अपने लिखे हुए हैं, उनमें चाहे जैसा परिवर्त्तन करने का उसको अधिकार है। परन्तु हेतुपद वात्स्यायन की अपनी रचना नहीं है, उसमें वह कुछ भी परिवर्त्तन नहीं कर सकता था, इसीलिये हेतुपद को दोनों स्थलों में उसी आनुपूर्वी के साथ रक्खा गया है। ऐसी स्थिति में प्रतिज्ञा और हेतु दोनों के साथ 'इति' पद का सम्बन्ध होने पर भी हेतुपद के अबाधित स्वरूप को प्रकट करने में उसका सामर्थ्य नष्ट नहीं हो गया। इसप्रकार यह निश्चित होता है, कि 'इति' पद का पूरे सन्दर्भ से सम्बन्ध होने पर भी यह नहीं कहा जासकता, कि यह हेतुपद वात्स्यायन की अपनी रचना है।

इतना ही नहीं, कि प्रतिज्ञापदों में परिवर्त्तन कर देने पर भी हेतुपद को वात्स्यायन ने ही अकेले अबाधित रूप में रक्खा हो, अपितु उद्योतकर ने भी इस प्रकरण में इस हेतुपद का इसी आनुपूर्वी के साथ तीन बार उल्लेख किया है। इसके पूर्व प्रसंगों में भेद होने पर भी हेतु के पदों में कोई परिवर्त्तन नहीं किया गया। यह प्रवृत्ति, निश्चित रूप से इस बात को सिद्ध कर देती है कि इस हेतुपद की यह आनुपूर्वी अवश्य ही किसी सांख्यग्रन्थ की होनी चाहिये, जिसके प्रत्याख्यान के लिये आरम्भवादियों ने इतना बल लगाया है। ये सब बातें प्रमाणित करती हैं, कि वात्स्यायन ने इस हेतुपद को सांख्य से ही लिया है, सांख्य ने वात्स्यायन से नहीं।

यह भी एक ध्यान देने की बात है, कि सांख्यसप्तति में इस हेतु को 'उपादानग्रहणात्' इन पदों के साथ निर्देश किया गया है। सूत्र के 'नियम' पद की जगह ईश्वरकृष्ण ने 'ग्रहण' पद रक्खा है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि छन्दोरचना से बाधित होकर ही ईश्वरकृष्ण ने ऐसा किया है। अन्यथा अर्थ का जो स्वारस्य 'नियम' पद में है, वह 'ग्रहण' में नहीं, इसकी वह उपेक्षा न करता। इससे यह भी प्रमाणित होता है, कि ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा वात्स्यायन[1] प्राचीन आचार्य है। वह सूत्रानुसारी हेतु पद का ही उद्धार कर सकता था, कारिकानुसारी हेतुपद का नहीं। उद्योतकरने भाष्य के अनुसार ही हेतुपद रक्खा है। यद्यपि उद्योतकर, ईश्वरकृष्ण का परवर्त्ती आचार्य है, परन्तु उसने प्रकृत में ईश्वरकृष्ण के पाठ को स्वीकार नहीं किया। यह भी एक ध्यान देने की बात है, कि उद्योतकरने सांख्यकारिका का कहीं भी अपने ग्रन्थ में उल्लेख नहीं किया है। इस बात को विस्तारपूर्वक हम पीछे सिद्ध कर आये हैं, कि कारिकाओं की रचना इन्हीं सूत्रों के आधार पर की गई है।

'उपादाननियमात्' इस उद्धरण के सम्बन्ध में एक आशङ्का और की जासकती है, कि इसके साथ सांख्य अथवा किसी सांख्याचार्य का नामोल्लेख नहीं किया गया है। इसलिये यह

[1] वात्स्यायन का समय इसी ग्रन्थ के परिशिष्ट रूप 'उपसंहार' नामक प्रकरण में निर्धारित किया गया है।

कैसे जाना जा सकता है, कि यह सूत्र यहां सांख्य से ही उद्धृत किया गया है ?

हमारा निवेदन है, कि प्राचीन आचार्य, उद्धरण के साथ नाम निर्देश के अभ्यासी नहीं थे। विशेष रूप से जहां वे अन्य मत का प्रत्याख्यान करते थे, वहां तो प्रायः नामोल्लेख करते ही नहीं थे। उनकी इस प्रवृत्ति में परापमान की संभावना से बचने की रुचि ही कारण कही जा सकती है। वात्स्यायन ने ही प्रकृत भाष्य में अनेक उद्धरण दिये हैं, पर बहुतों [1] के साथ किसी तरह का नामोल्लेख नहीं है। मन्त्र अथवा ब्राह्मण वाक्यों के साथ कहीं २ ऋक् [2] और ब्राह्मण पदों का अवश्य निर्देश कर दिया है।

एक और स्थल पर विरुद्ध हेत्वाभास का उदाहरण देते हुए वात्स्यायन ने [१।२।६ सूत्र पर] लिखा है—

"सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधाद्, अपेतोऽप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्।"

इस पाठ के साथ न तो 'इति' पद लगा हुआ है, और न यहां किसी ग्रन्थ अथवा आचार्य का नामोल्लेख है। इस सन्दर्भ में जिस अर्थ का निर्देश है, वात्स्यायन ने अपनी अगली पंक्तियों में उसका खण्डन किया है। यह निश्चित बात है, कि जो मत उक्त सन्दर्भ में प्रकट किया गया है, वह सांख्य-योग का है। इस प्रसंग में वाचस्पति मिश्र द्वारा किये हुए 'विकार' पद के अर्थ से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। वह लिखता है—

अत्रोदाहरणभाष्यम्-यथा सोऽयं विकार इति। महदहंकारपञ्चतन्मात्रैकादशेन्द्रियभूतसूक्ष्म-महाभूतानि विकाराः[3]।"

तथा वात्स्यायन की ये ही पंक्तियां योग व्यास भाष्य ३। १३ पर उपलब्ध होती हैं। वहां 'सोऽयं विकारः' के स्थान पर 'तदेतत् त्रैलोक्यं' पाठ है। और लिंग सामञ्जस्य के कारण 'अपेतः' के स्थान पर 'अपेतं'। परन्तु उद्योतकर ने इस पाठ की ठीक वही आनुपूर्वी वार्तिक में दी है, जो व्यास भाष्य में है। वस्तुतः इस सन्दर्भ का मूल स्रोत वार्षगण्य का ग्रंथ[4] है। वहां पर भी 'तदेतत् त्रैलोक्यं' ही पाठ है। इस पाठ से वात्स्यायन का पाठभेद सर्वथा नगण्य है। और उस समय तो इस पाठभेद की कुछ स्थिति ही नहीं रह जाती, जब कि उद्योतकर मूल के अनुसार ही पाठ लिखता है। ऐसी स्थिति में यह निश्चित परिणाम निकलता है, कि वात्स्यायन ने इस सन्दर्भ

---

[1] न्यायवात्स्यायनभाष्य, २।१।५६॥ २।१।६३॥ ४।१।५७॥ ४।१।६०॥

[2] न्यायवात्स्यायनभाष्य, ४।१।६१॥

[3] न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृष्ठ २३४। १८९८ ई० सन् का बनारस संस्करण।

[4] सांख्यसप्तति की व्याख्या युक्तिदीपिका में पृष्ठ १७ पर 'तथा च वार्षगणाः पठन्ति' यह लिखकर एक सन्दर्भ उद्धृत किया हुआ है। उसका प्रथम भाग, यही उपर्युक्त सन्दर्भ है। 'वार्षगणाः' और 'वार्षगण्यः' के सम्बन्ध में तथा उक्त सन्दर्भ मूलरूप से वार्षगण्य का ही है, इस सम्बन्ध में, इसी ग्रन्थ के 'प्राचीन सांख्याचार्य' प्रकरण के वार्षगण्य प्रसंग को देखें।

को अवश्य ही व्यासभाष्य अथवा वार्षगण्य के ग्रन्थ से लिया है। परन्तु न इस सन्दर्भ के साथ 'इति' पद का प्रयोग है, और न यहां किसी ग्रन्थ अथवा आचार्य का नामोल्लेख किया गया है; फिर भी इस बात से नकार नहीं किया जा सकता, कि यह सन्दर्भ वात्स्यायन का अपना नहीं है।

ठीक यही स्थिति 'उपादाननियमात्' इस हेतुपद के सम्बन्ध में भी है। वह भी वात्स्यायन की अपनी रचना नहीं कही जा सकती, उसने वह हेतु सांख्यसूत्र से ही उद्धृत किया है। यदि श्रीयुत हरदत्तशर्मा एम्.ए. महोदय के अनुसार यह माना जाय, कि सांख्यसूत्रकार ने ही वात्स्यायन से इस हेतु को लिया है, तो इसको मानने में क्या बाधा हो सकती है, कि 'सोऽयं विकारः' इत्यादि सन्दर्भ को भी व्यास अथवा वार्षगण्य ने वात्स्यायन से लिया है? क्या श्रीयुत शर्मा महोदय इसको स्वीकार करने के लिये तयार होंगे? वस्तुतः यह उनका दुराग्रह मात्र ही होगा। उन्होंने अपने कथन में कोई भी युक्ति या प्रमाण उपस्थित नहीं किया है।

कारिकाओं की रचना के अनन्तर भी सूत्र की इस आनुपूर्वी का अन्य ग्रन्थों में उल्लेख होता रहा है। उद्योतकर का तो अभी पहले निर्देश किया ही जा चुका है। इसके अतिरिक्त समन्तभद्र विरचित आप्तमीमांसा अथवा अष्टसहस्री नामक जैन ग्रंथ का एक लेख इसप्रकार है—

यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत्। मोपादाननियमो भूम्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥४२॥

[पृष्ठ १८८]

इस प्रसंग में भी उत्पत्ति से पूर्व कार्य की असत्ता न स्वीकार किये जाने में 'उपादाननियम' को ही हेतु रूप से उपस्थित किया गया है। समन्तभद्र का समय ख्रीस्ट का षष्ठशतक आधुनिक [1] विद्वानों ने अनुमान किया है।

वात्स्यायन न्यायभाष्य में अन्य सांख्यसूत्र—

(२०) वात्स्यायन मुनि ने अपने न्यायभाष्य में ५।२।६ सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रसंगवश पुनः सांख्यषडध्यायी के दो सूत्रों को निर्दिष्ट किया है। इस सूत्र में 'हेत्वन्तर' नामक निग्रहस्थान का प्रतिपादन किया गया है। इस निग्रहस्थान का उदाहरण देने के लिये वात्स्यायन ने सांख्य के एक वाद को चुना है। सांख्यवादी कहता है—यह सम्पूर्ण व्यक्त अर्थात् दृश्यमान जगत्, एक ही प्रकृति का विकार है। इसकी सिद्धि के लिए वह 'परिमाणात्' हेतु उपस्थित करता है। नैयायिक इस हेतु को अनैकान्तिक बताते हुए कहता है, कि एकप्रकृति रुचक कुण्डल आदि और अनेकप्रकृति घट रुचक आदि, दोनों ही तरह के विकारों का 'परिमाण' देखा जाता है, तब तुम 'परिमाण' हेतु के आधार पर व्यक्त मात्र की एकप्रकृतिकता किसप्रकार सिद्ध कर सकते हो? इस दोष की उद्भावना होने पर सांख्यवादी दूसरा हेतु 'समन्वय' उपस्थित करता है। वह कहता है, कि यह सम्पूर्ण व्यक्त सुख दुःख मोह से समन्वित हुआ २

---

[1] सर्वदर्शनसंग्रह, अभ्यंकर संस्करण की अन्तिम सूचियों के आधार पर।

परिमाण से युक्त देखा जाता है। इसलिये इस व्यक्त का कारण, सुखदुःखमोहात्मक एक ही प्रकृति है। इस प्रसंग में प्रस्तुत वाद की सिद्धि के लिये वात्स्यायन, सांख्य की ओर से दो हेतुओं को उपस्थित करता है, एक 'परिमाणात्' और दूसरा 'समन्वयात्'। हम देखते हैं, कि ये दोनों हेतु, इसी आनुपूर्वी और इसी क्रम से साङ्ख्यषडध्यायी के प्रथम अध्याय के १३० और १३१ वें सूत्र हैं। ये वहां भी इसी अर्थ की सिद्धि के लिये निर्दिष्ट किये गये हैं, जो प्रस्तुत प्रसंग में दिखाया गया है। इससे अत्यन्त स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि वात्स्यायन ने इन हेतु-सूत्रों को सांख्यषडध्यायी से लिया है।

यद्यपि ये दोनों हेतु सांख्यसप्तति [कारिका १५] में भी इसी आनुपूर्वी और क्रम के साथ विद्यमान हैं। परन्तु यह निश्चित मत है, कि वात्स्यायन के समय इन कारिकाओं की सत्ता न थी, और इस मत को भी हम पहले निश्चित रूप से सिद्ध कर चुके हैं, कि इन कारिकाओं की रचना, षडध्यायीसूत्रों के आधार पर ही हुई है। ऐसी स्थिति में वात्स्यायन इन हेतुओं को कारिका से नहीं ले सकता। प्रत्युत इन दोनों का ही आधार षडध्यायी है। इसप्रकार इन कारिकाओं की रचना के पूर्व भी वात्स्यायन ने अपने ग्रन्थ में सांख्यषडध्यायी के तीन सूत्रों को उद्धृत किया है, यह निश्चित होता है।

अन्तिम दो उद्धरणों के सम्बन्ध में हम और भी कारण इस बात के लिए उपस्थित करते हैं, कि वात्स्यायन ने इन हेतुओं को कारिका से नहीं लिया। १५ वीं कारिका में इस हेतु को 'भेदानां परिमाणात्' इस रूप में उपस्थित किया गया है। यहां पर 'भेदानां' यह पद हेत्वर्थ को स्पष्ट करने के लिये कारिकाकार ने स्वयं जोड़ा है। यदि वात्स्यायन, कारिका से इस हेतु को लेता, तो अवश्य वह इसी रूप में इसका निर्देश अपने भाष्य में करता, जैसा कि अन्य शंकर[१] आदि आचार्यों ने किया है, परन्तु वात्स्यायन ने 'भेदानां' पद के अतिरिक्त, हेत्वर्थ को स्पष्ट करने के लिये स्वयं 'विकाराणां' पद का निर्देश किया है। यद्यपि इन दोनों पदों का भावार्थ एक ही है। दोनों ही आचार्यों ने मूल हेतुओं को अविकृत रूप में ही रक्खा है, जो सूत्रों में उपलब्ध हैं।

व्याकरण भाष्यकार पतञ्जलि और सांख्यसूत्र—

व्याकरण महाभाष्य में ४।१।३ सूत्र पर पतञ्जलि मुनि ने लिखा है—

'षड्भिः प्रकारैः सतां भावानामनुपलब्धिर्भवति—अतिसन्निकर्षाद् अतिविप्रकर्षान्मूर्त्यन्तरव्यवधानात् तमसावृतत्वाद् इन्द्रियदौर्बल्याद् अतिप्रमादादिति।

---

[१] वेदान्त सूत्र २।२।१ पर शंकराचार्य लिखता है—

'बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतया···' '···परिमितानां भेदानां मूलाङ्कुरादीनां···' ······बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां परिमितत्वात्···' '···बाह्याध्यात्मिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं···'

इस सन्दर्भ में, वस्तु के विद्यमान होते हुए भी उसकी अनुपलब्धिके कारणों का निर्देश किया गया है। यह एक मानी हुई बात है, कि इन्द्रियों के द्वारा किसी वस्तु के ग्रहण किये जाने अथवा न किये जाने का वर्णन, दर्शनशास्त्र का ही प्रतिपाद्य विषय कहा जा सकता है। व्याकरण शास्त्र का यह अपना विषय नहीं है। व्याकरण केवल शब्द की साधुता असाधुता में प्रमाण कहा जा सकता है। जिसप्रकार दर्शन अथवा साहित्य ग्रन्थों में अनेकत्र, शब्द की साधुता को बतलाने के लिये व्याकरण का उपयोग होता है, यद्यपि वह विषय, दर्शन अथवा साहित्य का अपना नहीं। इसीप्रकार व्याकरण के ग्रन्थों में भी प्रसंगवश अन्य अनेक तन्त्रों के उल्लेख आजाते हैं, यद्यपि वे व्याकरण के अपने प्रतिपाद्य विषय नहीं होते। उनके उल्लेख अवश्य ही उन शास्त्रों अथवा ग्रन्थों के आधार पर होते हैं, जिनके वे प्रतिपाद्य विषय हैं। ठीक इसीतरह महाभाष्य का प्रस्तुत सन्दर्भ भी यहां अन्य किसी ग्रन्थ के आधारपर लिखा गया है, क्योंकि यह दर्शनशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। इसके लिये जब हम दर्शनों की ओर दृष्टि डालते हैं, तो हमें सांख्यषडध्यायी के अतिरिक्त और किसी भी दर्शन में इसका मूल नहीं मिलता। उक्त सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए कैय्यट ने इसकी अवतरणिका में लिखा है—

"इतरो विद्यमानस्यापि लिङ्गस्य सौक्ष्म्यमनुपलब्धिकारणं दर्शयितुमाह—पदार्थमिति।"

इसमे भी यह स्पष्ट हो जाता है, कि पतञ्जलि ने अनुपलब्धि के इन कारणों को किसी दूसरे स्थल से ही लिया है। अन्य दर्शनों में इनका मूल मिलता नहीं, और ईश्वरकृष्ण की सातवीं कारिका इसका मूल इसलिये नहीं कही जा सकती, कि महाभाष्यकार पतञ्जलि, ईश्वरकृष्ण से प्राचीन है, यह बात प्रामाणिक रूप में इतिहास से सिद्ध है। इसलिये अब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि पतञ्जलि के इस लेख के आधार, सांख्यषडध्यायी के प्रथमाध्याय के १०८ और १०९ वें सूत्र हो सकते हैं।

इस सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण विचारणीय बात हमारे सामने आती है। सूत्रों में केवल पांच ही अनुपलब्धि के कारणों का निर्देश किया गया है। परन्तु पतञ्जलि ने उनमें से एक की उपेक्षा करके तथा दो अन्य नये कारणों को मिलाकर, छः कारणों का निर्देश किया है, जब कि ईश्वरकृष्ण की कारिका में अनुपलब्धि के इन कारणों की संख्या आठ हो गई है। संख्या का यह क्रम, उसके काल के क्रम पर एक निश्चित प्रभाव डालता है। इससे यह एक प्रमाणित सिद्धान्त प्रकट होता है, कि सांख्यसूत्र, जिनमें केवल पांच कारणों का निर्देश है, सबसे प्राचीन है। पतञ्जलि और ईश्वरकृष्ण दोनों ही क्रमानुसार उनके अनन्तर हैं। यद्यपि महाभाष्य का उक्त सन्दर्भ किसी का उद्धरण नहीं है, तथापि इसके द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, उसका मूल-स्रोत षडध्यायी के उक्त सूत्र हैं, इतना ही हमारा अभिप्राय है।

इस प्रसंग में यह आशंका करना, कि पतञ्जलिने अन्य किसी चिरन्तन ग्रन्थ के आधार पर इसको लिख दिया होगा, उस समय तक सर्वथा असंगत है, जब तक कि किसी मान्य

चिरन्तन ग्रन्थ में इसका मूल उपलब्ध नहीं होजाता। उपलब्ध होने पर भी दोनों स्थलों की पारस्परिक पूर्वापरता का विवेचन करना तब भी आवश्यक होगा।

इस सम्बन्ध में एक और आशंका यह की जासकती है, कि पतञ्जलिने सांख्यसूत्रों के चार ही कारणों को अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया है, शेष दो कारणों को स्वयं ही उनमें जोड़ा है। ऐसी स्थिति में जिसप्रकार पतञ्जलि दो कारणों की कल्पना कर सकता है, उसी प्रकार शेष चार की भी करसकता है। फिर इसके लेख का कोई आधार माने जाने की क्या आवश्यकता है?

परन्तु यह कहना संगत न होगा, क्योंकि दो और चार कारणों की कल्पना में महान् अन्तर है। चार कारणों की पूर्व उपस्थिति में शेष दो कारणों की कल्पना साधार कही जासकती है। अर्थात् जिस सिद्धान्त को पतञ्जलिने उक्त सन्दर्भ से प्रकट किया है, उसकी सत्ता पहले से विद्यमान है, वह एक दार्शनिक विषय है, पतञ्जलि उसमें केवल कुछ योजना और कर देता है। परन्तु सब कारणों की स्वतन्त्र कल्पना में तो पतञ्जलि ही इस सिद्धान्त का उपज्ञ कहा जायगा, जो कि माना नहीं जासकता। क्योंकि व्याकरण ग्रन्थ में उसका यह लेख निराधार एवं अप्रासंगिक होगा। वस्तुतः पतञ्जलि इस सिद्धान्त का आविष्कर्त्ता नहीं है, क्योंकि यह उसका प्रतिपाद्य विषय नहीं। ये विचार मौलिक रूप में उसे दार्शनिक परम्परा से ही प्राप्त होसकते हैं। अपनी प्रतिभा से उनमें कुछ और योजना कर देना अलग बात है, इसमें मौलिक आधार की सत्ता नष्ट नहीं हो जाती। यदि पतञ्जलि ने दर्शनशास्त्र का ग्रन्थ लिखते हुए यह सन्दर्भ लिखा होता, तो अवश्य उक्त आशंका के लिये अवकाश था, और इन स्थलोंकी पूर्वापरता का निश्चय दुरूह होता, परन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं है। इसलिये पतञ्जलि के लेख का आधार सांख्यसूत्र को मानना युक्तिसंगत है।

आयुर्वेद की उपलभ्यमान चरक संहिता में भी प्रसंगवश अनुपलब्धि के इन कारणों का निर्देश किया गया है। वहां भी आठ कारणों का उल्लेख है। चरकसंहिता का पाठ इस प्रकार है—

"*सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यात् मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः*" [सूत्रस्थान, ११।८]

इस सन्दर्भ के कुछ पद महाभाष्य के पाठ से और कुछ सांख्यकारिका के पाठ से अधिक समानता रखते हैं। इससे प्रतीत होता है, कि उक्त दोनों पाठों के आधार पर ही इस सन्दर्भ की रचना की गई होगी। चरक का समय, ईसा से पूर्व प्रथम शतक का अन्त अथवा द्वितीय शतक का प्रारम्भ, संभावना किया जासकता है। सांख्यसप्तति के रचयिता ईश्वरकृष्ण का समय भी लगभग इसी के समीप अनुमानित [1] होता है। इसलिये इन दोनों स्थलों के पाठों

[1] इसी ग्रन्थ के 'सांख्यकारिका के व्याख्याकार' नामक सप्तम प्रकरण में माठर का समय, ईसवी शतक का प्रारम्भकाल निर्धारित किया गया है, जो सांख्यकारिका का सर्वप्रथम व्याख्याकार है। उससे लगभग सौ सवा सौ वर्ष पूर्व ईश्वरकृष्ण का समय युक्तिसंगत तथा उपयुक्त ही कहा जा सकता है।

की समानता में कोई बाधा नहीं है। यह भी संभव है, कि चरक के तृतीय संस्करण के अवसर पर दृढबल द्वारा सांख्यकारिका के अनुसार यह पाठ बढ़ा दिया गया हो, अन्यथा महाभाष्य के साथ इसका साम्य होना चाहिये था।

सुश्रुतसंहिता और सांख्यसूत्र—

(२२)—सुश्रुतसंहिता शारीर स्थान के प्रथमाध्याय में शरीररचना के विचार से कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। ये सब सिद्धान्त सांख्यषडध्यायी के कुछ सूत्रों के आधार पर ही लिखे गये हैं। हमारा अभिप्राय यह है, कि शरीररचना के आधार का प्रतिपादन करने के लिए सुश्रुतसंहिताकार ने जिन तत्त्वों का उल्लेख किया है, वे सब सांख्य सिद्धान्त के आधार पर ही कहे गये हैं, और वे सिद्धान्त सांख्यषडध्यायी के सूत्रों से ही लिये गये हैं, जैसा कि सुश्रुत के प्रस्तुत प्रकरण के पाठों से निश्चित होता है। वहां का एक पाठ इसप्रकार है—

"*सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणं ... अव्यक्त नाम। अव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव, तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते, स तु त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति, तत्र वैकारिकादहङ्कारात्तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव एकादशेन्द्रियाणि उत्पद्यन्ते;" ...भूतादेरपि तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राणि उत्पद्यन्ते. ... तेभ्यो भूतानि ... .सर्व एवाचेतन एष सर्गः, पुरुषः पञ्चविंशतितमः*"

यह पाठ संहिता के तीसरे सूत्र से आठवें सूत्र तक में आजाता है। इस सन्दर्भ में साथ ही साथ सांख्य सूत्र के मूलपदों की व्याख्या भी कर दी गई है। हमने इस निर्देश में अधिक व्याख्यान अंश को छोड़ दिया है, जितना मूलपदों के साथ सम्बद्ध है, उतना ही यहां लिख दिया है। इस सन्दर्भ के रेखांकित पदों की ओर ध्यान दीजिये। उससे स्पष्ट हो जायगा, कि इन रेखांकित पदों को इकट्ठा कर दें, तो हमारे सामने निम्नलिखित आनुपूर्वी का एक सन्दर्भ दृष्टिगोचर होता है—

"*सत्त्वरजस्तमोलक्षणमव्यक्तम्, अव्यक्तान्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात् एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि, तेभ्यो भूतानि, पुरुषः पञ्चविंशतितमः*"

सुश्रुत के उक्त सन्दर्भ को गम्भीरतापूर्वक पढ़ने से यह निश्चित धारणा होजाती है, कि उस सन्दर्भ में इन संगृहीत पदों को जब हम सांख्यषडध्यायी के १।६१ सूत्र के साथ तुलना करते हैं, तो इनमें एक आश्चर्यजनक समानता दृष्टिगोचर होती है। सूत्र का पाठ इसप्रकार है—

"*सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुषः, इति पञ्चविंशतिर्गणः।*"

इन दोनों सन्दर्भों में उत्पत्ति के क्रम और पदों की अत्यधिक समानता है। थोड़ा सा पदों का भेद, अर्थ की दृष्टि से सर्वथा नगण्य है। एक स्थल पर उत्पत्तिक्रम के निर्देश में विपर्यय दीखता है। सूत्र में अहंकार के कार्यों का निर्देश करते हुए प्रथम पञ्चतन्मात्राओं का और बाद में इन्द्रियों का निर्देश किया गया है। परन्तु सुश्रुत के सन्दर्भ में पहले इन्द्रियों का निर्देश है, और

बाद में पञ्चतन्मात्राओं का। वस्तुतः यह विपरीत निर्देश बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वास्तविक उत्पत्तिक्रम के अनुसार सात्त्विक अहंकार से, प्रथम इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। अनन्तर तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं की। क्रम के इस आधार का ध्यान रखते हुए, सूत्रपठित क्रम अवश्य कुछ शिथिल कहा जा सकता है। प्रतीत होता है, सूत्रकार ने इस सूक्ष्मता की उपेक्षा करके, केवल अहंकार के कार्यों का निर्देश किया है। परन्तु सुश्रुतकार ने क्रम के इस आधार की वास्तविकता को महत्त्व देकर सूत्र के क्रम में यह संशोधन कर दिया है। इसीलिये प्रतीत होता है, भूतों की उत्पत्ति का निर्देश करते समय सुश्रुतकार ने 'तेभ्यः' इस सर्वनाम पद का उपयोग किया है, क्योंकि उसके अभिमतपाठ में 'तेभ्यः' इस पद से अव्यवहित पूर्वपठित 'तन्मात्र' ही हैं, इसलिये सर्वनामपद से उसका परामर्श होने में कोई बाधा नहीं। परन्तु सूत्रकार के अभिमत पाठ में ऐसा होना असम्भव था। इसलिये सूत्रकार को इस स्थल पर 'तन्मात्रेभ्यः, इसप्रकार साक्षात् ही 'तन्मात्र' पद का उल्लेख करना पड़ा। इससे यह परिणाम निकलता है, कि पूर्व से ही विद्यमान सांख्य-सूत्र का सुश्रुतकार ने केवल व्याख्यान ही नहीं किया, प्रत्युत उसमें उपयुक्त संशोधन भी किया है। इस कारण सुश्रुत से पूर्व षडध्यायी की विद्यमानता स्थिर होती है।

१।६१ सूत्र के उक्त क्रम में सुश्रुत ने उपयुक्त संशोधन किया है, इसके लिये एक उपोद्बलक प्रमाण और भी दिया जा सकता है। सुश्रुत से बहुत पूर्व होने वाले सांख्याचार्य देवल ने अपने[1] ग्रन्थ में उक्त सूत्र का उल्लेख किया है। वहां जो पाठ दिया गया है, वह सूत्रानुसारी ही है। अर्थात् उसमें भी तन्मात्राओं का पाठ प्रथम है, और इन्द्रियों का पीछे। इसलिये आगे भी 'तेभ्यः' न पढ़कर 'तन्मात्रेभ्यः' पाठ दिया गया है। इससे सूत्रपाठ की प्राचीनता का और भी निश्चय होता है। तथा इस बात पर प्रकाश पड़ता है, कि सुश्रुत ने इस पाठ में अवश्य संशोधन किया है। इस विपर्यय को साधारण पाठ-भेद नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकरण के प्रारम्भ में ३ और ७ संख्या पर भी हम इस सूत्र का निर्देश कर आये हैं। उन उद्धरणों से भी सूत्रानुसारी मूल पाठ की पुष्टि होती है। यद्यपि उन उद्धरणों में इन्द्रियों का निर्देश नहीं है। इसके विपरीत ५ संख्या पर दिये हुए उद्धरण में सुश्रुतानुसारी पाठ को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार मध्यकालिक साहित्य में दोनों ही प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है, कि १।६१ सूत्र में सूत्रकार ने उद्देश मात्र से ही पदार्थों का निर्देश किया है। परन्तु द्वितीयाध्याय में जहां कार्यकारणभाव के आधार पर इनका निर्देश किया गया है, सूत्रकार ने भी 'एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्' इस १७ वें सूत्र में इन्द्रियों का ही प्रथम निर्देश किया है, तन्मात्रों का पश्चात् किया[2] है। इसलिये

---

[1] देवल के उस ग्रन्थ का इसी प्रकरण में आगे विस्तारपूर्वक निर्देश किया गया है।

[2] 'उपमितिभवप्रपंचा कथा' के उद्धरण [संख्या ५ पर इसी प्रकरण में देखें] में भी यही क्रम निर्दिष्ट किया गया है।

१।६१ सूत्र का सुश्रुत द्वारा परिवर्त्तन भी निराधार नहीं कहा जा सकता। तत्वों के उत्पत्तिक्रम के अनुसार ही इस सूत्र में इन्द्रिय और तन्मात्रों का निर्देश किया गया है। इसलिये सुश्रुत निर्दिष्ट क्रम में, साक्षात् सूत्रकार का अपना लेख भी आधार है ही। इन स्थितियों में निश्चित ही सुश्रुत से पूर्व उक्त सूत्र की स्थिति माननी पड़ती है। फिर जिस ग्रन्थ का वह सूत्र है, उसकी तात्कालिक सत्ता से भी नकार नहीं किया जासकता।

सुश्रुतकार ने इस प्रकरण में सांख्य के और भी कई सूत्रों का उल्लेख किया है। चतुर्थ सन्दर्भ के मध्य में मन का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—'उभयात्मकं मनः'। इसी आनुपूर्वी में यह सांख्यषडध्यायी का २।२६ सूत्र है।

इसी प्रकरण के अष्टम सन्दर्भ में सुश्रुत का पाठ है -

"सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति।"

यह पाठ ३।५९ सांख्यसूत्र के आधार पर लिखा गया प्रतीत होता है। सूत्र का पाठ इस प्रकार है—

"अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य।"

सुश्रुत के पाठ में 'उपदिशन्ति' और 'उदाहरन्ति' क्रियापद इस बात को स्पष्ट करते हैं, कि इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले कोई अन्य आचार्य हैं। प्रस्तुत विषय के अनुसार वे, सांख्याचार्यों से अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकते। इसलिये सांख्यग्रन्थों में ही इन सिद्धान्तों का उपदेश होना चाहिये। सुश्रुतकाल में सांख्यसप्तति की सत्ता ही नहीं थी। तत्त्वसमास और पञ्चशिख आदि के उपलभ्यमान सूत्रों में, उक्त पदों के साथ इस अर्थ का प्रतिपादन उपलब्ध नहीं है। यह केवल षडध्यायी में उपलब्ध होता है। इसलिये सुश्रुत से पूर्व, षडध्यायी की विद्यमानता अनिवार्य है।

नवम सन्दर्भ में सुश्रुत ने पुनः लिखा है—

"एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति।"

प्रकृति के ये धर्म, सांख्यसूत्र १।१२६ के आधार पर बतलाये गये हैं। सूत्र का पाठ है—

"त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः।"

इसप्रकार सुश्रुत के इस प्रकरण में सांख्यषडध्यायी के चार सूत्रों का उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त तत्त्वसमास के भी दो सूत्र इसी प्रकरण के षष्ठ सन्दर्भ में उद्धृत हैं। वे सूत्र हैं—

"अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः।"

ये क्रमशः तत्त्वसमास के, प्रथम और द्वितीय सूत्र हैं। यद्यपि इस प्रकरण में सांख्य-सिद्धान्तानुसार अन्य भी उल्लेख हैं, परन्तु वे संहिताकार के अपने शब्दों में ही प्रकट किये गये हैं। इसलिये हमने उनकी सूत्रों के साथ तुलना करने से उपेक्षा करदी है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता और सांख्यसूत्र—

(२३)—पञ्चरात्र सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रन्थ अहिर्बुध्न्य संहिता में सांख्य का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। प्रसंगानुसार इसका वर्णन पहले भी आचुका है। यहां कुछ ऐसे स्थलों का निर्देश किया जाता है, जिनका पद-विन्यास और अर्थ, षडध्यायीसूत्रों के साथ अत्यधिक समानता रखता है। षष्ठ अध्याय के कुछ श्लोक इसप्रकार हैं—

"सत्त्वं रजस्तम इति त्रिधोदेति क्रमेण तत् ॥ ६ ॥

सत्त्वाद्रजस्तमस्तस्मात्तमसो बुद्धिरुद्गता। बुद्धेरहंकृतिरतस्या भूततन्मात्रपञ्चकम् ॥ १७ ॥

एकादशकमक्षाणां मात्रेभ्यो भूतपञ्चकम्। भूतेभ्यो भौतिकं सर्वमित्ययं सृष्टिसंग्रहः ॥ १८ ॥"

इन श्लोकों में सत्त्वरजस्तमस् रूप प्रकृति तथा उसके बुद्धि आदि तेईस कार्यों का निर्देश किया गया है। यह वर्णन सांख्यषडध्यायी के १।६१ सूत्र के साथ अतिशय समानता रखता है। संख्या (२२) में सुश्रुतसंहिता के एक सन्दर्भ के साथ इसी सूत्र की तुलना करते हुए, हमने प्रकट किया है, कि अहंकार के कार्यों का निर्देश करते समय, सुश्रुतसंहिताकार ने सूत्र के क्रम में कुछ विपर्यय अथवा संशोधन किया है। परन्तु यहां अहिर्बुध्न्य संहिता में हम सूत्रानुसारी क्रम को ही पाते हैं[१]। अर्थात् अहंकार कार्यों में सूत्र के अनुसार प्रथम पञ्चतन्मात्राओं का निर्देश, और बाद में एकादश इन्द्रियों का निर्देश, किया गया है। और इसीलिये स्थूलभूतों की उत्पत्ति, 'मात्रेभ्यः' यह साक्षात् पद लिखकर सूत्रपाठ के अनुसार ही निर्दिष्ट की गई है, जब कि सुश्रुतसंहिता में उसके संशोधित पाठ के अनुसार 'तेभ्यः' इस सर्वनाम पद के द्वारा ही निर्देश किया गया है।

इसके अतिरिक्त अहिर्बुध्न्य संहिता में एक और स्थल पर 'प्रमाण' का निर्वचन किया गया है, जो सांख्यषडध्यायी में निर्दिष्ट 'प्रमाण' लक्षण के साथ अत्यधिक समानता रखता है। संहिता का पाठ इसप्रकार है—

"मितिर्मा गदिता सद्भिः प्रकृष्टा सा प्रमा स्मृता। धीसाधकतमं यत्तत् प्रमाणमिति शब्द्यते ॥

[अध्याय १३। श्लोक २/३, ३/४।]

सांख्यषडध्यायी में प्रमाण का लक्षण इसप्रकार किया गया है—

"असन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत्······प्रमाणम्।" [१।८७]

प्रमाण का लक्षण इस रूप में अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि प्रमाण के जो भी लक्षण जहां तहां किये गये हैं, उनमें अर्थ तो प्रायः वही होता है, जो यहां प्रतिपादन किया गया है, परन्तु पदानुपूर्वी में सर्वत्र ही यत्किञ्चित् विलक्षणता देखी जाती है। फिर भी उक्त दोनों प्रस्तुत स्थलों में पदानुपूर्वी और अर्थ-प्रदर्शन प्रकार की समानता, इस बात को प्रमाणित करती है, कि इन दोनों में से किसी एक ने, दूसरे का आश्रय लिया है। हम इस बात को प्रकट कर चुके

---

१ यद्यपि अहिर्बुध्न्य संहिता के भी ३० वें अध्याय में, जहां उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, इन्द्रियों का ही पाठ प्रथम है, जो सांख्यषडध्यायी २।१७ के अनुसार युक्त है। परन्तु दोनों प्रकार के भूतों की उत्पत्ति को भी वहां संहिताकार ने अहंकार से ही माना है, जो अवश्य चिन्त्य प्रतीत होता है।

हैं, कि संहिता में अनेक स्थलों पर सांख्य का उल्लेख किया गया है। इससे यह बात सिद्ध होती है, कि संहिताकार सांख्य से किसी सीमा तक अवश्य परिचित है। इसप्रकार के एक और सूत्र का भी अभी हम निर्देश कर चुके हैं। इससे यही परिणाम निकलता है, कि प्रमाण का स्वरूप दिखलाने के लिये संहिताकार ने षडध्यायी का ही आश्रय लिया है। संहिता का 'शब्द्यते' क्रियापद इसका और अधिक निश्चय करा देता है।

यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है, कि यद्यपि इसको स्वीकार किये जाने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती, कि संहिताकार से पूर्व ही न्यायादि सूत्रों की भी रचना हो चुकी थी, परन्तु संहिता में सांख्य-योग के अतिरिक्त अन्य किसी दर्शन का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। प्रतीत यह होता है, कि दर्शनसूत्रों की अपेक्षा अर्वाचीन रचना होने पर भी संहिताकार ने अपनी प्राचीनता की प्रतिष्ठा को व्यवस्थित बनाये रखने के लिये, अथवा प्रतिपाद्य विषय के सामञ्जस्य की भावना से अपने ग्रन्थ में केवल सांख्य-योग का ही उल्लेख किया है। इसका अभिप्राय यह निकलता है, कि वह अन्य सब दर्शनों की अपेक्षा सांख्य की प्राचीनता को अपने हृदय में अनुभव करता था। इसीलिये उसके अनेक लेख सांख्य के आधार पर हैं, जब कि वे आधार षडध्यायी के अतिरिक्त और कहीं उपलब्ध नहीं होते। इससे यह एक निश्चित परिणाम निकल आता है, कि इस संहिता से सांख्यषडध्यायी अवश्य प्राचीन है, और यह भी ज्ञात होता है, कि संहिताकार, षडध्यायी की प्राचीनता में स्वयं भी आस्था रखता था।

यद्यपि अहिर्बुध्न्य संहिता का समय अभी तक निश्चित नहीं किया जा सका है, और इसे अधिक प्राचीन भी नहीं कहा जा सकता, फिर भी इसका समय विक्रम से पूर्व समीप की ही शताब्दियों में माना जाना चाहिये। इसके लिये अभी तक कोई भी निश्चायक प्रमाण उपस्थित नहीं किये जा सकते।

देवल और सांख्यसूत्र—

(२४)—वेदान्त ब्रह्मसूत्र १।४।२८ पर भाष्य करते हुए शङ्कराचार्य ने सांख्यसिद्धान्त के विषय में लिखा है—

"देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितः।"

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि देवलने अपने ग्रन्थ में सांख्य-सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। शंकराचार्य की यह साक्षी प्रकट करती है, कि उसने देवल के ग्रन्थ को देखकर ही ऐसा लिखा होगा। यद्यपि इस समय देवल रचित सम्पूर्ण ग्रन्थ कोई भी उपलब्ध नहीं है, परन्तु राजा अपरादित्य ने याज्ञवल्क्य स्मृति की व्याख्या में देवल के ग्रन्थ का कुछ अंश उद्धृत किया है, जो सम्पूर्ण, सांख्य से सम्बन्ध रखता है। राजा अपरादित्य का समय खीस्ट सन का एकादश शतक माना जाता है। संभव है, अपरादित्य ने भी देवल के ग्रन्थ को देखा हो, और उस समय तक वह ग्रन्थ विद्यमान रहा हो। अनन्तर विधर्मियों के आक्रमणों से जहां विशाल ग्रन्थभण्डारों को भस्मसात् किया गया, उनमें यह ग्रन्थ भी नष्ट होगया हो।

याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याकार अपरादित्य ने प्रायश्चित्त प्रकरण के १०६वें श्लोक की व्याख्या करते हुए, देवल के ग्रन्थ को उद्धृत किया है। 'तत्र देवलः—' लिखकर वह ग्रन्थ का निर्देश इसप्रकार करता है—

[1] *"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं सांख्यम्।...एतौ सांख्ययोगौ चाधिकृत्य यैर्युक्तितः समयतश्च पूर्वप्रणीतानि विशालानि गम्भीराणि तन्त्राणि इह संक्षिप्योद्देशतो वक्ष्यन्ते—*

तत्र सांख्यानामेका मूलप्रकृतिः।...षोडश विकाराः। त्रयोदश करणानि।...पञ्च वायुविशेषाः। त्रयो गुणाः। त्रिविधो बन्धः। त्रीणि प्रमाणानि। त्रिविधं दुःखम्। विपर्ययः पञ्चविधः। अशक्तिरष्टाविंशतिधा। तुष्टिर्नवधा, सिद्धिरष्टधा। प्रत्ययभेदाः पञ्चाशत्।.. इति दश मूलिकार्थाः।...प्रकृतेर्महानुत्पद्यते, महतोऽहंकारः, अहंकारात्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च, तन्मात्रेभ्यो विशेषा इत्युत्पत्तिक्रमः।"

इस लेख से प्रतीत होता है, कि देवल के समय में सांख्यशास्त्र पर गंभीर और विशाल ग्रन्थ विद्यमान थे, जिनका संक्षेप करके उसने अपने ग्रन्थ में सांख्यशास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। उसके संक्षेप से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि जहां तक होसका है, उसने उन सिद्धान्तों को मूलग्रन्थ के शब्दों में ही रखने का यत्न किया है। जो सूत्र तत्त्वसमास से, उनकी आनुपूर्वी में विना किसी परिवर्तन के उद्धृत किये प्रतीत होते हैं, वे इसप्रकार हैं—

(१)—*षोडश विकाराः*।२।

(२)—*दश मूलिकार्थाः*।१६।

(३)—*त्रिविधो बन्धः*।१८।

(४)—*त्रिविधं दुःखम्*।२२।

निम्नलिखित सूत्रों में तत्त्वसमाससूत्रों से कुछ अन्तर है, परन्तु अर्थ सामञ्जस्य पर दृष्टि देने से यह अन्तर सर्वथा नगण्य प्रतीत होता है। दोनों की तुलना कीजिये—

तत्त्वसमास	देवल
(१)-*त्रैगुण्यम्*।४।	*त्रयो गुणाः*।
(२)-*त्रिविधं प्रमाणम्*।२१।	*त्रीणि प्रमाणानि*।
(३)-*पञ्च वायवः*।१०।	*पञ्च वायुविशेषाः*।

निम्नलिखित सूत्र, जो देवल के सन्दर्भ में उल्लिखित हैं, सांख्यषडध्यायी सूत्रों से अक्षरशः समानता रखते हैं—

(१)-*अशक्तिरष्टाविंशतिधा*।३।३८।

[1]—अपरार्का टीका में उद्धृत देवल के सम्पूर्ण ग्रन्थ का यहां उल्लेख न कर हमने आवश्यक अंश को ही लिखा है। सम्पूर्ण उद्धृत ग्रन्थ, अष्टम प्रकरण के 'देवल' प्रसंग में देखें।

(२)-तुष्टिर्नवधा । ३।३६ ।

(३)-सिद्धिरष्टधा । ३।४० ।

तत्त्वसमास में ये सूत्र विपरीत आनुपूर्वी के साथ उपलब्ध होते हैं—

(१)-अष्टाविंशतिधा ऽ शक्तिः ।

(२)-नवधा तुष्टिः ।

(३)-अष्टधा सिद्धिः ।

इस आनुपूर्वी में उद्देश्य और विधेय को उलट कर लिखा गया है। इसप्रकार यह आनुपूर्वी इस धारणा को अत्यन्त स्पष्ट कर देती है, कि देवल ने इन सूत्रों को सांख्यषडध्यायी से ही लिया है। देवल के ग्रन्थ में उद्धृत निम्नलिखित सूत्र भी, सांख्यषडध्यायी सूत्रों के साथ अत्यधिक समानता रखते हैं—

सांख्यषडध्यायी	देवल
(१)-विपर्ययभेदाः पञ्च ।३।३७।	विपर्ययः पञ्चविधः ।
(२)-करणं त्रयोदशविधम् ।२।३८ ।	त्रयोदश करणानि ।
(३)-प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः, अहंकारात् पञ्च तन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि ।१।६१ ।	प्रकृतेर्महानुत्पद्यते, ततोऽहंकारः अहंकारात् तन्मात्राणीन्द्रियाणि च तन्मात्रेभ्यो विशेषाः ।
(४) अध्यवसायो बुद्धिः । २।१३ ।	अध्यवसायलक्षणो महान् बुद्धिः ।
(५) अभिमानोऽहंकारः ।२।१६ ।	अभिमानलक्षणोऽहंकारः ।

याज्ञवल्क्य स्मृति पर अपरादित्य की व्याख्या में उद्धृत देवल के सम्पूर्ण सन्दर्भ को हमने यहां निर्दिष्ट नहीं किया है। यहां केवल उतना ही अंश दिखाया गया है, जो सूत्रों के साथ साक्षात् समानता रखता है। शेष भाग अन्य अनेक सूत्रों के आशय को लेकर ही लिखा गया प्रतीत होता है। कुछ भाग यहां निर्दिष्ट सूत्रों की व्याख्या मात्र है, इसलिये उसकी तुलना करने से उपेक्षा कर दी गई है। इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है, कि देवल के समय में सांख्यषडध्यायी ग्रन्थ विद्यमान था।

कुछ विद्वानों का यह विचार हो सकता है, कि सांख्यसूत्रकार ने ही देवल के ग्रन्थ से इन वाक्यों को अपने ग्रन्थ में ले लिया होगा। इसलिये सूत्रों की प्राचीनता में सन्देह ही रहता है।

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है, कि देवल ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है, कि मैं पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के आधार पर ही सांख्य सिद्धान्तों का कथन कर रहा हूं। उनको ही मैंने संक्षेप करके उद्देश रूप में लिख दिया है। यह एक विशेष ध्यान देने की बात है, कि देवल ने जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया है, उसको यहां उसने 'तन्त्र' लिखा है, जो 'षष्टितन्त्र' की ओर हमारा

ध्यान आकृष्ट करता है। यह प्रथम लिखा जा चुका है, कि सांख्यषडध्यायी का ही दूसरा नाम 'षष्टितन्त्र' है। ऐसी स्थिति में देवल का सन्दर्भ, अवश्य किसी सांख्यग्रन्थ के आधार पर होना चाहिये।

यह कहना, कि देवल के लेख का आधार और कोई ग्रन्थ रहा होगा, केवल कल्पना-मूलक ही कहा जासकता है। जब तक इसके अन्य आधार को उपस्थित न किया जाय, उक्त विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता। भारतीय परम्परा तथा अन्य कारणों से भी षडध्यायी की कपिल-प्रणीतता को सिद्ध किया जा चुका है। इसलिये देवल के ग्रन्थ का आधार, षडध्यायी ही निर्बाध रूप से कही जा सकती है। आधुनिक अनेक विद्वान ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति को ही सांख्य का प्राचीन ग्रन्थ कहते हैं। उन्हें देवल के उक्त संदर्भ को आंखें खोल कर देखना चाहिये। वे अपने विचार प्रकट करते समय इस बात को भी भूल जाते हैं, कि सांख्यसप्तति स्वयं, एक अन्य ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है। उसको किस प्रकार सर्वापेक्षया सांख्य का प्राचीन ग्रन्थ माना जा सकता है?

देवल के ग्रन्थ का आधार, सांख्यसप्तति को कहना तो सर्वथा उपहासास्पद होगा। देवल, ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन आचार्य है। इसके लिये कुछ प्रमाणों का हम यहां उल्लेख करते हैं।

(क) सांख्यसप्तति की ७२ वीं आर्या में ईश्वरकृष्ण लिखता है, कि यह षष्टितन्त्र मुझ तक गुरु शिष्य--परम्परा द्वारा प्राप्त हुआ है। सांख्यसप्तति का व्याख्याकार आचार्य माठर उस गुरुशिष्यपरम्परा को निम्नरीति पर स्पष्ट करता है।

"कपिलादासुरिणा प्राप्तम्...... । ततः पंचशिखेन, तस्माद् भार्गवोलूकवाल्मीकिहारीत-देवलप्रभृतीनागतम्। ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्।"

माठर के इन शब्दों से यह नहीं कहा जा सकता, कि ईश्वरकृष्ण का समय देवल के ठीक अनन्तर ही था। क्योंकि देवल के आगे लगा हुआ 'प्रभृति' पद इस बात को स्पष्ट कर देता है, कि देवल और ईश्वरकृष्ण के बीच में भी अनेक सांख्याचार्य हो गये हैं, जिनका इस परम्परा में उल्लेख नहीं है। माठर के अनुसार कपिल-आसुरि-पञ्चशिख की अविच्छिन्न परम्परा के अतिरिक्त भार्गव, उलूक, बाल्मीकि, हारीत और देवल इन पांच सांख्याचार्यों का साक्षात् नाम निर्देश किया गया है। सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका व्याख्या में जनक, वसिष्ठ, हारीत, बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर (अथवा-ऋषभ, ईश्वर) पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि, वार्षगण्य, कौण्डिन्य और मूक इन बारह तेरह सांख्याचार्यों के नामों का उल्लेख किया गया है। इनमें केवल हारीत ऐसा नाम है, जिसका उल्लेख माठर ने भी किया है। सांख्यसप्तति की जयमंगला नामक व्याख्या में गर्ग और गौतम[1] इन दो सांख्याचार्यों का और उल्लेख मिलता है। युक्ति-

[1] इन सब आचार्यों का उल्लेख हमने प्रसंगानुसार इसी ग्रन्थ के द्वितीय तथा सप्तम प्रकरण में भी किया है। कुछ विशेष निर्देश उन स्थलों से भी मालूम किये जा सकते हैं।

दीपिकाकार ने सांख्यमत को स्वीकार करने वाले आचार्यों में नारायण, मनु और द्वैपायन इन तीन नामों का और उल्लेख किया है।

सांख्यकारिका के व्याख्याग्रन्थों के अतिरिक्त, साहित्य में अन्यत्र भी प्रसंगवश अन्य अनेक आचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है। जैगीषव्य, जनक और पराशर का उल्लेख बुद्धचरित [१२। ६७] में किया गया है। जनक का नाम युक्तिदीपिका में भी है। महाभारत (१२। ३२३ ५९-६२) में भी अन्य अनेक सांख्याचार्यों के नामों का उल्लेख है। इससे यह निश्चित सिद्धान्त प्रकट होता है, कि देवल और ईश्वरकृष्ण के मध्य में अन्य अनेक सांख्याचार्यों का होना सर्वथा संभव है। इसलिये ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा देवल की प्राचीनता सुतरां सिद्ध है। ऐसी स्थिति में सांख्यसप्तति को, देवल के ग्रन्थ का आधार मानना सर्वथा असंगत तथा असंभव है।

(ख)—देवल की प्राचीनता का एक और प्रबल प्रमाण यह है, कि महाभारत में अनेक स्थलों पर उसका उल्लेख आता है। और सांख्य के साथ उसका सम्बन्ध प्रकट होता है।

महाभारत आदिपर्व, अध्याय[1] ६७ श्लोक २५ में देवल के पिता का नाम प्रत्यूष ऋषि उपलब्ध होता है।

सभापर्व [४।१६] में, युधिष्ठिर के सभा-प्रवेश के समय अनेक ऋषियों का सभा में उपस्थित होना बताया गया है। उनमें देवल का उल्लेख भी है। इस प्रसंग में देवल के साथ 'असित' पद का भी निर्देश है। असित, इसी का नामान्तर अथवा विशेषण के रूप मे प्रयुक्त होता है। शान्तिपर्व [२८१। १] में भी देवल के साथ असित पद का प्रयोग है। आदिपर्व [१। १२५] में भी इसका उल्लेख है। सभापर्व के इस प्रसंग की वास्तविकता विचारणीय है।

शल्यपर्व [५१। ७] में वर्णन है, कि देवल ने जैगीषव्य के योग-प्रभाव को देखकर गार्हस्थ्यधर्म को छोड़ा, और संन्यासधर्म स्वीकार किया।

शान्तिपर्व अध्याय २३६ में जैगीषव्य ने देवल को जितेन्द्रियता, रागद्वेषराहित्य, मानापमान में समता आदि गुणों का उपदेश किया है, और इससे ब्रह्म की प्राप्ति बताई है।

शान्तिपर्व अध्याय २८१ में नारद-देवल संवाद का निरूपण है। नारद के पूछने पर देवल ने भूतों के उत्पत्ति-प्रलय का वर्णन किया है। उपसंहार मे पुण्यपापक्षयार्थ सांख्य[2] ज्ञान का विधान बताया है। इस अध्याय में अन्य भी अनेक वर्णन सांख्यसिद्धान्तों के अनुसार हैं। इससे सांख्य के साथ देवल का सम्बन्ध निश्चित होता है।

भगवद्गीता (१०। १३) में भी देवल का उल्लेख है। इन सब प्रमाणों से यह निश्चित

---

[1] अध्याय और श्लोकों के निर्देश हमने, निर्णयसागर प्रेस बम्बई में मुद्रित, तथा टी० आर० कृष्णाचार्य व्यासाचार्य द्वारा सम्पादित, महाभारत के 'कुम्भघोणं' संस्करण के आधार पर किये हैं।

[2] "पुण्यपापक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते। तत्क्षये ह्यदि पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम्॥"
[शान्तिपर्व २८१। ३८]

होता है, कि देवल, ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन आचार्य था। इसलिये यह असम्भव है, कि देवल अपने ग्रन्थ में ईश्वरकृष्ण को उद्धृत करे।

(ग)—इसके अतिरिक्त, देवल के उपर्युक्त उद्धरणों में कोई ऐसा लेख नहीं है, जिसकी किसी प्रकार की समानता, ईश्वरकृष्ण के किसी लेख के साथ प्रकट की जा सके। सांख्यषडध्यायी-सूत्र तथा तत्त्वसमास के साथ, देवल के उद्धृत सन्दर्भ की समानता का निर्देश, अभी पहले किया जा चुका है।

इसप्रकार देवल के उल्लिखित पूर्वोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होजाता है, कि देवल ने इन सांख्यसिद्धान्तों का संक्षेप, सांख्यषडध्यायी और तत्त्वसमास के आधार पर ही किया है, जो उसके सामने विद्यमान थे। इनमें से तत्त्वसमास, सांख्यषडध्यायी का विषय-सूचीमात्र है! इसलिये सांख्यषडध्यायी की प्राचीनता निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है।

अपरादित्य की व्याख्या के अतिरिक्त, देवल का उक्त सन्दर्भ कृत्यकल्पतरु[1] नामक ग्रन्थ के मोक्षकाण्ड में भी उपलब्ध होता है। दोनों स्थलों के पाठों में कोई अन्तर नहीं है, इससे देवल के ग्रन्थ की प्रामाणिकता पुष्ट होती है। इस प्रसङ्ग में ऐसा सन्देह नहीं किया जासकता, कि इन दोनों में से किसी एक ने दूसरे के ग्रन्थ से ही इस सन्दर्भ को प्रतिलिपि कर लिया होगा। क्योंकि दोनों स्थलों पर सन्दर्भ की कुछ न्यूनाधिकता है। एक के द्वारा दूसरे की प्रतिलिपि की-जाने पर ऐसा न हो सकता था। इससे अवगत होता है, कि इन दोनों ग्रन्थकारों ने मूलपाठ से ही अपनी इच्छा से प्रसङ्गानुसार पाठों को उद्धृत किया है। इसी ग्रन्थ के अष्टम प्रकरण के देवल प्रसङ्ग में उसके सब सन्दर्भ प्रस्तुत किये गये हैं।

मैत्र्युपनिषद् और सांख्यसूत्र—

(२४) मैत्र्युपनिषद् [६।१०] में पाठ है—"*प्राकृतमन्नं त्रिगुणभेदपरिणामत्वाद् महदाद्यं विशेषान्तं लिङ्गम्*"

उपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण में प्रकृति पुरुष के भोग्य भोक्तृत्व का वर्णन है। उपर्युक्त वाक्य में कहा है, कि प्रकृति के विकार, पुरुष के अन्न हैं। तीन गुणों [सत्त्व, रजस्, तमस्] के विशेष परिणामों से ही ये विकार अपने स्वरूप का लाभ करते हैं। ये हैं, महत् से लगाकर विशेष पर्यन्त। ये सब पदार्थ पुरुष के भोज्य हैं। इसी प्रसङ्ग को षडध्यायीसूत्रों में इसप्रकार कहा है—

"*गुणपरिणामभेदान्नानात्वम्।*" [सांख्यदर्शन, २।२७]

इन दोनों की तुलना से स्पष्ट होता है, कि उपनिषत्कार ने इन सूत्रपदों को लेकर ही उक्त पंक्ति लिखी है। '*महदाद्यं विशेषान्तं*' पद भी सांख्य में प्रतिपादित पदार्थों के उत्पत्तिक्रम की ओर

---

[1] गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा से ईसवी सन् १९४५ में प्रकाशित। इस ग्रन्थ का रचयिता भट्ट श्री लक्ष्मीधर है। देवल का प्रस्तुत सन्दर्भ मोक्षकाण्ड के १००—१०१ पृष्ठ पर देखें।

संकेत कर रहे हैं। 'महत् से लेकर विशेष पर्यन्त' यह कथन तभी हो सकता है, जब इनका कोई व्यवस्थित क्रम हो। सांख्य में सर्वप्रथम कार्य 'महत्' तथा अन्तिम विकार 'विशेष' अर्थात् स्थूलभूत बताये गये हैं। सांख्य की इस उत्पाद क्रम की विशिष्ट प्रक्रिया को हृदय में रखकर ही उपनिषत्कार उपर्युक्त पंक्ति लिख सका है। उत्पत्ति का यह क्रम सांख्य के [१।६१] सूत्र में निर्दिष्ट है। इस प्रसंग से उपनिषत्कार की अपेक्षा, सांख्यसूत्रों की स्थिति पूर्वकाल में स्थिर होती है।

'षष्टितन्त्र' और 'सांख्यवृद्धाः' पदों से उद्धृत सांख्यसूत्र—

(२६) —इसी ग्रन्थ के द्वितीय प्रकरण में इस मत को निर्धारित किया गया है, कि मूल षष्टितन्त्र का रचयिता कपिल है। तथा उसी मूल षष्टितन्त्र के आधार पर लिखे गये पञ्चशिख, वार्षगण्य आदि के ग्रन्थ भी इसी नाम से व्यवहृत होते रहे हैं। सांख्यसप्तति की माठर व्याख्या में षष्टितन्त्र के नाम से एक वाक्य उद्धृत मिलता है। गौडपाद ने भी माठर का अनुकरण करते हुए अपने भाष्य में उस वाक्य को लिखा है। माठर लिखता है—

"*अपि चोक्तं षष्टितन्त्रे—पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते।*" [कारिका १७]

इसी स्थल पर गौडपाद लिखता है—

"*तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे—पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते।*"

हम देखते हैं, कि इसी अर्थ को प्रतिपादन करने वाला, प्रायः इन्हीं पदों के साथ एक सूत्र षडध्यायी में उपलब्ध होता है। सूत्र इसप्रकार है—

"*तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्।*" [सां० सू० १।९६]

सूत्र की रचना और अर्थ के आधार पर प्रतीत होता है, कि माठर के उक्त उद्धरण का आधार यह सूत्र ही हो। यद्यपि मूलसूत्र और उद्धृत वाक्य, दोनों का आशय समान है, परन्तु सूत्र में कुछ अधिक अर्थ का कथन है। फिर भी उस आशय को यदि हम प्रकट करें, तो अवश्य उन शब्दों में कर सकते हैं, जिनमें माठर ने किया है, और जो सूत्र के साथ कुछ समानता भी रखते हैं। यह बात उस समय अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है, जब हम सांख्यसूत्रों की अनिरुद्धकृत व्याख्या में, इस सूत्र की अवतरणिका को देखते हैं। अनिरुद्ध लिखता है—

"*चेतनाधिष्ठानं विना नाचेतनं प्रवर्तते इत्याह—।*"

इस अवतरणिका का रचनाक्रम, षष्टितन्त्र के नाम से उद्धृत उपर्युक्त वाक्य के साथ अत्यधिक समानता रखता है। अनिरुद्ध ने अपनी रचना में, अर्थ को प्रबल रूप में प्रकट करने के लिये दो निषेधार्थक पदों ['विना' और 'न'] का अधिक प्रयोग किया है। यदि इन पदों को अप्रयुक्त समझा जाय, तो दोनों वाक्यों की रचना एक हो जाती है। माठर के 'पुरुष' और 'प्रधान' पदों की जगह पर अनिरुद्ध 'चेतन' और 'अचेतन' पदों का प्रयोग करता है। यह भेद, भेद नहीं कहा जा सकता। यह निश्चय है, कि अनिरुद्ध ने उक्त पंक्ति, षडध्यायीसूत्र के भावार्थ को लेकर ही लिखी है। इसीलिये वह आगे 'इत्याह' कहकर उक्त सूत्र का अवतरण कर रहा है। ठीक इसी

तरह, प्रतीत होता है– माठर ने भी षडध्यायी के इसी सूत्र के भावार्थ को लेकर षष्टितन्त्र के नाम से उपर्युक्त पंक्ति लिखी हो। यह भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि अनिरुद्ध की पंक्ति का आधार, माठर का लेख नहीं है। अनिरुद्ध की अपेक्षा माठर के अतिप्राचीन होने पर भी इस बात के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, कि अनिरुद्ध ने अपनी पंक्ति माठर के लेख को देख कर लिखी है। फिर भी दोनों की एक समान रचना, दोनों के किसी एक ही आधार-स्रोत का अनुमान कराती है, और वह स्रोत षडध्यायी का उक्त सूत्र ही कहा जा सकता है।

संस्कृत साहित्य में प्रायः यह देखा जाता है, कि अनेक आचार्य, दूसरे आचार्यों की उक्तियों के भावार्थ को लेकर अपनी वाक्यरचना को भी कभी २ उन्हीं के नाम पर उद्धृत कर देते हैं, जिनकी उक्तियों के भावार्थ को उन्होंने लिया है। प्रतीत यह होता है, कि अन्य ग्रन्थ को उद्धृत करते समय, अनेक बार वे उस ग्रन्थ को देखकर उद्धरण का उल्लेख नहीं करते, अपितु अपनी स्मृति शक्ति के आधार पर ही उन वाक्यों को लिख देते हैं। विपर्यय से कभी २ उन वाक्यों में ऐसे पदान्तरों का भी प्रयोग होजाता है, जो मूलग्रन्थ में नहीं होते। परन्तु वे वाक्य, उद्धृत उन्हीं के नाम पर कर दिये जाते हैं, जिनके मूलग्रन्थ से उन्हें लिया गया होता है।

प्रस्तुत उद्धरण के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। इसप्रकार यह उद्धरण हमको इस निश्चय पर ले जाता है, कि वर्त्तमान षडध्यायी के सूत्रों को षष्टितन्त्र के नाम पर भी उद्धृत किया जाता रहा है। इसी ग्रन्थ के तृतीय प्रकरण में हम इस बात को सिद्ध कर आये हैं, कि सांख्यषडध्यायी का ही दूसरा नाम षष्टितन्त्र है जो सांख्य का मौलिक ग्रन्थ है। यद्यपि पञ्चशिख वार्षगण्य आदि प्राचीन आचार्यों की रचनाएं भी इसी ग्रन्थ के विषयों को आधार बनाकर लिखी गई होने के कारण लोक में षष्टितन्त्र नाम से ही व्यवहृत होती रहीं।

अब हम यहां पर कुछ ऐसे उदाहरणों का निर्देश कर देना चाहते हैं, जिनसे यह निश्चित हो जाता है, कि अन्य आचार्यों के वाक्यों को, वाक्य में कुछ परिवर्तन होजाने पर भी, उन्हीं आचार्यों के नाम पर उद्धृत किया जाता रहा है, जिनके ग्रन्थ से उस मूलवाक्य को लिया गया है। तथा कहीं २ ग्रन्थ के नाम पर ही ऐसे वाक्य उद्धृत कर दिये गये हैं।

(क)—हरिभद्र सूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नकृत 'तर्क-रहस्य दीपिका' नामक व्याख्या में, सांख्यमत प्रदर्शन परक ४१ वें श्लोक की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने लिखा है।

'आह च पतञ्जलिः —शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते इति।

हम देखते हैं, कि पतञ्जलि का कोई भी पाठ इस आनुपूर्वी में उपलब्ध नहीं है। पातञ्जल योग सूत्रों में एक सूत्र इसप्रकार उपलब्ध होता है।

"द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।" [२।२०]

इस सूत्र का सर्वात्मना आशय गुणरत्नने अपने ग्रन्थ में प्रकट किया है। प्रतीत होता

है, गुणरत्न ने यह आशय निश्चित ही व्यासभाष्य से लेकर लिखा है। क्योंकि इस सूत्र पर भाष्य करते हुये व्यास लिखता है—

"शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते।"

व्यासभाष्य के इस सन्दर्भ में 'असौ' पद के स्थान पर 'पुरुषः' पद रखकर और 'प्रत्ययानुपश्यः' इन सूत्र पदों को हटाकर केवल व्याख्याभाग का ही गुणरत्नने उल्लेख किया है। यदि यह मान लिया जाय, कि गुणरत्न ने साक्षात् व्यासभाष्य को ही उद्धृत किया है, तो भी उसे पतञ्जलि की उक्ति कहना सर्वथा असंगत होगा। अतः वस्तुस्थिति यही है, कि पतञ्जलि के सूत्र का ही सर्वात्मना आशय होने के कारण, इसको पतञ्जलि की उक्ति कह दिया गया है। क्योंकि इस अर्थ का वास्तविक एवं मौलिक आधार पतञ्जलि का ही सूत्र है।

(ख)—इसी प्रकार उक्त ग्रन्थ में ही ४३वें पद्य की व्याख्या करते हुये गुणरत्न पुनः लिखता है—

"ईश्वरकृष्णस्तु—'प्रतिनियताध्यवसायः श्रोत्रादिसमुत्थोऽध्यक्षम्' इति प्राह।"

हम देखते हैं, कि ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति में प्रत्यक्ष का लक्षण इस आनुपूर्वी के साथ उपलब्ध नहीं होता। वहां केवल 'प्रतिविषयाऽध्यवसायो दृष्टम्' [का० ५] इतना ही पाठ है। फिर भी यह निश्चित है, कि गुणरत्न का उक्त लेख, इसी कारिका के आधार पर लिखा गया है। इसलिये उसके उद्धरण में असामञ्जस्य की उद्भावना नहीं की जासकती।

(ग) इसी ग्रन्थ के न्यायमतप्रदर्शनपरक २४वें पद्य की, व्याख्या करते हुए गुणरत्न लिखता है—

तथा च नैयायिकसूत्रम्—आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदेन द्वादशविधं तदिति प्रमेयम्।"

हम देखते हैं, कि गौतम के न्यायसूत्रों में इस आनुपूर्वी का कोई भी सूत्र नहीं है। प्रत्युत १।१।९ संख्या पर जो सूत्र उपलब्ध है, उसका पाठ केवल—

" आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् "

इतना ही है। गुणरत्न के उद्धृत पाठ में कुछ पाठ अधिक है। फिर भी उसने 'नैयायिकसूत्रम्' कहकर ही उसको उद्धृत किया है। यह निश्चित है, कि उसका उक्त लेख, इस न्यायसूत्र के आधार पर ही है।

(घ) सांख्यसप्तति की ५वीं आर्या की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में लिखा है—

"तथा चावट्यजैगीषव्यसंवादे भगवान् जैगीषव्यो दशमहाकल्पवर्त्ति जन्मस्मरणमात्मन उवाच—'दशसु महाकल्पेषु विपरिवर्त्तमानेन मया—' इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण।"

वाचस्पति मिश्र के लेख से यह प्रतीत होता है, कि आवटय—जैगीषव्य संवाद में जैगीषव्य ने जो कथन किया है, उसका आदि-भाग 'दशसु महाकल्पेषु विपरिवर्त्तमानेन मया' यह होना चाहिये। क्योंकि वाचस्पति स्वयं 'इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण' लिख रहा है। अतः यह अवश्य ही किसी ग्रन्थ का सन्दर्भ होना चाहिये, जिसके प्रारम्भिक पद उपर्युक्त हों। सांख्यतत्त्वकौमुदी के इस लेख की व्याख्या करते हुए बालराम उदासीन ने लिखा है—

"केन वचनेनेत्याचार्याकांक्षायां योगभाष्य [पा० ३, सू० १८] स्थितं तद्वचनमाह—दशसु महाकल्पेषु—इति।"

इससे प्रतीत होता है, कि ३। १८ सूत्र पर योगभाष्य में जो आवटय जैगीषव्य के संवाद का उल्लेख है, वहीं से जैगीषव्य के कथन को वाचस्पति मिश्र ने यहां उद्धृत किया है। परन्तु योगभाष्य के उक्त सन्दर्भ में हम इस पाठ को वाचस्पतिनिर्दिष्ट आनुपूर्वी के अनुसार नहीं पाते। वहां पाठ इसप्रकार है—

"दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन"

इन दोनों पाठों में भेद होने पर भी आशय एक है, यद्यपि योगभाष्य में कुछ अधिक अर्थ का प्रतिपादन है। इस सम्बन्ध में यह भी नहीं कहा जा सकता, कि वाचस्पति के लेख का कोई अन्य ग्रन्थसन्दर्भ आधार होगा। क्योंकि इसप्रकार का सन्दर्भ और कोई भी उपलब्ध नहीं है। यद्यपि वाचस्पति मिश्रने अपने लेख में योगभाष्य का नाम नहीं लिया है, परन्तु उसके 'ग्रन्थसन्दर्भ' पद प्रयोग के आधार पर बालराम उदासीन ने उस अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। इसलिये यह निश्चित है, कि वाचस्पति के उक्त लेख का आधार योगभाष्य स्थित सन्दर्भ ही हो सकता है।

हमने उद्धरणों के ये कुछ ऐसे उदाहरण उपस्थित किये हैं, जो अपने मूलग्रन्थों में उसी आनुपूर्वी के साथ उपलब्ध नहीं होते। फिर भी उन नामों पर वे उद्धरण ठीक हैं, उनमें कोई अप्रामाण्य नहीं समझा जाता। माठर और गौडपाद व्याख्याओं में षष्टितन्त्र नाम से उद्धृत षडध्यायी सूत्र की भी यही स्थिति है। इससे षडध्यायी के षष्टितन्त्र अपर नाम होने पर भी प्रकाश पड़ता है, और इसकी प्राचीनता को भी प्रमाणित करता है।

इस बात को हम अनेक बार लिख चुके हैं, कि पञ्चशिख आदि के ग्रन्थों के लिये भी 'षष्टितन्त्र' पद का प्रयोग होता रहा है। प्रस्तुत प्रसंग में यह अधिक संभव है, कि षष्टितन्त्र नाम से उद्धृत उक्त सूत्र, पञ्चशिख के ग्रन्थ का हो। पञ्चशिख का ग्रन्थ, कपिलप्रणीत मूल षष्टितन्त्र का व्याख्यारूप ही था, इसलिये यह संभव हो सकता है, कि षष्टितन्त्रापरनाम षडध्यायी के [१।९६] सूत्र का व्याख्यानभूत ही यह पञ्चशिख का सूत्र हो, जिसको माठर ने अपनी वृत्ति में उद्धृत किया है। पञ्चशिख और अनिरुद्ध दोनों ही अपने २ समय में इस सूत्र के व्याख्याकार

हैं। दोनों के समय का अत्यधिक अन्तर होने पर भी व्याख्यान में आश्चर्यजनक समानता है। यदि इस बात को ठीक माना जाय, कि 'पुरुषाधिष्ठित प्रधानं प्रवर्त्तते' यह पञ्चशिख का सूत्र है, और षडध्यायी [१।१६] सूत्र की व्याख्या के रूप में लिखा गया है, तो भी षडध्यायीसूत्र की प्राचीनता व कपिलप्रणीतता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

(२७)—सांख्यसप्तति की अन्यतम व्याख्या युक्तिदीपिका के १२३ पृष्ठ की ९—१० पंक्तियों में एक लेख इसप्रकार उपलब्ध होता है—

"एवं हि सांख्यवृद्धा आहुः—आहङ्कारिकाणीन्द्रियाण्यर्थं साधयितुमर्हन्ति नान्यथा।"

इस उद्धृत वाक्य का स्पष्ट अर्थ यह है, कि इन्द्रियां, आहङ्कारिक होने पर ही अर्थ को सिद्ध कर सकती हैं, भौतिक होने पर नहीं। षडध्यायी में यही अर्थ निम्नलिखित सूत्र से प्रतिपादित किया गया है।

"आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि" [२।२०]

युक्तिदीपिकाकार के लेख से यह स्पष्ट है, कि उसने उक्त वाक्य को कहीं से उद्धृत किया है। उससे यह भी ध्वनित होता है, कि कदाचित् उसने इस वाक्य को किसी ग्रन्थ से पढ़कर या देखकर उद्धृत न किया हो, प्रत्युत परम्परा के आधार पर ही उसने इसे जाना हो। यह भी संभव है, कि इसी कारण प्रस्तुत वाक्य के पदविन्यास में कुछ अन्यथा होगया हो, परन्तु अर्थ में कोई भेद नहीं हो पाया। ऐसी स्थिति में अधिक संभावना यही है, कि युक्तिदीपिकाकार के उद्धरण का मूल आधारस्रोत, षडध्यायी का उक्त सूत्र ही रहा हो।

यद्यपि 'सांख्यवृद्धाः' पद से, कपिल का ही ग्रहण हो, यह आवश्यक नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में एक उद्धरण इसी पद को लिखकर दिया है।

"यथाहुः सांख्यवृद्धाः—

असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसंगिभिः। असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥इति
[का० ९]

इसप्रकार के और भी लेख हो सकते हैं, जिनका अभी तक हमें ज्ञान नहीं। वाचस्पति के लेख में 'सांख्यवृद्धाः' पद, कपिल के लिये नहीं कहा जासकता। संभव है, यह पद्य किसी अन्य प्राचीन पंचशिख अथवा वार्षगण्य आदि आचार्य का हो। परन्तु युक्तिदीपिका के उक्त उद्धरण के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। क्योंकि उसकी रचना, सूत्ररचना से पर्याप्त समानता रखती है। इसलिये उक्त उद्धरण का आधार, सूत्र को मानने में कोई असामञ्जस्य प्रतीत नहीं होता। एक ही साधारण पद का अनेक आचार्यों के लिये प्रयोग होने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है। भिन्न भिन्न लिङ्गों के आधार पर, किस जगह किस आचार्य के लिये उस पद का प्रयोग किया गया है, इस बात का विवेचन कोई भी विवेचक अच्छी तरह कर सकता है।

संख्या (२६) में निर्दिष्ट षष्टितन्त्र-सूत्र के लिये पञ्चशिख की रचना होने के विषय में

जो विचार हमने प्रस्तुत किया है, वह '*आहङ्कारिकाणीन्द्रियाण्यर्थं साधयितुमर्हन्ति नान्यथा*' इस सूत्र के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। संभव है, यह पञ्चशिखसूत्र हो, और षडध्यायी के [२।२०] सूत्र के व्याख्यानरूप में लिखा गया हो।

मन निर्देश—

गौतमकृत न्यायसूत्र [१।१।४] का भाष्य करते हुए वात्स्यायन मुनि ने सुखादि प्रत्यक्ष के प्रसंग में मन को इन्द्रिय बताया है। परन्तु गौतमसूत्रों में मन के इन्द्रिय होने का कहीं उल्लेख नहीं आता, तब मन को इन्द्रिय कैसे माना जाय ? इस आशंका का उत्तर वात्स्यायन ने यह दिया है—

"*तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यमिति।*"

अभिप्राय यह है, कि गौतम सूत्रों में यद्यपि मन के इन्द्रिय होने का उल्लेख नहीं है, परन्तु अन्य शास्त्र में ऐसा उल्लेख पाया जाता है। और हमने यहां अपने शास्त्र में उसका प्रतिषेध नहीं किया है, इसलिये हम को भी वह अभिमत ही है। इसप्रकार वात्स्यायन ने अन्य शास्त्र के उल्लेख पर मन को इन्द्रिय स्वीकार कर, सुखादि प्रत्यक्ष के सामञ्जस्य का निरूपण किया है।

अब विचारणीय है, कि किस अन्य शास्त्रमें मन के इन्द्रिय होने का उल्लेख किया गया है। हम देखते हैं, कि वैशेषिक में कोई भी ऐसा सूत्र नहीं है, जिसमें मनके इन्द्रिय होने का उल्लेख हो। मीमांसा और वेदान्त में भी हमें कोई ऐसा सूत्र नहीं मिला। पातञ्जल योगसूत्रों में भी कोई ऐसा निर्देश उपलब्ध नहीं होता। तब अन्ततः हमारी दृष्टि सांख्यषडध्यायी सूत्रों की ओर झुकती है, और हम देखते हैं, कि इस तन्त्र में मन के इन्द्रिय होने का उल्लेख है। यदि वात्स्यायन का निर्देश, सांख्य की दृष्टि से ही किया गया मान लिया जाय, तो वात्स्यायन का, सांख्य के लिये तन्त्र-पद प्रयोग भी विशेष महत्त्व रखता है। इस बात को प्रथम सिद्ध किया जाचुका है, कि सांख्यषडध्यायी का ही दूसरा नाम षष्टितन्त्र है, और इसके अन्तिम आधे 'तन्त्र' पद से भी इसका व्यवहार हो सकता है।

सांख्यषडध्यायी के द्वितीयाध्याय के १७ और १८ वें सूत्रों में अहङ्कार से इन्द्रियों की उत्पत्ति का निर्देश है। अनन्तर १६ वें सूत्र में उन इन्द्रियों की गणना की गई है। सूत्र इस प्रकार है—

"*कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्।*"

पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रियों के साथ एक आन्तर [मन] इन्द्रिय को जोड़ कर ग्यारह[1] इन्द्रियां होजाती हैं। २६ वें सूत्र में पुनः उभयप्रकार की इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध

---

[1] सांख्य में इन्द्रियां ग्यारह मानी गई हैं, और करण तेरह। तात्पर्य यह है, कि बुद्धि और अहंकार को अन्तः-करण मानने पर भी इन्द्रिय संज्ञा नहीं दीगई। इसका विवेचन इसप्रकार है—तेरह करणों के दो

होने के कारण मन को उभयात्मक इन्द्रिय माना है। इसके अतिरिक्त सांख्यषडध्यायी के ५। ६६ सूत्र में भी इस अर्थ का स्पष्ट उल्लेख है। इसप्रकार सांख्यषडध्यायी ही ऐसा शास्त्र है, जिस में मन के इन्द्रिय होने का साक्षात् उल्लेख मिलता है। फलतः उस के आधार पर वात्स्यायन के उक्त लेख को समञ्जस कहा जासकता है। यद्यपि ईश्वरकृष्ण की २६, २७ कारिकाओं में भी इस अर्थ का उल्लेख है, परन्तु उससे पूर्वेव ी वात्स्यायन उसका निर्देश कैसे कर सकता है। और फिर गौतम के अभिप्राय के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ना तो सर्वथा असभव है। इस रीति पर भी वात्स्यायन और गौतम से भी पूर्व इन सूत्रों की स्थिति स्पष्ट होती है।

इस प्रकरण में हमने षडध्यायी के अनेक सूत्रों के उद्धरण, सस्कृत साहित्य से चुन कर दिखलाये है। उनमें से सब ही सायणाचार्य से प्राचीन अथवा कुछ उस के समकालिक हैं, और अनेक वाचस्पति मिश्र तथा शंकराचार्य [के कथित काल] से भी प्राचीन हैं, और कुछ तो ईश्वरकृष्ण से भी प्राचीन है। ऐसी स्थिति में षडध्यायी सूत्रो की रचना, सायणाचार्य के अनन्तर मानना सर्वथा असंगत है। उन सब उद्धृत सूत्रों की एक सूची यहां दे देना उपयुक्त होगा।

(१)—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। [१, १४, १०, ११, १२, १३, १८]

(२)—अणुपरिमाणं तत् [मनः]। [२]

(३)—प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि। [३]

(४)—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात् पञ्च तन्मात्राणि,उभयमिन्द्रियम्,तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुषः। [४,७,२३,२४]

(५)—सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः। [८, २१]

(६)—कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः। [८]

(७)—नासदुत्पादो नृशृंगवत। [६]

(८)—सामान्या करणवृत्ति प्राणाद्या वायवः पञ्च। [१४]

(९)—उपादाननियमात। [१६]

(१०)—परिमाणात्। [२०]

(११)—समन्वयात्। [२०]

(१२)—विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य। [२१]

भेद-बाह्यकरण और अन्तःकरण। बाह्यकरण दश--पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय। अन्तःकरण तीन-मन-अहंकार-बुद्धि। इन्द्रियरूप में जब हम इनका विवेचन करेंगे, तब दश बाह्य इन्द्रिय, एक आन्तरिन्द्रिय। इसप्रकार इन्द्रिय ग्यारह ही हैं। बुद्धि और अहंकार इन्द्रिय नहीं। केवल करण हैं।

[1] सूत्रों के आगे जो संख्या दी गई हैं, ये वे हैं, जिन संख्याओं पर इस प्रकरण में इन सूत्रों को उद्धृत किया गया है। इन सूत्रों तथा इनके उद्धरण स्थलों का निर्देश वहीं पर देखना चाहिये।

(१३)—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात्पञ्च-तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुषः, इति पञ्च-विंशतिर्गणः । [२२]

(१४)—अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य । [२२]

(१५)—त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः [२२]

(१६)—असन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत्तत्‌···प्रमाणम् । [२३]

(१७)—अशक्तिरष्टाविंशतिधा । [२४]

(१८)—तुष्टिर्नवधा । [२४]

(१९)—सिद्धिरष्टधा । [२४]

(२०)—विपर्ययभेदाः पञ्च । [२४]

(२१)—करणं त्रयोदशविधम् । [२४]

(२२)—अध्यवसायो बुद्धिः । [२४]

(२३)—अभिमानोऽहंकारः । २४]

(२४)—गुणपरिणामभेदान्नानात्वम् । [२५]

(२५)—तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् । [२६]

(२६)—आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि । [२७]

तत्त्वसमास सूत्रों में से जो सूत्र हमें संस्कृत साहित्य में उद्धृत हुए उपलब्ध हुए हैं, उनकी सूची निम्नलिखित है—

(१)—पञ्चपर्वा अविद्या । [६]

(२)—अष्टौ प्रकृतयः । [१५, १६, २२]

(३)—षोडश विकाराः । [१५, १६, २२, २४]

(४)—पुरुषः । [१६]

(५)—पञ्च वायवः । [१६, २४]

(६)—त्रैगुण्यम् । [१६, २४]

(७)—सञ्चरः । [१६]

(८)—प्रतिसञ्चरः । [१६]

(९)—दश मूलिकार्थाः । [२४]

(१०)—त्रिविधो बन्धः २४]

(११)—त्रिविधं दुःखम् । [२४]

(१२)—त्रिविधं प्रमाणम् । [२४]

(१३)—पञ्च कर्मयोनयः । [१७]

इतनी सूची से यह न समझलेना चाहिये, कि इनके अतिरिक्त और कोई भी उद्धृत सूत्र न रहा होगा। विशाल साहित्य है, हमें जो कुछ मालूम होसका, यहां निर्देश कर दिया है। अधिक परिश्रम करने पर और भी उद्धृत सूत्रों का पता लगाया जासकता है। परन्तु प्रकृत अर्थ [—षडध्यायी की प्राचीनता] को सिद्ध करने के लिये इतने उद्धरण भी पर्याप्त हैं।

चतुर्थ प्रकरण समाप्त।



पञ्चम प्रकरण

सांख्यषडध्यायी की रचना

द्वितीय प्रकरण के प्रारम्भ में निर्दिष्ट तीन आक्षेपों में से दो का समाधान विस्तारपूर्वक पिछले तीन प्रकरणों में करदिया गया है. और इस बात को भी सिद्ध कर दिया गया है, कि वर्त्तमान सांख्यसूत्रों की रचना सांख्यसप्तति से बहुत पूर्व हो चुकी थी। अब तीसरे आक्षेप का समाधान इस प्रकरण में किया जायगा। उसके लिये प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि क्या इन सम्पूर्ण सूत्रों को कपिल की रचना माना जासकता है ? यदि हां, तो इन सूत्रों में, कपिल के अनन्तर होने वाले अनेक आचार्यों के मत, उनके अपने शास्त्रों के पारिभाषिक पदप्रयोग, तथा उनके खण्डन मण्डन का प्रतिपादन कैसे होसकता है ? यह एक अत्यन्त स्पष्ट बात है, कि सहस्रों वर्ष अनन्तर होने वाले आचार्यों, उनके शास्त्रों और सिद्धान्तों का ज्ञान, प्रथम ही कपिल को हो जाय, कदापि स्वीकार नहीं किया जासकता, इसलिये यदि यह मान लिया जाय, कि इन सूत्रों में अनेक सूत्र ऐसे हैं, जिनको कपिल-प्रणीत नहीं कहा जासकता, वे अनन्तर काल में किन्हीं आचार्यों ने बीच में मिला दिये हैं, तो इस मान्यता के लिये भी प्रमाण की आवश्यकता होगी। इस बातका विवेचन करना भी कठिन है, कि कौन से सूत्र कपिलप्रणीत हैं, और कौन से नहीं। इसलिये यह अत्यन्त आवश्यक होजाता है, कि सूत्रों की रचना के सम्बन्ध में सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय।

श्रीयुत अप्पाशर्मा राशिवडेकर विद्यावाचस्पति के, सांख्यसूत्रों की प्राचीनता और कपिल-प्रणीतता सम्बन्धी विचार—

इसमें सन्देह नहीं, कि इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिये आधुनिक अनेक विद्वानों ने प्रयत्न किया है। परन्तु वे कहां तक सफलता प्राप्त कर सके हैं, यह विचारणीय है। उनके लेखों को विद्वानों के सन्मुख उपस्थित कर देना ही उचित है। इसके सम्बन्ध में हमें एक विस्तृत लेख, कोल्हापुर से प्रकाशित 'संस्कृतचन्द्रिका' नामक संस्कृत मासिक पत्रिका [१८२६ शाकाब्द के आश्विन मास के अङ्क] में दृष्टिगोचर हुआ। इसके लेखक हैं, श्रीयुत अप्पाशर्मा राशिवडेकर विद्यावाचस्पति। लेख का शीर्षक है—'केन प्रणीतानि सांख्यसूत्राणि' अर्थात् 'सांख्यसूत्रों को किसने बनाया ?' इस लेख में लेखक महोदय ने अनेक पूर्वपक्षों की कल्पना करके उनका समाधान करते हुए यह सिद्ध करने का यत्न किया है, कि ये षडध्यायी रूप सांख्यसूत्र महर्षि कपिल के ही बनाये हुए हैं।

आपने सूत्ररचना के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष उपस्थित करते हुए लिखा है—" यद्यपि '

---

[1] यह लेख संस्कृत में है, हमने उसका हिन्दी अनुवाद करके मूल में लिखा है। तुलना के लिये हम वह लेख भी अविकल रूप में यहां उद्धृत किये देते हैं :—

अनेक प्राचीन वाक्यों से प्रमाणित होता है कि ये सांख्यसूत्र कपिल के बनाये हुए हैं, फिर भी युक्ति-विरुद्ध होने से यह बात मानी नहीं जा सकती। क्योंकि श्रुति में कपिल को आदिविद्वान् कहा है। पाश्चात्य विद्वान् भी कपिल को प्रथम दार्शनिक स्वीकार करते हैं। इसलिये कपिल का सब से प्राचीन होना स्पष्ट है, एक प्राचीन आचार्य अपने से अर्वाचीन आचार्यों के मतों को स्वरचित ग्रन्थ में किस प्रकार अन्तर्निविष्ट कर सकता है? यदि करता है तो यह प्राचीन नहीं, किन्तु जिन आचार्यों के मतों को अपने ग्रन्थ में उपनिबद्ध करता है, उनसे यह अर्वाचीन ही होना चाहिये। इसप्रकार यदि आदिविद्वान् कपिल ही इन सूत्रों का प्रणेता होता, तो अपने से बाद में होने वाले छः और सोलह आदि पदार्थ मानने वालों के मतों को अपने बनाये ग्रन्थ में किसप्रकार उपनिबद्ध करता, परन्तु इन सांख्यसूत्रों में खण्डन के लिये इसप्रकार के मत उपनिबद्ध हुए २ दीखते हैं —

न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्। *षोडशादिष्वप्येवम्।*

न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः। *नाणुनित्यता तत्कार्यश्रुतेः।* इत्यादि

ये समवाय या छः पदार्थ आदि मानने वाले गौतम आदि नैयायिक, भगवान कपिल के बहुत बाद में हुए हैं, इसलिये ये सांख्यसूत्र कपिलप्रणीत नहीं कहे जा सकते। किन्तु कणाद आदि के बाद में होने वाले किसी आचार्य ने इन्हें बनाया है। इसके अतिरिक्त इन सूत्रों में बौद्ध आदि अवैदिक दर्शनों के मत भी अनूदित देखे जाते हैं, इसलिये यह भी नहीं कहा जा सकता कि वेदमूलक दार्शनिक मतों को कपिल ने वेद से लेकर ही अनुवाद कर दिया है। और शंकराचार्य के मत का खण्डन करने में भी इन सूत्रों की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिये इन सब बातों से यही अनुमान

"यद्यपि 'अग्निः स कपिलो नाम सांख्यसूत्रप्रवर्त्तकः' इत्यादीनि विद्यन्त एव भूयांसि वचनानि श्रीमतः कपिलमुनेः सांख्यसूत्रप्रणेतृत्वे प्रमाणभूतानि, तथापि न तावद्भिः सांख्यसूत्राणां कपिलप्रणीतत्वं स्वीकर्तुं शक्यम्, युक्तिविरुद्धत्वात्। तथाहि—श्रूयते किल कपिलस्यादिविद्वत्त्वं वेदेषु—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' इति। पाश्चात्या अप्यस्यादिदार्शनिकत्वमङ्गीकुर्वन्ति। आदिविद्वत्त्वाच्चास्य सर्वेभ्योऽपि प्राचीनत्वमर्थादुक्तं भवति। यश्च प्राचीनो नासावर्वाचीनानां मतान्यात्मना विरचिते प्रबन्धे निबद्धुं प्रभवेत्। यदि च निबध्नीयान्नासौ प्राचीनः किन्तु येषां मतान्यनेनोपनिबध्यन्ते ततोऽर्वाचीन एव स्यात्। एवं यदि महामुनिरादिविद्वान् कपिल एव सांख्यसूत्राणि प्राणेष्यन्नासौ स्वस्मात् परभाविनां षट्षोडशादिपदार्थवादिनां मतान्यात्मनः प्रबन्ध उपन्यभन्त्स्यत्। निबद्धानि पुनरेवंविधानि मतानि खण्डनीयतया सांख्यसूत्रेषु। यथा—

न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्। *षोडशादिष्वप्येवम्।*

न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः। *नाणुनित्यता तत्कार्यश्रुतेः।* इत्यादिषु।

परभाविनश्च भगवतः कपिलात् षट्पदार्थवादिन इति नैतानि सांख्यसूत्राणि भगवता कपिलेन प्रणीतानि, किन्तु कणादादिभ्यः पराचीनेनैव केनापि इत्यवश्यमभ्युपेतव्यम्।

अथोच्यते वेदेषु सर्वेषामपि दर्शनानां बीजभूततयावस्थानेन न खलु तदनुवादस्यासम्भवविषयत्वमिति मानेन सांख्यसूत्राणां कपिलप्रणीतत्वं व्याहन्यत इति। तथापि न मतिः, सूत्रेषु अमीषु दर्शनान्त-

ष्ट होता है कि श्री शङ्कराचार्य से भी अर्वाचीन किसी आचार्य ने इन सूत्रों का ग्रथन किया है। ये सांख्यसूत्र कपिलप्रणीत नहीं कहे जा सकते।"

इस पूर्वपक्ष को उपस्थित कर लेखक महोदय ने इसका समाधान इसप्रकार प्रारम्भ किया है—"इन[1] ऊर्ध्वरेता मुनियों को एक अलौकिक प्रत्यक्ष होता है, जिसके कारण ये भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान की प्रत्येक वस्तु को दृष्टिगोचर कर सकते हैं। इसीलिये इन मुनियों ने स्वरचित सूत्रों में उन उन आचार्यों के भिन्न भिन्न मतों का कथन किया है, और इसीलिये वेदान्त-दर्शन में जैमिनिके समान कार्ष्णाजिनि (३।१।६), आत्रेय (३।४।४४) औडुलोमि (४।४।६), आदि मुनियों के मतों का संग्रह किया गया है। जैमिनि ने भी मीमांसादर्शन में भगवान् व्यास (८।३।१७) और कार्ष्णाजिनि (४।३।१७) प्रभृति आचार्यों के मतों का संग्रह किया है। इसी प्रकार भक्तिमीमांसा में भगवान् शाण्डिल्य ने काश्यप (२६), जैमिनि (६१), और बादरायण (६१) आदि आचार्यों के मतों को दिखलाया है। इसप्रकार और भी ऊहना कर लेनी चाहिये।

इसी रीति पर मुनियों के अलौकिक प्रत्यक्षशाली होने से ही दर्शन आदि में बौद्ध आदि मतों का उपन्यास और उनका खण्डन देखा जाता है। जैसे न्यायदर्शन में शरीरात्मवादी चार्वाक के मत का खण्डन (३।१।४), और क्षणिकविज्ञानवादी बौद्धमत का उपन्यास (३।२।११) देखा जाता है। इसीप्रकार (२।२।२८ आदि) वेदान्तसूत्रों में भी विज्ञानवादी बौद्धमत का खण्डन उपलब्ध होता है। पुराणों में भी बौद्धमत के बोधक वाक्य दीखते हैं। विष्णुपुराण के तृतीय अंश का अट्ठारहवां अध्याय इसमें प्रमाण है। वाल्मीकि रामायण और महाभारत मे भी बौद्ध आदि के नाम उपलब्ध होते हैं। तो क्या बौद्ध आदि को द्वैपायन आदि से भी प्राचीन मानना चाहिये? अथवा मुनियों की अलौकिक प्रत्यक्षशालिता को ही इसका कारण मानना चाहिये? इसका निर्णय विद्वान् स्वयं करें। इस रीति पर यदि व्यास आदि ऋषियों को अलौकिक प्रत्यक्ष हो जाने का सामर्थ्य स्वीकार किया जाता है, तो फिर महर्षि कपिल ने ही क्या अपराध

राणामिव बौद्धादीनामपि मतान्यनूदितानि दृश्यन्ते। दृश्यते च श्रीशंकराचार्यमतखण्डनेऽपि प्रवृत्तिरेतेषाम्। ततश्चानुमीयते—श्रीशङ्कराचार्यतोऽप्यर्वाचीनेनैव केनापि संग्रथितानि सांख्यसूत्राणीति।"

1 "अलौकिकं च प्रत्यक्षमूर्ध्वरेतसां मुनीनामेतेषां यस्य किल भूतं भवद् भावि च वस्तु विषयतामुपयाति। अत एव चामीभिरुपनिबध्यन्ते तेषां तेषां मतान्यात्मना संग्रथितेषु सूत्रेषु। अतएव च वेदान्तदर्शने जैमिनेरिव 'स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः' (३।४।४४), 'चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः' (३।१।६), 'चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः' (४।४।६) इत्येवं तेषां तेषां मुनीनां मतानि संगृह्यन्ते। जैमिनिरपि मीमांसादर्शने 'कालाभ्यासेऽपि बादरिः कर्मभेदात्' (८।३।६) 'कर्त्रां फलार्थवादमङ्गवत्कार्ष्णाजिनिः' (४।३।१७) इत्यादिसूत्रे भगवतो व्यासस्य कार्ष्णाजिनिप्रभृतीनां च मतं संजग्राह। भक्तिमीमांसायां च भगवान् शाण्डिल्यः 'तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात्' (२६), 'नाम्नेति जैमिनिः सम्भवात्' (६१), 'फलमस्माद् बादरायणो दृष्टत्वात्' (६१) इति काश्यपादीनां मतानि प्रदर्शयामासेति। एवमन्यदप्यूह्यम्।

किया है, जोकि उनके सूत्रों में बौद्ध आदि मतों के उपन्यास को सहन नहीं करते, और उसी के कारण सूत्रों की ही अर्वाचीनता को सिद्ध करते हो। इसलिये अत्यन्त प्राचीन अलौकिक प्रत्यक्ष-शाली महर्षि कपिल ने ही इन विद्यमान सांख्यसूत्रों की रचना की है यह सिद्धान्त अवश्य स्वीकार करना चाहिये। ऐसी अवस्था में बौद्ध आदि मतों का उपन्यास भी सांख्यसूत्रों में सम्भव होसकता है, और इससे सूत्रों की अर्वाचीनता भी सिद्ध नहीं की जासकती।"

श्रीयुत अप्पाशर्मा के विचारों की अमान्यता—

लेखक महोदय के इस समाधान का सारांश इतना ही है कि प्राचीन मुनिजन त्रिकालदर्शी थे, इसीलिये वे अपने से हजारों वर्ष बाद होने वाले आचार्यों के सिद्धान्तों का उल्लेख भी उन्हीं के शब्दों द्वारा अपने ग्रन्थों में करसके। हमारे विचार में यह समाधान वर्त्तमान सदी में एक हास्यास्पद वस्तु है। आज इस बात को कोई भी स्वीकार करने के लिये तयार नहीं। यदि उस समय का कोई भी मुनि आज के रेडियो और ऐटॉमिक बम आदि के आधुनिक रूप में आविष्कार की बाबत कोई ग्रन्थ लिखजाता, तो हम पण्डित जी के समाधान का कुछ महत्त्व समझ सकते थे।

आपने मीमांसा और वेदान्तदर्शन में कुछ आचार्यों के नामों का उल्लेख बताया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वेदान्त और मीमांसा के कर्त्ता व्यास और जैमिनि समकालिक थे, व्यासके प्रधान शिष्यों में जैमिनि का नाम आता है[1]। पण्डित जी ने भी अपने लेखमें इस बातको माना है,

"अलौकिकप्रत्यक्षशालिनां तेषु मुनीनां दर्शनादिषु बौद्धादिमतानामुपन्यासस्तत्खण्डनञ्चोपलभ्यते। यथा न्यायदर्शने 'शरीरदाहे पातकाभावात्' (३।१।४) इत्यादिभिः सूत्रैः शरीरात्मवादिनश्चार्वाकस्य मतं खण्डितम्। 'स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनामहेतुः' (३।२।११) इति क्षणिकविज्ञानवादिमतखण्डनमुपलभ्यते। एवं 'नाभाव उपलब्धेः' (२।२।२८) इत्यादिषु व्याससूत्रेष्वपि विज्ञानवादिबौद्धमतखण्डनमुपलभ्यते। पुराणेष्वपि तादृक् प्रचुराण्युपलभ्यन्ते बौद्धमतावबोधकानि वचनानि। संदृश्यते चात्र मैत्रेयाणामपि विष्णुपुराणस्य तृतीयांशे सप्तदशोऽष्टादशोऽध्यायः। रामायणेऽपि वाल्मीकीये श्रूयते च महानादः। बौद्धादिनामानुपलम्भेऽपि किमत्र श्रीमद्भूपतेनाक्षेपोऽपि प्राचीनत्व-मेषामुपेयतां बौद्धादिनामानुल्लेखो अलौकिकप्रत्यक्षशालित्वेन मुनीनामिति मन्यस्व तावद् विचार्य विनिगम्यता-मायुष्मता। यदि तु नास्ति तेषां तथाविधप्रत्यक्षशालित्वमनुमानेन तदा किमपराद्धं श्रीमता कपिलेन, येन तस्यैव सूत्रेषु बौद्धादिमतोपन्यासो न सह्यते। तदुपनिबन्धनादेव साम्प्रतमर्वाचीनत्वमेतत्सूत्राणाम्। तदवश्यमङ्गीक्रियतां प्राचीनतमेनालौकिकप्रत्यक्षशालिनैव महर्षिणा कपिलेन प्रणीतानि सम्प्रति संदृश्यमा-नानि सांख्यसूत्राणीति, नात्र बौद्धादिमतोपन्यासो न सम्भवतीति। नापि वाचमेतेषामर्वाचीनत्व-साधनायालमिति।"

[1] ब्रह्मणो ब्राह्मणानाञ्च तथानुग्रहकाङ्क्षया। विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः॥
वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्। सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम्॥
[म० भा०, आदिपर्व, अ० ६४। श्लो० १३०, १३१]

विविक्ते पर्वततटे पाराशर्यो महातपाः। वेदानध्यापयामास व्यासः शिष्यान् महातपाः॥
सुमन्तुं च महाभागं वैशम्पायनमेव च। जैमिनिं च महाप्राज्ञं पैलं चापि तपस्विनम्॥
[म० भा०, शान्ति०, अ० ३२५। श्लो० २६, २७।]

आधुनिक अन्य विद्वान् भी इससे पूर्ण सहमत हैं, ऐसी अवस्था में गुरु अपने ग्रन्थ में शिष्य के सिद्धान्त को और शिष्य अपने ग्रन्थ में गुरु के सिद्धान्त को स्थान दे सकता है, इसलिये मीमांसा में व्यास का उल्लेख और वेदान्त में जैमिनि का उल्लेख किसी विशेष सिद्धान्त का निर्णय नहीं करता। परन्तु कार्ष्णाजिनि, औडुलोमि और आत्रेय आदि आचार्यों का उल्लेख वेदान्त और मीमांसा में होने पर भी आपने इनको व्यास और जैमिनि से पश्चाद्भावी कैसे मान लिया? यह हम न समझ सके। इस नामोल्लेख से तो यही स्पष्ट होता है कि ये आचार्य, व्यास और जैमिनि से प्राचीन थे, या उनके समकालिक थे। इसलिये इन आचार्यों का वेदान्त या मीमांसा में नामोल्लेख व्यास या जैमिनि की अलौकिक प्रत्यक्षशालिता का प्रमाण नहीं होसकता। यही बात शाण्डिल्य-प्रणीत 'भक्तिमीमांसा' नामक ग्रन्थ में उल्लिखित आचार्यों के सम्बन्ध में भी जानलेनी चाहिये। भक्तिमीमांसा में उल्लिखित आचार्य, शाण्डिल्य के प्राग्वर्त्ती ही होसकते हैं, पश्चाद्वर्त्ती नहीं।

न्याय, वेदान्त सूत्रों में साक्षात् बौद्ध आदि मतों का खण्डन नहीं—

एक और महत्त्वपूर्ण बात पण्डितजी ने अपने समाधान में कही है। आपका विचार है कि गौतम के न्यायसूत्र और व्यास के वेदान्त सूत्रों में बौद्ध आदि मतों का उपन्यास तथा खण्डन किया गया है। इसके सम्बन्ध में हम एक विचार उपस्थित करना चाहते हैं—यद्यपि यह अभीतक सर्वांश में निर्णय नहीं किया जासका है कि न्यायसूत्रप्रणेता गौतम का समय कौनसा है? क्योंकि हम यहां पर इसके निर्णय के लिये उपस्थित नहीं हुए हैं, इसलिये यही मान लेते हैं कि गौतम का समय बुद्ध से पूर्व है[1] और ब्रह्मसूत्रप्रणेता व्यास का समय निश्चित ही बुद्ध से पूर्व है, फिर भी यह प्रतिपादन करना अत्यन्त कठिन है कि इन सूत्रों में बौद्ध आदि मतों का उपन्यास या खण्डन किया गया है। क्योंकि गौतम आदि की अलौकिक प्रत्यक्ष-शालिता का उस समय तक निर्णय नहीं हो सकता, जबतक कि यह सिद्ध न कर दिया जाये कि गौतम आदि ने अपने पश्चाद्भावी बौद्ध आदि मतों का उपन्यास या खण्डन अपने सूत्रों में किया है। इस अर्थ को सिद्ध करने के लिये पण्डितजी ने जिन सूत्रों का पीछे उल्लेख किया है, उनमें हमें कोई भी ऐसा लिंग न मिला जिससे यह ज्ञात हो कि गौतम बौद्ध आदि का साक्षात् खण्डन कर रहा है। उदाहरण के लिये एक सूत्र लीजिये—

'शरीरदाहे पातकाभावात्' । ३ । १ ४ ।

इस प्रकरण में यही सिद्ध किया गया है कि आत्मा, इन्द्रिय शरीर और मनसे पृथक् वस्तु है। इससे पहले तीन सूत्रों में इन्द्रियों से आत्मा का भेद सिद्ध किया गया है, अर्थात् इन्द्रियां आत्मा नहीं होसकतीं। अनन्तर इन तीन सूत्रों (४—६) में शरीर से आत्मा का भेद सिद्ध किया गया है। क्या गौतम इस बात को ध्यान में रखकर इन सूत्रों की रचना कर रहा है कि मैं बाद में

[1] गौतम के समय का निर्णय इस ग्रन्थ के परिशिष्ट रूप 'उपसंहार' नामक प्रकरण में किया गया है।

होने वाले चार्वाक के मत का खण्डन कर रहा हूँ ? हमारे पास इसका कोई भी प्रमाण नहीं। इन सूत्रों में कोई भी ऐसा पद नहीं, कोई भी ऐसी रचना नहीं, जो इन सूत्रों के साथ चार्वाक का सम्बन्ध प्रकट कर सके।

यह एक साधारण बात है कि जब कोई विद्वान् किसी वस्तु के स्वरूप का निर्णय करने के लिये उपस्थित होता है, तब उसके हृदय में उस वस्तु के अनुकूल या प्रतिकूल भावों का उदय होना स्वाभाविक है, अनुकूल भावों का संग्रह और प्रतिकूल भावों का प्रत्याख्यान करने से ही उस वस्तु का स्वरूप निर्णय होसकता है। आत्मस्वरूप का निर्णय करने के लिये प्रवृत्त हुआ गौतम इस बातको देखता है कि लोक में इन्द्रियाश्रय, शरीराश्रय और अन्तःकरणाश्रय व्यवहार ही ऐसे होते हैं जो आत्मस्वरूप के निर्णय में सन्देहजनक होने से बाधक हैं। इसीलिये गौतम ने आत्मा को इनसे भिन्न सिद्ध करने के लिये इन तीन प्रकरणों की रचना की। जैसे आत्मा को मन और इन्द्रियों से अतिरिक्त सिद्ध करते समय गौतम यह नहीं सोचते कि इस मत (इन्द्रियात्मवाद) को और भी कोई मानता है या नहीं ठीक इसीप्रकार शरीर से अतिरिक्त सिद्ध करते समय भी गौतम को यह ध्यान नहीं है कि चार्वाक इस मत को मानेगा। हमारे लेखका अभिप्राय यही है कि केवल वादों के खण्डन मण्डन का अवलम्बन कर पूर्वापर का निर्णय करना असम्भव है जब तक कि एक दूसरे की रचना में एक दूसरे के पद, स्पष्ट नामोल्लेख या रचना का समावेश प्रतीत न हो।

वेदान्त सूत्रों में भी इसी तरह कोई पद या रचनासाम्य या नामोल्लेख नहीं है, जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होसके कि व्यासने यहां बौद्ध आदि मतों को लक्ष्य करके सूत्रों का निर्माण किया है। आजकल हम केवल भाष्यकारों का अभिप्राय लेकर ही इसप्रकार की व्यवस्था करते हैं। यह निश्चित है कि भाष्यकारों का समय उस समय के पश्चात् है, जब कि इन वादों को विशेष २ सम्प्रदायों ने अपना लिया था, इसलिये भाष्यकारों ने उन वादों को उन्हीं सम्प्रदायों के नामों से व्यवहृत किया और केवल अभ्यासवश हम भी आज उसी तरह व्यवहार करते चले जारहे हैं।

यह बात इसलिये भी पुष्ट होती है, कि शास्त्रों में अनेक ऐसे वाद हैं जिनको अभीतक किसी सम्प्रदायने नहीं अपनाया, इसीलिये उनके साथ किसी सम्प्रदाय का नाम नहीं, वे शास्त्र में आज भी अपने ही नाम से व्यवहृत होते हैं, जैसे यहीं प्रकृत में दो वादों का नाम आया है– 'इन्द्रियात्मवाद' और 'अन्तःकरणात्मवाद'। यदि आज ही आनन्दसमाजी 'इन्द्रियात्मवाद' को अपनालें, तो सौ वर्ष के बाद यह स्थिर होजायगा, कि यह वाद आनन्दसमाज का सिद्धान्त है, क्या फिर हम यह सिद्ध करने के लिये तयार होंगे ? कि गौतम ने अपनी अलौकिक प्रत्यक्षशालिता के कारण सहस्रों वर्ष पहले ही इस वाद का खण्डन किया हुआ है। हमारा तो इस विषय में यही मत है कि प्रत्येक वाद का सद्भाव, प्रत्येक समय में हो सकता है। इसलिये किसी ग्रन्थ में किसी वाद के उल्लेख मात्र से हम उसकी पूर्वापरता का निर्णय करने में असमर्थ हैं, जब तक कि किसी आचार्य का, शास्त्र का, रचना का तथा विशेष पारिभाषिक पदों का हम वहां उल्लेख न देखें। क्योंकि

केवल वाद का उल्लेख किसी भी आचार्य के मस्तिष्क की कल्पना हो सकती है। विशेषकर, दार्शनिक आचार्यों के लिये यह एक साधारण सी बात है कि वे अपने मतको पुष्ट करने के लिये प्रथम अनेक वादों (मतों) को उपस्थित कर उनकी असारता प्रकट करते हैं। उनमें अनेक वाद केवल कल्पनामूलक होते हैं।

इन सब बातों पर विचार करते हुए हमारा निश्चय है कि न्यायसूत्र या ब्रह्मसूत्रों में कोई ऐसे पद, नाम या रचनासाम्य नहीं हैं, जिनका अवलम्बन कर सूत्रों में चार्वाक बौद्ध आदि का सम्बन्ध जोड़ा जासके, जो कि इन सूत्रों की रचना के बाद हुए हैं। यदि उनमें से किसी का समय पूर्व हो, तो हमें उसके लिये कोई विरोध नहीं। परन्तु इसके विरुद्ध सांख्यसूत्रों में ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनमें कपिल के पश्चाद्भावी आचार्यों के सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख मालूम होता है। उदाहरण के लिये दो चार सूत्र हम यहां उद्धृत करते हैं:—

'न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्' । १ । २५ ।

'न षटपदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः' । ५ । ८५ ।

'षोडशादिष्वप्येवम्' । ५ । ८६ ।

'न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्' । ५ । ६६ ।

'न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात्' । ५ । ६० ।

इन पांचों सूत्रों की रचना से यह स्पष्ट मालूम होरहा है कि इन सूत्रों का निर्माण गौतम और कणाद के सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर ही होसकता है। यहां तो स्पष्ट 'वैशेषिक' पद रक्खा हुआ है, और फिर उसके साथ 'षट्पदार्थवादी'। कणाद के वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त और यह क्या होसकता है ? इसीतरह षोडशपदार्थवादी गौतम स्पष्ट है। वैशेषिक में ही समवाय नामक छठा पदार्थ माना गया है, गुणों में परिमाणचातुर्विध्य न्याय-वैशेषिक का ही एक अन्तर्गत अवान्तर मत है। यह सब रचना इसप्रकार की है जो गौतम और कणाद के साथ इन सूत्रों का स्पष्ट सम्बन्ध जोड़ रही है। न्यायसूत्र और ब्रह्मसूत्रों की रचना ऐसी नहीं थी। इसलिये वे सूत्र इन सूत्रों की रचना में उदाहरण नहीं होसकते। इसीलिये पण्डितजी का यह समाधान-कि त्रिकालदर्शी मुनिजन अपने पश्चाद्भावी आचार्यों के मतों का भी उपन्यास या खण्डन स्वरचित ग्रन्थों में अलौकिक प्रत्यक्षशालिता द्वारा करगये हैं—सर्वथा निर्मूल और हेय है। अत एव पण्डित जी के समाधानानुसार ये सूत्र कपिलप्रणीत नहीं कहे जासकते।

रामायण महाभारत आदि में बौद्ध आदि मतों का उल्लेख—

एक बात पण्डितजी ने अपने लेख में और प्रकट की है कि वाल्मीकि रामायण, महाभारत और अन्य पुराणों में भी बौद्ध आदि मतों का वर्णन आता है। वाल्मीकि और महाभारत तथा पुराणों के प्रणेता व्यास निश्चित ही बौद्धकाल के बहुत पूर्व हो चुके हैं, इसलिये यह स्पष्ट है कि उनके ग्रन्थों में बौद्ध आदि का वर्णन उनकी अलौकिक प्रत्यक्षशालिता के कारण ही होसकता है,

अन्यथा नहीं। इसके सम्बन्ध में हम इतना ही लिखदेना पर्याप्त समझते हैं कि रामायण महाभारत और पुराणों की रचना बहुत अर्वाचीन काल तक होती रही है। सबसे प्रथम रामायण को ही लीजिये। लाहौर के लालचन्द अनुसन्धान पुस्तकालय में बीससे अधिक प्राचीन हस्तलेख रामायण के विद्यमान हैं, इनके पाठों में श्लोकों का ही नहीं प्रत्युत अध्यायों का भेद है, इसी पुस्तकालय से रामायण का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, यह रामायण की पश्चिमोत्तर शाखाके अनुसार सम्पादित किया गया है। इसके अतिरिक्त रामायण की दो शाखा और हैं-एक वङ्गोत्कल शाखा, दूसरी दाक्षिणात्य शाखा। लाहौर कलकत्ता और बम्बई की मुद्रित रामायणों को भी आप परस्पर मिलाकर देखें, तो आपको स्पष्ट मालूम होजायगा कि इनमें अध्यायों के अध्यायों का भेद है। यह तो स्पष्ट है कि स्वयं वाल्मीकि ने इसप्रकार रामायण की भिन्न रचना न की थी, यह सब कार्य भिन्न २ देशों के मध्यकालिक पण्डितों का ही है। तीनों शाखाओं का इकट्ठा स्वाध्याय करने से यह स्पष्ट प्रतीत होजाता है कि इनकी रचना कितने अर्वाचीन कालतक होती रही है [1]।

महाभारत के सम्बन्ध में तो ऐतिहासिकों ने सिद्ध करदिया है कि इसको वर्त्तमान रूप सौति ने अबसे लगभग २३०० वर्ष से कुछ पूर्व दिया है [2]। पुराणों के सम्बन्ध में कहना व्यर्थ है, इनके अन्त

[1] अनेक आधुनिक ऐतिहासिक तो रामायण की रचना, महाभारत की रचना से भी बाद की सिद्ध करते हैं। उसमें एक यह युक्ति उपस्थित की जाती है कि महाभारत में राशियों का वर्णन कहीं नहीं, परन्तु रामायण में कई राशियों के नाम उपलब्ध होते हैं। क्योंकि आधुनिक विद्वन्मण्डल ने इस बातको स्वीकार किया हुआ है कि भारतीयों को राशियों का ज्ञान यूनान से प्राप्त हुआ है, इसलिये भारत के साथ यूनान का सम्पर्क होने से पहले ही महाभारत की रचना होचुकी थी, पर रामायण की रचना यूनान का सम्पर्क होने के बाद हुई। भारत से यूनान का सम्पर्क ईसासे पहले चौथी सदी में हुआ माना जाता है, इससे यही सिद्ध होता है कि रामायण की रचना इसके बाद हुई, क्योंकि उसमें राशियों का वर्णन स्पष्ट है।

नक्षत्रे दितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु। ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह ॥ ९ ॥

पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः। सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ ॥ १५ ॥

वा० रा०, बालकाण्ड अध्याय १८ (बम्बई निर्णयसागर मुद्रित)

चाहे इस कथन से पूर्णरूप में यह सिद्ध न किया जासके कि सम्पूर्ण रामायण की रचना इसी समय हुई; पर फिर भी यह अवश्य मालूम होता है, ईसवी सन् के प्रादुर्भाव तक रामायण की रचना अंशतः होती रही होगी। यहां यह अवश्य ध्यान रहे कि हमारा मत इससे सर्वथा विरुद्ध है कि यूनान के सम्पर्क से पहले भारतीय आर्यों को राशिज्ञान नहीं था, इसका स्पष्टीकरण हम 'उपसंहार' नामक रचना में करेंगे।

[2] वर्त्तमान महाभारत ग्रन्थ की रचना का समय अबसे २३०० वर्ष अर्थात् ईसा से लगभग ४०० वर्ष पहले तक बताया जाता है। यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि चाहे सम्पूर्ण महाभारत की रचना का यह काल न हो, पर इतना अवश्य स्वीकार किया जासकता है कि महाभारत की रचना इस समय तक होती रही है। इसका सबसे अन्तिम संस्करण सौति का बनाया हुआ है। इन सब बातों का विवरण जानने के लिये राव बहादुर चिन्तामणि विनायक कृत 'महाभारत मीमांसा' और लोकमान्य तिलक का 'गीतारहस्य' देखना चाहिये।

भागों की रचना तो अब से कुछ वर्ष पहले तक होती रही है, इन सब बातों को देखते क्या यह सम्भव नहीं कि इन ग्रन्थों में बौद्ध आदि का वर्णन होसके। इसलिये हमारे विचार में इन प्रमाणाभासों को उपस्थित करके भी पण्डित जी सांख्यसूत्रों की प्राचीनता और कपिलप्रणीतता को सिद्ध करने में सफल नहीं होसके।

सांख्यसूत्रों की प्राचीनता और कपिल की रचना होने में श्री सत्यव्रत सामश्रमी के विचार—

श्रीयुत पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने भी अपने 'निरुक्तालोचन' नामक ग्रन्थ में प्रसंगवश सांख्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। यह सम्पूर्ण विवरण कलकत्ते से १६०७ ई० में प्रकाशित 'निरुक्तालोचन' के द्वितीय संस्करण के ६६ पृष्ठ से १०० वें पृष्ठ तक में किया गया है। आधुनिक सब ही विद्वानों की तरह यह तो सामश्रमी जी ने भी निर्भ्रान्त स्वीकार किया है, कि आस्तिक दर्शनकारों में कपिल ही सबसे प्रथम आचार्य थे[1]। सांख्य के इस प्रकरण को, प्रचलित मनुसंहिता का समय निर्धारण करने के प्रसंग में सामश्रमी जी ने यहां स्थान दिया है, और यह सिद्ध किया है कि इस भृगुप्रोक्त मनुसंहिता से सांख्यदर्शन बहुत प्राचीन है। इस सम्बन्ध में जो विद्वान्, विस्तृतरूप से श्री सामश्रमी का मत जानना चाहें, उन्हें निरुक्तालोचन के इस प्रकरण को देखना होगा। यहां हम उतने ही अंश का निरूपण करेंगे, जो इस प्रकरण के लिये उपयोगी होसकता है।

यद्यपि इस छोटे से प्रकरण में सामश्रमी जी ने सांख्यषडध्यायी सूत्रों की रचना के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट मत प्रकट नहीं किया, तथापि इस विषय को उन्होंने अछूता ही छोड़ दिया हो ऐसा भी नहीं है। निरुक्तालोचन के ६८ वें पृष्ठ पर सामश्रमी जी लिखते हैं—"न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्' (सां० १।२५) यह सांख्यसूत्र तो दूसरे कपिल या पञ्चशिखा-चार्य का बनाया होसकता है. इसप्रकार इस सूत्र के देखे जाने से सांख्यशास्त्र की षडध्यायी ही वैशेषिक आदि के बाद की बनी सिद्ध होती है, उससे भी पूर्व निर्मित हुआ सांख्यदर्शन नहीं[2]।"

सामश्रमी जी के विचारों की अमान्यता—

इससे यह तो स्पष्ट है कि सामश्रमी जी इस सूत्र को सांख्य के मूलप्रवर्त्तक और लेखक कपिल का बनाया हुआ नहीं मानते। बात ठीक भी है, जब कपिल, आदि दार्शनिकविद्वान् हैं, तब वह अनन्तर प्रणीत वैशेषिक का उल्लेख कैसे करता? पर आप इस सूत्र को द्वितीय कपिल

---

[1] अस्मन्मते तु सांख्यदर्शनस्यैवास्तिकदर्शनेषु प्राथम्यम्, सांख्यप्रथमाचार्यस्य कपिलस्यैव 'आदिविद्वान्' इति प्रसिद्धेः" । निरुक्तालोचन पृ० ६७, पं० १३, १४।

[2] 'न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्' (१ अ. २५) इति सांख्यसूत्रन्तु द्वितीयकपिलस्य वा पञ्चशिखाचार्यस्य वा भवितुमर्हति। तथा चैतत्सूत्रदर्शनात् सांख्यशास्त्रीयषडध्याय्या एव वैशेषिकादि-परजत्वं सिध्यति, न तु सांख्यदर्शनस्य तत्पूर्वजस्य। निरुक्तालोचन पृष्ठ ६८।

या पञ्चशिखाचार्य का बनाया मानते हैं। यहां आपके लेखसे यह नहीं प्रतीत होता कि केवल यह एक ही सूत्र द्वितीय कपिल या पञ्चशिखाचार्य का मिलाया हुआ है या सम्पूर्ण षडध्यायी का ही निर्माण इन्होंने किया। इस बातको स्पष्ट करने के लिये आपने इसी प्रकरण में आगे तत्त्वसमास की व्याख्या सर्वोपकारिणी का एक उद्धरण देकर बताया है कि सांख्यषडध्यायी अग्नि के अवतार भगवान् कपिल की बनाई हुई है। पर इसके सम्बन्ध में हमने पहले दोनों ही प्रकरणों में विस्तृत आलोचना की है, और अपना मत भी स्पष्ट रूप से प्रकट करदिया है, इसलिये उसे फिर दुबारा यहां लिखना व्यर्थ है। सारांश इतना है कि सूत्रषडध्यायी और तत्त्वसमास एकही कपिल के बनाये हुए हैं। फिर सामश्रमी जी ने सन्दिहान होकर स्वयं ही यह लिखदिया है कि शायद यह सूत्रषडध्यायी पञ्चशिखाचार्य की ही बनाई हुई हो। पर जिस (१। २५) सूत्र के भरोसे पर आप कहते हैं कि यह कपिलप्रणीत नहीं होसकती, उसे आप पञ्चशिख-प्रणीत कैसे बतासकते हैं? क्या आपका यह अभिप्राय है, कि कपिल के समयमें तो वैशेषिक न था, पर पञ्चशिख के समय से पूर्व वैशेषिक बन चुका था, क्योंकि ऐसा मानने पर ही आपका कथन संगत हो सकता है। परन्तु यह बात किसी तरह भी युक्तियुक्त नहीं कही जासकती, क्योंकि कपिल और पञ्चशिख समकालिक हैं, यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। यद्यपि पञ्चशिख, कपिल का प्रशिष्य था, पर कपिल के रहते हुए ही वह प्रौढ विद्वान् हो चुका था, इसीलिये इन कापिलसूत्रों में पञ्चशिख का मत भी पायाजाता है, इसलिये मालूम होता है जो वैशेषिक कपिल के समय में नहीं था, वह पञ्चशिख के समय में भी नहीं होसकता। इन सब बातों को हमने 'कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र' नामक द्वितीय प्रकरण में विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया है। ऐसी अवस्था में सामश्रमी जी का सूत्रषडध्यायी को पञ्चशिख-प्रणीत बताना नितान्त भ्रान्त है। मालूम ऐसा होता है कि सामश्रमी जी ने सूत्रों की रचनासम्बन्धी आन्तरिक साक्षी का अवलम्ब न लेने के कारण ही यह धोखा खाया है। पर यह ध्यान रखने की बात है कि (१। २५) सूत्र को देखकर ही आपको यह सन्देह हुआ है कि कदाचित् ये सूत्र कपिल प्रणीत नहीं होसकते। इसप्रकार के और भी अनेक सूत्र हैं, जो इस विचार को दृढ करने के पर्याप्त साधन हैं। इस सम्बन्ध में अपना मत हम आगे प्रकट करेंगे। पर इतने से यह स्पष्ट है कि श्रीयुत सामश्रमी जी भी उन सन्दिग्ध स्थलों की कोई संगति न लगासके, और सूत्रों के कपिल-प्रणीत होने का ही निषेध कर बैठे।

सांख्यसूत्रों के सम्बन्ध में, लोकमान्य तिलक तथा श्रीयुत वैद्य के विचार—

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भी अपने 'गीता रहस्य' और 'महाभारत मीमांसा' नामक ग्रन्थों में सांख्यशास्त्र पर अच्छा विचार किया है। परन्तु इन दोनों ही विद्वानों ने वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी की सूत्ररचना के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। इनके ग्रन्थों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके हृदयों में ये भाव स्थिरता पागये हैं कि इन सांख्यसूत्रों से सांख्य-सप्तति प्राचीन ग्रन्थ है। इसलिये सांख्यमत का प्रतिपादन करने में

इन विद्वानों ने सांख्यसूत्रों की अपेक्षा सांख्यसप्तति का ही अवलम्ब लेना उचित समझा है। मालूम यह होता है कि इन्होंने सांख्यसूत्रों को गम्भीर दृष्टि से देखने में उपेक्षा ही की है। सांख्य के उन सन्दिग्ध स्थलों को देखकर जिनका वर्णन हम अभी तक करते आ रहे हैं, इनका यह विचार हो जाना बिलकुल सम्भव है कि ये सूत्र कपिल-प्रणीत नहीं, पर सूत्रों को सप्तति के बाद का बताया जाना किस युक्ति से सिद्ध है, यह हम न समझ सके। इस सम्पूर्ण अंश का विस्तृत व्याख्यान हम 'कपिलप्रणीतषष्टितन्त्र' नामक द्वितीय प्रकरण और 'षष्टितन्त्र अथवा सांख्यषडध्यायी' नामक तृतीय प्रकरण में कर आये हैं। यहां केवल सूत्रों की आन्तरिक रचना सम्बन्धी साक्षी के विषय में विचार करना है, और इस विषय पर लो० तिलक तथा श्रीयुत वैद्य दोनों चुप हैं।

श्री पं० राजाराम, और सांख्य के प्राचीन ग्रन्थ—

लाहौर के पं० राजारामजी ने एक ग्रन्थ लिखा है—'सांख्य के तीन प्राचीन ग्रन्थ'। इसमें आपने २२ सूत्रवाले तत्त्वसमास, और योगसूत्रों के व्यासभाष्य में उद्धृत कुछ पञ्चशिख के सूत्र, तथा सांख्यसप्तति इन तीन ग्रन्थों को ही सांख्य के प्राचीनग्रन्थ प्रमाणित किया है। इन सब बातों की आलोचना हम द्वितीय और तृतीय प्रकरण में कर आये हैं, यहां केवल उतने ही अंश पर विचार करना है, जिसका उल्लेख सूत्रों की रचना के आधार पर किया गया है। पण्डित जी ने इस बात को बहुत बलपूर्वक सिद्ध करने का यत्न किया है, कि यह सांख्यषडध्यायी कपिलप्रणीत नहीं हो सकती। इसमें आपने मुख्यतया ५ युक्तियां उपस्थित की हैं।

सांख्यसूत्रों की अर्वाचीनता में श्री राजारामजी प्रदर्शित युक्तियां—

(१) आपकी पहली युक्ति यह है, कि 'पुराने आचार्यों (शङ्कराचार्य, चित्सुखाचार्य आदि) ने इन सूत्रों में से एक भी सूत्र कहीं उद्धृत नहीं किया'। इसके सम्बन्ध में हम यहां इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं, कि जब न शङ्कराचार्य था और न कारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने ही जन्म लिया था, उस अत्यन्त प्राचीनकाल में भी अनेक सूत्रों के उद्धरण ग्रन्थों में पाये जाते हैं। उन सबका उल्लेख 'वर्त्तमान सांख्यसूत्रों के उद्धरण' नामक चतुर्थ प्रकरण में किया गया है। इसलिये शङ्कराचार्य आदि के ग्रन्थों में इन सूत्रों का उद्धरण न होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये सूत्र शङ्कराचार्य से अर्वाचीन हैं, या कपिल-प्रणीत नहीं हैं। यद्यपि शङ्कराचार्य आदि के ग्रन्थों में भी इन सूत्रों के उल्लेखों का निर्देश इसी ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकरण में किया गया है। यदि पं० राजारामजी इस कसौटी को पूरा समझते हैं, तो उन्हें एक बात का जवाब देना चाहिये। वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी सूत्रों के व्याख्याकारों में सब से प्राचीन व्याख्याकार अनिरुद्ध समझा जाता है। अनिरुद्ध ने सूत्रों की व्याख्या में कहीं एक स्थल पर भी सांख्यसप्तति की किसी कारिका को उद्धृत नहीं किया, तो क्या इसका यह अभिप्राय समझना चाहिये, कि अनिरुद्ध के समय ईश्वरकृष्णरचित सांख्यसप्तति नहीं थी? यदि सचमुच ही उस समय तक सांख्यसप्तति नहीं थी, तब तो सूत्रों की प्राचीनता सुतरां सिद्ध हो गई। यदि अनिरुद्धव्याख्या में सप्तति का उद्धरण न होने पर भी सप्तति अनिरुद्धव्याख्या से

प्राचीन हो सकती है, तो शङ्कराचार्य आदि के ग्रन्थों में सूत्रों का उद्धरण न होने पर भी सूत्र उनसे प्राचीन हो सकते हैं। ऐसी अवस्था में जब कि अन्य अनेक कारणों से सूत्रों की प्राचीनता और कपिल-प्रणीतता सिद्ध है, [1] तब केवल दो चार ग्रन्थों में उद्धरण न होने से उनकी प्राचीनता का लोप कर देना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती।

(२) दूसरी युक्ति आपने यह दी है कि 'सूत्रों की रचना बहुत स्थलों पर कारिकाओं की रचना से मिलती है। क्योंकि कारिकाओं की रचना तो छन्दोबद्ध हुई है, पर सूत्र की रचना का छन्द में होना आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। इसलिये मालूम होता है, कि इन सूत्रों की रचना कारिकाओं के आधार पर की गई है।' इसके लिये आपने तीन उदाहरण उपस्थित किये हैं—

(i) *हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।* (सांख्यसूत्र, १।१।१२४ सांख्यकारिका १०)

(ii) *सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।* (सांख्यसूत्र २।३१ सांख्यकारिका २९)

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात्। (सांख्यकारिका २५)

सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात्। (सांख्यसूत्र २।१८)

श्रीयुत पण्डित राजाराम जी का कहना है कि प्रथम दो उदाहरणों में तो सूत्र और कारिका में मात्रा का भी भेद नहीं, सर्वथा एक ही हैं। तीसरे उदाहरण में केवल पुंनपुंसक का भेद है। वस्तुतः सूत्र कारिका एक ही हैं।

उक्त युक्तियों की अमान्यता—

इसमें कोई सन्देह नहीं, आपाततः श्रीयुत पं० राजाराम जी का मत ठीक मालूम होता है। पर सूक्ष्मदृष्टि से ग्रन्थों का पर्यालोचन करने पर इसकी असत्यता स्पष्ट होजाती है। प्रथम सूत्रका जो पाठ पण्डित जी ने लिखा है, उसमें पाठ भेद भी है। सूत्रों के प्राचीन व्याख्याकार अनिरुद्ध ने उस सूत्र का पाठ इसप्रकार दिया है—

हेतुमदनित्यं सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।

यहां पर 'अव्यापि' पदकी सूत्रांशता का न होना स्पष्ट है। अनिरुद्ध व्याख्यान में भी यह पद नहीं है, और न इसकी व्याख्या की गई है। अनिरुद्ध व्याख्या के सम्पादक डाक्टर रिचर्ड गार्बे (Dr Richard Garba) ने अपनी टिप्पणी में इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है। इससे यह सिद्ध है कि 'अव्यापि' पद सूत्रांश नहीं है, और इसीलिये सूत्र की रचना छन्दोबद्ध नहीं कही जा सकती। प्रतीत यह होता है कि विज्ञानभिक्षु या अन्य किसी लेखक ने कारिका के संस्कारवश यहां पर भी 'अव्यापि' पद को भ्रमवश लिख दिया, और यह अनिरुद्ध के बाद लिखा गया। इसलिये इस सूत्र को कारिका के आधार पर बनाया हुआ नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत कारिका ही सूत्र के आधार पर बनी हुई कही जा सकती है, जैसा कि हम तृतीय प्रकरण में सिद्ध कर

[1] देखें 'इसी ग्रन्थ का द्वितीय तथा चतुर्थ प्रकरण।

आये हैं। दूसरे और तीसरे सूत्र के सम्बन्ध में भी वहां विस्तारपूर्वक निर्देश कर दिया गया है।

यह भी मानने में कोई बाधा नहीं, कि सूत्रों में भी पद्यगन्धि रचना हो सकती है। विद्वानों के मुख से अनायास ही वह आनुपूर्वी प्रकट हो जाती है, उसमें उनका पद्यरचना के विचार से कोई यत्न नहीं होता। इसलिये सांख्यसूत्रों में भी यदि दो एक सूत्र ऐसे आगये हों, तो केवल उतने से सूत्रों का निर्माण कारिकाओं के आधार पर कदापि नहीं बताया जा सकता। श्रीयुत पं० राजाराम जी ने और भी ऐसे कई सूत्र इस प्रकरण में उद्धृत किये हैं, जिनमें से कुछ सूत्रों को मिला कर तथा उनमें से कुछ घटा बढ़ा कर उन्हें कारिका का रूप दिया जा सकता है। यदि इसी तरह नाक पूंछ काट कर उलटा सीधा करके सूत्रों की कारिका बना, उन्हें कारिकामूलक कहा जा सकता है, तब तो पण्डित जी को अवश्य सन्तोष करना चाहिये, क्योंकि इस रीति पर सारे ही सूत्रग्रन्थों को कारिकामूलक कहा जा सकता है। सूत्र और कारिकाओं का तुलनात्मक विचार करने के लिये तृतीय प्रकरण में इन सब स्थलों को हमने स्पष्ट कर दिया है।

(५) श्रीयुत पं० राजाराम जी की पांचवीं युक्ति फिर ऐसी ही है, जिसका सूत्र रचना के साथ सम्बन्ध है। आप लिखते हैं—'सूत्रों की बनावट से भी यह सिद्ध होता है कि सूत्र कारिका के ढांचे में ढले हैं। जैसे कारिका १२ में है "प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः" सूत्र १।१२७ में है "प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः" यहां सूत्र की स्वतन्त्र बनावट "सुखदुःखमोहाद्यैः" अच्छी हो सकती थी'। यहां आपने सूत्र की वास्तविक रचना को कारिका के ढांचे में ढला हुआ किस युक्ति से समझा है? यदि हम यह कहदें कि यह कारिका ही सूत्र के आधार पर बनी है, तो आप इसका क्या उत्तर दे सकेंगे? आप लिखते हैं कि 'सुखदुःखमोहाद्यैः' सूत्र की स्वतन्त्र बनावट अच्छी हो सकती थी। पर आपने यह बताने का कष्ट नहीं उठाया, कि पहली बनावट में क्या परतन्त्रता और क्या बुराई है। हम तो यह समझते हैं कि सूत्रकार चाहे 'सुखदुःखमोहाद्यैः' सूत्र बनाते, चाहे वे अब 'प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः' बना गये, इस बात में श्रीयुत पं० राजाराम जी, महर्षि कपिल पर अभियोग नहीं कर सकते। पर यह अवश्य है, कि कारिकाकार; सूत्रकार के ही शब्दों को कारिका में रखकर एक कमी अवश्य कर गये हैं। जो अर्थ सूत्र से प्रकट हो जाता है, वह कारिका से नहीं होता, जिसका प्रकट होना आवश्यक है। सूत्रकार ने प्रीति अप्रीति और विषाद को कह कर आगे 'आद्य' पद रक्खा है। जिससे सत्त्व, रजस् और तमस् के अन्य रूपों का भी ग्रहण हो जाता है। जैसे प्रीति से दया, ऋजुता (सरलता), मृदुता, लज्जा, सन्तोष, विवेक और क्षमा आदि का ग्रहण होजाता है। अप्रीति से मान, मद, मत्सर, ईर्ष्या और लोभ आदिका तथा विषाद से वञ्चना, कृपणता, कुटिलता और अज्ञान आदि का संग्रह होजाता है। परन्तु कारिका में ऐसा कोई शब्द न होने से यहां दया आदि के असंग्रह के कारण कारिका की रचना अपूर्ण है। सूत्र की रचना पूर्ण स्वतन्त्र और बहुत अच्छी है। सम्भव है छन्दोरचना से बाधित होकर कारिकाकार को वैसी रचना करनी पड़ी हो। हमारा तो यह मत है कि कारिकाकार जहां तक हो सकता है, सूत्रों के ही शब्दों में सूत्रकार के

सिद्धान्त को रखना उचित समझता है। इसलिये अनेक स्थलों पर आर्थिक न्यूनता होने पर भी उसने इसी शैली का अनुसरण किया है। क्योंकि जिस षष्टितन्त्र के आधार पर ईश्वरकृष्ण कारिकाओं की रचना कर रहा है, उसके लिये उसके हृदय में स्थान होना अत्यन्त आवश्यक है।

यहां हम इतना और लिखदेना चाहते हैं, कि 'प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः' इस सूत्र की जो व्याख्या हमने अभी की है, वह केवल कल्पना नहीं है, प्रत्युत महर्षि कपिल के समकालिक उनके प्रशिष्य पञ्चशिखाचार्य ने भी इस सूत्र की वही व्याख्या की है। पञ्चशिखाचार्य का ग्रन्थ इस प्रकार है:—

सत्त्वं नाम प्रसादलाघवानभिष्वङ्गप्रीतितितिक्षासन्तोषादिरूपानन्तभेदं समासतः सुखात्मकम्। एवं रजोपि शोकादिनानाभेदं समासतो दुःखात्मकम्। एवं तमोपि निद्रादिनानाभेदं समासतो मोहात्मकम्[1]।

ऐसी अवस्थामें हम यह निश्चित कह सकते हैं, कि सूत्र की रचना मौलिक स्वतन्त्र और सर्वथा पूर्ण है, और कारिका की रचना न्यून तथा सूत्राधीन है। इसलिये श्रीयुत पं० राजाराम जी का विचार कदापि मान्य नहीं होसकता।

इसी के साथ श्रीयुत पं० राजाराम जी ने एक और सूत्र दिया है, उसके सम्बन्ध में आप लिखते हैं—'कारिका ६७ में है "चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः"। सूत्र ३।८२ है "चक्रभ्रमणवद् धृतशरीर" इस 'धृतशरीरः' पद को 'तिष्ठति' की आकाङ्क्षा है। यह पद कारिका में विद्यमान है, सूत्र में अध्याहार करना पड़ता है।' तो क्या इससे यह सिद्ध हो जाता है, कि यह सूत्र कपिल का बनाया हुआ नहीं, कारिकाओं के निर्माण के बाद इसे किसी ने बनादिया है? यदि सूत्र में क्रियापद का अध्याहार करना पड़ता है, तो इससे क्या हानि हुई? सूत्रों में तो अध्याहार करना ही पड़ता है। यदि सब कुछ सूत्र में ही आजाय, तो उसका सूत्रत्व ही क्या रह जायगा? सूत्र तो सदा व्याख्यापेक्षी होते हैं। हम पण्डित जी की इस तर्ककुशलता को न समझ सके। सूत्र में क्योंकि 'तिष्ठति' क्रियापद का अध्याहार करना पड़ता है, इसलिये वह कपिल का बनाया हुआ नहीं, आपके विचार से तो फिर कारिका कपिल की बनाई हो जानी चाहिये, क्योंकि उसमें क्रियापद का अध्याहार नहीं करना पड़ता। फिर कारिका के आधार पर यदि सूत्र की रचना होती, तो सूत्र में भी 'तिष्ठति' क्रियापद रखदिया गया होता।

श्रीयुत राजाराम जी के उक्त विचारों का आधार, तथा उसका विवेचन—

आगे पण्डितजी लिखते हैं, "सच तो यह है, कहां आदिविद्वान् भगवान् कपिल और कहां यह सूत्र, जिनमें वैशेषिक न्याय बौद्ध के अवान्तर भेदों के और नवीन परिष्कृत वेदान्त के

---

[1] यह पञ्चशिख का ग्रन्थ विज्ञानभिक्षु ने इसी (१।१२७) सूत्र पर, इस अर्थ के ही प्रकट करने के लिये उद्धृत किया है।

पारिभाषिक शब्द लिखकर उनका खण्डन किया है। जिससे पाया जाता है, कि इन पारिभाषिक शब्दों के प्रचार के पीछे यह ग्रन्थ रचा गया। केवल यही एक दर्शन है, जिसमें मध्यन्याय के ग्रन्थों की तरह मंगलाचरण पर विचार किया है "मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति" ५।१॥" पण्डित जी के इस लेख से स्पष्ट प्रतीत होजाता है, कि आपको इन सूत्रों के कपिलप्रणीत होने में क्यों सन्देह हुआ? न्याय वैशेषिक, बौद्ध तथा वेदान्त आदि के पारिभाषिक पदों को यहां देखकर, केवल पण्डित जी को नहीं, प्रत्युत अनेक विद्वानों को यह धोखा हुआ है, कि ये सूत्र कपिलप्रणीत नहीं। पर सच बात यह है कि विद्वानों ने इन सूत्रों को गम्भीर दृष्टि से मनन करने में कमी की है। यदि सूत्रों की रचना सम्बन्धी आन्तरिक साक्षी के लिये स्थिर यत्न किया जाता तो अभी तक यह निश्चय किया जासकता था, कि जिन सूत्रों में न्यायादि के नाम या पारिभाषिक पदों का प्रयोग है, क्या वे क्रमिक प्राचीन रचना के साथ सम्बन्ध रखते हैं, या उन्हें किन्हीं विद्वानों ने मध्यकाल में सूत्रों के बीचमें मिला देने का यत्न किया है। हम इसी बात को प्रस्तुत प्रकरण में अच्छी तरह स्पष्ट करेंगे। श्रीयुत पण्डित राजाराम जी ने भी यहां मंगलाचरण सम्बन्धी एक सूत्र उद्धृत किया है, इससे आपका यही प्रयोजन प्रतीत होता है, कि यह सूत्र कपिलप्रणीत नहीं हो सकता। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि ये सब ही सूत्र कपिल-प्रणीत नहीं हैं। इस बात का विवेचन करना पण्डित जी का कर्त्तव्य था। परन्तु आपने इस ओर ध्यान न देकर सब ही सूत्रों के कपिल-प्रणीत होने का निषेध कर दिया, जैसा कि आपसे पहले और भी आधुनिक विद्वान् करते रहे हैं। हम इसी प्रकरण में आगे स्पष्ट करेंगे, कि षडध्यायी के अनेक सूत्र कपिल प्रणीत क्यों नहीं हैं? ऐसी अवस्था में सब ही सूत्रों को कपिल-प्रणीत न मानना युक्तिसंगत नहीं कहा जासकता। इसलिये श्रीयुत पं० राजाराम जी का मत इस विषय में मान्य नहीं हो सकता [1]।

सांख्यसूत्रों पर प्रो० मैक्समूलर तथा प्रो० कीथ के विचार—

प्रो० मैक्समूलर और प्रो० कीथ आदि ने भी स्वरचित ग्रन्थों में सांख्यशास्त्र पर अपने विचार प्रकट किये हैं। वे भी इन सूत्रों को कपिलप्रणीत या प्राचीन नहीं मानते। इस बात को सिद्ध करने के लिये जो युक्तियां उन्होंने उपस्थित की हैं, उनका सूत्ररचना के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। जो कुछ है, उसका यथास्थान वर्णन कर दिया गया है, अथवा आगे कर दिया जायगा। अन्य युक्तियों का भी जिनका जिस प्रकरण के साथ सम्बन्ध है, वहां उनका विचार किया गया है। अध्यापक मैक्समूलर ने 'तत्त्वसमास' को अवश्य कपिलप्रणीत और प्राचीन माना है। पर यह निश्चित है, कि 'तत्त्वसमास' षडध्यायी का विषयसंक्षेप-तालिका या सूचीमात्र कहा जासकता

---

[1] इसी ग्रन्थ (सांख्य के तीन प्राचीन ग्रन्थ) की भूमिका में श्रीयुत पं० राजाराम जी ने और भी कई ऐसी युक्तियां उपस्थित की हैं, जिनसे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, कि ये षडध्यायीसूत्र कपिल-प्रणीत नहीं हैं। परन्तु उन युक्तियों का सूत्ररचना से कोई सम्बन्ध नहीं, इसलिये उनके सम्बन्ध का विचार अन्य प्रकरणों में यथास्थान किया गया है।

है। इसीलिये इसका नाम 'तत्त्वसमास' है। समास संक्षेप को कहते हैं, पहले से विद्यमान विस्तार का ही संक्षेप हो सकता है। यदि 'तत्त्वसमास' के कपिलप्रणीत होने में कोई सन्देह नहीं, तो 'सांख्यषडध्यायी' के कपिलप्रणीत होने में किसी तरह भी सन्देह न होना चाहिये। कपिल ने प्रथम 'सांख्यषडध्यायी' का निर्माण कर, अनन्तर विषयसूची के रूप में इस 'तत्त्वसमास' को बनाया। 'तत्त्वसमास' को शास्त्र नहीं कहा जासकता, वह केवल शास्त्र की सूची या तालिका है। षडध्यायी शास्त्र है, तन्त्र है, इसको 'सांख्यशास्त्र' या 'षष्टितन्त्र' कहने में कोई संकोच नहीं होता। 'तत्त्वसमास' की कपिलप्रणीतता और प्राचीनता को स्वीकार कर षडध्यायी की कपिलप्रणीतता और प्राचीनता का निषेध करना अशक्य है। इस विवेचन का सूत्रों की रचना के साथ जहां तक सम्बन्ध है, उस अंश में ये दोनों अध्यापक महोदय भी चुप हैं, और पहले से ही यह निश्चय कर बैठे हैं, कि ये सूत्र अत्यन्त अर्वाचीन हैं, १४वीं या १५ वीं सदी से ऊपर इनको नहीं घसीटा जा सकता।

पूर्वपक्ष का उपसंहार—

इन सब विद्वानों के विवरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूत्रों की रचना के सम्बन्ध में जितना मनन होना चाहिये था, उतना नहीं हुआ। एक दो विद्वानों को छोड़कर शेष ने तो सूत्रों को उठाकर देखने का कष्ट करना भी व्यर्थ ही समझा है। कुछ समय से क्या पाश्चात्य और क्या भारतीय प्रायः सबही विद्वानों के मस्तिष्क में यह भाव स्थिर हो गया है कि सांख्य का प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ 'सांख्यसप्तति' ही है। सूत्रों की रचना किसी पण्डित ने बाद में कर डाली है। इस धारणा का विशेष कारण भी है, इसका उल्लेख हम इस प्रकरण के आरम्भ में कर चुके हैं। बात इतनी ही है कि इन सूत्रों में अनेक अर्वाचीन आचार्यों के नाम लेकर सिद्धान्तों का खण्डन तथा उनके पारिभाषिक पदों का प्रयोग पाया जाता है। यह सब होने पर भी हम यह न समझ सके कि कारिकाओं के बाद, केवल बाद ही नहीं प्रत्युत कारिकाओं के आधार पर, सूत्रों की रचना क्यों मानी जाती है? हां! यह अवश्य कहा जासकता है कि उपलभ्यमान सम्पूर्ण सूत्रों का रचयिता कपिल नहीं हो सकता, क्योंकि कपिल अपने से सहस्रों वर्ष पीछे होने वाले आचार्यों के मतों का उल्लेख उन्हीं के शब्दों में कैसे कर सकता है? इसी का विवेचन करने के लिये आवश्यक है कि सूत्रों की रचना को गम्भीर दृष्टि से मनन किया जाय, और देखा जाय कि क्या इनमें कोई ऐसी रचना है जिसका कपिल के साथ सम्बन्ध नहीं? सचमुच उसका निर्माण कपिल के द्वारा नहीं हुआ, वह अर्वाचीन रचना कपिल के सिर मढ़ी गई, और उसीने इस दार्शनिक साहित्य में एक विप्लव खड़ा कर दिया, जिसके वेग में बड़े बड़े विद्वान् भी वास्तविक मार्ग का अन्वेषण न कर सके?

सांख्यसूत्रों की रचना, और उनमें प्रक्षिप्त अंश—

इस सम्बन्ध में सांख्यसूत्रों का अनेकबार अध्ययन करने से हमारा यह स्थिर मत हो गया है, कि इनमें कई स्थलों पर प्रक्षेप हैं। कहीं पर एक सूत्र का है, कहीं दो का, कहीं चार का,

और कहीं २ तो प्रक्षेपकर्त्ताओं ने कमाल कर दिखाया है, तीस तीस और पैंतीस पैंतीस सूत्रों का इकट्ठा ही प्रक्षेप है। इन सब ही प्रक्षेपों का हम प्रमाणपूर्वक यथाक्रम उल्लेख करते हैं। इससे यह सर्वथा स्पष्ट हो जायगा, कि जिन सूत्रों के आधार पर हम इस सम्पूर्ण कपिल की कृति को अर्वाचीन कह बैठते हैं, वे सूत्र ही किन्हीं आचार्यों ने बाद में यहां मिला दिये हैं। उनका शोध होने पर हम विशुद्ध सांख्यशास्त्र का निष्कलङ्क स्वरूप देख सकते हैं, तब हमको निश्चय होजायगा कि कपिल-प्रणीत सांख्य का मूलग्रन्थ यही है।

आक्षेप को समझने के लिये, प्रारम्भिक विषयोपक्रम —

षष्टितन्त्र अर्थात् सांख्यशास्त्र का प्रारम्भ इस सूत्र से होता है :--

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः'।

इस सूत्र में शास्त्रारम्भ का प्रयोजन बताया गया है। इससे अगले पांच सूत्रों में इस बात को सिद्ध किया गया है, कि दुःख की अत्यन्त निवृत्ति, औषध आदि दृष्ट उपायों तथा ज्योतिष्टोमादि वैदिक (अदृष्ट) उपायों से नहीं हो सकती। क्योंकि ये उपाय स्वयं अपायी हैं, इनसे तीनों दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति अर्थात् मोक्षसिद्धि असम्भव है। इसलिये मोक्षप्राप्ति के हेतु इस सांख्यशास्त्र अर्थात् ज्ञानशास्त्र का आरम्भ अत्यन्त आवश्यक है। इसप्रकार छठे सूत्र तक शास्त्रारम्भ को दृढ़ करके आगे यह विचार उपस्थित होता है कि अत्यन्तदुःखनिवृत्ति या मोक्ष उसी को हो सकता है, जो बद्ध हो। इसलिये जब तक पुरुष के साथ बन्ध का योग प्रतिपादन न किया जाय, मोक्षशास्त्र का आरम्भ असम्भव है। इस प्रकरण का प्रथम सूत्र यह है :—

'न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः'।

स्वभाव से ही आत्मा बद्ध नहीं कहा जासकता, क्योंकि स्वभाव के अनपायी होने से उसके हटाने के लिये अनुष्ठान करना असङ्गत है। शास्त्र भी अशक्य वस्तु की प्राप्ति के लिये कभी उपदेश नहीं करता, क्योंकि इसतरह का उपदेश न होने के बराबर है। कदाचित् कोई यह आशङ्का करे कि चादर की स्वाभाविक सफेदी रङ्ग दे देने से, और बीज की अंकुरजननशक्ति भून देने से जैसे नष्ट हो जाती है, इसीतरह स्वभाव से बद्ध आत्मा का भी मोक्ष संभव हो सकता है। उसे ध्यान रहना चाहिये कि सांख्यमत में किसी वस्तु का सर्वथा नाश नहीं होता। चादर की सफेदी और बीज की अंकुरजननशक्ति का, कुछ समय के लिये तिरोभाव होजाता है। इसलिये यदि आत्मा को स्वभावतः बद्ध माना जाय, और उस बन्ध का कुछ समय के लिये तिरोभाव मान लिया जाय, तो यह दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति नहीं कही जा सकती। इसका नाम पुरुषार्थ न होगा। ऐसी अवस्था में आत्मा को स्वभावतः बद्ध नहीं माना जा सकता। ये सब बातें ग्यारहवें सूत्र तक प्रतिपादन की गई हैं। इससे आगे सत्रहवें सूत्र तक बन्ध के चार निमित्तों का प्रत्याख्यान किया गया है—काल, देश, अवस्था और कर्म, अर्थात् कालयोग से, देशयोग से, अवस्थायोग से और कर्मयोग से भी आत्मा का बन्ध नहीं हो सकता [1]।

---

1 सूत्र देखना चाहें, तो मूलग्रन्थ से देखिये।

इसके आगे अठारहवां सूत्र इसप्रकार है —

'प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम् '।

प्रकृति के कारण भी बन्ध मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृति भी इस अंश में कुछ परतन्त्र ही है, कर्म या संयोग आदि के बिना प्रकृति कुछ नहीं कर सकती। इसप्रकार यहां तक आत्मा को बन्ध में डालने वाले सब ही निमित्तों का प्रत्याख्यान कर दिया। आत्मा स्वभाव से भी बद्ध नहीं, और देश आदि का सम्बन्ध तथा प्रकृति भी उसको बद्ध नहीं कर सकते, तो क्या फिर आत्मा का बन्ध है ही नहीं ? यदि ऐसी बात है, तब मोक्षशास्त्र का उपदेश व्यर्थ है। जब बन्ध ही नहीं तो मोक्ष कैसा ? यह आशंका उपस्थित होने पर महर्षि कपिल उन्नीसवां सिद्धान्तसूत्र इस प्रकार लिखते हैं:—

'न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते'।

नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव आत्मा का 'तद्योग' अर्थात् बन्धयोग, 'तद्योग' के बिना अर्थात् प्रकृतियोग के बिना नहीं हो सकता। प्रकृतियोग ही बन्धयोग का कारण है। प्रकृति का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से ही आत्मा बद्ध हो जाता है।

इसप्रकार सिद्धान्त का निरूपण होने पर यहां फिर यह आकांक्षा उत्पन्न होती है कि आत्मा के साथ प्रकृति का सम्बन्ध कैसे ? क्योंकि नित्य शुद्ध आदि स्वभाव वाले आत्मा का प्रकृति के साथ सम्बन्ध, बिना ही किसी निमित्तान्तर के कैसे हो सकता है ? ऐसी अवस्था में जिस तरह स्वभाव या देशकाल आदि के सम्बन्ध से आत्मा का बन्ध असंगत है, इसीप्रकार प्रकृतियोग से बन्ध कहना भी असंगत ही होगा। इसलिये इस आकांक्षा की पूर्ति होना अत्यन्त आवश्यक है, कि प्रकृतिसंयोग भी आत्मा के साथ कैसे ? यहां यह ध्यान रखने की बात है कि कपिल ने इस बात का उत्तर जिस सूत्र से दिया है, वह सूत्र, इस उन्नीसवें सूत्र से अगला बीसवां सूत्र (आजकल के सूत्रक्रमानुसार) नहीं है। वर्त्तमान सूत्रक्रमानुसार उसकी संख्या ५५ है। वह इसप्रकार है:—

'तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्'।

आत्मा के साथ प्रकृतिसंयोग भी अविवेक के कारण होता है, इसलिये बन्ध के निमित्त प्रकृतिसंयोग को अन्य—स्वभाव या कालयोग आदि निमित्तों—के समान नहीं माना जा सकता।

१९ वें सूत्र के अनन्तर एक लम्बा प्रक्षेप—

इन दोनों सूत्रों की रचना से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, कि उन्नीसवें सूत्र के अनन्तर यह सूत्र होना चाहिये। उन्नीसवें सूत्र के अन्तिम पद हैं 'तद्योगस्तद्योगादृते'। उन्हीं पदों को लेकर अगला सूत्र है— 'तद्योगोऽप्यविवेकात्'। हमारे विचार में यह सूत्ररचना इतनी स्पष्ट है कि अपने अव्यवहित आनन्तर्य के लिये किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती। शब्दकृत और अर्थकृत दोनों ही सम्बन्धों के आधार पर पहले सूत्र के ठीक अनन्तर दूसरा सूत्र आना चाहिये। इसलिये हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि बीसवें सूत्र से लेकर चौवनवें सूत्र तक कुल पैंतीस सूत्र यहां पर प्रक्षिप्त हैं। ये सूत्र प्रकरण विरुद्ध, असंबद्ध तथा पुनरुक्त आदि दोषों से दूषित हैं।

इन सूत्रों के सम्बन्ध में और कुछ विचार उपस्थित करने के पहले हम अविकल रूप में उन को यहां उद्धृत करदेना चाहते हैं—

नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात् ।

वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः ।

विजातीयद्वैतापत्तिश्च ।

विरुद्धोभयरूपा चेत् ।

न तादृक्पदार्थाप्रतीतेः ।

न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत् ।

अनियतत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम् ।

नानादिविषयोपरागनिमित्तोऽप्यस्य ।

न बाह्याभ्यन्तरयोरुपर[1]ज्योपरञ्जकभावोऽपि देशभेदात्[2] स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव

द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था ।

अदृष्टवशाच्चेत् ।

न द्वयोरेककालायोगादुपकार्योपकारकभावः ।

पुत्रकर्मवदिति चेत् ।

नास्ति हि तत्र स्थिर एक[3] आत्मा यो गर्भाधानादिकर्मणा[4] संस्क्रियते ।

स्थिरकार्यासिद्धेः क्षणिकत्वम् ।

न प्रत्यभिज्ञाबाधात् ।

श्रुतिन्यायविरोधाच्च ।

दृष्टान्तासिद्धेश्च ।

युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभावः ।

पूर्वापाये उत्तरायोगात् ।

तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न ।

पूर्वभाविमात्रे[5] न नियमः ।

न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः ।

तदभावे तदभावाच्छून्यं तर्हि ।

शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद् विनाशस्य ।

अपवादमात्रमबुद्धानाम् ।

उभयपक्षसमानक्षेमादयमपि[6] ।

अपुरुषार्थत्वमुभयथा ।

---

1. '०परञ्ज्योप०' विज्ञानभिक्षुः । 2. 'देशव्यवधानात्' विज्ञानभिक्षुः । 3. '० एकात्मा' वि०, भि० ।
4. '० धानादिना सं०' वि ० भि० । 5. 'भावमात्रे' वि०, भि० । 6. '०क्षेमत्वादय०' वि० भि०.

न गतिविशेषात् ।
निष्क्रियस्य तदसम्भवात् ।
मूर्त्तत्वाद् घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः ।
गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ।
न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात् ।
निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति ।
अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे[1] ।

वृत्तिकार अनिरुद्ध के मतानुसार इन सूत्रों में विशेषकर बौद्ध और जैनों का ही प्रत्याख्यान है। अनिरुद्ध ने इन सूत्रों में निम्नलिखित रीति से प्रकरणों की कल्पना की है :—

प्रक्षिप्त सूत्रों में प्रथम प्रकरण—

(१) अविद्यावाद का खण्डन (२०-२६ सूत्र तक)। इस प्रकरण का आरम्भ अनिरुद्ध इसप्रकार करता है—'अथाविद्यया तस्य बन्धो भविष्यतीत्यत आह'—अर्थात् अविद्या के कारण आत्मा का बन्ध होजायगा, इसलिये कहा—। यहां पर हम इतना ध्यान दिला देना उचित समझते हैं, कि जब सूत्रकार ने आत्मा के बन्ध के सम्बन्ध में अपना स्थिर सिद्धान्त प्रकट कर दिया, फिर इस बात की सम्भावना ही कहां रह जाती है कि अन्य कारणों से भी आत्मा का बन्ध होसकता है, और वह भी उस अवस्था में जब कि अपना स्थिर सिद्धान्त प्रकट करने से पहले सूत्रकार ने स्वयं अनेक पूर्वपक्षमतों को इस सम्बन्ध में उपस्थित कर दिया है। यदि ये पूर्वपक्षमत (२०-५४ सूत्र तक) सूत्रकार के द्वारा ही उपस्थित किये गये होते, तो सूत्रकार अवश्य इन मतों को भी पहले पूर्वपक्ष के साथ ही प्रकट करता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यह सम्पूर्ण प्रकरण पश्चाद्वर्त्ती किसी विद्वान् का कार्य है।

विज्ञानभिक्षु लिखता है, इस प्रकरण (२०-२६ सूत्र तक) में वेदान्तप्रतिपाद्य अविद्या की बन्धहेतुता का खण्डन नहीं, किन्तु क्षणिकविज्ञानात्मवादी बौद्ध का ही खण्डन किया गया है। उसने यह बात स्पष्ट लिखी है—

एभिश्च सूत्रैर्ब्रह्ममीमांसासिद्धान्तो निराक्रियत इति भ्रमो न कर्त्तव्यः। ब्रह्ममीमांसायां केनापि सूत्रेणाविद्यामात्रतो बन्धस्यानुक्तत्वात्।..........।तस्मादत्र प्रकरणे विज्ञानवादिनां बन्धहेतुत्वावस्थैव साक्षान्निराक्रियते'

यहां यह भी एक ध्यान देने की बात है कि 'न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्' यह सूत्र बौद्ध के मुख से कहलाया गया है, वह कहता है कि हम वैशेषिक या नैयायिकों की तरह छः या सोलह आदि नियत पदार्थों को ही मानने वाले नहीं हैं। इसलिये सत् और असत् से विलक्षण एक अविद्या नामक अतिरिक्त पदार्थ को मान लेने में क्या हानि है ? इस बात का

1 इन सूत्रों का प्रक्षेप किस समय हुआ है, इसका निर्णय इसी प्रकरण के अन्त में किया जायगा।

उत्तर सांख्य की ओर से यह दिया गया है—'*अनियतत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम्*'। हम भी अनियतपदार्थवादी हैं, पर जो पदार्थ युक्तिसे सिद्ध नहीं होता उसे कैसे स्वीकार करलें, ऐसे पदार्थ को मान लेना तो बालकों या पागलों जैसी बात होगी।

इस सूत्रसे मालूम होता है कि सांख्य भी अनियतपदार्थवादी हैं। इस बातको सूत्रका 'अनियतत्वेऽपि' पद अत्यन्त स्पष्ट कर रहा है। मालूम होता है इसीलिये अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में कई स्थलों पर[1] सांख्य को अनियतपदार्थवादी कह डाला है।

इसके सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि यह सूत्र सांख्यसिद्धान्त के विरुद्ध लिखा गया है। सांख्य अनियतपदार्थवादी कभी नहीं कहे जासकते। सांख्य में चेतन और अचेतन दो निश्चित तत्त्वों का विवेचन किया गया है। आधिभौतिक दृष्टि से उनको पच्चीस तथा आध्यात्मिक दृष्टि से साठ विभागों में विभक्त कर दिया गया है। इसलिये किसी भी अवस्था में सांख्यवादियों को अनियतपदार्थवादी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये (१।१।६१) सूत्र के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने अनिरुद्ध का प्रत्याख्यान करते हुए स्पष्ट लिखा है-'*एतेन सांख्यनामनियतपदार्थाभ्युपगम इति मूढप्रलाप उपेक्षणीयः*'। सांख्यों को अनियतपदार्थवादी कहना मूर्खों का प्रलाप है, इसकी उपेक्षा करनी चाहिये। कपिल ने स्वयं सूत्रों में तत्त्वों के इन विभागों को यथास्थान स्पष्ट किया है, फिर यह कैसे कहा जासकता है, कि सांख्य अनियतपदार्थवादी हैं। इसलिये यह सूत्र सिद्धान्तविरुद्ध होने से इस प्रकरण की प्रक्षिप्तता को स्पष्ट कर रहा है।

प्रक्षिप्त सूत्रों में दूसरा प्रकरण—

(२) इन प्रक्षिप्त सूत्रों में दूसरा प्रकरण सत्ताईसवें सूत्र से इकतालीसवें सूत्र तक कल्पना किया गया है। इस प्रकरण (२७-४१ तक) का प्रारम्भ अनिरुद्ध ने इसप्रकार किया है-'*बौद्धपक्षं निरस्यति*।' विज्ञानभिक्षु इसका प्रारम्भ करता है-'*अपरे नास्तिका आहुः—क्षणिका बाह्यविषयाः सन्ति, तेषां वासनया जीवस्य बन्ध इति तदपि दूषयति*—।' इस अवतरणिका से मालूम होता है कि इस प्रकरण में क्षणिकबाह्यार्थवादी सौत्रान्तिक और वैभाषिक सम्प्रदाय के बौद्धों का खण्डन होना चाहिये। विज्ञानभिक्षु ने इसी प्रकरण के ३४ वें सूत्र की जो अवतरणिका लिखी है, उससे मालूम होता है कि वह इसमें एक और अवान्तर प्रकरण मानता है। वह लिखता है—*ननु बन्धस्यापि क्षणिकत्वादनियतकारणकोऽभावकारणको वा बन्धोऽस्त्वित्याशयेनापरो नास्तिकः प्रत्यवतिष्ठते*—। बन्ध के भी क्षणिक होने से बन्धका कोई नियत कारण नहीं कहा जासकता, अथवा कारण का कथन करना ही असम्भव है, क्योंकि बन्ध के क्षणिक होने पर कारण की कल्पना सचमुच ही असंगत होगी, इस आशय से दूसरा नास्तिक प्रत्यवस्थान करता है—।

---

[1] (१।१।४२ सूत्र पर) अनिरुद्ध लिखता है—'किंचानियतपदार्थवादित्वादस्माकं यथोपपन्नः सम्बन्धोऽपि कश्चिदस्तित्वपरीति का नो हानिः'। (१।१५६ पर) लिखता है—'अथ भवतु गुणो वा द्रव्यं वा नास्माकं सिद्धान्तक्षतिः, अनियतपदार्थवादित्वात्'।

हमारे विचार में विज्ञानभिक्षु ने यह अवतरणिका ठीक नहीं लिखी। क्योंकि जब आप अवतरणिका में, बन्ध की क्षणिकता के सम्बन्ध में अनियतकारणता या अकारणता दोष उपस्थित कर रहे हैं, तब आप उस सूत्र का अवतरण कैसे करसकते हैं, जिसमें प्रत्येक वस्तु की क्षणिकता को सिद्ध किया गया है। अनिरुद्ध ने इसकी अवतरणिका इसप्रकार लिखी है---'*आत्माऽस्थिरबोध इत्याह---*।' हमारे विचार में यह अवतरणिका ठीक है। वैसे तो इस प्रकरण में व्याख्याकारों के अनेक असांगत्य हैं, परन्तु यह बात प्रकरण में भेद डालने वाली है, इसलिये यहां इसका उल्लेख कर दिया गया है। इस प्रकरण के सूत्रों की रचना बड़ी शिथिल और भावहीन मालूम होती है।

इन सब बातों के अतिरिक्त इस प्रकरण में विशेष ध्यान देने योग्य अट्ठाईसवां (२८) सूत्र है--'*न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरज्यो (ञ्जो) परञ्जकभावोऽपि देशभेदात्, स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव*'। सूत्र के अन्तिम पद हैं—'*स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव*'। यहां भारत के प्राचीन दो प्रसिद्ध नगरों का नामोल्लेख किया गया है—स्रुघ्न और पाटलिपुत्र। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यह सूत्र कपिल-प्रणीत नहीं हो सकता; क्योंकि कपिल के समय स्रुघ्न और पाटलिपुत्र की स्थिति थी ही नहीं, फिर वह इनका उल्लेख कैसे करता? इससे यह निश्चित किया जा सकता है, कि यह सम्पूर्ण प्रकरण ही किसी पण्डित ने बाद में यहां मिला दिया है।

इन सूत्रों के प्रक्षेप-काल का अनुमान—

स्रुघ्न पाटलिपुत्र नामों के उल्लेख से इन सूत्रों के यहां और मिलाये जाने के समय का कुछ अनुमान किया जा सकता है।[1] अलैग्जण्डर कनिंघम (Alexander Cunningham) ने अपनी पुस्तक 'एन्शण्ट ज्योग्रफी ऑफ इण्डिया' (Ancient Geography of India) में ३९५ से ३९९ पृष्ठ तक स्रुघ्न का गवेषणापूर्ण ऐतिहासिक वर्णन लिखा है। आजकल इसको 'सुघ' कहते हैं, अब यह बहुत छोटा सा गांव है। जिला अम्बाले में जगाधरी से पूर्व 'बूड़िया' गांव है, इसी से दक्खिन पूर्व और पूर्व में दयालगढ़, मादलपुर और सुघ ये तीन छोटे छोटे गांव हैं। भौगोलिक परिस्थिति से यह स्पष्ट मालूम होता है कि ये सब गांव किसी समय में एक ही थे। कनिंघम ने यह भी लिखा है कि यहां बहुत पुराने चांदी और तांबे के सिक्के पाये गये हैं, जो दिल्ली के तुंवर और चौहान राजाओं से लेकर ईसा से एक हजार वर्ष पहले तक के हैं। लगभग दो हजार वर्ष (एक हजार वर्ष ईसा से पहले और एक हजार वर्ष बाद) के सिक्कों का यहां पाया जाना यह सिद्ध करता है, कि उस समय में स्रुघ्न एक समृद्धिशाली नगर था। ऐसे समय में उदाहरण के लिये उसका नाम लिया जाना संगत ही मालूम होता है। पाटलिपुत्र की स्थापना ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पहले हुई मानी जाती है। बौद्ध इतिहास से भी इसी बात का निर्णय होता है। इससे यह सिद्ध है कि इन सूत्रों का मिलान ईसा से लगभग ३५० वर्ष पहले से लगाकर ईसा के

[1] देखो—Alexander Cunningham की Ancient Geography of India पृष्ठ ३९७, ३९८। कलकत्ते से सन् १९२४ में प्रकाशित, श्री सुरेन्द्रनाथ मजूमदार शास्त्री M.A. द्वारा सम्पादित।

५०० वर्ष बाद तक के बीच में ही हो सकता है। क्योंकि ईसा से ४०० वर्ष पहले स्रुघ्न के प्रसिद्ध नगर होने पर भी पाटलिपुत्र भविष्यत् के गर्भ में ही था, और ईसा के एक हजार वर्ष बाद स्रुघ्न वा तो नामावशेष ही रह गया, पर पाटलिपुत्र का पूर्ण अधःपतन ईसा की छठी शताब्दी में ही हो चुका था। हर्षवर्धन के समय पाटलिपुत्र कोई बड़ा नगर नहीं समझा जाता था। देशभेद को बतलाने के लिये इस सूत्र के रचयिता ने इन नामों का यहां उल्लेख किया है। इसप्रकार नामोल्लेख, तात्कालिक प्रसिद्धि का प्रबल प्रमाण है, और इतिहास से इन दोनों नगरों की साथ २ प्रसिद्धि इन्हीं (३५० B.C. से ५०० A.D. तक के) वर्षों में सम्भव हो सकती है।

आज हम इस बात को स्पष्ट नहीं कह सकते कि जिस समय प्रथम ही इन सूत्रों का षडध्यायी में मिश्रण किया गया, उस समय इसके विरुद्ध कुछ आन्दोलन उठा था या नहीं ? पर यह अवश्य कहा जा सकता है, कि उस समय में प्रचारप्राप्त अथवा लोकमान्य ग्रन्थों में प्रक्षेप की प्रथा अवश्य प्रचलित थी। महाभारत के २४ हजार श्लोकों का एक लाख हो जाना इसी का फल है। आजकल जो आयुर्वेद की 'चरक संहिता' हमें उपलब्ध हो रही है, वह भी अग्निवेश, चरक और दृढबल इन तीन आचार्यों द्वारा भिन्न २ समय में रचित परिष्कृत तथा परिवर्द्धित हुई है। इसलिये हमें यह कहते संकोच नहीं होता कि उस समय विद्वान् किसी भी प्रचलित ग्रन्थ में उसे समयानुकूल बनाने के लिये कुछ प्रक्षेप कर देना, और अपने विचार के अनुसार उस की कमी को पूरा कर देना बुरा नहीं समझते थे, चाहे आज हमारा विचार कैसा ही हो।

प्रक्षिप्त सूत्रों में तीसरा प्रकरण—

(३) इन प्रक्षिप्त सूत्रों में तीसरा प्रकरण बयालीसवें सूत्रसे सैंतालीसवें सूत्र तक कल्पना किया गया है। अनिरुद्ध इसका प्रारम्भ यों करता है-'*बाह्यवस्तुपरागाद्बन्ध इत्युक्तम्। ननु बाह्यं च वस्तु नास्ति, विज्ञानात्मकत्वाज्जगत इति विज्ञानवादिनं निराकरोति*—'। विज्ञानभिक्षु इस प्रकरण का अवतरण करता है—'*अपरे तु नास्तिका आहुः—विज्ञानातिरिक्तवस्त्वभावेन बन्धोऽपि विज्ञानमात्रं, स्वप्नपदार्थवत्। अतोऽत्यन्तमिथ्यात्वेन न तत्र कारणमस्तीति, तन्मतमपाकरोति*।' इन अवतरणिकाओं में कोई विशेष अर्थभेद नहीं, पर अनिरुद्ध ने स्पष्ट ही विज्ञानवादी का नाम ले दिया है। ४२, ४३, ४४ सूत्रों में साक्षात् बौद्धों के कई प्रसिद्ध पारिभाषिकपद प्रयुक्त हुए २ हैं। अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु दोनों ही व्याख्याकार इस प्रकरण का तात्पर्य, बौद्धों के शून्यवाद के खण्डन में ही समझते हैं। हमारे विचार में इन बौद्ध दार्शनिक पारिभाषिक पदों का प्रयोग और इसप्रकार के खण्डन मण्डन की कल्पना, कपिल के समय में करना, सम्भावना के बाहर की बात है। इसलिये यही मानना ठीक होगा कि ये सूत्र भी कपिल के पश्चात् बौद्धों के प्रभावकाल में ही उनके मतों का समावेश व प्रत्याख्यान करने के लिये यहां मिलाये गये हैं, जैसा कि हम पिछले प्रकरण में भी निर्णय कर आये हैं।

प्रक्षिप्त सूत्रों में चतुर्थ प्रकरण—

(४) इन सूत्रों में चौथा प्रकरण अड़तालीसवें सूत्र से चौवनवें सूत्र तक समाप्त किया गया है। इसका प्रारम्भ अनिरुद्ध ने इसप्रकार किया है—"*शून्यवादिनं निराकर्तुं देहपरिमाण आत्मेति क्षपणकमतमाह—*"। अर्थात् शून्यवाद का निराकरण करने के लिए, आत्मा को देह-परिमाण मानने वाले क्षपणक (जैन) मत का कथन करते हैं—। विज्ञानभिक्षु ने इस प्रकरण का आरम्भ और ही रीति से किया है, वह लिखता है—'*तदेवं बन्धकारणविषये नास्तिकमतानि दूषितानि। इदानीं पूर्वनिरस्तावशिष्टान्यास्तिकसम्भाव्यान्यप्यन्यानि बन्धकारणानि निरस्यन्ते—*'। इसप्रकार बन्ध के कारणों को बताते हुए नास्तिक मतों का खण्डन कर दिया है, अब पहले प्रत्याख्यान में शेष रहे हुए आस्तिकों के द्वारा प्रतिपादित अन्य बन्ध कारणों का भी निरास किया जाता है।

एक ही सूत्र की दो भिन्न भिन्न अवतरणिकाओं के होने से यहां हमारा ध्यान एक बात की ओर अवश्य आकृष्ट होता है, वह है इन दोनों अवतरणिकाओं के लिखे जाने का भिन्न भिन्न समय। अनिरुद्ध की अवतरणिका उस समय लिखी गई मालूम होती है, जब कि यहां बौद्ध धर्म के साथ साथ जैनधर्म का भी प्राबल्य था, परन्तु विज्ञानभिक्षु की अवतरणिका जैनियों की प्रबलता का लोप होजाने पर तथा वर्त्तमान वैष्णव सम्प्रदायों के बल पकड़ने पर लिखी गई प्रतीत होती है। क्योंकि तात्कालिक आस्तिक सम्प्रदायों में वैष्णव ही आत्मा का परिमाण अणु मानकर उसमें गति, आगति मानते रहे हैं, इसलिये विज्ञानभिक्षु के विचारानुसार वैष्णव सम्प्रदाय के खण्डन के लिये ही इस सूत्र की रचना की जासकती हैं। इसके सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन 'सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार' नामक षष्ठ प्रकरण में किया जायगा। इतना अवश्य कहा जासकता है, कि इन सूत्रों की रचना जैन आदि सम्प्रदायों का प्रत्याख्यान करने के विचार से ही की गई मालूम होती है।

प्रक्षिप्त प्रकरण के अन्तिम सूत्रों की पुनरुक्तता—

इन सब बातों के अतिरिक्त इस प्रक्षिप्त प्रकरण के अन्तिम तीन सूत्र इस विचार को पुष्ट करने के लिये प्रबल प्रमाण हैं, कि ये सूत्र कपिलप्रणीत नहीं कहे जा सकते। इन तीन सूत्रों के पाठक्रम में अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु ने परस्पर कुछ भेद कर दिया है। अनिरुद्ध इन सूत्रों को इस क्रम से पढ़ता है—

न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात्।
निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति।
अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे।
परन्तु विज्ञानभिक्षु ने इनका क्रम इसतरह रक्खा है—
न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात्।
अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे।

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति।

इन सूत्रों की रचना में जो सब से पहले ध्यान देने की बात है, वह है पुनरुक्ति दोष। सब ही व्याख्याकार इन सूत्रों को कर्म से बन्ध होने के प्रत्याख्यान में लगाते हैं, पर इस अर्थ का प्रतिपादन प्रथम ही १५ और १६ सूत्र में किया जा चुका है। यह बात सर्वथा कल्पना के बाहर है कि महर्षि कपिल एक ही प्रकरण में एक ही बात को बतलाने के लिये दो स्थलों पर सूत्रों की रचना करते। यहां जिस बात को '*न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात्*' और '*अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे*' इन दो सूत्रों से प्रकट किया है, ठीक इसी बात को और इन्हीं शब्दों में कपिल ने प्रथम ही सोलहवें सूत्र में कह दिया है—'*न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च*'। इससे यह स्पष्ट मालूम हो रहा है, कि ये दोनों सूत्र व्यर्थ तथा पुनरुक्त हैं। इसीप्रकार '*निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति*' इस सूत्र से प्रतिपाद्य अर्थ को भी '*असङ्गोऽयं पुरुष इति*' इस सूत्र के द्वारा प्रथम प्रकट कर दिया गया है। इन दो सूत्रों में यह भी एक ध्यान देने की बात है, कि दोनों जगह अन्त में 'इति' पद का प्रयोग किया गया है। प्रथम सूत्र '*असङ्गोऽयं पुरुष इति*' में तो 'इति' पद के प्रयोग की सङ्गति स्पष्ट मालूम होती है, सम्भव है, वहां प्रथम पदों को श्रुति का उद्धरण बतलाने के लिये 'इति' पद का प्रयोग हुआ हो। क्योंकि श्रुति में साक्षात् इन्हीं पदों के द्वारा पुरुष को असङ्ग बताया गया है [1]। परन्तु अगले सूत्र '*निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति*' में 'इति' पद क्यों पढ़ा गया? यह हम न समझ सके। विज्ञानभिक्षु के सामने भी यह बाधा अवश्य उपस्थित हुई मालूम होती है। इसीलिये इसका समाधान करने के लिये उसने सूत्रों के पाठक्रम में भेद कर दिया है, जैसा हम अभी ऊपर दिखा आये हैं। उसने 'निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति' इस सूत्र को ५४वां सूत्र मान कर 'इति' पद की व्याख्या इसप्रकार की है--'इति शब्दो बन्धहेतुपरीक्षासमाप्तौ'। पर हमारे विचार में इति शब्द की यह व्याख्या ठीक नहीं मालूम होती। क्योंकि १६वें सूत्र में प्रकृतियोग को बन्धयोग का हेतु बताकर इस आकांक्षा को पूरा नहीं किया गया कि प्रकृतियोग भी आत्मा के साथ कैसे? जब तक इस का उत्तर न दे दिया जाय, प्रकरण की समाप्ति नहीं होनी चाहिये। इसलिये वर्त्तमान सूत्रसंख्या के अनुसार ५५ वें सूत्र में ही प्रकरण को समाप्त कहा जासकता है, इससे पूर्व नहीं। ऐसी अवस्था में विज्ञानभिक्षुद्वारा प्रतिपादित 'इति' शब्द की व्याख्या कहां तक ठीक है, यह विचारणीय है। संभव है १५ वें सूत्र का अनुकरण करते हुए यहां 'इति' पद रख दिया गया हो, इस बात की अपेक्षा नहीं की गई, कि वहां 'इति' पद सप्रयोजन है, पर यहां निष्प्रयोजन होजायगा। अथवा यह भी कल्पना की जासकती है, कि प्रकरण के प्रक्षेपकर्त्ता ने अपनी रचना की समाप्ति का द्योतन करने के लिये ही यहां 'इति' पद का प्रयोग किया हो।

इन तीनों सूत्रों के पुनरुक्त होने में महादेव और विज्ञानभिक्षुको भी सन्देह हुआ है। और उन्होंने इस दोषको हटाने के लिये यत्न भी किया है। परन्तु वे अपने यत्नमें सफल नहीं हो सके।

---

[1] देखो-बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, कण्डिका १५, १६॥

उन्होंने पहले सूत्र में 'कर्म' पद का अर्थ विहित और निषिद्ध कर्म किया है, और यहां 'कर्म' पद का अर्थ उस विहितनिषिद्धकर्म से जन्य अदृष्ट किया है।[1] वस्तुतः व्याख्याकारों की यह भेदकल्पना केवल कल्पना ही है। जब 'कर्म' पद, विहित निषिद्ध कर्म और तज्जन्य अदृष्ट दोनों के लिए प्रयुक्त है, तब एक ही स्थल पर दोनों की बन्धहेतुता का निषेध होसकता है, उसके लिए अतिरिक्त सूत्ररचना निष्प्रयोजन है। एक यह भी बात है कि जब विहितनिषिद्धकर्म बन्ध के हेतु नहीं हो सकते, तब तज्जन्य अदृष्ट में बन्धहेतुता की कल्पना करना ही असंगत है। वस्तुतः अदृष्ट की कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं, वह तो केवल कर्मों के फल दिलाने का द्वार है। अर्थात् कर्म और फलों का परस्पर संयोजकमात्र है। यह स्वयं बन्धका हेतु होजायगा, यह कल्पना दूरापेत है। इसलिये व्याख्याकारों का पुनरुक्ति दोष का समाधान संगत नहीं मालूम होता। इन सब बातों पर विचार करते हुए हम यही कह सकते हैं कि २०वें सूत्र से लगाकर ५४वें सूत्र तक का (३५ सूत्रों का) प्रकरण प्रक्षिप्त है, कपिलप्रणीत नहीं

प्रक्षिप्तप्रकरण के अन्तिम सूत्र की अग्रिम सूत्र से असंगति—

इस बात का एक और भी उपोद्बलक है, और वह है—व्याख्याकारों के द्वारा वर्त्तमान ५४ वें सूत्र की ५५ वें सूत्र से संगति न लगा सकना। विज्ञानभिक्षु ५४ वें सूत्र के 'इति' पद की व्याख्या के साथ साथ उस सूत्र का व्याख्यान समाप्त करके, ५५ वें सूत्र की अवतरणिका का प्रारम्भ इसप्रकार करता है—

'तदेवं न स्वभावतो बद्धस्येत्यादिना प्रघट्टकेनेतरप्रतिषेधतः प्रकृतिपुरुषसंयोग एव साक्षाद्बन्धहेतुरवधारितः।—'

अर्थात् इसप्रकार *'न स्वभावतो बद्धस्य'* (सू० ७) इत्यादि सूत्रसमूह से दूसरे वादों का खण्डन करके प्रकृति और पुरुष के संयोग को ही साक्षात् बन्ध का हेतु निर्णय कर दिया गया है। विज्ञानभिक्षु के इस लेखानुसार यह देखना चाहिये कि *'न स्वभावतो बद्धस्य'* यहां से लगा कर कितने प्रकरण से प्रकृति-पुरुष के संयोग को ही बन्ध का हेतु निर्णय किया गया है। यह स्पष्ट है, कि १६ वें सूत्र में ही इस बात का निर्णय है, और उसके पहले इतर वादों का प्रतिषेध भी किया गया है। अनन्तर *'न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते'* यह १६ वां सूत्र है। इससे यह निश्चित है कि प्रकृतिपुरुषसंयोग की बन्धहेतुता का निर्णायक प्रकरण ७ वें सूत्र से १६ वें सूत्र तक पर्यवसित है। अनन्तर विज्ञानभिक्षु अवतरणिका में लिखता है—*'तत्रेयमाशंका'*। वहां (प्रकृति-पुरुषसंयोग की बन्धहेतुता के निर्णायक प्रकरण के सम्बन्ध में) यह आशंका है। विज्ञानभिक्षु उस आशंका को अवतरणिका में इसतरह प्रकट करता है।

---

[1] 'न हि विहितनिषिद्धकर्मणापि पुरुषस्य बन्धः'। १। १६ पर विज्ञानभिक्षु। 'पूर्वं विहितनिषिद्धव्यापाररूपेण कर्मणा बन्धो निराकृतः। अत्र तु तज्जन्यादृष्टेनेति'।१। ५२ पर विज्ञानभिक्षु। 'पूर्वं विहितनिषिद्धव्यापाररूपकर्मणा बन्धो निराकृतः। इदानीमदृष्टकर्मणापि तं निरस्यति।' १। ५२ पर महादेव वेदान्ती।

'ननु प्रकृतिसंयोगोऽपि पुरुषे स्वाभाविकत्वादिविकल्पग्रस्तः कथं न भवति। संयोगस्य स्वाभाविकत्वकालादिनिमित्तकत्वे हि मुक्तस्यापि बन्धापत्तिरित्यादिदोषा यथायोग्यं समाना एवेति। तामिमामाशङ्कां परिहरति—'।

अर्थात् प्रकृतिसंयोग भी पुरुष में स्वाभाविकत्व आदि विकल्पों से ग्रस्त क्यों नहीं माना जाता? अभिप्राय यह है कि ७ वें सूत्रसे १८ वें सूत्र तक बन्धयोग के जो निमित्त बताये गये हैं, उन का खण्डन करके १९ वें सिद्धान्तसूत्र में बन्धयोग का निमित्त प्रकृतियोग को ही बताया है। अब आशंका यह है कि प्रकृतियोग भी पुरुष के साथ स्वाभाविक है? या किन्हीं निमित्तविशेषों से होता है? यदि प्रकृतियोग को स्वाभाविक मान लिया जाय तो प्रकृतियोग के सदा ही रहने से आत्मा का मोक्ष न होना चाहिये। यदि प्रकृतिसंयोग का निमित्त काल, देश आदि को ही माना जाय, तो उसमें समान रूप से वे ही दोष उपस्थित होंगे, जो कि काल देश आदि को बन्ध का निमित्त मानने में बता दिये गये हैं (१२ वें सूत्र से १८ वें सूत्र तक में)। ऐसी अवस्था में मुक्त पुरुष को भी बन्धयोग हो जाना चाहिये। इस आशंका का परिहार करता है, ५५ वें सूत्र से—

तद्योगोऽप्यविवेकात् न समानत्वम्।

प्रकृतियोग भी पुरुष में अविवेक रूप निमित्त से होता है, इसलिये काल देश आदि निमित्तों के साथ इसकी समानता नहीं कही जा सकती।

इस वर्णन से यह सिद्ध है कि विज्ञानभिक्षु ५४ वें सूत्र का ५५ वें सूत्र से सम्बन्ध न जोड़ सका, और ५५ वें सूत्र की अवतरणिका के लिये उसे ७ से १९ वें सूत्र तक के प्रकरण का ही अवलम्ब लेना पड़ा। इसलिये शब्दरचना के अतिरिक्त अर्थसम्बन्ध से भी १९ वें सूत्र के आगे ही यह ५५ वां सूत्र आना चाहिये, यह निश्चित है। ऐसी अवस्था में २० वें सूत्र से ५४ वें सूत्र तक पैंतीस सूत्रों के प्रक्षिप्त होने में कोई भी सन्देह शेष नहीं रह जाता।

इस दिशा में अनिरुद्ध का यत्न—

यहां यह लिख देना अत्यन्त आवश्यक है कि ५४ वें सूत्र का ५५ वें सूत्र से सम्बन्ध जोड़ने के लिए व्याख्याकार अनिरुद्ध ने बड़े हाथ पैर मारे हैं। यह हम पहले भी दिखा आये हैं कि ५३ और ५४ वें सूत्रों के क्रम में अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु का भेद है। अनिरुद्ध ने इन सूत्रों का क्रम इसप्रकार रक्खा है—

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति।

अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे।

पहले सूत्र का अर्थ किया है—'यदि कर्म को आत्मा का धर्म माना जाय, तो आत्मा को निर्गुण बतलाने वाली 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतियों के साथ विरोध होगा। दूसरे सूत्र का अर्थ है—अच्छा, कर्म आत्मा का धर्म मत हो, अन्य के धर्म से ही क्रियाविशेष हो जायगा, क्योंकि आत्मा के व्यापक होने से उसका सबके साथ सम्बन्ध है, इसलिये कहा कि अन्य के धर्म

से क्रिया मानने पर अतिप्रसक्ति होगी, सबके साथ सम्बन्ध एक जैसा होने से मुक्त आत्माओं का भी बन्ध हो जायगा।' यह व्याख्या करके अनिरुद्ध ४५ वें सूत्र की अवतरणिका इसप्रकार करता है–

'ननु तवापि धर्माधर्मव्यवस्थास्ति, बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिर्दृश्यते। तत्र यस्तव सिद्धान्तः, सोऽस्माकं भविष्यतीति समानमित्यत आह—।'

अर्थात् तेरे (सांख्य के) मत में भी तो धर्म और अधर्म की व्यवस्था है। बद्ध आत्मा की मुक्ति के लिये प्रवृत्ति भी देखी जाती है। इस विषय में जो तेरा सिद्धान्त है, वही हमारा भी हो जायगा, यह दोनों पक्षों में समान ही है। इसलिये कहता है—

तद्योगेऽप्यविवेकान्न समानत्वम्।

धर्माधर्मयोगेऽपि न समानधर्मत्वम्, अविवेकात्। यदि तात्त्विको धर्माधर्मयोग आत्मनः स्यात्तदा तुल्यत्वम्। किं त्वविवेकादात्मनो धर्माधर्मयोगाभिमान इति क्व समानत्वम्।

अभिप्राय यह है कि आत्मा के साथ धर्माधर्म का योग होने पर भी हमारे तुम्हारे मत में समानधर्मता नहीं हो सकती, क्योंकि हम तो धर्माधर्म का योग अविवेक से मानते हैं, यदि आत्मा के साथ धर्माधर्म का योग वास्तविक होता, तो समानता होती।

अनिरुद्ध के मत का विवेचन—

(१) इस विषय में सब से पहली विचारणीय बात यह है, कि अनिरुद्ध ने यहां दो मत या पक्षों की समानता की कल्पना का प्रतिषेध इस सूत्र से किया है और धर्माधर्म के योग में ही अविवेक को निमित्त बताया है। धर्माधर्म प्रकृति के परिणाम हैं, इसी तरह इच्छा द्वेष सुख दुःख काम संकल्प विचिकित्सा आदि भी तो प्रकृति के ही परिणाम हैं, आत्मा के साथ इनका योग मानने के लिये क्या अब अविवेक से अतिरिक्त और कोई निमित्त ढूंढना चाहिये? यदि यह कहा जाय कि धर्माधर्म सबके ही उपलक्षण हैं, तो यही कहना होगा कि प्रकृतियोग का ही निमित्त अविवेक है। अभिप्राय यह है कि बन्धयोग का निमित्त प्रकृतियोग, और प्रकृतियोग का निमित्त अविवेक कहा जाना चाहिये, केवल धर्माधर्मयोग का नहीं।

(२) दूसरी बात यह है कि अनिरुद्ध ने अपना अर्थ ठीक करने के लिये सूत्र का पाठ भी बदल दिया है, 'तद्योगः' प्रथमान्त पाठ को जगह 'तद्योगे' सप्तम्यन्त पाठ बनाया है, जब कि प्रथमान्त पाठ से भी उसका अर्थ संगत हो सकता था, पर सप्तम्यन्त पाठ बनाकर भी वह अपने अर्थसांगत्य में सफलता प्राप्त न कर सका।

(३) तीसरी बात यह है कि स्वयं अनिरुद्ध ने १६ वें सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

अविवेकं विना नात्मनः कदापि बन्धः, किं त्वविवेकाद्बन्ध इत्यभिमानः।

आत्मा का बन्ध अविवेक के बिना कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा स्वभावतः नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त है, इसलिये अविवेक से भी बन्ध का अभिमान ही कहना चाहिये। अब विचारणीय यह है कि अविवेक को आत्मा के बन्ध का निमित्त सांख्य में कहां बताया गया है?

हमारी दृष्टि में सब से प्रथम स्थल ४५ वां सूत्र ही है। अविवेक बन्ध का निमित्त प्रकृतियोग के द्वारा ही हो सकता है, इसलिये प्रकृतियोग के प्रतिपादक १६वें सूत्र और अविवेक के प्रतिपादक ५५वें सूत्र के बीच अन्य किसी बात का कहा जाना सर्वथा असंगत है, और इसीलिये ५५ वें सूत्र में अविवेक को केवल धर्माधर्म के योग का निमित्त बताना भी असंगत ही है। इन सब बातों को विचारते हुए हम निश्चित कह सकते हैं, कि इन सूत्रों का भाव समझने में अनिरुद्ध को भ्रम हुआ है, और वह ५५ वें सूत्र को संगति लगाने में सर्वथा असफल रहा है। इसलिये २०वें सूत्र से ५४वें सूत्र तक (३५ सूत्रों) के प्रक्षेप में कोई भी बाधा उपस्थित की जानी अशक्य है।

प्रथम तीन अध्यायों में और कोई प्रक्षेप नहीं—

इसके आगे प्रथम अध्याय और द्वितीय तृतीय अध्यायों में हमें कोई ऐसा सूत्र या सूत्रांश नहीं मिला, जिसको प्रक्षिप्त कहा जासके, इसलिये सांख्यशास्त्र का यह सम्पूर्ण भाग कपिल-प्रणीत ही है, यह निःसन्दिग्ध कहा जा सकता है। सांख्य के इस भाग में उन पचीस तत्त्वों और साठ पदार्थों का विस्तृत वर्णन है, जिनके आधार पर इसे सांख्यशास्त्र या षष्टितन्त्र कहा जाता है। इन्हीं तीन अध्यायों का संक्षेप ईश्वरकृष्ण ने कारिकाओं में किया है, इस बात का विस्तृत वर्णन हम इसी ग्रन्थ के 'षष्टितन्त्र अथवा सांख्य-षडध्यायी' नामक तृतीय प्रकरण में कर आये हैं।

चतुर्थ अध्याय में प्रक्षेप—

चतुर्थ अध्याय में हमें एक सूत्रांश प्रक्षिप्त मालूम होता है। वहां पर सूत्रों की पूर्वापर आनुपूर्वी इसप्रकार है—

लब्धातिशययोगात् तद्वत् । २४ ।

न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् । २५ ।

गुणयोगाद्बन्धः शुकवत् । २६ ।

इनमें २५वें सूत्रका 'शुकवत्' पद प्रक्षिप्त है। इसके प्रक्षिप्त होने के हेतुओं का निर्देश करने से पहले इन सूत्रों का अर्थ लिखदेना आवश्यक है। २४ वें सूत्रका २५ वें सूत्र से कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं है, इसलिये उसका यहां अर्थ दिखाना अनावश्यक है, केवल आनुपूर्वी दिखाने के लिये उसका उल्लेख कर दिया है। २५ वें सूत्र का अर्थ व्याख्याकारों ने भिन्न २ किया है। अनिरुद्ध इस सूत्र का यह अर्थ करता है:—

सरागस्यापि मुक्तिर्भविष्यतीति, अत्राह—'न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत्'

रागोपहतस्य कामचारित्वमेव नास्ति, किं पुनर्मुक्तिरिति। यथा व्यासस्य सरागस्य न मुक्तिरिति। तत्सुतस्य शुकस्य वीतरागत्वान्मुक्तिर्भूता, एवम् ।

अर्थात् रागयुक्त (संसारी) पुरुष को भी मुक्ति हो जाएगी, इसलिये इस विषय में कहा गया—राग से दबाए हुए पुरुष की कामचारिता ही नहीं है, फिर मुक्ति का तो कहना ही क्या ?

जैसे रागयुक्त व्यासकी मुक्ति नहीं हुई, उसके पुत्र शुक की वीतराग होने से मुक्ति हो गई, इस तरह।

इस अर्थ में कई बात विचारणीय हैं—

(१) सबसे प्रथम यह, कि जब अवतरणिका में यह कहा गया है, कि—सराग की भी मुक्ति हो जायगी! इसलिये सूत्र कहा गया—सराग की मुक्ति नहीं हो सकती। तब इस अर्थ में 'शुकवत्' उदाहरण कैसे दिया जा सकता है। क्योंकि 'सराग की मुक्ति नहीं हो सकती' इस बात को कहकर दृष्टान्त उसी का देना चाहिये था जिस सराग की मुक्ति न हुई हो, परन्तु यहां दृष्टान्त उसका पाया जाता है, जिसकी मुक्ति होगई है। इससे स्पष्ट है कि सूत्रार्थ से यह दृष्टान्त विरुद्ध है।

(२) दूसरी बात अनिरुद्ध के सूत्रार्थ के सम्बन्ध में यह है कि इस दृष्टान्तविरोध को हटाने के लिये अनिरुद्ध ने पहले, सूत्रार्थानुसारी व्यास का दृष्टान्त दिया है जो सूत्र में नहीं, फिर सूत्रार्थ का व्यतिरेकी दृष्टान्त शुक का बताया है। क्या ऐसी अवस्थामें सूत्र में, सूत्रार्थानुसारी व्यास का ही दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता था? यदि यह कहा जाय, कि सूत्ररचयिता ने व्यतिरेकी दृष्टान्त ही दे दिया होगा, क्योंकि व्यतिरेकी भी तो दृष्टान्त होता ही है। इसके विरुद्ध हम यही कह सकते हैं, कि सूत्रकार ने सम्पूर्ण शास्त्र में कहीं भी व्यतिरेकी दृष्टान्त नहीं कहा। ऐसी अवस्था में सूत्रकार की शैली के सर्वथा विरुद्ध हम इस एक ही स्थल में व्यतिरेकी दृष्टान्त कैसे मान लें? यदि कहीं एक स्थल में भी अन्यत्र सूत्रकारने व्यतिरेकी दृष्टान्त दिया होता, तो हम इसे भी मान लेते।

(३) तीसरी बात सूत्रार्थ के सम्बन्ध में यह है कि व्याख्याकार अनिरुद्ध ने सूत्र के 'रागोपहते' पद का अर्थ विभक्तिविपरिणाम करके 'रागोपहतस्य' किया है। और 'कामचारित्वं' पद का कोई भी अर्थ नहीं किया। रागोपहत पुरुष के लिये कामचारिता का निषेध करता हुआ अनिरुद्ध, कामचारिता पद का क्या अर्थ समझ रहा है, इस बात को हम अब कैसे समझें? कामचारिता का साधारण अर्थ तो—इच्छानुसार इधर उधर घूमना फिरना—ही हो सकता है, यह बात, (इच्छानुसार इधर उधर घूमना) रागयुक्त पुरुष के लिये असम्भव है यह कैसे कहा जा सकेगा? क्या रागी पुरुषमें कामचारिता नहीं होती? हम तो संसार में रागी पुरुष में ही कामचारिता अधिक देखते हैं। ऐसी अवस्था में यह अनिरुद्धकृत सूत्रार्थ कुछ जंचता नहीं। यदि कामचारित्व पद का वही अर्थ किया जाय, जो विज्ञानभिक्षु ने किया है, तब तो अनिरुद्ध का अर्थ सर्वथा असंगत कहा जायगा। विज्ञानभिक्षु इस सूत्र का अर्थ इसप्रकार करता है—

रागिसङ्गो न कार्य इत्याह—,न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् '

रागोपहते पुरुषे कामतः सङ्गो न कर्त्तव्यः। शुकवत्। यथा शुकपक्षी प्रकृष्टरूप इति, कृत्वा कामचारं न करोति। रूपलोलुपैर्बन्धनभयात्। तद्वदित्यर्थः।

अर्थात् रागी पुरुष का संग न करना चाहिये, इस बात को कहता है--रागी पुरुष में कामना (इच्छा--अपनी खुशी) से संग न करना चाहिये। तोते की तरह। जैसे तोता बड़े अच्छे रूप रंग

बाधक होता है, यह समझकर वह इच्छानुसार पुरुषों के साथ संग नहीं करता, (अपनी इच्छा से तो वह जंगलों में ही रहता है, आबादी में तोता बहुत कम पाया जाता है, तोतों की बड़ी बड़ी डार जंगलों में देखी जाती हैं) क्योंकि उसे डर रहता है, कहीं रूप के लोभी मुझे बांधलें। इस तरह पर, वह सूत्र का अर्थ हुआ।

अनिरुद्ध के अर्थ में जो हमने ऊपर दोष दिखाये हैं, वे सबही विज्ञानभिक्षु के अर्थ में नहीं हैं। इन दोनों अर्थों में यह एक बड़ा भेद है, जो 'शुक' पद के अर्थ का है। अनिरुद्ध के अनुसार यदि शुक पद का अर्थ, व्यास--पुत्र शुकदेव किया जाता है, तो वह सूत्रार्थ के सर्वथा विपरीत हो जाता है। विज्ञानभिक्षुके अनुसार यदि उसका अर्थ तोता किया जाता है, तो सूत्रार्थ की संगति तो हो जाती है, परन्तु एक और आपत्ति सामने आखड़ी होती है। वह आपत्ति है, अगले 'गुणयोगाद्बन्धः शुकवत्' सूत्र का 'शुकवत्' पद। अभिप्राय यह है, कि इस सूत्र के शुकपद का अर्थ सिवाय तोते के और कुछ नहीं होसकता। ऐसी अवस्था में पिछले सूत्र से ही यहां इस पद की अनुवृत्ति आसकती थी, फिर यहां 'शुकवत्' पद क्यों रक्खा गया? मालूम यह होता है, कि इस (२६वें) सूत्र में मौलिक रूप से 'शुकवत्' पद रक्खा गया, क्योंकि पहले (२५वें) सूत्र में यदि वास्तविक रूप से 'शुकवत्' पद होता, तो दूसरे सूत्र में उसके पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि पहले सूत्र से इसमें उस पद की अनुवृत्ति के लिये कोई बाधा नहीं दीखती। पर दूसरे सूत्र में यह पद साक्षात् पढ़ा गया है, इसलिये स्पष्ट मालूम होता है कि पहले सूत्र में यह पद अवश्य न होगा। फिर यह आया कहां से? यह एक आवश्यक विचारणीय बात है। रिचर्ड गार्बे (Richard Garbe) ने अपनी सम्पादित अनिरुद्धवृत्ति में इस सूत्र पर एक टिप्पणी दी है[1] उससे मालूम होता है, कि किन्हीं हस्तलिखित पुस्तकों में यह 'शुकवत्' पद 'कामचारित्वं' पद से प्रथम ही लिखा हुआ है। इससे हम एक परिणाम पर पहुँचे हैं, और वह यह है,-सूत्रकार ने केवल 'न कामचारित्वं रागोपहते' इतना ही सूत्र लिखा होगा। क्योंकि इस सूत्र का सम्बन्ध अगले सूत्र के साथ है, और दोनों को मिलाकर ही पूरा अर्थ हो पाता है,[2] इसलिये सूत्रकार ने अगले २६ वें सूत्र में ही दोनों सूत्रों का दृष्टान्त 'शुकवत्' इकट्ठा दे दिया। पर कालान्तर में सूत्रों की इस रचना को न समझते हुए, अथवा समझते हुए भी पहले ही सूत्र में अर्थ की पूर्णता करने के लिये, किसी लेखक ने 'शुकवत्' पद

---

[1] Thus A.C. like the other commentators; B. puts शुकवत् before कामचारित्वं,
[अ. ५. सू. २५ की टिप्पणी। पृष्ठ १७५)

[2] प्रथमसूत्र में 'शुकवत्' पद न रहने से दोनों सूत्रों का अर्थ इसप्रकार होता है—

रागी पुरुषों में इच्छानुसार (कामनावश) संग न करना चाहिये। २५। क्योंकि ऐसे पुरुषों का संग करने पर उनके गुण अर्थात् राग आदि के साथ सम्बन्ध होने से पुरुष बन्धनमें पड़ जाता है। तोते की तरह। जैसे तोता अपने गुणों या बहेलिये के फांसों से बांधा जाता है। वैसे ही पुरुष भी राग आदि से बद्ध हो जाता है। सूत्र में 'गुण' पद श्लिष्ट है।

की वहां प्रान्तभाग [Marjin] पर सूत्र के पहले ही लिख लिया होगा, जैसा कि रिचर्ड गार्बे (Richard Garbe) की टिप्पणी से मालूम होता है, कि यह पद किन्हीं हस्तलिखित पुस्तकों में सूत्र के आरम्भ में ही रक्खा गया है। अनन्तर किसी अन्य लेखक ने उस पुस्तक से सूत्रों की प्रतिलिपि करते समय, यह सोचकर कि 'वत्' प्र वाले पद सब सूत्रों के अन्त में ही लिखे हुए हैं, इस 'शुकवत्' पद को भी आरम्भ से उठाकर अन्त में जोड़ दिया। जिसके कारण सूत्र की उपलभ्यमान रचना बनगई। व्याख्या करते समय अनिरुद्ध को यह बात अवश्य खटकी मालूम होती है, कि इकट्ठे दोनों सूत्रों में 'शुकवत्' पद, एक ही अर्थ को कैसे कह सकता है? इसलिये उसने पहले सूत्र में शुक का अर्थ व्यासपुत्र कर डाला; चाहे वह शेष सूत्रार्थ से इसकी संगति न लगा सका। इसके अनन्तरभावी व्याख्याकार विज्ञानभिक्षु ने इस अर्थ के असांगत्य को समझा, और शुक पद का सूत्रार्थानुसारी अर्थ किया। इस दशा में अर्थसंगति तो होगई, पर रचनासम्बन्धी न्यूनता अवश्य बनी रही। इसके लिये यह आवश्यक है, कि प्रथम सूत्र के 'शुकवत्' पद को प्रक्षिप्त समझा जाय।

'शुकवत्' पदके प्रक्षिप्त होने में उपर्युक्त प्रबल तीन[१] युक्तियों के होते हुए भी, एक कल्पना और की जासकती है। दोनों सूत्रों में समानार्थक 'शुकवत्' पदके रहने पर अर्थसम्बन्धी असंगति तो कोई नहीं रहती, पर रचना की न्यूनता अवश्य प्रतीत होती है, इस अवस्था में हम यही कह सकते हैं, कि आचार्य की शैली ही ऐसी है, कि वे आनुपूर्वी से पढ़े हुए भी दो सूत्रों में समानार्थक दृष्टान्तपद एकसे ही रख देते हैं। उदाहरण के लिये सूत्रों से एक स्थल हम यहां उद्धृत करते हैं—

तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थमभिचेष्टा लोकवत्।

समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत्। (अ.२. सूत्र ४६, ४७)

परन्तु इसको भी सर्वथा नियम न समझना चाहिये। क्योंकि कई स्थलों पर सूत्रकार ने एक सूत्र में दृष्टान्त देकर, अगले सूत्र में आवश्यकता पड़ने पर केवल अतिदेश कर दिया है। जैसे—

इष्टसंयोगेन्द्रस्य।

प्रणतिब्रह्म०—र्वहुकालात्तद्वत्। (अ ४ सूत्र १८. १६)

विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत्।

लब्धातिशययोगात् तद्वत्। (अ ४ सूत्र २३, २४)

पर इस कल्पना में भी यह अवश्य मानना पड़ेगा, कि अनिरुद्ध का अर्थ असंगत है, उसने रचना की सूक्ष्मता पर इतना ध्यान नहीं दिया, जितना कि देना चाहिये था। इसलिये वह सूत्रार्थ से विरुद्ध ही अर्थ कर गया है। ऐसी अवस्था में हमें यह स्थिर करने में कोई बाधा मालूम नहीं

---

[१] क. अनिरुद्ध के अर्थ का असांगत्य। ख. २६वें सूत्र में पुनः 'शुकवत्' पद का होना। ग. रिचर्ड गार्बे (Richard Garbe) की टिप्पणी में निर्दिष्ट 'शुकवत्' पदका क्रमिक स्थान विपर्यय।

देती, कि इस २८वें सूत्र में व्यास-पुत्र शुकदेव का वर्णन बिल्कुल नहीं है।

पांचवें अध्याय के प्रक्षेप—

चतुर्थ अध्याय में और कोई ऐसा सूत्र या सूत्रांश नहीं है, जिसके सम्बन्ध में कपिल-कृति विषयक सन्देह उपस्थित किया जासके। इसलिये अब पांचवें अध्याय के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत किया जाता है। इस अध्याय का प्रथमसूत्र इसप्रकार है :—

मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रु (दृष्ट्र) तितश्चेति।

इस सूत्र के सम्बन्ध में प० राजाराम शास्त्री ने लिखा है, कि इस रूप मे मङ्गलाचरण का विचार नव्यन्याय के ग्रन्थों में ही पाया जाता है। यह रचना प्राचीन अथवा कपिलकृत नहीं कही जा सकती। इसी आधार पर शास्त्री जी ने सांख्यषडध्यायी सूत्रों की अर्वाचीनता को पुष्ट किया है।

कार्य के प्रारम्भ में भगवान् का नामस्मरण अथवा किसी शुभ नाम का स्मरण मङ्गल कहा जाता है। इसप्रकार के आचरण की प्रथा, या उसके सम्बन्ध में विचार करना, नव्य नैयायिकों ने ही प्रारम्भ किया हो, ऐसा नहीं है। आर्य जाति में यह भावना अति प्राचीन है। इसप्रकार का आचरण सदा से ही आर्यों में पाया जाता है, और जहां तहां आर्यसाहित्य में उसका उल्लेख भी मिलता है।

न्याय की जो शैली नवीन या नव्य नाम से कही जाती है, उसका प्रारम्भ विक्रम की सातवीं शताब्दी के लगभग हुआ है। परन्तु उससे बहुत पूर्व के साहित्य में इसप्रकार का मङ्गलाचरणसम्बन्धी विवेचन प्राप्त होता है। पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्य में कई स्थलों पर [1] एक सन्दर्भ इसप्रकार उपलब्ध होता है—

"किं पुनरनेन वर्ण्येन, किं न महता कण्ठेन नित्यशब्द एवोपात्तः, यस्मिन्नुपादीयमानेऽसंदेहः स्यात्? मङ्गलार्थम्। माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि च अध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति।"

इस सन्दर्भ में मङ्गलाचरण से ग्रन्थ की समाप्ति [मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते], और अध्ययन तथा अध्यापन करने वालों का निर्विघ्न कार्यक्रम चलते रहना स्पष्ट ही निर्दिष्ट किया गया है। पतञ्जलि का समय आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के कथनानुसार विक्रम संवत् के प्रारम्भ से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व है। ऐसी स्थिति में यह कहना, कि मङ्गलाचरणसम्बन्धी इस प्रकार के विवेचन आधुनिक हैं, अथवा नव्य नैयायिकों के ग्रन्थों में ही देखे जाते हैं, युक्त प्रतीत नहीं होता।

दर्शन शास्त्रों के प्रारम्भिक [2] सूत्रों, अन्य सूत्रग्रन्थों तथा महाभारत आदि में भी

---

[1] व्याकरण महाभाष्य, पस्पशाह्निक। १।१।१ सूत्र तथा १।३।१ सूत्र पर।

[2] अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। सांख्य। अथ योगानुशासनम्। योगसूत्र। अथातो धर्मजिज्ञासा।

मांगलिक पदों के प्रयोग की प्रवृत्ति, तथा मङ्गलाचरण की भावना, स्पष्ट ही उपलब्ध होती है। अतिप्राचीन काल से 'ओङ्कार' [ओम्] और 'अथ' शब्द के प्रयोग को मांगलिक माना जाना भारतीय साहित्य में प्रसिद्ध है। एक श्लोक गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा अज्ञातकाल से चला आता है—

"ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥"

इसके अतिरिक्त अतिप्राचीन काल से ही प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में मन्त्रोच्चारण के द्वारा मंगलाचरण की प्रवृत्ति स्पष्ट देखी जाती है। प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में आज भी वे मन्त्र उल्लिखित हुए उपलब्ध होते हैं।

मन्त्रों का उच्चारण करते समय उनके प्रारम्भ में 'ओम्' पद का उच्चारण अतिप्राचीन काल से आवश्यक समझा जाता रहा है, और यह मंगलाचरण की भावना से ही किया जाता है। पाणिनि ने इस सम्बन्ध में एक नियम का उल्लेख किया है, कि मन्त्र के प्रारम्भ में 'ओम्' का उच्चारण प्लुत स्वर में होना चाहिये। इसलिये कार्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण की प्रवृत्ति को नवीन नहीं कहा जा सकता। कपिल के काल से बहुत पहले ही आर्य जनता इस प्रवृत्ति को निश्चित रूप में स्वीकार करती चली आई है। ऐसी स्थिति में कपिल का इस विषय पर विचार करना संगत ही कहा जा सकता है।

कपिल ने मंगलाचरण के तीन प्रयोजक हेतुओं का उल्लेख किया है, और उनके आगे 'इति' पद का प्रयोग कर इस बात का निर्धारण कर दिया है, कि इन हेतुओं के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयोजक हेतु की कल्पना नहीं की जा सकती। वे हेतु कपिल ने इसप्रकार उपस्थित किये हैं—

"शिष्टाचारात्, फलदर्शनात्, श्रुतितः"

शिष्ट पुरुषों का आचार इस बात के लिये सुन्दर उदाहरण है, कि कार्य के प्रारम्भ में व्यक्ति को मंगलाचरण अवश्य करना चाहिये। महाभारत, सूत्रग्रन्थों तथा उपनिषदों में इस प्रवृत्ति को प्रत्यक्ष रूप में हम आज भी देख सकते हैं। इससे प्राचीन ऋषि मुनियों की मंगलाचरण की प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती है।

शुभ कार्यों के करने से शुभ फल की प्राप्ति भी अवश्य होती है। जो कार्य किया जाता है, उसका फल अवश्य होता है, यह एक साधारण नियम है। मंगलाचरण भी शुभ कार्य है, हम उसके फल की इच्छा रक्खें या न रक्खें, फल तो अवश्य मिलेगा ही, और वह अच्छा ही होगा। इस विचार से कार्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण की भी भावना दृढ़ होती है। यह बात आर्य जनता में इतना अधिक घर किये हुए है, कि आज भी एक साधारण ग्रामीण जन भी जब

मीमांसा। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। वेदान्त। अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। वैशेषिक। प्रमाणप्रमेय०। न्यायदर्शन।

अथ शब्दानुशासनम्। महाभाष्य। वृद्धिरादैच्। पाणिनि।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्। महाभारत।

अपने किसी कार्य को प्रारम्भ करता है, तो प्रथम भगवान् का नाम स्मरण अवश्य करता है।

श्रुति अर्थात् वेद के पाठ या अध्ययन क्रम से भी इस बात की पुष्टि होती है, कि कार्य के प्रारम्भ में भगवान् का नाम स्मरण अवश्य होना चाहिये, उसी को मंगलरूप कहा गया है। वेद में स्पष्ट रूप से भी कार्यारम्भ के अवसर पर भगवन्नामस्मरण का निर्देश उपलब्ध होता है। ऋ० [१। ५७। ४] का मन्त्र है—"*इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।*" इसीलिये वेद के प्रत्येक मन्त्र के उच्चारण के प्रारम्भ में 'ओम्' का उच्चारण किया जाता है। श्रुति के अध्ययनादि की यह परम्परा भी मंगलाचरण की प्रयोजक है। इसप्रकार कपिल का यह वर्णन अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता।

इसके अतिरिक्त कपिल का यह सूत्र मंगलाचरण के स्वरूप का भी निर्देश करता है। प्रत्येक ऐसा आचरण जो [शिष्टाचारात्] न्याय, पक्षपात रहित, [फलदर्शनात्] सत्य, तथा [श्रुतितः] वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा के अनुसार यथावत सर्वत्र और सदा अनुष्ठान में आवे, उसी को मंगलाचरण कहना चाहिये। किसी भी कार्य के प्रारम्भ से अवसान पर्यन्त उक्तरूप में ही उसका पूर्ण किया जाना मंगलाचरण का वास्तविक स्वरूप है।

पञ्चमाध्याय के [२—७३] ७२ सूत्रों का विषय विवेचन—

इसके आगे दूसरे सूत्र से लेकर इस अध्याय में अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों पर विचार किया गया है। सबसे प्रथम हम दूसरे सूत्र से तिहत्तरवें सूत्र (२—७३) तक के प्रकरणों का निर्देश कर देना चाहते हैं। क्योंकि इस प्रकरणसमुदाय में केवल ४ सूत्र ही ऐसे मालूम हुए हैं, जिन्हें प्रक्षिप्त कहा जा सकता है। ७४ वें सूत्र से जिस प्रकरण का प्रारम्भ किया गया है, उसमें बहुत अधिक सूत्र प्रक्षिप्त हैं, इसलिये उनका निर्देश अनन्तर किया जायगा। दूसरे सूत्र से प्रकरणों का क्रम इसप्रकार है—

२—११ = ईश्वरविवेचन
१२ = प्रधानकार्यत्वोपसंहार
१३—१९ = औपनिषदिक अविद्यायोगनिराकरण
२०—२४ = धर्माधर्मविचार
२५ = धर्मादि के अन्तःकरणधर्म होने का निर्णय
२६—२७ = सत्त्व आदि गुणों की सिद्धि
२८—३६ = व्याप्तिविचार
३७—४४ = शब्दार्थसम्बन्धविचार
४५ = वेदानित्यत्वविचार
४६—५० = वेदापौरुषेयत्वविचार
५१ = वेदप्रामाण्यविचार

५२—५६ = ख्यातिविचार

५७—६० = प्रक्षिप्त सूत्र

६१—६४ = आत्मनानात्वविचार

६५ = औपनिषदिक आत्मा, अविद्या, या उभय की जगदुपादानकारणता का निषेध

६६—६८ = आत्मा की औपनिषदिक चिदानन्दरूपता का निषेध

६९—७१ = मन की जगदुपादानकारणता का निषेध

७२—७३ = प्रकृतिपुरुषनित्यत्वोपसंहार

इन सब ही प्रकरणों में परस्पर क्रमिक सम्बन्ध विद्यमान है। उसको देखते हुए इनकी आनुपूर्वी को विशृंखलित नहीं किया जासकता। इसलिये जो सूत्र यहां पीछे से मिलाये गये हैं, वे स्वयं ही अपनी साक्षी देरहे हैं, क्योंकि उनका पूर्वापर प्रकरण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता। इस बात को स्पष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि इन प्रकरणों के परस्पर क्रमिक सम्बन्ध का दिग्दर्शन कराया जाय। इन सब ही प्रकरणों को मुख्यतया दो भागों में बांटा जा सकता है—

(१)—प्रथम प्रकरण है— २—२५ = ईश्वर के स्वरूप का विवेचन।

इसमें प्रथम ईश्वर के स्वरूप का विवेचन किया गया है, और यह बताया गया है, कि ईश्वर जगत् का अधिष्ठाता है, जगत् का उपादान नहीं। इसके अनन्तर श्रुति के आधार पर यह स्पष्ट किया गया है, कि इस जगत् का उपादान प्रकृति ही है (१२ सू०)। श्रुति के आधार पर जगत् को प्रकृति का कार्य बताने के कारण यह आशंका होसकती है कि उपनिषदों में आपाततः अविद्यायोगनिमित्तक ब्रह्म को जगत् का उपादान कहा है, फिर श्रुतिके आधार पर प्रकृति को ही जगत् का उपादान क्यों और कैसे माना जाय? इस बात का उत्तर १९ वें सूत्र तक दिया है। अनन्तर, धर्माधर्म को भी जगदुत्पत्ति में निमित्त होने से, उनका विचार किया गया है, और २५ वें सूत्र में इस बात का निर्णय करदिया है, कि धर्माधर्म आदि, प्रकृति के संयोग से ही होते हैं, आत्मा के साथ इनका सम्बन्ध विना प्रकृति के सहयोग के नहीं होता। इसतरह प्रथम प्रकरण की समाप्ति होती है।

(२)—दूसरा प्रकरण है—

२६—५६ = सत्त्व आदि गुणत्रयरूप प्रधान की सिद्धि। २६ और २७ सूत्र में इस बात को कह दिया है, कि सुख दुःख और मोह, या सत्त्व रजस् और तमस्, इनका सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमान प्रमाण से इन की सिद्धि होती है। प्रथम अध्याय में ही इसप्रकार अनुमान प्रमाण से प्रकृति की सिद्धि प्रसंगवश अनेक स्थलों पर की गई है, [१] इसलिये

[१] देखिये, प्रथम अध्याय के सूत्र ६२-६५; ६७; ७६; ११०; ११४-११८; १२९-१३२; १३५-१३७। इन स्थलों के अतिरिक्त छठे अध्याय में भी इसका निरूपण किया गया है।

उसको यहां दुबारा लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गई। प्रत्युत अनुमान के मूल—व्याप्ति का ही यहां विशद वर्णन किया गया है।

कदाचित् कुछ विद्वानों का यह विचार हो सकता है, कि इस प्रकरण में व्याप्ति का जो निरूपण किया गया है, वह गौतम के न्यायशास्त्र से लिया गया हो ? पर यह विचार संगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सांख्यशास्त्र में तीन प्रमाणों की कल्पना मौलिक है-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रथम अध्याय में इन तीनों प्रमाणों का स्पष्ट वर्णन किया गया है[1]। इनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जासकता, कि प्रमाणों के ये नाम गौतम के न्याय से लिये गये हैं। क्योंकि कपिल प्रथम दार्शनिक है। जब इस बात में कोई सन्देह नहीं, कि उसने प्रकृति, महत् आदि तत्त्वों का अन्वेषण कर सबसे प्रथम इसको जनता के सन्मुख उपस्थित किया, तब इस बात में भी सन्देह नहीं होना चाहिये, कि इन तत्त्वों के विवेचन के लिये उसने प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की मौलिक उद्भावना की है। क्योंकि प्रमाणों के बिना तत्त्वों का विवेचन असम्भव है। हमें तो यही मालूम होता है, कि गौतम ने इन प्रमाणों को यहीं से लिया है, और उनमें एक 'उपमान' प्रमाण अधिक मिलाकर उन को संख्या चार करदी है। गौतम ने प्रमाणों के नाम भी वे ही रक्खे हैं, जो कपिल ने। आश्चर्य की बात तो यह है कि कपिल ने शब्द का लक्षण जिस आनुपूर्वी में किया है, ठीक उसी आनुपूर्वी में गौतम ने भी शब्द का लक्षण किया है[2]। इसप्रकार जब कपिल प्रमाणों के साथ अनुमान प्रमाण की उद्भावना, कर सकता है, तब अनुमान के प्रयोग की उद्भावना करना उसके लिये स्वाभाविक है। प्रतिज्ञा हेतु और दृष्टान्त के सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये व्याप्ति आदि का विवेचन अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता। कपिल ने अपने अनेक सूत्रों में हेतु और उदाहरण के प्रयोगों को दिखाया है[3]। इसलिये हम यही कह सकते हैं कि अनुमान सम्बन्धी व्याप्ति आदि की उद्भावना, कपिल की अपनी सम्पत्ति है, सांख्य ने उसे और कहीं से उधार नहीं लिया। इसप्रकार व्याप्ति का निरूपण गौतमसूत्रों में तो कहीं है भी नहीं। इस रीति से पञ्चमाध्याय के इस प्रकरण में २६ से ३६ सूत्र तक अनुमान के बल पर प्रकृति को सिद्ध किया गया है।

अनन्तर शब्द प्रमाण की बारी आती है, शब्द से भी प्रधान की सिद्धि है, इसलिये शब्द अर्थ के सम्बन्ध का विवेचन ३७ वें सूत्र से प्रारम्भ होता है, और यह विचार ४४ वें सूत्र तक किया गया है। फिर ४५ से ५१ सूत्र तक वेदों के अनित्यत्व, अपौरुषेयत्व और प्रामाण्य का विवेचन किया गया है, ध्वनि रूप में अनित्य होने पर भी वेद का प्रामाण्य, सांख्य को अभिमत है। इससे यह भी

---

[1] देखिये सांख्यसूत्र अध्याय १, सूत्र ८९ से १०१ तक।

[2] सांख्यदर्शन अ० १, सूत्र १०१, और न्यायदर्शन अ० १, आ० १, सूत्र ७ की परस्पर तुलना कीजिये।

[3] देखिये सांख्यसूत्र अ० १, सूत्र ३, ४६, ५९, ६०, ७६, ९९, ११६, १२२, १२६, ये इतने स्थल केवल प्रथमाध्याय से दिये हैं, और उन्हीं का निर्देश किया गया है, जिनमें प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण तीनों अवयव दिखाये हैं। प्रतिज्ञा के साथ केवल हेतु या उदाहरण, तो अनेक सूत्रों में निर्दिष्ट किये गये हैं। अगले अध्याय। ऐसे अनेक सूत्र हैं, जिनमें तीनों अवयवों का निर्देश किया गया है।

स्पष्ट सिद्ध है कि सांख्य, शब्द मात्र को अनित्य मानता है। अनित्य होने पर भी वेद की प्रमाणता स्वीकार कर सांख्य, शब्द के बल पर भी प्रकृति की सिद्धि मानता है। इसप्रकार अनुमान और शब्द के आधार पर प्रधान की सिद्धि के लिये इस प्रकरण में अनुमान और शब्द का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसके अनन्तर प्रत्यक्षमूलक, प्रधान की सत्यता, सिद्ध करने के लिये ख्याति का विचार प्रारम्भ होता है। यह विचार ५२ से ५६ सूत्र तक में है। लोक में हमको जो भ्रान्त प्रतीति होती हैं उनके निर्णय के अनुसार ही जगत् के मूल उपादानकारण का निर्णय किया जाता है, दार्शनिक प्रक्रिया में इसी विचार को ख्यातिविचार कहा जाता है। इस रीति पर सांख्यमतानुसार प्रत्यक्ष मूलक भी, उपादानकारण प्रधान की सिद्धि की जाती है। इसप्रकार तीनों प्रमाणों से प्रधान आदि की सिद्धि का प्रकरण ५६ सूत्रतक समाप्त होता है। इससे आगे ५७ से ६० तक चार सूत्र प्रक्षिप्त मालूम होते हैं। वे सूत्र इसप्रकार हैं—

प्रतीत्यप्रतीतिभ्या न स्फोटात्मकः शब्दः ।

न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः ।

पूर्वसिद्धसत्त्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य ।

सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत्सिद्धसाधनम् ।

इसके आगे ६१ सूत्र से आत्मा के नानात्व का साधक प्रकरण प्रारम्भ होता है। ख्याति के अनन्तर आत्मनानात्व का साधक प्रकरण ही होना चाहिये। क्योंकि आत्मा का भेद या अभेद ख्याति पर अवलम्बित है, इसलिये ख्याति और आत्मनानात्व विचार के मध्य में शब्द की स्फोटात्मकता या शब्द की नित्यता का निषेध सर्वथा अप्रासंगिक मालूम होता है। यहां शब्द का न पूर्वप्रकरण के साथ सम्बन्ध है और न अपर के। इस पूर्वापर प्रकरण के असम्बन्ध के अतिरिक्त एक और भी बात है। शब्द का अनित्यत्व इसी अध्याय में पहले सिद्ध कर दिया गया है[1]। फिर उसी बात को अनावश्यक दोहराना असंगत है। इसलिये ये चारों (५७ से ६० तक) सूत्र अप्रासंगिक तथा पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं।

६१ से ६४ तक का आत्मनानात्वविचार प्रकरण, पहले २५ सूत्र तक के प्रकरण का ही शेष है, परन्तु २६ वें सूत्र से प्रारम्भ होने वाले द्वितीय प्रकरण में प्रधान की सिद्धि और उसकी जगदुपादानकारणता को दृढ़ करने के लिये आत्मोपादानकारणता का प्रत्याख्यान करना आवश्यक था, इसलिये उससे पूर्व आत्मनानात्व को सिद्ध करके ६५ वें सूत्र में आत्मा की उपादानकारणता, तथा दोनों की मिलित उपादानकारणता का प्रत्याख्यान कर, ६६ से ६८ सूत्र में आत्मा के आपाततः प्रतीयमान औपनिषद स्वरूप का खण्डन किया है। आगे ६९ से ७१ सूत्र तक में मन की उपादानकारणता का निषेध किया गया है। इसप्रकार ग्रन्थकार ने प्रधान की उपादानकारणता की अच्छी तरह पुष्टि की है, और अन्त में ७२ और ७३ सूत्र में, प्रकरण के उपसंहार के

[1] शब्द का अनित्यत्व, शब्दमय वेदों की अनित्यता को बताते हुए ४५ वें सूत्र में निर्णय कर दिया गया है।

बहाने, पुरुष और प्रकृति के अतिरिक्त प्रत्येक पदार्थ को अनित्य बताकर सांख्यसिद्धान्त को स्पष्ट कर दिया है। इसप्रकार प्रारम्भ से ७३ वें सूत्र तक पुरुष और प्रकृति का विस्तृत विवेचन किया गया है।

मुक्ति के स्वरूप का निरूपण—

इसके आगे ७४ वें सूत्र से वह प्रकरण प्रारम्भ होता है, जिस के लिये इस शास्त्र का निर्माण हुआ है। वह है—अत्यन्त पुरुषार्थ, या मुक्ति। सांख्यमत से मुक्ति के स्वरूप का निरूपण करने के लिये सूत्रकार ने प्रथम, कल्पना करके मुक्ति के अनेक स्वरूप दिखलाये हैं, और साथ ही साथ वे उनका निषेध भी करते गये हैं। सूत्रों की रचना और अर्थप्रतिपादनक्रम को समझने के लिये यहां सूत्रों का निर्देश करदेना आवश्यक प्रतीत होता है, इस प्रकरण में बहुत अधिक सूत्रों का प्रक्षेप है, उनको समझने के लिये भी सूत्रों का निर्देश आवश्यक है। हम पहले प्रारम्भ से ही उन सूत्रों को लिखते हैं, जिनमें काल्पनिक मुक्तिस्वरूप को कह कर सूत्रकार उसका निषेध करते गये हैं। सूत्र इसप्रकार हैं—

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मकत्वात्।

न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत्।

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य।

नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात्।

न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात्।

\+ *एवं शून्यमपि।*

\+ *संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि।*

न भागयोगोऽभागस्य।

नाणिमादियोगोऽप्यवश्यंभावित्वात्तदुच्छित्तेरितरवियोगवत्।

नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत्।

इन सूत्रों में आनन्दाभिव्यक्ति, विशेषगुणोच्छेद, विशेषगति, आकारोपरागोच्छेद, सर्वोच्छेद, भागयोग, अणिमादिसिद्धियोग, इन्द्रादि पदयोग (स्वर्गादि) इन आठों के मुक्तिस्वरूप होने का निषेध किया गया है। इन सूत्रों के बीच में चिह्नित दोनों सूत्र प्रक्षिप्त हैं। एक तो पूर्वापर सूत्रों के साथ उनकी रचना नहीं मिलती, दूसरे इन दोनों ही सूत्रों का आशय अन्य सूत्रों में आगया है, इसलिये ये व्यर्थ हैं, कपिल की कृति नहीं होसकते। '*एवं शून्यमपि*' इस सूत्र का भाव, इससे पहले ही सूत्र में आचुका है, सर्वोच्छेद ही शून्यवादी की मुक्ति होसकती है, सूत्रकार ने इस अर्थ को प्रकट करने के लिये '*शून्य*' पद का प्रयोग नहीं किया, प्रत्युत 'सर्वोच्छेद' पदका प्रयोग किया है, यह भी यहां एक ध्यान देने योग्य बात है। दूसरा सूत्र '*संयोगाश्च वियोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्*' इस प्रसिद्ध लौकिक आभाणक को लेकर किसी भले मानस ने यहां धर घसीटा है।

इस सूत्र से मुक्ति का जो स्वरूप उसने बतलाना चाहा है, कि देशादिलाभ भी मुक्ति नहीं है, वह 'नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत्' इस सूत्र से कह दिया गया है। इसलिये यह सूत्र आर्थिक दृष्टि से व्यर्थ है, तथा इसकी रचना भी पूर्वापर सूत्रों के साथ मेल नहीं खाती। ऐसी अवस्था में ये दोनों सूत्र निश्चित प्रक्षिप्त कहे जासकते हैं।

मुक्ति निरूपण प्रकरण के मध्य में ३२ सूत्रों का प्रक्षेप—

अब इन सूत्रों के आगे, जिनमें कि काल्पनिक मुक्तिस्वरूपों का निषेध किया गया है, या तो सूत्रकार को अन्य ऐसे ही काल्पनिक मुक्तिस्वरूपों का निषेध करना चाहिये, या अपने सिद्धान्त से मुक्ति के स्वरूप का निरूपण करना चाहिये। तब ही प्रकरण सगति हो सकती है। परन्तु 'नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत्' इस (प्रचलित वर्त्तमान क्रम के अनुसार) ८३ सूत्र के आगे एक तीसरा ही प्रकरण चल पड़ता है, जिसका पूर्व प्रकरण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। यदि सूत्रकार ने मुक्तिस्वरूप के सम्बन्ध में अपना कोई भी मत आगे न दिया होता, तो हम समझ लेते कि यह प्रकरण यहीं समाप्त हो जाता है, और ८४ सूत्र से दूसरा प्रकरण प्रारम्भ होता है। पर ऐसा नहीं है। सूत्रकार ने स्वयं ११६ सूत्र से ११९ सूत्र तक अपने सिद्धान्त के अनुसार मुक्ति का विचार किया है। यदि यहां पर भी मुक्ति के सम्बन्ध में केवल एक आध ही सूत्र होता, तो सम्भवतः हम उस सूत्र को ही उत्प्रकरण कहने को तयार होजाते, पर यहां इकट्ठे चार सूत्रों को उड़ाया जाना असम्भव है। जब सूत्रकारने अन्य अनेकवादों का निषेध करने के लिये, एक २ वादका निषेध कर केवल आठ ही सूत्र लिखे हैं, तब अपने सिद्धान्त का निरूपण करने के लिये चार सूत्रों का लिखा जाना उपयुक्त ही है। ऐसी अवस्था में इस प्रकरण को इकट्ठा कर देने के लिये, जिसके बिना सूत्ररचना उछृंखलित रहती है, यह आवश्यक है, कि ८३ सूत्र के आगे ११६वां सूत्र जोड़ा जाय। इस आधार पर ८४ सूत्र से ११५ वें सूत्र तक का सम्पूर्ण प्रकरण प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। इस लम्बे प्रकरण का पूर्वापर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, तथा परस्पर भी इन सूत्रों का कोई शृङ्खलाबद्ध सम्बन्ध नहीं है। ये कुछ ऊबड़ खाबड़ से ही मालूम होते हैं। इनमें से अनेक सूत्र पुनरुक्त तथा सांख्यमत के विरुद्ध भी हैं। उन ८४ से ११५ तक सूत्रों का क्रम इसप्रकार है—

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः।
न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः।
षोडशादिष्वप्येवम्।
नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः।
न तन्निर्भागत्वं कार्यत्वात्।
न रूपनिबन्धनात् प्रत्यक्षत्वनियमः।
न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात्।
अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात्प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य।

न तदपलापस्तस्मात् ।
नान्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः ।
न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः ।
निजधर्माभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात्तदुपलब्धेः ।
न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि ।
न संबन्धनित्यतोभयानित्यत्वात् ।
नाजः संबन्धो धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात् ।
न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात् ।
उभयत्राप्यन्यथासिद्धेः प्रत्यक्षमनुमानं वा ।
नानुमेयत्वेन क्रियाया नेदिष्ठस्य तत्तद्वतोरेवापरोक्षप्रतीतेः ।
न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात् ।
न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात् ।
नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा ।
न तेजोऽपसर्पणात्तैजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः ।
प्राप्तार्थप्रकाशलिंगाद्वृत्तिसिद्धिः ।
भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः संबन्धार्थं सर्पतीति ।
न द्रव्ये नियमस्तद्योगात् ।
न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः ।
निमित्तव्यपदेशात्तद्व्यपदेशः ।
ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिकसांसिद्धिकं चेति न नियमः ।
सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात्तद्व्यपदेशः पूर्ववत् ।
न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तितस्तत्सिद्धेः ।
भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसक्तेः ।
भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात् ।

ये कुल ३२ सूत्र यहां, बाद में मिलाये गये मालूम होते हैं। यदि इन सूत्रों को यहां से हटा दिया जाय; तो अध्याय के प्रारम्भ से ही, जैसा हम पूर्व दिखा आये हैं, सम्पूर्ण प्रकरण क्रमिक रूप में शृंखलाबद्ध हो जाते हैं। ८३ सूत्र के आगे ११६ वां सूत्र जोड़ने से किस प्रकार प्रकरण सुसंगत होता है, इस बात को प्रकट करने के पहले, हम इस प्रक्षिप्त प्रकरण के सम्बन्ध में लिख देना आवश्यक समझते हैं।

ये ३२ सूत्र प्रक्षिप्त क्यों हैं—

इस प्रकरण का सबसे पहला सूत्र है—

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः ।

इसमें इन्द्रियों की भूतप्रकृतिता का निषेध किया गया है, और इन्द्रियों को अहंकार से उत्पन्न हुआ बताया गया है। यह सूत्र यहां सर्वथा प्रकरण विरुद्ध है। ८३ सूत्र तक मुक्तिस्वरूप का वर्णन है, आगे ११६ सूत्र में फिर वही वर्णन प्रारम्भ हो जाता है; इस सूत्र का मुक्तिस्वरूप के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकरणविरोध के अतिरिक्त यह सूत्र पुनरुक्त भी है। सूत्रकार प्रथम ही लिख आये हैं—

आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि । अ० २, सू० २० ।

फिर यहां इस सूत्र को लिखने की आवश्यकता हो नहीं रह जाती। इसलिये यह सूत्र कपिलरचित नहीं हो सकता।

आगे दो सूत्र वैशेषिक और न्यायमत में दूषण देने के लिये किसी ने मिलाये हैं—

न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः ।

षोडशादिष्वप्येवम् ।

इन दोनों सूत्रों में बताया गया है, कि पदार्थ छः या सोलह ही हैं इसका कोई नियम नहीं, तथा इन छः या सोलह पदार्थों के ज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती। परन्तु यह बात भी प्रकृत में संगत नहीं मालूम होती। क्योंकि प्रकरण केवल मुक्ति के स्वरूप को बतलाने के लिये है, छः या सोलह पदार्थों की इयत्ता का निषेध करने के लिये नहीं। और न छः या सोलह पदार्थों के ज्ञान से मुक्ति होने का निषेध करने के लिये। क्योंकि ज्ञान से मुक्ति होती है, यह बात निश्चित है, प्रकृति और पुरुष के विवेकज्ञान से ही मुक्ति होती है, इस बात का अन्यत्र निर्णय कर दिया गया है।[1] इन दोनों सूत्रों से न्याय वैशेषिक मतानुसार, मुक्ति के स्वरूप का कुछ भी प्रकाशन नहीं होता। यद्यपि गौतम तथा कणाद के सूत्रों के अनुसार इक्कीस प्रकार के दुःखों का अत्यन्त नाश हो जाना ही मोक्ष है,[2] यहां सांख्य में भी, सब दुःखों के तीन ही प्रकार होने के कारण, त्रिविध दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति को परमपुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष कहा है। फिर भी न्याय-वैशेषिक तथा

---

[1] देखिये सांख्यषडध्यायी। अ० १ सू० ८३। अ० ३ सू० २३, ८४।

[2] 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' गौतमकृत न्यायसूत्र अ० १, आ० १, सू० २२। यहां 'तत्' शब्द का अर्थ भाष्यकार वात्स्यायन ने दुःख किया है। उद्योतकर ने भी 'तेन शरीरादिना दुःखान्तेन' यह अर्थ किया है। शरीर से लेकर दुःख पर्यन्त इक्कीस प्रकार के दुःख इसप्रकार लिखे हैं—"एकविंशतिप्रभेदभिन्नं पुनर्दुःखम्—शरीरं षडिन्द्रियाणि षड्विषयाः षड्बुद्धयः सुखं दुःखञ्चेति। शरीरं दुःखायतनत्वाद्दुःखम्। इन्द्रियाणि विषया बुद्धयश्च तत्साधनभावात्। सुखं दुःखानुषङ्गात्। दुःखं स्वरूपत इति" (बनारस चौखम्बा-मुद्रित; न्यायवार्तिक पृष्ठ २, प्रथम सूत्रकी अवतरणिका में)। शरीर दुःख का आयतन होने से छः इन्द्रियां छः विषय और छः बुद्धियां दुःख के साधन होने से, सुख दुःखमिश्रित होने से और दुःख स्वरूप से ही दुःख है। इस तरह ये २१ प्रकार के दुःख हैं। वस्तुतः दुःख के ये २१ प्रकार, सामञ्जस्यपूर्ण नहीं हैं। छः विषयों में सुख दुःख के आ जाने से उनकी पृथक् गणना करना असंगत है। वैशेषिक भी तत्त्वज्ञान

सांख्य के मोक्ष में महान भेद है। सूत्रकार कपिल ने पिछले सूत्रों में, मुक्तिस्वरूप के सम्बन्ध में एक ऐसे वाद का भी निषेध किया है, जो न्याय-वैशेषिक मत के अनुकूल प्रतीत होता है। वह सूत्र है-'*न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत्*' विशेष गुणों का उच्छेद हो जाना भी मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा निर्धर्मक है, उसके कोई गुणरूप धर्म होते ही नहीं। इस सूत्र में निषिद्ध, मुक्ति का स्वरूप न्याय वैशेषिक मत से बिल्कुल मिलता है, चाहे यह मिलान प्रकारान्तर से है। क्योंकि गौतम या कणाद ने कोई भी ऐसा सूत्र नहीं कहा, जिस में विशेष गुणों के उच्छेद को मुक्ति बताया गया हो, पर यह बात है बिल्कुल सच, कि न्याय-वैशेषिक की मुक्ति में आत्मा के विशेष गुणों का सर्वथा उच्छेद हो जाता है। इससे यह भी स्पष्ट है, कि यदि सम्पूर्ण षडध्यायी का निर्माण गौतम कणाद के सूत्रों के बाद ही हुआ होता, तो यहां अवश्य उनके मतानुसार मुक्ति के स्वरूप का निषेध करने के लिये '*न विशेषगुणोच्छित्तिः*' की जगह '*नैकविंशतिदुःखध्वंसः*' या केवल '*न दुःखध्वंसः*' ऐसा सूत्र बनाया जाता। पर क्योंकि इस मूल षडध्यायी की रचना के समय गौतम कणाद सूत्र नहीं थे, इसलिये सांख्यसूत्रकार ने स्वयं एक वाद की कल्पना करके उसका निषेध किया है। या यह कहा जा सकता है कि यह वाद कपिल के समय में भी था, जिसका उन्होंने निषेध किया, परन्तु उस समय उसकी परिष्कृति इसप्रकार नहीं हुई थी, जैसी कि गौतम कणाद ने अपने समय में की। इसीलिये मौलिक वाद में समानता होने पर भी, गौतम कणाद की रचना में कोई ऐसा शब्द नहीं, जहां विशेषगुणोच्छेद को मुक्ति कहा हो; जब कि उनकी मुक्ति का परिणाम यही निकलता है। इसलिये '*न विशेषगुणोच्छित्तिः*' इस सूत्र में ही सिद्धान्त रूप से न्याय वैशेषिक की मुक्ति का निषेध किया गया है, फिर इन दो सूत्रों की रचना सर्वथा अप्रासंगिक, पुनरुक्त तथा व्यर्थ कही जा सकती है। और इसीलिये यह रचना कपिल की नहीं हो सकती।

प्रो० मैक्समूलर ने सूत्रों की इस आन्तरिक रचना को न समझकर अपनी 'The six systems of Indian Philosophy' नामक पुस्तक के ११८ पृष्ठ पर 'सांख्यसूत्र' यह शीर्षक देकर इसप्रकार लिखा है—

"[1]सांख्यसूत्र जो हमें मिलते हैं, उद्धरणों से भरे हुए हैं। स्पष्ट तौर पर वे वैशेषिक और न्याय को लक्षित करते हैं, जब वे पहले के छः और दूसरे के सोलह पदार्थों की परीक्षा करते हैं।

से निःश्रेयस की प्राप्ति बताकर उसी क्रम को अंगीकार करते हैं, जो गौतमीय न्याय के दूसरे सूत्र में कहा गया है। इसलिये इनके मत में भी दुःख का न रहना ही मोक्ष है। देखिये वैशेषिक सूत्र अ० १, आ० १, सूत्र ४; और ६। २। १६॥ तथा इनका उपस्कार।

[1] "The Samkhya-Sutras, as we possess them, are very chary of references. They clearly refer to Vaiseshika and Nyaya, when they examine the six categories of the former (V,85) and the sixteen Padarthas of the latter (V, 86). Whenever they refer to the Anus or atoms, we know that they have the Vaiseshika-philosophy in their minds; and once the

जब वे अणुओं को लक्षित करते हैं, तब हम जानते हैं, उनके मन में वैशेषिक दर्शन का भाव है। और एक जगह पर [१।२५] स्पष्ट तौर पर वैशेषिकों का नाम लिया गया है। श्रुति जिसके सम्बन्ध में यह आशा की जाती है, कि सांख्य उसकी उपेक्षा करे, अनेक स्थलों पर उसको; और एक जगह पर [५।१२३ मे] स्मृति को भी प्रमाण माना गया है। वामदेव के सम्बन्ध में, जिसका वर्णन श्रुति स्मृति दोनों में आता है, यह कहा गया है, कि उसने मोक्ष प्राप्त किया। व्यक्ति रूप से सनन्दन और पञ्चशिखाचार्य का नाम आता है। जहां सामान्य रूप से 'आचार्य' कहा गया है, वहां कपिल और अन्य आचार्यों से अभिप्राय है।"

प्रो० मैक्समूलर के इस लेख का अब कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता, जब यह प्रकरण, और पहले अध्याय का वह प्रकरण जिसमें वैशेषिकों का स्पष्ट नाम लिया गया बताया है, प्रक्षिप्त सिद्ध कर दिये गये हैं। जब यह भाग कपिल की कृति ही नहीं है, तब वास्तविक कापिल-सूत्रों पर इसका प्रभाव ही क्या होसकता है? प्रो० साहब ने जो श्रुति के प्रमाण माने जाने में सांख्यसूत्रों से उपेक्षा की आशा का अभूतपूर्व उद्भावन किया है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। जब सांख्य साक्षात् शब्द को अन्यतम प्रमाण मानता है, तब उससे श्रुति की उपेक्षा की आशा करना, मैक्समूलर ही समझ सकते हैं। पांचवें अध्याय के १२३ सूत्र में जो आपने स्मृति के प्रमाण माने जाने की बात कही है, उसके सम्बन्ध में हम अभी स्पष्ट करेंगे, कि वह सूत्र प्रक्षिप्त है। वामदेव का नाम आने से सूत्रों की प्राचीनता में कोई बाधा नहीं, वह बहुत प्राचीन ऋषि है। सनन्दन कपिल का समकालिक आचार्य था, और पञ्चशिख कपिलाचार्य का प्रशिष्य। कपिल के समय में ही इसकी विद्वत्ता का लोहा माना जाने लगा था, इसलिये कपिल ने बड़ी प्रसन्नता से उसका नाम अपने ग्रन्थ मे दिया है। इस बात को हम द्वितीय प्रकरण में स्पष्ट कर आये हैं। ऐसी अवस्था में मैक्समूलर महोदय का कथन सर्वथा निर्मूल ही कहा जासकता है।

इसके आगे जो [८७, ८८] सूत्रों में परमाणु की नित्यता का निषेध किया गया है—

नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः।

न निर्भागत्वं कार्यत्वात्।

परमाणु नित्य नहीं होसकता, क्योंकि उसकी कार्यता श्रुति में देखी जाती है,

---

Vaiseshikas are actually mentioned by name (I, 25). Sruti, which the Samkhyas were supposed to disregard, is very frequently appealed to, Smriti once (V, 123), and Vamadeva, whose name occurs in both Sruti and Smriti, is mentioned as one who had obtained spiritual freedom. But of individual philosophers we meet only with Sanandana Acharya (VI, 69) and Panchashikha (V, 32; VI, 68), while the teachers, the Acharyas, when mentioned in general, are explained as comprehending Kapila himself, as well as others.

और कार्य होने से ही वह निरवयव भी नहीं हो सकता। इन दोनों सूत्रों का ८५, ८६ सूत्रसे भी कोई सम्बन्ध नहीं है, मुक्तिनिरूपण के पूर्वापर प्रकरण से सम्बन्ध होना तो दूर की बात है। प्रकरणविरोध के अतिरिक्त ये सूत्र पुनरुक्त भी हैं। क्योंकि परिच्छिन्न की उपादानता और नित्यता का निषेध प्रथम अध्यायमें कर दिया गया है।[1] यदि उस स्थल की अपेक्षा यहां कुछ अधिक विस्तार होता, या और किसी तरह की विशेषता होती; तो हम समझलेते, कि यहां परवादप्रतिषेध प्रकरण में भी उस बात को विस्तारपूर्वक दिखाया गया है, पर ऐसा है नहीं, प्रत्युत प्रथम अध्याय का स्थल ही अधिक भावपूर्ण और उपयुक्त प्रतीत होता है। इन दोनों सूत्रों को यहां किसने क्या सोच कर मिलाया होगा,नहीं कहा जा सकता, पर सम्भवतः मालूम यही होता है कि ८५, ८६ सूत्र में न्याय-वैशेषिकाभिमत पदार्थों की संख्या के सम्बन्ध में बताकर, न्याय-वैशेषिक का जो भी मत सामने आया है, वह लेखक उसी का प्रतिषेध करता चला गया है, इस सिलसिले में कहीं कहीं वह सांख्यसिद्धान्त के विरुद्ध भी लिख बैठा है। ऐसी अवस्था में इन सूत्रों को कपिल की रचना मानना विद्वत्ता नहीं कही जा सकती, तथा इन सूत्रों के साथ, विना ही विचारे सम्पूर्ण षडध्यायी को कपिल की रचना न मानना भी इसी कोटि में समझना चाहिये।

अगले ८६ सूत्रमें, न्याय-वैशेषिकाभिमत, द्रव्यप्रत्यक्षमें रूप की कारणता का निषेध है। भला इस सूत्र का भी प्रकरण के साथ क्या सम्बन्ध है? व्याख्याकारों ने लिखा है कि द्रव्यप्रत्यक्षमें यदि रूप को कारण माना जाय, तो प्रकृतिपुरुष का साक्षात्कार नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें रूप नहीं। इसी बात का निषेध करने के लिये यह सूत्र लिखा गया। पर यह बात कितनी हास्यास्पद है। थोड़ी देर के लिये मान लीजिये, कि द्रव्यप्रत्यक्ष में रूप को कारणता नहीं है, तो क्या व्याख्याकार प्रकृति पुरुष का सांख्यमत से प्रत्यक्ष होना प्रतिपादन करेंगे? उनके विचार से तो फिर प्रकृति पुरुष का साक्षात्कार प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य हो जाना चाहिये। पर क्या सांख्यमत यह बात स्वीकार करने को तयार है? प्रकृति पुरुष का प्रत्यक्ष हमको इस समय क्यों नहीं होता? इस बात का प्रतिपादन सूत्रकार कपिल ने प्रथम अध्याय में ही विस्तारपूर्वक कर दिया है[2]। समाधिसम्पत्ति से पुरुष और प्रकृति के साक्षात्कार या विवेकज्ञान की अवस्था में द्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति,रूप की कारणता का नाम लेना धृष्टतामात्र है। वहां तो नैयायिक और काणाद भी रूप को धता बता देते हैं। ऐसी अवस्था में कपिल इस सूत्र को बनाते, यह एक आश्चर्यकी बात है। यह सूत्र तो सांख्य-मत को न समझकर ही किसी ने लिख दिया है।

ठीक यही हालत ६० सूत्र की है। इस सूत्रमें न्यायवैशेषिकाभिमत परिमाणचातुर्विध्य का निषेध किया है। अर्थात् परिमाण के चार भेद नहीं होसकते। आश्चर्य की बात तो यह है, कि साथ में ही हेतु रूप से यह भी कह दिया गया है, कि परिमाण के दो ही भेद हैं।

---

[1] सांख्यषडध्यायी, अध्याय १, सूत्र ७६, ७७।

[2] सांख्यषडध्यायी, अध्याय १, सूत्र १०८, १०६।

क्या सांख्यमत में भी न्याय आदि की तरह गुणगुणी की कल्पना है ? क्या परिमाण गुण की अतिरिक्त कल्पना करके उसके भेदों की कल्पना, सांख्यमत के अनुसार कही जासकती है ? ऐसी अवस्था में सांख्यतत्त्वों की २५ संख्या की क्या गति होगी ? सांख्य में तो वैशेषिकाभिमत गुण की अतिरिक्त कल्पना ही असंगत है, फिर उस के भेदों का कथन करना तो हास्यास्पद ही समझा जासकता है। इसलिये यह सूत्र भी सांख्यमतविरुद्ध होने से कपिलप्रणीत नहीं कहा जासकता। वस्तुतः सांख्यमत में प्रत्येक परिमाण, द्रव्यात्मक ही है। जो द्रव्य जैसा-विभु अणु, लम्बा चौड़ा, छोटा बड़ा, चौखुंटा तिखुंटा होगा, वह परिमाण उस द्रव्य से अतिरिक्त, सांख्यमत में कोई वस्तु नहीं। इसका विस्तृत वर्णन हम 'सांख्यसिद्धान्त' नामक द्वितीय भाग में करेंगे।

इसके आगे ६१-६३ तीन सूत्रों में सामान्य अर्थात् जातिका विचार किया गया है। इन सूत्रों का अभिप्राय है, सामान्य एक भावरूप पदार्थ है, उसका अपलाप (निषेध) नहीं किया जासकता, हमको जो *'स एवायं घटः'* (यह वही घट है) यह प्रत्यभिज्ञान होता है, वह सामान्य को ही विषय करता है, इसलिये सामान्य को अवश्य स्वीकार करना चाहिये। इसके आगे ६४ सूत्र *'न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः'* का अवतरण करते हुए विज्ञानभिक्षु ने लिखा है— *'ननु सादृश्यनिबन्धना प्रत्यभिज्ञा भविष्यति तत्राह।'* आशंका उठाई गई है, कि प्रत्यभिज्ञान के लिये सामान्य की क्या आवश्यकता है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान तो सादृश्यमूलक सिद्ध हो जायगा। इसका उत्तर दिया गया है,– *'न तत्त्वान्तरं सादृश्यं'*। अर्थात् सादृश्य कोई भिन्न तत्त्व नहीं है। अब विचारणीय बात यह है, कि सादृश्य के भिन्न तत्त्व न होने पर भी प्रत्यभिज्ञा तन्मूलक क्यों नहीं होसकती ? इस रीति पर तो अब प्रत्यभिज्ञा को सामान्यमूलक होने से सामान्य को अवश्य अतिरिक्त पदार्थ माना जाना चाहिये, जो सांख्य मत के सर्वथा विरुद्ध है। यदि सामान्य को अतिरिक्त पदार्थ न मान कर तन्मूलक प्रत्यभिज्ञान की कल्पना होसकती है, तो सादृश्य ने ही क्या अपराध किया है, प्रत्यभिज्ञा को सादृश्यमूलक क्यों न मान लिया जाय ? वस्तुतः ये सूत्र न्यायवैशेषिक के समान 'सामान्य' की कल्पना करके लिखे गये मालूम होते हैं। पर सांख्य-मत में यह कल्पना असंगत है, क्योंकि यहां सामान्य या जाति की अतिरिक्त कल्पना नहीं होसकती। सूत्रकार ने प्रथमाध्याय में इस बात को स्वयं स्पष्ट कर दिया है [1]। अगले ६५ और ६६ सूत्र में भी सादृश्य के ही स्वरूप का निषेध किया है। वस्तु की अपनी स्वाभाविक शक्ति के

[1] सांख्यषडध्यायी, अ० १, सूत्र १५४, १५५। यहां पहले सूत्र में 'जाति' पद का प्रयोग हुआ है। विज्ञानभिक्षु ने उस का अर्थ एकरूपता या समानरूपता किया है। यही अर्थ अगले सूत्र से स्पष्ट होजाता है। उस सूत्र का अर्थ है--तत्वज्ञानी यथार्थदृष्टि से समझ लेता है कि मैं अतद्रूप अर्थात् आत्मान्तर से भिन्न हूँ। यह बात व्यक्तिभेद होने पर, रूपमें समानता होने से ही बन सकती है। अनिरुद्ध ने यहां सूत्रमें 'तद्रूप' ही पाठ माना है, और उसका अर्थ कैवल्य किया है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान से आत्मा स्वरूप में स्थित होजाता है। उसके उस रूप की अन्य आत्माओं में समानता होने पर भी, अन्य आत्माओं का बद्ध रहना व्यक्तिभेद को स्पष्ट करता है। इससे यही परिणाम निकलता है कि सूत्रकार ने यहां

प्रकट होने को भी सादृश्य नहीं कह सकते, और न संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का ही नाम सादृश्य है; यही दोनों सूत्रों का आशय है। फिर सादृश्य है क्या चीज़ ? इसको यहां सूत्रों में नहीं बताया गया। ६४ सूत्र की व्याख्यामें विज्ञानभिक्षु ने लिखा है--'*भूयोऽवयवादिसामान्यादतिरिक्तं न सादृश्यमस्ति*'। बहुत से अवयव आदि की समानता के अतिरिक्त सादृश्य कोई वस्तु नहीं। जब यही बात है, तो सादृश्य और सामान्य में भेद ही क्या रहा ? यह तो दोनों एक ही वस्तु बन गईं। ऐसी अवस्था में यह सामान्य और सादृश्य के भेद का विचार सर्वथा असंगत तथा अशास्त्रीय है। इस रीति पर इन असम्बद्ध सूत्रों का रचयिता कपिलाचार्य नहीं होसकता।

इसके आगे ६७ सूत्र में संज्ञा और संज्ञी दोनों की अनित्यता के कारण उनके सम्बन्ध को भी अनित्य बताया गया है। परन्तु सम्बन्धी के अनित्य होने पर भी सम्बन्ध नित्य होसकता है, यह आशंका करके ६८ सूत्र में नित्य सम्बन्ध का निषेध किया गया है। विचारणीय यह है कि यहां संज्ञा के अनित्य माने जाने पर भी संज्ञीमात्र को अनित्य कैसे कहा गया ? प्रकृति पुरुष भी तो संज्ञी कहे जासकते हैं, तो क्या इनको भी अनित्य माना जाय ? और जब सूत्रकार स्वयं कह आये हैं, कि '*प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम्*' (५।७२) प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त सब कुछ अनित्य है, तब सम्बन्ध के नित्य होने की आशंका ही कहां रह जाती है। इसलिये ये सूत्र भी पुनरुक्त, सांख्यमतविरोधी तथा उत्प्रकरण ही है।

आगे ६६ और १०० इन दो सूत्रों में समवाय का निषेध किया गया है। पर ६८ सूत्र से ही जब नित्यसम्बन्ध का निषेध कर दिया गया, तब इन सूत्रों की क्या आवश्यकता थी। आश्चर्य तो विज्ञानभिक्षु की अवतरणिका को देखकर होता है। वहां लिखा है-'*नन्वेवं नित्ययोर्गुणगुणिनोर्नित्यः समवायो नोपपद्येत तत्राह--*'। अर्थात् जब ६८ सूत्र में नित्यसम्बन्ध का निषेध किया गया है, तो इसप्रकार नित्य गुणगुणी का नित्य समवाय उत्पन्न न होसकेगा ? इस विषय में कहा गया.-समवाय है ही नहीं, इत्यादि। बात यह है कि विज्ञानभिक्षु नित्य गुणगुणी का नित्य समवाय बताकर यह प्रकट करना चाहता है कि अनित्य गुणगुणी का नित्य समवाय नहीं होता। और तो कुछ इसका आशय हो नहीं सकता। ऐसी अवस्था में विज्ञानभिक्षु जिस मत से इस सूत्र की अवतरणिका कर रहा है, उसके सर्वथा विरुद्ध लिख गया है, क्योंकि नैयायिक और वैशेषिक समवाय को किसी अवस्था में भी अनित्य नहीं मानते, और सम्बन्धी को अनित्य मानकर भी सम्बन्ध के नित्यत्व की आशंका करके जो ६८ सूत्र को विज्ञानभिक्षुने अवतीर्ण किया है, उसका अवतार सिवाय समवाय के और किसी के लिये हो ही नहीं सकता। क्योंकि सम्बन्धी के अनित्य होने पर भी सम्बन्ध की नित्यता सिवाय समवाय के और कहीं नहीं है। इसलिये विज्ञानभिक्षु ६६ सूत्र की अवतरणिका करते हुये गड़बड़ा गये हैं। विचारे इन विशृंखलित सूत्रों की कहां तक

स्वरूपसमानता को ही जाति कहा है, समानता सदा भेदघटित होती है, और वह भी आत्मस्वरूप से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं।

संगति लगाते। सचमुच ये सूत्र अनर्थक ही है। अनिरुद्ध ने ९८ सूत्र में नित्यसंयोग का प्रतिषेध माना है। नित्य संयोग वैशेषिक तो मानने हो नहीं।[1] नैयायिक विभुद्वय का नित्यसंयोग मानते हैं। क्या सचमुच कपिल इस एक साधारण अवान्तरमत का खण्डन करने बैठते, यह बात ध्यान में आ सकती है? प्रत्येक विद्वान इस बात को समझ सकता है कि अत्यन्तपुरुषार्थ के लिये प्रकृति-पुरुष के विवेकज्ञान में नित्यसंयोग के निषेध करने का कुछ भी उपयोग नहीं। अगर कुछ हो सकता है, तो वह केवल इतना है, जिसका प्रतिपादन सूत्रकार इसी अध्याय के ७२ सूत्र में कर आये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ये सूत्र कपिलकी कृति नहीं। अन्य किसी विद्वान् ने बाद में मिला दिये हैं।

१०१ सूत्रमें, 'क्रिया केवल अनुमान से जानी जाती है, यह बात नहीं, किन्तु उसका प्रत्यक्ष भी होता है' यह निरूपण किया गया है। यह सूत्र यहां क्यों लिखा गया, इसका पूर्वापर के साथ क्या सम्बन्ध है, इसमें किस मत का खण्डन किया गया है, यह कुछ भी मालूम नहीं होता। अनिरुद्ध और महादेव की अवतरणिकाओं से भी इस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अनिरुद्ध के व्याख्यान से तो यह बात प्रकट होती है, कि क्रिया का अनुमान कभी नहीं होता, वह सदा प्रत्यक्ष हो जाती है। जब सूत्र की रचना से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, कि क्रिया अनुमेय भी है, और प्रत्यक्ष भी। पर विज्ञानभिक्षु ने जो कथा बांचनी शुरू की है, उसको देखकर हैरानी होती है, विज्ञानभिक्षु ने इसप्रकार अवतरणिका लिखी है—

'प्रकृतेः क्षोभात् प्रकृतिपुरुषसंयोगः, तस्मात् सृष्टिरिति सिद्धान्तः'। प्रकृति के क्षोभ से प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है, और उससे सृष्टि, यह सिद्धान्त है। पर यह सिद्धान्त विज्ञानभिक्षु का होगा, सांख्य का तो यह सिद्धान्त हो नहीं सकता। क्योंकि सूत्रकार ने अनेक स्थलों पर प्रकृति-पुरुष के संयोग का कारण अविवेक ही बताया है,[2] क्षोभ नहीं। क्षोभ तो प्रकृतिपुरुष के संयोग होने पर ही हो सकता है, यदि क्षोभ को संयोग का कारण माना जाय तो क्षोभ का निमित्त क्या होगा? अविवेक के लिये यह आशंका नहीं उठाई जासकती, क्योंकि सूत्रकारने अविवेक को अनादि माना है, शास्त्र का भी यही रहस्य है क्षोभ को अनादि नहीं माना जा सकता, फिर तो कभी प्रलय होना ही नहीं चाहिये। क्षोभ होते ही वैषम्य होगा, और यह सर्ग की अवस्था है। इसलिये विज्ञानभिक्षु का यह सिद्धान्त सांख्यसिद्धान्त नहीं हो सकता। आगे वह लिखता है—

'तत्रायं नास्तिकानामाक्षेपः—नास्ति क्षोभाख्या कस्यापि क्रिया, सर्वं वस्तु क्षणिकं यत्रोत्पद्यते तत्रैव विनश्यतीत्यतो न देशान्तरसंयोगेनैया क्रिया सिद्ध्यतीति। तत्राह—'।

यह सब विज्ञानभिक्षु की अपनी कल्पना है, शास्त्र का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

---

१ 'नास्त्यजः संयोगो नित्यपरिमण्डलवत् पृथगनभिधानात् ।....... । विभूनां तु परस्परतः संयोगो नास्ति युतसिद्ध्यभावात्'। (प्रशस्तपादभाष्य, पृ० १४०, १४१। लाजरस कम्पनी बनारसमें मुद्रित। सं० १६२१)

२ सांख्यषडध्यायी, अ० १, सू० ५५, १०६। अ० ३ सूत्र ३८, ७१, ७४। अ० ६, सूत्र २७।

३ सांख्यषडध्यायी, अ० ६, सू० १२।

इसीलिये यह सूत्र भी सांख्यविषय से सम्बद्ध नहीं कहा जा सकता, और न यह कपिल की कृति हो सकता है।

इससे अगला १०२ वां सूत्र तो सर्वथा सांख्यमत के विरुद्ध है। सूत्र है—*न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात्*'। विज्ञानभिक्षु इसकी अवतरणिका लिखता है—'*द्वितीयाध्याये शरीरस्य पाञ्चभौतिकत्वादिरूपैर्मतभेदा एवोक्ताः, न तु विशेषोऽवधृतः। अत्रापरपक्षं प्रतिषेधति*—'। तीसरे [1] अध्याय में आये हुये सूत्र इसप्रकार हैं:—

पाञ्चभौतिको देहः। १७।
चातुर्भौतिकमित्यन्ये। १८।
ऐकभौतिकमपरे। १९।

इन सूत्रों से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि इनमें १८ और १९ वां सूत्र ही दूसरे मतों को बतलाने वाले हैं। एक के बाद में '*अन्ये*' और दूसरे के अन्त में '*अपरे*' पद लगा हुआ है। इसलिये १७ सूत्र में जो मत दिया गया है, वह सांख्य का अपना है। व्याख्याकार अनिरुद्ध ने तो १७ सूत्र की अवतरणिका में स्पष्ट ही लिख दिया है—'*विप्रतिपत्तौ सत्यां स्वमतमाह*'। विप्रतिपत्ति होने पर अपना मत कहते हैं—। फिर अगले १८/१९ दोनों सूत्रों की अवतरणिका लिखी है-'*का विप्रतिपत्तिरित्याह*—'। वह विप्रतिपत्ति कौनसी है? विज्ञानभिक्षु ने स्वयं भी इन सूत्रों की अवतरणिका '*मतान्तरमाह*' इसप्रकार की है। यद्यपि विज्ञानभिक्षु ने १९ सूत्र की व्याख्या में यह बात लिख दी है, कि पञ्चम अध्याय में इसी पक्ष को सिद्धान्त रूप से कथन किया जायगा; परन्तु जो मत '*अपरे*' पद देकर प्रकट किया गया है, वह कपिल का अपना सिद्धान्तपक्ष कैसे होगा? यह हम अभी तक नहीं समझ सके। इससे यह स्पष्ट है कि देह को चातुर्भौतिक या ऐकभौतिक मानना दूसरों का मत है, और पाञ्चभौतिक देह का मानना ही सांख्य का अपना मत है। इसलिये देह की पाञ्चभौतिकता का निषेध करने वाला यह १०२ वां सूत्र सर्वथा सांख्यमत के विरुद्ध है, और इसीलिये कपिल की रचना नहीं।

प्रो० कीथ को इस प्रकरण और विशेष कर इस सूत्र को समझने में बहुत भ्रम हुआ है। उसने अपनी 'The Samkhya System' नामक पुस्तकके ९७ पृष्ठ पर लिखा है, [2] "और स्थूल शरीर, जो कि वास्तव में पार्थिव है, उस के बढ़ने का विस्तार लिखा हुआ है, और

---

[1] १०२ सूत्र की अवतरणिका में विज्ञानभिक्षु ने—द्वितीयाध्याय में शरीर के पाञ्चभौतिक आदि रूप से मतभेद दिखाये गये हैं—यह लिख दिया। पर द्वितीयाध्याय के बजाय, ये सूत्र तृतीयाध्याय में हैं। नहीं कहा जा सकता, यह मुद्रण का दोष है, या विज्ञानभिक्षु को ही भ्रम हो गया हो।

[2] कीथ का मूल लेख इसप्रकार है—
On the other hand, further details are given of the process growth of the grossbody, which is really composed of earth, not of three elements, fire, water and food, that is earth, as in the view of

शरीर तीन भूत—पृथिवी जल और तेज से बना हुआ भी नहीं है, जैसा कि वेदान्त मानता है। और न यह चातुर्भौतिक या पाञ्चभौतिक है, जैसा कि आम तौर पर माना जाता है; और जो महाभारत में पञ्चशिख के नाम से दिया गया है। शेष चार भूत शरीर के उपष्टम्भकमात्र हैं" इत्यादि। कीथ का यह विचार सर्वथा भ्रमपूर्ण है कि यह सांख्य, शरीर की वास्तविक ऐकभौतिकता अर्थात् पार्थिवता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। यह मत वास्तव में न्याय-वैशेषिक का है। गौतम और कणाद दोनों ने ही शरीर को स्पष्ट रूप में पार्थिव माना है[1]। वेदान्त भी शरीर को केवल त्रैभौतिक अंगीकार करता है, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह भूतों को पञ्चीकृत मानता है, उसके सिद्धान्त में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं, जो पांचों भूतों से मिलकर न बनी हो। वेदान्तमत में शरीर की त्रैभौतिकता का कीथ को धोखा हुआ है। इसका मूल हमें छान्दोग्य की एक श्रुति मालूम होती है। पर यह ध्यान रहना चाहिये, वेदान्तमतानुसार उस श्रुति में 'त्रिवृत्' पद पांचों भूतों के पञ्चीकरण का उपलक्षण है। भाष्यकार टीकाकार तथा वेदान्त के अन्य ग्रन्थकारों ने भी इस मत को इसी तरह स्वीकार किया है।[2] यद्यपि हमारा विचार इसके विपरीत है। छान्दोग्य के 'त्रिवृत्' पद का अर्थ, सत्त्व, रजस्, तमस् की अन्योन्यमिथुनवृत्तिता ही, संगत होसकता है। शरीर में पृथिवी के अतिरिक्त अन्य भूतों को उपष्टम्भक (सहायक—केवल निमित्त कारण—उपादान नहीं) मानना भी न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त है, सांख्य और वेदान्त का नहीं। मूलसांख्य इन

---

the Vedanta, nor of four, nor of five as in the popular view, which in the epic is attributed to the Pancasikha himself The other four elements aid only in producing the stability of the body: water sustains the blood, fire the heat of the body, air the breath and ether the windpipe.

1 देखिये—गौतम न्यायसूत्र, वात्स्यायनभाष्य सहित, अ० ३, आ० १, सू० २८, २९। और कणाद वैशेषिक सूत्र, शङ्करोपस्कार सहित, अ० ४, आ० २, सू० २—४।

2 छान्दोग्यश्रुति इसप्रकार है—'तासां त्रिवृत त्रिवृतमेकैकामकरोत्' इत्यादि, अध्याय ६, खण्ड ३, ४। चौथे खण्ड की चौथी कण्डिका की व्याख्या में भाष्यकार शङ्कराचार्य ने स्पष्ट लिखा है—'यथा तु त्रिवृत्कृते त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यं तथा पञ्चीकरणेऽपि समानो न्याय इति'। इसकी व्याख्या करते हुए आनन्दगिरि ने लिखा है—'यदा पञ्चापि भूतानि प्रत्येकं द्वेधा विभज्य पुनरेकैकं भागं चतुर्धा कृत्वा स्वभागातिरिक्तेषु पूर्वेषु भागेष्वेकैकशो निक्षिप्यन्ते, तदा पञ्चीकरणं श्रुत्युपलक्षितं लभ्यते'। वेदान्त ब्रह्मसूत्रों में भी अ० २, पा० ४, सू० २०—२२ तक में यह विचार आया है। वहां श्रीगोविन्दप्रणीत रत्नप्रभा नामक व्याख्या में ये पंक्तियां हैं—'तासां तिसृणां देवतानामेकैकां देवतां तेजोबन्नात्मना त्र्यात्मिकां करिष्यामीति श्रुतिः पञ्चीकरणोपलक्षणार्था। छान्दोग्येऽप्याकाशवाय्वोरुपसंहारस्योक्तत्वात्'। इसके अतिरिक्त विद्यारण्य स्वामी ने पञ्चदशी के प्रथम प्रकरण में ही वेदान्तमत से पञ्चीकरण का स्पष्ट रूप में वर्णन किया है। श्लोक इसप्रकार हैं—

तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने। पञ्चीकरोति भगवान्प्रत्येकं वियदादिकम्। २६॥
द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः। स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते ॥२७॥

आगे शरीर को भी स्पष्ट रूप से पाञ्चभौतिक लिखा है—

स्यात्पञ्चीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः। ३४।

विचारों को किसीतरह नहीं लेसकता, क्योंकि ये विचार उसके सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत हैं। मालूम यह होता है कि किसी नैयायिक ने अपने विचारों को यहां मिला दिया है। बाद में सब ही व्याख्याकार, सूत्रों की क्रमिकरचना को न समझने के कारण धोखे में पड़ते रहे हैं। कीथ को विज्ञानभिक्षु की व्याख्या देखकर ही भ्रम हुआ है, ऐसा मालूम होता है। पर आंख मूंद कर उसने इस बात को कैसे स्वीकार कर लिया, यही आश्चर्य है। कीथ ने यहां एक और बात लिखी है—'महाभारत में पञ्चशिख की ओर से कहा गया है कि शरीर पाञ्चभौतिक है।'[२] यह सर्वथा युक्त है, क्योंकि वह एक सांख्य का प्रधान आचार्य है, और उसने वहां सांख्य का ही मत दिखलाया है। फिर भी कीथ को यह न सूझा, कि सांख्य के इस प्रसिद्ध मूल ग्रन्थ में शरीर को पार्थिव कैसे कहा जा सकता है ?

इस सूत्र की अनिरुद्ध-व्याख्या से उस समय और भी आश्चर्य होता है, जब हम वहां देखते हैं, कि वह तीसरे अध्याय के १७ वें सूत्र की अवतरणिका में तो लिख आया है कि— '*विप्रतिपत्तौ सत्यां स्वमतमाह—*'। और यहां पर उस स्वमत का प्रतिषेध होता देखकर भी चुप रहता है, तथा पहली अवतरणिका के विरुद्ध लिख देता है। महादेव तो स्पष्ट कहता है— '*पञ्चभूतारब्धं शरीरमिति दूषयति—*'। अब इन व्याख्याकारों को क्या कहा जाय ? जिस टहने पर बैठे हैं, उसी की जड़ पर कुल्हाड़ा चला रहे हैं।

इन सब बातों पर विचार करते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जासकता है, कि सांख्य, शरीर को पाञ्चभौतिक मानता है। कपिल ने अपना यह सिद्धान्त [३। १७ में] स्पष्ट करदिया

---

१ कीथके मूल लेख में epic (एपिक) पद है। यह रामायण महाभारत दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। पर रामायण में पञ्चशिख का वर्णन नहीं, इसलिये हमने यहां केवल महाभारत का नाम लिख दिया है।

२ महाभारत में शान्तिपर्वके २२० अध्याय से २२२ तक जनक और पञ्चशिख के संवाद का जो अनुवाद भीष्म ने युधिष्ठिर के प्रति किया है, उसमें हमको तीन श्लोक निम्नलिखित उपलब्ध हुए हैं—

भूव्योमतोयानलवायवोऽपि, सदा शरीरं प्रतिपालयन्ति।
इतीदमालक्ष्य रतिः कुतो भवेद्विनाशिनो ह्यस्य न कर्म विद्यते ॥२२०।५०।

लगभग यही श्लोक फिर दुबारा अगले अध्याय में इसप्रकार लिखा गया है—

खं भूमितोयानलवायवोऽपि सदा शरीरं प्रतिपालयन्ति। (पूर्ववत्) ।४१।

२२२ अध्याय में फिर एक श्लोक इसप्रकार है—

आकाशो वायुरूष्मा च स्नेहो यश्चापि पार्थिवः। एष पञ्चसमाहारः शरीरमपि नैकधा ॥८॥

इन श्लोकों का आशय स्पष्ट है, पृथिवी जल तेज वायु आकाश ये पांचों ही सदा शरीर की प्रतिपालना=रक्षा करते हैं। अर्थात् यह शरीर पांचों भूतों का ही बना हुआ है, यह विचार कर इसमें रति कैसे होवे ? अन्तिम श्लोक में इस भाव को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है,—आकाश वायु तेज जल और पृथिवी इन पांचों का समाहार ही शरीर है, वह किसी एक प्रकार का नहीं है। इस श्लोक में एक बात और ध्यान देने योग्य है, सांख्य में भूतों की उत्पत्ति का जो क्रम स्वीकार कियागया है, ठीक वही क्रम (आकाश, वायु-तेज-जल-पृथिवी) इस श्लोक में भी विद्यमान है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी यही क्रम है।

है। इसलिये शरीर की पाञ्चभौतिकता का निषेध करने वाला यह १०२ वां सूत्र सांख्यमत के सर्वथा विरुद्ध है। यह सूत्र कपिलरचित नहीं होसकता।

१०३ सूत्र में भी शरीरसम्बन्धी विचार है, स्थूलशरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्मशरीर भी होता है, यही बात इस सूत्र में बताई गई है। पर इसका निरूपण तृतीयाध्याय के ११, १२ सूत्रों में आचुका है। विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट लिख दिया है,—'*इदं च सूत्रं तस्यैव स्पष्टीकरणमात्रार्थम्*'। यह सूत्र केवल पहले सूत्रों को स्पष्ट करने के लिये है, इसका यहां और कोई प्रयोजन नहीं। इससे स्पष्ट है कि सूत्र पुनरुक्त है। यह कपिल की कृति नहीं कहा जासकता।

इसके आगे १०४ से ११० तक इन्द्रिय, इन्द्रियवृत्ति, तथा उनकी रचना के सम्बन्ध में विचार किया गया है। इन सूत्रों का आशय है-इन्द्रियां अर्थों को प्राप्त होकर ही उनको प्रकाशित करती हैं। चक्षुरिन्द्रिय तैजस नहीं होसकती, क्योंकि वृत्ति के द्वारा इन्द्रिय का विषयदेश में उपसर्पण होना उपपन्न होजाता है। प्राप्त अर्थ का प्रकाश होने से ही वृत्ति की सिद्धि होती है, चक्षु आदि इन्द्रिय विषय के साथ सम्बन्ध करने के लिये सर्पण करती है; इसलिये वृत्ति, चक्षु का कोई अंश या गुण नहीं हो सकती। यह कोई नियम नहीं है, कि वृत्ति पद का प्रयोग द्रव्य में ही हो सकता है, अथवा वृत्ति के द्रव्य न होने पर भी उसमें क्रिया नहीं होसकती। इन्द्रियां आहंकारिक ही हैं, उनमें भौतिक व्यवहार निमित्तवश होता है। ११वें सूत्र तक का अभिप्राय इतना ही है।

विषय विचार से ये सब सूत्र पुनरुक्त हैं, क्योंकि इन्द्रियों की आहंकारिकता और वृत्तियों के सम्बन्ध में विस्तृत विचार द्वितीयाध्याय में आचुका है। वह भी एक दो सूत्र में नहीं, प्रत्युत २०वें सूत्र से ३३ सूत्र तक इन्हीं सब बातों का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त इन सूत्रों में जो वृत्तिस्वरूप प्रतिपादन किया है, वह सांख्यमतानुकूल नहीं कहा जासकता। वृत्ति का स्वरूप १०७वें सूत्र में बताया है। अनिरुद्ध ने तो यहां वृत्ति को अहंकार से उत्पन्न हुआ २ एक भिन्न तत्त्व ही मान लिया है, और साथ ही लिख दिया है, क्योंकि हम अनियतपदार्थवादी हैं। महादेव ने भी अनिरुद्ध का अनुकरण किया है। यह याद रखना चाहिये, हम इस अनियतपदार्थवादिता का इसी प्रकरण में अन्यत्र प्रत्याख्यान कर आये हैं, यह निश्चित है—सांख्य को अनियतपदार्थवादी नहीं कहा जासकता। इसलिये अनिरुद्ध के अनुसार तो यहां सांख्यविरोध स्पष्ट है। विज्ञानभिक्षु ने लिखा है,—'*चक्षुरादेर्भागो विस्फुलिङ्गवद्विभक्तांशो रूपादिवद्-गुणश्च न वृत्तिः। किन्तु तदेकदेशभूता भागगुणाभ्यां भिन्ना वृत्तिः*'। यहां 'भाग' पद का अर्थ विज्ञानभिक्षु ने विभक्त अंश किया है, जैसे आग की चिनगारी आग का ही एक विभक्त अंश है। इसतरह वृत्ति न तो, चक्षु आदि का कोई विभक्त अंश, और न रूपादि के समान उसका कोई गुण ही है। किन्तु चक्षु आदि इन्द्रिय का एकदेशभूत ही वृत्ति है, जोकि विभक्त अंश और गुण से अतिरिक्त है। विज्ञानभिक्षु के उपर्युक्त लेख का इतना ही अर्थ है, इसमें चक्षु आदि के एकदेश को वृत्ति मानना, सांख्यमत के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। क्योंकि परिणामवाद में इसप्रकार एकदेश की

कल्पना असंगत है। इसीलिये सांख्य में इन्द्रिय या अन्तःकरण के विषयाकारपरिणाम को वृत्ति माना गया है। वह इन्द्रिय या अन्तःकरण का विषयाकारपरिणाम इन्द्रिय और अन्तःकरण से भिन्न नहीं होसकता, ऐसी अवस्था में वृत्ति को इन्द्रिय या अन्तःकरण का एकदेश मानना सांख्यमत के अनुकूल नहीं। विज्ञानभिक्षु ने स्वयं भी इसी सूत्र की व्याख्या में आगे प्रसंगवश लिखा है—'*बुद्धिवृत्तिरपि...... द्रव्यरूप एव परिणामः*' जब बुद्धिवृत्ति, बुद्धि का परिणाम है, तब हम उसे बुद्धि का एकदेश कैसे कह सकते हैं? दही दूध का परिणाम है, दूध का एकदेश दही नहीं होसकता। सत्कार्यसिद्धान्त के अनुसार, परिणाम, परिणामी से भिन्न नहीं है, तब वृत्ति, परिणामी वृत्तिमान् से भिन्न कैसे? इसीलिये गौतम न्यायसूत्रों में सांख्यमत से वृत्ति और वृत्तिमान् के अभेद को पूर्वपक्ष बनाकर, उसका प्रत्याख्यान किया गया है।[1] इन सब बातों पर विचार करते हुए अब यह दृढ़तापूर्वक कहा जासकता है, कि अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षुकृत दोनों व्याख्याओं के अनुसार यह सूत्र सांख्यमत के विरुद्ध है। विज्ञानभिक्षु अपने ही लेखमें विरोध कर गया है, फिर सूत्र का सांख्यमत के साथ सांगत्य तो दूर की बात है।

१११, और ११२ सूत्र में फिर शरीरविषयक वर्णन है। अनिरुद्ध ने तो ११० सूत्र में भी शरीरविषयक वर्णन ही माना है, जब कि विज्ञानभिक्षु उसका अर्थ इन्द्रियविषयक करता है। १११ सूत्र मे शरीरभेदों का वर्णन, और ११२ में शरीर को पार्थिव मानकर, उसमें अन्य भूतों के केवल निमित्त होने का वर्णन किया गया है। परन्तु जब इस बात को स्पष्ट सिद्ध कर दिया गया है, कि सांख्य का मत शरीर को पाञ्चभौतिक मानना ही है, तब यह सूत्र भी निरर्थक तथा सांख्यमत के विरुद्ध ही होजाता है। हमारा यह निश्चित विचार है कि यह न्यायमत को ही बताता है, सांख्यमत को नहीं। ऐसी अवस्था में इन सूत्रों को कपिल-प्रणीत मानना कहां तक ठीक है? विद्वान् स्वयं समझ सकते हैं।

११३ से ११५ तक तीन सूत्रों में-शरीर के साथ प्राण का क्या सम्बन्ध हो सकता है-इस बात का निरूपण किया गया है। पहले सूत्र में बताया है, कि प्राण देह का आरम्भक नहीं है। फिर यह आशंका होने पर कि गर्भावस्था में प्राण के न होने से शुक्र-शोणित सड़ जायगा, यह कहा गया है कि भोक्ता के अधिष्ठाता रहने से शरीर का निर्माण होजाता है, यदि भोक्ता अधिष्ठाता न हो तो अवश्य वह शरीर सड़ जाय। इतने से यही आशय स्पष्ट होता है, कि उस अवस्था में प्राण के न रहते भी भोक्ता के अधिष्ठातृत्व से ही शरीर ठीक बन जाता है। पर अगले सूत्र में विज्ञानभिक्षु के व्याख्यानानुसार शरीर का साक्षात् अधिष्ठाता प्राण ही मान लिया है, और प्राणसंयोगमात्र से पुरुष को अधिष्ठाता माना है। ऐसी अवस्था में इस लेख में ही पूर्वापर विरोध हो जाता है।

---

[1] गौतम न्यायसूत्रों में तृतीयाध्याय के द्वितीय आन्हिक के प्रारम्भ से ही बुद्धिपरीक्षा का प्रकरण चलता है। प्रारम्भ के १० सूत्रों को वात्स्यायनभाष्य सहित पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, कि वृत्ति और वृत्तिमान् के अभेद का प्रत्याख्यान कर, भेद की स्थापना की गई है।

सूत्रकार तो इस विषय का प्रतिपादन ११६६ और २।३१ में कर आये हैं । इसी का उपसंहार करते हुए ६।६० में इस बात को भी स्पष्ट कर दिया है, कि गर्भावस्था में शरीर विकृत क्यों नहीं होता ? वहां प्राण का कोई उल्लेख नहीं है, और न यहां की तरह, उस जगह प्राण को साक्षात् अधिष्ठाता ही माना है। प्राणों के सम्बन्ध में कुछ विप्रतिपत्ति है, विज्ञानभिक्षु ने २।३१ सूत्र की व्याख्या में प्राणों को वायु से अतिरिक्त मान कर उन्हें इन्द्रियों की वृत्ति ही बताया है। और वेदान्त-मत के साथ इसका ऐकमत्य दिखाया है। पर अन्य अनेक आचार्य प्राणों को वायु रूप ही मानते हैं, कदाचित् सूत्रकार का भी इस ओर संकेत है । फिर भी, प्राण वायु है या उससे अतिरिक्त, इस बात का निर्णय तो हम 'सांख्यसिद्धान्त' नामक द्वितीय भाग में करेंगे, यहां इतना लिखदेना आवश्यक है कि यदि प्राण को वायु माना जाय, तब तो शरार के प्रति उसकी कारणता निर्बाध है, उसे कोई हटा नहीं सकता। यदि इन्द्रियवृत्ति ही प्राण है, तब गर्भ की शुक्र-शोणित अवस्था में यह सिद्ध करना कठिन है कि वहां इन्द्रियों को वृत्ति लाभ होता है। यद्यपि लिंगशरीर के वहां होने से इन्द्रिय का सद्भाव माना जा सकता है। पर उनको उस अवस्था में वृत्ति लाभ भी होता है, यह प्रतिपादन करना कठिन है। दोनों ही अवस्थाओं में इन सूत्रों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

इसप्रकार ८४ सूत्र से ११५ सूत्र तक कुल ३२ सूत्रों का प्रक्षेप स्पष्ट सिद्ध होता है। इनमें से अनेक सूत्र सांख्यमत के विरुद्ध हैं, अनेक पुनरुक्त हैं, बहुत ऐसे भी हैं, जिनका परस्पर ही विरोध है। इन सब बातों को हमने उन २ स्थलों में स्पष्ट कर दिया है इसलिये ये सूत्र कपिल-प्रणीत नहीं कहे जा सकते।

मुक्तिस्वरूप के बोधक सूत्रों की प्रकरण-संगति—

हम पहले लिख आये हैं कि ८३ सूत्र के आगे ११६ वां सूत्र आना चाहिये। इन सूत्रों का आनन्तर्य किन हेतुओं से आवश्यक है, इसी बात का अब हम यहां निरूपण करेंगे। ११६ सूत्र से लेकर जितने सूत्रों का सम्बन्ध आनुपूर्वी से ही ८३ सूत्र के आगे है,, वे सूत्र इसप्रकार हैं—

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता।

द्वयोः सबीजत्वमन्यस्य (त्र) तद्धतिः।

द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ।

वासनयाऽनर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम्।

इनमें से पहले ११६ वें सूत्र की अवतरणिका विज्ञानभिक्षु ने इसप्रकार की है—"*विमुक्तमोक्षार्थं प्रधानस्य' (११२) इत्युक्तं प्राक्। तत्र कथमात्मा नित्यमुक्तः बन्धमुक्तो बन्धदर्शनात् इति परेषामाक्षेपे नित्यमुक्तिमुपपादयितुमाह*—"। विज्ञानभिक्षु ने यहां इस सूत्र के अवतरण के लिये द्वितीयाध्याय के प्रथमसूत्र का अतिदेश किया है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि विज्ञानभिक्षु ११५ वें सूत्र से इस सूत्र का कोई सम्बन्ध न जोड़ सका। पर उसने यहां जिस सूत्र का

अतिदेश किया है, उसकी भी यहां आवश्यकता न थी, क्योंकि अवतरणिका के अन्तिम पदों में विज्ञानभिक्षु लिखता है–'*परेषामाक्षेपे नित्यमुक्तिमुपपादयितुमाह*—'यह नित्यमुक्ति का उपपादन सांख्य का अपना मत है, इसका प्रतिपादन वहीं होना चाहिये था, जहां अन्यमतानुसार मुक्तिस्वरूपों का प्रत्याख्यान किया गया है। यह प्रत्याख्यान इसी अध्याय के ७४ सूत्र से ८३ सूत्र तक किया गया है। ठीक उसी के अनन्तर इस सूत्र का क्रम होना चाहिए, क्योंकि अन्य मुक्तिस्वरूपों का निराकरण कर स्वमतानुसार मुक्तिस्वरूप का स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक और क्रमानुसारी है। वैसे तो सांख्य-मतानुसार मुक्ति का स्वरूप प्रसंगवश पहले भी वर्णन किया जा चुका है।[1] पर यहां इतने पूर्व पक्षों के बाद उसका निरूपण अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये, मालूम होता है, यहां मुक्तिविषयक और भी कई विशेषताएं बताई गई हैं, जो अगले सूत्रों में स्पष्ट हैं। ऐसी अवस्था में ८३ सूत्र और ११६ सूत्र के बीच में किसी भी प्रकरण का होना उत्प्रकरण कहा जायगा, क्योंकि इन सूत्रों की रचना अपने बीच में और किसी को सहन नहीं करती। विज्ञानभिक्षु को ११६ सूत्र का सम्बन्ध ११५ सूत्र से न जोड़ सकने पर इस सूत्र की अवतरणिका में ७४ से ८३ तक के प्रकरण का ही अतिदेश करना चाहिए था, यही उचित और युक्तिसंगत था। अनिरुद्ध और महादेव की अवतरणिकाओं में भी ११५ सूत्रका इन चार सूत्रों से कोई सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता। इन सब बातों पर विचार करते हुए अब यह निश्चित कहा जा सकता है, कि ८४ सूत्र से लेकर ११५ सूत्र तक की रचना कपिल की नहीं है। प्रो० मैक्समूलर ने, जिस का उल्लेख हम इसी प्रकरण में पूर्व कर चुके हैं, कहा है कि इन सूत्रों में वैशेषिक का नाम, छः या सोलह पदार्थों का वर्णन, जैन तथा बौद्ध आदि का खण्डन आनेसे, ये सूत्र कपिल रचित नहीं कहे जा सकते। हम उनकी इस बात से सहमत हैं, अवश्य ही वे सूत्र, जिनमें इसप्रकार के वर्णन हैं, कपिलरचित नहीं हो सकते। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये हमने युक्तिपूर्वक इन प्रक्षेपों का उद्घाटन किया है। पर प्रो० मैक्समूलर का यह विचार अवश्य असङ्गत होगा, कि बीच में कुछ सूत्रों के कपिल-प्रणीत सिद्ध न होने पर, सम्पूर्ण शास्त्र को कपिल-प्रणीत होने से नकार कर दिया जाय।

चार सूत्रों का और प्रक्षेप—

११६ सूत्र से आगे १२० से १२३ तक चार सूत्र और प्रक्षिप्त मालूम होते हैं। क्योंकि १२४वें सूत्र में अध्याय की समाप्ति तक देहात्मवाद या भूतचैतनिकवाद का निराकरण किया गया है। यह वर्णन मुक्तिनिरूपण के ठीक अनन्तर प्रारम्भ हो जाना चाहिये। इसका कारण यह है, मुक्ति-स्वरूप का प्रकरण प्रारम्भ होने से पहले ही पुरुष और प्रकृति के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु को अनित्य बताया है। अनन्तर मुक्ति का निरूपण है। सांख्यमतानुसार मुक्तिस्वरूप का निष्कर्ष-किसी पुरुष के प्रति प्रकृति का अपना कार्य बन्द कर देना ही है।[2] आधुनिक सांख्यमत में वस्तु-

---

[1] देखो-सांख्यषडध्यायी-अध्याय २, सूत्र ३४। अध्याय ३, सूत्र ६५।

[2] सांख्यषडध्यायी अ० २, सू०३४, अ० ३, सू० ६२; ६६; ७०।

गत्या बन्ध या मोक्ष भी पुरुष के न कहे जाकर प्रकृति के ही कहे जाते हैं।[1] परन्तु उनका प्रभाव पुरुष पर ही होता है। इसप्रकार शास्त्र-सर्वस्व बन्ध और मोक्ष का अवलम्ब प्रकृति पर ही है। तब यह कहा जा सकता है कि पुरुष को अतिरिक्त मानने की क्या आवश्यकता है। जब बन्ध और मोक्ष प्रकृति के ही धर्म हैं, कर्तृत्व भी प्रकृति का ही धर्म है, तब चैतन्य भी प्रकृति का ही अवस्था-विशेष या धर्म मान लेना चाहिये। इसप्रकार इस आधिभौतिकवाद में किसी अतिरिक्त चेतन की सत्ता स्वीकार करना असंगत ही होगा। इस पूर्वपक्ष का समाधान मुक्तिस्वरूप के ठीक अनन्तर आना चाहिये। यह समाधान १२४ सूत्र से प्रारम्भ होता है, तथा इसी में अध्याय समाप्त हो जाता है। १२० से १२३ तक सूत्र, जिनका पूर्वापर के साथ कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं है, इसप्रकार हैं—

एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्त्तको न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदा बहुकल्पनाप्रसक्तेः।

न वाह्यबुद्धिनियमः।[2]

वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत्।[2]

स्मृतेश्च।

इनमें से किसी सूत्र का भी सम्बन्ध अनन्तरित पूर्व प्रकरण के साथ नहीं हैं। विज्ञानभिक्षु ने पहले सूत्र का सम्बन्ध, तीसरे अध्याय के ८३ सूत्र से जोड़ने का यत्न किया है। पर विज्ञानभिक्षु के उस सूत्र के अर्थ, और इस सूत्र में विरोध स्पष्ट मालूम होता है। विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र की अवतरणिका में लिखा है, कि जीवन्मुक्त लगातार एक ही अर्थ को हमारी तरह भोगता हुआ देखा जाता है, यह बात संगत न होगी; क्योंकि पहले भोग को उत्पन्न करके पहला संस्कार नष्ट हो जायगा, दूसरे संस्कार का ज्ञान के द्वारा प्रतिबन्ध हो जाने से कर्म के समान उदय ही न होगा।[3] इसलिये कहा गया है, कि एक ही संस्कार, भोग को सम्पन्न करेगा, प्रत्येक भोग के प्रति संस्कार भेद न मानना चाहिये। परन्तु तीसरे अध्याय के ८३ सूत्र के व्याख्यान से स्पष्ट मालूम होता है कि विज्ञानभिक्षु एक क्रिया के प्रति अनेक संस्कार मानता है। उस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार है:—'*शरीरधारणहेतवो ये विषयसंस्कारास्तेषामल्पावशेषात् तस्य शरीरधारणस्य सिद्धिरित्यर्थः।*' इससे स्पष्ट है कि शरीर धारणरूप एक क्रिया के प्रति विज्ञानभिक्षु अनेक संस्कार मान रहा है। इसी अर्थ के द्योतन के लिये यहां 'संस्काराः' बहुवचनान्त पद प्रयुक्त किया गया है। एक भोग व्यक्ति के प्रति एक संस्कार का होना एक बात है। समानजातीय नाना भोग व्यक्तियों

---

1. सांख्यषडध्यायी अध्याय ३ सू० ७१, ७२।
2. विज्ञानभिक्षु ने इन दोनों सूत्रों को एक ही मानकर व्याख्या की है।
3. विज्ञानभिक्षु की अवतरणिका इसप्रकार है—
संस्कारलेशतो जीवन्मुक्तस्य शरीरधारणमिति तृतीयाध्याये प्रोक्तम्। तत्रायमाक्षेपः। जीवन्मुक्तस्य शश्वदेकस्मिन्नप्यर्थेऽस्मदादीनामिव भोगो दृश्यते। सोऽनुपपन्नः। प्रथमं भोगमुत्पाद्यैव पूर्वसंस्कारनाशात् संस्कारान्तरस्य च ज्ञानप्रतिबन्धेन कर्मवदनुदयादिति। तत्राह—एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्त्तकः—इत्यादि।

के प्रति एक संस्कार का होना दूसरी बात है। लगातार एक अर्थ विषयक भोग होने पर भी भोग व्यक्ति नाना हो सकती हैं, और संस्कार भी नाना हो सकते हैं। इसमें सांख्यमत का कोई विरोध नहीं है। संस्कारों के नानात्व की, कल्पना तो नहीं करनी; वे तो सिद्ध ही हैं। प्रत्युत उनके नानात्व में एकता की कल्पना असंगत होगी। यदि समानजातीय नाना संस्कार हैं, तो वे क्यों नहीं एक ही अर्थ में लगातार भोग को पैदा कर सकते ? जैसे २ वे भोगे जायेंगे, वैसे ही वैसे उनका नाश होता जायगा। ज्ञान से अगले नये कर्मों का उदय रोक दिया जाता है, प्रारब्ध को नहीं हटाया जा सकता। ऐसी अवस्था में नाना संस्कारों के होने पर भी एक ही अर्थ में भोग उत्पन्न हो जाता है। फिर यह १२० वां सूत्र अनर्थक, प्रकरण विरुद्ध तथा सांख्यमत के भी विरुद्ध है। विज्ञानभिक्षु इसकी संगति लगाने के लिये इतने पीछे दौड़े, पर फिर भी उनके अपने ही लेख में विरोध हो गया।

अगले तीनों सूत्र उद्भिज्ज या स्थावर शरीर के सम्बन्ध में हैं। विज्ञानभिक्षु ने सूत्रों की अवतरणिका में लिखा है—'*उद्भिज्ज' शरीरमस्तीत्युक्तम्। तत्र बाह्यबुद्ध्यभावाच्छरीरत्वं नास्तीति नास्तिकाक्षेपमपाकरोति–*' । उद्भिज्ज शरीर है, इस बात को पहले कह दिया गया है, पर जिस प्रकरण में यह कहा गया है, वह प्रकरण प्रक्षिप्त सिद्ध किया जा चुका है। इसी अध्याय के १११ वें सूत्र में स्थूलशरीर के भेद बताते हुए उद्भिज्ज का भी नाम निर्देश किया गया है। इस अध्याय में ८४ से ११५ तक सूत्र प्रक्षिप्त हैं। इसलिये तन्मूलक यह तीन सूत्रों का प्रकरण भी बाद में ही मिलाया गया मालूम होता है। मुक्तिस्वरूप के निरूपण और देहात्मवाद के बीच में केवल उद्भिज्ज का वर्णन, प्रकरण विरुद्ध प्रतीत होता है। इस रीति पर ये सूत्र कपिल-प्रणीत नहीं कहे जा सकते ।

प्रकरण का उपसंहार—

इस '*सांख्यषडध्यायी की रचना*' नामक पञ्चम प्रकरण में हमने उन स्थलों का स्पष्टीकरण कर दिया है, जिनको सांख्यषडध्यायी की अर्वाचीनता सिद्ध करने के लिये साक्षी रूप से उपस्थित किया जाता है। आधुनिक विद्वान् उन स्थलों की कपिलप्रणीतता में सन्देह करके सम्पूर्ण शास्त्र के ही कपिल-प्रणीत न होने का निश्चय कर बैठते हैं। हम इतने अंश में उन विद्वानों से सहमत हैं, कि ये स्थल अवश्य कपिल-प्रणीत नहीं हैं। पर इतने स्थल के कपिल-प्रणीत न होने से सारे ही शास्त्र को कपिल-प्रणीत न मानना, सूक्ष्मविवेचकता का परिचायक नहीं है। हमने इस प्रकरण में उन स्थलों को इस रीति पर स्पष्ट कर दिया है, कि कपिल-प्रणीत सूत्रों पर इन सूत्रों का कोई प्रभाव नहीं है। जिन सूत्रों को हम कपिल-प्रणीत, और इसलिये अत्यन्त प्राचीन देखते हैं, उनमें कोई ऐसी बात नहीं रह जाती, जिसको अवलम्बन कर उन सूत्रों की अर्वाचीनता सिद्ध करने का साहस किया जासके। इसलिये निश्चित रूप में इन सूत्रों को कपिल-प्रणीत और आदि दर्शन मानना श्रेयस्कर है।

:—)X(—:—)X(—:

षष्ठ प्रकरण

सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार

सांख्यसूत्रों से हमारा अभिप्राय सांख्यषडध्यायी और तत्त्वसमास दोनों से है। इस प्रकरण में हम इन दोनों ही के व्याख्याकारों का निर्देश करेंगे। उनके काल आदि का निर्णय करने का भी प्रयत्न किया जायगा। प्रथम सांख्यषडध्यायी के व्याख्याकारों के सम्बन्ध में विवेचन प्रारम्भ किया जाता है।

पञ्चशिख आदि के व्याख्याग्रन्थ—

यद्यपि पञ्चशिख आदि के प्राचीन ग्रन्थ भी षडध्यायी के व्याख्यान ही कहे जा सकते हैं, परन्तु आज वे ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, और वे व्याख्यान भी इसप्रकार के प्रतीत होते हैं, जैसे वैशेषिक सूत्रों पर प्रशस्तपाद भाष्य। तात्पर्य यह है, कि उनमें प्रत्येक सूत्र की पृथक् २ व्याख्या नहीं की गई प्रतीत होती, प्रत्युत सूत्र के सम्पुट आशय को लेकर उसी आधार पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ की रचना कर दी गई है। आज वह रचना भी पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। उसके कोई २ खण्डवाक्य यत्र तत्र ग्रन्थों में उद्धृत हुए उपलब्ध होते हैं। उन सबका संग्रह हमने इसी ग्रन्थ के 'सांख्य के प्राचीन आचार्य' नामक प्रकरण के पञ्चशिख प्रसंग में कर दिया है। ये बहुत थोड़े वाक्य हैं, इसके आधार पर कोई भी निश्चित परिणाम नहीं निकाला जा सकता। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं, कि पञ्चशिख वाक्यों में से अनेक, षडध्यायी सूत्रों के साथ पर्याप्त समानार्थकता रखते हैं। तथा कई बातें ऐसी भी हैं, जो षडध्यायी में मूलरूप अथवा उद्देशरूप में हैं, और पञ्चशिख वाक्यों में उनका विशदीकरण प्रतीत होता है। उसके कुछ उदाहरण हम यहां उपस्थित कर देना चाहते हैं।

(१)—षडध्यायी के द्वितीयाध्याय में प्रकृति के महदादि कार्य और उनके स्वरूप का निर्देश किया गया है। १३-१५ सूत्रों से महत्तत्त्व का निर्देश करने के अनन्तर महत्कार्य अहंकार का स्वरूप १६ वें सूत्र में निरूपण किया है। यहां पर सूत्रकार ने अहंकार के अन्य अवान्तर भेदों का कोई निर्देश नहीं किया है। प्रसंगवश १८ वें सूत्र में केवल एक वैकारिक भेद का उल्लेख किया गया है। अन्यत्र भी षडध्यायी में अहंकार के अवान्तरभेदों का निरूपण नहीं है। परन्तु पञ्चशिख के एकसूत्र में इनका स्पष्ट विवरण है। सूत्र इसप्रकार है—

"एतस्माद्धि महत आत्मनः, इमे त्रय आत्मानः सृज्यन्ते वैकारिक-तैजस-भूतादयोऽहङ्कारलक्षणाः। अहमित्येवैषां सामान्यलक्षणं भवति, गुणप्रवृत्तौ च पुनर्विशेषलक्षणम्[1]।"

इस सन्दर्भ को ध्यानपूर्वक देखने पर यह प्रतीत होता है, कि जैसे षडध्यायी के '*अभिमानोऽहंकारः*' इस १६ वें सूत्र का यह व्याख्यान हो। सांख्यसप्तति[1] में इन तीनों भेदों का

[1] इसी ग्रन्थ के अष्टम प्रकरण में निर्दिष्ट पञ्चशिख सूत्रों में संख्या १० पर देखिये।

उल्लेख है, और सम्मति के प्रायः सब ही व्याख्याकारों[1] ने इस बात को स्वीकार किया है, कि अहंकार के तीन अवान्तरभेद और उनके ये नाम, प्राचीन आचार्यों ने निर्दिष्ट किये हैं। प्राचीन आचार्य से उनका अभिप्राय इस प्रसंग में पञ्चशिख आदि से हो सकता है। इससे यह परिणाम निकलता है, कि जो अर्थ सूत्रकार ने दिग्दर्शन मात्र के लिये मूलरूप में निर्दिष्ट किया है, पञ्चशिख ने अपने सन्दर्भ में उसी का विशदीकरण किया है, जिनका उल्लेख परवर्ती आचार्य अथवा व्याख्याकार बराबर करते हैं।

(२)—*'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्'* [१ । ९६] षडध्यायी का सूत्र है। इसकी व्याख्या पञ्चशिखसूत्रों में इसप्रकार कीगई है—

"[2]*पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते।*"

"*महदादिविशेषान्तः सर्गो बुद्धिपूर्वकत्वात्।......एवं तस्माद्ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नस्तस्मात् उत्पन्नसर्गः।*"

(३)—*'आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि'* [२ । २०] यह एक षडध्यायीसूत्र है। इसकी व्याख्या पञ्चशिख सन्दर्भों में इसप्रकार उपलब्ध होती है—

"*आहङ्कारिकाणीन्द्रियाण्यर्थं साधयितुमर्हन्ति नान्यथा।*"[3]

(४)—*'साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम्'* यह सांख्यषडध्यायी [६ । ४२] का सूत्र है। इसमें प्रकृति की सर्ग और प्रलय रूप दो अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। निम्नलिखित पञ्चशिख सूत्र में इसी का व्याख्यान है।

"*प्रधानं स्थित्यैव वर्त्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्, तथा गत्यैव वर्त्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्, उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा।*[4]

प्रसंगवश पञ्चशिख के सन्दर्भों से हमने यहां यह भाव प्रकट किया है, कि ये सन्दर्भ सूत्रों के व्याख्यानभूत संभावना किये जा सकते हैं, परन्तु इस प्रकरण में हमारा अभिप्राय सूत्रों के उन व्याख्याकारों से है, जिन्होंने प्रत्येक सूत्र पर पृथक् २ व्याख्या लिखी है। षडध्यायी सूत्रों पर अभी तक ऐसे तीन व्याख्याग्रन्थ प्रकाशित हो सके हैं।

१—*अनिरुद्धवृत्ति*

२—*महादेव वेदान्तीकृत वृत्ति*

३—*विज्ञानभिक्षुकृत भाष्य*

४—इनके अतिरिक्त एक और व्याख्या, पञ्चनद विश्वविद्यालय के लाहौर स्थित पुस्त-

---

[1] आर्या २४। इस पर व्याख्या माठर, युक्तिदीपिका, गौडपाद, चन्द्रिका।

[2] इसी ग्रन्थ के अष्टम प्रकरण में निर्दिष्ट पञ्चशिख सूत्रों में संख्या ३ तथा १२ पर देखें।

[3] इसी ग्रन्थ के अष्टम प्रकरण में निर्दिष्ट पञ्चशिखसूत्रों की सूची में संख्या १४ पर देखें।

[4] इसी ग्रन्थ के अष्टम प्रकरण में, पञ्चशिखसूत्र-सूची की ४ संख्या पर देखें।

कालय में विद्यमान है। यह अभी अप्रकाशित है, इसका हस्तलेख तामिल लिपि [अथवा-ग्रन्थलिपि] में है। इस व्याख्या के रचयिता का नाम पुस्तकालय की सूची में रामभद्रयतिशिष्य लिखा हुआ है[1]। इन सब व्याख्या तथा व्याख्याकारों के सम्बन्ध में क्रमशः हम अपना विचार प्रकट करेंगे।

अनिरुद्धवृत्ति—

अनिरुद्ध वृत्ति के दो संस्करण हमारे सन्मुख हैं। (१)—डा० रिचर्ड गार्बे द्वारा सम्पादित बंगाल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता से सन् १८८८ ईसवी में प्रकाशित। (२)—जीवानन्द विद्यासागर फर्म कलकत्ता से सन् १९१६ ईसवी मे प्रकाशित तृतीय संस्करण। महामहोपाध्याय श्री प्रमथनाथ तर्कभूषण कृत टीका भी इसके साथ मुद्रित है। तर्कभूषण महोदय ने इसके प्रारम्भ में एक छोटी सी भूमिका संस्कृत में लिखी है। अनिरुद्ध के काल आदि सम्बन्धी विवेचन में आपने रिचर्ड गार्बे के अनुसन्धानों का ही संस्कृत में अनुवाद कर दिया है, जो उसने अपने संस्करण की भूमिका में निर्दिष्ट किये हैं। इसलिये तत्सम्बन्धी विवेचन, हम डा० गार्बे के लेखानुसार ही करेंगे।

सांख्यसूत्रों के उपलभ्यमान व्याख्याग्रन्थों में अनिरुद्धवृत्ति की प्राचीनता—

इन व्याख्यानों में अनिरुद्धवृत्ति सबसे प्राचीन है। वेदान्ती महादेव ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में लिखा है—

"दृष्ट्वानिरुद्धवृत्तिं बुद्ध्वा सांख्यीयनिगूढान्तम्।
विरचयति वृत्तिसारं वेदान्त्यादिर्महादेवः॥"

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है, कि अनिरुद्ध की वृत्ति को देखकर ही उसने अपने 'वृत्तिसार' को लिखा है। इसलिये प्रथमाध्याय के अन्त में भी वह फिर इसको दुहराता है—

"अत्र मामकसन्दर्भे नास्ति कापि स्वतन्त्रता। इति ज्ञापयितुं वृत्तिसार इत्यभिधा कृता॥
परवाक्यानि लिखता तेषामर्थो विभाविनः। कृता संदर्भशुद्धिश्चेत्सैव मे नाफलः श्रमः॥"

इसमें कोई सन्देह नहीं, कि वेदान्ती महादेव ने अनेक सूत्रों का अर्थ करने में बड़ी विशेषता[2] प्रकट की है। फिर भी उसने अभिमानरहित होकर अभिमत आधार का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। इससे वेदान्ती महादेव की अपेक्षा, अनिरुद्ध की प्राचीनता निश्चित है। वेदान्ती महादेव की तरह, यद्यपि विज्ञानभिक्षु ने अनिरुद्ध का कहीं नामोल्लेख नहीं किया, परन्तु सांख्यसूत्रों पर उसके भाष्य की आन्तरिक परीक्षा से इस बात का निश्चय हो

---

१ खेद के साथ लिखना पड़ता है, हम प्रकरण के लिपिबद्ध होने के अनन्तर ही राजशासन में परिवर्त्तन होने के कारण पञ्चनद (पञ्जाब) प्रान्त का विभाजन हो गया। हमको लाहौर अचानक ही छोड़ना पड़ा। अब राजनैतिक बाधाओं के कारण, तामिल लिपि के हस्तलेख के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकती। वह हस्तलेख लाहौर के पुस्तकालय में रह गया।

२ वेदान्ती महादेव के प्रसंग में इसी प्रकरण में हम कुछ विशेषताओं का निर्देश करेंगे।

जाता है, कि विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा भी अनिरुद्ध पर्याप्त प्राचीन है।

डा० रिचर्ड गार्बे[1] ने F. E. Hall, द्वारा सम्पादित सांख्यसार के उपोद्‌घात के आधार पर, विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यप्रवचन भाष्य से ऐसे स्थलों की एक सूची दी है, जिनके आधार पर विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा, अनिरुद्ध की प्राचीनता सिद्ध होती है। इस सूची में भाष्य के आठ स्थलों का उल्लेख है। चार में सूत्रों के पाठभेदों का उल्लेख है, तीन स्थल ऐसे हैं, जिनमें 'कश्चित्' अथवा 'यत्तु' कहकर अनिरुद्ध के विचारों का खण्डन किया गया है। एक स्थल में एक सूत्रभेद का निर्देश है। वे सब स्थल इसप्रकार हैं—

प्रकृतिनिबन्धना चेदिति पाठे १।१८।

अक्षसम्बन्धात् साक्षित्वमिति पाठे १।१६१।

इतरवियोगवदिति पाठे ४।८२।

जडव्यावृत्ताविति पाठे । ६।५०।

विज्ञानभिक्षु ने सूत्रों के इन पाठभेदों का अपने भाष्य में उल्लेख किया है। और ये सब पाठभेद अनिरुद्ध-स्वीकृत सूत्रपाठ में उपलब्ध होते हैं, इससे विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अनिरुद्ध की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। १, १६ ॥ २, ४६ ॥ ५, १०० सूत्रों के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने 'कश्चित्' अथवा 'यत्तु' पदों से जिन विचारों का खण्डन किया है, वे उन्हीं सूत्रों पर अनिरुद्धवृत्ति में उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त ४, १२१ सूत्र पर विज्ञानभिक्षु लिखता है—

' न बाह्यबुद्धिनियम इत्यंशस्य पृथक् सूत्रत्वेऽपि सूत्रद्वयमेकीकृत्यैकार्थमेव व्याख्येयम् ।

सूत्रभेदस्तु दैर्घ्यभयादिति बोध्यम् ।"

अनिरुद्ध ने अपनी व्याख्या में इन दोनों सूत्रों को पृथक् ही माना है, जैसा कि विज्ञानभिक्षु ने लिखा है।

अनिरुद्ध की प्राचीनता में अन्य प्रमाण—

डॉ० रिचर्ड गार्बे द्वारा प्रदर्शित इन स्थलों की परस्पर तुलना करके हमने स्वयं परीक्षा करली है, ये सब स्थल ठीक हैं। इनके अतिरिक्त सांख्यप्रवचन भाष्य में और भी ऐसे स्थल हैं, जिनसे उक्त अर्थ की पुष्टि होती है, तथा निर्दिष्ट स्थलों से भी वे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हम यहां उनका क्रमशः निर्देश करते हैं—

(क) १, ६१ सूत्र पर भाष्य करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखता है—

"एतेन सांख्यानामनियतपदार्थाभ्युपगम इति मूढप्रलाप उपेक्षणीयः"

सांख्यों की अनियतपदार्थवादिता का उद्‌घोषण, अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में छः सात स्थलों पर किया है, संभव है और कोई स्थल हमारी आंखों से ओझल रह गया हो, परन्तु इतनी

[1] डा० रिचर्ड गार्बे द्वारा सम्पादित, रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल कलकत्ता से १८८८ ईसवी सन् में प्रकाशित, सांख्यसूत्रों की अनिरुद्धवृत्ति का प्राक्कथन, पृष्ठ ७ ।

वार भी एक अर्थ का कथन करना, इस सम्बन्ध में उसके विचारों की दृढ़ता को प्रकाशित करने लिये पर्याप्त है। अनिरुद्ध के वे लेख इसप्रकार हैं—

"किञ्चानियतपदार्थवादित्वादस्माकं" १।४५।

'नास्माकं सिद्धान्तक्षतिः, अनियतपदार्थवादित्वात्" । १।५६।

"अनियतपदार्थवादित्वात्स्वाख्यानाम्" ५।८५।

"अनियत: पदार्थो यत:" ५।१०७।

"अनियतत्वात् पदार्थानाम्" ५।१०८।

"अनियतत्वात् पदार्थस्य" ६।३८।

यद्यपि एक स्थल पर वेदान्ती महादेव ने भी इसी तरह अपना मत प्रकट किया है। वह लिखता है—

"अनियतपदार्थवादिनो हि सांख्या:" ५।१०७।

परन्तु यह संभव हो सकता है, उसने अपना मत अनिरुद्ध के आधार पर ही प्रकट किया हो। इसका विवेचन हम महादेव के प्रसंग में करेंगे।

प्रकृत में विज्ञानभिक्षु के इस लेखसे, कि सांख्यों को अनियतपदार्थवादी कहना मूढ-प्रलाप है, यह बात निश्चित होजाती है, कि अवश्य विज्ञानभिक्षु से पूर्ववर्ती किसी सांख्याचार्य ने इस मतका निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है, और विज्ञानभिक्षु अपने विचार उस मत से सर्वथा विपरीत रखता है। इसीलिये उक्त कथन को उसने मूढप्रलाप कहा है। इससे उसकी विरोधी भावना और प्रत्याख्यान की दृढ़ता स्पष्ट प्रतीत होती है। अब हम देखते हैं, कि विज्ञानभिक्षु ने जिन विचारों का प्रत्याख्यान किया है, वे केवल अनिरुद्ध के ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। प्रतीत यह होता है, कि विज्ञानभिक्षु के काल में अनिरुद्ध के विचार पर्याप्त प्रसार पाचुके थे, इसीलिये उनको हटाने के विचार से उसने उन्हें प्रबल धक्का लगाने का प्रयत्न किया, और अपने ग्रन्थ में जगह जगह पर उनका खण्डन किया है।

(ख) १।६६ सूत्र पर भाष्य करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखता है—

"कश्चित्तु बुद्धिगतया चिच्छायया बुद्धेरेव सर्वार्थज्ञातृत्वमिच्छादिभिर्ज्ञानस्य सामानाधिकरण्यानुभवादन्यस्य ज्ञानेनान्यस्य प्रवृत्त्यनौचित्याच्चेत्याह। तदास्मज्ञानमूलकत्वादुपेक्षणीयम्। एवं हि बुद्धेरेव ज्ञातृत्वे 'चिदवसानो भोगः' इत्यागामिसूत्रद्वयविरोधः। पुरुषे प्रमाणाभावश्च। पुरुषलिंगस्य भोगस्य बुद्धावेव स्वीकारात्।"

यहां पर 'कश्चित्' पद से प्रदर्शित पूर्वपक्ष का आशय यह है, कि बुद्धि में चेतन की छाया के कारण बुद्धि ही सब अर्थों की ज्ञाता कही जा सकती है। इच्छा और ज्ञान का सामानाधिकरण्य भी हम अनुभव करते हैं। यह भी उचित प्रतीत नहीं होता, कि ज्ञान आत्मा को हो, और प्रवृत्ति बुद्धि में हो। इसलिये बुद्धि को ही सब अर्थों का ज्ञाता मानना चाहिये। यह

पूर्वपक्ष का आशय है। विज्ञानभिक्षु इसका उत्तर देता है, कि उक्त कथन उपेक्षणीय है, क्योंकि ऐसा कथन करने वाला, आत्मा के स्वरूप को नहीं समझ सका। यदि बुद्धि को ही ज्ञाता मान लिया जाय, तो आगामी सूत्र के साथ विरोध होगा, क्योंकि उसमें चेतन आत्मा को ही भोग होने का कथन किया गया है, अचेतन बुद्धि को नहीं। फिर पुरुष की सिद्धि में कोई प्रमाण भी नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि उक्त कथन के अनुसार पुरुष—लिंग भोग को बुद्धि में ही स्वीकार कर लिया गया है।

विज्ञानभिक्षु के उत्तर से यह बात निश्चित होती है, कि वह अपने प्रतिपक्षी का आशय यह समझ रहा है, कि प्रतिपक्षी भोग को भी बुद्धि में ही मानता है, पुरुष को केवल उसका अभिमान हो जाता है। हम देखते हैं, कि ये विचार अनिरुद्धवृत्ति में उपलब्ध होने हैं। प्रथमाध्याय के ९७, ९८ और ९९ सूत्रों की अनिरुद्धवृत्ति को गंभीरतापूर्वक देखने से उक्त विचार स्पष्ट हो जाते हैं। हम वहां से उतने ही अंशों को यहां उद्धृत करते हैं, जो प्रकृत में उपयोगी हैं।

वायुयुक्तो बुद्ध्यादिर्जीवः, न त्वात्मा जीवः, आहारादिविशेषकार्येऽपि जीवानामेव कर्त्तृत्वं आत्मनोऽपरिणामित्वात् ।९७।·······तात्त्विकरूपबोद्धृत्वान्महतोऽन्तःकरणस्य वाक्यार्थोपदेशः। तत्प्रतिबिम्बितत्वाच्च पुरुषस्य बोद्धृत्वाभिमानः।९८।·······अन्तःकरणस्य बुद्धौ पुरुषच्छायापत्त्या तच्चैतन्येनोज्ज्वलितस्य चेतनत्वाभिमानादधिष्ठातृत्वम् ।······" ९९।

इस सन्दर्भ की प्रथम पंक्तियों में अनिरुद्ध ने बुद्धि को ही जीव बताया है, और आहार आदि विशेष कार्यों का कर्तृत्व भी बुद्धि में माना है, आत्मामें नहीं, क्योंकि वह अपरिणामी है। और आहार आदि कार्य भोग रूप हैं। इसप्रकार अनिरुद्ध भोग को भी बुद्धि का ही धर्म मानता है। अगली पंक्तियों में ज्ञान के लिये शास्त्रोपदेश भी अन्तःकरण के प्रतिबिम्बित होने के कारण बोद्धृत्व का केवल अभिमान ही होता है। इसप्रकार ज्ञान और इच्छा का सामानाधिकरण्य भी समञ्जस हो जाता है। अन्तिम पंक्तियों में पुरुष की छाया से ही बुद्धिगत चैतन्य का होना बताया गया है। ये ही सब अर्थ '*कश्चित्*' पद से निर्दिष्ट विज्ञानभिक्षु द्वारा उद्भावित पूर्वपक्ष में विद्यमान हैं। इससे स्थिर होता है, कि विज्ञानभिक्षु ने १। ९९ सूत्र के भाष्य में '*कश्चित्*' पदों के द्वारा अनिरुद्धमत का ही प्रत्याख्यान किया है।

(ग)—इसके अतिरिक्त २। ३२ सूत्र के विज्ञानभिक्षुकृत भाष्य में फिर एक मत का खण्डन किया गया है। यहां पर भी '*कश्चित्*' पद के द्वारा ही उस मत का निर्देश किया गया है। विज्ञानभिक्षु लिखता है—

"कश्चित्तु निर्विकल्पक ज्ञानमेवालोचनमिन्द्रियजन्यञ्च भवति। सविकल्पकं तु मनोमात्रजन्यमिति श्लोकार्थमाह। तन्न।"

इन पंक्तियों के लिखने से पूर्व विज्ञानभिक्षु ने श्लोकवार्तिक के दो भिन्न २ अर्द्ध श्लोकों[1]

[1] वे श्लोक इसप्रकार हैं—

अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। [श्लोकवार्त्तिक ११२]

को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। इस पूर्वपक्ष सन्दर्भ में आये 'श्लोकार्थं' के 'श्लोक' पद से श्लोकवार्त्तिक का उद्धृत द्वितीय अर्द्ध ही अभिप्रेत है। अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में श्लोकवार्तिक के उक्त श्लोक को प्रत्यक्षलक्षण [१। ८६] सूत्र पर प्रसंगवश उद्धृत किया है, और उद्धृत करने से पूर्व स्वलिखित सन्दर्भ में उसके अर्थ का भी निरूपण किया है। जिसके आधार पर विज्ञानभिक्षु ने पूर्वपक्ष सन्दर्भ में *'इति श्लोकार्थमाह'* लिखा है। अनिरुद्ध का लेख इसप्रकार है—

"सविकल्पकमपि प्रत्यक्षं संगृहीतम्। · · अदुष्टसाक्षात्कारिप्रमाजनकसामग्रीजनितं प्रत्यक्षम्। तदुभयं, निर्विकल्पकं सविकल्पकं च। किन्तु सादृश्यात् संस्कारोद्बोधद्वारेण स्मृत्या नामजात्यादिसंविदुत्पद्यते। अत एवाधिकप्राप्त्या सविकल्पकमिति विशेषसंज्ञा।····· तथा च ·– संज्ञा हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते। संज्ञिनः सा तटस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा॥ ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया। बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन संमता॥"

इस सन्दर्भ में अनिरुद्ध ने निर्विकल्पक सविकल्पक दोनों को ही प्रत्यक्ष कहा है। वह कहता है, कि सादृश्य से संस्कारों के उद्बुद्ध हो जाने पर स्मृति के द्वारा उस वस्तु के नाम जाति आदि का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस अधिक प्राप्ति के कारण ही उसकी *'सविकल्पक'* यह विशेष संज्ञा रख दी गई है। इसी की पुष्टि के लिये उसने आगे श्लोकवार्तिक उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है, कि अनिरुद्ध सविकल्पकज्ञान को स्मृति से ही उत्पन्न हुआ मानकर उसकी मनोमात्रजन्यता को स्वीकार करता है। क्योंकि स्मृति मनोमात्रजन्य होती है। इससे अनिरुद्ध के मत में आलोचनमात्र निर्विकल्पक ज्ञान ही इन्द्रियजन्य है, यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है। इसप्रकार विज्ञानभिक्षु ने २। ३२ सूत्र के भाष्य में *'कश्चित्तु'* कहकर अनिरुद्ध के ही मत का खण्डन किया है, यह बात स्थिर हो जाती है।

प्रकृत में बालराम उदासीन का विचार, और उसका विवेचन—

सांख्यतत्त्वकौमुदी के व्याख्याकार श्रीयुत बालराम उदासीन ने २७ वीं आर्या की व्याख्या में लिखा है, कि २। ३२ सूत्र के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने उक्त सन्दर्भ से वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ का खण्डन किया है, जो २७ वीं आर्या में व्याख्यात है।

प्रतीत होता है, इस बात के समझने में श्रीयुत उदासीन महोदय को अवश्य भ्रम हुआ है। क्योंकि वाचस्पति मिश्र ने यद्यपि उक्त श्लोकवार्तिक को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है, परन्तु उसका अर्थ कुछ नहीं किया। ऐसी स्थिति में विज्ञानभिक्षुप्रदर्शित पूर्वपक्ष के *'इति श्लोकार्थमाह'* ये पद अनर्थक हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त, विज्ञानभिक्षु ने उक्त स्थल में वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ का खंडन नहीं किया है। इस विचार में प्रबल प्रमाण यह है, कि भिक्षु अपने भाष्य में उक्त मत-

---

परं पुनस्तथा वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिस्तथा। [श्लोकवार्त्तिक १२०]

द्वितीय अर्द्ध के पाठ में मूलग्रन्थ से कुछ अन्तर है। अनिरुद्ध के पाठ में भी भिक्षु के पाठ से दो तीन पदों का अन्तर है।

प्रत्याख्यान के अनन्तर ही लिखता है—

"स एव सूत्रार्थमप्येवं व्याचष्टे।"

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि *'कश्चित्'* पदों से जिस के मत का उद्धार किया है, यहां *'स एव'* पदों से उसी का अतिदेश किया जा सकता है। अब यदि यह मान लिया जाय, कि *'कश्चित्'* कहकर विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ का खंडन किया है, तो यहां *'स एव'* पदों से भी वाचस्पति का ही ग्रहण करना होगा। जो सर्वथा असंगत है। क्योंकि भिक्षुका यह लेख सांख्यषडध्यायी के २। ३२ सूत्र पर है। इसका अभिप्राय यह होगा, कि वाचस्पति ने इस सूत्र का भी अमुक प्रकार से व्याख्यान किया है। परन्तु सूत्रों पर वाचस्पति का कोई व्याख्यान नहीं है। और *'स एव सूत्रार्थमप्येवं व्याचष्टे'* इन पदों से विज्ञानभिक्षु ने जिस सूत्रार्थ का निर्देश किया है, वह वही है, जो २। ३२ सूत्र का अनिरुद्धकृत व्याख्यान [1] है। इसलिये श्रीयुत उदासीन महोदय का यह कथन सर्वथा असंगत है, कि उक्त भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पत्य का खंडन किया है।

इस सम्बन्ध में डॉ० रिचॅर्ड गार्बे का विचार, तथा उसका विवेचन—

डॉ० रिचॅर्ड गार्बे ने भी स्वसम्पादित अनिरुद्धवृत्ति के उपान्त्य पृष्ठ पर, श्रीयुत बालराम उदासीन के समान इस विचार को स्वीकार किया है, कि सांख्यसूत्र २। ३२ पर विज्ञानभिक्षु ने *'कश्चित्'* पद से वाचस्पति मिश्र का निर्देश किया है। और *'स एव सूत्रार्थमप्येवं व्याचष्टे'* इस विज्ञानभिक्षु-वाक्य के असामञ्जस्य का समाधान यह किया है, कि स्वर्गीय डॉ० भगवान् लाल इन्द्रजी द्वारा विज्ञानभिक्षु के भाष्य का जो हस्तलिखित ग्रन्थ डॉ० रिचॅर्ड गार्बे को प्राप्त हुआ है, उसमें *'स एव'* के स्थान पर *'सम एव'* पाठ है। जिसका यह अभिप्राय हो जाता है, कि समान व्याख्याता ने जो अर्थ किया है, उसकी ओर विज्ञानभिक्षु का निर्देश है। वह समान व्याख्याता अनिरुद्ध हो सकता है। इसलिये *'कश्चित्'* पद से वाचस्पति मिश्र का निर्देश मानने पर भी अगले वाक्य के साथ इसका कोई असामञ्जस्य नहीं होता।

गार्बे महोदय का यह सम्पूर्ण विवरण भ्रान्तिमूलक है। क्योंकि इन्द्र जी से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ के जिस पाठ को आपने ठीक समझा है, वह सर्वथा असंगत है। कोई भी संस्कृतज्ञ ऐसी वाक्यरचना नहीं कर सकता, और न संगत समझ सकता है, जिस को गार्बे महोदय ने ठीक समझा है। उसके अनुसार वाक्य के *'एव'* और *'अपि'* पद सर्वथा अनर्थक हो जाते हैं। इस वाक्य में ये दोनों ऐसे पद हैं, जो उपर्युक्त *'कश्चित्'* वाले वाक्य के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ते

---

1 डॉ० गार्बे सम्पादित अनिरुद्धवृत्ति ग्रन्थ में निर्दिष्ट सूचियों के अनन्तर, ग्रन्थ के उपान्त्य पृष्ठ पर डॉ० रिचॅर्ड गार्बे ने लिखा है, २। ३२ सूत्र का व्याख्यान अनिरुद्ध ने, सांख्यसप्तति की ३० वीं आर्या के वाचस्पति मिश्र कृत व्याख्यान के आधार पर ही किया है। परन्तु डॉ० गार्बे का यह कथन सर्वथा असंगत है, इसका विस्तारपूर्वक विवेचन इसी प्रकरण में आगे किया गया है।

हैं। इनके प्रयोग में, इस सम्बन्ध को कोई विचलित नहीं कर सकता। फिर 'स एव' इत्यादि वाक्य से जिस अर्थ को प्रकट किया गया है, उसके लिये 'समः' पद के साथ वाक्यरचना, आजतक साहित्य में कहीं नहीं देखी गई। वस्तुतः प्रस्तुत पदों और वाक्य के स्वारस्य को न समझकर ही गॉर्बे महोदय ने यह निराधार कल्पना कर डाली है।

इसके अतिरिक्त यह भी हम लिख आये हैं, कि विज्ञानभिक्षु के 'कश्चित्' इत्यादि वाक्य में 'श्लोकार्थमाह' ये पद हैं। वाचस्पति ने उक्त श्लोक को यद्यपि पूर्व प्रसङ्ग के अनुसार उद्धृत किया है, परन्तु पूर्व प्रसङ्ग में भी उसका अर्थ कुछ नहीं दिखलाया, जब कि अनिरुद्ध के पूर्व विवरण में उसका अर्थ उपलब्ध होता है। ऐसी स्थिति में विज्ञानभिक्षु का वह निर्देश, अनिरुद्ध के लेख को ही लक्ष्य करके लिखा गया माना जा सकता है, वाचस्पति मिश्र के लेख को नहीं।

(घ)—विज्ञानभिक्षु के द्वारा अपने ग्रन्थ में अनिरुद्ध के उल्लेख की यह और भी प्रबल साक्षी है, जो हमने ऊपर की पंक्तियों में प्रसङ्गवश उद्धृत की है। अर्थात्—

"*स एव सूत्रार्थमप्येवं व्याचष्टे*"।

इसके अनन्तर विज्ञानभिक्षु उस सूत्रार्थ का निर्देश इसप्रकार करता है—

"*बाह्येन्द्रियमारभ्य बुद्धिपर्यन्तस्य वृत्तिरुत्सर्गतः क्रमेण भवति। कदाचित्तु व्याघ्रादिदर्शनकाले भयविशेषाद् विद्युल्लतेव सर्वकरणेष्वेकदैव वृत्तिर्भवतीत्यर्थ इति, तदप्यसत्*।

अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में २। ३२ सूत्र का यही अर्थ किया है। यद्यपि अनिरुद्ध के पद और आनुपूर्वी सर्वथा यह नहीं है, परन्तु अर्थ यही है, और कुछ पद भी। अर्थ की एकता को प्रकट करने के विचार से ही विज्ञानभिक्षु ने अपने सन्दर्भ के अन्त में '*इत्यर्थ इति*' लिखा है। इससे स्पष्ट हो जाता है, कि उसने अनिरुद्ध के अर्थ को ही लिया है, पदानुपूर्वी को नहीं। अनिरुद्ध का लेख इसप्रकार है—

> "*क्रमशश्च मन्दालोके चौरं दृष्टवेन्द्रियेण परतु विचारयति, ततः चौरोऽयमिति मनसा संकल्पयति, ततो धनं गृह्णातीत्यहंकारेणाभिमन्यते, ततः चौरं गृह्णामीति बुद्ध्याध्यवस्यति। अक्रमशश्च रात्रौ विद्युदालोके व्याघ्रं दृष्ट्वा झटित्यपसरति। तत्र चतुर्णामेकदा वृत्तिः।*"

इन दोनों लेखों की परस्पर तुलना करने पर हम देखते हैं, कि विज्ञानभिक्षु संक्षेप से ही इस बात को लिख देता है, कि बाह्य चक्षुरादि इन्द्रिय से लेकर बुद्धिपर्यन्त करणों की साधारणतया वृत्ति क्रमपूर्वक ही होती है। परन्तु कभी २ व्याघ्र आदि के दीखजाने पर भयविशेष से बिजली के कौंधने की तरह सब करणों में एक साथ ही वृत्ति हो जाती है। यही अर्थ अनिरुद्ध ने चक्षु मन अहंकार और बुद्धि की वृत्तियों को पृथक् २ क्रमशः दिखलाकर प्रकट किया है, और अन्तिम पंक्तियों में तो विज्ञानभिक्षु ने अनिरुद्ध के पदों को भी पकड़ने का प्रयत्न किया है। इस तुलना से यह निश्चित हो जाता है, कि विज्ञानभिक्षु ने इस प्रसंग में अनिरुद्धकृत सूत्रार्थ का ही प्रत्याख्यान किया है। इन सब निर्देशों के आधार पर विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अनिरुद्ध की

प्राचीनता सुतरां सिद्ध है।

डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे के विचार, तथा अनिरुद्ध के काल का अनिश्चय—

इतने मात्र से अनिरुद्ध के काल का विशेष निर्णय नहीं किया जा सकता। इससे केवल विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अनिरुद्ध की प्राचीनता सिद्ध होती है, उसके विशेष काल का कोई निर्णय नहीं होता, इसका अधिक निर्णय करने के लिये डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे ने कुछ अनुमान किये हैं। डॉ० गॉर्बे[1] ने लिखा है, कि सांख्यषडध्यायी के १।३४ सूत्र पर अनिरुद्धवृत्ति की जो प्रारम्भिक पंक्तियां हैं, वे सायणरचित सर्वदर्शनसंग्रह के बौद्धदर्शन की कुछ पंक्तियों का ही सारभूत हैं। सर्वदर्शनसंग्रह का सन्दर्भ, डॉ० गॉर्बे ने इसप्रकार उद्धृत किया है—

"न्यायसंसिद्धो हेतुः अर्थक्रियाकारित्वलक्षणस्य सत्त्वस्य... ...तच्चार्थक्रियाकारित्वं क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्"

सांख्यषडध्यायी के १।३४ सूत्र पर अनिरुद्ध का लेख इसप्रकार है—

"सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वं, तच्च क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्"

इससे डॉ० गॉर्बे महोदय ने यह अनुमान किया है, कि अनिरुद्ध का लेख सायण के ही लेख का सार होने से निश्चित ही अनिरुद्ध, सायण के अनन्तर होने वाला आचार्य है। सायण की स्थिति ख्रीस्ट के चतुर्दश शतक के अन्तिम भाग [१३८० ईसवी सन के आस पास] में निश्चित है। इसलिये अनिरुद्ध का काल ख्रीस्ट चतुर्दश शतक के अनन्तर ही होना चाहिये। दूसरी ओर विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अनिरुद्ध की प्राचीनता सिद्ध की जा चुकी है। विज्ञानभिक्षु का काल[2] ख्रीस्ट षोडश शतक का उत्तरार्द्ध आंका गया है। इसलिये अनिरुद्ध का समय ख्रीस्ट पञ्चदश शतक में निश्चित किया जासकता है।

इसकी पुष्टि के लिये डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे ने एक और प्रमाण भी उपस्थित किया है। "सांख्यषडध्यायी के ५।३२ सूत्र पर अनिरुद्ध ने एक वाक्य लिखा है—*"उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत्"*। यही वाक्य साहित्यदर्पण में [१।४।४ पर] है। 'व्यतिभेद' पदका प्रयोग बहुत ही विरल देखा जाता है। न्यायसूत्र ४।२।१८ में इसका प्रयोग है, जो भिन्न अर्थ में है। इसलिये मेरा विचार है, कि उक्त दोनों स्थलों में से किसी एक ने दूसरे का अनुवाद किया है। मैं यह कल्पना नहीं कर सकता, कि अनिरुद्ध जैसे अप्रसिद्ध दार्शनिक लेखक का, साहित्यदर्पणकार अनुकरण करे। इसलिये यही प्रतीत होता है, कि अनिरुद्ध ने ही साहित्यदर्पण से इस पंक्ति को लिया है। यदि इसको ठीक माना जाय, तो अनिरुद्ध साहित्यदर्पणकार से पश्चाद्वर्त्ती होगा, जो ख्रीस्ट पञ्चदश शतक के मध्य में विद्यमान माना जाता है। इसलिये अनिरुद्ध का समय १५०० A. D. ही निर्धा-

---

[1] सांख्यसूत्र-अनिरुद्धवृत्तिकी भूमिका, पृष्ठ ८,६। रायल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ता से १८८८ ईसवी सन् में प्रकाशित।

[2] F. E. Hall द्वारा सम्पादित सांख्यसार की भूमिका, पृष्ठ ३७ के अनुसार।

रित किया जा सकता है।"

डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे के विचारों की निराधारता—

श्रीयुत डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे महोदय के इस उपर्युक्त लेख के सम्बन्ध में हमारा निवेदन है, कि डॉ० गॉर्बे महोदय ने वास्तविकता को समझने में मूल से ही भूल की है। सर्वदर्शनसंग्रह और सांख्यसूत्रवृत्ति के जिस सन्दर्भ का उन्होंने परस्पर तुलना करके यह परिणाम निकाला है कि अनिरुद्ध का लेख, सायण के लेखका ही सारभूत है, सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि इस परिणाम के निकालने में आपने कोई भी हेतु या प्रमाण उपस्थित नहीं किया है। डॉ० गॉर्बे महोदय के मस्तिष्क में यह भावना कार्य कर रही प्रतीत होती है, कि जब सांख्यसूत्र ही सायण के पीछे के हैं, तो सूत्रवृत्ति का प्रश्न ही क्या ? पर अब इस भावना को मिथ्या सिद्ध किया जा चुका है। इसलिये डॉ० गॉर्बे का यह चित्रण, बिना भित्तिक निराधार ही कहा जा सकता है।

यदि यह बात सिद्ध की जा सकती, कि उक्त पंक्तियों को सर्वप्रथम सायण ने ही इस रूप में लिखा है, तो यह मानने के लिये अवकाश था, कि अनिरुद्ध का लेख उसका सार है। पर क्या कोई भी विद्वान, इस बात को कह सकता है, कि इन पंक्तियों को सर्वप्रथम सायण ने ही इस रूप में लिखा है ? जिन विद्वानों ने दार्शनिक साहित्य का आलोडन किया है, वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं, कि उक्त वाक्यसमूह बौद्ध दर्शन में अर्थ के प्रतिपादन का एक साधारण प्रकार है। बौद्धदर्शन पर जो भी विवेचन करेगा, वह उक्त पदावली को भूल नहीं सकता। इसलिये क्यों न यह माना जाय, कि उक्त दोनों लेखों का आधार कोई दूसरा ही स्रोत है। इस बात के मानने में तो कोई भी आधार अथवा प्रमाण नहीं है, कि अनिरुद्ध ने इसको सायण से लिया है। प्रत्युत इसके विपरीत कल्पना की जा सकती है। क्योंकि इसके लिये प्रथम उपोद्बलक तो यह है, कि—

(क)—सायण संग्रहकार है, उसने अपने सब ही प्रतिपाद्य विषय को उन २ दर्शनों के ग्रन्थों में से ही चुना है। संग्रह में दूसरे के भावों और पदों का आजाना स्वतः सिद्ध है। परन्तु अनिरुद्ध के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। वह एक निश्चित अर्थ के व्याख्यान के लिये प्रवृत्त हुआ है, सायण की तरह संग्रह के लिये नहीं। वह अपने ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थों को उद्धृत कर सकता है, खण्डन मण्डन कर सकता है। परन्तु अनिरुद्ध की १।३४ सूत्र की पंक्तियों में ऐसी कोई बात नहीं है।

(ख)—कहा जा सकता है, कि अपने ग्रन्थ के लिखने में दूसरे ग्रन्थों से अनिरुद्ध ने लाभ उठाया हो, और इस पंक्ति को सायण के ग्रन्थ में से लेलिया हो। परन्तु यह कल्पना भी अर्थहीन और उपहासास्पद है, क्योंकि अनिरुद्ध इस एक ही पंक्ति को सायण से उधार लेता, यह स्वीकार किया जाना कठिन है। अनिरुद्ध ने भी अपनी वृत्ति में प्रसंगवश जैन और चार्वाक आदि मतों का खण्डन किया है, वहां भी सर्वदर्शनसंग्रह के आधार पर लिखी गई कोई पंक्ति मिली

होती। पर ऐसा नहीं है। इसलिये उक्त पंक्ति के सम्बन्ध में भी यह नहीं कहा जा सकता, कि अनिरुद्ध ने सायण के ग्रन्थ से ली है।

(ग)—सायण से बहुत प्राचीन ग्रन्थों में भी इस पंक्ति को हम उल्लिखित पाते हैं। वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में ३। २। १७ सूत्र पर लिखा है—

(अ)—"*सत्त्वं नामार्थक्रियाकारित्वं ....। ..... अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वमिति तच्च क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्*"[१]

(आ)—इसके अतिरिक्त सिद्धसेनदिवाकर प्रणीत '*सन्मतितर्क*' (बौद्धग्रन्थ) की अभयदेवसूरि कृत व्याख्या में भी निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

"*घटादिः पदार्थोऽर्थक्रियाकारी क्रमाक्रमाभ्यां प्रत्यक्षसिद्धः ... अतो यत्र सत्त्वं तत्र क्रमाक्रमप्रतीतावपि क्षणिकत्वप्रतीतिरेव ।*"[२]

हम देखते हैं, अनिरुद्ध के लेख की आनुपूर्वी और पद, वाचस्पति मिश्र के लेख से अधिक समानता रखते हैं। यह नहीं कहा जासकता, कि इस समानता का क्या कारण होगा। सम्भव है, यह आकस्मिक हो। फिर भी इन निर्देशों से यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है, कि इस कथन में कोई प्रमाण नहीं कहा जासकता, कि अनिरुद्ध ने सायण की पंक्ति का ही सार लिखा है। ऐसी स्थिति में अनिरुद्ध का काल निर्णय करने के लिये सायण को पूर्व-प्रतीक नहीं माना जासकता।

विज्ञानभिक्षु के काल का निर्धारण इसी प्रकरण में हम आगे करेंगे। यह निश्चित है, कि कथित काल से विज्ञानभिक्षु अवश्य कुछ प्राचीन है, और अनिरुद्ध के काल का अनुमान करने के लिये उसे पर-प्रतीक माना जासकता है।

श्रीयुत डॉ० रिचॅर्ड गार्बे महोदय ने '*उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत्*' इस वाक्य के आधार पर विवेचन करने में भी भूल की है। यह वाक्य एक दार्शनिक लौकोक्ति के समान है। इन्द्रियों की आशुवृत्तिता को प्रकट करने के लिये उदाहरणरूप में उपस्थित किया जाता है। यह एक समझने की बात है, कि इसका सम्बन्ध साहित्य की अपेक्षा दर्शन से अधिक है। साहित्यदर्पण में भी जहां इसका[३] उल्लेख है, वहां व्यंग्य प्रतीति के क्रम अक्रम को लेकर किया गया है। व्यंग्यज्ञान, विभावादि की प्रतीति के कारण ही होता है। कारण की विद्यमानता में कार्यगत अक्रम सम्भव नहीं, परन्तु जहां क्रम संलक्षित नहीं होता, उसे '*असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य*' कहा जायेगा। इसी प्रसंग में कारणक्रम की असंलक्षितता को प्रकट करने के लिये उक्त पंक्ति का उल्लेख किया गया है।

---

१ न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, पृष्ठ ३८७, लॉजरस मैडिकल हॉल यन्त्रालय बनारस का, ईसवी सन् १८६८ का संस्करण।

२ सन्मतितर्क, अभयदेवसूरिकृत व्याख्या, पृष्ठ ३२२, प० ४, ७-८, बम्बई संस्करण।

३ साहित्यदर्पण ४।५ में।

यह हो सकता है, कि 'व्यतिभेद' पद का प्रयोग बहुत कम होता हो, परन्तु इस बात का पद के अर्थ पर कोई प्रभाव नहीं है। न्यायसूत्र ४।२।१८ में प्रयुक्त 'व्यतिभेद' पद का डॉ० गॉर्बे महोदय ने कोई भिन्न अर्थ समझा है, यद्यपि उस भिन्न अर्थ का कोई निर्देश नहीं किया गया। परन्तु हम देखते हैं, कि इन दोनों ही स्थलों में 'व्यतिभेद' पद का समान अर्थ में ही प्रयोग हुआ है। हिन्दी भाषा में इसको 'भेदना' अथवा 'छेदना' कह सकते हैं। यद्यपि न्यायसूत्र ४।२।१८ में आशुवृत्तिता का कोई प्रसंग नहीं है, परन्तु परमाणु में भी आकाश व्याप्त होने से उसे भेद डालता है, यह अभिप्राय स्पष्ट है। आशुवृत्तिता का भाव 'उत्पलपत्रशत' के सहप्रयोग से ही प्रकट होता है। यह सर्वथा एक कल्पनामात्र है, कि अनिरुद्ध इसको साहित्यदर्पण से ही ले सकता है, अथवा दोनों में कोई एक, अवश्य दूसरे का अनुवाद है। वस्तुतः यह एक लोकोक्ति के समान है, जिसका प्रयोग, विषय ग्रहण में इन्द्रियों की क्रमिकता अक्रमिकता बताये जाने के प्रसंग में प्रायः दार्शनिक विद्वान करते हैं। इसप्रकार के दो एक स्थलों का यहां निर्देश किया जाता है—

(क)—"*अत एव अवग्रहादिज्ञानानां कालभेदानुपलक्षणेऽपि क्रमोऽभ्युपगन्तव्यः उत्पलपत्रशतव्यतिभेद इव।*"[1]

(ख)—"*न चोत्पलपत्रशतव्यतिभेदवदाशुवृत्तेः क्रमेऽपि यौगपद्यानुभवाभिमानः।*"[2]

इन निर्देशों से सिद्ध होता है, कि साहित्यदर्पण का यह लेख, अनिरुद्ध के उक्त वाक्य का मौलिक आधार लेख, नहीं है। वस्तुतः साहित्यदर्पणकार ने भी इसको किसी अन्य स्रोत से ही लिया है। क, ख, चिन्हों पर लिखे दोनों सन्दर्भ अभयदेव सूरि के हैं, जो निश्चय ही साहित्यदर्पणकार से पहले होने वाला आचार्य है। ऐसी स्थिति में इस वाक्य के आधार पर अनिरुद्ध का काल निर्णय नहीं किया जा सकता, और इसलिये अनिरुद्ध काल निर्णय में साहित्यदर्पण को पूर्व-प्रतीक कहना सर्वथा असंगत है।

भारतीय परम्पराओं और शास्त्रीय मर्यादाओं से पूर्ण अभिज्ञ न होने के कारण प्रायः यूरोपीय विद्वान ऐसे प्रसंगों में भ्रान्त हो जाते हैं, तथा यह और भी खेदजनक बात है, कि भारत के प्राचीन विद्वानों को भी, निराधार कल्पनाओं का सहारा लेकर ये लोग, अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रायः प्रयत्न करते देखे जाते हैं। उनमें से अधिक की प्रवृत्ति, निष्पक्ष वास्तविकता की ओर झुकती हुई नहीं दीखती।

अब अनिरुद्ध का कालनिर्णय करने के लिये यह आवश्यक है, कि प्रथम विज्ञानभिक्षु के काल का निर्णय होना चाहिये। क्योंकि यह एक निश्चित मत है, कि अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु से प्राचीन है, और इसका अभी पीछे हम विवेचन कर चुके हैं।

---

[1] सिद्धसेनदिवाकर रचित 'सन्मतितर्क' की, अभयदेवसूरि रचित व्याख्या, बम्बई संस्करण, पृष्ठ ४१०, प० २७, २८।

[2] वही ग्रन्थ, पृष्ठ ४७७, पंक्ति ३३, ३४।

अनिरुद्ध के पर-प्रतीक विज्ञानभिक्षु का काल—

अभी तक विज्ञानभिक्षु का समय आधुनिक विद्वानों ने विक्रमी षोडश शतक का अन्त तथा ख्रीस्ट षोडश शतक का मध्यभाग अर्थात् १५५० ईसवी सन्[१] के लगभग माना है, डॉ० कीथ[२] ने भिक्षु का समय १६५० ईसवी सन् माना है। विज्ञानभिक्षु के काल के सम्बन्ध में एक नई सूचना और प्राप्त हुई है। 'ब्रह्मविद्या' नामक अडियार लाईब्रेरी बुलेटिन, फर्वरी १६४४ में श्रीयुत P. K. गोडे एम० ए० महोदय का एक लेख प्रकाशित हुआ है, उसका सारांश इसप्रकार है-

विज्ञानभिक्षु-काल के सम्बन्ध में P. K. गोडे महोदय के विचार—

योरुपीय विद्वान् Aufrecht ने संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों के स्वरचित सूचीपत्र में भावागणेश के बनाये निम्न ग्रन्थों का निर्देश किया है—

कपिलसूत्र टीका
चिच्चन्द्रिका प्रबोधचन्द्रोदय टीका
तत्त्वप्रबोधिनी तर्कभाषाटीका
तत्त्वसमासयाथार्थ्यदीपन
योगानुशासनसूत्रवृत्ति

ये पांचों ही टीका या व्याख्याग्रन्थ हैं। पहली दोनों टीका, भावा रामकृष्ण के पौत्र भावा विश्वनाथ दीक्षित के पुत्र, भावा गणेश दीक्षित की कृति हैं। Burnell (बॅर्नल) कहता है, कि तीसरी टीका, गोविन्द दीक्षित और उमा के पुत्र गणेश दीक्षित की कृति है। प्रबोधचन्द्रोदय की टीका में भावा गणेश ने अपने पिता का नाम विश्वनाथ और माता का नाम भवानी लिखा है। श्रीयुत गोडे महोदय इस पर संभावना करते हैं, कि क्या यह हो सकता है कि विश्वनाथ की गोविन्द के साथ और भवानी की उमा के साथ एकता हो?

---

१ F. E. Hall, Preface to the Samkhyasara, P. 37, note. Dr. Richard Garbe, Preface to the Samkhya-Sutra-Vritti, by Anirudha, P. 8. सर्वदर्शनसंग्रह, अभ्यंकर संस्करण, [प्रतिदर्शनं प्रवृत्तानां ग्रन्थकाराणां सूची ४], पृष्ठ ५३४,५३५। Winternitz; Indian Literature, German Edn, P. 457. Das Gupta; History of Indian Philosophy, Vol 1, pp. 212, 221;

२ History of Sans. Literature, 489 [ब्रह्मविद्या, अडियार् बुलैटिन, १७।२।४४, पृ० २३ के आधार पर]। परन्तु डा० कीथ ने ही अपने The Samkhya System नामक ग्रन्थ में विज्ञानभिक्षु का समय, षोडश शतक का मध्य ही माना है, वह लिखता है—"……in the commentery of Vijnanabhiksu on the Samkhya Sutra, and in his Samkhyasara, written about the middle of the sixteenth century A. D." १६२४ ईसवी सन् का द्वितीय संस्करण, पृ० ११४।

अन्तिम दो टीकाओं के सम्बन्ध में F. E. Hall ने अपनी बिब्लिओग्रेफी (कलकत्ता १८५६, पृ० ४, ११) में लिखा है -तत्त्वसमासयाथार्थ्यदीपन का रचयिता भावा गणेश दीक्षित है, जो भावा विश्वनाथ दीक्षित का पुत्र था, और विज्ञानभिक्षु का शिष्य, जिसका उल्लेख उसने स्वयं किया है । इसीप्रकार योगानुशासनसूत्रवृत्ति भी विज्ञानभिक्षुके शिष्य और भावा विश्वनाथ दीक्षित के पुत्र भावा गणेश दीक्षित की रचना है । भावा गणेश नाम में 'भावा' पद उपनाम है । इसका उल्लेख, भावा गणेश ने प्रबोधचन्द्रोदय टीका के प्रथम श्लोक में अपने वंश का वर्णन करते हुए, स्वयं किया है । वह लिखता है—

"आसीद्भावोपनामा भुवि विदितयशा रामकृष्णोऽनिनिज-
स्तस्मादगौर्यां विनीतो विविधगुणनिधिर्विश्वनाथोऽवतीर्णः ।
तस्मात् प्रख्यातकीर्तेः विविधमखकृतः प्रादुरासीद् भवान्यां,
श्रीमत्यां यो गणेशो भुवि विदितगुणस्तस्य चिन्चन्द्रिकास्तु ॥"

इस वर्णन से यह परिणाम निकलता है, कि रामकृष्ण भावा तथा गौरी का पुत्र विश्वनाथ हुआ, एवं विश्वनाथ और भवानी का पुत्र गणेश हुआ, जो चिन्चन्द्रिका का कर्त्ता है । विज्ञानभिक्षु का शिष्य यह भावा गणेश वही व्यक्ति है, जिसका उल्लेख बनारस के एक निर्णयपत्र[1] में पाया गया है । यह निर्णयपत्र शक संवत् १५०४ अर्थात् १५८३ ईसवी सन में लिखा गया । उसमें कई विद्वानों के हस्ताक्षर हैं, जो उस समय अपने २ ब्राह्मणवर्ग के मुखिया थे । उनमें सर्वप्रथम भावा गणेश का नाम है । वहां का लेख इसप्रकार है—

"तत्र संमतिः । भावये गणेश दीक्षित प्रमुख चिपोलणे"

हमारी यह धारणा है, कि निर्णयपत्र में जिस 'भावये गणेश दीक्षित' के हस्ताक्षर हैं, यह वही 'भावा गणेश' व्यक्ति है, जो विज्ञानभिक्षु का शिष्य प्रसिद्ध है । इससे इन दोनों ही के कालनिर्णय में बड़ी सहायता मिल जाती है । यद्यपि निर्णय पत्र में 'भावये' पद है, और नामके पहले जोड़ा गया है । आजकल की परम्परा के अनुसार यह नाम के पीछे जोड़ा जाता है । जैसे 'भावा गणेश' की जगह 'गणेश भावे' कहा जायगा । फिर भी 'भावये' 'भावे' अथवा 'भावा' ये पद एक ही भाव को प्रकट करते हैं । इस निर्णयपत्र में एक 'भावये हरि भट्ट' का भी उल्लेख है, जो 'भावये गणेश दीक्षित प्रमुख चिपोलणे' का भाई अथवा चाचा सम्भव होसकता है । इस प्रकार १५८३ ईसवी सन् के निर्णयपत्र में हरिभट्ट भावये अथवा भावे और गणेश दीक्षित भावये अथवा भावे का उल्लेख उस समय बनारस में भावे परिवार की स्थिति को सिद्ध करता है, चाहे वर्त्तमान भावे परिवार अथवा संस्कृत के विद्वान मेरे इन भावा गणेश सम्बन्धी निर्देशों को भले ही न मानें ।

---

[1] R. S. Pimputkar द्वारा बम्बई से १६२६ ईसवी सन् में प्रकाशित 'चितळे भट्ट प्रकरण' पृष्ठ ७६ देखना चाहिये ।

उपर्युक्त आधारों पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि भावा गणेश ख्रीष्ट षोडश शतक के उत्तर अर्ध में अर्थात् १५५० से १६०० ईसवी सन् के मध्यमें विद्यमान था। यदि इस विचार को स्वीकार करलिया जाता है, तो भावागणेश के गुरु विज्ञानभिक्षु का भी समय बड़ी सरलता से १५२५ से १५८० ईसवी सन् के मध्यमें कहीं भी निश्चय किया जासकता है। यह वर्णन Winternitz आदि विद्वानों के, विज्ञानभिक्षु के काल सम्बन्धी विचारों को पुष्ट करता है, और कीथ (Keith) के विचारों का विरोध, जब कि उसने विज्ञानभिक्षु का समय [1] १६५० ईसवी सन के लगभग बताया है।

P K. गोडे महोदय के विचारों का विवेचन—

यह ऊपर की पंक्तियों में श्रीयुत गोडे महोदय के लेख का सारांश दिया गया है। इसका विवेचन करने के लिये हमने इसके निम्नलिखित भाग किये हैं—

(क) भावा गणेश के ग्रन्थ।

(ख) विज्ञानभिक्षु का शिष्य भावा गणेश।

(ग) निर्णयपत्र में उल्लिखित भावये गणेश दीक्षित।

इन्हीं आधारों को लेकर यथाक्रम हम इसका विवेचन करते हैं।

(क) भावागणेश के ग्रन्थ—भावागणेश के ग्रन्थों की सूची जो पीछे दी गई है, उसमें से तर्कभाषा टीका के सम्बन्ध में एक सन्देह उत्पन्न होता है। तर्कभाषा की टीका तत्त्वप्रबोधिनी के हस्तलिखित ग्रन्थ का वर्णन करते हुए Burnell प्रकट करता है, कि इस ग्रन्थ का रचयिता गणेश दीक्षित है, उसने ग्रन्थारम्भ में एक श्लोक के द्वारा अपने माता पिता को नमस्कार किया है। उसने अपनी माता का नाम उमा, और पिता का नाम गोविन्द दीक्षित प्रकट किया है। Burnell के इस वर्णन के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि तर्कभाषा टीका का रचयिता गणेश दीक्षित था, भावा गणेश नहीं। गणेश दीक्षित और भावा गणेश ये दोनों पृथक व्यक्ति प्रतीत होते हैं। द्वितीय ने तत्त्वयाथार्थ्यदीपन और योगानुशासनसूत्रवृत्ति के प्रारम्भ में अपना नाम भावा गणेश ही दिया है, केवल गणेश अथवा गणेश दीक्षित नहीं।

इसके अतिरिक्त एक बात और है, गणेश दीक्षित के पिता का नाम गोविन्द दीक्षित और माता का नाम उमा है। इसके विपरीत भावा गणेश के पिता का नाम विश्वनाथ और माता का नाम भवानी है। और इन नामों का निर्देश स्वयं ही ग्रन्थकारों ने अपने २ ग्रन्थों में किया है। यह बात किसी तरह संभव नहीं मानी जासकती, कि वही एक व्यक्ति एक स्थान पर अपने मातापिता का नाम कुछ और लिखे, तथा दूसरे स्थान पर कुछ और। इसलिये इन भिन्न नाम निर्देशों से यह

---

[1] २६३ पृष्ठ की टिप्पणी संख्या २ में 'सांख्यसिस्टम' के आधार पर लिखा गया है, कि कीथ विज्ञानभिक्षु का समय १६वीं सदी का मध्य ही मानता है।

स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि तर्कभाषा टीका का रचयिता गणेश दीक्षित, उस व्यक्ति से सर्वथा भिन्न है, जिसने प्रबोधचन्द्रोदय की टीका चिच्चन्द्रिका की रचना की है। इसलिये श्रीयुत गोडे महोदय की यह संभावना सर्वथा निराधार कही जासकती है, कि भावा विश्वनाथ को गोविन्द दीक्षित और उमा को भवानी समझ लिया जाय, और इन दोनों ग्रन्थकारों को एक व्यक्ति माना जाय। विश्वनाथ और गोविन्द नामों में तो कोई समता ही नहीं, और फिर एक के साथ 'भावा' और दूसरे के साथ 'दीक्षित' उपनाम लगा हुआ है। उमा और भवानी इन नामों में समता की संभावना की जासकती है। परन्तु वह भी सर्वथा निराधार ही होगी। क्योंकि इसप्रकार के अनेक नामों का होना सर्वथा संभव है। अन्य अनेक स्त्रियों के नाम इसी के जोड़ पर पार्वती, गौरी आदि भी होसकते है। केवल इन नामों के आधार पर उन व्यक्तियों की एकता को सिद्ध नहीं किया जासकता। भावा गणेश की चिच्चन्द्रिका के प्रारम्भिक श्लोक में ही उसकी माता का नाम भवानी और दादी का नाम गौरी निर्दिष्ट किया गया है। यदि केवल नामों के आधार पर उमा तथा भवानी की एकता की संभावना की जाय, तो यहां गौरी और भवानी की एकताको कौन रोक सकेगा? ऐसी स्थिति में श्रीयुत गोडे महोदय द्वारा संभावित नामों की एकता, निराधार तथा असंगत ही कही जासकती है।

अब इस परिणाम तक पहुँचने पर, कि भावा गणेश और गणेश दीक्षित भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं, हमारे सन्मुख एक विचारणीय बात और आती है। भावा गणेश ने अपने नाम के साथ अपने ग्रन्थों में कहीं भी 'दीक्षित' पद का प्रयोग नहीं किया है। हमारे सामने तीन ग्रन्थों के लेख विद्यमान हैं, चिच्चन्द्रिका, तत्त्वयाथार्थ्यदीपन और योगानुशासनसूत्रवृत्ति। ऐसी स्थिति में सूचीपत्रकार Aufrecht और F.E Hall आदि ने हस्तलिखितग्रन्थसम्बन्धी अपने निर्देशों में इस नाम के साथ 'दीक्षित' पद का प्रयोग किस आधार पर किया हैं, हम नहीं समझ सके।

श्रीयुत गोडे महोदय के लेखानुसार Aufrecht की सूची में हम देखते हैं, कि भावा गणेश की रचनाओं में तर्कभाषा टीका का भी उल्लेख किया गया है। इससे प्रतीत होता है, कि प्रबोधचन्द्रोदय टीका और तर्कभाषा टीका के रचयिताओं को सूचीपत्रकार ने एक ही व्यक्ति समझा होगा। प्रतीत यह होता है, कि उन्होंने केवल 'गणेश' इस नाम की समता को देखकर, दूसरे नाम के साथ प्रयुक्त 'दीक्षित' पद को पहले नाम के साथ भी जोड़ दिया। हमारे विचार में यह सूचीपत्रकारों की कल्पना ही कही जासकती है। कम से कम इतना हम अवश्य कह सकते है, कि भावा गणेश नाम के साथ 'दीक्षित' पद का प्रयोग, उसके अपने लेखों के आधार पर नहीं है। फिर भी सूचीकारों ने इस नाम के साथ इस पद का प्रयोग करके, अन्य नामों के साथ, भ्रान्तिमूलक समानता का प्रदर्शन किया है।

(ख)—विज्ञानभिक्षु का शिष्य भावा गणेश—भावा गणेश के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह एक मुख्य बात है, कि वह विज्ञानभिक्षु का शिष्य था। उसने अपने ग्रन्थों में अपने गुरुका

बड़े आदर और अभिमान के साथ उल्लेख किया है। हम देखते हैं, कि तत्त्वसमासयाथार्थ्यदीपन और योगानुशासनसूत्रवृत्ति के प्रारम्भ में भावा गणेश ने अपने गुरु को आदर नमस्कार करके ही ग्रन्थ का आरम्भ किया है। केवल प्रारम्भ में ही नहीं,प्रत्युत इन ग्रन्थोंके मध्य[1] में भी प्रसंगवश जहां तहां अपने गुरु का स्मरण किया है। परन्तु प्रबोधचन्द्रोदय की टीका चिच्चन्द्रिका में उसने अपने गुरु का स्मरण नहीं किया। वह यहां अपने वंश का ही उल्लेख करता है, और वह भी केवल उल्लेख, यह नहीं कि माता पिता आदि को नमस्कार किया गया हो। विज्ञानभिक्षु का शिष्य भावा गणेश, जिसप्रकार तत्त्वसमासयाथार्थ्यदीपन और योगानुशासनसूत्रवृत्ति में अपने गुरु को नमस्कार करता है, और उसका स्मरण करता है, इसप्रकार चिच्चन्द्रिका में किसी रूप में भी गुरु का स्मरण न किया जाना खटकता अवश्य है। चाहे यह स्थिति यहां तक न मानी जासके, कि चिच्चन्द्रिकाकार को उससे भिन्न व्यक्ति मान लिया जाय। क्योंकि इस बात का निश्चय होजाने पर कि उक्त ग्रन्थों का रचयिता एक ही व्यक्ति है, गुरुस्मरण की विषमताओं के लिये अन्य संभावना की जा सकती हैं।

यह कहा जा सकता है, कि संभवतः विज्ञानभिक्षु, भावा गणेश का सांख्य-योग का गुरु ही होगा, इसलिये सांख्य-योग के ग्रन्थों में उसका स्मरण किया गया है। साहित्यज्ञान को, संभव है उसने वंशपरम्परा से ही प्राप्त किया हो। यद्यपि वंश का उल्लेख, गुरुस्मरण का बाधक नहीं कहा जा सकता। इसलिये चिच्चन्द्रिका में गुरु का स्मरण न किया जाना विचारणीय अवश्य है।

वाराणसीय निर्णयपत्र के सम्बन्ध में कुछ शब्द—

(ग)—निर्णयपत्र में उल्लिखित भावये गणेश दीक्षित—अब हम उस निर्णयपत्र की ओर आते हैं, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। यद्यपि यह स्पष्ट है, कि निर्णयपत्र में जो हस्ताक्षर किये गये हैं, उस हस्ताक्षरकर्त्ता व्यक्ति का, हस्ताक्षरों के आधार पर विज्ञानभिक्षु अथवा विश्वनाथ-भवानी के साथ कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं हो सकता। यह केवल कल्पना पर ही अवलम्बित है, कि हस्ताक्षरकर्त्ता व्यक्ति, विज्ञानभिक्षु का शिष्य था। तथापि हम अन्य कारणों के आधार पर भी इसका विवेचन करना चाहते हैं, कि इस व्यक्ति का विज्ञानभिक्षु के शिष्य के साथ सम्बन्ध जोड़ना, कहां तक युक्तिसंगत कहा जा सकता है।

निर्णयपत्र का लेख है—'भावये गणेश दीक्षित प्रमुख चिपोलणे' प्रथम हम 'भावये' पद के सम्बन्ध में विवेचन करना चाहते हैं। चिच्चन्द्रिका के प्रथम श्लोक में भावा गणेश ने जिस उपनाम का उल्लेख किया है, वह 'भावा' पद है 'भावये' नहीं। एक व्यक्ति, जो ग्रन्थ रचना के समय अपना उपनाम 'भावा' लिख रहा है, वह हस्ताक्षर करने के समय 'भावा' न लिख कर

[1] तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, सांख्यसंग्रह, पृष्ठ ८६, ८८, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस से जून १६१८ ईसवी सन् में प्रकाशित।

'भावये' लिखे, यह बात संभव नहीं कही जा सकती। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है, कि अन्यत्र सर्वत्र ही एक व्यक्ति 'भावा' लिखता है, और एक स्थल पर हस्ताक्षर के समय 'भावये' लिख दे। यह विषमता विना कारण के नहीं कही जासकती। और इसका कारण यही होसकता है, कि चिच्चन्द्रिका का रचयिता, निर्णयपत्र पर हस्ताक्षरकर्त्ता नहीं है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है, कि भावा गणेश ने अपने नाम के साथ कहीं भी 'दीक्षित' पद का प्रयोग नहीं किया है। इससे प्रतीत होता है, कि यह उसके नाम का अंश नहीं है। फिर वह हस्ताक्षर करते समय ही ऐसा क्यों करता? ऐसी स्थिति में अवश्य यह व्यक्ति, विज्ञानभिक्षु के शिष्य से कोई व्यतिरिक्त ही कहा जासकता है।

'प्रमुख चिपोलण' पद केवल इस बात को प्रकट करते हैं, कि वह चित्पावन ब्राह्मणों के परिवार का मुखिया था। प्रमुख होने से यह कल्पना करना, कि अवश्य ही वह कोई मूर्द्धन्य विद्वान् व्यक्ति था, और इसलिये विज्ञानभिक्षु के शिष्य की ओर हमारा झुकाव होता है, सर्वथा निराधार होगा। क्योंकि परिवारों की प्रमुखता के लिये अद्वितीय विद्वान् होना आवश्यक नहीं है, प्रत्युत उस परिवार की प्रतिष्ठा और प्राचीन परम्परा ही विशेष आवश्यक होते हैं। जो व्यक्ति, भारतीय साधारण जनता की परम्पराओं से परिचित हैं, वे अच्छी तरह जान सकते हैं, कि परिवारों का मुखियापन, धन अथवा विद्या के ऊपर अवलम्बित नहीं होता, उसके लिये परिवार की परम्परागत प्रतिष्ठा ही मुख्य अवलम्ब होता है। यह अलग बात है, कि वह फिर धनवान अथवा विद्वान् भी हो जाय। इसलिये यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, कि चित्पावन ब्राह्मण परिवारों का प्रमुख होने से वह हस्ताक्षरकर्त्ता अवश्य अद्वितीय विद्वान् था, और इस लिये वह विज्ञानभिक्षु के शिष्य से अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता था।

इसके विपरीत, उसके अद्वितीय विद्वान् न होने में हस्ताक्षर के साथ 'भावये' पद का प्रयोग उपोद्बलक कहा जासकता है। वर्त्तमान परम्परा के अनुसार भी इस उपनाम पदका रूप 'भावे' है, 'भावा' नहीं। यह 'भावये' पद, 'भावे' के ही अधिक समीप है, 'भावा' के नहीं। प्रतीत यह होता है, कि धीरे २ 'भावये' पद ही 'भावे' के रूप में परिवर्त्तित होगया है। यह उपनाम का साधारण जनता में प्रयुक्त होने वाला रूप है, जिसकी उपेक्षा, हस्ताक्षरकर्त्ता नहीं कर सका। परन्तु विज्ञानभिक्षु के विद्वान शिष्य ने उसकी उपेक्षा की, और सर्वत्र 'भावा' पद का प्रयोग किया। इसलिये निर्णयपत्र में हस्ताक्षर करने वाला व्यक्ति, विज्ञानभिक्षु का शिष्य नहीं कहा जासकता। वह अवश्य कोई अन्य व्यक्ति है। ऐसी स्थिति में यह निर्णयपत्र भावा गणेश अथवा उसके गुरु विज्ञानभिक्षु के काल का निर्णय करने में अनिर्णायक ही है।

इसमें तो कोई भी सन्देह नहीं, कि विज्ञानभिक्षु और भावा गणेश परस्पर गुरु-शिष्य थे। इनमें से एक के भी काल का निर्णय होने पर दूसरे के काल का निर्णय सरलता से किया जासकता है। परन्तु यह कार्य उक्त निर्णयपत्र के आधार पर अब किया जाना अशक्य है।

इसलिये किसी अन्य आधार का अन्वेषण करना आवश्यक होगा।

विज्ञानभिक्षु के काल का निर्णायक, सदानन्द यति का काल—

विज्ञानभिक्षु के समय का निर्णय करने के लिये, सदानन्द यति के काल पर प्रकाश डालना आवश्यक है। उसने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। हमें जितने ग्रन्थ अवगत होसके हैं, वे निम्नलिखित हैं—

पञ्चदशी[1] टीका
अद्वैत[1] दीपिका—विवरण
अद्वैतब्रह्मसिद्धि
वेदान्तसार
जीवन्मुक्तिप्रक्रिया

इन में पहले दो व्याख्याग्रन्थ और शेष तीनों स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। सदानन्द यति, वेदान्त के शांकर सम्प्रदाय का कट्टर अनुयायी था। उसकी रचनाओं में 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें उसने शांकर मत के विरोधी सब ही मतों का प्रबल खण्डन किया है। वेदान्त के आधार पर शैव और वैष्णव मतों की विचारधारा में कुछ मौलिक भेद है। शांकर सम्प्रदाय, शैव मतानुयायी है। वैष्णव मत में आजकल मुख्य चार उप-धारा उपलब्ध होती हैं, जिनके प्रवर्त्तक निम्न आचार्य हैं—

श्री रामानुजाचार्य
श्री माध्वाचार्य
श्री वल्लभाचार्य
श्री निम्बार्काचार्य

ये आचार्य, शाङ्कर सम्प्रदाय के साक्षात् विरोध में आते हैं। सदानन्द यति, शांकर सम्प्रदाय का प्रबल अनुयायी है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है, कि शाङ्कर विचारधारा के विरोधी इन आचार्यों के मतों का वह अपने ग्रन्थ में प्रत्याख्यान करे, जो इसी प्रयोजन से लिखा गया है। फलतः उसके ग्रन्थ के पर्यालोचन से पता लगता है, कि अपने समय तक विद्यमान किसी भी शाङ्कर विरोधी मत को उसने नहीं बख्शा। इसप्रकार के किसी भी विचार की छीछालेदर

[1] पञ्चदशी विद्यारण्य की मूल रचना है। अद्वैत दीपिका का रचयिता नृसिंहाश्रम है। सदानन्द यति ने अपनी स्वतन्त्र रचना अद्वैतब्रह्मसिद्धि [द्वितीय संस्करण, पृ० २२२] में नरसिंहाश्रम के नाम पर एक सन्दर्भ को भी उद्धृत किया है। परन्तु उसी आनुपूर्वी के साथ वह सन्दर्भ अद्वैतदीपिका में उपलब्ध नहीं है। यद्यपि इसप्रकार के भाव अनेक स्थलों पर ध्वनित होते हैं। देखें, द्वितीयभाग, पृ० २४३। १९१९ ईसवी सन् का काशी बनारस संस्करण। संभव है, वह सन्दर्भ नरसिंहाश्रम के किसी अन्य ग्रन्थ का हो।

करने में उसने कोई कोर कसर नहीं रक्खी।

अब हम देखते हैं, कि वैष्णव सम्प्रदाय की उक्त चार विचारधाराओं में से वह केवल प्रथम दो का ही अपने ग्रन्थ में उल्लेख करता है[1], शेष दो का नहीं। जब कि पुष्टिमार्ग का प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य, शांकर विचारों का प्रबल विरोधी है। इससे यह परिणाम निकलता है, कि श्री वल्लभाचार्य के अपने मत-संस्थापन से पूर्व ही सदानन्द यति अपना ग्रन्थ लिखचुका होगा। शाङ्कर विरोधी विचारों के लिये जो भावनायें उसने अपने ग्रन्थ में प्रकट की हैं, उनसे स्पष्ट होता है, कि यदि उसके समय तक वल्लभमत की संस्थापना होचुकी होती, तो वह किसी भी अवस्था में उसका खण्डन किये बिना न रह सकता था, जब कि रामानुज और माध्व दोनों का उसने नाम लेकर खण्डन किया है। इसलिये यह निश्चित होजाता है, कि सदानन्द, वल्लभाचार्य से पूर्व ही हो चुका था।

यहां यह बात कही जासकती है, कि किसी ग्रन्थ में किसी का उल्लेख न होना, ग्रन्थ से पूर्व उसकी अविद्यमानता का परिचायक नहीं हो सकता। हम स्वयं भी इस बात को प्रथम लिख आये हैं, और ऐसा मानना युक्तियुक्त भी है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा नहीं है, यहां स्थिति सर्वथा विपरीत है। अद्वैतब्रह्मसिद्धि में वल्लभाचार्य के नाम का उल्लेख न होने की ओर हमारा कोई विशेष निर्देश नहीं है। प्रत्युत हमें देखना यह है, कि शाङ्कर विचारों के विरोधी मतों का खण्डन करने के लिये ही सदानन्द का यह प्रयत्न है। इसके अनुसार वैष्णव सम्प्रदाय के रामानुज और माध्व मतों का उसने खण्डन किया है, ऐसी स्थिति में उसने वल्लभ मत की उपेक्षा क्यों की, इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिये। इस प्रसंग में उक्त आपत्ति का प्रदर्शन तभी किया जासकता था, जब कि सदानन्द, रामानुज आदि को केवल प्रमाणरूप में उपस्थित करता। जैसे कि सदानन्द ने अपने ग्रन्थ में किसी एक विचार के निरूपण के लिये नरसिंहाश्रमके सन्दर्भ का निर्देश किया है, विद्यारण्य के सन्दर्भ का नहीं किया, जब कि विद्यारण्य ने भी अपनी रचना में उस विचार को निरूपित किया है। इस अवस्था में हम यह नहीं कह सकते, कि अमुक प्रसंग में विद्यारण्य का उल्लेख न होने से वह सदानन्द से पूर्व अविद्यमान था। क्योंकि यह सदानन्द की अपनी इच्छा अथवा मानसिक विद्या-विकास पर निर्भर करता है, कि वह अपने ग्रन्थ में नरसिंहाश्रम को उद्धृत करे, अथवा विद्यारण्य को। जब कि, जिस प्रसंग में वह इनको उद्धृत करना चाहता है, वह प्रसंग उन दोनों के ही ग्रन्थों में समान रूप से विद्यमान है। क्योंकि ऐसी स्थिति, प्रस्तुत प्रसंग में नहीं है, इसलिये हमें इस बात के कारण का अनुसन्धान करना पड़ेगा, कि जब सदानन्द, शाङ्कर-मत विरोधी रामानुज और माध्व मतों का खण्डन करता है, तब और भी अधिक विरोध रखने वाले वल्लभ मत की उपेक्षा उससे क्यों कर होगई? इसका कारण सिवाय इसके और कुछ नहीं कहा जासकता, कि सदानन्द के समय तक वल्लभ मत की स्थापना ही नहीं हो पाई थी। इसीलिये

[1] अद्वैतब्रह्मसिद्धि, १८३२ ईसवी सन् का द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १३०, और १४३।

सदानन्द के ग्रन्थ में निम्बार्क मत के उल्लेख का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उस मत की स्थापना तो वल्लभ मत के भी अनन्तर हुई है। अत एव यह निश्चित होजाता है, कि सदानन्द, वल्लभाचार्य से पूर्व हो चुका था।

यह बात इतिहास से सिद्ध है, कि वैष्णव वेदान्त के विशुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य का प्रादुर्भाव विक्रमी सम्वत् १५३५ में हुआ था। इसप्रकार १४७८–७९ ईसवी सन् में श्री वल्लभ का प्रादुर्भाव [1] हुआ। यह आवश्यक है, कि सम्प्रदाय स्थापना के समय कम से कम आयु मानने पर भी बीस पच्चीस वर्ष की आयु का होना असामञ्जस्यपूर्ण न होगा। ज्ञानसम्पादन में भी इतना समय लग सकता है, इसलिये हम यह अनुमान कर सकते हैं, कि श्री वल्लभ ने १५०० ईसवी सन् के लगभग अपने मत की स्थापना की, और सदानन्द यति उससे पूर्व ही स्वर्गवासी हो चुका था। सदानन्द को वल्लभ के अधिक से अधिक समीप लाने पर भी यह स्वीकार करना पड़ता है, कि वह १५०० ईसवी सन् से पूर्व ही अवश्य समाप्त हो चुका था। ऐसी स्थिति में सदानन्द यति का समय, ख्रीष्ट पंचदश शतक का मध्य (१४२० से १४६० तक के लगभग) मानना पड़ता है। सदानन्द यति के अन्यतम ग्रन्थ वेदान्तसार के सम्बन्ध में लिखते हुए डा० कीथ ने भी सदानन्द का यही काल स्वीकार किया है। उसने लिखा [2] है, कि सदानन्द का समय १५०० ईसवी के बाद का नहीं कहा जा सकता।

सदानन्द यति के ग्रन्थ में विज्ञानभिक्षु का उल्लेख—

अब सदानन्द यति के समय का निर्णय हो जाने पर विज्ञानभिक्षु का काल सरलता से निश्चय किया जा सकता है। सदानन्द यति ने अपने ग्रन्थ अद्वैतब्रह्मसिद्धि में विज्ञानभिक्षु का उल्लेख किया है। वह लिखता [3] है।

"*यच्चात्र सांख्यभाष्यकृता विज्ञानभिक्षुणा समाधानत्वेन प्रलपितम्*"

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि सांख्यज्ञान के लिये सदानन्द यति ने विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यभाष्य का अध्ययन किया था, और वेदान्त के विरोध में विज्ञानभिक्षु ने जिस प्रसंगागत मत का समाधान किया है, सदानन्द उसका, खण्डन करने के लिये यहां उल्लेख कर रहा है। इससे एक यह धारणा भी पुष्ट होती है, कि सदानन्द यति के समय तक विज्ञानभिक्षु के भाष्य

---

[1] इसी कारण सर्वदर्शनसंग्रह में भी वल्लभ दर्शन का उल्लेख नहीं है, क्योंकि सर्वदर्शनसंग्रहकार सायण माधवाचार्य का समय १३८० ईसवी सन् के लगभग बताया जाता है, जो निश्चित ही वल्लभ के पूर्व है। जब कि रामानुज और माध्व [पूर्णप्रज्ञ] दर्शन का उल्लेख उक्त संग्रह में विद्यमान है।

[2] The classical example is to be found in the वेदान्तसार of सदानन्द, a work written before A. D. 1500. [The Samkhya System. P. 116. द्वितीय संस्करण, १९२४ ई० सन्]।

[3] अद्वैतब्रह्मसिद्धि, कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित, द्वितीय संस्करण, पृ० २० पर।

का पठन पाठन प्रणाली में पर्याप्त प्रचार हो चुका था। इसलिये अनुमान किया जा सकता है, कि विज्ञानभिक्षु, सदानन्द यति की अपेक्षा पर्याप्त पहले हो चुका होगा।

सदानन्द ने अपने उक्त ग्रन्थ में ही एक और स्थल पर विज्ञानभिक्षु के भाष्य से उसके स्वरचित कुछ श्लोकों को भी उद्धृत किया है। वे श्लोक इसप्रकार [1] हैं।

"प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव नः। प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतनं प्रतिबिम्बनम् ॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते। साक्षाद्दर्शनरूपं च सांक्षित्वं वक्ष्यते स्वयम् ॥
अतः स्यात् कारणाभावाद् वृत्तेः साक्ष्येव चेतनः। इति"

इसके अतिरिक्त विज्ञानभिक्षु के सांख्यभाष्य में उद्धृत कुछ श्लोक और भाष्य के सन्दर्भ को भी सदानन्द यति ने एक और स्थल पर सांख्यभाष्य का नाम लेकर उद्धृत किया है। सदानन्द का लेख इसप्रकार है।

"सांख्यभाष्यकृद्भिश्चोदाहृतम्,
'अक्षपादप्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः। त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोऽशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः ॥
जैमिनीये च वैयासे विरुद्धोंऽशो न कश्चन। श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने श्रुतिपारं गतौ हि तौ ॥
इति पराशरोपपुराणादिभ्योऽपि ब्रह्ममीमांसाया ईश्वरांशे बलवत्त्वम्' इति।
'सांख्यशास्त्रस्य तु पुरुषार्थ-तत्साधन - प्रकृतिपुरुषविवेकावेव मुख्यो विषय इति ईश्वरप्रतिषेधांशबाधेऽपि नाप्रामाण्यम्। यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायात्' इति।"

' ' इन चिन्हों के मध्य का सम्पूर्ण पाठ विज्ञानभिक्षु के सांख्यभाष्य का है। यह प्रथम सूत्र की अवतरणिका में ही उपलब्ध [2] है।

विज्ञानभिक्षु का निश्चित काल—

इन लेखों से स्पष्ट हो जाता है, कि विज्ञानभिक्षु, सदानन्द के समय से इतना पूर्व अवश्य हो चुका था, जितने समय में उसके ग्रन्थों का साधारण पठन पाठन प्रणाली में पर्याप्त प्रचार हो सका। इस काल की अवधि, उस समय की स्थितियों को देखते हुए, यदि एक शतक मान लीजाय, जो कुछ भी अधिक नहीं है, तो भी विज्ञानभिक्षु का समय खीस्ट चतुर्दश शतक का मध्यकाल आता है यदि उस अवधि को अर्द्धशतक भी माना जाय, तो भी चतुर्दश शतक के नीचे विज्ञानभिक्षु का समय खींचा नहीं जासकता। यह लगभग वही समय है, जो सायण माधवाचार्य का है। ऐसी स्थिति में विज्ञानभिक्षु को सायण का समकालीन अथवा उससे कुछ पूर्ववर्त्ती आचार्य ही कहा जासकता है, परचाद्वर्त्ती कदापि नहीं। इस धारणा में हमें कोई भी विरोध

[1] उक्त ग्रन्थ में ही २६० पृष्ठ पर। विज्ञानभिक्षु ने इनको १।८७ सूत्र पर, सूत्रार्थ का संग्रह दिखलाने के लिये स्वयं रचना करके अपने भाष्य में लिखा है।

[2] विद्याविलास प्रेस बनारस से १९०९ ईसवी सन् में प्रकाशित, सांख्यदर्शन के विज्ञानभिक्षु कृत सांख्य-प्रवचन भाष्य के पृष्ठ ४ पर यह सन्दर्भ विद्यमान है।

दिखाई नहीं देता

आज तक किसी भी विद्वान ने कोई भी ऐसा [illegible] प्रमाण उपस्थित नहीं किया है, जो विज्ञानभिक्षु के इस काल में बाधक हो। आधुनिक विद्वान् यही कहते हैं, कि जब सूत्रों की ही रचना चौदहवीं सदी के बाद हुई है, तब भाष्य का उसके पूर्व होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, वह तो अवश्य और भी पीछे होना चाहिये। परन्तु आधुनिक विद्वानों की इस विचारधारा का हम पहले ही विस्तारपूर्वक विवेचन कर चुके हैं।

हमारा अभिप्राय यह है, कि आधुनिक पाश्चात्य और उनके अनुयायी अनेक भारतीय विद्वान् भी किसी भ्रान्ति के आधार पर ही इस बात को मान बैठे हैं, कि षडध्यायी सूत्रों की रचना ख्रीस्ट चतुर्दश शतक के अनन्तर हुई है। परन्तु हमारा निवेदन है, कि आप अपने मस्तिष्क में इस विचार को निकाल दीजिये, और फिर सोचिये, कि ऐसे कौन से हेतु उपस्थित किये जासकते हैं, जिनके आधार पर विज्ञानभिक्षु का उक्त समय मानने में बाधा हो। हम इस बात का निर्देश कर चुके हैं, कि सायण ने स्वयं अपने ग्रन्थ में सांख्यसूत्रों को उद्धृत किया है, और वह सांख्य का नाम लेकर किया [1] है। उस आनुपूर्वी का पाठ सिवाय षडध्यायी के, और किसी भी उपलभ्यमान सांख्य ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं, कि सूत्र और कारिका इन दोनों की समान विद्यमानता में अनेक ग्रन्थकार आचार्यों ने केवल सूत्रों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है, अनेकों ने कारिकाओं को उद्धृत किया है, और बहुतों ने यथासम्भव दोनों को उद्धृत किया है। यह हम अनेक बार लिख चुके हैं, कि यह सब लेखक की अपनी इच्छा और परम्परा पर निर्भर करता है।

यदि इन उद्धरणों के सम्बन्ध की गम्भीर विवेचना में हम उतरें, तो एक बात हमें बहुत स्पष्ट प्रतीत होती है; और वह यह है, कि बौद्ध और जैन साहित्य तथा उनसे प्रभावित दूसरे साहित्य में कारिकाओं के उद्धरण अधिक मिलते हैं। परन्तु आर्य परम्परा के साहित्य में सूत्रों के उद्धरण बहुत अधिक हैं, यद्यपि कारिकाओं के भी पर्याप्त हैं। इस विवेचना से एक यह परिणाम भी स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, कि बौद्ध अथवा जैन आचार्यों की यह प्रवृत्ति, उस काल के अनन्तर ही सम्भावना की जासकती है, जब इन षडध्यायी सूत्रों में बौद्ध जैन मत के खण्डन सूत्रों का प्रक्षेप होचुका होगा, जैसा कि हमने इसी ग्रन्थ के पञ्चम प्रकरण में निर्देश किया है। ऐसी स्थिति में षडध्यायीसूत्रों की प्राचीनता सर्वथा अबाधित है। इसलिये सूत्रों के इस कल्पित कथित रचनाकाल को लेकर, विज्ञानभिक्षु के उक्त कालनिर्णय में कोई भी बाधा उपस्थित नहीं की जा सकती, और इसीलिये आधुनिक विद्वानों का यह कालनिर्णय सम्बन्धी दुर्ग—कि सांख्यसूत्रों की रचना चतुर्दश शतक के अनन्तर मानकर सूत्र-व्याख्याता आचार्यों के काल का निर्णय करना—सहसा भूमिसात् हो जाता है। ऐसी स्थिति में इन आधारों पर विज्ञानभिक्षु का समय ख्रीस्ट

[1] देखिये इसी ग्रन्थ का 'वर्त्तमान सांख्यसूत्रों के उद्धरण' नामक चतुर्थ प्रकरण; उद्धरण संख्या १।

चतुर्दश शतक के मध्य [१३५० ईसवी सन्] के समीप पूर्व ही माना जा सकता है।

महामहोपाध्याय श्रीयुत हरप्रसादजी शास्त्री महोदय ने अपने एक लेख [JBORS.=जर्नल आफ बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसायटी, Vol ६, सन् १६२३, पृष्ठ १५१-१६२] में विज्ञानभिक्षु का समय, ख्रीष्ट एकादश शतक बताया है। परन्तु इस समय को निश्चित रूप में स्वीकार करने के लिये कोई भी प्रमाण अभी हमारे सन्मुख नहीं है। हम इतना ही निश्चयपूर्वक कह सकते हैं, कि चतुर्दश शतक के मध्यभाग से पश्चात्, विज्ञानभिक्षु का समय नहीं हो सकता।

अनिरुद्ध के काल पर विचार—

विज्ञानभिक्षु के काल का निर्णय होने पर, अनिरुद्ध के काल पर अब स्पष्ट प्रकाश पड़ सकता है। कम से कम अनिरुद्ध काल की अपर-प्रतीक के सम्बन्ध में हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं, कि वह विज्ञानभिक्षु से पूर्ववर्त्ती आचार्य है। इसके लिये विज्ञानभिक्षु के सांख्यभाष्य से अनेक संकेतों का निर्देश हम इसी प्रकरण में प्रथम कर चुके हैं।

डा० रिचर्ड गार्बे ने सांख्यसूत्रों पर अनिरुद्धवृत्ति की भूमिका में, सांख्य १।३४ सूत्र की वृत्ति को, सर्वदर्शनसंग्रह के बौद्ध प्रकरण की एक पंक्ति के आधार पर लिखा बताया है, और २।३२ सूत्र के 'उत्पलपत्रशतव्यतिभेद' इस दृष्टान्त को, साहित्यदर्पण की एक पंक्ति के आधार पर, और इन्हीं निर्देशों पर अनिरुद्ध के काल का निर्णय किया है। परन्तु अभी पिछले ही पृष्ठोंमे डॉ० गार्बे के इस भ्रमपूर्ण लेख का हम विस्तारपूर्वक विवेचन और प्रत्याख्यान कर आये हैं।

अनिरुद्धवृत्ति में वाचस्पति का अनुकरण तथा डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे—

२।३२ सूत्र की अनिरुद्धव्याख्या के सम्बन्ध में डॉ० गॉर्बे महोदय[1] ने यह लिखा है, कि व्याख्या का उत्तरार्द्ध, सांख्यकारिका की ३०वीं आर्या के वाचस्पतिमिश्रकृत व्याख्यान की आरम्भिक पंक्तियों के आधार पर ही, अनिरुद्ध ने लिखा है। परन्तु जब हम इन दोनों स्थलों की सूक्ष्मदृष्टि से तुलना करते हैं, तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है, कि डॉ० गॉर्बे महोदय का उक्त लेख, भ्रान्ति पर ही अवलम्बित है। वाचस्पति मिश्र उक्त कारिका के व्याख्यान में, इन्द्रियों की अपने विषयों में क्रमिक और अक्रमिक दोनों ही प्रकार की प्रवृत्ति को वास्तविक मानता है। परन्तु अनिरुद्धने सूत्र के 'अक्रमशः' पद की उदाहरण सहित व्याख्या कर देने पर भी इन्द्रियों की अक्रमिक प्रवृत्ति को वास्तविक नहीं माना। उसने अक्रम स्थल में भी क्रम को ही वास्तविक माना है। और 'उत्पलपत्रशतव्यतिभेद' का दृष्टान्त देकर यह निर्णय किया है, कि क्रम की प्रतीति न होने के कारण ही उक्त स्थल में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को अक्रम कहा गया है, वस्तुतः वहां पर भी क्रम होता ही है। यह सब वाचस्पति मिश्र के व्याख्यान में सर्वथा नहीं है। ऐसी स्थिति में डॉ०

---

[1] डॉ० रिचर्ड गॉर्बे द्वारा सम्पादित, एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता से ई० सन् १८८८ में प्रकाशित सांख्य-सूत्र-अनिरुद्धवृत्ति के अन्त में पद-सूची के अनन्तर संयुक्त किये उपान्त्य पृष्ठ पर।

गॉर्बे महोदय ने किसप्रकार अनिरुद्ध के इस लेख को वाचस्पति के आधार पर बताया, यह बात समझ में नहीं आती, जब कि वाचस्पति मिश्र से भी प्राचीन अन्य व्याख्याकारों ने इस कारिका का जो अर्थ किया है, उसके साथ, प्रकृत सूत्र में अनिरुद्ध के अर्थ की सर्वथा समानता देखी जाती है।

माठरवृत्ति और युक्तिदीपिका दोनों व्याख्याओं में, अक्रम के उदाहरण स्थल में भी क्रम को ही वास्तविक माना है। मारठवृत्ति का लेख इसप्रकार है—

"ह्रस्वकालत्वाद् विभागो न शक्यते वक्तुं ततो युगपदित्युच्यते । यथा बालपत्रशतं सूच्यग्रेण विद्धमिति ।"

अत्यन्त अल्पकाल में ही सहसा उसप्रकार की प्रतीति हो जाने के कारण हम उसके विभाग का कथन नहीं कर सकते, इसीलिये ऐसे स्थलों में इन्द्रियों [एक बाह्येन्द्रिय तथा तीन अन्तःकरणों] की प्रवृत्ति को युगपत् कह दिया जाता है। जैसे सौ कोमल पत्तों की एक राशि को एकदम सुई से बींधने पर एक साथ ही सबके बींधे जाने की प्रतीति होती है, यद्यपि उनके बींधे जाने में क्रम अवश्य विद्यमान रहता है।

युक्तिदीपिकाकार अक्रम के उदाहरण स्थलों में निश्चित ही क्रम का कथन करता है, और युगपद्वृत्तिता को अयुक्त बतलाता है। वह लिखता है—

"मेघस्तनितादिषु क्रमानुपलब्धेर्युगपच्चतुष्टयस्य वृत्तिरित्येतदयुक्तम्"

मेघगर्जन आदि के सुनने में, क्रम की प्रतीति न होने के कारण, श्रोत्र मन अहंकार और बुद्धि वस्तुतः युगपत् ही प्रवृत्त हो जाती हैं, ऐसा मानना अयुक्त है। इन तुलनाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि वाचस्पति मिश्र के प्रतिपादित अर्थ से विपरीत[1] अर्थ का निर्देश करता हुआ

---

[1] वस्तुतः इन्द्रियों की क्रमिकता और अक्रमिकता को लेकर व्याख्याकारों की दो विचारधारा उपलब्ध होती हैं। इस अर्थ का निर्देश करने के लिये मूल पद इसप्रकार हैं—

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः । सांख्यसूत्र २।३२ ॥
चतुष्टयस्य युगपत् क्रमशश्च वृत्तिः । सांख्यकारिका ३० ।

सूत्र में उक्त अर्थ को बहुत संक्षेप से कहा गया है। वहां न तो यह उल्लेख है, कि इनमें से कौन वास्तविक अथवा कौन अवास्तविक है, और न यह उल्लेख है, कि कहां क्रमिकता मानी जाय और कहां अक्रमिकता। पहली बात कारिका में भी नहीं है, परन्तु 'दृष्ट' और 'अदृष्ट' [*दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः, कारिका ३०*] पदों को रखकर दूसरी बात का उल्लेख कारिका में किया गया है, और इसी आधार को लेकर व्याख्याकारों की दो विचारधाराओं का प्रस्फुटन हुआ है। कारिका में 'दृष्ट' पद का अर्थ वर्त्तमान और 'अदृष्ट' का अतीत अनागत है। इसलिये जब हम वर्तमान में किसी पदार्थ को जानते हुए होते हैं, अथवा जाने हुए पदार्थ का स्मरण या प्रत्यभिज्ञान करते हैं, अथवा अनुमान या शब्द प्रमाण से किसी अतीत या व्यवहित पदार्थ को जानते हैं, तब इन सब ही अवस्थाओं में इन्द्रिय युगपत् प्रवृत्त होती हैं, अथवा क्रमशः, यही विचारणीय है। इस सम्बन्ध में माठर और युक्तिदीपिकाकार का निर्णय है, कि दृष्ट और अदृष्ट सब ही स्थलों

अनिरुद्ध किसी भी अवस्था में वाचस्पति का अनुकरण करने वाला नहीं कहा जा सकता। प्रत्युत अनिरुद्ध ने जिस अर्थ का निर्देश किया है, वह माठर और युक्तिदीपिकाकार आदि प्राचीन

में इन्द्रियों की वृत्ति क्रमशः ही होती है। अर्थात् बाह्य इन्द्रिय का अपने विषय के साथ सम्बन्ध होकर इसका तदाकार परिणाम प्रथम, अनन्तर मन से संकल्प, अहंकार से अभिमान और बुद्धि से निश्चय होता है। यहां इन्द्रियों की वृत्ति का क्रमपूर्वक होना है। जहां मेघगर्जन आदि में शब्द के ज्ञान के लिये यह कहा जाता है कि यहां श्रोत्र मन अहंकार और बुद्धि की वृत्ति एक साथ ही होजाती हैं, वहां भी उक्त दोनों व्याख्याकार वृत्ति को क्रमपूर्वक ही मानते हैं। इनके अनन्तर होनेवाला गौडपाद इसका विवेचन इसप्रकार करता है—

दृष्ट में युगपत् और क्रमशः दोनों प्रकार वृत्ति होती है, और अदृष्ट में केवल क्रमशः।

इसके अनन्तर होनेवाला जयमंगलाव्याख्याकार भी गौडपाद के अनुसार ही विवेचन करता है। और उदाहरण में 'अन्धकार' 'विद्युदालोक' आदि का भी उल्लेख करता है। इसके अनन्तर वाचस्पति मिश्र, दृष्ट और अदृष्ट दोनों में ही युगपत् और क्रमशः दोनों प्रकार से इन्द्रियवृत्ति मानता है। और उदाहरण में जयमंगला के समान 'अन्धकार' और 'विद्युदालोक' के उल्लेख के साथ २ जयमंगला में निर्दिष्ट 'सर्पसन्दर्शन' के स्थान पर 'व्याघ्रदर्शन' का उल्लेख करता है। इस परम्परा से यह बात प्रतीत होती है, कि इन्द्रियों की क्रमिकता और अक्रमिकता के सम्बन्ध में कारिका के प्राचीन व्याख्याकार उसी सिद्धान्त को मानते रहे हैं, जिसको अनिरुद्ध ने २।३२ सूत्र की व्याख्या में निर्दिष्ट किया है। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या में प्रतिपादित अर्थ के क्रमिक परिवर्तन पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तो एक और परिणाम भी स्पष्ट होता है। और वह यह है, कि वेदान्तिक विचारों से प्रभावित हुए लेखकों द्वारा किसप्रकार सांख्यसिद्धान्त विकृत किये गये हैं, इसका यह एक उदाहरण और मिल जाता है। सांख्य का इन्द्रियों की वृत्ति के सम्बन्ध में मुख्य सिद्धान्त यही है, कि उन की प्रवृत्ति क्रमिक होती है, युगपत् नहीं। यद्यपि सूत्र में इसका स्पष्ट विवेचन नहीं है, पर सूत्र सदा ही व्याख्यापेक्षी होते हैं। पर व्याख्याकारों ने सूत्र के 'अक्रमशः' पद का यही व्याख्यान किया, कि क्रम की प्रतीति न होने के कारण ही ऐसा कहा जाता है। कारिका के प्राचीन व्याख्याताओं ने भी इसी अर्थ का प्रतिपादन किया। गौडपाद की व्याख्या से उस अर्थ में परिवर्तन होने लगा। और वाचस्पति मिश्र के समय तक वह सर्वथा एक विकृत रूप में स्थिर होगया। उसके अनन्तर सब ही लेखकों ने उसी अर्थ को सांख्यमत के रूप में ही मानना स्वीकार किया। विज्ञानभिक्षु ने भी २।३२ सूत्र में अनिरुद्ध का खण्डन कर, वाचस्पति मिश्र की अपेक्षा एक और कदम आगे बढ़कर, इन्द्रियों के उक्त क्रम और अक्रम का विवेचन केवल बाह्य इन्द्रियों के आधार पर ही कर डाला। और उसके साथ मन की अणुता और अनणुता को भी जोड़ दिया, इसी के अनुसार ३० वीं कारिका की तत्त्वकौमुदी व्याख्या पर टीका लिखते हुए श्री बालराम उदासीन ने भी इसी आधार पर मन की अणुता अनणुता का विवेचन किया है। वस्तुतः सूत्र और कारिका में जो प्रतिपाद्य अर्थ अभिमत है, उसके साथ मन की अणुता और अनणुता से कोई प्रयोजन ही नहीं। हम अभी स्पष्ट कर आये हैं, कि एक बाह्येन्द्रिय का अपने विषय के साथ सम्बन्ध होने पर ही क्रमशः मन अहंकार और बुद्धि की वृत्तियां उद्भव में आती हैं। यही प्रस्तुत प्रसंग में इन्द्रियवृत्तियों की क्रमिकता अक्रमिकता का विवेचन है। केवल बाह्य इन्द्रियों का अपने २ विषय में युगपत् या क्रमशः प्रवृत्त होना, प्रस्तुत प्रसंग का विवेचनीय विषय नहीं है। फिर मन के परिमाण का इससे क्या प्रयोजन? यदि भिक्षु और उदासीन महोदयों के कथनानुसार मन को मध्यम परिमाण मान लिया जाय, तो सर्वथा ही सम्पूर्ण बाह्य इन्द्रियों की अपने २ विषय में युगपत् प्रवृत्ति को कौन नियमन कर सकता!

व्याख्याकारों के अर्थ के साथ अत्यधिक समानता रखता है।

केवल अक्रम के उदाहरण की समानता को लेकर ऐसा कहना तो अयुक्त ही होगा। क्योंकि किसी भी उदाहरण का निर्देश किसी भी लेखक के साथ सम्बद्ध नहीं कहा जा सकता। एक ही उदाहरण को अनेक लेखक बिना एक दूसरे के परिचय के दे सकते हैं, क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग में भय की भावना का प्रदर्शन करने के लिये ही उदाहरण का निर्देश है। उसमें सर्पदर्शन, व्याघ्रदर्शन, चौरदर्शन आदि इसी प्रकार के उल्लेख किये जा सकते हैं। ये सर्वथा साधारण हैं, इनका किसी विशेष लेखक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं कहा जासकता। किसी भी समय में किसी भी उदाहरण का कोई भी लेखक उल्लेख कर सकता है, अनेक लेखक एक उदाहरण का भी उल्लेख कर सकते हैं। फलतः अनिरुद्ध के उक्त लेख को वाचस्पति का अनुकरण कहना सर्वथा भ्रान्ति पर ही आधारित कहा जा सकता है।

डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे महोदय ने इसी प्रकार के एक और प्रसंग का भी उल्लेख, पहले उल्लेख के साथ ही किया है। वे लिखते हैं,कि सांख्यसूत्र १।८६ की अनिरुद्ध व्याख्या के अन्त में एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जो २७वीं सांख्यकारिका की तत्त्वकौमुदी व्याख्या से लिया गया है।

इस सम्बन्ध में कुछ निवेदन करने से पूर्व, हम उस श्लोक को यहां उद्धृत कर देना चाहते हैं। श्लोक है—

"ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया। बुद्ध्यावसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन संमता॥"

[श्लोकवार्त्तिक १२० । प्रत्यक्षलक्षणपरक ४ सूत्र]

यह श्लोक कुमारिलभट्टरचित श्लोकवार्त्तिक का है। जिसका पता हमने ऊपर निर्दिष्ट कर दिया है। डॉ० गॉर्बे महोदय ने ऐसा कोई भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया है जिससे यह निश्चित किया जासके, कि अनिरुद्ध ने वाचस्पति के ग्रन्थ से ही इस श्लोक को लिया है। यह क्यों नहीं कहा जासकता, कि दोनों ने ही इस श्लोक को मूल ग्रन्थ से ही लिया हो ? और इस कथन को सप्रमाण तथा युक्त भी कहा जासकता है। अनिरुद्ध ने मूलग्रन्थ से ही इस श्लोक को अपने ग्रन्थ में लिया होगा, इसके लिये एक यह प्रमाण उपस्थित किया जासकता है।

वाचस्पति मिश्र ने जहां उक्त श्लोक को उद्धृत किया है, उसके साथ ही पहले, दो श्लोक और उद्धृत किये हैं। जिनमें से दूसरा श्लोकवार्त्तिक के उसी प्रकरण का ११२ वां श्लोक है। पहले के मूलस्थान को हम अभी तक मालूम नहीं कर सके हैं। यद्यपि अनिरुद्ध ने श्लोकवार्त्तिक के ११२वें श्लोक में प्रतिपादित निर्विकल्पक ज्ञान का, अपनी वृत्ति में इसी प्रसंग में उल्लेख किया है, परन्तु उसकी प्रामाणिकता के लिये वह इस श्लोक को उद्धृत नहीं करता, केवल १२०वें श्लोक को

है ? जो अनुभव के सर्वथा विरुद्ध है। इसलिये इस प्रसंग में इन दोनों विद्वानों के व्याख्यान अप्रासंगिक एवं असंगत हैं।

उद्धृत करता है। यदि वह इस [१२० वें श्लोक] को वाचस्पति के ग्रन्थ से उद्धृत करता, तो अवश्य ही वह ११२ वें श्लोक को भी यहां उद्धृत कर देता। इतना ही नहीं, प्रत्युत, उसने १२० वें श्लोक के उद्धरण से ठीक पहले ही एक और श्लोक उद्धृत[१] किया है, जो वाचस्पति के ग्रन्थ में बिल्कुल नहीं है। इससे यह और भी स्पष्ट हो जाता है, कि इस [१२०वें] श्लोक को भी अनिरुद्ध, वाचस्पति के लेख से नहीं ले सकता।

वाचस्पति और अनिरुद्ध के लेखों की, गॉर्बे निर्दिष्ट समानता; उनके पौर्वापर्य की निश्चायक नहीं—

इसके अतिरिक्त डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे ने सांख्यसूत्रों पर अनिरुद्धवृत्ति की भूमिका में एक और सूची इसप्रकार की दी है, जिन में सात ऐसे स्थलों का निर्देश किया गया है, जिनको अनिरुद्ध वृत्ति में वाचस्पति के आधार पर लिखा गया बताया है। वे सब स्थल भी ऐसे ही हैं, जो कुछ साधारण उक्तियों के रूप में कहे जा सकते हैं, और कुछ समान पदों के व्याख्यान रूप हैं। ऐसे स्थलों में किसी प्रकार के अर्थभेद की सम्भावना ही नहीं हो सकती। जब एक ही अर्थ को अनेक लेखक प्रतिपादन करते हैं, तब उसमें कुछ समानता का आजाना आश्चर्यजनक नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि वाचस्पति और अनिरुद्ध के लेखों में कहीं कुछ समानता का आभास प्रतीत होता हो, तो वह इनके पौर्वापर्य का निश्चायक नहीं कहा जा सकता। यदि प्रमाणान्तरों से किन्हीं दो व्यक्तियों की पूर्वापरता का निश्चय हो जाता है, तब उनके लेखों की थोड़ी समानता भी उस अर्थ को दृढ़ करनेमें अवश्य ही उपोद्बलक साधन कही जासकती है। हम देखते हैं कि अनिरुद्ध के लेख की जो समानता डॉ० गॉर्बे ने वाचस्पति के लेख के साथ निर्दिष्ट की हैं वे कुछ अंशों को लेकर ही हैं। ऐसा नहीं है, कि वाचस्पति का कोई भी लेख, अविकल आनुपूर्वी से अनिरुद्ध के ग्रन्थ में उपलब्ध हो रहा हो। इसप्रकार किसी अंश को लेकर अनिरुद्ध के उन लेखों में माठरवृत्ति के साथ समानता भी स्पष्ट प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में यह कैसे निश्चय किया जासकता है, कि अनिरुद्ध का वह लेख, माठर के आधार पर लिखा गया है, अथवा वाचस्पति मिश्र के? हमारा अभिप्राय यही है, कि एक ही विषय पर लिखने वाले लेखकों का पौर्वापर्य का निश्चय जब तक कारणान्तरों से न हो जाय, तब तक केवल उनके लेखों में आभासमान समानता के आधार पर ही एक को पूर्व और दूसरे को पर नहीं कहा जासकता।

इतने लेख से हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं है, कि अनिरुद्ध, वाचस्पति मिश्र से पूर्ववर्त्ती आचार्य होना चाहिये। क्योंकि हमारे सन्मुख इस बात का कोई भी साक्षात् प्रमाण अभी

---

[१] वह श्लोक इसप्रकार है—

"शङ्का हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते। गङ्गिनः [illegible] तटस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा॥"

जिसप्रकार अनिरुद्ध ने इसको अपने मूलस्थान से उद्धृत किया है, इसी प्रकार १२० वें श्लोक को भी अपने मूलस्थान श्लोकवार्त्तिक से ही उद्धृत किया है, वाचस्पति के ग्रन्थ से नहीं।

तक उपस्थित नहीं है। हमारा तात्पर्य इतना ही है, कि वाचस्पति और अनिरुद्ध के लेखों की गर्वें निर्दिष्ट समानता, उनके पौर्वापर्य की निश्चायक नहीं हो सकती, अर्थात् अनिरुद्ध के काल की पूर्वप्रतीक, वाचस्पति मिश्र को नहीं कहा जा सकता। कुमारिल भट्ट के श्लोक अनिरुद्धवृत्ति में उद्धृत हैं, और उन उद्धरणों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई सन्देह भी नहीं है। इससे इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि अनिरुद्ध, कुमारिल से पीछे का आचार्य हैं। यह हम पहले निश्चय कर आये हैं, कि विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अनिरुद्ध पर्याप्त प्राचीन है।

विज्ञानभिक्षु से पर्याप्त प्राचीन अनिरुद्ध—

पर्याप्त प्राचीन हमने क्यों कहा? इसका एक विशेष कारण है, यह बात निश्चित है, कि विज्ञानभिक्षु से पूर्व अनिरुद्धवृत्ति की रचना हो चुकी थी। निश्चित ही विज्ञानभिक्षु ने अनिरुद्धवृत्ति को पढ़ा और मनन किया था। विज्ञानभिक्षु के प्रारम्भिक *'पूरयिष्ये वचोऽमृतैः'* इन पदों के होने पर भी हम देखते हैं, कि उसने सांख्य को पूरा करने के लिये सूत्रों पर केवल विस्तृत भाष्य ही लिखा है, सांख्य के सूत्रों में कोई अभिवृद्धि नहीं की है। जितने सूत्रों पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य है, वे सब वही हैं, जिन पर अनिरुद्ध, कभी वृत्ति लिख चुका था। उन सूत्रों में कोई भी विपर्यय अथवा पूर्ण करने के विचार से अधिक योजना विज्ञानभिक्षु ने नहीं की। फिर भी उसने इसे 'कालार्क-भक्षित' बताया है। हमारा अभिप्राय यह है, कि जिस वस्तु को उसने 'कालार्कभक्षित' कहा, और अपने वचनों से उसे पूरा करने की आशा दिलाई, वह यदि केवल सांख्यसूत्र ही हैं, तो उनको अमृत वचनों से पूरा करने का क्या अभिप्राय हो सकता है? यह बात स्पष्ट नहीं होती, जब कि उसने सूत्रों में कोई पद तक भी अपनी ओर से नहीं जोड़ा है। इसलिये प्रतीत होता है, कि उनका संकेत, वृत्तिसहित सूत्रों की ओर है। सूत्रों के समान वृत्ति भी इतनी जीर्ण और अप्रचारित अवस्था में हो चुकी थी, कि सूत्रों की महत्ता के लिये उसका कोई प्रभाव नहीं था। उसी स्थान को, विस्तृत भाष्य लिख कर विज्ञानभिक्षु ने अपने वचनामृतों से पूर्ण किया है, और जिस भावना से वह इन चिरन्तन सूत्रों का उद्धार करने के लिये प्रवृत्त हुआ था, उसमें सफल हो सका। सांख्यसूत्रों का फिर प्रचार हुआ, और इनका पठन पाठन परम्परा में प्रचलन हुआ। इस कारण हम समझते हैं कि अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु से पर्याप्त प्राचीन होगा। हमने यही सब समझकर इस पद का प्रयोग किया है।

हम यह अनुमान कर सकते हैं, कि पर्याप्तता के लिये न्यून से न्यून दो शतक का तथा साधारण रूप से तीन शतक का अन्तर मानना समुचित ही होगा। यदि इन दोनों व्याख्याकारों में तीन शतक का अन्तर सम्भावना किया जाय, तो अनिरुद्ध का समय खीस्ट एकादश शतक के मध्यभाग के लगभग होना चाहिये। अर्थात् १०५० ईसवी सन् के आसपास।

अनिरुद्ध के इस कालनिर्णय में अन्य युक्ति--

अनिरुद्ध के इस कालनिर्णय की पुष्टि में एक और स्वतन्त्र प्रमाण भी हम उपस्थित

करते हैं। सांख्यषडध्यायी के १। ४८ सूत्र की अवतरणिका में अनिरुद्ध ने आत्मा को परिच्छिन्न परिमाण बतलाने के लिये जैन मत [1] का उल्लेख किया है। अभिप्राय यह है, कि अनिरुद्ध की दृष्टि में दार्शनिक विचारों के आधार पर केवल जैन दर्शन ही ऐसा है, जो आत्मा को परिच्छिन्न-परिमाण मानता है, और यही समझकर उक्त सूत्र की अवतरणिका में अनिरुद्ध जैनमत का ही अवतार [1] करता है।

परन्तु विज्ञानभिक्षु ने ऐसा नहीं किया। उसने आस्तिक [2] सम्भाव्य मत का ही आश्रय लिया है। प्रकृत सूत्र में आत्मा के एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाने की गति के आधार पर, उसके परिच्छिन्न-परिमाण पर प्रकाश पड़ता है। इस समय हम इन दोनों व्याख्याताओं के सूत्रार्थ या उसकी युक्तायुक्तता के विवेचन से कोई प्रयोजन नहीं रखते। हमें केवल इतना ही अभिमत है, कि आत्मा की परिच्छिन्नता के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए अनिरुद्ध जैन दर्शन का नाम लेता है। परन्तु विज्ञानभिक्षु इसका सम्बन्ध आस्तिक दर्शन से मानता है। यह स्पष्ट है, कि विज्ञानभिक्षु जैन दर्शन को निश्चित ही नास्तिक दर्शन समझता है। तब हमें विज्ञानभिक्षु के कथनानुसार देखना चाहिये, कि आस्तिक दर्शन में कौन ऐसे आचार्य हैं, जो आत्मा को परिच्छिन्न-परिमाण मानते हैं। यह बात सभी विद्वानों के लिये स्पष्ट है, कि रामानुज आदि वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य ऐसा मानते हैं। अब हमारे सामने यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि जैन दर्शन में और रामानुजादि दर्शन में आत्मा को परिच्छिन्न माना गया है।

प्रस्तुत प्रसंग में हम देखते हैं, कि अनिरुद्ध ने इस निर्देश के लिये जैन मत का ही उल्लेख किया है, रामानुजादि का नहीं। परन्तु विज्ञानभिक्षु इस प्रसंग में आस्तिक पद से रामानुजादि का ही निर्देश करता है। इससे यह परिणाम निकलता है, कि अनिरुद्ध के विचारानुसार उसके समय तक कोई ऐसा आस्तिकदर्शन नहीं था, जो आत्मा को परिच्छिन्न-परिमाण मानता हो। इसीलिये उसने इस प्रसंग में जैन दर्शन का निर्देश किया। परन्तु विज्ञानभिक्षु के समय से पूर्व आस्तिकों में भी रामानुजादि के दर्शन इस विचार के पोषक बन चुके थे। इसलिये उसने पूर्वसूत्रों से ही नास्तिक मतों का खण्डनकर यहां आत्मपरिच्छिन्नता के लिये आस्तिक मत का ही अवतार किया है। इससे यह स्पष्ट होता है, कि अनिरुद्ध का काल, रामानुज मत की स्थापना से पूर्व होना चाहिये। रामानुज का प्रादुर्भावकाल खीष्ट एकादश शतक का अन्त और द्वादश शतक का प्रारम्भ [१०१६—११३६ [3]] कहा जाता है। ऐसी स्थिति में अनिरुद्ध का समय खीस्ट एकादश शतक का अन्त होने से पूर्व ही माना जाना चाहिये।

---

[1] "देहपरिमाण आत्मा इति क्षपणकमतमाह" अनिरुद्धवृत्ति, अवतरणिका १। ४८ सूत्र पर।

[2] नास्तिकमतानि दूषितानि। इदानीं........आस्तिकसम्भाव्यान्यपि......निरस्यन्ते।" विज्ञानभिक्षु भाष्य, १। ४८ सूत्र की अवतरणिका।

[3] सर्वदर्शनसंग्रह, अभ्यंकर संस्करण, पृष्ठ ५१४ के आधार पर।

इस सम्बन्ध में एक यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि अनिरुद्ध ने द्वैतवाद के मूल आधार सांख्यशास्त्र पर व्याख्या लिखते हुए भी जहां कहीं वेदान्त सम्बन्धी विचार प्रकट करने का अवसर आया है, शांकर मत का ही आभास ध्वनित किया है, रामानुज का नहीं, जो कि द्वैतवादी होने के नाते उसके लिये अधिक उपयुक्त हो सकता था। इससे भी अनिरुद्ध का समय, रामानुज से पूर्व होना ही प्रकट होता है।

उद्धरणों के आधार पर—

सांख्यषडध्यायी की अनिरुद्धवृत्ति में एक सौ के लगभग उद्धरण उपलब्ध होते हैं। उनके आधार पर विचार करने से भी अनिरुद्ध का उक्त काल स्वीकार किये जाने में कोई बाधा नहीं आती। यद्यपि अभीतक हम कुछ उद्धरणों के मूल स्थानों का पता नहीं लगा सके हैं, पर जहां तक हम देख पाये हैं, वे उद्धरण भी बारहवीं सदी अथवा उसके अनन्तर लिखे जाने वाले ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हो सके। केवल एक श्लोक ऐसा उपलब्ध हुआ है, जो प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में है। अनिरुद्धवृत्ति में वह इसप्रकार उद्धृत है।

"एकमेव परं ब्रह्म सत्यमन्यद् विकल्पितम्। को मोहः कस्तदा शोक एकत्वमनुपश्यतः॥"[1]

यह श्लोक प्रबोधचन्द्रोदय में इसप्रकार है—

"एकमेव सदा ब्रह्म सत्यमन्यद् विकल्पितम्। को मोहः कस्तदाशोक ऐकात्म्यमनुपश्यतः॥"[2]

इन दोनों पाठों में बहुत थोड़ा अन्तर है। प्रथम चरण में अनिरुद्ध 'परं' पद रखता है, और नाटक में उसके स्थान पर 'सदा' पद है। यह सर्वथा नगण्य अन्तर है। चतुर्थ चरण में भी थोड़ा अन्तर है। परन्तु उस अन्तर में एक विशेष बात यह है, कि अनिरुद्ध का पाठ मूल के बिल्कुल साथ है, और नाटक का पाठ रूपान्तर[3] किया गया है। इससे प्रतीत होता है, कि अनिरुद्ध का पाठ मौलिक और प्राचीन है, तथा नाटक का परिवर्त्तित और अर्वाचीन। अभिप्राय यह है, कि यह श्लोक नाटककार की अपनी रचना नहीं है। पूर्वरचित श्लोक को ही दो एक पदों का विपर्यय करके अपने नाटक में ले लिया है। इस नाटक में और भी ऐसे अनेक श्लोक हैं, जो निश्चित ही नाटककार से प्राचीन आचार्यों के[4] हैं, और उनको कुछ परिवर्त्तन से अपने ढांचे में ढाल

---

[1] षडध्यायी ६।४४ सूत्र पर उद्धृत। पृष्ठ २८०, रिचर्ड गार्बे संस्करण।

[2] प्रबोधचन्द्रोदय नाटक, अङ्क ५, श्लोक १५।

[3] इस श्लोक का उत्तरार्ध ईशोपनिषद् की ७ वीं श्रुति के आधार पर है। अनिरुद्धवृत्ति में मूलश्रुति के अनुसार पाठ है। नाटक में उसका रूपान्तर कर दिया है। ईशोपनिषद् का पाठ है—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'

[4] प्रबोधचन्द्रोदय के चतुर्थ अंक का १८ श्लोक [सोरट १८३६ के त्रिवेन्द्रम संस्करण के आधार पर], इसकी तुलना कीजिये, भर्तृहरि कृत वैराग्यशतक श्लोक २७ के साथ॥ प्र० चन्द्रो० २। १९, २०, २२, श्लोक, तुलना करें चार्वाक मत के साथ॥ पुनः अंक ६ का २० श्लोक, तुलना कीजिये, मुण्डकोपनिषद् ३।१।१ के साथ।

अथवा उसी रूप में यहां लिख दिया गया है। इसलिये यह श्लोक भी इस बात का निर्णायक नहीं हो सकता, कि अनिरुद्ध ने प्रबोधचन्द्रोदय से ही इस श्लोक को लिया है।

इसके और अधिक निर्णय के लिये आवश्यक है, कि प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की रचना के काल पर प्रकाश डाला जाय। इस सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों ने क्या निर्णय किया है, इसका विचार न कर हम केवल प्रबोधचन्द्रोदय की अपनी साक्षी पर ही इसका निश्चय करने का यत्न करते हैं, कि नाटक का रचना काल क्या हो सकता है।

नाटक की प्रारम्भिक भूमिका में ही चन्द्रात्रेय [चन्देल] वंश के राजा कीर्त्तिवर्मा का उल्लेख है, और इस बात का निर्देश किया गया है, कि चेदिपति रुद्र ने चन्देल वंश के राजाओं का उच्छेद कर दिया था। अब राजा कीर्त्तिवर्मा ने वर्त्तमान चेदिपति को परास्त कर चन्देल वंश के आधिपत्य को फिर स्थापित करने का यत्न किया है। उसी विजय के उपलक्ष्य में राजा कीर्त्तिवर्मा के सम्मुख इस नाटक का अभिनय किया जा रहा है।

इतिहास से यह बात निश्चित है, कि चन्देल वंश का राजा कीर्तिवर्मा १०५१-१०६८ खीस्ताब्द में महोबा [1] की गद्दी पर प्रतिष्ठित रहा है। इसने चेदिपति [2] कर्ण अथवा लक्ष्मीकर्ण को युद्ध में परास्त किया। इसका समय शिला लेखों के आधार पर १०४१-१०७० खीस्ताब्द निश्चित है। ऐसी स्थिति में उक्त नाटक के अभिनय का काल १०५५ खीस्ताब्द के आस पास निश्चित हो सकता है। क्योंकि विजय के उपलक्ष्य में राजा कीर्तिवर्मा के सन्मुख ही इस नाटक का अभिनय किया गया था, जो स्वयं नाटक में उल्लिखित है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि अनिरुद्धवृत्ति और प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में जो श्लोक समान रूप से उपलब्ध होता है, उसके आधार पर भी अनिरुद्ध का काल खीस्ट एकादश शतक के अनन्तर नहीं खींचा जा सकता।

वस्तुस्थिति यही है, कि इस श्लोक का मूल स्थान कोई अन्य ही है, जहां से इन दोनों ही ग्रन्थकारों ने इसको लिया है। अनिरुद्ध के पाठ में प्राचीनता की सम्भावना का निर्देश अभी हम ऊपर कर चुके हैं। यदि दुर्जनतोषन्याय से इस बात पर आग्रह ही किया जाय, कि उक्त श्लोक का मूल स्थान नाटक ही है, तो भी हमारे अनुमान में कोई बाधा नहीं। यह निश्चित है, कि रामानुज मत की स्थापना के पूर्व ही अनिरुद्ध का समय होना चाहिये। रामानुज मत की स्थापना का काल खीस्ट एकादश शतक का अन्तिम भाग माना जाता है। इसलिये अनिरुद्ध का समय खीस्ट एकादश शतक के मध्यभाग के समीप से और पीछे नहीं माना जा सकता।

---

१ महोबा, जि० बांदा यू० पी० में चन्देल वंश का प्रसिद्ध अभिज्ञान है।

२ चेदिपति कर्ण हैहय वंश का राजा था। इसका निवास बुन्देलखण्ड में दहाल नामक स्थान था, जिसको हिन्दी में 'डभाल' कहते हैं। इसी प्रदेश का पुराना नाम चेदि है।

Dynast co History of Northarn India by H.C. Ray के अनुसार Epigraphy Indica Vol. 1. P. 219 के आधार पर।

महादेव वेदान्ती

महादेव वेदान्ती और अनिरुद्धवृत्ति—

सांख्यषडध्यायी सूत्रों का अन्यतम व्याख्याकार महादेव वेदान्ती भी है, इसने अपनी व्याख्या, अनिरुद्धवृत्ति के आधार पर लिखी है, और इसीलिये व्याख्या का नाम वृत्तिसार रक्खा है। यह बात इसके प्रथमाध्याय के उपक्रम तथा उपसंहार श्लोकों से स्पष्ट हो जाती है। महादेव का उपक्रम श्लोक इसप्रकार है—

"दृष्ट्वानिरुद्धवृत्तिं बुद्ध्वा सांख्यीयसिद्धान्तम्। विरचयति वृत्तिसारं वेदान्त्यादिर्महादेवः॥"

प्रथमाध्याय के उपसंहार श्लोक इसप्रकार हैं—

*"अत्र मामकसन्दर्भे नास्ति कापि स्वतन्त्रता। इति ज्ञापयितुं वृत्तिसार इत्यभिधा कृता॥
परवाक्यानि लिखता तेषामर्थो विभावितः। कृता संदर्भशुद्धिश्चेत्तेवं मे नाफलः श्रमः॥"*

महादेव और डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे—

महादेव के निश्चित काल को बतलाने वाला कोई भी लेख अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका। आधुनिक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में जो अनुमान किये हैं, उनके आधार पर महादेव, विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा पश्चाद्वर्त्ती आचार्य है। डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे[1] के अनुसार षडध्यायी के प्रथम दो अध्यायों में महादेव ने विज्ञानभिक्षु के भाष्य की प्रतिलिपिमात्र की है। परन्तु इस बात को छिपाने के लिये उसने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में विज्ञानभिक्षु का नाम न लिखकर अनिरुद्ध का नाम लिख दिया है।

महादेव के सम्बन्ध में गॉर्बे का यह कथन, सचमुच ही महादेव के ऊपर एक महान आक्षेप है। परन्तु इन दोनों व्याख्याकारों के सन्दर्भों की जब हम गम्भीरतापूर्वक परस्पर तुलना करते है, तो एक और भावना हमारे सन्मुख आती है। और वह यह है, कि कदाचित् यह संभव हो सकता है, कि विज्ञानभिक्षु ने ही अपनी व्याख्या का आधार, महादेव की व्याख्या को बनाया हो। क्योंकि इन दोनों की तुलना करने पर महादेव की व्याख्या अपने रूप में बहुत ही स्वाभाविक और पूर्ण मालूम देती है। जब कि विज्ञानभिक्षु के भाष्य में उसका ही अधिक विस्तार तथा ऊहापोहपूर्वक अन्य विवेचन सम्मिलित हैं।

महादेव, विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा प्राचीन है—

यदि इस भावना को हम अपने मस्तिष्क से दूर करदें, कि विज्ञानभिक्षु जैसा भाष्यकार दूसरे का अनुकरण कैसे कर सकता है, और निष्पक्ष होकर इसकी विवेचना में प्रवेश करें, तो बहुत सी सचाई हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है।

[1] डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे सम्पादित अनिरुद्धवृत्ति की भूमिका, पृष्ठ ५ पर। बंगाल एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित, खीस्ट १८८८ का संस्करण।

(अ) सब से प्रथम हम देखते हैं, कि महादेव ने स्पष्ट ही अनिरुद्ध का उल्लेख किया है, और उसकी वृत्ति को देखकर अपनी व्याख्या के लिखे जाने का निर्देश किया है। यदि सचमुच ही उसने विज्ञानभिक्षु के भाष्य की प्रतिलिपि की होती, तो वह विज्ञानभिक्षु का ही नाम लिखने में क्यों संकोच करता ? छिपाने की भावना उस समय संगत हो सकती थी, जब कि वह किसी के भी नाम का उल्लेख न करता। विज्ञानभिक्षु के अतिरिक्त, अनिरुद्ध का नाम लिख देने से तो उसे कोई भी लाभ नहीं होता। किसी का भी नाम लिखे, वह अनुकरणकर्त्ता तो कहलायेगा ही। इस सम्बन्ध में कोई भी विद्वान् यह समझ सकता है, कि महादेव इतना मूर्ख तो न होगा, कि वह इस बात को भी न जान पाता। आखिर विज्ञानभिक्षु का नाम न लेकर अनिरुद्ध का नाम लेने में उसका क्या लाभ होगा, और उसने वास्तविकता को क्यों छिपाया होगा, यह बात हमारे सन्मुख स्पष्ट नहीं होती।

(आ) प्रथमाध्याय के उपसंहार श्लोकों में भी उसने स्पष्ट लिखा है कि मेरे संदर्भ में कोई स्वतन्त्रता नहीं है, इसीलिये मैंने इसका नाम वृत्तिसार रक्खा है। वस्तुतः यह केवल उसकी विनम्रता का ही द्योतक है। अनेक सूत्रों में उसने बहुत ही विशेष अर्थों का उद्भावन किया है। ऐसी मनोवृत्ति का व्यक्ति असत्य लिखेगा, यह बात समझ में नहीं आती। फिर यदि वह विज्ञान-भाष्य का ही अनुकरण करता, तो अपनी रचना का नाम 'भाष्यसार' ही रखता, वृत्तिसार क्यों ?

आगे उपसंहार के द्वितीय श्लोक में उसने अपनी रचना के सम्बन्ध में अत्यन्त स्पष्ट विवरण दिया है। वह कहता है, कि दूसरे के वाक्यों को लिखते हुए मैंने उनके अर्थों का ही विभावन अर्थात् प्रकाशन या खुलासा किया है, और पाठ का संशोधन किया है। इसलिये मेरा परिश्रम व्यर्थ न समझना चाहिये।

महादेव के इस लेख से यह स्पष्ट है, कि वह दूसरे की सर्वथा प्रतिलिपि नहीं कर रहा, प्रत्युत पूर्व प्रतिपादित अर्थों को स्पष्ट करने के लिये ही उसका प्रयत्न है। उसका स्वयं निर्दिष्ट यह वर्णन, तभी संगत हो सकता है, जब हम यह मानते हैं, कि उसने अनिरुद्ध निर्दिष्ट अर्थों का ही स्पष्टीकरण किया है। अन्यथा महादेव की रचना को यदि विज्ञानभाष्य की प्रतिलिपि माना जाय, तब उसकी कोई भी प्रतिज्ञा सत्य नहीं कही जासकती। क्योंकि प्रतिलिपि में न अर्थ का विभावन है, और न सन्दर्भ का संशोधन। इसलिये यह मान लेना अत्यन्त कठिन है, कि महादेव ने विज्ञानभाष्य की प्रतिलिपि की है। जो कुछ और जितना महादेव ने किया है, वह स्पष्ट ही उसने स्वयं लिख दिया है। मूर्ख भी चोर, कभी अपने आप को चोर नहीं कहता। महादेव विद्वान् होकर भी ऐसा क्यों करता ?

(इ) ग्रन्थ की आन्तरिक साक्षी भी इस बात को प्रमाणित करती है, कि महादेवने विज्ञान का अनुकरण नहीं किया। षडध्यायी के १।६१ सूत्र पर विज्ञानभिक्षु लिखता है—

"*एतेन सांख्यानामनियतपदार्थाभ्युपगम इति मूढप्रलाप उपेक्षणीयः।*"

सांख्य अनियतपदार्थवादी हैं, इस कथन को विज्ञानभिक्षु, मूर्खों का प्रलाप बतलाता है अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति मे अनेक स्थलों पर सांख्यों को अनियतपदार्थवादी लिखा [1] है। अनिरुद्ध के समान महादेव ने भी इस वाद को स्वीकार किया है। षडध्यायी ५।१०७ सूत्र पर महादेव लिखता है—

"अनियतपदार्थवादिनो हि सांख्याः।"

इससे स्पष्ट होता है, कि महादेव के द्वारा विज्ञानभाष्य की प्रतिलिपि करना तो दूर की बात है। यदि उसने विज्ञानभाष्य का देखा भी होता, तो वह या तो इस वाद को अस्वीकार कर देता, जिसको विज्ञानभिक्षुने मूर्खों का प्रलाप कहा है। अथवा यदि स्वीकार करता, तो विज्ञान के लेख पर कुछ न कुछ आलोचना अवश्य लिखता। वह जानकर इस बात को कैसे सहन करता, कि जिस वाद को विज्ञानभिक्षु मूर्खों का प्रलाप कह रहा है, उसी को वह चुपचाप स्वीकार करले। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि महादेव ने विज्ञानभिक्षु के भाष्य को नहीं देखा। इसलिये निश्चित ही विज्ञानभिक्षु से पूर्व की वह रचना हो सकती है। और इसीलिये यह कहा जा सकता है, कि विज्ञानभिक्षु ने ही इन वृत्तियों का आधार लेकर अपने भाष्य को विशद रूप में लिखा है। महादेव की वृत्ति को तो उसने अपने भाष्य में सर्वात्मना अन्तर्निविष्ट कर लिया है। परन्तु अनेक स्थानों पर उसने सूत्रार्थ करने में अनिरुद्ध का अनुसरण किया है। इसप्रकार 'कालार्कभक्षित' सांख्य को अपने वचनामृतों से पूर्ण करने की प्रतिज्ञा को विज्ञानभिक्षु ने ठीक तरह निभाया है।

(ई)—ग्रन्थ की एक और आन्तरिक साक्षी भी इस बात का प्रमाण है, कि महादेव, विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा पूर्ववर्त्ती व्याख्याकार है। षडध्यायी के ३।९ सूत्र पर विज्ञानभिक्षु लिखता है—

"एकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि बुद्धिश्चेति सप्तदश, अहंकारस्य बुद्धावेवान्तर्भावः।··· एतान्येव सप्तदश लिंगं मन्तव्यं, न तु सप्तदश एकं चेत्यष्टादशतया व्याख्येयम्।"

विज्ञानभिक्षु ने अहंकार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके लिंगशरीर के घटक अवयवों की संख्या सत्रह ही मानी है। सूत्र के 'सप्तदशैकं' पद को 'सप्तदश च एकं च' इस समाहार द्वन्द्व के आधार पर एक पद मानकर, लिंगशरीर के घटक अवयवों की, जिन व्याख्याकारों ने अठारह संख्या मानी है, विज्ञानभिक्षु ने उनका खण्डन किया है। हम देखते हैं, कि अनिरुद्ध के समान महादेव ने भी सूत्र के 'सप्तदशैकं' पद में समाहार द्वन्द्व मानकर लिंगशरीर के अठारह अवयवों का ही उल्लेख किया है। महादेव का लेख इसप्रकार है—

"सप्तदश च एकं चेति समाहारद्वन्द्वः। बुद्ध्यहंकारमनांसि पञ्च सूक्ष्मभूतानि दशेन्द्रियाणीति सूक्ष्मं, लिङ्गमिति चोच्यते।"

इससे भी स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि महादेव ने विज्ञानभिक्षु के ग्रन्थ को नहीं

[1] इसी प्रकरण का प्रारम्भिक भाग देखें।

देखा। यदि वह विज्ञान का अनुकरण करता, तो उसके समान ही लिंगशरीर के अवयवों की सत्रह संख्या मानता, जैसा कि विज्ञानभिक्षु के पश्चाद्वर्त्ती अन्य व्याख्याकारों ने उसका अनुकरण किया है। इसका उल्लेख हमने 'तत्त्वसमास सूत्रों के व्याख्याकार' प्रकरण में किया है। यदि महादेव विज्ञानभिक्षु के मत को स्वीकार न करता, तो अपने से विरुद्ध उसके व्याख्यान के सम्बन्ध में कुछ आलोचना करता, जैसे विज्ञानभिक्षु ने अपने विरुद्ध व्याख्यान की की हैं। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है, कि विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा महादेव पूर्ववर्त्ती व्याख्याकार है।

प्रकरण का उपसंहार—

अब हम इन व्याख्याकारों का क्रम और समय इसप्रकार निर्दिष्ट कर सकते हैं—

१—अनिरुद्ध—खीस्ट एकादश शतक के प्रारम्भ के लगभग,

२—महादेव—खीस्ट त्रयोदश शतक के मध्य के लगभग।

३—विज्ञानभिक्षु—खीस्ट चतुर्दश शतक के पूर्व मध्यभाग के लगभग।

नागेश आदि व्याख्याकारों के सम्बन्ध मे हमने यहां कोई उल्लेख नहीं किया है। क्योंकि उनके समय आदि का विषय विवादास्पद नहीं है, और षडध्यायी सूत्रों की खीस्ट चतुर्दश शतक व अनन्तर रचना मानने या न मानने पर भी उसका कोई प्रभाव नहीं है। इसलिये उसका उल्लेख ग्रन्थ के अनावश्यक कलेवर को ही बढ़ाना होता। अत: समीप के व्याख्याकारों का उल्लेख करने की हमने यहां उपेक्षा करदी है।

तत्त्वसमास सूत्रों के व्याख्याकार

षडध्यायी के अतिरिक्त कपिल की एक और रचना तत्त्वसमास सूत्र हैं। इनकी संख्या कमसे कम २२, और अधिक से अधिक २५ है।[१] कहीं-कहीं सत्ताईस सूत्रोंका भी उल्लेख मिलता है। इन सूत्रों की कई व्याख्या मुद्रित हो चुकी हैं। इन व्याख्याओं का एक संग्रह खीस्ट १९१८ में चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से 'सांख्यसंग्रह' नाम से प्रकाशित हुआ था। उसमें निम्नलिखित व्याख्या संगृहीत हैं।

१—सांख्यतत्त्वविवेचन, श्री षिमानन्द विरचित।

२—तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, श्री भावा गणेश विरचित।

---

[१] संख्या की न्यूनाधिकता का कोई निश्चित कारण नहीं कहा जा सकता। किसी व्याख्याकार ने एक सन्दर्भ के विभाग कर अनेक सूत्र बना दिये हैं, तो किसी ने उसे एक ही सूत्र रहने दिया है। कुछ व्याख्याताओं ने ग्रन्थों में अन्तिम सन्दर्भ का व्याख्यान नहीं किया है। इस कारण भी वहां सूत्रसंख्या न्यून हो गई है। बालराम उदासीन द्वारा परिशोधित तथा व्याख्यात सांख्यतत्त्वकौमुदी की भूमिका पृष्ठ २ में सूत्रों की संख्या सत्ताईस बताई गई है।

३—सर्वोपकारिणी टीका,[1]

४—सांख्यसूत्रविवरण,

५—क्रमदीपिका-तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति,

सांख्य पर कुछ स्वतन्त्र निबन्ध—

इन व्याख्याओं के अतिरिक्त अन्त में कुछ स्वतन्त्र निबन्धों को भी संगृहीत कर मुद्रित कर दिया गया है। इसप्रकार के निम्नलिखित चार निबन्ध हैं।

१—सांख्यतत्त्वप्रदीपिका—

मुद्रित पुस्तक में लेखक के नाम का निर्देश करने वाली कोई पुष्पिका नहीं दी गई। परन्तु प्रारम्भ के द्वितीय श्लोक से इसके रचयिता का पता लगता है। श्लोक इसप्रकार है—

"*भट्टकेशवसम्भूतसदानन्दात्मजः सुधीः। यजुर्वित् केशवः प्राह किञ्चित् सांख्ये यथामति ॥*"

इससे प्रतीत होता है, कि यजुर्वित् केशव ने इस निबन्ध की रचना की, जो सदानन्द का पुत्र और भट्ट केशव का पौत्र था। इसके काल का हम अभी तक कोई निश्चय नहीं कर सके। ग्रन्थकार ने स्वयं भी इसका कुछ निर्देश नहीं किया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह निबन्ध अत्यन्त नवीन प्रतीत होता है। इसके पर्यालोचन से यह स्पष्ट ध्वनित होता है, कि यह लेखक, सिद्धान्त-मुक्तावली के कर्त्ता विश्वनाथ पञ्चानन से भी अर्वाचीन है। पञ्चानन का समय खीस्ट सप्तदश शतक का प्रथम[2] अर्द्ध कहा जाता है। अर्थात् १६३० ईसवी सन के लगभग। यह निबंध सांख्यविषय पर एक साधारण सी रचना है। तत्त्वसमास सूत्रों की व्याख्या इसमें नहीं है और न इसमें इन सूत्रों के क्रम के अनुसार अर्थ का ही निरूपण है।

२—सांख्यतत्त्वप्रदीप—

इसकी अन्तिम पुष्पिका से प्रतीत होता है, कि इसका रचयिता कविराज यति है, जो परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री वैकुण्ठ यति का शिष्य था। यह रचना भी सांख्यविषय पर एक साधारण निबन्धमात्र है। इसमें न तत्त्वसमास सूत्रों की व्याख्या है, और न अर्थ निर्देश ही सूत्र क्रम के अनुसार है। रचना के पर्यालोचन से प्रतीत होता है, कि यह सांख्यतत्त्वकौमुदी के आधार पर संक्षिप्त सा निबन्ध लिखा गया है। रचना अत्यन्त नवीन है, काल का निर्णय नहीं किया जासका।

इस लेखक ने संग्रह के १५६ पृष्ठ पर '*उक्तञ्च सांख्यमूलकारेण*' यह कह कर "*सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्*" यह सांख्यसप्तति की आठवीं आर्या का प्रारम्भिक भाग उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है, कि संभवतः यह लेखक सांख्यसप्तति को ही सांख्य का मूल ग्रन्थ समझता हो। परन्तु इस रचना को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर हमारी धारणा एक और दिशा को झुक जाती

---

[1] मुद्रित पुस्तक में इन अन्तिम तीन रचनाओं के रचयिताओं का कोई निर्देश नहीं है।

[2] अभ्यंकर सम्पादित सर्वदर्शनसंग्रह, पूना संस्करण की अन्तिम सूचियों के आधार पर।

है। इस लेखक ने अपनी रचना में सांख्यतत्त्वकौमुदी का अत्यधिक आश्रय लिया है, और एक स्थल पर तो सांख्यतत्त्वकौमुदी की पंक्तियों को 'सांख्याचार्यों' के नाम पर लिखा है। सांख्य-संग्रह के १६० पृष्ठ पर उसका लेख है—

"कार्यकारणयोरभेदसाधकं प्रमाणं चोक्तं सांख्याचार्यैः। तद्यथा-न पटस्तन्तुभ्यो भिद्यते तद्धर्मत्वात् इह यद्यतो भिद्यते तत् तस्य धर्मो न भवति यथा गौरश्वस्य, धर्मश्च पटस्तन्तूनां तस्मान्नार्थान्तरम्।"

'तद्यथा' के आगे यह सम्पूर्ण सन्दर्भ सांख्यतत्त्वकौमुदी[1] का है। इससे स्पष्ट है, कि वह सांख्याचार्य पद से वाचस्पति मिश्र का ही स्मरण कर रहा है। इस तरह के प्रयोग से यह भी ध्वनित होता है, कि यह लेखक अत्यन्त अर्वाचीन व्यक्ति है। और प्रकृत में इससे हमारा अभिप्राय यह है, कि वाचस्पति की कृति को वह सांख्य की व्याख्या और उसका मूल, सांख्यकारिका को समझता है, क्योंकि उसी की यह व्याख्या है। लेखक ने अपनी रचना में इस व्याख्या का अत्यधिक आश्रय लिया है, इसलिये यह जिस ग्रन्थ की व्याख्या है, उसको ही उसने मूल पद उल्लेख किया है। उसके लेख का यह अभिप्राय नहीं निकाला जासकता, कि वह सांख्यकारिका को ही सांख्य का मूल ग्रन्थ समझता हो। क्योंकि उसने उक्त पंक्ति के आगे ही लिखा है—

"मतपर्यालोचनेन यन्मतं कपिलसूत्रनिबद्धं प्रधानसाधनानुगुणं तदेव युक्तिसहम्"

इससे स्पष्ट है, कि वह कपिल के द्वारा सूत्रों की रचना को स्वीकार करता है। और उनमें जिन विचारों या अर्थों का प्रतिपादन किया गया है, उन्हीं अर्थों का निरूपण कारिका आदि में मानता है। इसलिये उक्त पंक्ति में 'सांख्यमूल' पद से उसका अभिप्राय सांख्यतत्त्वकौमुदी व्याख्या के मूल ग्रन्थ से ही प्रतीत होता है।

३—तत्त्वमीमांसा—

इसकी अन्तिम पुष्पिका से प्रतीत होता है, कि इसके रचयिता का नाम आचार्य कृष्ण-मित्र है। जो रामसेवक का पुत्र और देवीदत्त का पौत्र था। यह रचना भी सांख्यतत्त्वकौमुदी के आधार पर सांख्यविचारों का प्रतिपादक एक साधारण निबन्धमात्र है। यह कब रचा गया, इसका कुछ निश्चय नहीं, पर यह है अत्यन्त नवीन।

४—सांख्यपरिभाषा—

इसका नाममात्र ही 'सांख्यपरिभाषा' है। सांख्यतत्त्वों की परिभाषा इसमें सर्वथा नहीं है। 'अथ गुरुः' 'अथ शिष्यः' 'अथ शुद्धत्यागः' इत्यादि शीर्षक देकर गद्य अथवा पद्य में कुछ रचना की हुई है। एक स्थल पर 'अथाद्वैतभक्तिः' शीर्षक है, और कुछ गद्य तथा पद्य दिया हुआ है। प्रतिपाद्य विषय से सांख्य का कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। विषय निर्देश

---

[1] नवम सांख्यकारिका की तत्त्वकौमुदी में यह पाठ है। पृष्ठ १२७। बालराम उदासीन संस्करण। संवत् १६६१ में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित॥

असम्बद्ध सा ही है। रचयिता का पता नहीं, रचना अत्यन्त नवीन है।

तत्त्वसमाससूत्र-व्याख्या, सांख्यतत्त्वविवेचन—

इसके अनन्तर तत्त्वसमास सूत्रों की उन पांच व्याख्याओं का विवेचन किया जाता है, जिनका उल्लेख अभी किया गया है। मुद्रित क्रम के अनुसार ही हमने अपने विवेचन का क्रम रक्खा है। रचनाकाल के अनुसार इनका क्रम, इस विवेचन के अनन्तर ही स्फुट हो सकेगा।

१—सांख्यतत्त्वविवेचन—

इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक श्लोक से ही इसके रचयिता का नाम श्री षिमानन्द[1] निश्चित है। इसके पिता का नाम रघुनन्दन था, और निवासस्थान का नाम इष्टिकापुर[2] अथवा इष्टकापुर।

इस ग्रन्थ के दो विभाग किये जासकते हैं, एक में सूत्रों का व्याख्यान है, और दूसरा निबन्धात्मक है, जिसमें स्वतन्त्र रूप से सांख्यमत का निरूपण किया गया है।

प्रथम भाग में जितने सूत्रों की व्याख्या की गई है, उनकी संख्या बाईस है। मुद्रित पुस्तक में तीन सूत्र मोटे टाईप में और छापे हुए हैं। उनपर व्याख्या नहीं है। परन्तु व्याख्याकार ने प्रारम्भिक चतुर्थ श्लोक में पच्चीस[3] सूत्र होने का निर्देश किया है। कई व्याख्याओं में इसके सप्तम सूत्र को तीन सूत्रों में विभक्त करके लिखा गया है।

इस ग्रन्थ में प्रथम सूत्र के व्याख्यान का प्रारम्भिक अधिक भाग, भावा गणेश की व्याख्या 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' के आधार पर लिखा गया प्रतीत होता है। इतने भाग में गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण है। इसके अनन्तर प्रथम सूत्र का शेष व्याख्यान और आगे के सम्पूर्ण सूत्रों का व्याख्यान पद्य में ही उपनिबद्ध किया गया है। केवल १३ वें पृष्ठ पर एक जगह चार पंक्ति गद्य रूप हैं। यह सम्पूर्ण भाग, क्रमदीपिका नामक तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति का अक्षरशः श्लोकानुवाद है। इसप्रकार इस ग्रन्थ का यह प्रथम सूत्रव्याख्यात्मक भाग अन्य पूर्ववर्ती दो ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है।

षिमानन्द का काल—

तत्त्वयाथार्थ्यदीपन का रचयिता भावा गणेश, षिमानन्द से पूर्ववर्त्ती आचार्य है।

---

[1] सांख्यसंग्रह ग्रन्थ के सम्पादक श्री पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद जी ने टिप्पणी में लिखा है, कि कदाचित् यह नाम 'क्षेमेन्द्र' होगा, सम्भवतः 'षिमानन्द' मातापिता के लाड का नाम हो, और सर्वत्र वही प्रसिद्ध होने के कारण यहां भी उसी का उल्लेख किया गया हो। इसी व्यक्ति की एक और रचना भी 'नव्यन्याय-रत्नाकर' अथवा 'नवकल्लोल' (पंजाब यूनिवर्सिटी लाईब्रेरी लाहौर) नामक ग्रन्थ उपलब्ध होता है। वहां भी इसका नाम षिमानन्द और पिता का नाम रघुनन्दन दीक्षित लिखा है। [खेद है, लाहौर के पाकिस्तान में चले जाने से वह ग्रन्थ वहीं रह गया]

[2] संभवतः यह स्थान संयुक्तप्रदेश [अभी एक सप्ताह से उत्तरप्रदेश] का आजकल प्रसिद्ध 'इटावा' नामक नगर होगा।

[3] "एवं पृष्टो मुनिः प्राह निर्विण्णाय कृपानिधिः। पञ्चविंशतिसूत्राणि व्याख्यास्यामि महात्मभिः ॥"

इसके लिये हम एक प्रमाण चिमानन्द के ग्रन्थ से ही उपस्थित करते हैं।

सांख्यसिद्धान्त में सूक्ष्मशरीर अठारह तत्त्वों का संघात माना गया है। तेरह करण और पांच सूक्ष्मभूत। सांख्यकारिका के सब ही व्याख्याकारों[1] ने इस सिद्धान्त को समान रूप

[1] माठरवृत्ति, कारिका ४०। और कारिका ४२ की अवतरणिका। गौडपाद भाष्य, कारिका ४२। सुवर्ण-सप्तति, कारिका, ४०, ४१, ४२। जयमंगला, कारिका, ४०। सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका ४०।

सुवर्णसप्तति के विद्वान् सम्पादक श्रीयुत न० अय्यास्वामी शास्त्री ने इसी पुस्तक की भूमिका के ४० पृष्ठ पर यह लिखा है, कि सुवर्णसप्तति में सूक्ष्मशरीर के सात ही अवयव माने हैं। और सम्भवतः गौडपाद भाष्य में आठ। यह इन दोनों व्याख्याओं में एक पर्याप्त समानता प्रतीत होती है। जब कि अन्य व्याख्याओं में स्पष्ट ही अठारह अवयवों का उल्लेख है, और ईश्वरकृष्ण की कारिका भी इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं करती। भूमिका लेखक के विचार में सुवर्णसप्तति के उक्त लेख का आधार कोई षष्टितन्त्र जैसा प्राचीन ग्रन्थ होगा, जब कि सूक्ष्मशरीर के अवयवों के सम्बन्ध में विद्वानों का अनिश्चयात्मक ही ज्ञान रहा होगा।

श्री शास्त्री महोदय के इस लेख के संबन्ध में हमारा निवेदन है, कि ईश्वरकृष्ण ने ४० वीं कारिका में सूक्ष्मशरीर के अवयवों का स्पष्ट निर्देश किया है। उसके पद हैं—'महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्'। महत से लेकर सूक्ष्मपर्यन्त लिंगशरीर होता है। कारिकाओं में निर्दिष्ट, तत्त्वों के उत्पत्तिक्रम के अनुसार गणना करने पर 'महत्' से लेकर सूक्ष्मभूत पर्यन्त १८ तत्त्व होजाते हैं। फिर कारिकाकार के संबन्ध में यह सन्देह कैसे किया जा सकता है, कि उसने इसके लिये कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया।

सुवर्णसप्तति और गौडपाद की व्याख्या में भी इस अर्थ का स्पष्ट उल्लेख है। प्रतीत यह होता है, कि ४० वीं कारिका की प्रारम्भिक पंक्तियों में सुवर्णसप्तति के एक लेख से संभवतः श्रीयुत शास्त्री महोदय को ऐसा भ्रम होगया हो। वहां पर *'एतानि सप्त सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते'* ऐसा लिखा है। यहां सात, बुद्धि अहंकार और पांच तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूत हैं। एकादश इन्द्रियों का निर्देश नहीं है। हमारा निवेदन यह है, कि यदि सूक्ष्मशरीर के साथ एकादश इन्द्रियों का निर्देश यह व्याख्याकार कहीं भी न करता, तो यह कहा जासकता था, कि वह इन सात तत्त्वों को ही सूक्ष्मशरीर का अङ्ग मानता है। परन्तु व्याख्याकार ने कुछ पंक्तियों के बाद ही इस अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। वह लिखता है—

"तत्सूक्ष्मशरीरमेकादशेन्द्रियसंयुक्तं······त्रीन् लोकान् संसरति"।

इससे व्याख्याकार का अभिमत स्पष्ट होजाता है, कि वह सूक्ष्मशरीर में अष्टादश तत्त्वों को मानता है। कदाचित् कोई कह सकता है, कि यहां व्याख्याकार ने केवल सूक्ष्मशरीर के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध बताया है, शरीरमें उनका समावेश नहीं। इन्द्रियां पृथक् हैं, और सात तत्त्वों का शरीर पृथक्। उक्त पंक्ति में उन दो के केवल सम्बन्ध का ही निर्देश है। परन्तु यह कहना भी सगत न होगा। क्योंकि व्याख्याकार यदि सर्वत्र ही सूक्ष्मशरीर से इन सात तत्त्वों का ही उल्लेख करता, तब ऐसा कहना उचित होता। परन्तु व्याख्याकार ने प्रकारान्तर से भी इस अर्थ का निर्देश किया है। वस्तुतः सूक्ष्मशरीर के सम्बन्ध में यह विवेचन समझे रहना चाहिये, कि इन अठारह तत्त्वों में से पांच सूक्ष्मभूत आश्रयरूप होते हैं, और तेरह करण आश्रित। इन सबका मिलित समुदाय सूक्ष्मशरीर या लिंगशरीर कहलाता है। इसी आधार को लेकर अनेक स्थलों पर सुवर्णसप्तति व्याख्याकार ने लिंगशरीर के तत्त्वों का निर्देश किया है।

१० वीं आर्या की व्याख्या में चीनी अनुवाद का एक पाठ इसप्रकार है—

"········त्रयोदशविधकरणैः सूक्ष्मशरीरं संसारयति।"

४१ वीं कारिका की व्याख्या में वह लिखता है—

से स्वीकार किया है। सांख्यकारिका की चालीसवीं [1] आर्या में ईश्वरकृष्ण ने भी इसी विचार

"तस्मात् सूक्ष्मशरीरं विहाय, त्रयोदशकं न स्थातुं क्षमते"

पुनः ४२ कारिका की अवतरणिका में लिखता है—

"इदं सूक्ष्मशरीरं त्रयोदशकेन सह······संसरति।"

फिर ४२ वीं कारिका की व्याख्या में लिखता है—

"सूक्ष्मशरीरमप्येवं त्रयोदशकेन संयुक्तं······अवस्थात्मना परिणमते।"

पुनः ६२ वीं कारिका की व्याख्या में इसप्रकार उल्लेख है—

"पञ्चतन्मात्ररूपसूक्ष्मशरीरं त्रयोदशविधकरणैर्युक्तं ······त्रिविधलोकसर्गान् संसरति।

इन लेखों से स्पष्ट होता है, कि यदि व्याख्याकार सूक्ष्मशरीर में केवल सात तत्त्वों को मानता, तो उसका यह—एकादश इन्द्रियों के साथ बुद्धि और अहंकार को जोड़कर त्रयोदश करण का सूक्ष्मशरीर के साथ निर्देश करना सर्वथा असंगत होजाता। इसलिये यही कहा जासकता है, कि अर्थ को स्पष्ट करने के लिये यह केवल अर्थ-निर्देश के विविध प्रकार हैं।

जहां केवल सात का निर्देश किया गया है, वहां आदि और अन्त के तत्त्वों का ही निर्देश है, मध्यवर्त्ती तत्त्वों का उससे प्रतिषेध नहीं हो जाता, जब कि अन्य स्थलों पर उन सब का ही निर्देश किया गया है।

इसके सम्बन्ध में यह भी कल्पना की जासकती है, कि संभवतः यहां कुछ पाठ खण्डित हो गया हो। इस समय जो पाठ उपलब्ध है, उसके 'सप्त' और 'सूक्ष्म' इन दो पदों के मध्य में कदाचित् '*इन्द्रियाणि चैकादश*' इतना पाठ और हो। क्योंकि इसी कारिकाव्याख्या की अगली पंक्ति के आधार पर, जिसका हमने अभी ऊपर उल्लेख किया है, इस तरह के पाठ की यहां संभावना होसकती है। इसके अतिरिक्त भी कम से कम इन उपर्युक्त लेखों के रहते इतना तो अवश्य कहा जासकता है, कि सूक्ष्मशरीर सम्बन्धी ये लेख, किसी ऐसी अवस्था के बोधक नहीं होसकते, जब कि इसके सम्बन्ध में विद्वानों का अनिश्चयात्मक ज्ञान था। षष्टितन्त्र के काल में इसका अनिश्चयात्मक ज्ञान था, इसके लिये भी कोई आधार नहीं है।

गौडपाद भाष्य में भी सूक्ष्मशरीर के अठारह तत्त्वों का उल्लेख है। ४२ वीं कारिका की व्याख्या में वह लिखता है—

"लिंगं सूक्ष्मैः परमाणुभिस्तन्मात्रैरुपचितं शरीरं त्रयोदशविधकरणोपेतं मानुषदेवतिर्यग्योनिषु व्यवतिष्ठते।"

यहां स्पष्ट ही सूक्ष्मशरीर के अठारह तत्त्वों का निर्देश है, ४० कारिका की व्याख्या में आदि अन्त के तत्त्वों का ही उल्लेख किया है, इससे मध्यगत इन्द्रियों का निषेध नहीं हो जाता, अन्यथा मूल कारिका के पदों की व्याख्या का सामञ्जस्य ही न हो सकेगा। मूल कारिका के पदों से यह स्पष्ट है, कि सूक्ष्मशरीर में अठारह तत्त्व होते हैं। सूक्ष्मशरीर में सात या आठ ही तत्त्वों का होना, कारिका के किन पदों का अर्थ माना जासकता है, वस्तुतः ऐसा अर्थ किये जाने पर, मूल से व्याख्या का निश्चित ही विरोध होगा। ऐसी स्थिति में सहस्रों वर्ष पुराने, किन्हीं खण्डित विपर्यस्त या उपेक्षित पाठों के आधार पर निश्चित सिद्धान्तों में सन्देह की उद्भावना उस समय तक रुचिकर नहीं हो सकती, जब तक कि उनका सूक्ष्म पर्यालोचन न कर लिया जाय।

[1] ईश्वरकृष्ण की मूल कारिका के सम्बन्ध में हमने उक्त टिप्पणी में निर्देश कर दिया है। श्रीयुत [illegible] महाशय ने भी इस बात को स्वीकार किया है, कि २२, २४, २५, ३१ कारिकाओं को मिलाकर देखने से यह अर्थ स्पष्ट होता है।

को माना है। सांख्यषडध्यायी में सूत्र है—'सप्तदशैकं लिङ्गम्' [३।६] इसका अर्थ भी अनिरुद्ध व्याख्याकार ने सप्तदश=सत्रह और एक अर्थात् अठारह किया है, और उपर्युक्त १८ तत्त्वों से ही लिंगशरीर की रचना स्वीकार की है। सांख्यषडध्यायी के उपलभ्यमान व्याख्यानों में अनिरुद्ध सब से प्राचीन है। उसके अनन्तर होने वाले महादेव ने भी उक्त सूत्र का यही अर्थ किया है।

अब सर्वप्रथम विज्ञानभिक्षु ही ऐसा व्यक्ति है, जिसने सूक्ष्मशरीर में सत्रह तत्त्वों का ही समावेश माना है, अथवा यह कहा जा सकता है, कि षडध्यायी के उक्त ३।६ सूत्र का उसने ऐसा अर्थ किया है, और बुद्धि अहंकार को एक गिन कर सूक्ष्मशरीर में सत्रह ही तत्त्वों का समावेश माना है। हमारा अभिप्राय यह है, कि वस्तुतः उन तत्त्वों के अठारह रहने पर भी, दो को एक जगह गिनकर उनकी संख्या सत्रह मानी है। विज्ञानभिक्षु से पूर्व किसी भी अन्य आचार्य का ऐसा लेख हमें अभी तक नहीं मिला है। अर्थात् लिंगशरीर के अवयवों की सत्रह संख्या सम्बन्धी विचारधारा का उद्भावन करने वाला सर्वप्रथम आचार्य विज्ञानभिक्षु ही है। इसी के अनुसार षिमानन्द ने भी अपने ग्रन्थ के निबन्धात्मक द्वितीय भाग में पृष्ठ ३६ पर इस मत को स्वीकार किया है। प्रतीत यह होता है, कि उसने विज्ञानभिक्षु के लेख के आधार पर ही अपना यह मत प्रकट किया है, और इस सम्बन्ध में अन्य प्राचीन व्याख्याकारों या लेखकों के विचार की उपेक्षा करदी है। इससे परिणाम निकलता है, कि षिमानन्द, अवश्य विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अर्वाचीन होगा, और उसके लेख में श्रद्धा भी रखता होगा। भावा गणेश, विज्ञानभिक्षु का प्रसिद्ध शिष्य था, इसलिये उसका अनन्तरवर्त्ती समकालिक भी था। ऐसी स्थिति में भावा गणेश के ग्रन्थ का अपने ग्रन्थ में आश्रय लेना षिमानन्द के लिये असम्भव नहीं है।

क्रमदीपिका व्याख्या, जिसका षिमानन्द ने अक्षरशः श्लोकानुवाद किया है, वह भावा गणेश से भी प्राचीन है। इसका निर्देश 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' के प्रसंग में किया जायगा। इसलिये यह कल्पना नहीं की जा सकती, कि क्रमदीपिका, षिमानन्द के ग्रन्थ के आधार पर लिखी गई। अतएव हमारा यह अनुमान संगत हो सकता है, कि सांख्यतत्त्वविवेचन अपने पूर्ववर्त्ती अन्य दो ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है।

षिमानन्द के एक और ग्रन्थ का इस प्रसंग के प्रारम्भ की टिप्पणी में हम उल्लेख कर चुके हैं। इसका नाम 'नवन्यायरत्नाकर' अथवा 'नवकल्लोल' है। इसका हम निश्चय नहीं कर सके, कि अभी तक यह ग्रन्थ कहीं प्रकाशित हुआ है या नहीं? परन्तु इसकी एक हस्तलिखित प्रति, पञ्चनद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में संख्या ६५६१ पर सुरक्षित है। उसके प्रारम्भिक श्लोक और अन्तिम पुष्पिका के आधार पर इस बात का निश्चय हो जाता है, कि सांख्यतत्त्वविवेचन और इस ग्रन्थ का रचयिता षिमानन्द एक ही व्यक्ति है। प्रारम्भिक चतुर्थ पञ्चम श्लोक इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। श्लोक हैं—

"चिकीर्षति षिमानन्दः परमं हृदयंगमम्। ग्रन्थं संभाविसुधियां न्यायरत्नाकरं नवम्॥

येन न्यायसुधाम्भोजमपूरि श्रवणे मम । शान्तावन्तमसं चान्तः ? स तं दिनकरं स्तुः ॥"

ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका इसप्रकार है—

"इति श्री कान्यकुब्जतिलक इष्टकापुरनिवासिदीक्षितरघुनन्दनसुतविमानन्दकृते नवन्यायरत्नाकरे गौतमसूत्रव्याख्यानरूपो नवकल्लोल: समाप्ति समाप्तः ॥ संवत् १७४८ ॥ ॥ श्री भवाणीशहाय: ॥"

नवन्यायरत्नाकर के इन उल्लेखों मे दो बातों का और अधिक पता लग जाता है ।

(१)–पञ्चम श्लोक में विमानन्द ने अपने गुरु दिनकर का नाम-निर्देश किया है। दिनकर, विमानन्द का न्यायशास्त्र का गुरु प्रतीत होता है।

(२)–इस प्रति का, संवत् १७४८ में लिखा जाना ।

यदि विमानन्द के गुरु दिनकर को, मुक्तावली का व्याख्याकार दिनकर मिश्र ही समझा जाय, तो इनका कालसम्बन्धी विवेचन अधिक स्पष्ट हो जाता है । सर्वदर्शनसंग्रह की अन्तिम सूचियों में अभ्यंकर महोदय ने दिनकर का समय खीस्ट १६६० लिखा है । परंतु इस प्रतिलिपि का संवत् १७४८ है, जो १६६१ ख्रीस्ट में आता है । इस प्रतिलिपि के अन्तिम 'श्री भवाणीशहाय:' पदों से यह बात प्रतीत होती है, कि यह प्रति ग्रन्थकार की स्वयं लिखी हुई नहीं है । प्रत्युत किसी अन्य व्यक्ति ने, किसी पहली प्रति के आधार पर प्रतिलिपि की है । उस प्रतिलिपिकार ने ही संवत् और इन अन्तिम पदों का उल्लेख किया है । विमानन्द स्वयं इस तरह के अशुद्ध पदों का प्रयोग नहीं कर सकता था । संवत् का निर्देश भी यदि वह स्वयं करता, तो उसे श्लोकबद्ध कर सकता था, जैसा कि लेखक की इच्छा होने पर श्लोकरूप में ही अपना संवत् लिख देने की प्रथा रही है । इसप्रकार से पृथक् संवत् लिखने की प्रथा, ग्रन्थ रचयिताओं में नहीं पाई जाती । हमारा अभिप्राय यह है, कि यह संवत् प्रतिलिपि का है, विमानन्द की रचना का नहीं । ऐसी स्थिति में विमानन्द का काल अवश्य इससे कुछ पूर्व ही माना जाना चाहिये । इसलिये खीस्ट सप्तदश शतक के पूर्वार्द्ध में उनका विद्यमान होना सामञ्जस्यपूर्ण हो सकता है, और यही काल दिनकर का भी माना जा सकता है। तात्पर्य यह है, कि ख्रीस्ट सप्तदश शतक के पूर्वार्द्ध के अनन्तर विमानन्द का काल नहीं माना जा सकता ।

इसके अतिरिक्त 'नवन्यायरत्नाकर' के प्रारम्भिक तृतीय श्लोक के आधार पर एक उद्द्योतचन्द्र नामक राजा का निर्देश मिलता है । जो सम्भवत: विमानन्द का आश्रयदाता होगा । अथवा विमानन्द उसकी राज्य सीमा में निवास करता होगा । विमानन्द ने सपरिवार उसकी रक्षा के लिये भगवान् से प्रार्थना की है । श्लोक इसप्रकार है—

आनन्द: सच्चिदात्माद्वय इति निगमैर्लक्षितो योगिनां च,
ध्येय: कर्त्रास्य[1] भर्त्राप्ययमपि विदधन्मूर्तिभेदैरनन्तः ।

---

[1] हस्तलिखित प्रति में पाठ यही पढ़ा गया है । परन्तु इसकी अर्थसंगति ठीक नहीं होती । कदाचित् यहां 'कर्त्तास्य भर्त्ताप्ययमपि' यह पाठ होना चाहिये ।

अव्यक्तो व्यक्तरूपो गणितबहुगुणोऽचिन्त्यशक्तिर्नियन्ता,

रामः पायादपायात् परिवृतिसहितोद्योतचन्द्रं धरेशम् ॥

वह राजा उद्योतचन्द्र किस भूभाग का किस काल में शासन कर रहा था, इन सब बातों का अभी निर्णय करना हमारे लिये कठिन है।

षिमानन्द की रचना के काल का निर्देश करने के लिये जो साधन उपलब्ध हो सके हैं, उनका उल्लेख कर दिया गया है। इसप्रकार उपर्युक्त आधारों पर केवल इतना कहा जासकता है, कि यह ख्रीस्ट सप्तदश शतक के प्रारम्भिक भाग के अनन्तर नहीं माना जा सकता। विज्ञानभिक्षु के पूर्व-निर्दिष्ट काल के अनुसार भावागणेश का समय ख्रीस्ट चतुर्दश शतक का अन्त हो सकता है। उसके अनन्तर ही षिमानन्द का काल अनुमान किया जाना चाहिये।

तत्त्वसमास सूत्रों पर भावागणेश की व्याख्या तत्त्वयाथार्थ्यदीपन—

२—तत्त्वयाथार्थ्यदीपन

इस ग्रन्थ का रचयिता विज्ञानभिक्षु का शिष्य भावागणेश है, यह इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है। तीसरे श्लोक के आधार पर यह भी स्पष्ट होता है, कि भावागणेश ने इस व्याख्या के लिखने में, तत्त्वसमास सूत्रों की पञ्चशिखकृत व्याख्या का आश्रय लिया[1] है, और भिन्न भिन्न स्थलों पर पञ्चशिख का नाम लेकर चार श्लोक भी उद्धृत किये हैं।

भावागणेश की व्याख्या का आधार—

अभी तक तत्त्वसमास सूत्रों पर पञ्चशिख के नाम की कोई भी व्याख्या हमें उपलब्ध नहीं हुई। परन्तु इस विचार से, कि भावागणेश ने अपनी व्याख्या के लिखने में किसी प्राचीन व्याख्या का आश्रय लिया है, जब हमने सांख्यसंग्रह में मुद्रित तत्त्वसमास सूत्रों की पांचों व्याख्याओं की परस्पर तुलना करके गंभीरतापूर्वक देखा, तब हमारे सन्मुख एक विचार उपस्थित हुआ है, और वह यह है, कि भावागणेश ने अपनी व्याख्या के लिखने में जिस प्राचीन व्याख्या का आश्रय लिया है, वह संभवतः क्रमदीपिका नाम की व्याख्या होसकती है, जो उक्त संग्रह में संख्या पांच पर मुद्रित है। यहां इसके रचयिता के नाम का कोई भी निर्देश नहीं मिलता। यह हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं, कि यह व्याख्या कपिल के प्रशिष्य पञ्चशिख की रचना नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें कुछ कारिकाओं के निर्देश[2] मिलते हैं, और एक स्थल ('पुरुषः' इस सूत्र) पर स्वयं व्याख्याकार, पञ्चशिख का सांख्याचार्यों में इसप्रकार नाम उल्लेख करता है—

"एवं तावत् सांख्याचार्याः कपिलासुरिपञ्चशिखपतञ्जलिप्रभृतयो बहून् पुरुषान् वर्णयन्ति।"

पञ्चशिख स्वयं यह उल्लेख कैसे करता। फिर भी यह निःसन्दिग्ध है, कि यह पर्याप्त प्राचीन

---

[1] समाससूत्राण्यालम्ब्य व्याख्यां पञ्चशिखस्य च। भावागणेशः कुरुते तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम् ॥३॥

[2] देखिये, 'दश मूलिकार्थाः' इस सूत्र की व्याख्या।

व्याख्या है, और यह भी संभव है, कि इसी व्याख्या के आधार पर भावागणेश ने अपनी रचना का हो।

यद्यपि भावागणेश अपनी रचना में यह लिखता है, कि उसने अपनी कृति में पञ्चशिख की व्याख्या का आश्रय लिया है, और हम यह कह रहे हैं, कि उसकी व्याख्या का आधार क्रमदीपिका पञ्चशिख की रचना नहीं होसकती। इस विरुद्ध स्थिति, में प्रतीत यह होता है, कि आज की तरह भावागणेश के समय में भी क्रमदीपिका के रचयिता का नाम अज्ञात था। परन्तु इस परम्परा के आधार पर, कि पञ्चशिख सांख्य का व्याख्याता है, तथा इस व्याख्या की प्राचीनता को देखकर, उसने इसको पञ्चशिख की कृति ही समझा होगा। इन दोनों व्याख्याओं की परस्पर तुलना से यह निश्चित हो जाता है, कि 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' का आधार 'क्रमदीपिका' हो सकती है।

तत्त्वयाथार्थ्यदीपन और क्रमदीपिका की परस्पर समानता—

हमारी यह धारणा उस समय और भी पुष्ट हो जाती है, जब हम तत्त्वयाथार्थ्यदीपन में पञ्चशिख के नाम से उद्धृत श्लोकों के प्रसंग की क्रमदीपिका से तुलना करते हैं। सर्वथा वही प्रकरण और वही अर्थ। पहला उद्धरण भावागणेश ने इसप्रकार दिया है—[सांख्यसंग्रह, पृष्ठ ६१]

"तथा चोक्तं पञ्चशिखेन प्रमाणवाक्यम्—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे स्थितः। जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः[1] *॥"*

क्रमदीपिका में यह श्लोक जहां उल्लिखित है, उसके पूर्वापर प्रसंग के साथ भावागणेशव्याख्या की सर्वथा समानता है। क्रमदीपिका में इसके उद्धरण के कोई चिह्न नहीं दिये गये। जिससे यह स्पष्ट संभावना होसकती है, कि कदाचित् यह रचना मूलरूप से क्रमदीपिकाकार की हो। यद्यपि इस श्लोक को सांख्यकारिका के प्रायः सब ही प्राचीन व्याख्याकारों ने अपनी व्याख्याओं[2] में उद्धृत किया है। परन्तु इसके मूल लेखक का नाम नहीं दिया। यदि इस बात को ठीक समझा जाय कि इसका मूल लेखक क्रमदीपिकाकार है, तब इस व्याख्या की रचना का काल अतिप्राचीन होजाता है। अर्थात् माठर से भी प्राचीन, पर ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं के पश्चात्।

इसके आगे भावागणेश अपनी व्याख्या में पञ्चशिख के नाम पर एक और श्लोक उद्धृत करता है। वह लिखता है—

"सर्वतत्त्वानां ज्ञानफलं चोक्तं पञ्चशिखधृतवाक्येन—

तत्त्वानि यो वेदयते यथावद् गुणस्वरूपाण्यधिदैवतं च।

विमुक्तपाप्मा गतदोषसङ्घो गुणांस्तु भुंक्ते न गुणैः स भुज्यते॥" [सांख्यसंग्रह पृ० ७२]

---

[1] अलबेरूनी ने अपने भारतवर्णन में इस श्लोक को पराशरपुत्र व्यास का लिखा है। देखिये, 'अलबेरूनी का भारत' हिन्दी संस्करण, पृ० २४-२५ और १३२।

[2] माठरवृत्ति, कारिका २२॥ गौडपादभाष्य, कारिका २२॥ सुवर्णसप्ततिशास्त्र, कारिका २, ३० ॥जयमंगला, कारिका १॥ इन सब स्थलों में उद्धरण चिन्ह उपलब्ध होते हैं।

यद्यपि यह श्लोक तत्त्वसमास सूत्रों की अन्य [1] व्याख्याओं में भी उपलब्ध होता है। उनमें कुछ थोड़ा सा पाठभेद है। परन्तु 'तत्त्वानि' पद के स्थान पर अन्य व्याख्यानों में जो पाठ है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। सांख्यतत्त्वविवेचन और सांख्यसूत्रविवरण दोनों ही व्याख्यानों में 'चत्वारि' पाठ है। पिछली व्याख्या में इसी पद का अर्थ भी किया हुआ है। परन्तु भावागणेश ने 'तत्त्वानि' पाठ मान कर इस पद की विशेष व्याख्या की है। भावागणेश का यह पाठ, क्रमदीपिका के पाठ से सर्वथा समानता रखता है, और पूर्वापर प्रसंग भी सर्वथा एक है। इससे यही धारणा होती है, कि भावागणेश की व्याख्या का आधार कदाचित् यही व्याख्या हो।

आगे चल कर भावागणेश, पञ्चशिख के नाम पर दो श्लोक और उद्धृत करता है। वह लिखता है— [सांख्यसंग्रह पृ० ८१, ८२]

"उक्तं च पञ्चशिखाचार्यैः—

प्राकृतेन तु बन्धेन तथा वैकारिकेण च। दक्षिणाभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्त्तते ॥ इति ॥

मोक्षत्रैविध्यं चोक्तम्—

आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्। कृच्छ्रक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम् [2]।"

ठीक इसी प्रसंग में ये दोनों श्लोक क्रमदीपिका में विद्यमान हैं। कुछ साधारण पाठभेद [3] अवश्य है। इनके अतिरिक्त क्रमदीपिका की रचना शैली भी कुछ प्राचीन प्रतीत होती है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्यषडध्यायी के १।१२७ सूत्र की व्याख्या में पञ्चशिखाचार्य के नाम से जिस सन्दर्भ का उल्लेख किया है। उससे सर्वथा मिलता जुलता सन्दर्भ तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति में (सांख्यसंग्रह के) १२७ पृष्ठ पर उपलब्ध होता है। वृत्ति में कोई ऐसा चिन्ह नहीं है, जिससे इस सन्दर्भ का यहां उद्धृत होना निश्चय किया जा सके। इससे यह संभावना की जासकती है, कि भावागणेश ने कदाचित् इसीका आश्रय लिया हो।

इन दोनों का एक प्राचीन स्रोत ही, दोनों की समानता का कारण है—

इन समानताओं के होते हुए भी उक्त सम्भावना सर्वथा युक्तियुक्त नहीं कही जा सकती। हम भावागणेश के इस लेख को, कि उसने अपनी रचना में पञ्चशिख की व्याख्या का अवलम्ब लिया है, भ्रम के आधार पर नहीं कह सकते। इस बात के लिये हमारे पास कोई प्रबल प्रमाण नहीं है, कि एक ऐसी व्याख्या को, जो पञ्चशिख की नहीं है, भावागणेश ने केवल कर्त्ता का नाम अज्ञात होने के कारण पञ्चशिख की समझ लिया हो। एक और बात है, अन्तिम दो श्लोक जो पञ्चशिख के

---

1 सांख्यतत्त्वविवेचन षिमानन्दकृत। सांख्यसंग्रह, पृ० १६। सांख्यसूत्रविवरण। सांख्यसंग्रह, पृ० १०८।

2 विज्ञानभिक्षु ने इस श्लोक को, योगवार्त्तिक [२। १८ सूत्र की व्याख्या] में पञ्चशिखवाक्य लिखा है, तथा १।२४ की व्याख्या में 'पञ्चशिखधृतवाक्य'।

3 प्रथम श्लोक का चतुर्थ चरण क्रमदीपिका में 'बन्धोऽयं च निगद्यते' है। और द्वितीय श्लोक के तृतीय चरण में, क्रमदीपिका का पाठ 'कृच्छ्रक्षयात्' के स्थान पर 'कृत्स्नक्षयात्' है।

नाम पर भावागणेश ने उद्धृत किये हैं, क्रमदीपिका में भी वे उद्धरण के रूप में ही उल्लिखित हैं। इसलिये क्रमदीपिकाकार की वह अपनी रचना नहीं है। ऐसी स्थिति में वह इस व्याख्या को पञ्चशिख की कैसे समझता, जब कि वह इन श्लोकों को साक्षात् पञ्चशिख के नाम पर उद्धृत कर रहा है। इसलिये यहां अधिक युक्तियुक्त दो अनुमान किये जा सकते हैं, (१) इन दोनों ही व्याख्याकारों ने पञ्चशिख की किसी प्राचीन व्याख्या का अनुकरण किया है अथवा (२) पञ्चशिख की व्याख्या का क्रमदीपिकाकार ने, तथा क्रमदीपिका का भावागणेश ने अनुकरण किया है, और इसीलिये इन दोनों में इतनी उल्लेखयोग्य समानता आ गई है। दूसरे अनुमान में, यह अवश्य है, कि भावागणेश ने क्रमदीपिका को, परम्पराद्वारा पञ्चशिख व्याख्या के ही आधार पर बनी हुई समझ कर, अपनी व्याख्या का आधार, पञ्चशिख व्याख्या को ही लिख दिया है। क्रमदीपिका का कर्त्ता अज्ञात होने से, अपने ग्रन्थ की प्रामाणिकता को सन्देहरहित बनाने के लिये ही सम्भवतः उसने ऐसा किया हो। क्रमदीपिका की लेखशैली को देखते हुए यह सम्भावना की जा सकती है, कि उसके रचयिता ने पञ्चशिख व्याख्या का अत्यधिक अनुकरण किया है, जिससे उसकी रचना में प्राचीनता की झलक बनी रही है।

इस सब विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि तत्त्वसमास सूत्रों पर पञ्चशिख की कोई प्राचीन व्याख्या अवश्य थी, जो निश्चित ही इन सूत्रों की सब से प्राचीन व्याख्या थी। उस व्याख्या के आकार प्रकार का कुछ अनुमान, हम क्रमदीपिका और तत्त्वयाथार्थ्यदीपन के आधार पर कर सकते हैं। पञ्चशिख के कुछ श्लोकों का भी हमें इससे निश्चित ज्ञान हो जाता है। सम्भव है, क्रमदीपिका और तत्त्वयाथार्थ्यदीपन में और भी पञ्चशिख के कुछ श्लोक हों, जिनके साथ उसका नाम नहीं लिखा गया। पञ्चशिखव्याख्या के प्रकरण में हम कुछ ऐसे श्लोकों को संगृहीत करने का यत्न करेंगे। भावागणेश के काल का निर्धारण पहले किया जा चुका है।

३—सर्वोपकारिणी टीका—

मुद्रित पुस्तक में इस टीका के रचयिता का नाम निर्दिष्ट नहीं है। इस विषय पर प्रकाश डालने के लिये और भी कोई साधन हमें उपलब्ध नहीं हो सके। इसकी शैली और अर्थों में बड़ी विशेषता है। "अध्यात्मम्, अधिभूतम्, अधिदैवम्" इन सूत्रों के अर्थ, इसमें अन्य सब व्याख्याओं से भिन्न किये गये हैं।

सर्वोपकारिणी टीका में इन सूत्रों पर तीन प्रकार के दुःखों का विवेचन किया है, जब कि अन्य सब व्याख्यानों में अध्यात्म आदि का विश्लेषण अन्यथा ही उपलब्ध होता है। सर्वोपकारिणी में तीन दुःखों का यहीं विवेचन करके अन्त में 'त्रिविधं दुःखम्' इस सूत्र का उल्लेख नहीं पाया जाता, जब कि अन्य सब व्याख्याओं में यह सूत्र पृथक् व्याख्यात है।

इसके अतिरिक्त ६-१२ सूत्रों का अर्थ सर्वोपकारिणी में बहुत आकर्षक है। अन्य सब

व्याख्याओं में इन सूत्रों का समान ही अर्थ किया है, परन्तु सर्वोपकारिणी के अर्थ में [1] नवीनता और विशेष हृदयग्राहिता है। इन विशेष अर्थों के आधार पर हमारा विचार है, कि यह व्याख्या अन्य व्याख्याओं को अपेक्षा नहीं करती। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि इसका रचयिता अवश्य प्रतिभाशाली और स्वतन्त्र विचारों का विद्वान् था।

इसके अतिरिक्त एक बात और है, 'सांख्यसूत्रविवरण' नामक व्याख्या के अतिरिक्त शेष तीनों व्याख्याओं में दश मूलिक अर्थों को बतलाने के लिये एक उपजाति श्लोक को उद्धृत किया गया है, जो अत्यन्त प्राचीन श्लोक है, ईश्वरकृष्ण से भी प्राचीन। इसका उल्लेख हमने सप्तम प्रकरण में 'युक्तिदीपिका' व्याख्या के प्रसंग में किया है। सर्वोपकारिणी व्याख्या में यह श्लोक नहीं है। प्रत्युत 'तथा च राजवार्त्तिकम्' कह कर वही श्लोक उद्धृत हैं, जो सांख्यतत्त्वकौमुदी में इसीप्रकार उद्धृत हुए उपलब्ध होते हैं। 'सांख्यसूत्रविवरण' में केवल 'तदुक्तम्' कह कर इन श्लोकों को उद्धृत किया है। इससे भी यह परिणाम निकलता है, कि इसने अन्य व्याख्याओं की अपेक्षा नहीं की।

सर्वोपकारिणी टीका और महादेव वेदान्ती—

इस व्याख्या के प्रारम्भ में एक और निर्देश उपलब्ध होता है, जिसको अभी तक हमने अन्यत्र कहीं नहीं देखा। व्याख्याकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भिक भाग में दो कपिल नामक व्यक्तियों का उल्लेख किया है, जिन दोनों का ही सांख्य से सम्बन्ध बतलाया है, एक विष्णु का अवतार कपिल, इन तत्त्वसमास सूत्रों का रचयिता और दूसरा अग्नि का अवतार कपिल, सांख्यषडध्यायी का रचयिता। यह सब ग्रन्थकार ने वृद्धों के ऐतिह्य के आधार पर ही लिखा है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्यषडध्यायी के अन्तिम सूत्र पर इस बात का निर्देश किया है, कि किसी वेदान्ती ने अग्नि के अवतार कपिल को सांख्यषडध्यायी का रचयिता बताया है, और अन्त में भिक्षु ने इस कथन का प्रत्याख्यान किया है। अभी तक किसी भी वेदान्ती के ग्रन्थ में हमें इसप्रकार का उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ। सम्भव है, विज्ञानभिक्षु का निर्देश इसी व्याख्या की ओर हो, और उसके ज्ञान में इस व्याख्या का रचयिता कोई वेदान्ती हो। क्या यह सम्भावना संगत होगी, कि यह वेदान्ती कदाचित् महादेव ही हो, जिसने सांख्यषडध्यायी पर भी वृत्ति लिखी है।

इसकी विशेष परीक्षा के लिये जब हम महादेव वेदान्ती के वृत्तिसार, और इस व्याख्या की सूक्ष्मदृष्टि से परस्पर तुलना करते हैं, तो कुछ ऐसे चिन्ह अवश्य मिल जाते हैं, जिनसे इस सम्भावना के सत्य होने की ओर झुकाव हो सकता है।

[1] सर्वोपकारिणी में यथाक्रम ये अर्थ किये हैं—पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राणादि वायु, और उनके कार्य। जब कि अन्य सब ही व्याख्याओं में समान रूप से इनके और २ ही अर्थ किये गये हैं। वे वहीं से देखने चाहियें, विस्तारभय से हमने यहां उनको नहीं लिखा।

इस व्याख्या का प्रारम्भ जिस ढङ्ग पर किया गया है, वह वृत्तिसार के साथ पर्याप्त समानता रखता है। तत्त्वसमास सूत्रों की अन्य सब ही व्याख्याओं का प्रारम्भ इससे सर्वथा भिन्न है। इस व्याख्या का प्रारम्भ, महादेव के वृत्तिसार के समान, अनिरुद्ध की वृत्ति से भी समानता रखता है। वृत्तिसार में महादेव ने अनिरुद्ध के अनुकरण का स्वयं उल्लेख किया है, सम्भवतः वह भावना यहाँ भी हो।

व्याख्या के मध्य में भी कुछ समानता उपलब्ध होती हैं। इसके लिये षडध्यायीसूत्र ३। ४२, ४३ की महादेव व्याख्या, और तत्त्वसमास सूत्र १४, १५ की व्याख्या द्रष्टव्य हैं।

सांख्यषडध्यायी की व्याख्या में ३। ४४ सूत्र पर महादेव ने जो अर्थ किया है, वह सांख्यकारिका की ५१ वीं आर्या के वाचस्पतिकृत अर्थ का सर्वथा अनुकरण है। इस व्याख्या में भी १७ वें सूत्र पर, ७२ वीं आर्या के वाचस्पतिमिश्रकृत व्याख्यान का अनुकरण है। श्लोक के उद्धरण द्योतक पदों को भी सर्वथा उसी रूप में लिखा है, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता।

यद्यपि ये समानताएं स्वतन्त्र रूप में कोई महत्त्व नहीं रखतीं, जब तक इस बात के लिये कोई प्रबल प्रमाण उपलब्ध न हो, कि यह रचना महादेव की हो सकती है। परन्तु संभावना के आधार के लिये हमने इनका उल्लेख किया है, जिससे तुलना में इनका उपयोग किया जा सके।

४—सांख्यसूत्रविवरण

सांख्यसंग्रह के अन्तर्गत मुद्रित प्रति में इस व्याख्या के रचयिता का नाम निर्देश नहीं किया गया। इसमें सूत्रों के अर्थ अन्य प्राचीन व्याख्याओं के अनुसार ही पाये जाते हैं। कोई उल्लेखयोग्य विशेषता इस व्याख्या में नहीं है। इतना अवश्य कहा जासकता है, कि इसमें तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति-क्रमदीपिका की रचनाशैली के अनुकरण का यत्न किया गया है।

ग्रन्थसूचियों के सूचीपत्र [1] के अनुसार इस रचना के सम्बन्ध में एक सूचना और उपलब्ध होती है। उससे मालूम होता है, कि इसका रचयिता कोई कृष्ण नामक विद्वान् था। परन्तु इसके काल अथवा स्थान आदि के सम्बन्ध में कोई भी निश्चित विचार प्रकट नहीं किये जासकते।

५—तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति-क्रमदीपिका

मुद्रित पुस्तक में इसके रचयिता का नाम उल्लिखित नहीं है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियां भी लाहौर [2] में विद्यमान हैं। उनमें भी रचयिता का नाम निर्दिष्ट नहीं है। हमें यह व्याख्या अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है। निम्नलिखित आधारों पर यह बात कही जासकती है।

इस व्याख्या की प्राचीनता के आधार—

---

[1] Vide, Catalogues Catalogurum by Monior William, V.1, Parisista P. 787 Samkhya-Sutra-Vivarana dy Krisna N.W. 388

[2] एक, डी. ए. वी. कालिज के लालचन्द पुस्तकालय में और दूसरी पंजाब युनिवर्सिटी लाइब्रेरी में।

(क)—इसकी रचनाशैली प्राचीन प्रतीत होती है। ग्रन्थारम्भ उसी ढंग पर किया गया है, जो सांख्यकारिका की माठरवृत्ति में उपलब्ध होता है। प्रत्येक सन्दर्भ के प्रारम्भ करने की जो शैली है, वह सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में देखी जाती है। इन दोनों व्याख्याओं के काल का निर्धारण हमने अगले सप्तम प्रकरण में किया है।

(ख)—अट्ठाईस अशक्तियों में एकादश इन्द्रियवध का निर्देश करने के लिये सांख्यग्रन्थ में एक श्लोक का उल्लेख मिलता है। सर्वप्रथम इस श्लोक को हम सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में इसप्रकार पाते हैं,

"बाधिर्यमान्ध्यमघ्रत्वं मूकता जडता च या। उन्मादकौष्ठ्यकौण्यानि क्लैब्योदावर्तपङ्गुता।"[1]

इसके अनन्तर उक्त अर्थ के निर्देश के लिये प्रायः सब ही व्याख्याकारों[2] ने इस श्लोक का उल्लेख किया है, और इसमें कुछ शब्दों का हेर फेर तथा परिष्कार भी होता रहा है। वाचस्पति मिश्र के समय तक इस श्लोक का परिष्कृत रूप इसप्रकार उपलब्ध होता है—

"बाधिर्यं कुष्ठितान्धत्वं जडताऽजिघ्रता तथा। मूकताकौण्यपङ्गुत्वं क्लैब्योदावर्तमन्दता।[3]।"

वाचस्पति मिश्र के पश्चाद्वर्ती प्रायः सब ही व्याख्याकारों ने अपने ग्रन्थों में इसी पाठ को स्वीकार किया है, और प्रायः कोई भी व्याख्याकार इस श्लोक का उल्लेख करना नहीं भूला, चाहे वह षडध्यायी का व्याख्याकार है, अथवा तत्त्वसमास सूत्रों का। युक्तिदीपिका से प्राचीन, सांख्यकारिका के व्याख्याकार, माठर ने अपनी व्याख्या में इस श्लोक का उल्लेख नहीं किया, साधारण गद्य में ही एकादश इन्द्रियवधों का निर्देश है, वस्तुतः प्रतीत यह होता है, कि उस समय तक इस श्लोक की रचना नहीं हुई थी, अथवा यों कहिये, कि माठर को इस श्लोक का अवगम न था। कुछ भी हो, उसी श्रेणी में तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति-क्रमदीपिका को भी रक्खा जासकता है। इस व्याख्या में भी उक्त पद्य नहीं, साधारण गद्य में ही उक्त अर्थ का निर्देश है।

(ग)—दश मूलिक अर्थों का निर्देश करने के लिये एक प्राचीन उपजाति श्लोक का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं। उसके साथ का एक सन्दर्भ जयमंगला[4] और सांख्यतत्त्वकौमुदी में सर्वथा समान रूप में उपलब्ध होता है, जिसमें यह बतलाया गया है, कि अमुक अर्थ, प्रकृति अथवा पुरुष अथवा दोनों में रहता है, इस अर्थ को इनसे पिछले व्याख्याकारों ने भी इसी रूप में प्रकट किया है, अथवा किसी ने नहीं भी किया। परन्तु कारिकाओं के प्राचीन व्याख्याकार माठर ने इसी अर्थ को दूसरे शब्दों में प्रकट किया है। तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति-क्रमदीपिका ने

---

1. युक्तिदीपिका, खीस्ट १९३८ का, कलकत्ता संस्करण, पृ० १५५॥
2. सांख्यकारिका के व्याख्याकारों के काल का क्रम अगले सप्तम प्रकरण में देखना चाहिये।
3. सांख्यकारिका ४९ पर सांख्यतत्त्वकौमुदी में। वाचस्पति के पश्चाद्वर्ती व्याख्यानों में अन्तिम पद 'मन्दता' के स्थान पर 'मुग्धता' या 'मत्तता' पाठ भी उपलब्ध होते हैं, [सांख्यसंग्रह, पृ० ७७ और १११ तथा सांख्यषडध्यायी पर, अनिरुद्ध, महादेव एवं विज्ञानभिक्षु के व्याख्यान, सूत्र ३।३८॥२।५२]
4. जयमंगला, कारिका २१ पर॥ सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका ७२ पर।

माठर के ही शब्दों का अनुकरण किया है, जयमंगला और सांख्यतत्त्वकौमुदी के शब्दों का नहीं। यद्यपि अपनी रचना के अनन्तर ये व्याख्याएं अध्ययन अध्यापन परम्परा में अत्यन्त प्रसिद्ध रही हैं। इससे यह प्रकाश पड़ सकता है. कि क्रमदीपिका का लेख माठर के [1] आधार पर, इन से पहले ही रचा गया होगा।

(घ) सांख्यकारिकाओं की व्याख्याओं में अनेक ऐसे उद्धरण हैं, जिनके मूल स्थान क अभी पता नहीं लग सका है। जयमंगला और युक्तिदीपिका के कुछ उद्धृत श्लोक, तत्त्वसमाससूत्र की इस क्रमदीपिका व्याख्या में उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनके साथ उद्धरण के कोई चिन्ह नहीं हैं। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है, कि उद्धरण के साथ कोई चिन्ह होना चाहिये। फिर भी यदि उसके मूल स्थान की अन्यत्र संभावना न हो, और पूर्वापर रचना के साथ इसप्रकार की अनुकूलता हो, जिससे उस वाक्य का उद्धृत होना निश्चित न किया जासके, तो यह संभावना हो सकती है, कि वह रचना इस ग्रन्थकार की अपनी हो। इसप्रकार का एक श्लोक जयमंगला टीका में उद्धृत है, जिसका मूल क्रमदीपिका में संभावना किया जासकता है। २० वीं सांख्यकारिका की जयमंगला व्याख्या में इसप्रकार पाठ है—

"तथा चोक्तम्—

प्रवर्त्तमानान् प्रकृतेरिमान् गुणास्तमोऽभिभूतो विपरीतदर्शनः।

अहंकरोमीत्यबुधोऽभिमन्यते तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यनीश्वरः॥ इति"

यही श्लोक क्रमदीपिका में विना उद्धरण चिन्हों के उपलब्ध [2] होता है। इसके पूर्वापर सन्दर्भ इसप्रकार के हैं, जिनसे यहां पर इस श्लोक के उद्धृत होने का निश्चय नहीं किया जासकता। प्रत्युत इसके आगे ही इसी अर्थ की पुष्टि के लिये ग्रन्थकार ने 'अत्राह' लिखकर महाभारत (भगवद्गीता) के कुछ श्लोकों को उद्धृत किया है। इससे और भी स्पष्ट हो जाता है, कि पहला श्लोक ग्रन्थकार की अपनी रचना है। यदि यह बात ठीक प्रमाणित मानी जाती है, तो निश्चय ही यह व्याख्या जयमंगला टीका से प्राचीन कही जासकती है।

इसके अतिरिक्त युक्तिदीपिका व्याख्या में २१ वीं आर्या की व्याख्या करते हुए, व्याख्याकार ने तत्त्वसमास के 'पञ्च कर्मयोनयः' इस सूत्र का उल्लेख किया है, और उसका विशद व्याख्यान भी किया है, जो क्रमदीपिका का ही अधिक विस्तार प्रतीत होता है। इसी प्रसंग में कुछ श्लोक युक्तिदीपिका में उद्धृत किये गये हैं, वे इसप्रकार हैं—

---

[1] देखिये, माठरवृत्ति, कारिका ७२॥ तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति, (सांख्यसंग्रह) पृष्ठ १३६।

[2] सांख्यसंग्रह, पृष्ठ १२१। चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस, संस्करण। यहां पर श्लोक के द्वितीय चरण के एक पद में थोड़ा पाठभेद है; 'विपरीतदर्शनः' के स्थान पर 'विपरीतदर्शनात्' पाठ है। परन्तु इससे अर्थ में कोई भी अन्तर नहीं आता। ऐसा भेद सर्वथा नगण्य होता है।

"आह च—

वाचि कर्मणि संकल्पे प्रतिज्ञां यो न रक्षति । तन्निष्ठस्तत्प्रतिज्ञश्च धृतेरेतद्धि लक्षणम् ॥
अनसूया ब्रह्मचर्यं यजनं याजनं तपः । दानं प्रतिग्रहः शौचं श्रद्धाया लक्षणं स्मृतम् ॥
सुखार्थी यस्तु सेवेत विद्यां कर्म तपांसि वा । प्रायश्चित्तपरो नित्यं सुखायां स तु वर्त्तते ॥
द्वित्वैकत्वपृथक्त्वं नित्यं चेतनमचेतनं सूक्ष्मम् । सत्कार्यमसत्कार्यं विनिर्दिष्टव्यं विविदिषायाः ॥
विपरीतसुप्तमत्तवदविविदिषा ध्यानिनां सदा योनिः । कार्यकारणक्षयकरी प्राकृतिका गतिः समाख्याता ॥

यह सब विषय कुछ पद्य और कुछ गद्य रूप में, क्रमदीपिका में उपलब्ध है। प्रथम तीन श्लोक सांख्यसूत्रवृत्ति में थोड़े पाठभेद के साथ विद्यमान हैं। चतुर्थ श्लोक युक्तिदीपिका में आर्या छन्द में है, तत्त्वसमासवृत्ति में अनुष्टुप् छन्द है, और पाठभेद भी है। अनुष्टुप् छन्द से आर्या छन्द कुछ संवारा गया मालूम होता है, अनुष्टुप् छन्द के पहले और पीछे सूत्रवृत्ति में जो गद्य पंक्तियां हैं, युक्तिदीपिका में उन को भी एक आर्या का रूप प्राप्त हो गया है। इसके अतिरिक्त तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति में इन श्लोकों के साथ आगे पीछे कोई भी उद्धरण चिन्ह नहीं हैं। इन सब तुलनाओं से प्रतीत होता है, कि युक्तिदीपिकाकार ने 'पञ्च कर्मयोनयः' इस प्रसंगकथित तत्त्वसमास सूत्र का व्याख्यान करने में, उक्त व्याख्या का आश्रय लिया होगा।

क्रमदीपिका का संभावित काल—

इन सब तुलनाओं से यह परिणाम स्पष्ट निकल आता है, कि तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति एक प्राचीन व्याख्या होनी चाहिये, जिसका समय युक्तिदीपिका से पूर्व और माठरवृत्ति के पश्चात् निर्धारित किया जासकता है। युक्तिदीपिका का समय हमने ख्रीस्ट पञ्चम शतक के अन्त से पूर्व और माठरवृत्ति का समय ख्रीस्ट शतक का प्रारम्भकाल[1] अनुमान किया है, इनके मध्य में ही कहीं इस वृत्ति की रचना का काल कहा जासकता है।

इसके 'क्रमदीपिका' नाम का विवेचन—

इस व्याख्या के 'क्रमदीपिका, नाम के सम्बन्ध में भी कुछ विवेचनीय है। एक नमस्कार श्लोक के अनन्तर व्याख्या का प्रारम्भ इस पंक्ति से होता है।

"*अथातस्तत्त्वसमासाख्यसांख्यसूत्राणि व्याख्यास्यामः ।*"

इससे प्रतीत होता है, कि संभवतः इस रचना को 'तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति' इस नामसे ही व्यवहृत किया जाता रहा हो। इस पुस्तक की मुद्रित प्रति में अन्तिम पुष्पिका भी 'इति श्रीतत्त्वसमासाख्यसूत्रवृत्तिः समाप्ता' इसप्रकार है। परन्तु उपसंहार के दो श्लोकों में से अन्तिम श्लोक[2] इस व्याख्या का नाम 'क्रमदीपिका' उल्लेख करता है, और इस नाम का कारण भी बताता

---

[1] युक्तिदीपिका और माठरवृत्ति के काल का विवेचन इसी ग्रन्थ के 'सांख्यकारिका के व्याख्याकार' नामक सप्तम प्रकरण में किया गया है।

[2] सांख्यसूत्रक्रमेणैषा व्याख्याता क्रमदीपिका । अनुष्टुप्छन्दसां चात्र ज्ञेयं श्लोकशतत्रयम् ॥

है—इन सांख्यसूत्रों का क्रमशः व्याख्यान किया जाना। इससे यह भावना ध्वनित होती है, कि संभवतः इससे पूर्व इन सूत्रों का क्रमशः व्याख्यान न हुआ हो। आचार्यों ने यत्र तत्र प्रसंगवश-उल्लिखित सूत्रों का थोड़ा बहुत या विस्तृत व्याख्यान किया हो। ऐसी स्थिति में सब से प्रथम, सूत्रों का क्रमपूर्वक व्याख्यान करने वाली यही रचना होगी, तभी इसका यह नाम उस अर्थ के आधार पर सार्थक कहा जासकता है। इस रचना की सुरक्षा के लिये इस श्लोक में ग्रन्थ के परिमाण का भी निर्देश कर दिया गया है। दयानन्द कालिज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में जो इस रचना की हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है, उसकी अन्तिम पुष्पिका[१] में 'क्रमदीपिका' नाम का ही निर्देश है।

भावा गणेश की व्याख्या के प्रसंग में, हम पञ्चशिख की एक व्याख्या का प्रथम उल्लेख कर आये हैं। हमने यह भी कहा है कि भावागणेश की व्याख्या का आधार पञ्चशिख का व्याख्याग्रन्थ होगा। इस सम्बन्ध में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह और है. कि सांख्यसूत्रों पर पञ्चशिख के जो भी व्याख्याग्रन्थ होंगे, वे इसीप्रकार के रहे होंगे, जैसा कि वैशेषिक सूत्रों पर प्रशस्तपाद भाष्य है। अन्य सूचनाओं से भी यह बात प्रतीत होती है, कि पञ्चशिख के व्याख्याग्रन्थ सांख्यसिद्धान्तों के विशेष २ तत्त्वों को[२] लेकर विस्तारपूर्वक लिखे गये थे। उनमें सब ही सूत्रों के प्रसंगवश यत्र तत्र उल्लेख और उनके व्याख्यानों की संभावना हो सकती है। सूत्रक्रम के अनुसार अभी तक पञ्चशिख के किसी व्याख्याग्रन्थ का पता नहीं लगा है, और न कहीं ऐसा कोई उल्लेख ही मिला है। इससे प्रतीत यही होता है, कि इस व्याख्याकार ने पञ्चशिख के व्याख्याग्रन्थ से उन २ सूत्रव्याख्यानों को चुनकर सूत्रक्रम के अनुसार यह व्याख्या लिखी होगी। इस विशेषता के आधार पर इसका यह नामकरण हुआ।

भावा गणेश की व्याख्या में जो श्लोक पञ्चशिख के नाम पर उद्धृत किये गये हैं, इस वृत्ति में उनके उल्लेख-क्रम की समानता का आधार यही हो सकता है, कि इन दोनों व्याख्याकारों के विषय-निर्देश का क्रम एक ही है, अर्थात् सूत्रक्रम के अनुसार व्याख्या का लिखना। तत्त्वसमाससूत्र-वृत्तिकार और भावागणेश का अपने २ काल में सूत्रव्याख्या के लिये समान ही प्रयत्न था। भावागणेश ने पञ्चशिख का उल्लेख कर दिया है, दूसरे वृत्तिकार ने उसकी अपेक्षा नहीं समझी। परन्तु सर्वप्रथम इसप्रकार का प्रयत्न होने के कारण, उसने अपने ग्रन्थ में सूत्रक्रम के अनुसार व्याख्या किये जाने का उल्लेख किया है। भावागणेश ने इसकी उपेक्षा की है। क्योंकि यह कार्य उससे पूर्व हो चुका था। यह सम्भव है, कि उसने इस व्याख्या को देखा न हो, परन्तु सूत्रानुसारी व्याख्याओं के उससे पूर्व होजाने का परम्परागत मौखिक ज्ञान उसे अवश्य होगा। यह और भी अधिक संभव है, कि भावागणेश को यह ज्ञान, परम्परा के आधार पर हो, कि क्रमदीपिका,

---

१ इति श्रीसांख्यसूत्रक्रमदीपिका समाप्ता।

२ तुलना करें, सांख्यसप्तति, आर्या ७० की जयमंगला व्याख्या।

पञ्चशिख के व्याख्याग्रन्थ के आधार पर लिखी गई है, और इसीलिये उसने क्रमदीपिका को अपनी व्याख्या का आधार बनाकर, उसका निर्देश अपने ग्रन्थ की प्रामाणिकता के लिये पञ्चशिख के नाम से कर दिया हो। इसप्रकार भावागणेश ने चाहे साक्षात् पञ्चशिख की व्याख्या को सूत्रार्थ में अपना आधार बनाया हो, अथवा क्रमदीपिका द्वारा, दोनों अवस्थाओं में तत्त्वसमास सूत्रवृत्ति (क्रमदीपिका) की प्राचीनता अवश्य प्रमाणित होजाती है।

कापिलसूत्रविवरण अथवा कापिलसूत्रवृत्ति—

अभी तक 'सांख्यसंग्रह' में मुद्रित तत्त्वसमास सूत्रों की पांच व्याख्याओं का उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त एक और व्याख्या कलकत्ता से सन् १८६० ईसवी में प्रकाशित [1] हो चुकी है। इसका नाम 'कापिलसूत्रविवरण' ग्रन्थ की अन्तिम मुद्रित पुष्पिका के आधार पर प्रतीत होता है। परन्तु ग्रन्थ के प्रारम्भिक श्लोक में ग्रन्थकार ने 'कापिलसूत्रवृत्ति' लिखा है। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक के आधार पर इस व्याख्या के रचयिता का नाम माधव है। अन्तिम पुष्पिका में रचयिता के नाम का निर्देश इसप्रकार किया गया है—

> *"इति श्रीवेदान्तवागीशश्रीहरिहरात्मजेन परमहंसाचार्य माधवपरिव्राजकेन विरचितं कापिलसूत्रविवरणं समाप्तम्।"*

यह आचार्य माधव परिव्राजक कौन है, और किस समय हुआ ? इसका निश्चय अभी तक नहीं किया जा सका। इतना निश्चय है, कि यह व्याख्याकार, सांख्यभाष्यकार विज्ञानभिक्षु से अर्वाचीन है। 'पञ्च कर्मयोनयः' इस तत्त्वसमास सूत्र की व्याख्या में सांख्यभाष्यकार विज्ञानाचार्य का उल्लेख है।

श्री बालराम उदासीन द्वारा सम्पादित तथा व्याख्यात सांख्यतत्त्वकौमुदी के उपोद्घात (पृष्ठ २) में पाण्डेय श्रीकान्त शर्मा महोदय ने लिखा है, कि इन २७ सूत्रों पर श्री विद्यारण्य स्वामी ने भी व्याख्यान किया है, और वह मुद्रित व प्रकाशित होचुका है। परन्तु अभी तक हम ऐसी प्रकाशित व्याख्या का पता नहीं लगा सके, जिसका रचयिता श्री विद्यारण्य स्वामी था। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, कि श्री पाण्डेय महोदय ने कदाचित् माधव परिव्राजक की इस व्याख्या को ही विद्यारण्य स्वामी की रचना समझ लिया हो। क्योंकि ऐसा कहा जाता है, कि प्रसिद्ध वेदभाष्यकार माधव का परिव्राजक अवस्था का नाम विद्यारण्य [2] था। इसप्रकार नाम-

---

[1] इसके प्रकाशक हैं—श्री भुवनचन्द्र बसाक, ८ नीमतला घाट स्ट्रीट, कलकत्ता। १६ नूतन पटलडाङ्गा नारायण यन्त्रालय में मुद्रित।

[2] यह बात सूतसंहिता के टीकाकार विद्यारण्य स्वामी के प्रारम्भिक श्लोकों के आधार पर कही जासकती है, कि वह विद्यारण्य अपरनाम माधव मन्त्री ही था। इसने अपनी टीका में एक सांख्यसूत्र को भी उद्धृत किया है। देखिये ग्रन्थ का चतुर्थ प्रकरण, उद्धरण संख्या १।

साम्य से ऐसा भ्रम होना सम्भव होसकता है। एक बात अवश्य है, विद्यारण्य अथवा माधव मन्त्री की प्रसिद्ध रचनाओं में प्रारम्भिक श्लोकों की जो एक समानता सर्वत्र प्रतीत होती है, वह इस कापिलसूत्रवृत्ति के प्रारम्भिक श्लोक[1] में नहीं है। तथा विद्यारण्य के अन्य ग्रन्थों की रचना के सम्मुख, इसकी रचना भी अत्यन्त शिथिल है। इतना अवश्य है, कि इस में वेदान्त सम्बन्धी विचार सर्वथा स्पष्ट हैं।

माधव मन्त्री अथवा सायण की रचनाओं में ग्रन्थारम्भ के श्लोकों की जो समानता पाई जाती है, उसको यदि अधिक महत्त्व न दिया जाय, और यह मान लिया जाय, कि कदाचित् किसी रचना में इसका व्यतिक्रम भी होसकता है, तथा इस आधार पर प्रस्तुत रचना को उसी माधव की माना जाय, जिसका अपर नाम सायण अथवा विद्यारण्य था, तो यह भी मानना आवश्यक होगा, कि विज्ञानभिक्षु का समय, सायण से कुछ पूर्व ही था, जैसा कि हमने प्रथम, विज्ञानभिक्षु के कालनिर्णय में प्रकट किया है।

पञ्चशिख व्याख्या—

भावा गणेश ने तत्त्वसमास सूत्रों की अपनी व्याख्या के प्रारम्भ में इस बात का उल्लेख किया है, कि इन सूत्रों पर पञ्चशिख की कोई व्याख्या थी। अभी तक हमें ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका, जिसके आधार पर यह निश्चित रूप में कहा जा सके, कि वर्त्तमान सूत्रक्रम के अनुसार इन सूत्रों पर पञ्चशिख की कोई व्याख्या थी। पञ्चशिख के नाम पर उद्धृत जितने वाक्य अभी तक उपलब्ध हो सके हैं, उनसे यही अनुमान होता है, कि पञ्चशिख के ग्रन्थ, सांख्य सिद्धान्तों का आश्रय लेकर स्वतन्त्र रूप में ही लिखे गये होंगे, और उनमें यथा-स्थान इन सब सूत्रों के व्याख्यान भी समाविष्ट होंगे। पञ्चशिख के व्याख्याग्रन्थ इसीप्रकार के होंगे, जैसा कि कणाद के वैशेषिक सूत्रों पर प्रशस्तपाद भाष्य है। पीछे अन्य आचार्यों ने उन्हीं व्याख्याग्रन्थों के आधार पर सूत्रों के क्रम का अनुरोध कर अपने व्याख्यानों को लिखा। उपलभ्यमान व्याख्या-ग्रन्थों में इसप्रकार का एक व्याख्याग्रन्थ, तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति अर्थात् क्रमदीपिका भी है, जो वर्त्तमान व्याख्याओं में सबसे प्राचीन प्रतीत होता है जैसा कि अभी हम निर्देश कर चुके हैं।

पिछले पृष्ठों में हमने चार ऐसे श्लोकों का उल्लेख किया है, जो भावा गणेश कृत व्याख्या में पञ्चशिख के नाम पर उद्धृत किये गये हैं, और क्रमदीपिका में भी उसी प्रसंग पर उपलब्ध होते हैं। इन व्याख्याओं का गम्भीर अध्ययन इस संभावना को उत्पन्न करता है, कि कदाचित इस में और भी ऐसे सन्दर्भ हों, जो पञ्चशिख की रचना कहे जासकें। यद्यपि वे पञ्चशिख के नाम से उद्धृत नहीं हैं। ऐसे कुछ श्लोक क्रमदीपिका से हम उद्धृत करते हैं, जिनके सम्बन्ध में यह संभावना हो सकती है, कि ये पञ्चशिख की रचना हों।

---

[1] [illegible]व्यक्तमनादिमव्ययं जगन्निदानं परमाक्षरं विभुम्।
प्रणम्य वाचा मनसा च कायकैर्विनिर्ममे कापिलसूत्रवृत्तिकाम् ॥

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा च नित्यं रसगन्धवर्जितम् ।
अनादिमध्यं महतः परं ध्रुवं प्रधानमेतत् प्रवदन्ति सूरयः[1] ॥
[2]अहं शब्दे अहं स्पर्शे अहं रूपे अहं रसे । अहं गन्धे अहं स्वामी धनवानहमीश्वरः ॥
अहं भोगी अहं धर्मेऽभिषिक्तोऽसौ मया हतः । अहं हनिष्ये बलिभिः परैरित्येवमादिकः ॥
धर्माख्यं सौहित्यं यमनियमनिषेवणं प्रख्यानम् । ज्ञानैश्वर्यविरागाः प्रकाशनमिति सात्त्विकी वृत्तिः ॥
रागः क्रोधः लोभः परपरिवादोऽतिरौद्रताऽतुष्टिः । विकृताकृतिपारुष्यं प्रख्यातैषा तु राजसी वृत्तिः ॥
प्रमादमदविषादा नास्तिक्यं स्त्रीप्रसंगिता निद्रा । आलस्यं नैर्घृण्यमशौचमिति तामसी वृत्तिः[3] ॥
बाह्यकर्माणि संकल्प्य प्रतीतं योऽभिरक्षति । तन्निष्ठस्तत्प्रतिष्ठश्च, धृतेरेतद्धि लक्षणम् ॥
स्वाध्यायो ब्रह्मचर्यं च यजनं याजनं तपः । दानं प्रतिग्रहो होमः श्रद्धाया लक्षणं स्मृतम् ॥
सुखार्थं यस्तु सेवेत ब्रह्मकर्मतपांसि च । प्रायश्चित्तपरो नित्यं सुखेयं परिकीर्तिता[4] ॥
एकत्वं च पृथक्त्वं च नित्यं चैवमचेतनम् । सूक्ष्मं सत्कार्यमक्षोभ्यं ज्ञेया विविदिषा च सा[5] ॥
प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च । इत्येते वायवः पञ्च शरीरेषु शरीरिणाम् ॥
अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं, परार्थमन्यत्वमकर्तृता च ।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः[6] ॥
स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः । ज्ञानवान् शीलसम्पन्न आप्तो ज्ञेयस्तु तादृशः[7] ॥

इस श्लोक की तुलना कीजिए, कठोपनिषद् १।३।१५ के साथ । उपनिषद् के सन्दर्भ को, प्रकृति का स्वरूप वर्णन करने की दिशा में कितने सुन्दर रूप में उपस्थित किया गया है ।

2 इसप्रकार के प्रयोग माठरवृत्ति [२४ आर्या] और युक्तिदीपिका [आर्या २४ पृष्ठ ११५] में भी उपलब्ध होते हैं । संभवतः उनका आधार यह पञ्चशिखवाक्य ही होगा ।

3 इन तीन आर्या छन्दों में जिस अर्थ का निरूपण है, वह गद्य रूप में विज्ञानभिक्षु ने सांख्यषडध्यायी १।१२७ सूत्र पर पञ्चशिखाचार्य के नाम से उद्धृत किया है । वह गद्य सन्दर्भ भी इस व्याख्या में अन्यत्र उपलब्ध होता है ।

4 ये तीनों श्लोक थोड़े पाठभेद से युक्तिदीपिका, १९३८ के कलकत्ता संस्करण, पृ० १२८ पर उद्धृत हैं । युक्तिदीपिका के इस स्थल के पाठ इतने शुद्ध नहीं हैं ।

5 युक्तिदीपिका में यह आर्या छन्द में है । दो आर्याओं में, एक में विविदिषा और दूसरी में अविविदिषा का लक्षण किया गया है । इस वृत्ति में अविविदिषा के लक्षण का श्लोक नहीं है । परन्तु अर्थ का क्रम और व्युत्पादन सर्वथा स्पष्ट है । परन्तु युक्तिदीपिका में इन आर्याओं का पाठ अस्पष्टार्थक है । विविदिषा और अविविदिषा के क्रम में विपर्यय भी कर दिया है । तथा इनके जो लक्षण किये गये हैं, वे इनके स्वरूप को बतलाने में अस्पष्ट ही हैं ।

6 यह पद्य देवल के ग्रन्थ में उद्धृत पाया जाता है । देवल के ग्रन्थ का यह सन्दर्भ, याज्ञवल्क्यस्मृति की अपरादित्य रचित अपरार्का नामक व्याख्या में प्रायश्चित्ताध्याय, श्लोक १०९ पर उद्धृत है । यह सांख्याचार्य देवल, ईश्वरकृष्ण से भी बहुत प्राचीन काल में हो चुका है । 'सांख्य के प्राचीन आचार्य' नामक प्रकरण में इसका विस्तृत उल्लेख किया गया है । तथा प्रसंगवश अन्यत्र भी कई स्थलों में हमने इसका उल्लेख किया है

7 यह श्लोक माठरवृत्ति और जयमंगला टीका में, पांचवीं आर्या की व्याख्या में उद्धृत है । वहां उत्तरार्द्ध के पाठ में कुछ भेद है । माठर का पाठ इसप्रकार है—

इसप्रकार ये तेरह श्लोक इस व्याख्या में उद्धृत ऐसे सम्भव हो सकते हैं, जो पञ्चशिख की रचना हों। यदि इस सम्भावना को सत्य की सीमा तक माना जाय, तो पञ्चशिख के नाम से उद्धृत पिछले चार श्लोकों को मिलाकर सत्रह संख्या ऐसे श्लोकों की हो जाती है, जिन्हें पञ्चशिख की रचना कहा जा सकता है[1]।

इसमें कोई सन्देह नहीं, कि इन तत्त्वसमास सूत्रों के सम्बन्ध में पञ्चशिख का व्याख्यान सब से प्राचीन व्याख्यान है, पञ्चशिख कपिल का ही प्रशिष्य था, उसने कपिल की रचना के आधार पर विस्तृत व्याख्यान ग्रन्थ लिखे, यह हम प्रमाणपूर्वक पीछे दिखला चुके हैं। इनके अतिरिक्त इस प्रकरण में तत्त्वसमास सूत्रों की छः व्याख्याओं का हमने विवेचन किया है। इनकी रचना के काल-क्रम के अनुसार इनको इसप्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है—

१—तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति-क्रमदीपिका—ख्रीस्ट तृतीय अथवा चतुर्थ शतक के लगभग ?

२—सर्वोपकारिणी

३—तत्त्वयाथार्थ्यदीपन

४—सांख्यतत्त्वविवेचन

५—सांख्यसूत्रविवरण

६—कापिलसूत्रविवरण, अथवा कापिलसूत्रवृत्ति।

'पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः.'

जयमंगला का पाठ है—

'निर्वैरः पूजितः सद्भिराप्तो ज्ञेयः स तादृशः।'

[1] 'सांख्य के प्राचीन आचार्य' नामक प्रकरण में पञ्चशिख के प्रसंग में हम उन सब वाक्यों के संग्रह का प्रयत्न करेंगे, जिन्हें पञ्चशिख की रचना माना गया है, अथवा माना जाना संभव कहा गया है।

सप्तम प्रकरण

सांख्यसप्तति के व्याख्याकार

सांख्यसप्तति की पांच प्राचीन व्याख्या—

अनेक आचार्यों ने सांख्यकारिका पर व्याख्याग्रन्थ लिखे हैं। संभव है, उनमें से कुछ अभी तक भी अनुपलब्ध हों, परन्तु जो उपलब्ध हैं, उनके सम्बन्ध में भी बहुत सी बातें अभी तक अज्ञात हैं। इस प्रकरण में हम निम्नलिखित व्याख्याग्रन्थ और उनके रचयिताओं के काल आदि के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालेंगे।

व्याख्याग्रन्थ	व्याख्याकार
१—माठरवृत्ति	आचार्य माठर।
२—युक्तिदीपिका	[अज्ञात]. संदिग्ध नाम—वाचस्पति मिश्र।
३—गौडपाद भाष्य	आचार्य गौडपाद।
४—जयमंगला	[अज्ञात], संदिग्ध नाम—शङ्करार्य अथवा, शङ्कराचार्य।
५—तत्त्वकौमुदी	वाचस्पति मिश्र।

पांच व्याख्याओं के नाम—

माठरवृत्ति के रचयिता आचार्य माठर हैं, कर्त्ता के नाम से ही यह वृत्ति प्रसिद्ध है। गौडपाद भाष्य भी, उसके कर्त्ता आचार्य गौडपाद के नाम से ही प्रसिद्ध है। वाचस्पति मिश्र ने स्वयं अपने व्याख्याग्रन्थ के अन्तिम उपसंहारात्मक श्लोक में अपने और व्याख्याग्रन्थ के नाम का निर्देश कर दिया है। मिश्रने लिखा है—

"मनांसि कुमुदानीव बोधयन्ती सतां मुदा। श्रीवाचस्पतिमिश्राणां कृतिस्तात् तत्त्वकौमुदी ॥"

युक्तिदीपिका के नाम का निश्चय, उसके अन्तिम उपसंहारात्मक चार श्लोकों में से द्वितीय श्लोक के आधार पर होजाता है, श्लोक इसप्रकार है—

"इति सद्भिरसंभ्रान्तैः कुदृष्टितिमिरापहा। प्रकाशिकेयं सर्गस्य धार्यतां युक्तिदीपिका ॥"

ग्रन्थ के नाम का निश्चय होने पर भी इस ग्रन्थ के रचयिता का अभी तक निश्चय नहीं होपाया है। इसके सम्पादक महोदय ने जहां तहां ग्रन्थ की टिप्पणियों में, अनेक संदिग्ध विषयों को भूमिका में स्पष्ट करने का उल्लेख किया है। परन्तु किन्हीं अज्ञात कारणों से अभीतक वह भूमिका प्रकाशित नहीं हो पाई है। इस ग्रन्थ के हस्तलेख के अन्त में जो पंक्ति निर्दिष्ट है, उससे प्रतीत होता है, कि यह ग्रन्थ श्री वाचस्पति मिश्र की रचना है। यह लेख अत्यन्त संदिग्ध है। यदि इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम वाचस्पति मिश्र मान भी लिया जाय, फिर भी

यह निश्चित है, कि यह वाचस्पति, षड्दर्शनव्याख्याकार वाचस्पति नहीं है [१] ।

जयमंगला व्याख्या का नाम भी उसके प्रथम श्लोक से निश्चित हो जाता है। श्लोक इसप्रकार है—

"अधिगततत्त्वालोकं लोकोत्तरवादिनं प्रणम्य मुनिम्। क्रियते सप्ततिकायाष्टीका जयमंगला नाम ॥"

परन्तु इस व्याख्या के रचयिता के सम्बन्ध में अभी तक पूर्ण निश्चय नहीं हो पाया है। षड्दर्शनव्याख्याकार वाचस्पति मिश्र के अतिरिक्त अन्य आचार्यों के काल आदि का भी पूर्ण निश्चय नहीं है। इस प्रकरण में इन्हीं सब बातों पर यथासम्भव प्रकाश डाला जायेगा।

वाचस्पति मिश्र

तत्त्वकौमुदी का रचनाकाल—

षड्दर्शनव्याख्याकार वाचस्पति मिश्र का समय सर्वथा निश्चित है। यद्यपि सांख्यतत्त्वकौमुदी में उसने अपने समय अथवा इस ग्रन्थ के प्रारम्भ या समाप्ति के संवत्सर का कोई निर्देश नहीं किया, परन्तु न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका की समाप्ति पर गौतम के मूल न्यायसूत्रों का संपादन कर, उनका 'न्यायसूचीनिबन्ध' नाम से उल्लेख किया है। उसकी समाप्ति पर कुछ उपसंहारात्मक श्लोक हैं। उन में से अन्तिम एक श्लोक में ग्रन्थ समाप्ति के संवत्सर का निर्देश किया गया है। वहां लिखा है—

"न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे। श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे ॥

इसके अनुसार सं० ८६८ (विक्रमी) में श्री वाचस्पति मिश्र ने इस ग्रन्थ को समाप्त किया। पांचवीं कारिका की व्याख्या में वाचस्पति लिखता है—

"सर्वं चैतदस्माभिर्न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकायां व्युत्पादितमिति नेहोक्तं विस्तरभयात्।"

[बालरामोदासीन संस्करण, पृ० १०५]

नवम कारिका की व्याख्या करते हुए, सांख्यतत्त्वकौमुदी में पुनः लिखा है—

"अभावात्तु भावोत्पत्तौ० इत्यादि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामभिहितमस्माभिः।"

[बालरामोदासीन संस्करण, पृ० १४७]

सत्रहवीं कारिका की व्याख्या पर पुनः लिखा है—

"०—सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गः इत्युपपादितं न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकायामस्माभिः।"

[बालरामोदासीन संस्करण, पृ० २२४—२६

सांख्यतत्त्वकौमुदी के इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है, कि न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका की रचना तत्त्वकौमुदी से पहले हो चुकी थी। इस आधार पर तात्पर्यटीका तथा न्यायसूची निबन्ध के समाप्ति के संवत्सर में दो वर्ष और जोड़ कर हमने सांख्यतत्त्वकौमुदी की रचना

[१] इस सम्बन्ध के प्रमाणों का उल्लेख इसी प्रकरण में प्रसंगवश आगे किया जायगा।

का संवत्सर ६०० विक्रमी मान लिया है। जो ख्रीस्ट ८४३ में आता है।

वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ विक्रमी संवत् होना चाहिये—

वाचस्पति के कालनिर्णायक पद्य के सम्बन्ध में यह आशंका की जा सकती है, कि उस पद्य का 'वत्सर' शब्द विक्रमी संवत के लिये प्रयुक्त हुआ है, अथवा शक संवत् के लिये? अभिप्राय यह है कि वाचस्पति का समय ८९८ विक्रमी संवत् मानना चाहिये, अथवा शक संवत्? इस सम्बन्ध में हमारा निश्चय है, कि यह विक्रमी संवत् स्वीकार किया जाना चाहिये। इसके लिये कुछ युक्ति हम उपस्थित करते हैं।

(क) वाचस्पतिकृत तात्पर्यटीका पर उदयनाचार्य ने तात्पर्यपरिशुद्धि नामक व्याख्या लिखी है। उदयनाचार्य ने अपने समय का द्योतक एक पद्य लक्षणावली नामक लघुकाय निबन्ध के अन्त में इसप्रकार लिखा है—

"*तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः। वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥*"

इससे स्पष्ट है, कि उदयनाचार्य ने ९०६ शक संवत् में लक्षणावली को समाप्त किया। अब यदि वाचस्पति के श्लोक में 'वत्सर' पद का अर्थ शक संवत् समझा जाय, तो इसका यह अभिप्राय होगा, कि वाचस्पति मिश्र ने ८९८ शक संवत् में तात्पर्यटीका* को समाप्त किया। यदि तात्पर्यपरिशुद्धि की समाप्ति का संवत्, लक्षणावली का संवत् ही मान लिया जाय [जो कि स्वभावतः लक्षणावली के संवत् से पहले ही माना जाना चाहिये], तो इन दोनों [तात्पर्यटीका और तात्पर्यपरिशुद्धि] ग्रन्थों में केवल आठ वर्ष का अन्तर होता है। यह बात सरलता से स्वीकार नहीं की जा सकती, कि बिना पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त हुए ही, तात्पर्यटीका पर तात्पर्यपरिशुद्धि जैसी टीका लिखे जाने का यत्न किया जा सके।

यह बात उस समय और भी विचारणीय हो जाती है, जब हम देखते हैं, कि उदयनाचार्य भी वाचस्पति का समकक्ष विद्वान् था। यदि वे दोनों एक काल में हों, तो बिना किसी पारस्परिक विशेष सम्बन्ध के यह संभावना नहीं की जा सकती, कि एक, दूसरे के ग्रन्थ पर व्याख्या लिखे। अभिप्राय यह है, कि तात्पर्यटीका लिखे जाने के अनन्तर, अपनी उपयोगिता के कारण पठनपाठनप्रणाली में स्वीकार किये जाने, और उसके फलस्वरूप विद्वज्जगत् में प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिये पर्याप्त समय की अपेक्षा होनी चाहिये। जिससे प्रभावित होकर तात्पर्यपरिशुद्धि जैसी व्याख्या लिखने की आवश्यकता उदयनाचार्य को अनुभव हुई। इसप्रकार की

---

* वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका की रचना के समय गौतम न्यायसूत्रों का जो पाठ विवेचनापूर्वक निर्णय किया, उसी के अनुसार तात्पर्यटीका के अन्त में उन सूत्रों को यथाक्रम लिख दिया। यह तात्पर्यटीका के एक परिशिष्ट के समान है। इसी सबका नाम न्यायसूचीनिबन्ध है, जिसके अन्त में उक्त श्लोक लिखा गया है। इसलिये हमने उस संवत् का सम्बन्ध तात्पर्यटीका की समाप्ति के साथ ही निर्दिष्ट कर दिया है।

परिस्थिति को आठ वर्ष जैसे अत्यल्प काल में प्राप्त करना असम्भव है। इसलिये वाचस्पति के पक्ष म 'वत्सर' पद का अर्थ शक संवत् नहीं समझना चाहिये।

तात्पर्यपरिशुद्धि के प्रारम्भ में उदयनाचार्य ने एक श्लोक के द्वारा वाचस्पति मिश्र के सम्बन्ध में अत्यन्त आदरातिशय प्रकट किया है, इससे स्पष्ट होता है, कि उदयन के समय तक वाचस्पति मिश्र अपनी कृतियों के आधार पर विद्वन्मण्डल में पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। उदयन का श्लोक इसप्रकार है—

"मातः सरस्वति पुनः पुनरेष नत्वा बद्धाञ्जलिः किमपि विज्ञपयाम्यवेहि।
वाक्चेतसोर्मम तथा भव सावधाना वाचस्पतेर्वचसि न स्खलतो यथैते ॥"

वाचस्पति के सम्बन्ध में इस आदरातिशय के प्रदर्शन से इन दोनों ही विद्वानों की स्थिति पर विचार करते हुए, निश्चित अनुमान किया जासकता है, कि उदयनाचार्य वाचस्पति मिश्र को अपने से पर्याप्त प्राचीन जानता है। वाचस्पति के श्लोक में 'वत्सर' पद का विक्रमी संवत् अर्थ किये जाने पर उदयनाचार्य से १४३ वर्ष पूर्व वाचस्पति की स्थिति स्पष्ट होती है, जो उक्त भावनाओं के बनने के लिये अत्यन्त उपयुक्त समय है। यह बात आठ वर्ष के अत्यन्त अल्प काल में संभव नहीं मानी जासकती।

'वत्सर' पद के सम्बन्ध में डा० गंगानाथ झा महोदय के विचार—

(ख)—महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा महोदय ने सांख्यतत्त्वकौमुदी[1] की भूमिका में वाचस्पति का समय ८९८ विक्रमी संवत् ही स्वीकार किया है। श्रीयुत झा महोदय ने यह भी लिखा है, कि मिथिला प्रदेश में स्थित सिमरौनगढ़ी के शिलालेख[2] से यह प्रतीत होता है, कि शक संवत् १०१९ अर्थात् ११५४ विक्रमी संवत् और १०९७ ईसवी सन् में नान्यदेव नामक राजा ने इस वास्तु का निर्माण कराया। ईसा की ग्यारहवीं सदी के अन्तिम भाग में नान्यदेव राजा हुआ। झा महोदय के अभिप्रायानुसार इससे कुछ सदी पूर्व मिथिला प्रदेश पर नैपाल के राजाओं का आधिपत्य था। नैपाल पर्वतीय प्रदेश होने के कारण वहां के राजा शिबिकाओं में [आजकल की भाषा में इन्हें डांडी कहते हैं] पुरुषों के कन्धों पर ही चलते थे, इसलिये उनको नरवाहन कहा जाता था। ऐसे ही किसी प्रतापी राजा के मिथिला पर प्रभुत्व के समय, वाचस्पति मिश्र ने अपने भामती नामक निबन्ध को समाप्त किया हैं। भामती के एक उपसंहार श्लोक में वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—

---

[1] सांख्यतत्त्वकौमुदी का यह संस्करण ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना से १९३४ ईसवी सन् में प्रकाशित हुआ है। इसका सम्पादन भी उक्त झा महोदय ने ही किया है।

[2] सिमरौनगढ़ी के शिलालेख में प्रस्तुत प्रसंग के लिए उपयोगी श्लोक इसप्रकार है—

"नन्देन्दुबिन्दुविधुसम्मितशाकवर्षे, सच्छ्रावणे सितदले मुनिसिद्धतिथ्याम्।
स्वातीशनैश्चरदिने करिवैरिलग्ने, श्री नान्यदेवनृपतिर्व्यदधीत वास्तुम् ॥"

"नृपान्तराणां मनसाप्यगम्यां भ्रूक्षेपमात्रेण चकार कीर्त्तिम् ।
कार्तस्वरासारसुपूरितार्थसार्थः स्वयं शास्त्रविचक्षणश्च ॥
नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्त्तुं नच पारयन्ति ।
तस्मिन्महीपे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः ॥"

श्लोक के अन्तिम चरण का 'नृग' पद उक्त राजा की नरवाहनता को स्पष्ट करता है। इससे निश्चय होता है, कि वाचस्पति के समय में मिथिला पर नैपाल के किरात राजाओं का पूर्ण आधिपत्य था।

झा महोदय के विचार में असामञ्जस्य—

यद्यपि श्रीयुत झा महोदय ने अपने विवरण में वाचस्पति का समय ८४१ ईसवी सन् अर्थात् ८९८ विक्रमी संवत् ही स्वीकार किया है, शक संवत् नहीं। परन्तु इस प्रसंग में जो साधन आपने उपस्थित किये हैं, वे सर्वथा अपर्याप्त हैं। क्योंकि इतिहास और ताम्रपत्रों के आधार पर यह बात स्पष्ट होती है, कि खीस्ट नवमशतक के प्रारम्भ से ही मिथिला पर नैपाली राजाओं का प्रभुत्व नहीं था, प्रत्युत मिथिला पर पालवंश के राजाओं का आधिपत्य था। खीस्ट ८१० से ८४६ तक पालवंश का एक बहुत ही पराक्रमी और यशस्वी राजा देवपाल [1] नामक था, यह बड़ा दानी और धार्मिक मनोवृत्ति का था। वाचस्पति ने भामती के अन्त में जिस राजा का उल्लेख किया है, वह देवपाल सदृश प्रतापी और विद्वान् राजा ही सम्भव हो सकता है।

राजा देवपाल के लिये नृग पद का प्रयोग—

हमारे विचार से वाचस्पति के उक्त पद्य में 'नृग' शब्द नरवाहनता का द्योतक नहीं है। प्रत्युत भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध 'नृग' नामक राजा की समानता, देवपाल में दिखलाने के लिये ही इस शब्द का यहां प्रयोग किया गया है। हमारे इस विचार को, भामती की व्याख्या वेदान्त-कल्पतरु के इस प्रसंग के पद भी पुष्ट करते हैं। वहां भामती के उक्त पद्य का संकलितार्थ करते हुए लिखा है—

"तथाविधः सार्थो यस्य प्रकृतस्तेन वर्त्तते स नृगस्तथेत्यपरः। नृग इति राज्ञ आख्या [2] "

इससे स्पष्ट होता है, कि भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध 'नृग' नामक राजा के गुणों का ध्यान रखते हुए, प्रतापी धार्मिक देवपाल को ही 'अपर नृग' कहा गया है। ताम्रपत्रों में अन्यत्र भी 'नृग' नाम का इसप्रकार उल्लेख आता है। एक ताम्रपत्र का लेख इसप्रकार है—

"भूमिप्रदानान्न परं प्रदानं दानाद् विशिष्टं परिपालनं च।
सर्वैऽतिसृष्टां परिपाल्य भूमिं नृपा नृगाद्यास्त्रिदिवं प्रपन्नाः [3] ॥"

---

[1] हिस्ट्री ऑफ बङ्गाल, वोल्यूम १, श्री रमेशचन्द्र मजूमदार द्वारा संपादित। पृष्ठ ९६--१२२।

[2] निर्णयसागर प्रेस, बम्बई संस्करण पृ० १०२१।

[3] Khoh (खोह) कॉपर प्लेट, महाराज संक्षोभ, [२०९ गुप्त संवत्, ५२८ ईसवी सन्] फ्लीट गुप्त इन्स्क्रिप्शन्ज्, पृष्ठ ११५, पंक्ति २३।

उस समय के इतिहास में तत्कालीन राजाओं की, प्राचीन प्रसिद्ध राजाओं के साथ समानता दिखलाने के लिये अन्य भी अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। उनमें से कुछ इसप्रकार हैं—

(१)—समुद्रगुप्त (३३०—३७५ ईसवी सन्) के सम्बन्ध में एक लेख इसप्रकार है—
विस्मारिता नृपतयः पृथुराघवाद्याः [१]।

(२)—इसीप्रकार यशोधरवर्मन (५३२ ईसवी सन् के लगभग) के सम्बन्ध में एक लेख है—
स श्रेयोधाम्नि सम्राडिति मनुभरतालर्कमान्धातृकल्पे
कल्याणे हेम्नि भास्वान् मणिरिव सुतरां भ्राजते यत्र शब्दः। [२]

(३)—राजा गोपाल (७५० ई० सन् के लगभग) के सम्बन्ध का भी एक ऐसा ही लेख है—
इष्टास्ते सात कृतिनां सुराज्ञि यस्मिन् श्रद्धेयाः पृथुसगरादयोऽप्यभूवन्॥ [३]

इसप्रकार वाचस्पति मिश्र के लेख में भी 'नृग' पद के प्रयोग से नृग के समान दानी और प्रजावत्सल महनीयकीर्त्ति राजा देवपाल का ही उल्लेख किया गया [४] है। अब यदि हम वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ विक्रमी संवत समझते हैं तो निश्चित ८४१ ख्रीस्ट के समीप उसका समय आता है, जो मिथिला पर राजा देवपाल के प्रभुत्व का समय है, और वाचस्पति का वर्णन सर्वथा उसकी स्थिति के अनुकूल है।

'वत्सर' पद का 'विक्रम संवत्' अर्थ ही समञ्जस है—

इसके विपरीत यदि हम 'वत्सर' पद का अर्थ शक संवत् समझते हैं, तो ८९८ शक संवत्' ख्रीस्ट ९७६ सन् आता है। अब हमें देखना चाहिये कि इस समय मिथिला पर किस राजा का प्रभुत्व था? इतिहास[५] से हमें मालूम होता है, कि पाल राज्य की अत्यधिक अवनति का यह काल था। मिथिला की प्रजा ने कुछ समय पूर्व पाल राज्य के विरुद्ध एक क्रान्ति कर दी थी, और मिथिला प्रदेश का बहुत बड़ा भाग पाल राज्य से निकल चुका था। मिथिला में उस समय किसी

---

[१] एरण का शिलालेख, फ्लीट् गुप्त इन्स्क्रिप्शन्ज़, संख्या २।
[२] मन्दसोर शिलास्तम्भ, फ्लीट् गुप्त इन्स्क्रिप्शन्ज़, संख्या ३३।
[३] नालन्दा कॉपर प्लेट, देवपालदेव लेखित।
[४] 'तस्मिन् महीपे महनीयकीर्त्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः'

Unfortunately there is (as Professor Ludars informs me) no epigraphical record of this king and we cannot say when or where he lived. [Introduction, "The Yoga-System of Patanjali," by J.H. Woods. P.22.

परन्तु उक्त अध्यापक महोदय इस बात का निर्णय न कर सके, कि वाचस्पति के श्लोक में 'नृग' पद तत्कालीन किसी राजा का साक्षात् नाम नहीं, प्रत्युत उसकी उपमा के लिये प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि भामती के व्याख्याकार अमलानन्द सरस्वती ने वेदान्तकल्पतरु में स्पष्ट कर दिया है।

[५] हिस्ट्री ऑफ् बंगाल, वॉल्यूम १, श्री रमेशचन्द्र मजूमदार द्वारा सम्पादित। पृष्ठ १६-१५२।

भी एकच्छत्र प्रतापी राजा का इतिहास से पता नहीं लगता। ऐसी स्थिति में वाचस्पति के द्वारा नृग के समान प्रतापी और धार्मिक राजा का वर्णन अनर्गल सा ही होजाता है।

ख्रीस्ट ६८८ के बाद पालवंश के एक ऐसे राजा का उल्लेख इतिहास[1] में आता है, जिसने पालवंश के नष्ट राज्य का उद्धार किया। इस राजा का नाम महीपाल था। इसने ही मिथिला को पुनः विजय किया। इससे लगते हुए पूर्वकाल में मिथिला पर किसी भी एकच्छत्र राजा का राज्य इतिहास से पता नहीं लगता। 'वत्सर' का अर्थ, शक संवत् मानने पर वाचस्पति के १० वर्ष बाद महीपाल का समय प्रारम्भ होता है, ऐसी स्थिति में वाचस्पति के वर्णन का विषय महीपाल को कदापि नहीं कहा जासकता। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि वाचस्पति के 'वत्सर' पद का विक्रमी संवत् ही अर्थ समझना चाहिये।

'वत्सर' पद का अर्थ 'विक्रम संवत्' नहीं, अपितु 'शक संवत्' है, श्रीयुत दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य का मत—

श्रीयुत दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने इस सम्बन्ध में कुछ नई सूचनाएं प्रकाशित कराई हैं[2]। उनके आधार पर आपने 'वत्सर' पद का अर्थ 'शक संवत्' मानने की प्रेरणा की है। आपके लेखका सारांश इसप्रकार है—

(१)—वाचस्पति ने भामती में शङ्कराचार्य के प्रतिद्वन्द्वी भास्कर [illegible] खण्डन किया है, शङ्कर का काल यद्यपि अनिश्चित है, फिर भी उसे ८०० ईसवी सन् में समझना चाहिये। इसलिये वाचस्पति का समय जल्दी से जल्दी १००० ईसवी सन् के लगभग माना जासकता है।

(२)—बौद्ध मत का खण्डन करते हुए, तात्पर्यटीका के पृष्ठ ३३६ पर[3] अपोह शब्द के अर्थ-प्रसंग में वाचस्पति एक उद्धरण इसप्रकार देता है—

"यथाह भदन्तधर्मोत्तरः —

"बुद्ध्या कल्पितया विविक्तमपरैर्यद्रूपमुल्लिख्यते। बुद्धिर्नो न बहिः' इति।"

यह सन्दर्भ, शरबेट्स्की Stcherbatsky के लेखानुसार, तिब्बती भाषा में सुरक्षित, धर्मोत्तरप्रणीत 'अपोहप्रकरण' नामक रचना के आधार पर है। वाचस्पति के द्वारा 'धर्मोत्तर' के साथ आदरणीय 'भदन्त' पद का प्रयोग करने से प्रतीत होता है, कि धर्मोत्तर, वाचस्पति से लगभग एक सौ वर्ष पुराना होगा। तिब्बती आधारों पर धर्मोत्तर, राजा वनपाल [ख्रीस्ट नवम शतक का मध्य] का समकालिक था। वस्तुतः धर्मोत्तर, पालवंश के चार पांच राजाओं के अनन्तर आया। राजतरंगिणी [४।४९८] में भी धर्मोत्तर का उल्लेख है। वहां इसे जयापीड (८०० ई० सन्) का समकालिक बताया है। यह कथन तिब्बती साक्षी के कुछ अधिक विरुद्ध नहीं है, और हम

[1] हिस्ट्री ऑफ् बंगाल, वॉल्यूम १, श्री रमेशचन्द्र मजूमदार द्वारा सम्पादित। पृष्ठ ६६-१२२।

[2] देखें—'जर्नल ऑफ् दि गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टिट्यूट' प्रयाग, Vol. 2 Part 4 अगस्त १९४५, पृष्ठ ३४९ से ३५९।

[3] तुलना करें, न्यायकन्दली पृ० १८७, बनारस का विजयानगरं सीरीज् संस्करण। तात्पर्यटीका का उक्त पृष्ठ भी इसी सीरीज् के संस्करण का है।

धर्मोत्तर को सरलता से खीस्ट नवम शतक के पूर्वार्ध में रख सकते हैं। इसलिये वाचस्पति दशम शतक से पूर्व नहीं रक्खा जासकता।

(३)—न्यायलीलावती[1] में एक निम्नलिखित सन्दर्भ है—

"तदिदं चिरंतनवैशेषिकमतदूषणं भूषणकाररयातित्रपाकरम्। तदियमनाम्नातता भासर्वज्ञस्य यदयमाचार्यमप्यवमन्यते। तथा च तदनुयायिनस्तात्पर्याचार्यस्य सिंहनादः—स विदेव हि भगवतीत्यादि"

तात्पर्यटीका [लाजरस संस्करण, पृ० २७७] में वाचस्पति ने भी इसको उद्धृत किया[2] है। इसप्रकार वल्लभाचार्य [११०० ई० सन्] के अनुसार वाचस्पति का समय, न्यायभूषण के रचयिता भासर्वज्ञ के बाद आता है। न्यायभूषण में भासर्वज्ञ ने बौद्ध पण्डित प्रज्ञाकर गुप्त [गणकारिका G.O.S.Intro.P.I.] के विचारों का खण्डन किया है। इसप्रकार भासर्वज्ञ का जल्दी से जल्दी का काल खीस्ट नवम शतक रक्खा जासकता है।

(४)—किरणावली[3] के पृष्ठ ११४ पर उदयन ने कालनिरूपण प्रसंग में एक सन्दर्भ इस प्रकार उद्धृत किया है—

"न चात्माकाशौ तथा भवितुमर्हतो विशेषगुणवत्त्वात् पृथिव्यादिवदित्याचार्याः।'

तात्पर्यटीका पृष्ठ २८० [लाजरस संस्करण] में वाचस्पति का लेख इसप्रकार है—

"अपि चाकाशात्मानौ न परापरव्यतिकरकारणम्, असाधारणगुणयोगित्वात्, पृथिव्यादिवत्।"

परन्तु किरणावली के व्याख्याकार वर्धमान ने यहां 'आचार्य' पद से व्योमशिवाचार्य का ग्रहण किया है, वाचस्पति का नहीं इससे यही परिणाम निकाला जा सकता है, कि वर्धमान, वाचस्पति को व्योमशिवाचार्य से पीछे समझता है।

इस सम्बन्ध में यह एक ध्यान देने की बात है, कि व्योमवती [पृ० ३४२-३] कन्दली [पृ० ६४, १६८-९] तात्पर्यटीका [पृ० २८०-१] और लीलावती [पृ० २८३] के सम्बन्धित सन्दर्भों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन इस बात को प्रकट करता है, कि वाचस्पति सहित ये सब विद्वान् यहां समान रूप से किसी एक युक्ति का ही विरोध कर रहे हैं, जिसको लीलावती में 'भूषण' के नाम पर दर्शाया गया है। लीलावती का पाठ है—

"न च परत्वापरत्वसिद्धिरपि, बहुतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वेनैव तदुपपत्तेः इति भूषणः[4]।"

---

[1] निर्णयसागर प्रैस बम्बई का मूल संस्करण, पृष्ठ १२।

[2] In the न्यायलीलावती occurs the following passage तदिदं चिरंतन............भगवतीत्यादि, which is also quoted by Vacaspati Misra in his Tatparyatika(P 227)

वस्तुतः तात्पर्यटीका के उक्त पृष्ठ में 'सविदेव भगवती वस्तूपगमे नः शरणं' यह पाठ है। उद्धरण वहां कोई नहीं है। इसलिये श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय को यह लिखना चाहिये था, कि न्यायलीलावती में तात्पर्याचार्य के जिस सिंहनाद का निर्देश है, वह तात्पर्यटीका के उक्त स्थल में उपलब्ध होता है।

[3] चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस संस्करण।

[4] लीलावती मूल, निर्णयसागर प्रैस संस्करण, पृ० २२।

उदयन और श्रीधर की अपेक्षा व्योमशिव पूर्ववर्त्ती आचार्य है, इस विचार को व्योमवती, कन्दली और किरणावली से पांच [1] स्थलों की परस्पर तुलना करके पुष्ट किया जासकता है। व्योमशिव का समय, ख्रीस्ट दशम शतक का [2] पूर्वार्ध, अनुमान किया जाना चाहिये, जब कि उदयन के 'आचार्य' पदका वर्धमान ने 'वाचस्पति' अर्थ न कर 'व्योमशिव' किया है, तब व्योमशिव की अपेक्षा वाचस्पति को परवर्त्ती मानने पर वाचस्पति का समय ख्रीस्ट दशम शतक का उत्तरार्द्ध ही स्वीकार किया जासकता है। इसप्रकार वाचस्पति का 'वस्वङ्कवसु' [८९८] वत्सर, शक संवत् ही मानना चाहिये। ८९८ शक संवत् में ७८ जोड़ने से ९७६ ईसवी सन् बन जाता है, जो ठीक ही दशम शतक का उत्तरार्ध भाग है।

(५)—श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने पांचवीं युक्ति में लिखा है, कि उपर्युक्त विचार और भी पुष्ट हो जाते हैं, जब हम देखते हैं, कि श्रीधर ने न्यायकन्दली में वाचस्पति की रचना के साथ कहीं भी परिचय प्रकट नहीं किया है, उदाहरण के लिये 'तमस्' के वर्णन में श्रीधर ने दो श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनके रचयिता का नाम अज्ञात है। श्लोक हैं—

'तदुक्तम्—

न च भासामभावस्य तमस्त्वं वृद्धसम्मतम्। छायायाः कार्ष्ण्यमित्येवं पुराणे भूगुणश्रुतेः॥

दूरासन्नप्रदेशादिमहदल्पचलाचला। देहानुवर्त्तिनी छाया न वस्तुत्वाद्विना भवेत्॥"इति।

ये ही श्लोक वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका [पृ० ७६] में वार्त्तिककार के नाम से उद्धृत किये हैं। उसके पाठभेद को देखकर यह कहा जासकता है, कि इन दोनों ने इन श्लोकों को एक ही स्थान से नहीं लिया है, तथा परस्पर एक दूसरे के आधार का परिचय नहीं।

श्रीधर[3] ने सांख्य के सत्कार्यवाद का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। वहां पर '*असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः*' इत्यादि एक पुरानी कारिका उद्धृत की गई है। आपाततः देखने पर यह बात मालूम होती है, कि श्रीधर ने ९ वीं सांख्यकारिका की वाचस्पति मिश्र लिखित 'तत्त्वकौमुदी' के ही शब्दों का खण्डन किया है, जहां कि उक्त पुरानी कारिका उद्धृत है। परन्तु उन सन्दर्भों का सूक्ष्म परीक्षण इस बात को सिद्ध करता है, कि श्रीधर ने ठीक जिन शब्दों का उद्धरण अथवा खण्डन किया है, वे वाचस्पति के नहीं हैं, और उक्त कारिका भी, जो उक्त प्रसंग पर दोनों ग्रन्थों में उद्धृत है, सांख्यकारिका की एक प्राचीन व्याख्या युक्तिदीपिका [4] में भी उपलब्ध होती है। इसीप्रकार न्यायकन्दली [5] में प्रसंगवश सांख्यकारिका ६७ की व्याख्या की गई है, परन्तु इस

---

१ पांच स्थलों को देखें—जर्नल ऑफ् दि गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, अगस्त, १९४५, पृष्ठ ३५१।

२ उक्त जर्नल, पृ० ३५१-२।

३ न्यायकन्दली, लाजरस[बनारस संस्करण, पृ० १४३-४४।

४ कलकत्ता संस्कृत सीरीज् संस्करण, पृ० ६१।

५ न्यायकन्दली, उक्त संस्करण, पृ० २८४।

कारिका के 'अकारणप्राप्तौ' पद का जो विशेष व्याख्यान वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में किया है, कन्दली में उसका पता नहीं। श्रीधर का यह मौन, जब कि उसने धर्मोत्तर का साक्षात् नाम लिया है, इस बात को सिद्ध करता है, कि वाचस्पति का समय ८४१ ई०सन् असम्भव है। वाचस्पति के अपने समय से यह पूरा १५० वर्ष पहले है।

श्रीयुत दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य के मत की समीक्षा और उसकी निराधारता—

इन आधारों पर श्रीयुत दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य महोदय ने वाचस्पति मिश्र का समय १००० ख्रीस्ट के लगभग निश्चित किया है, और इसीलिये 'वस्वङ्कवसुवत्सरे' में 'वत्सर' पद से शक नृपति के संवत् का निर्देश होना प्रमाणित किया है। हम उनके प्रत्येक आधार का यथासख्य आलोचन करना चाहते हैं।

(१)–शङ्कराचार्य के समय के सम्बन्ध में श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने स्वयं लिखा है, कि उसके समय का अभी तक ठीक निश्चय नहीं है। इसलिये उसका ८०० ख्रीस्ट इतना निश्चित केन्द्र नहीं है, जिसके आधार पर अन्य आचार्यों के समय का निश्चय किया जासके। अनिश्चय की बुनियाद पर निश्चय की दीवार खड़ी नहीं की जा सकती। इतना अवश्य कहा जा सकता कि शंकर से वाचस्पति अर्वाचीन है, परन्तु उनके कालभेद को नियत नहीं किया जासकता। इसलिये शंकर से दो सौ वर्ष वाचस्पति का अन्तर, आधारहीन कल्पनामात्र है। शङ्कर के प्रतिद्वन्द्वी भास्कर का वाचस्पति के द्वारा भामती में, खण्डन[1] किये जाने पर भी उसके समय पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालता। क्योंकि भास्कर का समय भी अभी अनिश्चित ही है। इसलिये मूल आधार का ही अनिश्चय होने से यह युक्ति, वाचस्पति के समय का निर्णय करने में कोई बल नहीं रखती।

(२)–वाचस्पति ने तात्पर्यटीका [पृ० ३४६] में बौद्ध विद्वान् धर्मोत्तर का नाम लेकर उसके एक सन्दर्भ को उद्धृत किया है। इसप्रकार का उल्लेख दोनों को समानकालिक मानने पर भी सर्वथा संभव हो सकता है। धर्मोत्तर के साथ 'भदन्त' पदका प्रयोग इस बात का निर्णायक नहीं हो सकता, कि धर्मोत्तर वाचस्पति से सौ वर्ष पूर्व होना चाहिये, तथा इसीलिये आदरणीय भदन्त पद का प्रयोग किया गया है। वाचस्पति, कोई धर्मोत्तर का अनुयायी नहीं है, जो प्राचीनता के विचार से उसके लिये आदरभाव प्रकट करे। प्रत्युत वह उसका विरोधी है, विरोधी के लिये इस प्रकार के प्रयोग, समकाल में ही अधिक संभव हो सकते हैं। वस्तुतः इस प्रयोग में आदर की कोई भावना भी नहीं। इससे तो विरोधिताप्रदर्शन पर ही अधिक प्रकाश पड़ता है। फिर हम लोग स्वयं

---

[1] भामती में भास्कर का खण्डन किन स्थलों पर किया गया है, इसका कोई निर्देश श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने अपने लेख में नहीं किया। फिर भी हमें इस बात के स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं, कि भास्कर, वाचस्पति की अपेक्षा प्राचीन है।

अपने समकालिक बौद्ध विद्वानों के लिये[1] बराबर इस पदका प्रयोग करते हैं। इसलिये वाचस्पतिके द्वारा धर्मोत्तर के साथ 'भदन्त' पद का प्रयोग उसकी प्राचीनताको नहीं,प्रत्युत समकालिकता को ही अधिक प्रकट करता है। श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने धर्मोत्तर का समय खीस्ट नवम शतक का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया है, वाचस्पति ने भी स्वयं अपना यही समय निर्दिष्ट किया है। इसके अतिरिक्त राज तरंगिणी [४।४६८] के आधार पर वाचस्पति को जयापीड का समकालिक होना चाहिये। अयापीड का समय ८००ई०सन है। यह तिब्बती साक्षीके भी कुछ अधिक विरुद्ध नहीं है। यह भी नहीं कहा जासकता, कि तिब्बती साक्षी इस विषय में कुछ अधिक प्रामाणिक हो। इसलिये यदि धर्मोत्तर का समय खीस्ट आठ सौ माना जाता है, तो वाचस्पति के ८४१ खीस्ट समय होने में कोई भी असामञ्जस्य नहीं कहा जासकता। संभव है, समकालिक होनेपर भी धर्मोत्तर,आयु में वाचस्पति से कुछ अधिक हो और इसीलिये उसने धर्मोत्तर के लिये भदन्त पद का प्रयोग किया हो। केवल इस पदके प्रयोग से, वाचस्पति की अपेक्षा धर्मोत्तर का एक सौ वर्ष पूर्व होना निश्चित नहीं किया जा सकता। इसलिये वाचस्पति के 'वत्सर' पद का विक्रम संवत् ही अर्थ समझना चाहिये।

(३)—न्यायलीलावती के एक सन्दर्भ के आधार पर श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है, कि वाचस्पति मिश्र का समय भासर्वज्ञ के बाद आता है। परन्तु प्रतीत यह होता है, कि उक्त सन्दर्भ को ठीक समझने के लिये यत्न नहीं किया गया, और भासर्वज्ञ तथा वाचस्पति मिश्र की पूर्वापरता का परिणाम, एक भ्रान्ति पर ही प्रकट कर दिया गया है। इस प्रसंग को अधिक स्पष्ट करने के लिये न्यायलीलावती के उक्त सन्दर्भ का हम यहां अर्थ कर देना चाहते हैं।

चिरंतन वैशेषिक मत में दूषण देना, भूषणकार [*न्यायभूषण के रचयिता भासर्वज्ञ*] के लिये अत्यन्त लज्जाजनक है। यह भासर्वज्ञ के लिये एक प्रकार से शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन है, जो वह आचार्य का भी तिरस्कार करता है। क्योंकि चिरंतन वैशेषिक मत के अनुयायी [वात्पर्यटीका के रचयिता आचार्य वाचस्पति मिश्र] का यह सिंहनाद [उद्‌घोषण=कथन] है, कि 'संविदेव भगवती' इत्यादि।"

इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट होता है, कि चिरंतन वैशेषिक मत में दूषण देकर भूषणकार भासर्वज्ञ ने आचार्य का अपमान किया है। यहां पर 'आचार्य' पद से वाचस्पति मिश्र का ही ग्रहण किया जासकता है। क्योंकि अगली हेतुगर्भित पंक्ति में उसी के ग्रन्थ और सन्दर्भ का निर्देश है। इसलिये वाचस्पति मिश्र को भासर्वज्ञ से पूर्ववर्त्ती माने बिना, भासर्वज्ञ के द्वारा उसके अपमान की

---

[1] आजकल सब ही लोग, भदन्त राहुल सांकृत्यायन और भदन्त आनन्द कौसल्यायन इन नामों को बोलते और लिखते हैं। ये दोनों बौद्ध विद्वान् इस समय वर्त्तमान हैं। इनमेंसे दूसरे सज्जन हमारे समीप कुछ दिन पढ़ते भी रहे हैं। परन्तु यथावसर सदा ही हम इन्हें भदन्त पद के साथ ही बुलाते व लिखते हैं। अब कुछ दिनों से राहुल के साथ, लिखने में महापण्डित पद का प्रयोग भी किया जाने लगा है।

कल्पना ही नहीं की जासकती। इसप्रकार इस सन्दर्भ के आधार पर जो परिणाम श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने प्रकट किया है, उससे सर्वथा विपरीत परिणाम निकलता है। भासर्वज्ञ का समय भट्टाचार्य महोदय ने खीस्ट नवम शतक लिखा है। ऐसी स्थिति में वाचस्पति अवश्य उससे पूर्व होना चाहिये। इसप्रकार खीस्ट नवम शतक के पूर्वार्ध में वाचस्पति का होना अत्यन्त स्पष्ट है। और इस आधार पर भी वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ विक्रमी संवत ही होना चाहिये।

प्रतीत यह होता है, कि श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय को न्यायलीलावती के उक्त सन्दर्भ में 'तदनुयायिनः' पद का अर्थ समझने में भ्रान्ति हुई है। संभवतः आपने 'तत्' शब्द, भासर्वज्ञ का परामर्शक समझा है, और इसप्रकार वाचस्पति मिश्र को भासर्वज्ञ का अनुयायी समझकर आपने भासर्वज्ञ को उससे पूर्ववर्त्ती मान लिया है। परन्तु आपका ध्यान इस असामञ्जस्य की ओर नहीं गया, कि उस अवस्था में भासर्वज्ञ की कृति को लज्जाजनक और उसको आचार्य का अपमान करने वाला कैसे बताया गया? वस्तुतः यहां 'तत्' पद 'चिरंतन वैशेषिक मत' का परामर्शक है। उसके अनुयायी वाचस्पति ने जो 'संविदेव हि भगवती' इत्यादि कथन किया है, उसकी कुछभी अपेक्षा न करके भूषणकार भासर्वज्ञ ने चिरंतन वैशेषिक मत में दूषण दिया है, इसलिये उसकी यह चेष्टा लज्जाजनक है, और आचार्य [वाचस्पति मिश्र] के अपमान की द्योतक है। क्योंकि उसके लेख की भासर्वज्ञ ने कुछ भी पर्वाह न की। इस न्यायलीलावती के सन्दर्भ में भासर्वज्ञ के विरुद्ध एक मीठी चुटकी ली गई है, जो स्पष्ट ही वाचस्पति मिश्र को उससे पूर्ववर्त्ती सिद्ध करती है।

(४)—किरणावली की एक पंक्ति के 'आचार्याः' पद से वर्धमान ने व्योमशिव का ग्रहण किया है, वाचस्पति का नहीं, जब कि 'आचार्याः' नाम से उल्लिखित पंक्ति वाचस्पति के ग्रन्थ में भी विद्यमान है। श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने इससे यह परिणाम निकाला है, कि वर्धमान, व्योमशिव को वाचस्पति मिश्र से पूर्ववर्त्ती आचार्य समझता है। इसीलिये 'आचार्याः' पद से उसने व्योमशिव का ग्रहण किया है, वाचस्पति का नहीं।

परन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। प्रथम तो यह ध्यान देने की बात है, कि यदि उदयन की पंक्ति के 'आचार्य' पद से वर्धमान ने व्योमशिव का ग्रहण किया है, तो इससे केवल इतना ही परिणाम निकाला जा सकता है, कि व्योमशिव, उदयन की अपेक्षा पूर्ववर्त्ती है। वाचस्पति का तो इससे कोई सम्बन्ध ही नहीं। और सम्बन्ध न होने का मुख्य कारण यह है, कि उदयनने प्रशस्तपाद भाष्य की व्याख्या में उक्त पंक्ति को लिखा है, वह प्रशस्तपाद भाष्य के जिन पदों की व्याख्या के सम्बन्ध में लिखी गई है, उन पदों की जिस आचार्य ने उस प्रकार की व्याख्या की हो, उसी का ग्रहण 'आचार्याः' पद से किया जा सकता है। वर्धमान इस बात को जानता था, और आज हम सब भी अच्छी तरह जानते हैं, कि प्रशस्तपाद भाष्य पर वाचस्पति ने कोई व्याख्या नहीं लिखी है। तब उदयन उसका किस प्रकार अतिदेश कर सकता था, और वर्धमान कैसे 'आचार्य' पद से उक्त प्रसंग में उसका ग्रहण करता। व्योमशिव प्रशस्तपाद भाष्य का व्याख्याता है, उदयन ने 'आचार्य' पद से

जिस सिद्धान्त का निर्देश किया है, उसी प्रसंग में उसी रूप में वह सिद्धान्त व्योमशिव के व्याख्यान में विद्यमान है। तब उदयन के 'आचार्य' पद से वर्धमान, वाचस्पति का ग्रहण कैसे करता, यह हम न समझ सके।

आप कह सकते हैं, कि वाचस्पति के ग्रन्थ में भी उसी तरह की पंक्ति उपलब्ध होती है। हम कहते हैं, कि हुआ करे, उसका प्रशस्तपाद भाष्य के व्याख्यान से कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी एक ही वस्तु की सिद्धि के लिये अनुमान किये जाने पर उनके पदों की समानता सर्वथा सम्भव है। अनुमानप्रयोग, गणित के समान ही समझने चाहियें। प्रत्येक व्यक्ति दो और दो चार ही कहेगा और लिखेगा। एक ही वस्तु के प्रतिपादन में अनुमानप्रयोगों का समान होना साधारण बात है। विचारना तो यह है, कि प्रशस्तपाद भाष्य की व्याख्या करते हुए उदयन, जब किन्हीं पदों की भिन्न व्याख्या का अतिदेश करता है, तब वह वाचस्पति मिश्र का उल्लेख कैसे कर सकता है? क्योंकि वाचस्पति मिश्र तो प्रशस्तपाद भाष्य का व्याख्याता ही नहीं। इसलिये प्रशस्तपादभाष्य के अन्यतम पूर्ववर्त्ती व्याख्याता व्योमशिव का ही वह अतिदेश करता है, और इसीलिये वर्धमान 'आचार्य' पद से व्योमशिव का ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में वाचस्पति के समय पर इस उल्लेख का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।

इस बात के स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती, कि उदयन और श्रीधर की अपेक्षा व्योमशिव पूर्ववर्त्ती आचार्य है। उसका समय, भट्टाचार्य महोदयने खीस्ट दशम[1] शतक का प्रारम्भ अनुमान किया है। परन्तु उसके इस समय का अथवा वर्धमान के लेख का वाचस्पति के कालनिर्णय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये अपने स्वतन्त्र आधारों पर वाचस्पति का समय, खीस्ट नवम शतक का पूर्वार्ध निश्चित कहा जा सकता है। इसप्रकार वाचस्पति का '*वस्वङ्कवसु* [८९८] *वत्सर*', शक संवत् नहीं माना जा सकता, प्रत्युत विक्रमी संवत् ही माना जाना चाहिये।

---

[1] श्रीयुत विभूतिभूषण भट्टाचार्य ने अपने लेख [दि जर्नल औफ़ दि गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टिट्यूट, प्रयाग, Vol. 3. Part 1. नवम्बर १९४५, पृष्ठ ४१-४६] में व्योमशिवाचार्य का काल, खीस्ट अष्टम शतक का प्रारम्भ, निश्चित किया है। और व्योमवती [पृ० ३९२] की 'श्रीहर्ष देवकुलमिति ज्ञाने' और 'अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वमात्मनि कर्तृत्वकरणत्वयोरसम्भव इति बाधकम्' इन पंक्तियों के आधार पर व्योमशिवाचार्य को थानेश्वर के राजा प्रसिद्ध श्रीहर्ष अथवा हर्षवर्धन का समकालिक भी बताया है। हर्ष का समकालिक मानने पर व्योमशिव का समय, खीस्ट सप्तम शतक का पूर्वार्ध होना चाहिये। इस आपत्ति से बचने के लिये श्रीयुत विभूतिभूषण महोदय ने व्योमशिव को हर्ष का [A younger contemporary of king Harsa] कनिष्ठ समकालिक कहा है। अर्थात् हर्ष जब अपनी आयु के अन्तिम दिनों में था, तब व्योमशिव युवावस्था में पदार्पण कर रहा था। लेखक संभवतः इस बात को बतलाना चाह रहा है, कि व्योमशिव ने प्रशस्तपाद भाष्य की व्योमवती टीका श्रीहर्ष की विद्यमानता में ही लिख डाली थी। हर्ष का अन्तिम वर्ष ६४८ ईसवी सन् है। यदि उस समय

(५)—श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय का विचार है, कि श्रीधर ने न्यायकन्दली में वाचस्पति की रचना के साथ परिचय प्रकट नहीं किया है। 'तमस्' के वर्णन में जो दो श्लोक न्यायकन्दली और न्यायकणिका में श्रीधर तथा वाचस्पति मिश्र ने उद्धृत किये हैं, यह संभव हो सकता है, कि उन दोनों ने इन श्लोकों को एक ही स्थल से न लिया हो। परन्तु इन दोनों ग्रन्थों में उद्धृत प्रस्तुत श्लोकों का कुछ पाठभेद इस बात का निर्णायक नहीं कहा जा सकता, कि इनमें से एक ने दूसरे का परिचय प्राप्त ही नहीं किया था। क्योंकि पाठभेद, बाद में लेखकों के द्वारा भी संभव हो सकते हैं, और यह हम अभी आगे स्पष्ट करने का यत्न करेंगे कि श्रीधर को वाचस्पति की रचना का परिचय प्राप्त था।

श्रीधर ने सांख्य के सत्कार्यवाद का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। वहां पर 'असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः' इत्यादि एक प्राचीन कारिका उद्धृत की गई है। आपाततः देखने पर कोई यह भले ही कह दे, कि श्रीधर ने इस कारिका को 'तत्त्वकौमुदी' से उद्धृत न कर, 'युक्तिदीपिका' से किया होगा। परन्तु उस प्रसंग के सन्दर्भों का सूक्ष्म परीक्षण इस बात को स्पष्ट सिद्ध कर देता है, कि श्रीधर ने यह कारिका वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी से ही उद्धृत की है। इसके अधिक स्पष्टीकरण के लिये उक्त प्रसंग के तीनों ग्रन्थों के पाठों को यहां उद्धृत कर देना परम आवश्यक होगा। प्रथम तत्त्वकौमुदी और कन्दली के पाठों को उपस्थित किया जाता है—

तत्त्वकौमुदी	कन्दली
असदकरणादिति—असच्चेत् कारणव्यापारात्पूर्वं कार्यं नास्य सत्त्वं कर्त्तुं केनापि शक्यं ....सतश्चाभिव्यक्तिरुपपन्ना, यथा	असदकरणात्—न ह्यसतो गगनकुसुमस्य सत्त्वं केनचिच्छक्यं कर्त्तुं मतश्च सत्कारणं युक्तमेव तद्धर्मत्वात् दृष्टं हि तिलेषु सत एव

व्योमशिव की आयु ३० वर्ष की भी मान लीजाय, जो कम से कम माननी आवश्यक है, तो भी अष्टम शतक के प्रारम्भ चरण तक जीने के लिये उसे ८० वर्ष और जीना चाहिये, जो असमञ्जस प्रतीत होता है। उसकी शेष आयु के इतने लम्बे समय की किसी अन्य रचना का भी पता नहीं लगता। वस्तुतः व्योमवती की श्रीहर्षसम्बन्धी पंक्तियों के आधार पर यह नहीं कहा जासकता, कि व्योमवती हर्ष की विद्यमानता में लिखी गई। यह बात निश्चित है, कि मंगलाचरण किये जाने पर भी ग्रन्थ की समाप्ति न होने के उदाहरण रूप में, कादम्बरी की प्रसिद्धि उस समय हो चुकी थी, जब व्योमवती लिखी गई। यह हम नहीं कह सकते हैं, कि हर्ष का देहान्त पहले हुआ या बाणभट्ट का, फिर भी इस प्रसिद्धि का समय हर्ष के कुछ समय बाद ही होना चाहिये। व्योमवती की ३१२ पृष्ठ की पंक्तियां भी इसमें कोई बाधा नहीं कर सकतीं। ऐसा उल्लेख चाहे जब हो सकता है, उसमें मृत या जीवित का बन्धन नहीं। व्योमशिव का समय, ख्रीस्ट अष्टम शतक का प्रारम्भ, स्वीकार करने में पुरन्दर के स्थापित मठ की परम्परा अच्छा प्रमाण है। परन्तु उक्त आधारों पर व्योमशिव को श्रीहर्ष का कैसा भी समकालिक बताना निराधार और व्यर्थ है। व्योमशिव का यह काल भी हमारे विचार में कोई बाधा नहीं डालता, और न वाचस्पति के [८९८ विक्रमी = ८४१ A. D.] काल पर ही कोई प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

पीडनेन तिलेषु तैलस्य,......असतः करणे तु न निदर्शनं किञ्चिदस्ति।

तैलस्य निष्पीडनेन करणं असतस्तु करणे न निदर्शनमस्ति।

इतश्च...सदेव कार्यम्—उपादानग्रहणात्—उपादानानि कारणानि तेषां ग्रहणं कार्येण सम्बन्धः.........सम्बन्धश्च कार्यस्याऽसतो न संभवति तस्मात् सदिति।

इतश्च सत्कार्यम्—उपादानग्रहणात्—उपादानानि कारणानि तेषां कार्येण ग्रहणं कार्यस्य तैः सह सम्बन्धः तस्मात् तत्कार्यं सदेव अविद्यमानस्य सम्बन्धाभावात्।

असम्बद्धमेव कारणैः कस्मात् कार्यं न जन्यते तथा चासदेवोत्पत्स्यतेऽत आह—सर्वसम्भवाभावादिति। असंबद्धस्य जन्यत्वे असंबद्धत्वाविशेषेण सर्वं कार्यजातं सर्वस्माद् भवेत्, न चैतदस्ति, तस्मात्...सम्बद्धं संबद्धेन जन्यत इति।

असम्बद्धमेव कार्यं कारणैः क्रियते इति चेन्न, सर्वसम्भवाभावात्। असम्बद्धत्वाविशेषे सर्वं सर्वस्माद् भवेत्, न चैवम्, तस्मात् कार्यं प्रागुत्पत्तेः कारणे सह सम्बद्धम्।

यथाहुः सांख्यवृद्धाः—'असत्त्वे नास्ति संबन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः। असंबद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः'॥ इति।

यथाहुः—'असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः। असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः।' इति।

स्यादेतत्—असंबद्धमपि सत् तदेव करोति यत्र यत्कारणं शक्तं शक्तिश्च कारणस्य कार्यदर्शनादवगम्यते,.........सा शक्तिः शक्तकारणाश्रया सर्वत्र वा स्यात् शक्य एव वा? सर्वत्र चेत् तदवस्थैवाऽव्यवस्था, शक्ये चेत् कथमसति शक्ये तत्र इति वक्तव्यम्।

अपि च—शक्तस्य जनकत्वमशक्तस्य वा। अशक्तस्य जनकत्वे तावदतिप्रसक्तिः शक्तस्य जनकत्वे तु किमस्य शक्तिः सर्वत्र, क्वचिदेव वा? सर्वत्र चेत् सैवाविव्याप्तिः अथ क्वचिदेव, कथमसति तस्मिन् कारणस्य शक्तिर्नियतेति वक्तव्यम्।

इन दोनों ग्रन्थों के प्रस्तुत पाठों की तुलना में हम स्पष्ट देख सकते हैं; कि कन्दली के पद, आनुपूर्वी, व्याख्याशैली, किसी भी अर्थ का इस रूप में प्रस्तुत करना, ये सब बातें तत्त्वकौमुदी के साथ कितनी अधिक समानता रखती हैं। कन्दली के पाठ, सांख्यकारिका की अन्य किसी भी व्याख्या के साथ समानता नहीं रखते। यदि श्रीधर ने, वाचस्पतिकृत तत्त्वकौमुदी के साथ परिचय रक्खे बिना ही स्वतन्त्र रूप से इस कारिका की व्याख्या लिखी होती; तो कारिकाओं की अन्य प्राचीन व्याख्याओं के समान, इसमें भी इतनी विशेषता या विभिन्नता अवश्य होती, जिससे हम इसप्रकार की समानता दिखलाने में असमर्थ रहते, जैसी कि अन्य व्याख्याओं के साथ कन्दली की असमानता स्पष्ट है।

जहां तक कन्दली में सांख्य की उक्त प्राचीन कारिका के उद्धरण का सम्बन्ध है, निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि कन्दलीकार ने यह कारिका, तत्त्वकौमुदी से ही ली है। क्योंकि

सांख्यसप्तति की जितनी पुरानी व्याख्या हैं, उनमें से केवल दो ही व्याख्याओं में उक्त कारिका उद्धृत हैं, एक सांख्यतत्त्वकौमुदी, दूसरी युक्तिदीपिका में। युक्तिदीपिका की व्याख्याशैली कन्दली की व्याख्या से किसी रूप में भी समानता नहीं रखती।

युक्तिदीपिका का पाठ इसप्रकार है—

यदुक्तं सतो निष्पन्नत्वात् क्रियाऽनुपपत्तिरिति तस्य व्याघातः। अथ मतमसत्यपि सम्बन्धे निष्पत्तिर्भवतीति, तेन कारकव्यापारवैयर्थ्यप्रसंगः। प्रागपि च कारकोपादानात् कार्यनिष्पत्तिप्रसंग इति। उक्तञ्च—

असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारकैः सत्त्वसङ्गिभिः। असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥

इति। आह-ननु च मध्यमे काले कर्त्रादिभिः कार्यं क्रियते। कः पुनरसौ मध्यमः काल इति।

इसके अतिरिक्त कन्दली में जिस क्रम पर उक्त कारिका को उद्धृत किया है, वह युक्तिदीपिका से भिन्न है। युक्तिदीपिका में 'असदकरणात्' इस प्रथम हेतु की व्याख्या में ही उक्त कारिका उद्धृत है। परन्तु कन्दली में 'सर्वसम्भवाभावात्' इस तृतीय हेतु की व्याख्या में उद्धृत की गई है, जो सांख्यतत्त्वकौमुदी के साथ ही समानता रखती है। इसके पूर्वापर के पाठ भी तत्त्वकौमुदी के साथ आश्चर्यजनक समानता रखते हैं। कन्दली के पाठों के साथ तुलना के विचार से युक्तिदीपिका के प्रस्तुत पाठों की कुछ भी समानता नहीं है। इन तुलनाओं के आधार पर निश्चित रूप से कहा जासकता है, कि कन्दलीकार श्रीधर अवश्य वाचस्पति की कृति तत्त्वकौमुदी से परिचित था। दोनों की इतनी अधिक समानता को आकस्मिक नहीं कहा जासकता। यह कल्पना तो सर्वथा उपहासास्पद होगी, कि वाचस्पति मिश्र ने इस आर्या की व्याख्या करने में कन्दली का आश्रय लिया हो।

वाचस्पति के साथ कन्दलीकार के अपरिचय को प्रकट करने वाला एक और प्रमाण, श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने बताया है, कि सांख्यसप्तति की ६७ वीं आर्या का व्याख्यान भी कन्दली [पृ० २८४] में है। इस आर्या के 'अकारणप्राप्तौ' पद का वाचस्पति ने एक विशेष अर्थ किया है, जो कन्दली में उपलब्ध नहीं है। इसलिये कन्दलीकार, वाचस्पति से परिचित नहीं था।

इस कथन से यही अभिप्राय निकाला जासकता है, कि यदि श्रीधर वाचस्पति से परिचित होता, तो अवश्य वह उक्त पद के वाचस्पतिकृत अर्थ को अपने ग्रन्थ में स्थान देता। परन्तु श्रीधर के इस प्रकरण को सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि श्रीधर इस प्रकरण में वाचस्पति का अनुकरण कर ही नहीं सकता था। उसने प्रसंग उठाया है, कि मुक्ति केवल ज्ञान से होती है, अथवा ज्ञान-कर्म समुच्चय से? श्रीधर ज्ञानकर्मसमुच्चय से मुक्ति मानता है, और तत्त्वज्ञान हो जाने पर सञ्चित कर्मों का नाश भी भोग के द्वारा ही मानता है, जैसे कि प्रारब्ध कर्मों का सब ही आचार्य मानते हैं। श्रीधर का कहना है कि तत्त्वज्ञान, जिसप्रकार प्रारब्ध कर्म का नाश नहीं कर सकता। इसीप्रकार वह सञ्चित कर्मों का नाश भी नहीं करसकता। तत्त्वज्ञान की विशेषता यही है कि

तत्त्वज्ञान हो जाने के अनन्तर जो कर्म किये जाते हैं, वे फलोत्पादक नहीं होते। तत्त्वज्ञान के अनन्तर भी क्योंकि पूर्वकर्मों का फल भोगना है, इसलिये तत्त्वज्ञान होने पर तत्काल शरीरपात नहीं हो जाता, प्रत्युत कुलाल जिसप्रकार एक बार चाक को चलाकर छोड़ देता है, और चाक फिर भी कुछ समय तक प्रेरणावश चलता रहता है, इसीप्रकार तत्त्वज्ञानी का शरीर भी प्रारब्ध कर्मों के उपभोग तक संस्कारवश स्थित रहता है। इसी प्रसंग में श्रीधर ने सांख्यसप्तति की उक्त आर्या को उद्धृत किया है।

सांख्यसप्तति के व्याख्याकारों ने, सञ्चित धर्माधर्म और तत्त्वज्ञान के अनन्तर होने वाले [अनागत = क्रियमाण] धर्माधर्म, इन दोनों को ही 'अकारणप्राप्तौ' पद में संगृहीत कर लिया है। अर्थात् उनके विचार के अनुसार तत्त्वज्ञान, सञ्चित कर्मों का नाश भी कर देता है, तथा अनागत कर्मों में फलोत्पादकता को भी नहीं होने देता। इसी भावना को लेकर सप्तति के व्याख्याकारों ने उक्त पद का अर्थ किया है और उन व्याख्याकारों में एक वाचस्पति भी है। परन्तु श्रीधर के साथ इस प्रसंग में यह भावना नहीं है। वह सञ्चित कर्मों का नाश तत्त्वज्ञान से नहीं मानता, इसलिये प्रस्तुत आर्या के उक्त पद का अर्थ करने में, अन्य व्याख्याकारों का अनुकरण न करने के लिये वह बाध्य हुआ है।

इसके अतिरिक्त न्यायकन्दली [पृ० २७६] में एक और आर्या [सांख्यकारिका ६५] का भी श्रीधर ने उल्लेख किया है। यद्यपि उसकी व्याख्या बहुत संक्षेप से की गई है, परन्तु फिर भी उसकी एक पंक्ति तत्त्वकौमुदी के साथ अत्यधिक समानता रखती है, जब कि यह आनुपूर्वी सांख्यकारिका की अन्य किसी भी व्याख्या में उपलब्ध नहीं है। पंक्ति है—

तत्त्वकौमुदी	कन्दली
निष्क्रियः स्वस्थ इति रजस्तमो-	उदासीनः स्वस्थः रजस्तमोवृत्ति-
वृत्तिकलुषया बुद्धया असंभिन्नः	कलुषत (?) या बुद्धया असम्भिन्नः

इन सब तुलनाओं के आधार पर, यह विश्वास किया जा सकता है, कि श्रीधर अवश्य वाचस्पति से परिचित था, और सांख्यदर्शन के प्रसंग में तत्त्वकौमुदी का भी उसने आश्रय लिया है। यह कोई आवश्यक नहीं है, कि वाचस्पति का साक्षात् नामोल्लेख किये जाने पर ही श्रीधर उससे परिचित समझा जाय। इसलिये यह निश्चित कहा जा सकता है, कि वाचस्पति अवश्य श्रीधर से पूर्ववर्ती है।

यदि यह मानलिया जाये, कि श्रीधरने अपने ग्रन्थ में वाचस्पति का स्मरण नहीं किया है। तो भी इस अपरिचय के आधार से वाचस्पति के समय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि यह आवश्यक नहीं है, कि कोई विद्वान् यदि किसी अन्य विद्वान् को जानता है, तो अवश्य अपने ग्रन्थ में उसका उल्लेख करे। यदि ऐसा हो, तो श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय के कथनानुसार कन्दली में युक्तिदीपिका अथवा उसके रचयिता का अवश्य उल्लेख होना चाहिये

का। अथवा सप्तति के अन्य व्याख्याकार माठर गौडपाद आदि के भी कन्दली में अनुल्लेख मूलक अपरिचय के कारण, उनको भी श्रीधर का परवर्ती मानलेना चाहिये। वस्तुतः इसप्रकार के अपरिचय की युक्ति, पूर्वापरता की निश्चायक कदापि नहीं मानी जासकती।

श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने अपने लेख[1] में, जो सूचनाएं वाचस्पति के 'वत्सर' पद का शक संवत् अर्थ समझने के लिये उपस्थापित की हैं, उन सब का विवेचन कर दिया गया है। इससे उन सूचनाओं की निराधारता स्पष्ट होजाती है, और वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ विक्रमी संवत् स्वीकार करने में कोई भी बाधा नहीं रहती।

'वत्सर' पद के विक्रमाब्द अर्थ में डॉ० कीथ, डॉ० वुड्ज़, डॉ० गंगानाथ झा आदि की संमति

(ग)—डॉ० कीथ ने वाचस्पति के 'वत्सर' पद को विक्रमाब्द ही माना है। [देखें, Indian logic and atomism P. 29-30, और हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिट्रेचर, पृष्ठ ४७४, ४७७, ४८३ ४९०]।

इसी प्रकार अध्यापक वुड्ज़ ने वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ 'विक्रम संवत्' ही स्वीकार किया[2] है। योगदर्शन के इंग्लिश अनुवाद की भूमिका [पृष्ठ २२] में उक्त अध्यापक महोदय ने कुछ अन्य विद्वानों के विचार भी इस सम्बन्ध में इसप्रकार प्रकट किये हैं।

कुसुमाञ्जलि (कलकत्ता, १८६४ ई० सन का संस्करण,) की भूमिका (पृ० १०) में अध्यापक कावॅल ने बताया है, कि वाचस्पति मिश्र ख्रीस्ट दशम शतक में निवास करता था।

श्रीयुत बॉथ[3] महोदय ने निश्चय किया है, कि वाचस्पति मिश्र, ख्रीस्ट एकादश शतक के अन्त, अथवा द्वादश शतक के प्रारम्भ में विद्यमान था।

अध्यापक मैक्डॉनल्ड,[4] वाचस्पति का समय, ख्रीस्ट एकादश शतक के समीप अनन्तर ही, स्थिर करता है।

ये सब निश्चय न्यूनाधिक रूप में, इस विचार पर आधारित हैं, कि वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में ७२ आर्या पर जिस 'राजवार्त्तिक' नामक ग्रन्थ को उद्धृत किया है, वह

---

[1] इस लेख का अन्तिम आधा भाग, उदयन के काल का निर्णय करने में लिखा गया है। उसका विवेचन यहां अप्रासंगिक होने से हमने छोड़ दिया है। वाचस्पति के कालनिर्णय पर इसका कोई प्रभाव नहीं। उदयन के 'तर्काम्बरांकप्रमितेषु' पद में, जो भट्टाचार्य महोदय ने 'तर्कस्वरांक' इसप्रकार के पाठभेद का प्रदर्शन किया है, वह सर्वथा निराधार और भट्टाचार्य महोदय की अपनी कल्पना है। श्रीधर और उदयन समकालिक थे, यह स्पष्ट है। उदयन का ९०६ शक संवत् काल सर्वथा ठीक है। वाचस्पति का समय पीछे खींच जाने पर, उनको उदयन के पद में पाठभेद की मनघड़न्त कल्पना करनी पड़ी है। उसमें तथ्य कुछ नहीं।

[2] J. H Woods कृत योगदर्शन व्यासभाष्य के इंग्लिश अनुवाद की भूमिका। पृ० २१-२२।

[3] [Bull. des Rel. de l' Ind , 1893, P. 271.]

[4] Hist. of Sansk. Lit, P. 393.

भोजराज की, अथवा उसके नाम पर की हुई, रचना है। उसका दूसरा नाम रणरङ्गमल्ल था, और वह १०१८ से १०६० ख्रीस्ट में धारा नगरी में राज्य करता था। बनारस कॉलिज के पं० काशीनाथ शास्त्री अष्टपुत्र ने डॉ० फिट्ज़ एडवर्ड हॉल को विश्वास दिलाया था, कि राजवार्त्तिक का एक हस्तलिखित ग्रन्थ [१] कई वर्ष तक उनके अधिकार में रहा है। परन्तु अब हमारे पास कोई ऐसा विश्वसनीय आधार नहीं है, जिससे 'राज' पद का अर्थ उक्त भोजराज समझा जासके।

इसीप्रकार अध्यापक पाठक ने धर्मकीर्ति और शङ्कराचार्य सम्बन्धी अपने एक लेख [२] में वाचस्पति के काल का निर्णय करने के लिये बताया है, कि बोधारण्य के शिष्य श्री भारती ने, सांख्यतत्त्वकौमुदी के अपने संस्करण [३] में 'राजवार्त्तिक' पद से पहले 'भोज' पद भी अन्तिम टिप्पणी में मुद्रित किया है। इसलिये प्रतीत होता है, कि यह राजवार्त्तिक भोजराज का ही है। क्योंकि वाचस्पति मिश्र उसको उद्धृत करता है। इसलिये वह अवश्य भोजराज से पीछे होना चाहिये। इसप्रकार वाचस्पति का समय ख्रीस्ट दशम शतक के अनन्तर ही आसकता है।

परन्तु अन्य सभी हस्तलिखित प्रतियों में 'राजवार्त्तिक' के साथ 'भोज' पद का उल्लेख नहीं है, इसलिये यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, कि रणरंगमल्लापरनामक भोज-राज व्यक्ति का 'राजवार्त्तिक' ग्रन्थ से कोई सम्बन्ध था। इसीलिये इस ग्रन्थ की तिथि के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती।

वस्तुत: प्रस्तुत भोजराज ने योगसूत्रवृत्ति के प्रारम्भिक पञ्चम श्लोक में अपने रचित ग्रन्थों का जो निर्देश किया है, उसमें 'राजवार्त्तिक' का उल्लेख नहीं है। इसलिये वाचस्पति के द्वारा उद्धृत 'राजवार्त्तिक' ग्रन्थ का, उक्त भोजराज के साथ सम्बन्ध जोड़ना ही मौलिक भ्रम है। इसीलिये इस उद्धरण के आधार पर वाचस्पति का समय उक्त भोजराज काल के पश्चात्, ख्रीस्ट दशम शतक के अनन्तर सिद्ध नहीं किया जा सकता।

प्रतीत होता है, कि इस ग्रन्थ के नाम के साथ 'राज' पद देखकर ही बिना किसी अनुसन्धान के, भोज का सम्बन्ध इसके साथ जोड़दिया गया है। तत्त्वसमाससूत्र के एक व्याख्याकार [४] ने तो इस नाम में से 'राज' पद को हटाकर साक्षात् 'भोज' पद का ही सन्निवेश कर दिया है।

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ 'शक संवत्'

---

[१] डॉ० हाल-सम्पादित, सांख्यप्रवचनभाष्य, १८५६, पृ० ३३।

[२] [See JRAS Bombay Branch, Vol. XXVIII, No. 48, 1891, P.89, and also the table in the same Journal. P.235, No.49, note 74] वुड्सकृत योग-दर्शन की भूमिका, पृ० २२ के अनुसार।

[३] बनारस जैनप्रभाकर प्रेस, १८८६, पृ० १८२।

[४] देखिये, इसी प्रकरण का 'युक्तिदीपिका' प्रसंग।

समझा है। उसका कहना [1] है, कि अपोहसिद्धि के रचयिता ने वाचस्पति मिश्र के सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिये बहुत यत्न किया है, और उसने उदयन का न उल्लेख किया और न खण्डन किया है, जिसका समय शक संवत् ६०६ [2] है, जो ६८३ ईसवी सन् होता है। उक्त शास्त्री महोदय अपने ग्रन्थ [3] में इसी परिणाम पर पहुंचे हैं, कि वाचस्पति के समय का सामञ्जस्य तभी हो सकता है, जब कि उसके 'वत्सर' पद का अर्थ शक सवत् माना जाय।

श्रीयुत[4] नीलमणि चक्रवर्त्ती M. A. महोदय, हरप्रसाद शास्त्री के उक्त परिणाम को सन्देहपूर्ण समझते हैं [5]।

इसके अतिरिक्त वाचस्पति का समय ८९८ शक संवत् मानते पर उदयन से उसका केवल सात आठ वर्ष का अन्तर, हमारे सन्मुख एक और जटिल समस्या उत्पन्न कर देता है। उदयन ने वाचस्पति मिश्र के लिये जो भावना, 'तात्पर्यपरिशुद्धि' के प्रारम्भ में प्रकट की है, वह इतने थोड़े अन्तर में सम्भव नहीं। वस्तुतः इस अन्तर को, अन्तर ही नहीं कहना चाहिये, यह तो समकालिकता का ही निश्चायक है। तब यह एक और विशेष ध्यान देने की बात है, कि अपोहसिद्धिकार, वाचस्पति मिश्र से इतना अन्तरंग परिचय प्रकट करता है, परन्तु उदयन का नाम तक नहीं लेता, जो अपने समय का मूर्द्धन्य नैयायिक विद्वान् था। इसलिये इससे प्रतीत यही होता है, कि वाचस्पति मिश्र और उदयन के काल में परस्पर इतना अधिक अन्तर है, कि अपोहसिद्धिकार जब वाचस्पति मिश्र का उल्लेख अथवा उसके मत का खण्डन कर रहा है, उस समय उदयन निश्चित ही भविष्यत् के गर्भ में होगा। फलतः इसका ध्यान रखते हुए, वाचस्पति का निर्दिष्ट 'वत्सर' पद, ८९८ विक्रमी संवत् में ही स्थिर किया जा सकता है। जो ख्रीस्ट ८४१ सन में आता है।

डा० गङ्गानाथ झा ने भी वाचस्पति के 'वत्सर' पदका अर्थ विक्रमाब्द ही माना है। [6]

विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी का मत और उसका विवेचन—

श्रीयुत विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी ने न्यायवार्त्तिक की भूमिका [7] में वाचस्पति के 'वत्सर'

---

१ Bibl. Ind. 1910, P. 3.

२ J.H.Woods ने योगदर्शन की भूमिका पृ० २३ पर यही संवत् लिखा है। वस्तुतः यहां ९०६ शक संवत् होना चाहिये, उदयन ने लक्षणावली में अपना समय 'तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः' लिखा है। जो ख्रीस्ट सन् ९८४ आता है।

३ Notices of Sanskrit Manuscripts, second series, Vol. II, P.XIX.

४ JASB. Vol. 3, 1907, P.205. Chronology of Indian Authors, a supplement to Miss Duff's Chronology of India.

५ जे. एच. वुड्ज़ कृत योगदर्शन भूमिका, पृ० २३ के आधार पर।

६ Poona Oriental Series No.59. Gautama's Nyay Sutras, by Ganganatha Jha. P 17. The Poona Orientalist, July-October 1945 के अनुसार।

७ चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस से प्रकाशित 'न्यायवार्त्तिक भूमिका' पृ० १४५-१४७।

पद का अर्थ 'शाक संवत्' बताया है। उन्होंने लिखा है, कि भामती के अन्त में वाचस्पति मिश्र ने जिस नृग राजा का उल्लेख किया है, उस अर्वाचीन राजा नृग का निर्देश, शार्ङ्गधर पद्धति में किया गया है। वहां विशेष राजवंशों के वर्णन में दो श्लोक इसप्रकार हैं—

"आविन्ध्यादाहिमाद्रेर्विरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसंगात्,
उद्ग्रीवेषु प्रहर्त्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसन्नः।
आर्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान् म्लेच्छविच्छेदनाभिः,
देवः शाकम्भरीन्द्रो जगति विजयते वीसलः क्षोणिपालः॥
ब्रूते सम्प्रति चाहमानतिलकः शाकम्भरीभूपतिः,
श्रीमान् विग्रहराज एष विजयी सन्तानजानात्मनः।
अस्माभिः करदं व्यधायि हिमवद्विन्ध्यान्तरालं भुवः,
शेषस्वीकरणाय मास्तु भवतामुद्योगशून्यं मनः।

इमौ नृगनृपतिपाषाणयज्ञयूपप्रशस्तौ[1]"

इन दोनों श्लोकों के अन्त में जो पंक्ति शार्ङ्गधर ने लिखी है, उसी के आधार पर द्विवेदी महोदय ने एक अर्वाचीन नृग की कल्पना कर डाली है, जो सर्वथा असंगत है।

वस्तुस्थिति यह है, कि ये दोनों श्लोक 'देहली-तोपरास्तम्भ' पर खुदे हुए हैं। फिरोजशाह तुग़लक, ईसा की चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध[2] में इस स्तम्भ को तोपरा (जि० अम्बाला) नामक स्थान से देहली में उठवा लाया था। यह स्तम्भ आज भी देहली में विद्यमान है। वस्तुतः यह अशोक का स्तम्भ है, और उसके अन्य पाषाणस्तम्भों के समान इस पर भी उसके सात आदेश ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण हैं। शाकम्भरी (वर्त्तमान-सांभर) का राजा वीसलदेव (खीस्ट तेरहवें शतक का उत्तरार्द्ध) तीर्थ यात्रा के लिये जब पर्वत प्रदेश की ओर जा रहा था, उसे शिवालक की उपत्यका में यह स्तम्भ मिला। उसने अशोक की प्रशस्तियों के नीचे स्तम्भ के रिक्त स्थानों पर उक्त दो श्लोकों में अपनी प्रशस्ति खुदवा दी। चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब फिरोजशाह तुग़लक इसे देहली उठवाकर लाया, उसने तात्कालिक पण्डितों के द्वारा इस स्तम्भ पर खुदे लेखों को पढ़वाने का बहुत यत्न किया। परन्तु उस समय ब्राह्मी के लेख किसी से नहीं पढ़े गये। यह बहुत संभव है, कि उन लेखों के पढ़ने का यत्न करने वालों में शार्ङ्गधर[3] भी हो। क्योंकि वीसलदेव की प्रशस्ति के लेख उसी समय की लिपि में उत्कीर्ण थे, उनको उसने ठीक पढ़ लिया, और अपने संग्रह में उन्हें उचित स्थान दिया। परन्तु ब्राह्मी के लेख न पढ़े जाने के कारण, अवश्य उसे यह भ्रम हुआ, कि ये स्तम्भ प्राचीन नृग राजा के यज्ञयूप ही होंगे, इसी भ्रान्ति पर उसने अपने

---

1. शार्ङ्गधर संहिता, श्लोक १२५७-५८॥
2. वी० ए० स्मिथ का इतिहास।
3. शार्ङ्गधर पद्धति का समय १३६३ खीस्ट है, [कीथ रचित, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर]।

ठीक इन्हीं श्लोकों के पीछे उक्त पंक्ति लिख दी है, परन्तु अब तो उन स्तूपों का एक २ अक्षर पढ़ा जा चुका है, इनका किसी भी नृग नामक राजा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इन स्तूपों को नृग के पाषाणयज्ञयूप समझलेना, शार्ङ्गधर के लिये कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं थी। आधुनिक काल में भी जब इन प्राचीन प्रशस्तियों के पढ़ने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ, तब तात्कालिक पण्डितों ने अपनी अज्ञानता को बहलाने के लिये इनके साथ बड़ी अद्भुत कहानियों का उद्भावन किया [१]। कहीं पाण्डवों का वनवास के समय सांकेतिक लिपि में अपनी बातों का लिख देना बताया गया, तो कहीं स्तूप के नीचे या आस पास प्राचीन धन का गढ़ा होना बताया गया। जिनका उक्त प्रशस्तियों से वस्तुतः कोई भी सम्बन्ध नहीं था। इसी तरह की एक बात शार्ङ्गधर ने भी अपने समय में कल्पना कर डाली।

ऐसी स्थिति में भामती के 'नृग' पद का जो अर्थ हमने समझा है, वही अधिक संगत प्रतीत होता है। द्विवेदी जी ने अपने लेख में और कोई भी ऐसी युक्ति उपस्थित नहीं की, जिसके आधार पर 'वत्सर' पद का अर्थ शक संवत् माना जासके।

वाचस्पति के एकादशशतकवर्ती न होने में अन्य ऐतिहासिक प्रमाण—

(घ)—ऐतिहासिक आधार पर एक और प्रमाण हम इस बात के लिये उपस्थित करते हैं, कि वाचस्पति का समय ख्रीस्ट का एकादश शतक किसी अवस्था में स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में एक श्लोक इसप्रकार है—

"नैवाश्रावि गुरोर्मतं न विदितं कौमारिलं दर्शनम्,
तत्त्वज्ञानमहो न शालिकगिरां वाचस्पतेः का कथा।" [अंक २, श्लोक ३]

इसमें वाचस्पति का उल्लेख है, यह भी इससे प्रतीत होता है, कि श्लोक की रचना के समय दार्शनिक आचार्यों में यह प्रतिष्ठित समझा जाता था। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का रचना-काल, ख्रीस्ट १०५५ के लगभग है। हम इसी ग्रन्थ के षष्ठ प्रकरण में अनिरुद्ध काल के प्रसङ्ग में इस बात का उल्लेख कर आये हैं। महोबा के चन्देल राजा कीर्त्तिवर्मा के सन्मुख इस नाटक का अभिनय, उसकी एक विजय के उपलक्ष्य में किया गया था। इस बात का उल्लेख स्वयं इस नाटक की प्रारम्भिक भूमिका में विद्यमान है। राजा कीर्त्तिवर्मा का राज्यकाल शिलालेखों [२] के आधार पर १०५१-१०९८ ईसवी सन् निश्चित है। ऐसी स्थिति में वाचस्पति का समय ख्रीस्ट एकादश शतक का अन्त कैसे माना जा सकता है? अवश्य ही इस नाटक की रचना से पर्याप्त पूर्व वाचस्पति का समय होना चाहिये, प्रभाकर और कुमारिल की कोटि में तभी उसकी गणना सम्भव हो सकती है।

---

[१] एशियाटिक रिसर्चेज, वॉल्यूम ५, पृष्ठ १३१। सेन्टिनरी रिव्यू ऑफ़ दि एशियाटिक सोसायटी, बंगाल।

[२] Dynastic History of Northern India, by H.C.Ray के अनुसार, Epigraphya Indica Vol.1.P.219 के आधार पर।

इन सब आधारों पर यह निर्णीत हो जाता है, कि वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ विक्रमाब्द ही किया जासकता है। इसप्रकार ८९८ विक्रम संवत्, ८४१ खीष्ट में आता है। वाचस्पति का यही काल निश्चित होता है। इसको आधार मानकर अब सांख्यसप्तति की अन्य व्याख्याओं के काल का निर्धारण किया जायगा।

जयमंगला टीका

हमारे पास इस टीका की जो प्रति है, उसका सम्पादन पं० हरदत्त शर्मा एम.ए. के किया है। यह ओरियण्टल सीरीज़ कलकत्ता में श्री डा० नरेन्द्रनाथ लॉ द्वारा प्रकाशित, ईसवी सन् १९२६ का प्रथम संस्करण है। श्रीयुत शर्मा जी के प्रस्तावना-गत लेख के अनुसार यह ग्रन्थ दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर संपादित किया गया है। यद्यपि पाठों का संशोधन अपूर्ण रह गया है, फिर भी इस दुष्प्राप्य ग्रन्थ का सम्पादन कर श्री शर्मा जी ने अक्षय पुण्य का लाभ किया है। इस देन के लिये विद्वज्जगत् सदा ही हृदय से उनका कृतज्ञ रहेगा।

टीकाकार और गोपीनाथ कविराज—

इस संस्करण के साथ श्रीयुत कविराज पं० गोपीनाथ जी एम.ए. महोदय ने अनुसन्धान-पूर्ण भूमिका लिखकर इसकी उपयोगिता को और भी बढ़ा दिया है। श्रीयुत कविराज जी ने इस ग्रन्थ के रचयिता के सम्बन्ध में दो बातों का वर्णन किया है—

(१) ग्रन्थ का कर्त्ता शंकराचार्य नहीं, प्रत्युत शंकरार्य है।

(२) यह शंकरार्य बौद्ध था।

इस ग्रन्थकर्त्ता के काल के सम्बन्ध में न तो श्रीयुत शर्मा जी ने और न श्रीयुत कविराज जी ने ही कुछ निर्देश किया है। ग्रन्थकर्त्तासम्बन्धी उपर्युक्त दो निर्णयों का विवेचन करने के पूर्व हम इसके काल के सम्बन्ध में कुछ निर्देश कर देना चाहते हैं।

टीका का रचनाकाल—

सांख्यसप्तति की ५१ वीं आर्या की व्याख्या करते हुए, वाचस्पति मिश्र ने 'ऊह' 'शब्द' 'अध्ययन' 'सुहृत्प्राप्ति' और 'दान' इन पांच सिद्धियों के जो अर्थ किये हैं, वे अन्य प्राचीन व्याख्याकारों के अर्थों से कुछ भेद रखते हैं। वाचस्पति मिश्र ने उक्त पदों के अपने अभिमत अर्थों का प्रतिपादन करने के अनन्तर स्वयं ही 'अन्ये व्याचक्षते' यह लिखकर प्राचीन व्याख्याकारों के अर्थ का भी निर्देश कर दिया है। यद्यपि वे अर्थ, माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका, गौडपादभाष्य और जयमंगला व्याख्या में समानरूप से ही उपलब्ध होते हैं, परन्तु उन अर्थों को प्रकट करने के लिये 'अन्ये व्याचक्षते' कहकर जिस सन्दर्भ को वाचस्पति ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है; वह सन्दर्भ, अति सामान्य तथा उपेक्षणीय शब्दभेद के साथ केवल जयमंगला व्याख्या में उपलब्ध होता है। तुलना के लिये उन दोनों सन्दर्भों को हम यहां उद्धृत कर देते हैं—

जयमंगला	सांख्यतत्त्वकौमुदी
जन्मान्तरसंस्कृतधियो यस्य बन्धमोक्षकारणभूतं समाख्याय प्रधानपुरुषान्तरज्ञानमुत्पद्यते तस्य सिद्धिरूहहेतुका ....।	अन्ये व्याचक्षते—विनोपदेशादिना प्राग्भवीयाभ्यासवशात्तत्त्वस्य स्वयमूहनं यत् सा सिद्धिरूहः।
यस्य सांख्यशास्त्रपाठमन्यदीयमाकर्ण्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते सा सिद्धिः शब्दहेतुका...।	यस्य सांख्यशास्त्रपाठमन्यदीयमाकर्ण्य ज्ञानमुत्पद्यते सा सिद्धिः शब्दः शब्दपाठान्तरभावात्।
यस्य शिष्याचार्यसम्बन्धेन सांख्यशास्त्रं शब्दतोऽर्थतश्चाधीत्य ज्ञानमुत्पद्यते, तस्याध्ययनहेतुका। अध्ययनेन हि तत्परिज्ञानात्।	यस्य शिष्याचार्यसम्बन्धेन संवादेन सांख्यशास्त्रं ग्रन्थतोऽर्थतश्चाधीत्य ज्ञानमुत्पद्यते साऽध्ययनहेतुका सिद्धिरध्ययनम्।
सुहृत्प्राप्तिरिति। योऽधिगततत्त्वं सुहृदं प्राप्य ज्ञानमधिगच्छति तस्य सुहृत्प्राप्तिपूर्विका। मित्रं हि स्नेहात् ज्ञानं प्रकाशयति।	सुहृत्प्राप्तिरिति। यस्याधिगततत्त्वं सुहृदं प्राप्य ज्ञानमुत्पद्यते सा ज्ञानलक्षणा सिद्धिस्तस्य सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धिहेतुः। दानेन ह्याराधितो ज्ञानी ज्ञानं प्रयच्छति।	दानं च सिद्धिहेतुः। धनादिदानेनाराधितो ज्ञानी ज्ञानं प्रयच्छति।

इस तुलना से स्पष्ट हो जाता है, कि यह सन्दर्भ वाचस्पति मिश्र ने जयमंगला व्याख्या से उद्धृत किया है। इस उद्धरण का उपसंहार करते हुए वाचस्पति ने जो वाक्य लिखा है, उससे उक्त अर्थ का और स्पष्टीकरण हो जाता है। उपसंहार वाक्य है—

"अस्य च युक्तायुक्तत्वे सूरिभिरेवावगन्तव्ये इति कृतं परदोषोद्भावनेन सिद्धान्तमात्रव्याख्यानप्रवृत्तानामिति।"

केवल सांख्यसिद्धान्तों के व्याख्यान में प्रवृत्त हुए वाचस्पति मिश्र ने स्वयं परदोषों का उद्भावन न करके इन अर्थों की युक्तता अथवा अयुक्तता के विचार का विद्वानों पर ही छोड़ दिया है।

जयमंगला, सांख्यतत्त्वकौमुदी से प्राचीन—

इसप्रकार इन उपक्रम और उपसंहार वाक्यों से यह निश्चय हो जाता है, कि इस सन्दर्भ को वाचस्पति मिश्र ने किसी अन्य प्राचीन व्याख्याग्रन्थ से उद्धृत किया है, और वह व्याख्याग्रन्थ जयमंगला हो सकता है, जैसा कि ऊपर की तुलना से स्पष्ट है। इसके परिणामस्वरूप, यह कहा जासकता है, कि जयमंगला व्याख्या, वाचस्पति मिश्र से प्राचीन है।

उक्त सन्दर्भ के अतिरिक्त और भी एक दो स्थलों पर वाचस्पति मिश्र ने जयमंगला व्याख्या का उपयोग किया है। ५१ वीं आर्या की व्याख्या का उपसंहार करते हुए जयमंगलाकार ने सांख्य के प्रसिद्ध दश मौलिक अर्थों का एक उपजाति छन्द से निर्देश किया है। वे दश मौलिक अर्थ, किन मूल तत्त्वों के आधार पर कहे गये हैं, इस बात का स्पष्टीकरण जयमंगलाकार ने

उपजाति छन्द के अनन्तर पठित अपने ग्रन्थ में किया है। वाचस्पति मिश्र ने अन्तिम ७२ वीं आर्या की व्याख्या में दश मौलिकार्थों का अनुष्टुप्[1] छन्द से निर्देश किया है, और उन श्लोकों के अनन्तर दश मौलिकार्थों के आधारभूत मूल तत्त्वों का स्पष्टीकरण करने के लिये शब्दशः उसी सन्दर्भ का उल्लेख है, जो जयमंगला में उपजाति[1] छन्द के अनन्तर [५१ वीं आर्या पर] है। वह सन्दर्भ इसप्रकार है—

जयमंगला	सांख्यतत्त्वकौमुदी
एकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यं चेति प्रधानमधिकृत्योक्तम्। अन्यत्वमकर्तृत्वं बहुत्वं चेति पुरुषमधिकृत्य। अस्तित्वं योगो वियोगश्चेत्युभयमधिकृत्य। स्थितिः स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्य।	*एकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यं च प्रधानमधिकृत्योक्तम्। अन्यत्वमकर्तृत्वं बहुत्वं चेति पुरुषमधिकृत्य। अस्तित्वं वियोगो योगश्चेत्युभयमधिकृत्य। स्थितिः स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्य।*

इस सन्दर्भ की तुलना, वाचस्पति मिश्र से जयमंगला की प्राचीनता को और भी स्पष्ट कर देती है। इसके अतिरिक्त एक और प्रसंग इसप्रकार है। तेरहवीं आर्या में 'इष्ट' पद का प्रयोग हुआ है। *'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टं'*। यहां सत्त्व गुण के लघु और प्रकाशक धर्मों का निर्देश किया गया है। माठर की व्याख्या से यह प्रतीत होता है, कि उसने 'इष्ट' पदार्थ को भी सत्त्व का धर्म माना है। माठर का लेख है—

"यत्......सत्त्वलक्षणं तल्लघुत्वप्रकाशकलक्षणं च। ...। इष्टं च स्वरूपसाधनहेतुत्वात्।"

सत्त्वगुण लघु और प्रकाशक होता है, और वह इष्ट भी है, क्योंकि वह स्वरूप साधन का हेतु है। सत्त्वोद्रेक होने पर ही आत्मरूप का बोध होने की सम्भावना होती है, रजस् और तमस् में यह स्थिति असम्भव है, इसलिये वे इष्ट नहीं हो सकते। यही माठर आचार्य के लेख का अभिप्राय है। इससे स्पष्ट है, कि 'लघु' और 'प्रकाशक' के समान माठर ने 'इष्ट' पदार्थ को भी सत्त्व का धर्म माना है। यद्यपि किसी भी अन्य परवर्त्ती व्याख्याकार ने इष्ट पद का ऐसा अर्थ नहीं किया। गौडपाद ने इस पद की व्याख्या ही नहीं की, युक्तिदीपिकाकार ने इसको क्रियापद माना है। जयमंगला में इस पद के साथ सांख्याचार्य पद को जोड़कर इसके क्रियापद होने को स्पष्ट कर दिया है। जयमंगला का लेख इसप्रकार है—

"इष्टं सांख्याचार्याणां सत्त्वं लघुस्वभावं प्रकाशं च।"

सत्त्व का लघुस्वभाव और प्रकाशक होना सांख्याचार्यों को अभिमत है। जयमंगला में 'इष्ट' पदार्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये ही सांख्याचार्य पद को इसके साथ जोड़ा है। इसके अनुकरणस्वरूप, वाचस्पति मिश्र भी इस पद के साथ सांख्याचार्य पद को जोड़ना नहीं भूला। मिश्र की पंक्ति है—

[1] इन दश मौलिकार्थों के निर्देशक उपजाति और अनुष्टुप् छन्दों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकरण में आगे विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायगा।

"सत्त्वमेव लघु प्रकाशकमिष्टं सांख्याचार्यैः।"

इन प्रसंगों से यह स्पष्ट हो जाता है, कि वाचस्पति मिश्र ने अपनी व्याख्या में यत्र तत्र जयमंगला का उपयोग किया है। इसलिये जयमंगला, वाचस्पति से अवश्य प्राचीन व्याख्या है।

उक्त स्थलों के अतिरिक्त तत्त्वकौमुदी के और भी अनेक स्थल ऐसे हैं, जिनकी तुलना जयमंगला से की जा सकती है। उदाहरण की दृष्टि से कुछ और ऐसे स्थलों का निर्देश कर देना अनावश्यक न होगा।

जयमंगला	तत्त्वकौमुदी
(क)—"प्रसवो धर्मोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि"	"प्रसवरूपो धर्मो यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि" [कारिका ११]
(ख)—"तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशमेकगुणम्। शब्दतन्मात्रप्रतिसंहितात् स्पर्शतन्मात्राद् द्विगुणो वायुः। ताभ्यां प्रतिसंहिताद् रूपतन्मात्रात् त्रिगुणं तेजः। तैः प्रतिसंहिताद्रसतन्मात्रात् चतुर्गुणा आपः। चतुर्भिः प्रतिसंहिताद् गन्धतन्मात्रात् पञ्चगुणा पृथिवीति।" [1]	'तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणं, शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः शब्दस्पर्शगुणः शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद् रूपतन्मात्रात् तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणं, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद् रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथवी जायत इत्यर्थः।" [कारिका २२]
(ग)—"यथान्धकारे विद्युत्सम्पाते कृष्णसर्पसन्दर्शने युगपदालोचनाध्यवसायाभिमानसंकल्पनानि भवन्ति।" [2]	"यथा-यदा सन्तमसान्धकारे विद्युत्सम्पातमात्राद् व्याघ्रमभिमुखमातिसन्निहितं पश्यति तदा खल्वस्यालोचनसङ्कल्पाभिमानाध्यवसाया युगपदेव प्रादुर्भवन्ति।" [कारिका ३०]
(घ)—"पूर्वोत्पन्नम् इत्यादि। प्रधानेनादिसर्गे प्रतिपुरुषमुत्पादितत्वात् पूर्वोत्पन्नम्। असक्तमप्याह। तन्न क्वचिद् विहन्यते, पर्वतमपि भित्त्वा गच्छति।"	"पूर्वोत्पन्नम् इति। पूर्वोत्पन्नं प्रधानेनादिसर्गे प्रतिपुरुषमेकैकमुत्पादितम्। असक्तं अव्याहतं शिलामप्यनुप्रविशति।" [कारिका ४०]

[1] जयमंगलाकार ने यह अर्थ माठरवृत्ति के अनुकूल किया है। युक्तिदीपिकाकार ने इस तन्मात्रानुप्रवेश के माठरसिद्धान्त का ३८ वीं कारिका पर खण्डन किया है। युक्तिदीपिका से अर्वाचीन होने पर भी जयमंगलाकार ने इस प्रसंग में माठर के ही मत को स्वीकार किया है और वाचस्पति ने इसको प्राय. जयमंगला के शब्दों में ही अपना लिया है। युक्तिदीपिका और माठर का कालसम्बन्धी विवेचन इसी प्रकरण में आगे किया जायगा।

[2] जयमंगलाकार ने यह अर्थ युक्तिदीपिका के अनुकूल किया है। युक्तिदीपिका के प्रसंग में दोनों पाठों की तुलना देखें। वाचस्पति ने जयमंगला का अनुकरण किया है, 'कृष्णसर्प' की जगह 'व्याघ्र' पद का प्रयोग विशेष है।

इन सन्दर्भों की तुलना से यह बात स्पष्ट प्रतीत होजाती है, कि वाचस्पति मिश्र ने अपनी व्याख्या में जयमंगला का अच्छा उपयोग किया है। अतः इन सब आधारों पर यह निश्चय किया जासकता है, कि जयमंगला व्याख्या, वाचस्पति मिश्र से अवश्य प्राचीन है। 'भारतीय दर्शन' नामक ग्रन्थ के विद्वान् रचयिता श्रीयुत बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य महोदय ने अपने ग्रन्थ के ३२१ पृष्ठ पर जयमंगला व्याख्या की रचना का समय १४ शतक के आसपास बताया है, जो उपर्युक्त आधारों पर सर्वथा अशुद्ध कहा जासकता है।

जयमंगला टीका के रचयिता का नाम—

इस व्याख्या के रचयिता का नाम शंकर है। श्रीयुत हरदत्त शर्मा एम० ए० महोदय ने इस ग्रन्थ की समाप्ति पर जो पुष्पिका [Colophon] दी है, वह इसप्रकार है—

> "*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्येण श्रीशंकरभगवता कृता सांख्यसप्ततिटीका समाप्ता।*"

यहां शङ्कर के साथ 'भगवन्' पद का प्रयोग, व्याख्याकार की प्रतिष्ठा के विचार से ही किया गया प्रतीत होता है, यह नाम का अंश नहीं है। इसलिये व्याख्याकार का नाम केवल 'शङ्कर' कहा जाना चाहिये। श्रीयुत शर्मा जी ने ग्रंथ के आवरण पृष्ठ पर "श्रीशङ्कराचार्यविरचिता जयमंगला नाम सांख्यसप्ततिटीका" ऐसा उल्लेख किया है। शङ्कर के साथ 'आचार्य' पद जोड़ देने से यह सन्देह हो जाता है, कि कदाचित् यह शङ्कर, प्रस्थानत्रयी का भाष्यकार आदि शङ्कराचार्य ही तो नहीं है? उस समय यह सन्देह और दृढ़ हो जाता है, जब हम इसके गुरु का नाम गोविन्द पाते हैं। प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार और जयमंगलाव्याख्याकार दोनों ही के गुरुओं का नाम गोविन्द है। तथा दोनों स्थलों पर गोविन्द के साथ 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य' ये विरुद लगे हुए हैं। वस्तुतः यह एक आकस्मिक घटना है, कि प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार शङ्कर और सांख्यसप्तति के व्याख्याकार शङ्कर, इन दोनों ही के गुरुओं का नाम 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपाद' है। गुरुओं का भी नामसाम्य होने पर ये दोनों शङ्कर एक नहीं कहे जा सकते। इनकी लेखशैली से परिचित कोई भी विद्वान् इनकी विभिन्नता को स्पष्ट प्रतीत कर सकता है।

टीका की अन्तिम पुष्पिका—

सांख्यसप्तति की अन्तिम पुष्पिका (Colophon) के आधार पर जयमंगला व्याख्या की भूमिका[1] में श्रीयुत कविराज गोपीनाथ जी एम. ए. महोदय ने 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य'

[1] The present Commentary is attributed to शंकराचार्य in the colophon where he is, as elsewhere in his works, described as परमहंसपरिव्राजकाचार्य and a disciple of गोविन्दभगवत्पाद, [जयमंगलाव्याख्या की भूमिका, श्रीयुत कविराज जी लिखित, पृष्ठ ८]

विरुदों को शंकर के साथ सम्बद्ध लिखा है। श्रीयुत कविराज जी का यह लेख भ्रमपूर्ण है, क्योंकि पुष्पिका में ये विरुद केवल गोविन्द के साथ सम्बद्ध हैं, 'श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्री गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्येण' यह समस्त पद पृथक् है, और 'श्रीशङ्करभगवता' यह पृथक् है। पूर्व पद के 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य' इस अंश का शङ्कर के साथ सम्बन्ध कथन करना सर्वथा असंगत है। फिर इस नाम के साथ 'आचार्य' जोड़ कर श्रीयुत हरदत्त शर्मा एम. ए. महोदय ने आवरण पृष्ठ पर 'शङ्कराचार्यविरचिता जयमंगला' किस आधार पर लिखा है ? हम नहीं समझ सके। इसप्रकार के लेख से पाठकों को भ्रम हो सकता है। सम्भवतः इसी भ्रम के आधार पर श्रीयुत कविराज जी ने इस पुष्पिका को प्रक्षिप्त [1] बता दिया है। इसको प्रक्षिप्त उसी स्थिति में कहा जा सकता है, जब किन्हीं प्रबल प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाय, कि इस पुष्पिका में प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार शङ्कर को ही जयमङ्गला का रचयिता लिखा गया है। पर यह तो अभी तक भी सिद्ध नहीं है। केवल नामसाम्य से किन्हीं व्यक्तियों का अभिन्न होना नहीं कहा जा सकता। इसलिये प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार शङ्कर से जयमङ्गला व्याख्याकार शङ्कर सर्वथा भिन्न है। पुष्पिका का स्वरूप इन दोनों को अभिन्न समझे जाने का निश्चायक नहीं है, इसलिये पुष्पिका को प्रक्षिप्त कहना भी असंगत है।

कामन्दकीय नीतिसार की टीका जयमंगला का रचयिता शंकरार्य है, शंकर नहीं—

कामन्दकीय नीतिसार की जयमंगला नामक टीका का रचयिता शङ्करार्य भी इस शङ्कर से सर्वथा भिन्न है। कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला में सब पुष्पिका [Colophon] "इति[2] शंकरार्यकृतायां कामन्दकीयनीतिसारपञ्जिकायां जयमंगलायां ......नाम......सर्गः" इसी रूप में उपलब्ध हैं।

(१)—एक भी स्थल पर 'आर्य' पद रहित शंकर नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। सर्वत्र 'शंकरार्य' इतने नाम का ही निर्देश मिलता है।

(२)—किसी भी स्थल में गुरु के नाम का निर्देश नहीं है। इसके विपरीत सांख्यसप्तति की व्याख्या जयमंगला की पुष्पिका में शंकर नाम के साथ 'आर्य' पद नहीं है, और विरुदसहित गुरु का नाम भी निर्दिष्ट है। इससे यह स्पष्ट होता है, कि कामन्दकीय नीतिसार के व्याख्याता का नाम 'शंकरार्य' है, न कि 'शंकर', जब कि सांख्यसप्तति के व्याख्याकार का नाम केवल 'शंकर' है। इसलिये ये दोनों व्याख्याकार एक नहीं कहे जा सकते।

---

१ But I am inclined to suspect that the colophon is an interpolation and that the work is not by शंकराचार्य (जयमंगला भूमिका पृष्ठ ८)

२ यह पाठ हमने ईसवी सन् १९१२ के त्रिवेन्द्रम् [अनन्तशयन] संस्करण के आधार पर दिया है। कामन्दकीय नीतिसार के इस संस्करण का सम्पादन त. गणपति शास्त्री ने किया है।

कामन्दकीय नीतिसार और वात्स्यायनकामसूत्र की 'जयमंगला' नामक टीकाओं के रचयिता, क्या अभिन्न व्यक्ति हैं ? इस सम्बन्ध में श्री गुलेरी महोदय का मत—

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी बी.ए. महोदय ने, कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला और वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला के रचयिता को एक व्यक्ति सिद्ध [1] किया है। उनका कथन है कि कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला का रचयिता शंकरार्य ही वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला नामक व्याख्या का रचयिता है। इसके लिये वे निम्नलिखित हेतु उपस्थित करते हैं—

(१) दोनों टीकाओं के प्रारम्भिक नमस्कार श्लोकों की समानता। कामन्दकीय नीतिसार की टीका में नमस्कार श्लोक इसप्रकार है —

"कामन्दकीये किल नीतिशास्त्रे प्रायेण नास्मिन् सुगमाः पदार्थाः।
तस्माद् विधास्ये जयमंगलाख्यां तत्पञ्चिकां[2] सर्वविदं प्रणम्य ॥"

वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला में प्रारम्भिक नमस्कार श्लोक निम्नलिखित है —

"वात्स्यायनीयं किल कामसूत्रं प्रस्तावितं कैश्चिदिहान्यथैव।
तस्माद् विधास्ये जयमंगलाख्यां टीकामहं सर्वविदं प्रणम्य।

(२) वात्स्यायन कामसूत्र में १।२।४४ सूत्र है —

"यथा दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश।"

इस सूत्र पर जयमंगला टीका इसप्रकार है—

"दाण्डक्य इति संज्ञा। भोज इति भोजवंशजः। अभिमन्यमानोऽभिगच्छन्। स हि मृगयां गतो भार्गवकन्यामाश्रमपदे दृष्ट्वा जातरागो रथमारोप्य जहार। ततो भार्गवः समित्कुशानादायागत्य तामपश्यन्नभिध्याय च यथावृत्तं राजानमभिशशाप। ततोऽसौ सबन्धुराष्ट्रः पांसुवर्षेणावष्टब्धो ननाश। तत्स्थानमद्यापि दण्डकारण्यमिति गीयते।"

कामन्दकीय नीतिसार के प्रथम सर्ग का ५८ श्लोक है ----

"दाण्डक्यो नृपतिः कामात् क्रोधाच्च जनमेजयः। लोभादैलस्तु राजर्षिर्वातापिर्हर्षतोऽसुरः ॥५८॥

इस श्लोक के प्रथम चरण की जयमंगला नामक व्याख्या में व्याख्याकार शंकरार्य इस प्रकार लिखता है —

---

[1] इण्डियन एण्टिक्वेरी १६१३ ईसवी, पृष्ठ २०२-३।

[2] सांख्यसप्तति की व्याख्या जयमंगला की भूमिका में पृष्ठ १ पर, श्रीयुत कविराज गोपीनाथ जी ने 'तत्पञ्जिकां' यह पाठ दिया है।

"तत्र दण्डको नाम भोजवंशमुख्यः । तन्निमित्तप्रसिद्धनामा दाण्डक्यो नाम । स च मृगयां गत-स्तृषितो भृग्वाश्रमं प्रविश्य तत्कन्यां रूपयौवनवतीमेकाकिनीं दृष्ट्वा जातरागस्तां स्यन्दनमारोप्य स्वपुर-माजगाम । भृगुरपि समित्कुशादीनादाय वनादागत्य तामपश्यन्नभिध्याय च यथावृत्तं ज्ञात्वा जातक्रोधस्तं शशाप 'सप्तभिरहोभिः पांशुवृष्ट्या सबन्धुराष्ट्रो विपद्यतामिति । स तथाक्रान्तस्तथैव ननाश ।"

(३) इन लेखों की समानता के परिणामस्वरूप इन दोनों ग्रन्थों की टीकाओं का कर्त्ता 'शङ्करार्य' ही है, और उसीनें दोनों जगह इसका नाम 'जयमंगला' रक्खा है। यह नामसाम्य भी रचयिता के एक होने का कारण है। जैसे कालिदास के ग्रन्थों पर मल्लिनाथ की 'संजीवनी' टीका है।

श्रीयुत गुलेरी महोदय के मत का असामंजस्य—

श्रीयुत गुलेरी महोदय के इस परिणाम से हम सहमत नहीं हो सके। पूर्वोक्त दोनों हेतुओं के सम्बन्ध में हमारा कथन है, कि लेखों की इसप्रकार समानता, एक लेखक द्वारा दूसरे लेखक का अनुकरण करने पर भी संभव हो सकता है। यह लेखक की एकता का असन्दिग्ध हेतु नहीं कहा जासकता। क्योंकि इसप्रकार के समान लेख, भिन्नकर्तृक ग्रन्थों में भी प्रायः मिल जाते हैं, और इसका कारण एक लेखक के द्वारा दूसरे लेखक का अनुकरण करना ही कहा जा सकता है। इसके उदाहरण के लिए वात्स्यायन कामसूत्र के प्रस्तुत सूत्र को ही ले लीजिये। अक्षरशः यही सूत्र कौटलीय अर्थशास्त्र १।६। में उपलब्ध है। सूत्र है—

"यथा दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश।"

क्या इन दोनों ग्रन्थों के इन सूत्रों की अक्षरशः समान आनुपूर्वी के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि इन दोनों ग्रन्थों का रचयिता एक ही है ? हमारे विचार से यह कथन उपहासास्पद मात्र होगा। इससे यह अनुमान अवश्य सभव हो सकता है, कि एक लेखक ने दूसरे का अनुकरण किया हो।

इसके अतिरिक्त एक और बात है। दाण्डक्य भोज की घटना एक ऐतिहासिक वस्तु है, इसका वर्णन कोई भी व्यक्ति समान रूप से ही कर सकता है। घटना के एक होने पर उसके वर्णन के शब्दों में कदाचित् समानता होना संभव है। इसप्रकार का एक और उदाहरण हम यहां उपस्थित करते हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र में एक सूत्र है—

"लोभादैलश्चातुर्वर्ण्यमत्याहारयमाणः।" [अधि० १ अध्या० ६].

लोभ के वशीभूत होकर ऐल पुरूरवा नाम का राजा, जब अत्यधिक कर आदि लगाकर जनता को पीड़ित करने लगा, तब वह जनता के क्रोध से नष्ट कर दिया गया। यहां पर ऐल के लोभ का स्वरूप मूलसूत्र में ही निर्दिष्ट कर दिया है, गणपति शास्त्री ने इस सूत्र की व्याख्या

---

[1] त॰ गणपति शास्त्री ने अपनी इस 'मूला' नामक टीका के सम्बन्ध में ग्रन्थ की भूमिका में स्वयं लिखा है, कि मद्रासी भाषा में प्राप्त, कौटलीय अर्थशास्त्र की एक प्राचीन व्याख्या को ही हमने संस्कृत रूप दिया है।

इसप्रकार लिखी है—

"लोभादैलः पुरूरवा नाम राजा चातुर्वर्ण्यमतिमात्रधनहरणेन पीडयंश्चातुर्वर्ण्यकोपान्नष्टः।"

मूल सूत्र का यह अर्थ कर देने के अनन्तर टीकाकार ने इस सम्बन्ध के एक और ऐतिह्य का भी उल्लेख किया है। यद्यपि अर्थशास्त्र के मूल सूत्र में इस ऐतिह्य का कोई संकेत नहीं मिलता। ऐतिह्य का उल्लेख इसप्रकार किया गया है —

"लोभादैलो नैमिशीयब्राह्मणयज्ञशालां प्रविश्य ततोऽपरिमितं धनं हर्तुं मुद्युक्तो ब्राह्मणशापान्नष्ट इत्यैतिह्यं कैश्चिद् वर्ण्यते।"

अब ऐल के लोभ का उल्लेख हम कामन्दकीय नीतिसार में भी देखते हैं। यहां केवल 'लोभादैलस्तु राजर्षिः' [काम० नी० १।१५] ये दो पद हैं, कौटलीय अर्थशास्त्र के सूत्र के समान, यहां लोभ के स्वरूप का निर्देश नहीं है। जयमंगला व्याख्याकार शंकरार्य ने, पद्य के इस भाग की व्याख्या करते हुए केवल उपर्युक्त ऐतिह्य का इसप्रकार निर्देश किया है—

"लोभादैल इति। ऐलः पुरूरवाः। स किल नैमिशारण्यवासिभिर्यज्ञसंरक्षणार्थमुपनिमन्त्रितः सर्वानेव सौवर्णान् भाजनविशेषान् दृष्ट्वा लोभादाहर्तुमारब्धः। ततस्तैरस्य यज्ञक्रियाविरोधोद्विग्नैर्वैखानसैः कुशैरभिहतो ननाश।"

टीकाकार के भिन्न होने पर भी दोनों स्थलों पर ऐतिह्य का समान वर्णन है। भिन्न लेखक होने पर भी इसप्रकार की घटनाओं के रचनाक्रम की समानता भी एक दूसरे के अनुकरण से भी संभव हो सकती है।

कामसूत्र-टीका जयमंगला का रचयिता 'शंकरार्य' है, यह उल्लेख कहीं नहीं मिलता—

इसके अतिरिक्त वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला के किसी भी प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ में ग्रन्थकार का नाम 'शङ्करार्य' उपलब्ध नहीं होता। चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस से जयमंगला के जो दो प्रकाशन हुए हैं, उनमें से एक में ग्रन्थकर्त्ता का नाम 'जयमंगल' और दूसरे में 'यशोधर' मुद्रित हुआ है। इस भेद का कोई भी कारण ग्रन्थ के प्रकाशक अथवा सम्पादक ने निर्दिष्ट नहीं किया। पहले संस्करण में 'जयमंगल' का नाम और दूसरे में 'यशोधर' का है। पं० दुर्गाप्रसाद जी सम्पादित बम्बई संस्करण में भी 'यशोधर' का ही नाम है। इससे यही अनुमान होता है, कि चौखम्बा संस्कृत सीरीज का प्रथम संस्करण जिन हस्तलेखों के आधार पर मुद्रित हुआ है, उनमें ग्रन्थकर्त्ता का नाम जयमंगल निर्दिष्ट होगा। अथवा सम्पादक या प्रकाशक महोदयों ने टीका के 'जयमंगला' नाम से उसके रचयिता 'जयमंगल' की कल्पना की होगी। अनन्तर बम्बई संस्करण के आधार पर चौखम्बा के द्वितीय संस्करण में 'जयमंगल' के स्थान पर 'यशोधर' मुद्रित किया गया। पंचनद सार्वजनिक पुस्तकालय [पंजाब पब्लिक लाइब्रेरी] लाहौर में कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला का जो एक प्राचीन हस्तलिखित

ग्रन्थ [1] सुरक्षित है, उसमें भी 'यशोधर' का ही नाम है। शङ्करार्य का नाम किसी भी प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता।

सांख्य-टीकाकार 'शंकरार्य' और श्रीगोपीनाथ कविराज—

श्रीयुत[2] कविराज गोपीनाथ जी एम॰ ए॰ महोदय ने श्रीयुत गुलेरी महोदय के लेख के आधार पर कामन्दकीय नीतिसार की और वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला का रचयिता शङ्करार्य को ही मानकर, सांख्यसप्तति की व्याख्या जयमंगला का रचयिता भी इसी को माना है। श्रीयुत कविराज जी के विचार से इन तीनों ही 'जयमंगला' नामक व्याख्याओं का रचयिता एक ही 'शङ्करार्य' है। प्रारम्भिक नमस्कार श्लोक की समानता को ही इसके लिये आपने हेतुरूप में उपस्थित किया है। सांख्यसप्तति की व्याख्या जयमंगला का नमस्कार श्लोक इस प्रकार है—

'*अधिगततत्त्वालोकं लोकोत्तरवादिनं प्रणम्य मुनिम्। क्रियते सप्ततिकायाष्टीका जयमङ्गला नाम॥*'

श्रीयुत[2] कविराज जी ने यह भी लिखा है, कि कामन्दकीय नीतिसार, वात्स्यायन कामसूत्र और सांख्यसप्तति इन तीनों ही ग्रन्थों की जयमंगला नामक टीकाओं में नमस्कार श्लोकों से एक ही देवता बुद्ध को नमस्कार किया गया है, तथा इन श्लोकों का रचनाक्रम भी समान है। इसी आधार पर उन्होंने शङ्करार्य को बौद्ध भी बताया है। उनका यह भी विचार है, कि 'लोकोत्तरवादी' तथा 'मुनि' ये पद बुद्ध के लिये ही प्रयोग में आते हैं। अत एव बुद्ध को नमस्कार करने के कारण शङ्करार्य का बौद्ध होना संभव है।

---

[1] यह ग्रन्थ पंजाब पब्लिक लाइब्रेरी लाहौर में 'अ ४३१' संख्या पर निहित है। और चौलुक्यचूडामणि श्रीमद् विसलदेव के भारती भांडागार में सुरक्षित प्रति के आधार पर प्रतिलिपि किया गया प्रतीत होता है, आगे दी हुई इस ग्रन्थ की एक पुष्पिका के आधार पर ही हमने यह लिखा है।

[2] "From a comparison of the three commentaries it would follow that all the three bore one and the same name, contained an obeisance to one and the same Deity, that is, the Budha, are written in the same style, and that while two are known to have been written by शंकरार्य, the remaining one is ascribed to शंकराचार्य! The presumption, however, is that the third commentary also was by शंकरार्य. Attribution to शंकराचार्य has been only due to a confusion of the two names, on which the colophon is based. On any other hypothesis obeisance to the Buddha becomes quite inexplicable." [Introduction of जयमंगला page 9.]

"The benedictory verse, where there is a salutation of लोकोत्तरवादी मनि, makes it plain that the author of जयमंगला was a Buddhist. The term लोकोत्तरवाद is a Buddhist expression and the मुनि referred to in the verse is no other than the Buddha himself." (जयमंगला भूमिका, पृष्ठ ८)

श्रीयुत गुलेरी महोदय के मन्तव्य के सम्बन्ध में हम अपने विचार प्रकट कर चुके हैं। ग्रन्थ के नाम की एकता, अथवा किसी एक आध सन्दर्भ की समानता, विशेषकर ऐसे सन्दर्भ की, जो किसी निर्धारित अर्थ का निर्देश करता हो, जैसे दाण्डक्य सम्बन्धी ऐतिहासिक घटना-मूलक सन्दर्भ का उदाहरण दिया गया है, ग्रन्थकार की एकता के निश्चायक नहीं कहे जा सकते। परन्तु श्रीयुत गुलेरी महोदय ने कामन्दकीय नीतिसार और वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला नामक व्याख्याओं में जिन दो नमस्कार श्लोकों को निर्दिष्ट किया है, उनकी आर्थिक और रचनाक्रम [Style] सम्बन्धी समानता अवश्य विचारणीय है। इतनी अधिक समानता की उपेक्षा कर देना अनुचित ही होगा। इस विषय की विस्तारपूर्वक विवेचना हम इसी प्रकरण में आगे करेंगे। इस समय थोड़ी देर के लिये नमस्कार श्लोकों के आधार पर इस बात को मान लेते हैं, कि उन दोनों जयमंगला नामक व्याख्याओं का रचयिता शङ्करार्य ही है। परन्तु श्रीयुत कविराज गोपीनाथ जी के कथनानुसार वही शङ्करार्य सांख्यसप्तति की टीका जयमंगला का रचयिता नहीं कहा जा सकता। इसके लिये हम निम्नलिखित युक्तियां उपस्थित करते हैं।

श्रीयुत कविराज जी के मत का असामञ्जस्य—

(१) सांख्यसप्तति व्याख्या जयमंगला की अन्तिम पुष्पिका में ग्रन्थकार का नाम केवल 'शङ्कर' निर्देश किया गया है, 'शङ्करार्य' नहीं।

(२) कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला की सम्पूर्ण पुष्पिकाओं में ग्रन्थकार का नाम 'शङ्करार्य' ही निर्दिष्ट किया गया है, 'शङ्कर' नाम का उल्लेख कहीं नहीं है। वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला में न 'शङ्कर' है न 'शङ्करार्य' है।

(३) सांख्यसप्तति व्याख्या जयमंगला की पुष्पिका में प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता शङ्कर के गुरु 'परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपाद' का नाम उल्लिखित है। परन्तु कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला की किसी भी पुष्पिका में उस ग्रन्थ के रचयिता शङ्करार्य के गुरु का नाम उल्लिखित नहीं मिलता।

(४)—कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला के नमस्कार श्लोक के साथ, सांख्यसप्ततिव्याख्या जयमंगला के नमस्कार श्लोक की न आर्थिक समानता है, और न इन दोनों श्लोकों का रचनाक्रम [Style] ही एकसा है। दोनों श्लोकों की तुलना के लिये उनको हम यहां फिर उद्धृत कर देते हैं।

"कामन्दकीये किल नीतिशास्त्रे प्रायेण नास्मिन् सुगमाः पदार्थाः।
तस्माद् विधास्ये जयमंगलाख्यां तत्पञ्जिकां सर्वविदं प्रणम्य ॥"

[कामन्दकीयव्याख्या जयमंगला]

"अधिगततत्त्वालोकं लोकोत्तरवादिनं प्रणम्य मुनिम्।
क्रियते सप्ततिकायाष्टीका जयमंगला नाम ॥" [सांख्यसप्ततिव्याख्या जयमंगला]

श्लोकों पर दृष्टिपात करते ही इनकी असमानता स्पष्ट हो जाती है। दोनों श्लोकों के पूर्वार्ध में न शाब्दिक समानता है, न आर्थिक; उत्तरार्ध में केवल 'जयमंगला' यह पद मिलता है, जो ग्रन्थ का नाम है, और श्लोक में निर्दिष्ट किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। पहला श्लोक इन्द्रवज्रा छन्द और दूसरा आर्या छन्द में है। जिस देवता अथवा ऋषि को नमस्कार किया गया है, उसको प्रथम श्लोक में 'सर्ववित्' शब्द से स्मरण किया गया है; और द्वितीय श्लोक में '*अधिगततत्त्वालोक, लोकोत्तरवादी. मुनि*" इन पदों से स्मरण किया गया है। यदि इन पदों के आर्थिक स्वारस्य पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया जाय, तब हम इस बात को स्पष्ट ही भांप सकेंगे, कि प्रथम श्लोक में किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार नहीं किया गया है। जब कि द्वितीय श्लोक के प्रत्येक पद से यह बात स्पष्ट ध्वनित होती है, कि यह नमस्कार किसी व्यक्ति विशेष को किया गया है; यह अलग प्रश्न है, कि वह व्यक्ति कपिल हो अथवा बुद्ध। 'सर्ववित्' अथवा 'सर्वज्ञ' पद का प्रयोग मुख्य रूप में ब्रह्म या परमेश्वर के लिये ही होता है। '*यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः*' [मुण्ड० उप० १। १। ६] '*ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः*' [श्वेता० उप० ६। १६] '*तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्*' [योगसूत्र १। २५] '*स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता*' [सांख्यसूत्र ३। ५६] इत्यादि। इसके अनन्तर उन व्यक्तियों के लिये भी इस पद का प्रयोग होसकता है, जिनके अन्दर लोकातिशायी गुण पाये गये हों। यद्यपि मुख्यवृत्ति से वे सर्वज्ञकल्प ही होते हैं, परन्तु उनमें आदरातिशय द्योतन करने के लिये गुणवृत्ति से 'सर्वज्ञ' आदि पदों का प्रयोग प्रायः देखा जाता है। फिर भी ऐसे प्रयोगों में किसी इसप्रकार के पद का सान्निध्य अपेक्षित होता है, जो व्यक्ति-परता का बोधक हो। अन्यथा 'सर्वज्ञ' या 'सर्वविद्' आदि पद परमेश्वर के ही वाचक समझे जासकते हैं। ऐसी स्थिति में इन प्रस्तुत श्लोकों में से पहला श्लोक किसी व्यक्तिविशेष की ओर निर्देश नहीं करता, जब कि दूसरे श्लोक में यह भावना सर्वथा स्पष्ट है। इसलिये इन दोनों श्लोकों की आर्थिक या रचनाक्रमसम्बन्धी किसी तरह की भी समानता का कथन करना असंगत ही कहा जायगा। केवल दुराग्रह से समानता का उद्घोषण किये जाना अलग बात है।

यदि केवल नामसाम्य पर अधिक बल दिया जाय तो इस नाम की एक और टीका हमारे सन्मुख उपस्थित होती है, यह है प्रसिद्ध भट्टिकाव्य की टीका जयमंगला। इसका प्रारम्भिक नमस्कार श्लोक निम्नप्रकार है—

"*प्रणिपत्य सकलवेदिनमतिदुस्तरभट्टिकाव्यसलिलनिधेः ॥*
जयमंगलेति नाम्ना नौकेव विरच्यते टीका ॥"

इस श्लोक की रचना आर्या छन्द में है। इसका पूर्वार्ध, आर्थिक दृष्टि से प्रथम श्लोक के द्वितीय और चतुर्थ चरण के साथ समानता रखता है। इस श्लोक का उत्तरार्ध, द्वितीय श्लोक के उत्तरार्ध के साथ अधिक समानता रखता है और इसका साधारण रचनाक्रम भी द्वितीय श्लोक से

अधिक मिलता है। ऐसी स्थिति में क्या कोई भी विद्वान इस बात को स्वीकार करेगा, कि भट्टिकाव्य की टीका जयमंगला का रचयिता भी 'शङ्करार्य' अथवा 'शङ्कर' है ? जब कि भट्टिकाव्य की टीका जयमंगला की अन्तिम पुष्पिका[1] में प्रस्तुत ग्रन्थकार का नाम स्पष्ट ही जयमंगल निर्दिष्ट किया गया है।

(४)–इसके अतिरिक्त वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला नामक टीका में उदयनाचार्य का एक उद्धरण इसप्रकार उपलब्ध होता है—

"*तथ चोक्तं पुरोदयनाचार्यैः*—'*आरोपे सति निमित्तानुसरणं न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः' इति*[2] ।"

उदयन का समय १०४१ विक्रमी तथा ६०६ शकाब्द [९८४ ईसवी सन] माना जाता है। और षड्दर्शन व्याख्याकार वाचस्पति मिश्रका समय ८९८ विक्रमी [८४१ ईसवी सन्] है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में जयमंगला व्याख्या को 'अन्ये व्याचक्षते' कहकर ५१ वीं आर्या पर उद्धृत किया है। इन उद्धरण वाक्यों के अन्त में वाचस्पति मिश्र लिखता है—

"*अस्य च युक्तायुक्तत्वं सूरिभिरेवावगन्तव्ये इति कृत परदोषोद्भावनेन सिद्धान्तमात्रव्याख्यानप्रवृत्तानाम् इति* ।"

इस लेख से स्पष्ट है, कि वाचस्पति मिश्र को स्वयं जयमंगला के विरुद्ध लिखने का साहस नहीं हुआ। मिश्र जेसा उद्भट लेखक, जो परमतप्रत्याख्यान के समय 'नैयायिकतनय' आदि पदों का भी उल्लेख करने में सङ्कोच नहीं करता, जयमंगला के विरुद्ध लेखनी नहीं उठा सका, इसका कोई विशेष कारण ही हो सकता है। संभव है, अन्य अज्ञात कारणों के अतिरिक्त उस समय अध्ययनाध्यापनप्रणाली में इस ग्रन्थ का अधिक प्रचार होना, और विद्वानों के हृदय में इस ग्रन्थ की प्रतिष्ठा का होना भी ऐसे कारण हों, जिनसे प्रभावित होकर वाचस्पति मिश्र को उक्त मार्ग का अनुसरण करना पड़ा हो। ऐसे समय में, जब कि यातायात के सुलभ साधनों का अभाव था, अनायास ग्रन्थप्राप्ति का साधन मुद्रण व प्रकाशन कला भविष्यत् के गर्भ में थी, एक भी पुस्तक की प्राप्ति के लिये पर्याप्त समय व धन का व्यय करना पड़ता था, अपने स्थान को छोड़कर सब स्थानान्तरों में भी जाना निरापद न था, जयमंगला जैसे परमार्थविषय सम्बन्धी ग्रन्थ के प्रचार के लिये पर्याप्त समय अपेक्षित होना चाहिये। हमारा अनुमान यह है, कि लगभग

[1] "इति ······ रावणवधे महातिङन्तकाण्डे लुङ्विलसितनाम्नो नवमपरिच्छेदस्य जटीश्वरो जयदेवो जयमंगल इति च नामभिस्त्रिभिः सुप्रसिद्धस्य अनेकशास्त्रव्याख्यानकृतो टीकायां काव्यस्य अयोध्याप्रत्यागमनं नाम द्वाविंशः सर्गः॥ जयमगलकृता टीका समाप्ता॥" [यह पाठ हमने बम्बई के निर्णयसागर संस्करण से लिया है]।

[2] इस आशय का लेख उदयनकृत न्यायकुसुमाञ्जलि में इसप्रकार मिलता है—"सिद्धे व्यवहारे निमित्तानुसरणात्। न च स्वेच्छाकल्पितेन निमित्तेन लोकव्यवहारनियमनम्।" [चतुर्थ स्तबक, पृ० ४, वर्धमानकृत व्याख्यासहित संस्करण] ऊपर का उद्धरण 'पञ्चनद सार्वजनिक पुस्तकालय' में [अ ४३५ संख्या पर] सुरक्षित, जयमंगला टीका की हस्तलिखित प्रति के आधार पर दिया गया है।

दो सौ वर्ष का ऐसा समय अवश्य माना जाना चाहिये, जब कि इस ग्रन्थ के लिखे जाने के बाद, शनैः शनैः वाचस्पति मिश्र के समय तक इसका पठनपाठन प्रणाली में पर्याप्त प्रचार हो चुका होगा। लगभग दो सौ वर्ष का अन्तर इसलिये भी माना जाना आवश्यक प्रतीत होता है, कि शङ्कर [सांख्यसप्तति व्याख्याता] दक्षिण प्रान्त का रहने वाला था, उसका आलोचक वाचस्पति मिश्र मिथिला का। दक्षिण प्रदेश में प्रस्तुत ग्रंथ के उत्तर भारत में इतने अधिक प्रचार के लिये अवश्य पर्याप्त समय की अपेक्षा हो सकती है, और वह भी सांख्य जैसे आध्यात्मिक एवं अप्रचारित विषयक ग्रन्थ के लिये। ऐसी स्थिति में इस अनुमान को यथार्थ की सीमा तक मान लेने पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि जयमंगला के लिखे जाने का समय सप्तम शतक के मध्य से इधर नहीं होना चाहिये। अब हम जब इस बात को देखते हैं, कि वात्स्यायन कामसूत्र की टीका में दशम शतक के अन्तिम भाग में होने वाले उदयनाचार्य को स्मरण किया गया है, तब निश्चित रूप से इस परिणाम पर पहुंच जाते हैं, कि सप्तम शतक में होनेवाला व्यक्ति किसी तरह भी वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगला का रचयिता नहीं कहा जा सकता। इसलिये श्रीयुत कविराज गोपीनाथ जी का यह कथन, कि कामन्दकीय नीतिसार, वात्स्यायन कामसूत्र और सांख्यसप्तति इन तीनों ग्रन्थों की जयमंगला नामक व्याख्याओं का रचयिता एक ही व्यक्ति है, सर्वथा असंगत है। सांख्यसप्तति की व्याख्या जयमंगला सप्तम शतक के समाप्त होने से पूर्व ही बन चुकी थी, और वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगला दशम शतक के अनन्तर लिखी गई, इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता [1]।

सांख्य-टीका जयमंगला का काल, और श्री हरदत्त शर्मा—

श्रीयुत हरदत्त शर्मा एम्० ए० महोदय ने, सांख्यसप्तति की टीका जयमङ्गला का काल ख्रीस्ट दशम शतक के लगभग माना है। इस बात को आपने प्रमाणपूर्वक स्वीकार किया है, कि जयमङ्गला वाचस्पति मिश्र से अवश्य प्राचीन है, यद्यपि आदि शङ्कराचार्य से अर्वाचीन है। मैक्डानल [2] की सम्मति का सहारा लेकर श्रीयुत शर्मा जीने वाचस्पति मिश्र का समय ईसा के एकादश शतक के लगभग माना है। इसप्रकार जयमङ्गलाकार शंकर का, ईसा के दशम शतक के

---

[1] श्रीयुत म० रामकृष्ण कवि महोदय ने भी अन्य आधारों पर वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला टीका का समय दशम शतक के अनन्तर ही सिद्ध किया है। वे लिखते हैं—"Jayamangala on Vatsyayana may therefore be assigned to some period later than 1000 A D" [Journal of the Andhra Historical Research Society; October. 1927.]

[2] There are two excellent commetaries on the Sankhya Karika, the one composed about 700 A.D by Gaudpaba, and the other soon after 1100 A.D by Vachaspati Misra " [History of Sanskrit Literature, by Macdonel, P. 393.]

लगभग अथवा कुछ पूर्व, विद्यमान होना स्वीकार किया है[1]।

इस मन्तव्य के सम्बन्ध में सब से प्रथम वाचस्पति मिश्र के समय का विवेचन लीजिये। मैक्डानल महोदय ने वाचस्पति मिश्र का समय ईसा का एकादश शतक बताया है, परन्तु इसमें उन्होंने किसी भी प्रमाण या युक्ति का निर्देश नहीं किया है। मैक्डानल महोदय का वह सन्दर्भ हमने टिप्पणी में उद्धृत कर दिया है। श्रीयुत शर्मा जी ने भी इस दिशा में कोई पग नहीं उठाया। यत्न करने पर भी हम इस बात को नहीं समझ सके, कि अपने समय के सम्बन्ध में वाचस्पति के स्वप्रणीत पद्य की उपेक्षा क्यों की गई है? उस पद्य का निर्देश हम इसी प्रकरण के प्रारम्भ में कर चुके हैं। वहां स्पष्ट रूप में वाचस्पति ने अपने न्यायसूचीनिबन्ध की समाप्ति का ८९८ विक्रमी सम्वत् दिया है, जो कि ८४१ ईसवी सन् होता है। न्यायसूचीनिबन्ध, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका की समाप्ति पर गौतम सूत्रों का संशोधित संस्करण है। इसके अन्त में निर्दिष्ट इतने स्पष्ट लेख की उपेक्षा का कोई भी कारण उक्त विद्वानों ने नहीं बताया।

भारतीय प्रामाणिक साहित्य के सम्बन्ध में भी पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण, एक प्रकार की विशेष भावना को लेकर ही प्रस्फुटित होता है। प्रायः प्राचीन भारतीय विद्वान आत्म-ख्याति की भावना से सदा रहित होकर लोकहित की कामना से ही, अपनी लेखनी का चमत्कार दिखाते रहे हैं। कुछ उनकी आत्मख्याति-लोलुपता की ओर से उपेक्षा, और कुछ ऐतिहासिक साहित्य के नष्ट होजाने के कारण आज हम उनकी पूर्ण परिस्थिति से किसी अंशतक अपरिचित अवश्य होगये हैं। परन्तु कालक्रम से जिन विद्वानों ने अपने समय आदि के सम्बन्ध में कुछ साधारण निर्देश कर भी दिये हैं, पाश्चात्य-हस्त उनपर भी हरताल फेरने में सदा प्रयत्नशील रहता है। प्रायः इसप्रकार की उक्तियों को मुख्य ग्रन्थकार की रचना मानने से निषेध कर दिया जाता है। अथवा कहीं भिन्न ग्रन्थकार की ही कल्पना कर ली जाती है, और इसी प्रकार के बेसिर पैर के कथानक जोड़कर, जिसतरह भी हो उन उल्लेखों में अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न करने का प्रबल प्रयास किया जाता है। उसी पाश्चात्य भावना का फल है, कि आज अनेक भारतीय विद्वान् आंख मूंद कर उनके पीछे दौड़ने लगे हैं, और अपनी वास्तविकता को समझने का यत्न नहीं करते। इसमें हमारी दासमनोवृत्ति भी एक कारण है, आधुनिक विपरीत शिक्षा ने हमारे मस्तिष्कों को भी विकृत और दासानुदास बना दिया है, किसी भी शब्द के गौराङ्गमहाप्रभुओं के

[1] "So that, it may be safely asserted that the author of जयमंगला is earlier than Vachaspati Misra and later than the great Sankaracharya. According to Macdonell (History of Sanskrit Literature, P.393) Vachaspati's age is about 1100 A.D. And the great Sankaracharya cannot be placed later than the 8th century A.D. Therefore our जयमंगला's Sankara must have flourished about 1000 A.D or earlier. " [Proceedings, fifth Indian Oriental Conference, Lahore, 1928, P. 1038.]

मुख से उच्चरित होते ही हम उसके गीत गाने लगते हैं, उनकी भावना के अनुकूल, दिन को रात और रात को दिन सिद्ध करने में ही हमारा सम्पूर्ण प्रयास पर्यवसित हो जाता है, वाह वाह की लूट और शाबाशी की थपकी से ही हम अपनी विद्वत्ता की सफलता समझ बैठते हैं। हमारी सभ्यता, हमारी जातिगत विशेषताओं हमारी परम्पराओं, हमारी शिक्षासम्बन्धी सूक्ष्म भावनाओं को एक विदेशी, सर्वथा विपरीत वातावरण का अभ्यासी, कैसे पूर्ण रूप से समझ पायेगा ? इस बात को जानते हुए भी हम भूल जाते हैं, और देखते हुए भी आंख फेर लेते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में विद्वान् यह न समझें, कि उपर्युक्त शब्द, हमारे कथन को विना विवेचन स्वीकार कर लेने के लिये एक भावुकतापूर्ण अपील मात्र हैं, यह तो आधुनिक स्थिति का सजीव चित्र है। इसके अनन्तर हम, मकडॉनल महोदय तथा उनके अनुगामियों से मालूम कर सकते हैं, आखिर उन्होंने वाचस्पति मिश्र के कालनिर्णायक पद्य की उपेक्षा क्यों की है ? क्या वे यहां कारण न बतायेंगे ? कि यह श्लोक वाचस्पति का अपना नहीं है। क्यों नहीं है ? यह आ कहां से गया ? किसी और विद्वान ने बनाकर यहां लिखदिया होगा। तब तो यह भी बड़ी सरलता से कहा जा सकता है, कि तात्पर्यटीका भी वाचस्पति ने नहीं बनाई। 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर' भी मेक्डानल ने नहीं लिखा। पर उसके तो लिखित प्रमाण विद्यमान हैं, कैसे कहा जासकता है ? कि मक्डॉनल ने यह नहीं लिखा। ठीक है; वह और किसी ने लिख दिया होगा, मैक्डॉनल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। अभिप्राय यह है, कि मैक्डॉनल महोदय के केवल कथन से यह स्वीकार नहीं किया जासकता, कि वाचस्पति मिश्र ११ वें शतक में हुआ था, जब कि वह स्वयं अपना समय नवम शतक के पूर्वार्ध में बतला रहा है।

श्रीयुत शर्मा महोदय को तो, अन्धेरे में लाठी का सहारा मिल गया। आपने श्रीयुत गुलेरी महोदय तथा श्रीयुत कविराज गोपीनाथ एम० ए० महोदय के लेखों के आधार पर इस बात को स्वीकार कर लिया, कि वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगला, और सांख्य-सप्तति की टीका जयमंगला इन दोनों का रचयिता एक व्यक्ति है, कारणान्तरों से यह बात निश्चित है, कि वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगला का समय दशम शतक के अनन्तर ही होसकता है। इसलिये श्रीयुत शर्मा महोदय ने सांख्यसप्तति की टीका जयमंगला को भी दशम शतक में धसीटने का निष्फल प्रयास किया है, और इसमें सहारा आपने मैक्डॉनल का लिया है। व्यर्थ ही रेत की बुनियाद पर अपनी दीवार खड़ी करदी।

वाचस्पति के काल का निर्णय पिछले पृष्ठों में किया जाचुका है। जब उसका समय ८४१ ख्रीस्ट के आस पास निश्चित है और सांख्यसप्तति की जयमंगला व्याख्या, वाचस्पति से पूर्व लिखी जा चुकी थी, तब यह निस्सन्दिग्ध कहा जासकता है, कि सांख्यसप्तति-व्याख्या जयमंगला का समय ईसा का दशम शतक नहीं माना जासकता। क्योंकि नवम शतक के पूर्वार्ध में तो वाचस्पति मिश्र का ही स्थितिकाल है, जयमंगला का रचना-देश दक्षिण, तथा मिथिलानिवासी वाचस्पति

मिश्र के जयमंगलासम्बन्धी विचारों या उद्‌गारों पर ध्यान देते हुए, निस्संकोच कहा जासकता है, कि जयमंगला का समय अवश्य वाचस्पति मिश्र से डेढ़ दो शतक पूर्व होना चाहिये। ऐसी स्थिति में जयमंगलाकार का सप्तम शतक में स्थित होना अधिक संभव है।

शंकर और शंकराचार्य—

श्रीयुत हरदत्त शर्मा एम० ए० महोदय ने अपने लेख में जयमंगलाकार शङ्कर को आदि शङ्कराचार्य से अर्वाचीन माना है, और आदि शङ्कराचार्य का समय ईसा का अष्टम शतक स्वीकार किया है। शङ्कर[1] के इस कालनिर्णय के लिये वे निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित करते हैं। वे लिखते हैं, कि १७ वीं कारिका पर जयमंगला से उद्‌धृत निम्न सन्दर्भ भी विचारणीय है······ एक एव *पुराणः पुरुषः, तस्मादग्नेरिव विस्फुलिंगाः प्रतिशरीरं पुरुषा आविर्भूता इति वेदान्तवादिनः।"*

इसके अनन्तर १८ वीं कारिका पर जयमंगलाकार पुनः लिखता है—

"पुराणपुरुषादग्नेरिव विष्फुलिंगाः प्रतिशरीरं पुरुषाः' इत्यस्मिन्नपि दर्शने पुरुषबहुत्वमस्त्येव। तेषां परस्परविलक्षणत्वात् ते पुराणपुरुषादभिन्ना भिन्ना वेति दर्शनद्वयम्।··· ।"

········इसको निम्नलिखित से तुलना कीजिये—

तदेतत्सत्यम्—

यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिंगाः। सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः। प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति॥

[मुण्डकोपनिषत्, २।१]

इस पर शङ्कराचार्य का भाष्य इसप्रकार है—

यथा सुदीप्तात् सुष्ठु दीप्तादग्नेर्विस्फुलिङ्गा अग्न्यवयवाः सहस्रशोऽनेकशः प्रभवन्ते निर्गच्छन्ति सरूपा अग्निसलक्षणा एव तथोक्तलक्षणादक्षराद्विविधा नानादेहोपाधिभेदमनुविधीयमानत्वात् विविधाः हे सोम्य भावा जीवा आकाशादिवत् विविधाः घटादिपरिच्छिन्ना. सुषिरभेदा घटाद्युपाधिप्रभेदमनुभवन्ति।

इनकी तुलना यह प्रकट करता है, कि जयमंगला ने 'वेदान्तवादिनः' इस पारिभाषिक संकेत के द्वारा शङ्कराचार्य के उक्त भाष्य-भाग का ही निर्देश किया है। इसलिये जयमंगलाकार शंकर, शङ्कराचार्य से भिन्न ही नहीं, प्रत्युत उससे अर्वाचीन भी है[2]।"

जहांतक शङ्कराचार्य के काल का सम्बन्ध है, उसके विवेचन के लिये यह समय उपयुक्त न होगा, प्रस्तुत प्रसंग में उसकी इतना आवश्यकता नहीं। इसलिये यदि यह मानलिया जाता है, कि शङ्कराचार्य का काल ईसा का अष्टम शतक है, तो हम यह कहने के लिये प्रमाण रखते हैं,

[1] इस प्रसंग में हम जयमंगलाकार शंकर को केवल 'शंकर' नाम से और आदि शंकराचार्य को 'शंकराचार्य' नाम से निर्देश करेंगे, पाठकों को इस विवेक का ध्यान रखना चाहिये।

[2] Proceedings Fifth Indian Oriental Conference, Lahore. 1928-P.1035-36

कि शङ्कर का समय अवश्य इससे प्राचीन होना चाहिये, जो आधार शङ्कर की अर्वाचीनता का श्रीयुत हरदत्तशर्मा एम्० ए० महोदय ने उपस्थित किया है, वह असंगत है। क्योंकि शङ्कर की पंक्तियों में कोई भी ऐसा पद नहीं है, जो शङ्कराचार्य के भाष्य के आधार पर लिखा गया प्रतीत होरहा हो। शंकर के लेख का साक्षात् आधार मुण्डक उपनिषद् की उपर्युक्त श्रुति ही है। शङ्कर ने श्रुतिपठित 'अक्षर' पद के लिये 'पुराणपुरुष' पदका प्रयोग किया है, जब कि शंकराचार्य अपने भाष्य में 'अक्षर' पद के स्थान पर किसी भी अन्य पद का प्रयोग नहीं करता। श्रुति के 'भावाः' पद की व्याख्या शंकराचार्य ने 'जीवाः' की है। शंकराचार्य के अपने सम्प्रदाय में 'जीव' पद सर्वथा पारिभाषिक है। अन्तःकरणोपहित अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य [1] का नाम 'जीव' है। प्रतीत होता है, 'जीव' पद का इतना संकुचित अर्थ शंकर को अभिमत न था। यद्यपि शरीर में कर्त्ता भोक्ता पुरुष के लिये जीव पदका प्रयोग पर्याप्त प्राचीन है। यदि शंकर अपनी पंक्ति शंकराचार्य के भाष्य के आधार पर ही लिखता, तो वह अवश्य 'जीव' पद को छोड़कर 'पुरुष' पद का प्रयोग न करता। इसप्रकार यह तुलना इस धारणा को दृढ़ बना देती है, कि शंकर की पंक्ति का आधार शंकराचार्य का भाष्य नहीं कहा जासकता।

अब 'शङ्कर के 'वेदान्तवादिनः' इस पारिभाषिक संकेत की बात रह जाती है। संभवतः श्रीयुत शर्मा महोदय का यह विचार है, कि 'वेदान्तवादिन्' पद से शङ्कराचार्य के सम्प्रदाय का ही निर्देश किया जाना सामञ्जस्यपूर्ण हो सकता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। 'वेदान्त' पद 'उपनिषद्' के लिये पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होता है। शङ्कराचार्य से बहुत पहले साक्षात् उपनिषद् में भी इस पद का प्रयोग देखा जाता है—

"वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः"

यहां 'उपनिषद्-ज्ञान' के लिये ही 'वेदान्त-विज्ञान' पद का प्रयोग किया गया है। इसलिये जयमंगला में शङ्कर के 'वेदान्त-वादिनः' पद का प्रयोग, उपनिषद् का कथन करने वाले ऋषि अथवा आचार्यों के लिये ही हो सकता है, और इस मत-निर्देश का आधार उक्त उपनिषद्वाक्य ही है। इसलिए जिस मत को शङ्कर ने जयमंगला में 'वेदान्तवादिनः' पद के द्वारा प्रदर्शित किया है, उसी

---

[1] पञ्चदशी [४।११] में जीव का स्वरूप बताया है—
'चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंगदेहश्च यः पुनः। चिच्छाया लिंगदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते॥"
पञ्चदशीकार श्री विद्यारण्य के शिष्य श्रीरामकृष्ण ने उक्त श्लोक की व्याख्या इसप्रकार की है—'यदधिष्ठानं लिङ्गदेहकल्पनाधारभूतं यच्चैतन्यमस्ति यश्च तत्र कल्पितो लिङ्गदेहो यश्च तस्मिन् लिङ्गदेहे वर्त्तमानश्चिदाभासस्तत्संघस्तेषां त्रयाणां समूहो जीवशब्देनोच्यत इत्यर्थः।'
लिङ्गदेह की कल्पना का आधार जो कि अधिष्ठान चैतन्य है एक तो वह, दूसरे उसमें कल्पित जो कि लिङ्गदेह है, तीसरे उस लिङ्गदेह में जो चिदाभास पड़ा हुआ है, इन तीनों का संघ ही 'जीव' कहा जाता है।
[यह हिन्दी अर्थ, हमने अपने स्नेही सहाध्यायी विद्याभास्कर श्री रामावतार शास्त्री वेदान्ततीर्थ मीमांसाचार्य कृत पञ्चदशी हिन्दी रूपान्तर से लिया है]

बत को जयमंगला से प्राचीन व्याख्या युक्तिदीपिका में—

"औपनिषदाः खलु एवश्चात्मेति प्रतिपन्नाः"

इसप्रकार 'औपनिषदाः' पद के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इसलिये इन सब आधारों पर, श्रीयुत शर्मा जी की उपर्युक्त तुलना, शङ्कर को शङ्कराचार्य के तथाकथित काल से अर्वाचीन सिद्ध करने में सर्वथा असमर्थ है। इसलिये सांख्यसप्तति की व्याख्या जयमंगला का काल सप्तम शतक में माने जाने के लिये कोई भी बाधा उपस्थित नहीं की जा सकती, जब कि वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगला की रचना दशमशतक के भी अनन्तर हुई है, अतः इन दोनों व्याख्याओं का रचयिता एक ही व्यक्ति नहीं हो सकता।

क्या कामन्दकीय नीतिसार, और वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला नामक टीकाओं का रचयिता एक ही व्यक्ति था ?

कामन्दकीय नीतिसार और वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला नामक टीकाओं के नमस्कारश्लोक के सम्बन्ध में भी अब हम कुछ विवेचन कर देना चाहते हैं। यद्यपि इन श्लोकों में परस्पर पर्याप्त समानता है, फिर भी केवल इनकी समानता के आधार पर ग्रन्थकारों की एकता का निश्चय नहीं किया जा सकता। क्योंकि इसप्रकार की समानता एक दूसरे लेखक के अनुकरण से भी सम्भव हो सकती है। इसतरह के एक आध उदाहरण [भट्टिकाव्य की टीका जयमंगला] का हम पीछे निर्देश कर चुके हैं। साहित्य से इसप्रकार के और भी अनेक उदाहरण संग्रह किये जासकते हैं। जिन ग्रन्थकर्त्ताओं के सम्बन्ध में हमें किसी तरह का भी सन्देह नहीं है, उन भिन्न २ ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में भी समान श्लोक उपलब्ध होते हैं। इसके कुछ उदाहरण हम यहां और दे देना चाहते हैं।

प्रसिद्ध कवि भवभूति ने मालतीमाधव के प्रारम्भिक श्लोकों में से एक श्लोक इस प्रकार लिखा है—

"ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥" [मालतीमाधव, श्लोक ६]

धर्मकीर्तिप्रणीत प्रमाणवार्त्तिक की कर्णकगोमि रचित व्याख्या के प्रारम्भिक श्लोकों में से तृतीय श्लोक इसप्रकार है—

"यो मामवज्ञायति कोऽपि गुणाभिमानी जानात्यसौ किमपि तं प्रति नैष यत्नः।
कश्चिद् भविष्यति कदाचिदनेन चार्थी नानाधियाञ्जगति जन्मवतां हि नान्तः॥"

इन दोनों श्लोकों में प्रत्येक प्रकार की समानता स्पष्ट है। छन्द, रचनाक्रम, अर्थ आदि सब प्रकार की समानता होने पर भी ये दोनों श्लोक जिन ग्रन्थों में उपलब्ध हैं, उनमें से एक का रच-

पिता भवभूति और दूसरे का कर्णकगोमि है, इसमें किसी तरह का भी सन्देह नहीं किया जा सकता। एक उदाहरण और लीजिये—

प्रसिद्ध बाणभट्ट के हर्षचरित, और आचार्य दण्डी के काव्यादर्श में प्रारम्भिक नमस्कार श्लोक, एक ही उपलब्ध होता है, वह श्लोक इसप्रकार है—

"चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंसवधूर्मम। मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती॥"

ऐसी स्थिति में किसी नमस्कार श्लोक अथवा किसी भी श्लोक के समान या एक होने पर दो भिन्न ग्रन्थों के रचयिताओं को एक समझा जाना युक्तिसंगत नहीं कहा जासकता। इसी-लिये कामन्दकीय नीतिसार और वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगलाओं में नमस्कार श्लोक के समान होने पर भी दोनों टीकाओं का एक ही रचयिता मानना असंदिग्ध प्रमाण के आधार पर नहीं है।

इन टीकाओं की पुष्पिकाओं में ग्रन्थकार के नाम का उल्लेख—

इसके अतिरिक्त एक और बात यह है, कि कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जय-मंगला की प्रत्येक पुष्पिका में ग्रन्थकार के स्थान पर 'शंकरार्य' का नाम उल्लिखित है, परन्तु वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला के साथ 'शंकरार्य' का सम्बन्ध प्रकट करने वाला कोई उल्लेख अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

श्रीयुत गुलेरी महोदय ने, श्री पं० दुर्गाप्रसाद जी सम्पादित बम्बई संस्करण के आधार पर वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला टीका से एक पुष्पिका इसप्रकार निर्दिष्ट की है—

"इति श्रीवात्स्यायनीयकामसूत्रटीकायां जयमंगलाभिधानायां विदग्धांगनाविरहकातरेण गुरुदत्तेन्द्रपादाभिधानेन यशोधरेणैकत्रकृतसूत्रभाष्यायां...अधिकरणे....अध्यायः।"

इस पुष्पिका के आधार पर श्रीयुत गुलेरी महोदय के इस परिणाम से भी हम सहमत नहीं होसके कि यशोधर, जयमंगला टीका का रचयिता नहीं है, प्रत्युत जहां तहां बिखरे हुए मूल-सूत्र और व्याख्या के खण्डित भागों का संग्रहीता मात्र है। यह संभव है, कि यशोधर, कामशास्त्र से अपरिचित होने के कारण विदग्धांगना से लाञ्छित होकर कामशास्त्र में पारंगत होने की ओर प्रवृत्त हुआ हो। उस समय व्याख्यासहित कामसूत्र का कोई भी पूर्ण ग्रन्थ उसे एक जगह न मिल सका हो। तथा इस मूल और प्राचीन भाष्यों के जो भाग जहां कहीं से भी मिल सके हों, उसने घोर परिश्रम करके उन्हें संग्रह किया हो, एवं क्रमानुसार व्यवस्थित करके उन दोनों [सूत्र और भाष्य] को एकत्रित कर दिया हो। अपने जीवन की इस गोपनीय घटना को भी प्रकट करने में यशो-धर ने कोई संकोच नहीं किया है। इससे प्रतीत होता है, कि इस घटना का उसके हृदय पर भारी आघात था, सम्भवतः शान्तिलाभ की आशा से ही उसने इस घटना को कामातुर व्यक्तियों के समान निःसंकोच होकर प्रकट किया है।

कामसूत्र की टीका जयमंगला का एकत्रीकरण—

जहां तक मूल और पुराने भाष्यों के संग्रह करने का प्रश्न है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा

जा सकता, कि उस संग्रह में जयमंगला टीका भी थी, या अकेली जयमंगला टीका ही थी। यदि कारणान्तरों से इस बात का निश्चय हो जाता है, कि कामसूत्र और उनके जिन भाष्यों को यशोधर ने एकत्रित किया, वे जयमंगला टीका के अतिरिक्त और कोई व्याख्यान न थे, तो निश्चय यह कहा जा सकता है, कि जयमंगला टीका का रचयिता यशोधर नहीं है। परंतु उपर्युक्त पुष्पिका के आधार पर ऐसा भाव प्रकट नहीं होता। 'एकत्रकृतसूत्रभाष्यायां' यह पद 'टीकायां' का विशेषण है। यह टीका के स्वरूप का बोधक है, अर्थात् वह टीका ऐसी है, कि उसमें सूत्र और भाष्यों को एकत्र किया गया है। अब यदि एकत्र किये जाने से पहले ही जयमंगला टीका की स्थिति मानी जाय, तो 'टीका' और 'भाष्य' इन पृथक् दो पदों का निर्देश असंगत प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है, कि यशोधर ने जिस चीज का संग्रह किया, यदि वह संग्रह किये जाने से पहले भी जयमंगला टीका ही थी, तो एक ही पंक्ति में एक स्थान पर उसके लिये 'टीका' पद का प्रयोग और दूसरे स्थान पर उसी के लिये 'भाष्य' पद का प्रयोग सगत प्रतीत नहीं होता। दोनों स्थानों पर एक ही 'टीका' पद का प्रयोग क्यों नहीं किया गया ? इसका कोई विशेष कारण होना चाहिये।

हम इसका कारण यही समझ पाये हैं, कि यशोधर से पूर्व, कामशास्त्र के भिन्न २ अधिकरण अथवा अध्यायों पर उन २ विषयों के विशेषज्ञ विद्वानों ने अपने २ व्याख्यान या भाष्य लिखे हुए थे। जैसे किसी ने स्त्री-पुरुषों के लक्षणों पर, किसी ने औपनिषदिक पर, किसी ने कन्यासंप्रयुक्तक पर आदि। यशोधर ने उन सब ही भागों के पुराने भाष्यों का संग्रह किया, और मूल सूत्रों के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन किया। समय पाकर कामशास्त्र में पारंगत होने पर यशोधर ने देखा कि इन में कुछ अन्यथा व्याख्यान भी हैं। उन सब को ठीक करके और अपने विचारों के अनुकूल सूत्रानुसार बनाकर यथाक्रम सब को व्यवस्थित किया। इसी चीज का नाम जयमंगला-टीका है। अर्थात् यशोधर के किये संग्रह से पूर्व, कामसूत्र के भिन्न २ भागों पर उन प्राचीन अज्ञात-नामा कामाचार्यों के जो भाष्य थे, उनका कभी भी 'जयमंगला' नाम नहीं था। यह तो यशोधर के संग्रह का ही नाम है। इसप्रकार 'टीका' तथा 'भाष्य' इन पदों का पृथक प्रयोग भी अब हमारी समझ में आजाता है। पुराने व्याख्यानों के लिये भाष्य, तथा यशोधर की अपनी कृति के लिये 'टीका' पद का प्रयोग किया गया है, जिसका कि नाम 'जयमंगला' है।

यह भाव 'जयमंगला' के प्रारम्भिक नमस्कार श्लोक से भी प्रकट होता है। श्लोक इसप्रकार है—

"वात्स्यायनीयं किल कामसूत्रं प्रस्तावितं कैश्चिदिहान्यथैव।
तस्माद् विधास्ये जयमंगलाख्यां टीकामहं सर्वविदं प्रणम्य॥"

इस नमस्कार श्लोक का द्वितीय चरण, इस सम्बन्ध में गम्भीरता-पूर्वक विचारणीय है। यहां पर 'कैश्चित्' पद बहुवचनान्त प्रयुक्त हुआ है, जो यशोधर से पूर्व, कामसूत्रों के अनेक व्याख्याताओं का निर्देश करता है। ये वे ही व्याख्याता हो सकते हैं, जिनके भाष्यों का यशोधर ने

संग्रह किया, और कामशास्त्र में पारंगत होने पर उनके यत्र तत्र अन्यथा व्याख्यानों को ठीक किया। जयमंगला की उपर्युक्त पुष्पिका से भी यही बात सिद्ध होती है।

यशोधर नामवाली पुष्पिकाओं के सम्बन्ध में एक और भी बात बहुत रुचिकर है। 'एकत्रकृतसूत्रभाष्यायां' इस विशेषण रूप समस्त पद में सर्वत्र 'भाष्य' पद का ही प्रयोग किया गया है, कहीं भी इसको बदला नहीं गया, और 'कामसूत्रटीकायां' इस विशेष्य पद में सर्वत्र अव्यभिचरित रूप से 'टीका' पद का ही उपयोग किया है। इससे लेखक की एक निश्चित और दृढ़ भावना की धारा पर प्रकाश पड़ता है, जो नमस्कार श्लोक के द्वितीय चरण से स्फुट की गई है।

कामसूत्र-टीका जयमंगला की पुष्पिकाओं में शंकरार्य का नाम—

विजयनगरम् में सुरक्षित जयमंगला की हस्तलिखित प्रति से एक पुष्पिका श्रीयुत गुलेरी महोदय ने इसप्रकार उद्धृत की है—

"इति सप्तमेऽधिकरणे तृतीयोऽध्यायः। आदितः षट्त्रिंशः। समाप्तं च कामसूत्रटीकायां जयमंगलाख्यायां औपनिषदिकं नाम सप्तममधिकरणम्।"

यह पुष्पिका, यशोधर के नामवाली लम्बी पुष्पिका से भिन्न है। पर हमारा कहना है, कि 'शंकरार्य' का नाम तो इस में भी नहीं है। हम इस बात को निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते, कि विजयनगरम् के हस्तलिखित ग्रन्थ की किसी भी पुष्पिका में यशोधर का नाम है या नहीं? और गुलेरी महोदय ने भी वहां से और किसी पुष्पिका को उद्धृत नहीं किया। परन्तु यहां लाहौर के पञ्चनद सार्वजनिक पुस्तकालय [पञ्जाब पब्लिक लाईब्रेरी] में 'अ ४३५' नम्बर पर जो जयमंगला का हस्तलिखित[1] ग्रन्थ सुरक्षित है, उसमें लगभग पांच छः पुष्पिका हमारी दृष्टि में ऐसी आईं, जिनमें यशोधर का नाम है, और जो पं० दुर्गाप्रसाद जी के बम्बई संस्करण की पुष्पिका से अक्षरशः मिलती हैं। इस हस्तलिखित प्रति में भी हम को 'शङ्करार्य' के नाम का उल्लेख कहीं नहीं मिला।

कामसूत्र टीका का नामकरण—

यह भी संभव है, कि जिस विदग्धांगना के विरह से यशोधर कातर था, कदाचित् उसी के नाम पर उसने अपनी इस टीका का नाम 'जयमङ्गला' रक्खा हो। साहित्य में ग्रन्थों के इस प्रकार के नाम और भी देखे जाते हैं। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य पर, वाचस्पति मिश्र कृत टीका का 'भामती' नाम भी एक इसीप्रकार की घटना के निमित्त रक्खा गया बताया जाता है। कहते हैं,

---

[1] यह हस्तलिखित ग्रन्थ, चौलुक्यचूडामणि श्री विसलदेव के भारतीय भांडागार में सुरक्षित जयमंगला ग्रन्थ के आधार पर प्रतिलिपि किया गया प्रतीत होता है। इसके पृ० २१२ (१) और ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका से यह बात प्रकट होती है। पृ० २१२ (१) की पुष्पिका इसप्रकार है

"दुस्थपराङ्मुखभुजबलमल्लराजनारायणमहाराजाधिराजचौलुक्यचूडामणिश्रीमद्विसलदेवस्य भारतीभांडागारे श्रीवात्स्यायनीयकामसूत्रटीकायां जयमंगलाभिधानायां भार्याधिकारिके चतुर्थेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः आदितो द्वात्रिंशः भार्याधिकारिकं चतुर्थमधिकरणं समाप्तं।"

एक बार रात्रि में वाचस्पति मिश्र दिया जलाये कलम कागज आगे रक्खे किसी गम्भीर समस्या में उलझे हुए थे, कोई ऐसी बात अटकी थी, कि समझमें ही नहीं आ रही थी, और लेखनी बलात् विश्राम के लिये बाध्य हुई एक ओर लम्बी पड़ी थी, ऐसे समय में मिश्र की पत्नी 'भामती' दबे पांव अचानक कमरे में आई, और उन्होंने उस दृश्य को देखकर समझा, कि दिये की लौ बहुत मन्द पड़ गई है, प्रकाश की कमी के कारण पतिदेव आगे लिखने से मजबूर हैं। उन्होंने धीरे से आगे हाथ बढ़ा कर बत्ती के फूल को तोड़ा और बत्ती को आगे बढ़ा दिया। अकस्मात् प्रकाश अधिक होते ही मिश्र की उलझी समस्या सुलझ गई, और उनको अत्यधिक प्रसन्नता हुई। अचानक सिर उठाया तो पत्नी को सामने खड़े पाया। प्रसन्नता की प्रबलता में वर मांगने को कहा, पत्नी ने सहेलियों की आड़ ले, नामरक्षा की अभिलाषा से पुत्र की कामना की। मिश्र ने कहा, पुत्र की जगह एक ऐसा उपाय कर देता हूं, कि तुम्हारा नाम सूर्य चन्द्र की आयु तक प्रत्येक विद्वान् की जिह्वा पर प्रकाशित रहेगा। इसी आधार पर उन्होंने शांकर भाष्य की अपनी टीका का नाम 'भामती' रक्खा। इसीतरह संभव है, यशोधर ने भी विरह को बहलाने के लिये अपनी विदग्धांगना के नाम पर ही इस टीका नाम 'जयमङ्गला' रक्खा हो।

'जयमङ्गला' नाम का यह कारण, इसी टीका के लिये उपयुक्त कहा जा सकता है। अन्य टीकाओं के 'जयमङ्गला' नाम का प्रवृत्तिनिमित्त क्या होगा ? हम नहीं कह सकते। एक नाम के अनेक प्रवृत्तिनिमित्त हो सकते हैं। सब जगह पर एक नाम का एक ही कारण हो, ऐसा नियम नहीं है, जहां जो संभव हो, वहां वैसा कारण हो सकता है। इसलिये इन सब आधारों पर हमारा विचार है, कि वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमङ्गला का रचयिता यशोधरही है, शङ्करार्य नहीं।

कामसूत्र-टीकाकार के नाम के सम्बन्ध में भ्रान्ति—

जगज्ज्योतिर्मल्लकृत टीका सहित, पद्मश्री विरचित 'नागरसर्वस्व' के विद्वान् सम्पादक तथा टिप्पणीकार श्री तनुसुखराम शर्मा महोदय ने उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ १२१ की अन्तिम पंक्तियों में लिखा है—

"*जयमङ्गलानाम्नी वात्स्यायनीयकामसूत्रस्य टीका, शङ्करार्यप्रणीता।*"

इससे स्पष्ट होता है, श्रीयुत शर्मा महोदय ने भी वात्स्यायन कामसूत्र की जयमङ्गला टीका को शंकरार्य रचित ही माना है। हमारा अनुमान है, कि श्रीयुत गुलेरी महोदय के लेख के आधार पर ही श्रीयुत शर्मा जी ने ऐसा लिख दिया है। उन्होंने स्वयं इस सम्बन्ध में कोई विशेष विवेचन किया प्रतीत नहीं होता। श्रीयुत गुलेरी महोदय का लेख इण्डियन ऐन्टिक्वेरी में १९१३ ईसवी सन् में प्रकाशित हो चुका था, और नागरसर्वस्व का प्रस्तुत संस्करण १९२१ ईसवी में प्रकाशित हुआ।

इस सम्बन्ध में यह एक बहुत रुचिकर बात है, कि विक्रमी सम्वत् १९६६ अर्थात् ईसवी सन् १९०९ में काशी से प्रकाशित 'रतिरहस्य' की भूमिका के लेखक श्रीयुत देवीदत्त पराङ्गुली साहि-

१गैपाध्याय महोदय ने भूमिका के तृतीय पृष्ठ पर लिखा है—

"३ । ८ इति.......पद्यं वात्स्यायनमुनिप्रणीतकामसूत्रस्य जयमङ्गलकृतटीकायामुपलभ्यते, भद्रबाहुकृतकल्पसूत्रस्य जिनप्रभमुनिविरचितटीकायां जयमंगलस्य नाम दृश्यते ।"

इससे स्पष्ट होता है, श्रीयुत पराजुली महोदय वात्स्यायन कामसूत्र को 'जयमङ्गला' टीका के रचयिता का नाम जयमगल ही समझते हैं। सम्भवतः, उस समय तक इस ग्रन्थ का, चाखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से प्रथम संस्करण ही प्रकाशित हो पाया था, जिसमें टीकाकार का नाम 'जयमङ्गल' मुद्रित किया गया है।[1] अतः वात्स्यायन कामसूत्र की जयमङ्गला नामक टीका के रचयिता के सम्बन्ध में ये सब लेख भ्रान्ति पर ही आधारित होने के कारण अमान्य हैं।

सांख्यसप्तति टीका जयमङ्गला का कर्त्ता शङ्कर क्या बौद्ध था ?

सांख्यसप्तति की टीका जयमङ्गला के रचयिता शंकर के सम्बन्ध में, श्रीयुत कविराज गोपीनाथ जी ने यह विचार प्रकट किया है, कि यह टीकाकार बौद्ध था। क्योंकि टीकाकार के नमस्कारश्लोक में पठित 'लोकोत्तरवादी' और 'मुनि' पद बुद्ध के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं।

परन्तु श्रीयुत कविराज जी के इस लेख की यथार्थता में हमें बहुत सन्देह है। क्योंकि 'लोकोत्तरवादी' और 'मुनि' ये दोनों पद ऐसे नहीं हैं, जो बुद्ध के लिये ही प्रयुक्त हुए बतलाये जा सकें। 'मुनि' पद कपिल आसुरि गौतम कणाद पतञ्जलि व्यास प्रभृति व्यक्तियों के लिये अनेकशः साहित्य में प्रयुक्त हुआ देखा जाता है। वाचस्पति मिश्र का सांख्यतत्त्वकौमुदी के द्वितीय नमस्कार श्लोक को ही देख लीजिये—

'कपिलाय महामुनये मुनये शिष्याय तस्य चासुरये।'

इसीप्रकार युक्तिदीपिका का प्रारम्भिक तृतीय श्लोक—

'तत्त्वं जिज्ञासमानाय विप्रायासुरये मुनिः यदुवाच महत्तन्त्रं दुःखत्रयनिवृत्तये।'

सांख्यसप्तति में ईश्वरकृष्ण ने कपिल के लिये 'मुनि' पद का ही प्रयोग किया है—

"*मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ*" [*कारिका ७०*]

भगवद्गीता में भी कपिल के लिये 'मुनि' पद का प्रयोग है—

"*सिद्धानां कपिलो मुनिः।*" [*१०।२६*]

उक्त उद्धरणों में हमने केवल कपिल के लिये 'मुनि' पद के प्रयोगों का निर्देश किया है। 'गौतम' कणाद, पतञ्जलि, व्यास, जैमिनि आदि के लिये भी अनेक स्थलों पर साहित्य में 'मुनि' पद का प्रयोग देखा जाता है, यहां अप्रासंगिक होने से उनके उल्लेख की उपेक्षा करदी गई है।

---

[1] देखिये, इसी प्रकरण का 'कामसूत्र की टीका जयमंगला का रचयिता शंकरार्य है, यह उल्लेख कहीं नहीं मिलता' शीर्षक प्रसंग।

'लोकोत्तरवादी' पद के सम्बन्ध में विचार करने के लिये भी महाभारत के निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं—

"मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टान्यैर्मोक्षवित्तमैः। ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम् ॥३८॥
ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः। कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः ॥३९॥
प्रहायोभयमप्येव ज्ञानं कर्म च केवलम्। तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना ॥४०॥"

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३२५] [1]

सुलभा-जनक संवाद में यह जनक की उक्ति है। अपने गुरु पञ्चशिख से प्राप्त हुए ज्ञान के विषय में जनक यह संभाषण कर रहा है। पञ्चशिख के परमगुरु, महर्षि कपिल हैं, और वे ही इस सांख्यज्ञान के प्रवर्त्तक हैं। इसलिये इस लोकोत्तर ज्ञान का सम्बन्ध कपिल से प्रकट होता है। जिस निष्ठा में सब कर्मों का त्याग और लोकोत्तर ज्ञान का संपादन होता है, वह तृतीया निष्ठा उस महात्मा ने प्रतिपादित की है। अत एव उस लोकोत्तर ज्ञान का कथन करने वाला कपिल, अवश्य लोकोत्तरवादी कहा जा सकता है। इससे एक साधारण परिणाम यह भी निकलता है, कि 'लोकोत्तरवादी' पद प्रत्येक परलोकवादी साक्षात्कृतधर्मा ऋषि अथवा आचार्य के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। बौद्ध साहित्य के पचासों ग्रन्थों के नमस्कार श्लोकों को हमने देखा है, वहां कहीं भी बुद्ध के लिये 'लोकोत्तरवादी' पद का प्रयोग नहीं किया गया। यदि कदाचित् कहीं किया भी गया हो, तो इसका यह अभिप्राय नहीं हो सकता, कि बुद्ध के अतिरिक्त और किसी आचार्य या ऋषि के लिये इस पद का प्रयोग नहीं हो सकता। अत एव श्रीयुत कविराज जी के विरुद्ध, हमारा विचार है, कि इस श्लोक में कपिल को नमस्कार किया गया है। श्लोक का, 'अधिगततत्त्वालोक' यह प्रथम पद हमारी धारणा को सर्वथा स्पष्ट कर देता है। पञ्चविंशति तत्त्वों के रहस्य को कपिल ने सर्वप्रथम प्रकाशित किया है। इसलिये यह विशेषण कपिल के लिये उपयुक्त कहा जा सकता है। तत्त्वसमास की क्रमदीपिका नामक व्याख्या के नमस्कार श्लोक में इसी भाव को इसप्रकार प्रकट किया गया है—

"पञ्चविंशतितत्त्वेषु जन्मना ज्ञानमागतान्। आदिसृष्टौ नमस्तस्मै कपिलाय महर्षये।"

इसप्रकार जयमंगला के नमस्कार श्लोक का प्रथम चरण यह निर्णय कर देता है, कि यहां कपिल को ही नमस्कार किया जा रहा है। इस श्लोक में बुद्धानुसन्धान के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। अत एव इसी आधार पर जयमंगलाकार शंकर को बौद्ध बताना सर्वथा अस्थान में प्रयत्न है।

परिणाम—

हमारे जयमंगला सम्बन्धी लेख के आधार पर निम्नलिखित परिणाम प्रकट होते हैं—

(क)—सांख्यसप्तति व्याख्या जयमंगला की रचना का काल विक्रम के सप्तम शतक से

[1] टी. आर. व्यासाचार्य कृष्णाचार्य द्वारा सम्पादित, कुम्भघोण संस्करण के आधार पर।

इधर नहीं आ सकता। नवम शतक के पूर्वार्द्ध में होने वाले वाचस्पति मिश्र ने अपने ग्रन्थ में इसे प्रतिष्ठापूर्वक उद्धृत किया है।

(ख)—इस टीका के रचयिता का नाम 'शंकर' है। न 'शंकराचार्य' है, और न 'शंकरार्य'।

(ग)—कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला का रचयिता 'शंकरार्य' इस शङ्कर से सर्वथा भिन्न है।

(घ)—वात्स्यायनीय कामसूत्र की जयमंगला नामक व्याख्या का रचयिता यशोधर ही है, शङ्करार्य नहीं।

(ङ)—यशोधर का समय, ख्रीस्ट दशम शतक के पूर्वार्द्ध में होने वाले प्रसिद्ध दार्शनिक उदयन के समय के अनन्तर ही हो सकता है।

(च)—सांख्यसप्तति टीका जयमंगला का रचयिता 'शङ्कर' बौद्ध मत का अनुयायी नहीं था।

युक्तिदीपिका टीका

जयमंगला के अतिरिक्त सांख्यसप्तति पर 'युक्तिदीपिका' नाम की एक और व्याख्या ईसवी सन् १९३८ में कलकत्ते से प्रकाशित हुई है। इसके प्रकाशक हैं—श्रीपुलिनबिहारी सरकार, मुख्य सम्पादक हैं—श्री नरेन्द्रचन्द्र वेदान्ततीर्थ, एम०ए०, वागचि-भट्टाचार्य, सांख्यतीर्थ, मीमांसा-तीर्थ, तत्त्वरत्न, शास्त्री, इत्यादि। इस ग्रन्थ के संस्कर्त्ता हैं—श्री पुलिनबिहारी चक्रवर्त्ती, एम० ए० सांख्य-व्याकरणतीर्थ।

उक्त महानुभावों ने इस अप्रकाशित अमूल्य ग्रन्थ रत्न का प्रकाशन करके विद्वज्जगत् को अत्यन्त उपकृत किया है। श्री पटकरी मुकर्जी, एम. ए., पी-एच्., डी., महोदय ने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में 'प्राक्कथन' लिखकर इसकी उपयोगिता को और भी बढ़ा दिया है। ग्रन्थ के संस्कर्त्ता श्री पुलिनबिहारी चक्रवर्त्ती महोदय ने अपने 'प्रारम्भिक वक्तव्य' में इस ग्रन्थ का एक विस्तृत उपोद्घात शीघ्र ही प्रकाशित करने का निर्देश किया है। परन्तु वह उपोद्घात अभी तक हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। संभव है, अभी तक प्रकाशित न होसका हो। इसलिये उक्त विद्वानों की, इस ग्रन्थ की विवेचनाओं के सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। अत एव इस प्रसंग में प्रथम हम अपने विचारों का ही उल्लेख कर देना चाहते हैं। इस समय केवल इस ग्रन्थ के रचनाकाल और रचयिता के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला जायेगा।

जयमंगला में माठरवृत्ति—

ग्यारहवीं आर्या में 'अविवेकि' पद की व्याख्या करते हुए, जयमंगला टीका में लिखा है—'अविवेकि इति। अविवेचनशीलं व्यक्तम्, अचेतनत्वात्।' व्यक्त अविवेचनशील है, अर्थात् उसका स्वभाव विवेचन करने का नहीं है, क्योंकि वह अचेतन है। 'अविवेकि' पद का यह अर्थ जयमंगलाकार का अपना नवीन अर्थ है। और किसी भी व्याख्या में 'अविवेकि' पद का

यह अर्थ नहीं किया गया। इसके अनन्तर ही जयमंगलाकार 'यद्वा' कहकर इस पद का दूसरा अर्थ करता है। वह इसप्रकार है—

"यद्वा गुणेभ्यस्तस्य पृथक्त्वाभावादविवेकि। तथा प्रधानमपि"

सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों से व्यक्त के पृथक् न होने के कारण, व्यक्त 'अविवेकि' है। क्योंकि 'व्यक्त' सत्त्वादि गुणों का स्वरूप ही है, इसलिये 'ये गुण हैं' और 'यह व्यक्त है' इसप्रकार इनका विवेक या पृथक् निर्देश नहीं किया जासकता, इसलिये व्यक्त 'अविवेकि' कहा जाता है। यही बात प्रधान में भी है, इसलिये प्रधान भी 'अविवेकि' है। जयमंगला व्याख्या में 'यद्वा' पद से निर्दिष्ट यह अर्थ माठरवृत्ति में उपलब्ध होता है—

"अविवेकि व्यक्तम्। अमी गुणा इदं व्यक्तमिति विवेक्तुं न पार्यते, तथा प्रधानमपि इदं प्रधानं अमी गुणा इति न शक्यते पृथक्कर्त्तुम्।"

'अविवेकि' पद का यह माठरकृत अर्थ, यद्यपि गौडपाद भाष्य में भी उपलब्ध होता है, परन्तु वह माठर का अनुकरण[1] मात्र है, इसलिये यह अर्थ माठर का ही समझा जाना चाहिये। पिछले व्याख्याकारों ने भी 'अविवेकि' पद का इसप्रकार का अर्थ नहीं किया है। यह बड़े खेद की बात है, कि ११-१२ आर्याओं पर युक्तिदीपिका व्याख्या खण्डित है, इसलिये नहीं कहा जा सकता, कि युक्तिदीपिकाकार ने इस पद का क्या अर्थ किया होगा। फिर भी इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है, कि जयमङ्गलाकार ने 'यद्वा' कह कर जिस अर्थ का निर्देश किया है, वह माठर का हो सकता है।

इसके अनन्तर १५ वीं आर्या पर व्याख्या करते हुए 'कारणकार्यविभागात्' इस हेतु की व्याख्या इसप्रकार की गई है—उत्पन्न करने वाला 'कारण,' और जो उत्पन्न किया जाय वह 'कार्य' कहाता है। वे दोनों परस्पर भिन्न देखे जाते हैं, मृत्पिण्ड कारण है और घट कार्य, उन दोनों का प्रयोजन व सामर्थ्य भी पृथक् २ है। मधु जल अथवा दुग्ध आदि पदार्थों के धारण करने में घट ही समर्थ होता है, मृत्पिण्ड नहीं। यदि इस बात को न मानें, तो यह प्रत्यक्षदृष्ट लौकिक व्यवहार – कि जलादि का आहरण घट से ही होता है, और घट की उत्पत्ति मृत्पिण्ड से ही होती है— न होना चाहिये। इसप्रकार महत् अहंकार तन्मात्रा इन्द्रिय और महाभूत यह व्यक्त पृथक् है, जो कार्य है। और इससे विपरीत प्रधान अव्यक्त अन्य है, जो कारण है। इसलिये प्रधान अर्थात् अव्यक्त की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है।

उक्त हेतु का यह उपर्युक्त अर्थ माठर और जयमङ्गला दोनों ही व्याख्यानों में प्रथम समान रूप से उपलब्ध होता है। समझने की सुविधा के लिये दोनों ग्रन्थों को यहां उद्धृत कर देना उपयुक्त होगा।

---

[1] गौडपादभाष्य, माठरवृत्ति के आधार पर लिखा गया है। इसके लिये प्रमाणों का संग्रह, माठर और गौडपाद के प्रसंग में इसी प्रकरण में किया जायगा।

माठर	जयमंगला
कारणकार्यविभागात् । करोतीति कारणम्, क्रियत इति कार्यं तयोर्विभागस्तस्मात् । तद्यथामृत्पिण्ड:कारणं घट: कार्यम् । स एव हि मधूदकपय:प्रभृतीनां धारणेसमर्थो न तु मृत्पिण्ड: । एवंव्यक्ताव्यक्तयोर्विभाग: । अन्यत् व्यक्तं महदहंकारतन्मात्रेन्द्रिय—महाभूतपर्यन्तं, तच्च कार्यम् । अन्यच्च अव्यक्तं प्रधानं विपरीतं कारणमिति । तस्मादस्ति प्रधानम् ।	*कारणकार्यविभागात् इति । कारणस्य पूर्वभावित्वात् पूर्वनिपात: । अल्पाच्तरस्य पूर्वनिपातस्यानित्यत्वम् ।* *यत उत्पद्यते तत्कारणम् यच्चोत्पद्यते तत्कार्यम् । यथा मृत्पिण्डघटयोर्जन्यजनकत्वेन पृथगर्थ-क्रियाकरणाच्च विभागो दृष्ट: । अन्यथा घटस्योदकाहरणक्रिया या न सा मृत्पिण्डस्य, या मृत्पिण्डस्य न सा घटस्य [इति न स्यात्]। एवं व्यक्तस्य महदादे: कार्यत्वात् पृथगर्थ-क्रियाकरणाच्च विभाग: । तस्मादस्य कारणं न भवितव्यम् । तच्चाव्यक्तात् किमन्यत् स्यादिति ।*

इसका निर्देश करके जयमंगलाकार इस अर्थ में एक दोष उपस्थित करता है। वह कहता है, कि उक्त हेतु का उपर्युक्त व्याख्यान करने पर अर्थ की पुनरुक्ति होती है, क्योंकि 'कार्यतस्तदुपलब्धेर्महदादि तच्च कार्यम्' इस आठवीं आर्या के आधार पर ही यह अर्थ तो सिद्ध होजाता है, फिर उसी बात को यहां दुहराने की क्या आवश्यकता है ? इतना लिखकर आगे जयमंगलाकार कहता है कि इसीलिये अन्य आचार्यों ने इस हेतु का अन्यथा ही व्याख्यान किया है। जयमंगला का लेख निम्नप्रकार है—

> "*अस्मिन् व्याख्याने 'कार्यतस्तदुपलब्धेर्महदादि तच्च कार्यम्' इत्यनेनैव सिद्धत्वादन्यैरन्यथा व्याख्यायते*[1] ।"

जयमंगला में युक्तिदीपिका—

यहां पर 'अन्यैरन्यथा व्याख्यायते' इन जयमंगला के पदों से यह बात सर्वथा स्पष्ट होजाती है, कि टीका में इसके आगे जो अर्थ दिया गया है, वह अवश्य किसी अन्य आचार्य का होना चाहिये। 'व्याख्यायते' के आगे जयमंगलाकार लिखता है—

---

[1] श्रीयुत हरदत्त शर्मा एम्० ए० महोदय को, इस अन्यथा व्याख्यान के मूलस्थान का पता नहीं लगसका, उस समय युक्तिदीपिका के प्रकाशित न होने के कारण वह संभव भी नहीं था, इसी कारण माठर और जयमंगला की तुलना में उनको भ्रान्ति हुई है, और उन्होंने जयमंगला को माठर से पहले समझ लिया है। [Proceeding Fifth Indian Oriental Conference, Lahore. 1928. P. 1033]

"*यदुपकरोति तत्कारणम्, यदुपक्रियते तत्कार्यं तयोर्विभागात्, उपकार्योपकारकभावादित्यर्थः।*"

इसका अभिप्राय यह हुआ, कि 'कारणकार्यविभागात्' इस हेतु पद का अर्थ 'उपकार्योपकारकभावात्' होना चाहिये। इस हेतु का यही अर्थ युक्तिदीपिका व्याख्या में किया गया है। वहां पर प्रथम माठरोक्त अर्थ का उल्लेख किया गया है, फिर उसमें दोष का उद्भावन करके स्वाभिमत अर्थ का निरूपण किया है। युक्तिदीपिका का वह सम्पूर्ण सन्दर्भ यहां उद्धृत कर देना उपयुक्त होगा। उसके प्रथम निर्दिष्ट अर्थ से माठरोक्त अर्थ की तुलना करने में भी सुविधा होगी। युक्तिदीपिका का लेख इसप्रकार है—

"*कारणकार्यविभागात्। कारणञ्च कार्यञ्च कारणकार्ये तयोर्विभागः कारणकार्यविभागः। इदं कारणमिदं कार्यमिति बुद्ध्या द्विधाऽवस्थापनं विभागो यः स कारणकार्यविभागः, तदवस्थितभागपूर्वकं दृष्टम्। तद्यथा-शयनासनरथचरणादिः। अस्ति चायं व्यक्तस्य कारणकार्यविभागस्तस्मादिदमप्यवस्थितभाव*[1] *पूर्वकम्, योऽसाववस्थितभावस्तदव्यक्तम्।*"

यहां तक युक्तिदीपिकाकार ने उसी अर्थ का निर्देश किया है, जो अर्थ माठर का है। इस अर्थ में युक्तिदीपिकाकार ने दोष की उद्भावना निम्नप्रकार की है—

आह—तदनुपलब्धेरयुक्तम्। न हि शयनादीनां कारणकार्यविभागः कश्चिदुपलभ्यते, तस्मादयुक्तमेतत्।"

प्रस्तुत व्याख्याकार का अभिप्राय है, कि सांख्यसिद्धान्त मे कारण एवं कार्य का परस्पर विभाग नहीं किया जा सकता। यहां सत्कार्यवाद होने से कोई भी कार्य, कारण से विभक्त नहीं कहा जा सकता, इसलिये उक्त हेतु का उपर्युक्त अर्थ, प्रमादकथन ही होगा। इसीलिये प्रधान की सिद्धि में इस हेतु का निर्देश असंगत होगा। इसका समाधान व्याख्याकार इस प्रकार करता है—

"*उच्यते—न, कार्यकारणयोरुपकारकोपकार्यपरत्वात्। कारणं कार्यमिति [न] निवर्त्यनिर्वर्तकभावोऽभिप्रेतः। किन्तर्हि? उपकारकोपकार्यभावः। स चास्ति शयनादीनां व्यक्तस्य च। अतो न प्रमादाभिधानमेतत्।*"

व्याख्याकार का अभिप्राय यह है, कि आर्या के हेतुपद में 'कारणकार्यविभाग' का अर्थ 'उत्पाद्योत्पादकभाव' नहीं है, प्रत्युत 'उपकार्योपकारकभाव' है। और यह भाव, शयनादि तथा समग्र

---

[1] यहां पाठ 'भाव' है, परन्तु ऊपर की पंक्ति में 'भाग' है। कौन सा पाठ ठीक है, यह नहीं कहा जासकता। एक ही हस्तलेख के आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन होने से इसमें अनेक पाठ अशुद्ध रह गये हैं। अभी आगे जो सन्दर्भ इसका हम उद्धृत करेंगे, उसमें भी पाठ प्रायः अशुद्ध और खण्डित हैं। इस स्थल का जयमंगला का पाठ भी खण्डित और अशुद्धप्राय है। फिर भी दोनों ग्रन्थों के पाठों में ऐसी पंक्तियां उपलब्ध हैं, जिनसे तुलना में पर्याप्त सुविधा हो सकती है।

व्यक्त पदार्थ में देखा जाता है । इसलिये प्रधान की सिद्धि में इस हेतु का उपस्थित करना प्रमाद कथन नहीं है ।

यद्यपि जयमंगला और युक्तिदीपिका इन दोनों व्याख्याओं के दोषोद्भावन प्रकार में यहां कुछ अन्तर दीख पड़ता है । परन्तु उनके समाधान में कोई अन्तर नहीं है। जयमंगलाकार ने अपनी व्याख्या में 'कारणकार्यविभागात्' इस हेतु पद का अर्थ 'उपकार्योपकारकभावात्' लिखा है । और वह 'अन्यैरन्यथा व्याख्यायते' कह कर लिखा गया है । इससे यह स्पष्ट होता है, कि यह अर्थ जयमंगलाकार की अपेक्षा किसी प्राचीन व्याख्याकार का होसकता है । और यह उन्हीं शब्दों के द्वारा युक्तिदीपिका में उपलब्ध है, जैसा कि हम अभी निर्देश कर चुके हैं। इससे यह निश्चित परिणाम निकल आता है, कि जयमंगला से युक्तिदीपिका व्याख्या प्राचीन है ।

युक्तिदीपिका में व्यक्त पदार्थों के उपकार्योपकारकभाव का इसके आगे विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है । उस विवेचन की प्रारम्भिक पंक्तियां इसप्रकार हैं—

'आह—कः पुनर्व्यक्तस्य परस्परकार्यकारणभाव इति । उच्यते—गुणानां तावत् सत्त्वरजस्तमसां प्रकाशप्रवृत्तिनियमलक्षणैर्धर्मैरितरेतरोपकारेण यथा प्रवृत्तिर्भवति, तथा 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः' [का० १२] इत्येतस्मिन् सूत्रे व्याख्यातम् ।"

अभिप्राय यह है, कि सत्त्व रजस् तमस् गुणों के प्रकाश प्रवृत्ति और नियम रूप धर्मों के द्वारा परस्पर उपकार करते हुए,इनकी जैसे प्रवृत्ति होती है,उसका हमने १२वीं आर्या में व्याख्यान कर दिया है । परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है, कि १२वीं आर्या की युक्तिदीपिका व्याख्या खण्डित है, इसलिये व्याख्याकार ने इस सम्बन्ध में वहां क्या लिखा होगा, कुछ नहीं कहा जा सकता । फिर भी प्रस्तुत प्रसंग को लेकर यहां जो कुछ व्याख्याकार ने लिखा है, और 'अन्यैरन्यथा व्याख्यायते' कहकर जयमंगलाकार ने इस सम्बन्ध में जो कुछ निर्देश किया है, इन दोनों की परस्पर तुलना करने से हमारा उपर्युक्त निश्चय अधिक दृढ़ हो जाता है । यद्यपि दोनों ग्रन्थों में इस स्थल के पाठ खण्डित और अशुद्धप्राय हैं, फिर भी पाठों की परस्पर तुलना करने में उनसे हमें पूरी सहायता मिलती है । दोनों ग्रन्थों के पाठ निम्नलिखित हैं—

युक्तिदीपिका	जयमंगला
तथा शब्दादीनां पृथिव्यादिषु परस्परार्थमेकाधारत्वम् । श्रोत्रादीनामितरेतरार्जनरक्षणसंस्काराः । करणस्य कार्यात् स्थानसाधनप्रख्यापनादिकार्यस्य करणाद् वृत्ति (वृद्धि)[1] क्षणभंग	*तत्र कार्य ..व्यादीनि शरीरस्थानि स्थानसाधना...त्रभोगैः कारणान्युपकुर्वन्ति । करणानि च वृद्धिक्षतसंरोहणपालनैः कार्याणि । बाह्यानि च कारणानि पृथिव्या धृतिसंग्रह-*

[1] इस कोष्ठक के अन्तर्गत पाठों को हमने शुद्ध करके लिखा है । इन दोनों व्याख्याओं के परस्पर पाठों के आधार पर ही ये शुद्ध किये गये हैं ।

(क्षत, भग्न--) संरोहणसंशोषणपरिपालनानि पृथिव्यादीनाम वृत्ति(धृति) संग्रहपन्थि (शक्ति व्यूहावकाशदानैर्गवादिभावो देवमानुषतिरश्चाम्, यथर्तुविधानेज्यापोषणाभ्यवहारं संव्यवहारेतरेतराध्ययनं वर्णानां स्वधर्मप्रवृत्तिविषयभावः। अन्यच्च लोकाद् यथासम्भवं द्रष्टव्यम्।"

[पृ० ८०, पं० १-६]

"......येषां तु कार्यमेकं सहभावे तु तेषामुपकारो न प्रतिषिध्यते, तद्यथा पृथिव्यादीनां धृतिसंग्रहशक्तिव्यूहावकाशदानैः।"

[पृ० ८०, पं० २६-२७]

पत्ति (शक्ति) व्यूहनावकाशदानैः परस्परमुपकुर्वन्ति । तथा दैवमानुषतैर्यग्योनानि परस्परोपकारीणि । तत्र दैवम्, यथाकालं शीतोष्ण पा[वा]त वर्षागमः[मैः]मानुषतैर्यग्योनान्युपकरोति । मानुषमिज्यायागस्तुतिभिर्दैवं रक्षति, पोषणभेषज्यैश्च तैर्यग्योनमुपकरोति । यथाध्यात्मिकानां बाह्यानां चोपकार्योपकारकभावो बुद्धिकृत इव दृश्यते तदस्य कश्चिद् व्यवस्थापिता स्यात्, कुतोऽयं विभाग इत्यन्यथानुपपत्तेः।"

[पृ० २२, पं० ३-१०]

इन उद्धरणों में परस्पर तुलना करने के लिये रेखांकित पंक्तियां विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इनसे यह स्पष्ट होजाता है, कि जयमंगलाकार ने इस सन्दर्भ को युक्तिदीपिका के आधार पर लिखा है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी जयमंगलाकार ने युक्तिदीपिका और माठर का उपयोग किया है।

पन्द्रहवीं आर्या के 'अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य' इस हेतुपद का जयमंगलाकार ने जो अर्थ किया है, वह युक्तिदीपिका में किये गये अर्थ के साथ अनुकूलता रखता है।

युक्तिदीपिका

"इह यद्विश्वरूपं तस्य अविभागो दृष्टः। तद्यथा—सलिलादीनां जलभूमी, विश्वरूपाश्च महदादयस्तस्मादेषामप्यविभागेनभवितव्यम्, योऽसावविभागस्तदव्यक्तम्।"

जयमंगला

"इह लोकेऽविभक्तादेकस्मादिक्षुद्रव्याद् रसफाणितगुडखण्डशर्करादिवैश्वरूप्यं नानात्वं दृश्यते । तथैकस्माद्दुग्धाद् दधिमस्तुनवनीतघृतादिवैश्वरूप्यमुपलभ्यते । एवमाध्यात्मिकानां बाह्यानां च वैश्वरूप्यम्। तस्मादेषामविभक्तेनैकेन भवितव्यम्।"[1]

युक्तिदीपिका के रेखांकित पदों का ही जयमंगला में विस्तार किया गया है। इस स्थान पर युक्तिदीपिका का पाठ कुछ अस्पष्ट है, संभव है, पाठ कुछ भ्रष्ट हो गया हो। परन्तु उपलब्ध

[1] माठरवृत्ति में इसीप्रकार का व्याख्यान १६ वीं आर्या के 'परिणामतः सलिलवत्' पद की व्याख्या में उपलब्ध होता है। इसमें यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि १५ वीं आर्या के 'अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य' हेतु की युक्तिदीपिका प्रतिपादित व्याख्या ही जयमङ्गलाकार को अभिप्रेत थी, परन्तु उसके लिये उपयुक्त

पदों को भी जब हम योग व्यासभाष्य [३ । १४] के "जलभूम्योः पारिणामिकं रसादि-वैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टम्" के साथ तुलना करते हैं, तो उक्त अर्थ अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है, और जयमंगला व्याख्या में युक्तिदीपिका की अनुकूलता प्रतीत होने लगती है।

जयमंगला में माठर के अर्थ का उल्लेख—

इसके अनन्तर जयमंगलाकार ने इस हेतु के माठरकृत अर्थ को 'अन्यस्त्वाह' कह कर निर्दिष्ट किया है। तुलना के लिये दोनों पाठों को नीचे दिया जाता है—

माठर

"न विभागोऽविभागः । विश्वरूपस्य भावो वैश्वरूप्यम् । बहुरूपमित्यर्थः । तस्य । त्रैलोक्यं पञ्चसु महाभूतेष्वविभाग गच्छति । पञ्च महाभूतानि तन्मात्रेष्वविभागं गच्छन्ति । पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि चाहंकारे । अहंकारो बुद्धौ । सा च प्रधाने । इत्थं त्रयो लोकाः प्रलयकाले प्रधानेऽविभक्ताः ।.. ......ततो हि सृष्टौ सदेवाविर्भवति ।"

जयमंगला

"अन्यस्त्वाह—अविभागे वैश्वरूप्यस्य इति । अविभागी लयः। वैश्वरूप्यं जगत् नानारूपत्वात् । प्रलयकाले वैश्वरूप्यं क्व लीयते स्थित्युत्पत्तिप्रलयाज्जगत इति ।.........तस्मादन्यथानुपपत्त्यास्ति तदेकमिति ।

माठर के रेखाङ्कित पदों को जयमंगला से तुलना करें। माठर का मध्यगत पाठ, अन्तिम पंक्तियों का ही व्याख्यानमात्र है। जयमंगला का थोड़ा सा पाठ हमने छोड़ दिया है। वहां पर ईश्वर में लय की असम्भावना बतलाई गई है। इस प्रसंग में युक्तिदीपिकाकार ने परमाणु, पुरुष, ईश्वर, कर्म, दैव, स्वभाव, काल, यदृच्छा और अभाव इन नौ कारणों का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है, अर्थात् ये जगत् के उपादान कारण नहीं हो सकते, इसलिये इनमें जगत का लय भी सम्भव नहीं है। प्रतीत होता है, जयमंगलाकार ने इसी आधार पर उपलक्षण रूप से केवल ईश्वर में लय की असम्भावना का निर्देश कर दिया है।

शब्दों का प्रयोग, १६ वीं आर्या के 'परिणामतः सलिलवत्' पद की माठरव्याख्या के आधार पर ही किया गया, इसी कारण १५ वीं आर्या के 'अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य' हेतु के माठरकृत अर्थ को जयमंगलाकार ने 'अन्यस्त्वाह' कह कर निर्दिष्ट किया है। १६ वीं आर्या के 'परिणामतः सलिलवत्' पद की माठरव्याख्या इसप्रकार है—

"............, यथा च इक्षुरसो रसिकाखण्डमत्स्यण्डिकाशर्कराकाशितगुडभावेन परिणमति । यथा वा क्षीरं दृध्यस्दधिमस्तुनवनीतघृतारिष्टकिलाटकूर्चिकादिभावेन परिणमति । एवमेवाव्यक्तं आध्यात्मिकेन बुद्ध्यहंकारतन्मात्रेन्द्रियभूतभावेन परिणमति । आधिदैविकेन शीतोष्णवातवर्षादिभावेन परिणमति ।"

जयमंगला में युक्तिदीपिका का उपयोग—

जयमंगला ने अपनी व्याख्या मे युक्तिदीपिका का प्रयोग किया है, इसकी दृढ़ता के लिये एक और प्रसंग भी उपस्थित किया जाता है। ३० वीं आर्या की व्याख्या में दोनों व्याख्याकारों का एक सन्दर्भ इसप्रकार है—

युक्तिदीपिका	जयमंगला
"किञ्चान्यत्———— मेघस्तनितादिषु क्रमानुपलब्धे. । यदि हि क्रमेण श्रोत्रादीनामन्तःकरणस्य च बाह्ये अर्थे वृत्तिः स्यादपि तर्हि मेघस्तनित—कृष्णसर्पालोचनादिषु अप्युपलभ्येत क्रमः । न तूपलभ्यते । तस्मात् युगपदेव बाह्येऽर्थे चतुष्टयवृत्तिरिति ।"	*"बुद्धिरहङ्कारो मनश्चक्षुरित्येतस्य चतुष्टयस्यैकस्मिन् रूपे युगपद्वृत्तिः । यथान्धकारे विद्युत्संपाते कृष्णसर्पसंदर्शने युगपदालोचनाध्यवसायाभिमानसंकल्पनानि भवन्ति ।"*

यहां पर जयमंगलाकार ने युक्तिदीपिका के पाठ का बड़ी सुन्दरता के साथ संक्षेप किया है, और अपनी लेखनी की मौलिकता को जाने नहीं दिया। फिर भी रेखांकित पदों के आधार पर यह अच्छी तरह भांपा जा सकता है, कि दूसरा लेख अवश्य प्रथम लेख के आधार पर लिखा गया है। जयमंगला के पश्चाद्वर्त्ती वाचस्पति मिश्र ने बड़ी चतुरता से जयमंगला के पाठ में 'कृष्णसर्प' के स्थान पर 'व्याघ्र' पद का निवेश कर अपनी मौलिकता को निभाया है, जिसका उल्लेख हम प्रथम कर आये हैं। अभिप्राय यह है, कि इन सब अन्य-मत निर्देशों और परस्पर पाठों की तुलना के आधार पर इस बात का निश्चय किया जा सकता है, कि युक्तिदीपिका व्याख्या, जयमंगला से अवश्य प्राचीन है।

युक्तिदीपिका का कर्त्ता—

कलकत्ता से प्रकाशित युक्तिदीपिका ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका में इस ग्रन्थ के कर्त्ता का नाम वाचस्पति मिश्र दिया हुआ है। परन्तु ग्रन्थ के सम्पादक महोदय ने इस पुष्पिका को सन्दिग्ध बताया है। ग्रन्थ के किसी भी आन्तरिक भाग से कोई भी ऐसा स्पष्ट लेख उपलब्ध नहीं हुआ, जिसके आधार पर इस ग्रंथ के रचयिता का सन्देहरहित निर्णय किया जा सके।

इतना प्रकट करने में तो कोई सन्देह नहीं किया जा सकता, कि षड्दर्शन व्याख्याकार प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र, इस ग्रन्थ का रचयिता नहीं हो सकता। इस विचार की पुष्टि के लिये निम्नलिखित हेतु दिये जा सकते हैं—

(१)—सांख्यकारिकाओं पर, षड्दर्शन व्याख्याकार प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी नामक एक व्याख्या प्रसिद्ध है। इसके अन्त में एक श्लोक इसप्रकार उपलब्ध होता है—

"मनांसि कुमुदानीव बोधयन्ती सतां मुदा । श्रीवाचस्पतिमिश्राणां कृतिस्तात्तत्त्वकौमुदी॥"

इससे स्पष्ट होता है, कि यह तत्त्वकौमुदी श्री वाचस्पति मिश्र की कृति है। ऐसी स्थिति में एक ग्रन्थ पर एक व्याख्या लिख देने के अनन्तर उसी ग्रन्थ पर उसी व्यक्ति के द्वारा दूसरी व्याख्या लिखे जाने का कोई विशेष कारण प्रतीत नहीं होता।

(२)—वाचस्पति मिश्र कृत षड्दर्शनटीका ग्रन्थों के पर्यालोचन से हम उसकी एक विशेष प्रकार की लेखशैली को समझ पाते हैं। यह शैली मिश्र के सब ग्रन्थों में समान रूप से उपलब्ध होती है। जिन विद्वानों ने मिश्र के दार्शनिक ग्रन्थों का अनुशीलन किया है, वे अच्छी तरह समझ सकते हैं, कि युक्तिदीपिका की लेखनशैली, मिश्र की शैली से भिन्न है। इसलिये यह कहना अयुक्त न होगा, कि युक्तिदीपिका का रचयिता यह प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र नहीं है।

(३)—वाचस्पति मिश्र ने अपनी कृति तत्त्वकौमुदी में जयमंगला व्याख्या को उद्धृत किया है, जैसा कि हम पहले निर्देश कर चुके हैं, और जयमङ्गला व्याख्या में युक्तिदीपिका को उद्धृत किया गया है। ऐसी स्थिति में वाचस्पति मिश्र के समय से सैकड़ों वर्ष पहले युक्तिदीपिका की रचना स्थिर होती है। अतएव यह रचना, प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र की नहीं कही जा सकती।

युक्तिदीपिकाकार 'राजा'—

इस ग्रंथ के रचयिता का निर्णय करदेने वाले असन्दिग्ध प्रमाणों का अभी तक संग्रह नहीं किया जा सका है। जो सामग्री हमें उपलब्ध हुई है, उसका निर्देश हम यहां किये देते हैं—

(१)—जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी [1] के प्रत्यक्षलक्षण प्रकरण में पृष्ठ १०६ की पंक्ति ४ और ६-७ में इसप्रकार उल्लेख किया है—

> *"ईश्वरकृष्णस्तु प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टमिति प्रत्यक्षलक्षणमचीकत्। ......यत्तु राजा व्याख्यातवान्-प्रतिराभिमुख्ये वर्त्तते, तेनाभिमुख्येण विषयाध्यवसायः प्रत्यक्षमिति"*

जयन्तभट्ट के इस लेख से यह बात स्पष्ट होती है, कि ईश्वरकृष्ण ने 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' इस पञ्चम कारिका के प्रथम चरण में प्रत्यक्ष का लक्षण किया है, जो अतिव्याप्ति दोष से दूषित है, यह लक्षण अनुमानादि में भी घटित हो जाता है। इस दोष की व्यावृत्ति के लिये इसके आगे जयन्तभट्ट ने, ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं के 'राजा' नाम से प्रसिद्ध किसी व्याख्याकार का व्याख्यान इसप्रकार उद्धृत किया है, कि कारिका में 'प्रति' उपसर्ग का अर्थ आभिमुख्य है, इसलिये चक्षुरादि इन्द्रियों से सन्निकृष्ट विषय का अध्यवसाय ही प्रत्यक्ष कहा जासकता है।

जयन्तभट्ट के इस विवरण को देखने के अनन्तर हमारा ध्यान ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति के व्याख्याग्रन्थों की ओर आकृष्ट होता है। हमारे सन्मुख इस समय सांख्यसप्तति के आठ [2] व्याख्याग्रन्थ उपस्थित हैं, इनमें केवल एक व्याख्याग्रन्थ में 'प्रति' उपसर्ग का आभिमुख्य अर्थ उपलब्ध होता है। यह व्याख्याग्रन्थ युक्तिदीपिका है, इस व्याख्या में प्रस्तुत प्रसंग का

[1] विजयनगरं संस्कृत सीरीज, बनारस संस्करण।

[2] माठरवृत्ति, गौडपादभाष्य, युक्तिदीपिका, जयमंगला, तत्त्वकौमुदी, सांख्यचन्द्रिका आदि।

पाठ निम्नलिखित है—

"प्रतिग्रहणं सन्निकर्षार्थम् । विषयाध्यवसायो दृष्टमितीयत्युच्यमाने विषयमात्रे सम्प्रत्ययः स्यात्। प्रतिना तु आभिमुख्यं द्योत्यते । तेन सन्निकृष्टेन्द्रियवृत्त्युपनिपाती योऽध्यवसायस्तद् दृष्टमित्युपलभ्यते ।"

न्यायमञ्जरी और युक्तिदीपिका के उल्लेखों की परस्पर तुलना करने से यह बात प्रकट हो जाती है, कि जयन्तभट्ट ने सांख्यसप्तति की जिस व्याख्या से उपर्युक्त अर्थ को उद्धृत किया है, वह व्याख्या युक्तिदीपिका ही होसकती है। इस व्याख्या के रचयिता का नाम जयन्तभट्ट ने 'राजा' लिखा है। संभव है, यह लेखक, लोक में इसी नाम से प्रसिद्ध हो।

वह राजा, प्रसिद्ध भोज नहीं—

संस्कृत साहित्य में एक और राजा अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है, इसको भोजराज कहा जाता है। यह संभावना की जासकती है, कि जयन्तभट्ट ने जिस राजा को स्मरण किया है, कदाचित् वह प्रसिद्ध भोजराज ही हो। परन्तु हम इस संभावना से सहमत नहीं होसके। क्योंकि अनेक साधनों से यह बात प्रमाणित है, कि प्रसिद्ध भोजराज, प्रस्तुत ग्रन्थ युक्तिदीपिका का रचयिता नहीं कहा जासकता।

भोज, भोजदेव अथवा भोजराज नाम से प्रसिद्ध अनेक व्यक्ति समय २ पर भारत भूमि को अलंकृत कर चुके हैं। प्रामाणिक इतिहास के अभाव के कारण उनके सम्बन्ध में कोई निश्चित ज्ञान आज हमको नहीं है, इसके लिये विद्वानों ने जो अनुमान किये हैं, वे भी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कहे जासकते। इन सब कठिनताओं के कारण उन सम्पूर्ण भोजों के सम्बन्ध में कोई निर्णयात्मक विवेचन किया जाना अशक्य है, और प्रस्तुत प्रकरण में अप्रासंगिक भी। हमारे इस प्रकरण से सम्बद्ध वही भोजदेव हैं, जिसने सरस्वतीकण्ठाभरण-व्याकरण ग्रन्थ और पातञ्जल योगसूत्रों पर राजमार्तण्ड नामक वृत्ति की रचना की है। इस वृत्ति के प्रारम्भ में वृत्तिकार ने एक श्लोक इसप्रकार लिखा है—

"शब्दानामनुशासनं विदधता, पातञ्जले कुर्वता वृत्तिं, राजमृगांकसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके ।
वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतस् तस्य श्रीरणरंगमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः ॥ ५ ॥

इस श्लोक से यह स्पष्ट विदित होजाता है, कि इस ग्रन्थकार ने शब्दानुशासन, पातञ्जल सूत्रों पर वृत्ति, और राजमृगांक नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की। शब्दानुशासन, व्याकरण का 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक ग्रन्थ है। पातञ्जल सूत्रों पर 'राजमार्तण्ड' नामक वृत्ति प्रसिद्ध है, वैद्यक का राजमृगांक नामक ग्रन्थ अभी तक हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इन ग्रन्थों का रचयिता राजा भोजदेव, युक्तिदीपिका का कर्त्ता नहीं है, यह हमारा विचार है। न वह उस राजवार्तिक का रचयिता है, जिसको सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति ने उद्धृत किया है।

क्योंकि उसने अपने रचित ग्रन्थों की सूची में इसका उल्लेख नहीं किया।

हमने यह इसी धारणा से लिखा है, कि हम इसी ग्रन्थ [युक्तिदीपिका] का दूसरा नाम 'राजवार्त्तिक' समझते हैं। हमारा अभिप्राय यह है, कि जिस 'राजवार्त्तिक' को सांख्यकारिका की ७२ वीं आर्या पर वाचस्पति मिश्र ने उद्धृत किया है, वह उस व्यक्ति की रचना नहीं है, जिसने 'राजमार्तण्ड' आदि ग्रंथों को रचा। क्योंकि उसने स्वरचित ग्रंथों की सूची में 'राजवार्त्तिक' का उल्लेख नहीं किया है। वस्तुतः 'राजवार्तिक' के साथ 'भोज' का सम्बन्ध जोड़ने का कोई भी कारण हमें अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका।

युक्तिदीपिका के साथ 'राजा' का सम्बन्ध होते हुए भी उक्त भोज का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है, इसके लिये निम्नलिखित हेतु भी उपस्थित किये जा सकते हैं—

(अ)—राजमार्तण्ड तथा सरस्वतीकण्ठाभरण के कर्त्ता राजा भोजदेव ने इन दोनों ग्रंथों में जो मांगलिक प्रारम्भिक श्लोक लिखे हैं, उनमें उमा-शिव को नमस्कार किया गया है, यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय परस्पर सर्वथा भिन्न है। इन श्लोकों की रचना भी समान ढंग पर है। वे श्लोक निम्नप्रकार हैं—

'देहार्द्धयोगः शिवयोः स श्रेयांसि तनोतु वः। दुष्प्रापमपि यत्स्मृत्या जनः कैवल्यमश्नुते ॥

[राजमार्तण्ड, योगसूत्रवृत्ति, श्लोक १]

"प्रणम्यैकात्मतां यातौ प्रकृतिप्रत्ययाविव । श्रेयःपदमुमेशानौ पदलक्ष्म प्रचक्ष्महे ॥"

[सरस्वतीकण्ठाभरण-व्याकरण, श्लो० १]

इसके विपरीत युक्तिदीपिका के प्रारम्भिक मांगलिक श्लोकों में सांख्य की प्रशंसा करके साक्षात् कपिल को नमस्कार किया गया है। युक्तिदीपिका के प्रारम्भिक श्लोक इसप्रकार हैं—

"वीतावीतविषाणस्य पक्षतावनसेविनः। प्रवादाः सांख्यकरिणः शल्लकीषण्डभंगुराः ॥
ऋषये परमायार्कमरीचिसमतेजसे। संसारगहनध्वान्तसूर्याय गुरवे नमः ॥"

इन श्लोकों की परस्पर तुलना से यह बात स्पष्ट होजाती है, कि यदि 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि का रचयिता राजा भोजदेव ही, युक्तिदीपिका का रचयिता होता, तो वह अपनी भिन्नविषयक रचनाओं में भी समान शैली के मंगलाचरण की तरह यहां भी मंगलाचरण करता। अभिप्राय यह है, कि उसकी प्रसिद्ध रचनाओं में मंगलाचरण की शैली एक है, भले ही ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय भिन्न हो। परन्तु युक्तिदीपिका में वह शैली दृष्टिगोचर नहीं होती। इसलिये इस ग्रन्थ के साथ जिस राजा का सम्बन्ध निर्दिष्ट किया गया है, वह उपर्युक्त ग्रन्थों का कर्त्ता राजा भोजदेव नहीं हो सकता।

(इ)—इन दोनों ग्रन्थकारों ने अपने आपको ग्रन्थकार के रूप में जिन विचारों के साथ प्रस्तुत किया है, वे परस्पर इतने भिन्न हैं, कि इनको एक ही व्यक्ति के विचार कहने का साहस नहीं होता। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि का रचयिता राजा भोजदेव, पातञ्जल योगसूत्रों पर वृत्ति

लिखते हुए प्रारम्भ में ही अपने आप को बड़े गर्वोक्ति के साथ प्रस्तुत करता है। वह लिखता है—

"*शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता। वृत्तिं राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके। वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतस्तस्य श्रीरणरंगमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः*

इतना ही नहीं, प्रत्युत अगले श्लोकों में अपने से प्राचीन सब व्याख्याओं और टीकाकारों को दोषपूर्ण बताकर, अपनी व्याख्या की उपयोगिता को प्रकट करता है—

"*दुर्बोधं यदतीव तद्विजहति स्पष्टार्थमित्युक्तिभिः,*
स्पष्टार्थेष्वपि विस्तृतिं विदधति व्यर्थैः समासादिकैः।
अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते,
श्रोतृणामिति वस्तुविप्लवकृतः सर्वेऽपि टीकाकृतः॥ ६॥
उत्सृज्य विस्तरमुदस्य विकल्पजालं फल्गुप्रकाशमवधार्य च सम्यगर्थान्।
सन्तः पतञ्जलिमते विवृतिर्मयेयमातन्यते बुधजनप्रतिबोधहेतुः॥ ७॥"

इसके विपरीत युक्तिदीपिकाकार ने जिन भावों के साथ ग्रन्थ के आदि और अन्त में अपने आपको प्रस्तुत किया है, वे निम्न प्रकार हैं—

तस्य व्याख्यां करिष्यामि यथान्यायोपपत्तये। कारुण्यादप्ययुक्तां तां प्रतिगृह्णन्तु सूरयः॥ १५॥
[उपक्रम श्लोक]

"*नयन्ति सन्तश्च यतः प्रकाशिततो गुणं परेषां तनुमप्युदारताम्।*
इति प्रयासेप मम श्रमः सतां विचारणानुग्रहमात्रपात्रता॥ ४॥ [उपसंहार श्लोक]

पहले श्लोकों के द्वारा व्याख्येय शास्त्र का प्रशंसापूर्ण शब्दों में उल्लेख करके, १५ वें उपक्रम श्लोक में व्याख्याकार ने कहा है, कि न्याय्य अर्थ की सिद्धि के लिये उस शास्त्र की व्याख्या करूंगा, सम्भव है, वह अयुक्त हो, फिर भी विद्वान् मुझपर करुणा करके इसे स्वीकार करेंगे। इसीप्रकार के भाव उपसंहार वाक्य में भी प्रकट किये गये हैं। फलतः 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि के रचयिता भोजदेव की गर्वोक्ति, और युक्तिदीपिका के रचयिता 'राजा' की विनयोक्ति, उनके विचार और स्वभाव की विभिन्नता को स्पष्ट प्रकट करती हैं। इसलिये इनको एक मानना युक्तिसंगत नहीं कहा जासकता।

(उ) ग्रन्थों की आन्तरिक लेखनशैली के आधार पर प्रतीत होने वाले पारस्परिक भेदों के अतिरिक्त एक हेतु इसके लिये हम और उपस्थित करते हैं। वाचस्पति मिश्र का समय नवम शतक का मध्य है। उससे लगभग डेढ़ शतक से अधिक पूर्व ही जयमंगला का रचनाकाल है। जयमंगला से भी पर्याप्त पहले युक्तिदीपिका की रचना हो चुकी थी, जैसा कि हम अभी निर्देश कर आये हैं। ऐसी स्थिति में वाचस्पति मिश्र से लगभग तीन शतक से भी अधिक पूर्व युक्तिदीपिका की रचना हो चुकी थी, यह धारणा की जासकती है। परन्तु 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि के

रचयिता राजा भोजदेव का समय, आधुनिक गवेषणाओं के आधार पर ऐतिहासिकों ने [1] ग्यारहवें शतक का प्रारम्भ माना है। कुछ[2] विद्वानों ने यह भी प्रकट किया है, कि 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि का रचयिता प्रसिद्ध धारापति राजा भोजदेव, योगसूत्रवृत्तिकार भोज से भिन्न है। ग्यारहवें शतक का प्रारम्भ, धारापति भोजदेव का ही समय है। उससे लगभग डेढ़ शतक पूर्व यह भोजदेव था, जिसने 'योगसूत्रवृत्ति' 'राजमृगांक' तथा व्याकरण विषयक किसी ग्रन्थ का निर्माण किया, उसका दूसरा नाम अथवा प्रसिद्ध विरुद 'रणरंगमल्ल' था, इस नाम का निर्देश ग्रन्थकार ने स्वयं योगसूत्रवृत्ति के प्रारम्भिक पांचवें श्लोक में किया है। और इसी व्यक्ति ने 'राजवार्त्तिक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

यदि इस बात को ठीक मान लिया जाय, तो भी 'राजमार्तण्ड' आदि के रचयिता भोजदेव का समय नवम शतक के मध्य में ही संभावना किया जासकता है, जो कि वाचस्पति मिश्र का समय है। परन्तु युक्तिदीपिका की रचना तो उस समय से कई शतक पूर्व होचुकी थी। ऐसी स्थिति में युक्तिदीपिका से सम्बद्ध राजा 'राजमार्त्तण्ड' आदि के रचयिता राजा भोजदेव से भी अवश्य भिन्न होना चाहिये। अभी तक इसके वास्तविक नाम को पहिचान लेने के लिये कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं होसकी है। संभव है, यह किसी देश का राजा हो, अथवा अपने कुल या किन्हीं गुण विशेषों के कारण 'राजा' नाम से विख्यात हो। जैसे आज भी श्री राजगोपालाचारी तथा कुन्हन राजा, 'राजा' नाम से प्रसिद्ध हैं। फिर भी न्यायमञ्जरीके लेख के आधार पर इतना अवश्य प्रकट होजाता है, कि इस ग्रन्थकार के नाम के साथ 'राजा' पद का सम्बन्ध अवश्य था।

युक्तिदीपिका के साथ राजा के सम्बन्ध में एक और उपोद्बलक—

(२) इस ग्रन्थ के साथ 'राजा' का कुछ सम्बन्ध है, इसके लिये एक और भी उपोद्बलक प्रमाण हम उपस्थित करना चाहते हैं। सांख्य के प्रतिपाद्य प्रसिद्ध षष्टि पदार्थों का निर्देश करने के लिये वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी के अन्त में कुछ श्लोक 'राजवार्त्तिक' नामक ग्रन्थ से उद्धृत किये हैं। इन षष्टि पदार्थों में से दश मौलिक अथवा मूलिक, और पचास प्रत्ययसर्ग कहे जाते हैं। वाचस्पति ने इनको निम्न रूप में उद्धृत किया है —

"तथा च राजवार्त्तिकं—

प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता। पारार्थ्यं च तथानैक्यं वियोगो योग एव च॥
शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश। विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः॥
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम्। इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः॥ इति।"

---

[1] सर्वदर्शनसंग्रह, अभ्यंकर संस्करण, विशेष नाम सूची, पृ० ५३५, कीथ रचित 'इण्डियन लॉजिक एण्ड ऐटॉमिज्म' पृष्ठ २६।

[2] श्री ततुसुखराम शर्मा लिखित, माठरवृत्ति की भूमिका, पृष्ठ ४। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस से खीष्ट १६२२ में प्रकाशित।

इन तीन श्लोकों में से प्रथम डेढ़ श्लोक में दश मौलिक अर्थों का निर्देश किया गया है, और अन्तिम डेढ़ श्लोक में शेष पचास प्रत्ययसर्गों का निर्देश है। वाचस्पति ने इन श्लोकों को 'राजवार्त्तिक' नामक ग्रन्थ से लिया है। इस नाम के ग्रन्थ का अभी तक कुछ पता नहीं लग सका, परन्तु ये श्लोक मूल रूप में ही, युक्तिदीपिका में उपलब्ध होते हैं। मूलरूप में कहने से हमारा अभिप्राय यह है, कि युक्तिदीपिका में ये श्लोक उद्धृत नहीं हैं, प्रत्युत ग्रन्थकार की स्वयं अपनी रचना के रूप में ही उपलब्ध होते हैं। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में पन्द्रह अनुष्टुप् श्लोक लिखे हैं, उनमें १० से १२ तक ये तीन श्लोक हैं। वहां की पूर्वापर रचना से यह प्रतीत होता है, कि यह सम्पूर्ण रचना ग्रन्थकार की अपनी है। पूर्वापर श्लोकों के साथ इन श्लोकों को हम यहां युक्तिदीपिका से उद्धृत करते हैं --

> "*शिष्यैर्दुरवगाहास्ते तत्त्वार्थभ्रान्तबुद्धिभिः। तस्मादीश्वरकृष्णेन संक्षिप्तार्थमिदं कृतम् ॥८॥*
> *सप्तत्याख्यं प्रकरणं सकलं शास्त्रमेव वा। यस्मात् सर्वपदार्थानामिह व्याख्या करिष्यते ॥९॥*
> *प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता। पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च ॥१०॥*
> *शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मूलिकार्थाः स्मृता दश। विपर्ययः पंचविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ॥११॥*
> *करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम्। इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः ॥१२॥*
> *यथाक्रमं लक्षणतः कार्त्स्न्येनेहाभिधास्यते। [1]तस्मादतः शास्त्रमिदमलं नानात्वसिद्धये ॥१३॥*"

यहां पर आठवें श्लोक का अर्थ पूरा करने के लिये नवम श्लोक का प्रथम चरण पहले श्लोक के साथ जोड़ना पड़ता है। अथवा यह केवल प्रकरण नहीं, अपितु सम्पूर्ण शास्त्र ही है, क्योंकि इस में सब पदार्थों की व्याख्या की जायगी। यह अर्थ, शेष नवम श्लोक से कहा गया है। वे सब पदार्थ कौन हैं ? इसका निर्देश अगले तीन श्लोकों में है। १२वें श्लोक के 'इति पदार्थानां षष्टिः' इन पदों का सम्बन्ध अगले तेरहवें श्लोक के साथ है। 'अभिधास्यते' क्रिया का 'षष्टिः' कर्म है। क्योंकि यह 'षष्टि' ही यथाक्रम लक्षणपूर्वक सम्पूर्ण रूप से इस शास्त्र में कही जायगी, इसलिये यह शास्त्र, पुरुष और प्रकृति के भेद की सिद्धि के लिये समर्थ अथवा पर्याप्त है। यह अर्थ तेरहवें श्लोक से प्रतिपादित होता है। अभिप्राय यह है, कि इन श्लोकों की रचना, पूर्वापर के साथ इतनी सुसम्बद्ध तथा सुघटित है, कि इसके सम्बन्ध में यह कहने का साहस नहीं किया जा सकता, कि ये तीन श्लोक और कहीं से उठाकर यहां प्रविष्ट कर दिये गये हैं। इसलिये यह ग्रन्थकार की अपनी रचना ही मानी जानी चाहिये। इसके लिये हम एक प्रमाण और उपस्थित करते हैं।

वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में युक्तिदीपिका के श्लोकों को ही 'राजवार्त्तिक' नाम पर उद्धृत किया है—

---

[1] यहां 'यस्मादतः' पाठ अधिक संगत मालूम होता है। यथाश्रुत पाठ में अर्थसंगति ठीक नहीं हो पाती।

इन तीनों श्लोकों को वाचस्पति मिश्र ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। अर्थात् सांख्य-तत्त्वकौमुदी में ये श्लोक उद्धरण रूप में उपलब्ध होते हैं। परन्तु युक्तिदीपिका में ये श्लोक संभावित मौलिक रूप में ही हैं। इन दो स्थलों के अतिरिक्त इन श्लोकों का पूर्वार्ध [अर्थात् केवल पहले डेढ़ श्लोक], जिसमें दश मौलिक अर्थों का ही निर्देश है, तत्त्वसमास की सर्वोपकारिणी नामक टीका [1] में 'तथा च राजवार्त्तिकम् ' कहकर उद्धृत है। यह निश्चित ही सांख्यतत्त्व-कौमुदी से लिया गया प्रतीत होता है, न कि मूलग्रन्थ से। इसके अतिरिक्त 'सांख्यतत्त्वविवरण' नामक टीका [2] में 'तदुक्तम्' कहकर ही ये श्लोक उद्धृत हैं। 'कापिलसूत्रविवरण' नामक[3] टीका में तो 'भोजराजवार्त्तिकेऽप्युक्तम्' कहकर ये डेढ़ श्लोक उद्धृत हैं। इस विवरण के रचयिता माधव परिव्राजक ने 'राजवार्त्तिक' के साथ 'भोज' पद किस आधार पर जोड़ दिया है, यह निश्चित नहीं कहा जासकता। संभव है, वाचस्पति के ग्रन्थ में 'राजा' पद देखकर ही उसने इसका नाम 'भोज' समझ लिया हो। यह हम स्पष्ट कर आये हैं, कि 'सरस्वतीकण्ठाभरण' अथवा 'राजमार्तण्ड' आदि का रचयिता राजा भोज, युक्तिदीपिका का रचयिता नहीं कहा जा सकता। और न 'राजवार्त्तिक' नामक ग्रन्थ से उसका कोई सम्बन्ध प्रमाणित होता है।

सांख्य ग्रन्थों में, एक उपजाति छन्द का ऐसा श्लोक और मिलता है, जिसमें केवल दश मौलिक अर्थों का निर्देश किया गया है। इसमें कहीं २ साधारण पाठभेद भी मिलता है। हम उन सब ही स्थलों को यहां उद्धृत कर देना उपयुक्त समझते हैं, जहां २ हमने इस श्लोक को देखा है।

"अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं परार्थमन्यत्वमथो निवृत्तिः।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः ॥ इति दश मूलिकार्थाः"

[याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय, श्लोक १०६ पर, राजा अपरादित्य विरचित, अपरार्कापराभिधा व्याख्या में उद्धृत देवल ग्रन्थ से]

"इमे चान्ये दश मौलिकाः। तथा हि-अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्वं पारार्थ्यमन्यत्वमथो निवृत्तिः।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थिति- शरीरस्य विशेषवृत्तिः॥"

[सांख्यसप्ततिव्याख्या, माठरवृत्ति, का० ७२ पर]

अस्तित्वादयश्च दश। ···· । तथा चाह संग्रहकारः—
अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं पारार्थ्यमन्यत्वमकर्तृभावः।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः॥ इति।"

[सांख्यसप्ततिव्याख्या, जयमंगला, का० ५१ पर]

---

1 सांख्यसंग्रह पृ० १०० पर।

2 सांख्यसंग्रह, पृ० ११२, ११३ पर।

3 परमहंस आचार्य माधव परिव्राजक कृत, नवचन्द्र शिरोमणि द्वारा परिशोधित, श्री भुवनचन्द्र बसाक द्वारा, ८ नीमतल्ला घाट स्ट्रीट् कलकत्ता से खीष्ट १८६० में प्रकाशित। पृ० १२ पर।

"अस्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यमन्यत्वमकर्तृत्वम् ।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः॥"

[तत्त्वसमासव्याख्या, सांख्यतत्त्वविवेचन,[1] 'दश मूलिकार्थाः । १६ ।' सूत्र पर]

"इदानीं सांख्यशास्त्रस्य षष्टितन्त्रत्वप्रतिपादनाय पञ्चाशत्सु बुद्धिसर्गेषु दशान्यान् पूरयति सूत्रेण । दश मूलिकार्थाः ॥१८॥
अस्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वं परार्थमन्यत्वमकर्तृता च । योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः॥" [तत्त्वसमासव्याख्या, तत्त्वयाथार्थ्यदीपन पृ० ८०]

अत्राह-के दश मूलिकार्था इति ? अत्रोच्यते—
अस्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वं परार्थमन्यत्वमकर्तृता च ।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः ॥

[तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति-क्रमदीपिका, सांख्यसंग्रह, पृ० १३५]

इन छः स्थलों में से प्रथम तीन स्थल, वाचस्पति मिश्र से भी प्राचीन ग्रन्थों से लिये गये हैं। सबसे पहला स्थल ईश्वर कृष्ण से भी अतिप्राचीन ग्रन्थ का है। पहले दो स्थल युक्तिदीपिकाकार से प्राचीन हैं, और उपान्त्य दो स्थल वाचस्पति मिश्र से भी अर्वाचीन हैं, तथा अन्तिम स्थल युक्तिदीपिकाकार से भी प्राचीन है। ऐसी स्थिति में युक्तिदीपिकाकार ने इस श्लोक को अपने ग्रंथ में क्यों नहीं स्वीकार किया, जब कि अतिप्राचीन काल से अबतक इस श्लोक को प्रायः सब ही सांख्याचार्य अपने ग्रंथों में उद्धृत करते रहे हैं, फिर युक्तिदीपिकाकार के द्वारा इस उपेक्षा का कोई कारण अवश्य होना चाहिये।

प्रतीत यह होता है, कि युक्तिदीपिकाकार ने प्रारम्भ के नवम श्लोक में इस बात का उल्लेख किया है, कि सांख्यसप्तति में सम्पूर्ण पदार्थों की व्याख्या की गई है। इसके आगे तीन श्लोकों से उसने उन सम्पूर्ण पदार्थों को गिनाया है। युक्तिदीपिकाकार की अपनी रचना अनुष्टुप् छन्द में है। इसलिये उसने उपजाति छन्द का रूपान्तर अनुष्टुप् से ही कर दिया। इसका एक विशेष कारण यह भी है, कि उपजाति छन्द में केवल दश मूलिक अर्थों का ही निर्देश है, परन्तु युक्तिदीपिकाकार को सब ही पदार्थों का निर्देश करना था। पचास बुद्धिसर्गों के निर्देश के लिये उसको स्वतन्त्र रचना करनी आवश्यक थी, क्योंकि इनका निर्देशक कोई भी प्राचीन वृत्त तब उपलब्ध नहीं था। इसलिये अपने पूर्वापर रचनाक्रम से बाध्य होकर पचास बुद्धिसर्गों के निर्देशक अन्तिम डेढ़ अनुष्टुप् की अपनी स्वतन्त्र रचना के साथ, दश मूलिक अर्थों का निर्देश करने वाले प्राचीन उपजाति छन्द को भी अनुष्टुप् में ही रूपान्तरित करके संगत कर दिया है। यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है, कि अन्यत्र सब ही स्थलों पर पचास बुद्धिसर्गों का प्रथम निर्देश करके दश

[1] 'सांख्यसंग्रह' नाम से चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस से प्रकाशित।

मूलिक अर्थों का निर्देश किया गया है, और वह भी उपर्युक्त उपजाति छन्द के द्वारा। परंतु उस क्रम को प्रस्तुत ग्रंथ में बदल दिया गया है। संभावना यही होती है, कि प्रथम पूर्व रचित उपजाति वृत्त को अनुष्टुप् में रूपान्तर किया गया, अनन्तर पचास बुद्धिसर्गों को वृत्तबद्ध करके उसमें जोड़ दिया गया।

युक्तिदीपिकाकार के द्वारा उपजाति छन्द को अनुष्टप् में रूपान्तर किये जाने की अधिक संभावना इसलिये भी मालूम होती है, कि उसने इन्हीं प्रारम्भिक पन्द्रह श्लोकों की रचना में एक और अनुष्टुप् को भी आर्यावृत्त से रूपान्तर किया प्रतीत होता है। माठरवृत्ति के अन्त में ७२ आर्याओं की व्याख्या करने के अनन्तर एक और आर्या[1] उपलब्ध होती है। वह इस प्रकार है—

"तस्मात्समासदृष्टं शास्त्रमिदं नार्थतश्च परिहीनम्।
तन्त्रस्य च बृहन्मूर्तेर्दर्पणसङ्क्रान्तमिव बिम्बम्॥"

इस आर्या में वर्णन किया गया है, कि यह सांख्यसप्तति ग्रन्थ यद्यपि संक्षेप में लिखा गया है, फिर भी यह अर्थ से परिहीन नहीं है, अर्थात् सब ही अर्थों का इसमें समावेश है। जिसप्रकार बड़ी वस्तु भी छोटे से दर्पण में प्रतिबिम्बित हो जाती है, इसीप्रकार बृहत्काय तन्त्र इस लघुकाय सप्तति में समाविष्ट है। ठीक इसी ढङ्ग का एक अनुष्टुप् वृत्त युक्तिदीपिकाकार ने इसप्रकार लिखा है--

"अल्पग्रन्थमनल्पार्थं सर्वैस्तन्त्रगुणैर्युतम्। पारमर्षस्य तन्त्रस्य बिम्बमादर्शगं यथा ॥१४॥"

उपयुक्त दश मूलिकार्थ निर्देशक उपजाति वृत्त से युक्तिदीपिका के दशवें और ग्यारवें श्लोक के अर्द्ध की, तथा माठर की आर्या से इस चौदहवें श्लोक की तुलना करने पर हमारा यह विचार अत्यन्त दृढ़ होजाता है, कि युक्तिदीपिकाकार ने उक्त उपजाति और आर्या वृत्त को अनुष्टुप् वृत्त में रूपान्तर किया है। इसलिये यह रूपान्तर की हुई अनुष्टुप् वृत्त की रचना, निश्चित ही युक्तिदीपिकाकार की अपनी कही जासकती है।

वाचस्पति मिश्र अपने ग्रन्थ में इसी रचना को 'राजवार्त्तिक' के नाम से उद्धृत करता है। इस का अभिप्राय यह होता है, कि इस रचना के साथ 'राजा' के सम्बन्ध से वाचस्पति मिश्र अवगत है। दूसरे शब्दों में यह कहा जासकता है, कि इस रचना को ही उसने 'राजा का वार्त्तिक' समझकर 'राजवार्त्तिक' नाम से याद किया है, और इसप्रकार वाचस्पतिमिश्र तथा जयन्तभट्ट दोनों की इस विषय में एक ही सम्मति स्पष्ट होती है

वाचस्पति के द्वारा प्राचीन उपजाति वृत्त के उद्धृत न किये जाने का कारण—

उक्त उपजाति वृत्त की वाचस्पतिमिश्र के द्वारा भी उपेक्षा किये जाने का मुख्य कारण यही प्रतीत होता है, कि उसे भी उस प्रसंग में सम्पूर्ण षष्टि पदार्थों का निर्देश करने की अपेक्षा थी,

[1] इस आर्या के सम्बन्ध में आवश्यक विवेचन इसी प्रकरण के माठर सम्बन्धी उल्लेख के अन्तर्गत किया जायगा।

न कि केवल दश मूलिक अर्थों का ही निर्देश करने की। इसलिये उसने एक प्राचीन आचार्य के ही शब्दों में इस अर्थ का उक्तरूप से निर्देश कर दिया।

यह तो कदाचित् भी नहीं कहा जासकता, कि वाचस्पति मिश्र को इस उपजाति वृत्त का ज्ञान ही न होगा। हम इस बात का 'जयमंगला' के प्रसंग में उल्लेख कर आये हैं, कि सांख्यसप्तति की ५१ वीं आर्या पर जयमंगलाकार ने उक्त उपजातिवृत्त को उद्धृत किया है, और उसके नीचे जो सन्दर्भ जयमंगला में लिखा गया है, उसका वाचस्पति मिश्र ने, राजवार्त्तिक के श्लोकों को उद्धृत करने के अनन्तर अक्षरशः उल्लेख किया है। ५१ वीं आर्या की ही 'जयमङ्गला' व्याख्या के सन्दर्भ को, जो कि उद्धृत उपजातिवृत्त के कुछ पूर्व ही निर्दिष्ट है, वाचस्पति ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। ऐसी स्थिति में जबकि इस उपजातिवृत्त के पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती 'जयमंगला' के पाठों का वाचस्पतिमिश्र अपने ग्रन्थ में उपयोग करता है, तब इन दोनों पाठों के मध्य में उद्धृत उक्त उपजातिवृत्त वाचस्पतिमिश्र की दृष्टि से ओझल हो गया होगा, ऐसी कल्पना करना दुःसाहस मात्र है।

इस प्रसंग में एक बात विचारणीय और रह जाती है। वह यह कि इस ग्रन्थ का नाम 'युक्तिदीपिका' है। ग्रन्थ के उपसंहारात्मक -

"इति सद्भिरसम्भ्रान्तैः कुदृष्टि-तिमिरापहा। प्रकाशिकेयं सर्गस्य धार्यतां युक्तिदीपिका ॥२॥"

इस द्वितीय श्लोक से भी यह बात स्पष्ट होती है। फिर वाचस्पति मिश्र ने 'राजवार्त्तिक' नाम से इसका उल्लेख क्यों किया? सम्भव है, सांख्यविषयक 'राजवार्त्तिक' नाम का कोई अन्य ही ग्रन्थ हो, जिसका उल्लेख वाचस्पति ने किया हो।

युक्तिदीपिका का 'वार्त्तिक' नाम क्यों—

इस सम्बन्ध में हमारी यह धारणा है, कि प्रस्तुत युक्तिदीपिका के अतिरिक्त 'राजवार्त्तिक' नाम के किसी अन्य सांख्यविषयक ग्रन्थ के लिये प्रयास करना व्यर्थ होगा। इसके आधार के लिये हम विद्वानों का ध्यान, युक्तिदीपिकाकार की इस नवीन उद्भावना की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं, जो उसने अपने ग्रन्थ में सर्वत्र कारिकाओं को 'सूत्र' पद से व्यवहार करके प्रकट की है। ग्रंथ के द्वितीय तृतीय पृष्ठ पर इसका बलपूर्वक विवेचन किया गया है। पृष्ठ दो पर ग्रन्थकार लिखता है—

"आह-अथ सूत्रमिति कस्मात्? उच्यते-सूचनात् सूत्रम्, सूचयति तांस्तानर्थविशेषानिति सूत्रम्। तद्यथा-'कारणमस्त्यव्यक्तम्' (का० १६), 'भेदानां परिमाणात्' (का० १५) इति।"

इसीप्रकार पृष्ठ ११, पं० ४, ५ पर प्रसंगवश पुनः यह लेख है—

"तथा चोत्तरसूत्रेण प्रतिपेत्स्यत्याचार्यः-'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' २।"

इन लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि ग्रन्थकार कारिकाओं को 'सूत्र' पद से व्यवहृत करता है। यद्यपि सांख्यसप्तति के सर्वप्रथम और युक्तिदीपिका से अतिप्राचीन व्याख्याकार माठर ने सर्वत्र इन कारिकाओं को, आर्या छन्द में होने के कारण 'आर्या' पद से ही व्यवहृत किया

है। युक्तिदीपिका के पश्चाद्भावी व्याख्याकारों में से भी किसीने इन कारिकाओं के लिये 'सूत्र' पद का प्रयोग नहीं किया। वस्तुतः ग्रन्थकार की यह एक अपनी नई कल्पना है। संभव है, इसी नवीनता के आधार पर तात्कालिक विनोदप्रिय विद्वानों ने सूत्रार्थ को उस रूप में विशद करने वाले इस ग्रन्थका नाम 'वार्तिक' रख दिया हो, और उस समय इसी नाम से यह ग्रन्थ प्रसिद्ध हो गया हो, वार्तिक का लक्षण प्राचीन आचार्य इसप्रकार करते आते हैं'—

'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्त्तते। तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः॥

सूत्रों में कहे हुए, न कहे हुए तथा क्लिष्ट रूप में कहे हुए अर्थों का विचार जिस ग्रन्थ में किया जाय, उसे 'वार्तिक' कहा जाता है। यह लक्षण युक्तिदीपिका में पूर्णरूप से घटता है। सांख्यसप्तति की उपलभ्यमान अन्य सब व्याख्याओं से इसमें यह विलक्षणता है। जिन विद्वानोंने युक्तिदीपिका को पढ़ा है वे इसमें वार्तिक-लक्षण के सामञ्जस्य को अच्छी तरह समझ सकते हैं। इसप्रकार 'वार्तिक' नामसे इसकी प्रसिद्धि, तथा इसकी रचना के साथ 'राजा' का सम्बन्ध होने के कारण, इसका 'राजवार्तिक' नाम व्यवहार मे आता रहा होगा। यद्यपि ग्रन्थकार ने इसका नाम 'युक्तिदीपिका' ही रक्खा है।

यह प्रायः देखा जाता है, कि ग्रन्थका अन्य नाम होने पर भी, ग्रन्थकार के नाम से भी उसका नाम लोक में प्रसिद्ध हो जाता है। जैसे—

(अ)—मीमांसा का एक छोटा सा प्रकरण ग्रन्थ है—'मीमांसान्यायप्रकाश'। इसका रचयिता 'आपोदेव' है। रचयिता के नाम से ही यह ग्रन्थ 'आपोदेवी' भी कहा जाता है।

(आ)—पातञ्जल योगसूत्रों की भोजरचित एक व्याख्या है, उसका नाम 'राजमार्तण्ड' है। परन्तु इस नाम को थोड़े ही लोग जान पाते हैं, रचयिता के नामपर 'भोजवृत्ति' उसका अधिक प्रसिद्ध नाम है।

(इ)—पातञ्जल योगसूत्रों पर व्यासभाष्य की, वाचस्पति मिश्र कृत 'तत्त्ववैशारदी' नामक एक व्याख्या है। परन्तु रचयिता के नाम पर उसका 'वाचस्पत्य' नाम व्यवहार में अधिक आता है।

(ई)—विश्वनाथ के मुक्तावली ग्रन्थ पर महादेव भट्ट ने मुक्तावलीप्रकाश नामक टीका लिखी है। उसकी एक टीका श्री रामरुद्र ने 'तरङ्गिणी' नामक बनाई। परन्तु आज व्यवहार में उस के 'तरङ्गिणी' नामका उपयोग न होकर, रचयिता के नाम पर 'रामरुद्री' नाम ही प्रयोग में आरहा है।

संभव है, इसी रूपमें 'युक्तिदीपिका' भी किसी समय इसके रचयिता 'राजा' के नामपर 'राजवार्तिक' नाम से व्यवहृत होती रही हो।

इसप्रकार जो विद्वान् संस्कृत साहित्य की रचनासम्बन्धी आत्मा तक पैठकर विचारेंगे, उन्हें 'सूत्र' और 'वार्तिक' पदों के पारस्परिक सामञ्जस्य को समझ लेने में किसी कष्ट का अनुभव न होगा। उस समय यह बात हमारे सामने और भी अधिक स्पष्ट रूप में आजायगी, कि जिस

१—देखें, निम्नलिखित कारिकाओं पर माठरवृत्ति, १, २, १०, ११, १३, १४, १७, ३८, ४४, ४६, ५२, इत्यादि।

व्यक्ति ने कारिकाओं को 'सूत्र' नाम दिया, उसके व्याख्याग्रन्थ को सामयिक विनोदी विद्वानों ने 'वार्त्तिक' नाम से पुकारा, और वह राजारचित होने के कारण 'राजवार्त्तिक' नाम से पर्याप्त समय तक प्रसिद्ध रहा। उसी नाम को वाचस्पति मिश्र ने भी अपने ग्रन्थ में स्मरण किया है। इस नामस्मरण के आधार पर ही अब हम इस बात को पहिचान सकते हैं, कि इस ग्रन्थ के साथ 'राजा' का सम्बन्ध है, और वाचस्पति मिश्र ने उन श्लोकों को 'युक्तिदीपिका' से ही लिया है। इस लिये इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'राजवार्तिक' और उसका रचयिता कोई 'राजा' नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति हो सकता है, ऐसा अनुमान कर लेने में कोई बाधा नहीं।

युक्तिदीपिका सम्बन्धी हमारे इस लेख से निम्नलिखित परिणाम प्रकट होते हैं—

(क) युक्तिदीपिका, जयमंगला व्याख्या से प्राचीन है।

(ख) युक्तिदीपिका का रचनाकाल विक्रम के पञ्चम शतक के आस पास अनुमान किया जा सकता है।

(ग) इस ग्रन्थ का रचयिता 'राजा' नाम से प्रसिद्ध कोई व्यक्ति है।

(घ) यह 'राजा', 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि का रचयिता प्रसिद्ध राजा भोजदेव नहीं हो सकता।

(ङ) वाचस्पति मिश्र ने सांख्यसप्तति की ७२ वीं आर्या की व्याख्या में 'राजवार्त्तिक' नामक ग्रन्थ से जो तीन श्लोक उद्धृत किये हैं, वे युक्तिदीपिका के हैं। इसलिये सम्भव है, इसी का दूसरा नाम उस समय ''राजवार्त्तिक' प्रसिद्ध रहा हो।

---

१ डा०कीथ ने 'इण्डियन लॉजिक एण्ड ऐटोमिज़्म' नामक अपनी पुस्तक के २१ पृष्ठ पर, तथा 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर' के ४८६ पृष्ठ पर यह विचार प्रकट किया है, कि तत्त्वकौमुदी में जिस राजवार्त्तिक को उद्धृत किया गया है वह धारापति भोज की रचना है, अथवा कही जा सकती है, जिसका दूसरा नाम रणरंगमल्ल भी है। इसका काल १०१८ से-१०६० खीस्ट है।

यह वही रणरंगमल्ल अथवा भोज है जिसने योगसूत्रवृत्ति और सरस्वतीकण्ठाभरण आदि ग्रन्थ लिखे हैं। परन्तु अब हम उक्त आधारों पर कीथ के इस कथन की निराधारता को स्पष्ट ही समझ सकते हैं। वस्तुतः प्रतीत यह होता है, कि 'राजवार्त्तिक' में 'राज' पद को देखकर ही इसके साथ भोज को जोड़ दिया गया है। यद्यपि अभी तक यह निश्चय नहीं है कि 'राजवार्त्तिक' के कर्त्ता का नाम क्या था? संभव है उसका नाम भी भोज हो। पर निश्चयपूर्वक इतना ही कहा जासकता है, कि उसके नाम के साथ 'राजा' का सम्बन्ध अवश्य था, और वह इसी नाम से लोक में प्रसिद्ध तथा व्यवहृत था। इसके साथ ही इतना और निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि 'राजवार्त्तिक' का कर्त्ता वह भोज नहीं है, जो धारा नगरी में खीस्ट १०१८ से १०६० तक राज्य करता था, तथा जिसको सरस्वतीकण्ठाभरण तथा राजमार्तण्ड आदि का रचयिता कहा जाता है। क्योंकि खीस्ट एकादश शतक के भोज को नवम शतक में ही वाचस्पति कैसे उद्धृत कर सकता है? वाचस्पति का काल निश्चित है, तथा धारापति भोज का अपना, इन दोनों के निश्चित काल में कोई विपर्यय नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में यही परिणाम निकल सकता है, कि 'राजवार्त्तिक' का रचयिता इस भोज से अन्य कोई व्यक्ति है, जो वाचस्पति से पूर्व ही होचुका था। तत्त्वकौमुदी में राजवार्त्तिक के नाम से उद्धृत श्लोक, युक्तिदीपिका में उपलब्ध हैं, अतः संभव हो सकता है, कि इसी ग्रन्थका नाम राजवार्त्तिक हो। जैसा कि प्रथम प्रमाणित किया गया है।

आचार्य गौडपाद

गौडपाद भाष्य—

वाचस्पति मिश्र रचित सांख्यतत्त्वकौमुदी से प्राचीन दो व्याख्याग्रन्थों का हम विवेचन कर चुके हैं—जयमंगला और युक्तिदीपिका। सांख्यसप्तति पर एक और व्याख्या गौडपादकृत है, जो गौडपादभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसके गम्भीर अध्ययन से प्रतीत होता है, कि यह भाष्य माठरवृत्ति का छाया मात्र[1] है। इन दोनों ग्रन्थों का तुलना से यह मत सर्वथा निश्चित हो जाता है। ग्रन्थ के व्यर्थ विस्तारभय से हम इन दोनों व्याख्यानों के सन्दर्भों को तुलना की दृष्टि से यहां उद्धृत करना अनावश्यक समझते हैं। दोनों ग्रन्थ मुद्रित हैं कोई भी विद्वान् किसी भी कारिका के व्याख्यानों की यथेच्छ तुलना कर सकता है। इन दोनों में इतना अन्तर अवश्य देखा जाता है, कि भाष्य, वृत्ति के अधिक अंशों को छोड़ता ही है, कुछ नवीन नहीं लिखता। कहीं २ कुछ परिवर्त्तन और पंक्तियों का आधिक्य अवश्य पाया जाता है।

यह गौडपाद कौन है—

इस प्रश्न पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है। प्रायः सब ही विद्वानों की यह धारणा पाई जाती है, कि यह गौडपाद, आदि शङ्कराचार्य का दादागुरु गौडपाद नहीं हो सकता। यह धारणा ठीक ही कही जा सकती है। इसका समर्थन निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर होता है।

(क) दादा गुरु गौडपाद की एक प्रसिद्ध रचना माण्डूक्य उपनिषद् पर कारिका हैं। इस की रचनाशैली और अर्थप्रतिपादनक्रम इस बात को स्पष्ट कर देते है, कि सांख्यसप्तति का भाष्यकार यह गौडपाद नहीं हो सकता। इन दोनों ग्रन्थों की रचना आदि में महान अन्तर है।

(ख)—माण्डूक्य कारिका जैसे मौलिक तथा परिमार्जित ग्रन्थ का लेखक, दूसरे व्याख्या-ग्रन्थ का आश्रय लेकर, उसी में साधारण न्यूनाधिकता करके अपने भाष्य की रचना करता, यह संभव नहीं जान पड़ता। उसकी रचना में अवश्य नवीनता होती।

(ग)—दादा गुरु ने माण्डूक्य कारिकाओं में अपने वेदान्तसम्बन्धी विशेष विचारों का उल्लेख किया है, वह उन विचारों का प्रवर्त्तक है। उसके प्रशिष्य आदि शङ्कराचार्य ने केवल उन विचारों अथवा सिद्धान्तों को और अधिक पुष्ट कर प्रचारमात्र किया है। इसप्रकार अपने विशेष विचार तथा सिद्धान्तों का संस्थापक एक आचार्य, अपने से सर्वथा विपरीत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ पर व्याख्या लिखता, यह संभव नहीं कहा जा सकता। वह भी इस भाष्य जैसी व्याख्या, जो दूसरे का अनुकरणमात्र है।

---

[1] इस विचार को अन्य विद्वानों ने भी माना है। श्रीयुत तनुसुखराम शर्मा त्रिपाठी, माठरवृत्ति की भूमिका, पृ० ६ [चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस १६२२ संस्करण]। श्रीयुत डा० श्रीपाद कृष्ण बैल्वलकर, Bhandarkar Com. Vol.

इन आधारों पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि प्रस्तुत आचार्य गौडपाद, दादा गुरु गौडपाद से अतिरिक्त है। इसके कालका निर्णय करने के लिये अनेक आधुनिक विद्वानों ने यत्न किया है, परन्तु अभी तक कोई निश्चयात्मक परिणाम नहीं निकला। इस सम्बन्ध में हमें जो सामग्री उपलब्ध हुई है, वह यह है—

गौडपाद का काल—

सांख्यसप्तति की २६ वीं और २८ वीं आर्याओं का माठर के समय जो पाठ[1] था, उसमें युक्तिदीपिकाकार के अनन्तर कुछ परिवर्त्तन हुआ। २६ वीं आर्या में माठर के अनुसार इन्द्रियों का पाठक्रम 'श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिका' है। २८ वीं आर्या में जहां इन्द्रियों की वृत्तियों का निर्देश है, 'रूपादिषु' पाठ है। २६ वीं आर्या के इन्द्रियक्रम के अनुसार २८ वीं आर्या में वृत्तियों का निर्देश न होने के कारण युक्तिदीपिकाकार ने इस पाठ की समालोचना की, और 'रूपादिषु' पाठ को प्रमादपाठ कहकर उसके स्थान पर 'शब्दादिषु' पाठ को युक्त बताकर आर्या में वैसा ही पाठ बनाने की अनुमति दी। इसका परिणाम यह हुआ, कि क्रम-सामञ्जस्य के लिये, युक्तिदीपिका के अनन्तर, किसी व्याख्याकार ने इन्द्रिय-क्रम [२६ वीं आर्या] में 'चक्षु' को पहले ला बिठाया, और २८ वीं आर्या के 'रूपादिषु' पाठ को उसी तरह रहने दिया, तथा किसी ने इन्द्रिय-क्रम को पूर्ववत् ही रक्खा, और २८ वीं आर्या में 'रूपादिषु' की जगह 'शब्दादिषु' पाठ बना दिया। इस प्रमाद से आचार्य गौडपाद भी बच नहीं सका है। उसने भी इन्द्रिय-क्रम में 'चक्षु' को पहले रक्खा है। यद्यपि उसका ग्रन्थ माठर के आधार पर लिखा गया है, परन्तु उसने यहां युक्तिदीपिका-कृत कठोर आलोचना से प्रभावित होकर माठर की उपेक्षा की है। इससे निश्चय होता है, कि आचार्य गौडपाद, युक्तिदीपिका से अर्वाचीन है। युक्तिदीपिकाकार का समय हमने विक्रम के पञ्चम शतक का अन्त माना[2] है। इसप्रकार छठे शतक के अन्त के लगभग आचार्य गौडपाद का समय होना चाहिये।

इससे पीछे इसका समय इसलिये नहीं जा सकता, क्योंकि जयमंगला व्याख्याकार से यह पूर्ववर्त्ती आचार्य होना चाहिये। इसका कारण यह है, कि ४३ वीं आर्या के व्याख्यान में माठर, युक्तिदीपिकाकार, तथा गौडपाद ने तीन भावों[3] का प्रतिपादन किया है। जब कि जयमंगला व्याख्याकार, वाचस्पति मिश्र तथा चन्द्रिका ने दो ही भावों का प्रतिपादन किया है। इसका अभिप्राय यह होता है, कि जयमंगला से प्राचीन व्याख्याकारों ने उस आर्या में तीन भावों का प्रतिपादन माना है। जयमंगलाकार ने उसको अस्वीकार कर, दो ही भावों का उसमें निर्देश माना, और उसके

[1] इस पाठ का विस्तारपूर्वक विवेचन, हम इसी प्रकरण में पहले कर आये हैं। माठर के पाठों के साथ युक्तिदीपिका की तुलना के प्रसंग में संख्या २ पर देखें।

[2] इसी प्रकरण में युक्तिदीपिका का प्रसंग देखें।

[3] इसी प्रकरण में माठर के साथ युक्तिदीपिका की तुलना के प्रसंग में संख्या ३ देखें।

परवर्त्ती व्याख्याकारों ने उसीके अर्थ को स्वीकार किया। इससे प्रतीत होता है, कि गौडपाद इस अर्थ के किये जाने से पूर्व होचुका था। इसलिये युक्तिदीपिका और जयमंगला के मध्य में गौडपाद का समय होना चाहिये। जयमंगला का समय हमने विक्रम के सप्तम शतक का अन्त [1] माना है। इसलिये आचार्य गौडपाद का समय जो हमने निर्दिष्ट किया है, वही संगत होना चाहिये।

हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की व्याख्या [2] में गुणरत्नसूरि ने, अन्य षड्दर्शनसमुच्चय में मलधारि राजशेखर [3] ने तथा अपने यात्रावर्णन में अलबेरूनी [4] ने गौडपाद का उल्लेख किया है। यद्यपि इन उल्लेखों का हमारे काल-निर्णय में कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

माठरवृत्ति

सांख्यसप्तति की उपलभ्यमान टीकाओं में एक माठरवृत्ति भी है। कहीं २ इसका उल्लेख 'माठरभाष्य' [5] नाम से किया गया है। इस पुस्तक का एक ही मुद्रित संस्करण हमारे पास है। यह चौखम्बा संस्कृत सीरीज् बनारस से नं० २९६ पर प्रकाशित हुआ है। इसका प्रकाशन ईसवी सन् १९२२ में हुआ था। इसके संशोधक तथा सम्पादक साहित्योपाध्याय श्री पं० विष्णु प्रसाद शर्मा हैं। इस संस्करण के साथ प्रारम्भ में आठ पृष्ठ की एक संस्कृत भूमिका भी मुद्रित है। इसके लेखक श्री तनुसुखराम शर्मा त्रिपाठी हैं। इसमें ग्रन्थसम्बन्धी बहिरंग परीक्षा का समावेश है। उक्त महानुभावों ने इस अमूल्य ग्रन्थ का सम्पादन व प्रकाशन कर विद्वज्जगत् का महान उपकार किया है।

ग्रन्थकार का नाम—

सांख्यसप्तति की इस व्याख्या के साथ रचयिता के स्थान पर 'माठर' का नाम सम्बद्ध

---

[1] इसी प्रकरण के जयमंगला व्याख्या के प्रसंग में देखें।

[2] सांख्यानां तर्कग्रन्थाः—षष्टितन्त्रोद्धाररूपं माठरभाष्यं सांख्यसप्ततिनामकं तत्त्वकौमुदी गौडपादं आत्रेयतन्त्रं चेत्यादयः। [सांख्यमत, श्लो० ४३ की व्याख्या के अन्त में] गुणरत्नसूरि के इस लेख का आधार, मलधारि राजशेखर का ही लेख है।

[3] सांख्यानां मतवक्तारः कपिलासुरिभार्गवाः। उलूकः पंचशिखश्चेश्वरकृष्णास्तु शास्त्रकृत् ॥५४॥
तर्कग्रन्था एतदीया माठरस्तत्त्वकौमुदी। गौडपादात्रेयतन्त्रे सांख्यसप्ततिसूत्रयुक् ॥५५॥

[4] अलबेरूनी के यात्रावर्णन में यद्यपि गौडपाद का साक्षात् उल्लेख नहीं है, परन्तु सांख्य के नाम से जो सन्दर्भ उस पुस्तक में उद्धृत किये गये हैं, वे अधिकतर सांख्यसप्तति की माठरवृत्ति तथा गौडपाद व्याख्या के आधार पर ही हैं। इसके लिये 'अलबेरूनी का भारत' नामक पुस्तक के ५८-६१,७६,१०३,१०५-१०७ पृष्ठ द्रष्टव्य हैं। इस ग्रन्थ के हिन्दी अनुवादक पं० सन्तराम बी० ए० और प्रकाशक इण्डियन प्रेस प्रयाग है।

[5] हरिभद्रसूरिकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' की गुणरत्नसूरिकृत व्याख्या में तृतीय प्रकाश के ४३ श्लोक पर व्याख्याकार लिखता है— सांख्यानां तर्कग्रन्थाः—षष्टितन्त्रोद्धाररूपं, माठरभाष्यं, सांख्यसप्ततिनामकं, ...चेत्यादयः।' [पृ० १०६, पं० १४, रा० ए० सो० कलकत्ता संस्करण]।

है। व्यक्ति का यह मुख्य नाम था या गोत्र नाम ? इस पर विचार करना काकदन्त परीक्षा के समान ही है। चाहे यह गोत्र नाम हो, अथवा सांस्कारिक; इतना तो प्रत्येक विद्वान् के लिये स्वीकार्य ही होगा, कि यह व्यक्ति इसी नाम से प्रसिद्ध था। अत एव इसके विशेष विवेचन की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

माठर का काल—

यह आचार्य किस काल में हुआ, इसका आज तक असन्दिग्ध निर्णय नहीं हो पाया है। इस विषय पर अनेक विद्वानों ने लिखा है, और अपने २ विचारों के अनुसार इसके समय का निर्णय करने का यत्न किया है। उस सब सामग्री के अतिरिक्त, इस सम्बन्ध में हमें जो कुछ अधिक मालूम हुआ है, उस सबके आधार पर माठर के काल के सम्बन्ध मे और अधिक प्रकाश डालने का यत्न किया जायगा।

हमारी ऐसी धारणा है, कि सांख्यसप्तति के उपलभ्यमान सब ही व्याख्याग्रन्थों में माठर की वृत्ति सबसे प्राचीन है। पिछले पृष्ठों में हमने काल-क्रम की दृष्टि से व्याख्याओं का क्रम इसप्रकार निर्दिष्ट किया है —

सांख्यतत्त्वकौमुदी—एक निश्चायक केन्द्र है, इसका काल सर्वसम्मति से निर्णीत है, उसने स्वयं भी अपने काल का निर्देश कर दिया है।

जयमंगला—सांख्यतत्त्वकौमुदी से प्राचीन है।

युक्तिदीपिका—जयमंगला से प्राचीन है। इसका उपपादन किया जा चुका है।

माठरवृत्ति- युक्तिदीपिका से भी प्राचीन है, इस बातका विवेचन अब प्रस्तुत किया जायगा। इस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों के विचारों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का निर्देश करने से पूर्व हम अपने विचार प्रकट कर देना चाहते हैं।

माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका से प्राचीन—

युक्तिदीपिका में अनेक स्थलों पर ऐसे मतों का स्मरण किया गया है, अथवा उनका खण्डन किया गया है, जो माठरवृत्ति में उपलब्ध है। युक्तिदीपिका के उन पाठों से सहज ही निर्णय किया जासकेगा, कि ये मत माठर से लिये गये हैं। अब हम क्रमशः उनका निर्देश करते हैं —

(१) ३२वीं आर्या पर व्याख्या करते हुए युक्तिदीपिकाकार 'तदाहरणधारणप्रकाशकरम्' इन पदों की व्याख्या इसप्रकार करता है—

"तदाहरणधारणप्रकाशकरम् । तत्राहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति विषयार्जनसमर्थत्वात्, धारणं बुद्धीन्द्रियाणि कुर्वन्ति—विषयसन्निधाने सति श्रोत्रादिवृत्तेस्तद्रूपापत्तेः, प्रकाशमन्तःकरणं करोति निश्चयसामर्थ्यात् ।"

यहां तक युक्तिदीपिकाकार ने उक्त पदों का स्वाभिमत अर्थ किया है। इसके आगे 'अपर आह' कहकर किसी अन्य आचार्य के मत का निर्देश किया गया है। वह मत इसी

स्थल पर माठरवृत्ति में उपलब्ध है। दोनों व्याख्याओं की तुलना के लिये हम उन पाठों को यहां उद्धृत किये देते हैं —

माठर	युक्तिदीपिका
"आहारकं धारकं प्रकाशकं च तदिति। तत्राहारकमिन्द्रियलक्षणम्। धारकमभिमानमनोलक्षणम्। प्रकाशकं बुद्धिलक्षणम्"	*"अपर आह—आहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति धारणं मनोऽहङ्कारश्च, प्रकाशनं बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धिश्चेति।"*

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह होता है, कि 'अपर आह' कहकर जिस मतका उल्लेख युक्तिदीपिकाकार ने किया है, वह माठर का है, और माठर की वृत्ति से लिया गया है।

(२)—इसीप्रकार ३८वीं आर्या पर 'तेभ्यो भूतानि पंच पचभ्यः' इन पदों की व्याख्या युक्तिदीपिकाकार इसप्रकार करता है—

तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद् वायुः, रूपतन्मात्रात् तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी। ......तेनैकैकस्मात् तन्मात्रादेकैकस्य विशेषस्योत्पत्तिः सिद्धा।"

यहां तक युक्तिदीपिकाकार ने उक्त पदों का स्वाभिमत अर्थ किया है। इसके आगे 'ततश्च यदन्येषामाचार्याणामभिप्रेतम् ...तत्प्रतिषिद्धं भवति' इन वाक्यों के मध्य में अन्य आचार्यों का मत देकर खण्डित किया है। यह मत माठराचार्य की वृत्ति में उपलब्ध है। तुलना के लिये दोनों ग्रन्थों को हम यहां उद्धृत करते हैं —

माठर	युक्तिदीपिका
"शब्दादिभ्यः पञ्चभ्यः आकाशादीनि पञ्चमहाभूतानि पूर्वपूर्वानुप्रवेशादेकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणान्युत्पद्यन्ते।"	*"ततश्च यदन्येषामाचार्याणामभिप्रेतम्—एकलक्षणेभ्यस्तन्मात्रेभ्यः परस्परानुप्रवेशात् एकोत्तरा विशेषाः सृज्यन्त इति, तत् प्रतिषिद्धं भवति।"*

तन्मात्राओं से स्थूलभूतों की उत्पत्ति के विषय में युक्तिदीपिकाकार का यह मत है, कि केवल शब्दतन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है, और केवल स्पर्शतन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति। इसी तरह केवल रूपतन्मात्रा से तेज आदि की उत्पत्ति होती है। परन्तु माठर का मत यह है, कि शब्दतन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है। शब्दतन्मात्रानुप्रविष्ट स्पर्शतन्मात्रा से वायु की। अभिप्राय यह है, कि माठर केवल स्पर्शतन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति नहीं मानता, प्रत्युत शब्दतन्मात्रासहित स्पर्शतन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति मानता है। इसीप्रकार शब्दस्पर्शतन्मात्रासहित रूपतन्मात्रा से तेज की उत्पत्ति, ऐसे ही आगे समझना चाहिये। इस स्थल में यही इन दोनों आचार्यों का परस्पर मतभेद है। इनमें से युक्तिदीपिकाकार ने माठर के मत का खण्डन किया है; और उक्त पंक्तियों के आगे अपने व्याख्यान में इस बात को विस्तारपूर्वक निरूपित किया है, कि तन्मात्राके अनुप्रवेश के बिना भी भूतोत्पत्ति में कोई असामञ्जस्य नहीं आ पाता।

माठर ने अपने उक्तमत का एक अन्य स्थल में भी उल्लेख किया है। २२ वीं आर्या पर 'पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि' इन पदों की व्याख्या करते हुए वह लिखता है—

"*तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम्..........इत्यादिक्रमेण पूर्वपूर्वानुप्रवेशेनैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि आकाशादिपृथ्वीपर्यन्तानि महाभूतानीति सृष्टिक्रमः।*"

इससे माठर का अपना मत निश्चित होता है, और युक्तिदीपिकाकार के द्वारा उसका खण्डन किया जाना, इस बात को प्रमाणित करता है, कि वह इससे प्राचीन है।

(३)—एक स्थल इसीप्रकार का और उपस्थित किया जाता है। ३६ वीं आर्या में विशेषों के तीन प्रकार बताये हैं। सूक्ष्म, मातापितृज और प्रभूत। इनमें से 'प्रभूत' पद का अर्थ करने में दोनों आचार्यों का मतभेद इसप्रकार प्रकट किया गया है—

युक्तिदीपिकाकार ने प्रथम स्वाभिमत अर्थ किया है—"प्रभूतास्तूद्भिज्जाः स्वेदजाश्च।" अर्थात् यह व्याख्याकार कारिका के 'प्रभूत" पद का अर्थ उद्भिज्ज और स्वेदज करता है। और आगे 'केचित्तु' कहकर एक और अर्थ का निर्देश करके उसमें यह दोषोद्भावन करता है, कि ऐसा अर्थ करने पर उद्भिज्ज तथा स्वेदज का ग्रहण नहीं होगा। युक्तिदीपिकाकार ने यह अर्थ इसप्रकार प्रकट किया है—

केचित्तु प्रभूतग्रहणेन बाह्यानामेव विशेषाणां ग्रहणमिच्छन्ति, तेषामुद्भिज्जस्वेदजयोरग्रहणम्"

इससे स्पष्ट होता है, कि 'केचित्' कहकर जिस आचार्य का मत दिया गया है, उसने 'प्रभूत' पद का अर्थ बाह्य विशेष अर्थात् स्थूलभूत ही किया है। इस पद का यह अर्थ माठरवृत्ति में उपलब्ध होता है। वहां का पाठ इसप्रकार है—

"*सूक्ष्मा मातपितृजाः सह प्रभूतैः। प्र इत्युपसर्गः। एवं सूक्ष्मा मातापितृजा भूतानि चेत्यर्थः। तानि च पृथिव्यादीनि।*"

इन पाठों की तुलना से स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि युक्तिदीपिकाकार ने 'केचित्तु' कह कर माठर के अर्थ का ही उल्लेख किया है।

(४)—इसी तरह का एक स्थल और भी है। ४८ वीं आर्या पर व्याख्या करते हुए '*दशविधो महामोहः*' इन पदों का युक्तिदीपिकाकार ने बड़ा नवीन अर्थ किया है। वह लिखता है—

दशविधो महामोहः—मातृपितृपुत्रभ्रातृस्वसृपत्नीदुहितृगुरुमित्रोपकारिलक्षणे दशविधे कुटुम्बे योऽयं ममेत्यभिनिवेशः।"

माता पिता आदि दश प्रकार के कुटुम्ब में 'ये मेरे हैं' इसप्रकार का मिथ्याभिमान ही दशविध महामोह है। इसके आगे युक्तिदीपिकाकार दूसरे आचार्यों का मत लिखता है—

"*दृष्टानुश्रविकेषु वा शब्दादिष्वित्यपरे।*"

इसके अनुसार हम देखते हैं, कि यह मत माठरवृत्ति में विस्तार के साथ निरूपित है। वहां का पाठ इसप्रकार है—

'महामोहस्य दशविधो भेदः । देवानां शब्दादयः पञ्चतन्मात्राख्या विषया अविशेषाः.......। एवं मनुष्याणां भौतिकशरीरतया.......एष दशविधो महामोहः ।"

तात्पर्य यह है कि पारलौकिक शब्दादि के सम्बन्ध में देवों का और ऐहलौकिक शब्दादि के सम्बन्ध में मनुष्यों का यह समझना, कि इन विषयों से श्रेष्ठ और कोई नहीं है, इस भावना से अभिभूत हुए देव, दिव्य शब्दादि में तथा मनुष्य अदिव्य शब्दादि विषयों में ही आसक्त रहते हैं, वे प्रकृति पुरुष के भेद को नहीं जान पाते, जो निरतिशय सुख की अभिव्यक्ति का साधन है। यही दश प्रकार का महामोह है। देवों की शब्दादिविषयक आसक्ति को युक्तिदीपिकाकार ने 'आनुश्रविक' पद से, और मनुष्यों की तद्विषयक आसक्ति को 'दृष्ट' पद से व्यक्त किया है। युक्तिदीपिकाकार ने प्रथम अपने अभिमत अर्थ को लिखकर, पुनः 'अपरे' पदके साथ इस अर्थ का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होता है, कि यह किसी अन्य आचार्य का मत युक्तिदीपिकाकार ने प्रदर्शित किया है, और वह आचार्य माठर होसकता है।

(५)—पृष्ठ ३ पर युक्तिदीपिकाकार इस बात का विवेचन करता है, कि मूल कारिकाओं में प्रमाणों का उल्लेख किया गया है, इसलिये वे उपपादनीय हैं, परन्तु अनुमान प्रमाण के अवयवों का कहीं निर्देश नहीं किया, अतः उनका उपपादन असंगत होगा।

ग्रन्थकार लिखता है-"यद्यपि सूत्र[1] [=कारिका]कार ने अवयवों का उपदेश नहीं किया, तथापि भाष्यकारसे किन्हीं व्याख्याकारों ने उनका संग्रह किया है, और वे हमारे लिये प्रमाण हैं।"

कारिकाओं के व्याख्यानों का पर्यालोचन करने पर निश्चय होता है, कि युक्तिदीपिकाकार के इस लेख का आधार माठर व्याख्याकार ही होसकता है। ५ वीं आर्या की माठर व्याख्या[2] में ही अवयवों का संग्रह किया गया है। अन्य किसी भी व्याख्यान में ऐसा लेख उपलब्ध नहीं होता। इन आधारों पर युक्तिदीपिका की अपेक्षा माठरवृत्ति की प्राचीनता निश्चित होती है।

युक्तिदीपिका में माठरवृत्ति का उपयोग—

इनके अतिरिक्त अनेक स्थल ऐसे हैं, जिनमें युक्तिदीपिकाकार ने माठरवृत्ति का उपयोग किया है। यद्यपि इन स्थलों में ऐसे अर्थभेद का निर्देश नहीं है, जो 'अपरे' आदि पदों के साथ व्यक्त किया गया हो, फिर भी हम इन स्थलों का यहां उल्लेख, प्रयोगसाम्य को दिखलाने के लिये कर देना चाहते हैं। फलतः इस बात को समझने में हमें और भी सुविधा होजायगी, कि

---

[1] युक्तिदीपिकाकार ने इस प्रकरण में तथा अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर कारिकाओं के लिये 'सूत्र' पद का ही प्रयोग किया है। युक्तिदीपिकाकार का सन्दर्भ इसप्रकार है—'यद्यपि सूत्रकारेणावयवोपदेशो न कृतस्तथापि भाष्यकारात् केचिदेषां संग्रहं चक्रुः। ते च नः प्रमाणम्।'

[2] माठर का लेख इसप्रकार है—

"......त्र्यवयवमनुमानम्। पञ्चावयवमित्यपरे। तदाह-अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः। एवं पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थमनुमानम्।"

माठरवृत्ति से लाभ उठाने वाला युक्तिदीपिकाकार उससे पर्याप्त अर्वाचीन ही संभव हो सकता है। ऐसे कुछ स्थल इसप्रकार हैं—

(१)—युक्तिदीपिका पृष्ठ ५, पं० १२—१४, माठरवृत्ति की ७२ वीं आर्या की व्याख्या के आधार पर है। तुलना के लिये हम उन्हें उद्धृत करते हैं—

माठर	युक्तिदीपिका
तत्र 'भेदानां परिमाणात्' इत्येतैः पञ्चभिर्हेतुभिः प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वं च सिद्धम्। 'संघातपरार्थत्वात्' इति परार्थत्वमुक्तम्। 'जन्ममरणकरणानाम्' इति पुरुषबहुत्वं सिद्धम्।	तत्रास्तित्वमेकत्वं पञ्चभिर्वीतैः सिद्धम्, अर्थवत्त्वं कार्यकारणभावः, पारार्थ्यं संहत्यकारिणां परार्थत्वादत एवान्यत्वं चेतनाशक्तेर्गुणत्रयात्' 'जन्ममरणकरणानाम्' इत्येवमादिभिः पुरुषबहुत्वम्।
(२)—'रूपे'[1] अहम्, रसे अहम्, गन्धे अहम्," [आर्या २४ की व्याख्या में]	"शब्देऽहं स्पर्शेऽहं रूपेऽहं रसेऽहं गन्धेऽहमिति।"
(३)—"मात्रशब्दोऽविशेषार्थः। यथा भिक्षामात्रं लभ्यते नान्यो विशेषः।" [आर्या २८ की व्याख्या में]	मात्रशब्दो विशेषनिवृत्त्यर्थः। तद्यथा भैक्षमात्रमस्मिन् ग्रामे लभ्यत इत्युक्ते नान्यो विशेष इति ज्ञायते।"

२६ वीं तथा २८ वीं आर्या के पाठों का समन्वय—

यहां एक और विशेष बात उल्लेखनीय है। इस २८ वीं आर्या के प्रथम पद का पाठ 'रूपादिषु' है। इस पाठ के सम्बन्ध में एक बहुत रुचिकर विवेचन है। बात यह है कि २६ वीं आर्या के पूर्वार्ध में पांचों ज्ञानेन्द्रियों का निर्देश किया गया है। वहां पर इन्द्रियों के क्रम में सब व्याख्याकारों का ऐकमत्य नहीं दीखता। उनके क्रमनिर्देश का एक वैज्ञानिक आधार यह हो सकता है, कि वह इन्द्रियों के उत्पत्तिक्रम के अनुसार हो। इस आधार का भी अनेक व्याख्याकारों ने अनुकरण नहीं किया है।

(अ)—वाचस्पति मिश्र ने इन्द्रियों का क्रम इसप्रकार रक्खा है—'चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वक'। यह क्रम उनकी व्याख्या के आधार पर दिया गया है। परन्तु इस क्रम का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं दीखता। पहले 'चक्षुः' का ही क्यों निर्देश किया गया, त्वक् का सब से अन्त में क्यों निर्देश हुआ? इत्यादि आशंकाओं के निवारण के लिये कोई विशेष कारण नहीं है। गौडपाद ने भी इसी क्रम को स्वीकार किया है। इस पाठक्रम में यह बात ध्यान देने की है, कि इसमें सबसे प्रथम 'चक्षु' का निर्देश किया गया है।

(आ)—जयमंगला व्याख्या की मुद्रित पुस्तक में भी मूल आर्या का पाठ वाचस्पति के अनुसार ही दिया गया है। परन्तु यह मूल का पाठ व्याख्या के साथ संगत नहीं होता। व्याख्या के अनुसार मूल का पाठ 'चक्षुश्रोत्रत्वग्रसननासिका' होना चाहिये। इसी क्रम से व्याख्या करने के अनन्तर व्याख्याकार ने स्वयं लिखा है—'तानि चक्षुःश्रोत्रत्वग्रसननासिकाख्यानि पञ्च।' जयमंगला के

[1] यद्यपि इन क्रियापदों के 'रूपयामि' 'रसयामि' 'जिघ्रामि' आदि प्रयोग ही साधु हो सकते हैं।

मूल का पाठ व्याख्यानुसारी नहीं है, वस्तुतः यह भ्रान्ति ग्रन्थ के सम्पादक महोदय[1] की है। तथापि इस पाठ में भी 'चक्षु.' पद का ही प्रथम निर्देश है, इस बात का ध्यान रहना चाहिये। परन्तु स्वयं जयमंगलाव्याख्याकार इस पाठ को युक्त नहीं समझता। प्रतीत यह होता है, कि इसके पास जो मूल आर्याओं की प्रति थी, उसमें यही पाठ था, जिसके अनुसार उसने अपनी व्याख्या लिखी, पर वह इस पाठकी अयुक्तता को जानता था, क्योंकि वह स्वयं लिखता है—"शब्दवशादत्राक्रमः कृतः। क्रमस्तु श्रोत्रत्वक्चक्षुरिति।" इन्द्रियों के निर्देश का यह क्रम उनके उत्पत्तिक्रम के आधार पर कहा जासकता है।

(इ)—आचार्य माठर ने अपनी व्याख्या में इसी क्रम को स्वीकार किया है। उसका पाठ है- "श्रोत्रत्वक्चक्षुरसननासिकाख्यानि"। पातंजल योगसूत्रों के[2] भाष्यकार महर्षि व्यास ने भी इन्द्रियों के इसी क्रम को अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया है।

अब आप २६वीं आर्या से चलकर २८वीं आर्या पर आइये। इसमें इन्द्रियों की वृत्तियों का निर्देश किया गया है। यहां यह बात सामने आती है, कि २६वीं आर्या में इन्द्रियों के निर्देश का जो क्रम है, वही क्रम २८वीं आर्या में वृत्तियों के निर्देश का भी होना चाहिये, तभी इनका सामञ्जस्य होगा। २८वीं आर्या में इसके लिये 'रूपादिषु पञ्चानाम्' पाठ दिया गया है। इस पाठ के सम्बन्ध में युक्तिदीपिकाकार लिखता है, कि इन्द्रियों के निर्देश में श्रोत्रेन्द्रिय का प्रथम स्थान है, अब उन इन्द्रियों के विषय का निर्देश करते समय, उस क्रम के उल्लंघन करने में कोई प्रयोजन नहीं दीखता। इसलिये 'रूपादिषु पञ्चानाम्' के स्थान पर 'शब्दादिषु पञ्चानाम्' ही पाठ होना चाहिये। 'रूपादिषु पञ्चानाम्' यह पुराना पाठ प्रमादपूर्ण है। युक्तिदीपिकाकार के शब्द इसप्रकार हैं—

"तत्र करणनिर्देशे श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राक् पाठात् तद्विषयनिर्देशातिलङ्घने प्रयोजनं नास्तीति कृत्वा शब्दादिषु पञ्चानामित्येव पठितव्यम्। प्राक्तनस्तु प्रमादपाठः।"

युक्तिदीपिकाकार के इस विवेचन के अनुसार उक्त पाठों के सामञ्जस्य के लिये दो ही बात हो सकती थीं। (क)—या तो २८ वीं आर्या में 'रूपादिषु' के स्थान पर 'शब्दादिषु' पाठ किया जाय, (ख)-अथवा २६ वीं आर्या में इन्द्रियों के निर्देश में 'चक्षुः' को प्रथम स्थान दिया जाय। हम भिन्न २ व्याख्याओं में इन दोनों ही बातों को पाते हैं। गौडपाद और वाचस्पति मिश्र की व्याख्याओं के आधारभूत जो मूल आर्याओं के पुस्तक थे, उनमें २६ वीं आर्या के पाठ में अन्तर

[1] जयमंगला के विद्वान् सम्पादक श्रीयुत हरदत्तशर्मा एम. ए. महोदय ने लिखा है कि यह मूलपाठ श्रीयुत झा० झा महोदय के संस्करण के आधार पर दिया गया है। (प्रोसीडिंग्ज़ फिफ्थ इण्डियन ओरियण्टल कान्फ्रेंस लाहौर १९१८ पृ० १०२४ की नं० २ टिप्पणी में)

[2] ४।१४ पर व्यासका भाष्य इसप्रकार है—"प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियं, ग्राह्यात्मकानां शब्दभावेनैकपरिणामः शब्दो विषय इति।"

कर दिया गया था; अर्थात् वहां इन्द्रियों के निर्देश में 'चक्षुः' का पाठ पहले कर दिया गया, और इसप्रकार २८ वीं आर्या के 'रूपादिषु' पाठ के साथ सामञ्जस्य किया गया। जयमंगलाकार के पास जो मूल आर्याओं का पाठ था, उसमें भी २६ वीं आर्या में 'चक्षुः' का प्रथम निर्देश था, परन्तु व्याख्याकार ने उसके अनुसार व्याख्या करदेने पर भी उसकी अयुक्तता को समझ कर यह स्पष्ट कर दिया, कि इन्द्रियनिर्देश में 'श्रोत्र' का ही प्रथम पाठ होना चाहिये, क्योंकि यह क्रम उत्पत्ति-क्रम के आधार पर होने से सकारणक है, इसमें विपर्यय किया जाना असंगत होगा। इसलिये जयमंगलाकार ने २८वीं आर्या में 'रूपादिषु' पाठ के स्थानपर 'शब्दादिषु' पाठ मानकर ही व्याख्या की है। मालूम होता है, वाचस्पति मिश्र और गौडपाद ने २६ वीं आर्या मे इन्द्रियों के क्रम-निर्देश के लिये उनके उत्पत्तिक्रम की ओर ध्यान नहीं दिया।

इससे एक यह परिणाम निकलता है, कि युक्तिदीपिकाकार के समय २६ वीं आर्या के पाठ में कोई भेद नहीं था। वह माठर के पाठ के अनुसार एक निश्चित पाठ था। युक्तिदीपिका के उक्त विवेचन के प्रभाव से ही २६ वीं आर्या के पाठ में अन्तर पड़ा। यदि युक्तिदीपिकाकार के समय भी ऐसा होता, तब उसको उक्त विवेचन की आवश्यकता ही न पड़ती, उसका इतना व्याख्यान सर्वथा अनर्थक होता, इसलिये गौडपाद का समय भी युक्तिदीपिकाकार से अर्वाचीन ही प्रतीत होता है।

दूसरा परिणाम उक्त विवेचन से यह निकलता है, कि युक्तिदीपिकाकार ने जिन पाठों के आधार पर पूर्वोक्त विवेचन किया है, वे पाठ माठरवृत्ति के आधार पर ही उपस्थित किये जा सकते हैं। क्योंकि पाठगत वह असामञ्जस्य, जिसकी आलोचना युक्तिदीपिकाकार ने की है, माठर के अभिमत पाठों में ही संभव हो सकता है। उसने २६ वीं आर्या मे 'श्रोत्रत्वक्चक्षुरसन-नासिका' ही इन्द्रियों का क्रम दिया है, और २८ वीं आर्या में 'रूपादिषु' पाठ माना है। इसलिये युक्तिदीपिकाकार ने जिस प्राक्तन पाठ को प्रमादपाठ कहा है, वह माठराभिमत पाठ ही होसकता है। क्योंकि जयमंगला ने युक्तिदीपिका की इस पाठसम्बन्धी चोट से प्रभावित होकर २८ वीं आर्या में 'रूपादिषु' के स्थान पर 'शब्दादिषु' पाठ को ही स्वीकार किया है, और गौडपाद एवं वाचस्पति मिश्र ने २६वीं आर्या में इन्द्रियनिर्देश के समय 'चक्षुः' को प्रथम स्थान दे दिया है। युक्तिदीपिकाकार के प्रहार से प्रभावित होकर ही पश्चाद्वर्त्ती व्याख्याकारों ने अपने २ विचारों के अनुसार उक्त पाठों में यह विपर्यय किया है। केवल माठर का पाठ ऐसा है, जिस पर इस प्रहार का प्रभाव नहीं है, प्रत्युत वह इस प्रहार का लक्ष्य है। इसलिये माठर, युक्तिदीपिकाकार से पर्याप्त प्राचीन होना चाहिये।

२६ वीं आर्या के पाठ पर पं० हरदत्त शर्मा एम. ए. के विचार और उनकी आलोचना—

२६ वीं आर्या के पाठ के सम्बन्ध में श्रीयुत हरदत्त शर्मा एम०ए० महोदय ने अपना विचार[1]

[1] According to जयमंगला the reading of the text of Kar. 26, ought to be

इसप्रकार प्रकट किया है, कि यद्यपि माठरवृत्ति में मूलकारिका को प्रतीक रूप में उद्धृत नहीं किया, फिर भी उसके विवरण से यह बात स्पष्ट होजाती है, कि वह 'श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि' इस पाठ को ही स्वीकार करता है। परन्तु जब ऐसा पाठ न किसी संस्करण में मिलता है, और न हस्तलिखित प्रतियों में, तब क्या हम यह नहीं कह सकते कि जयमंगला के 'शब्दवशादत्राक्रमः कृतः' इस पाठ को देखने के अनन्तर ही माठर ने उक्त पाठ को स्वीकार किया होगा ? इसलिये जयमंगलाकार से अर्वाचीन ही माठर होसकता है।

इस सम्बन्ध में हम प्रथम ही उल्लेख कर चुके हैं, कि जब श्रीयुत शर्मा महोदय ने अपना लेख लिखा था, उस समय तक सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या प्रकाशित न हो पाई थी, अब उसके आधार पर बहुत सी बातें प्रकाश में आगई हैं। १५वीं आर्या की जयमगला व्याख्या का 'अन्यैरन्यथा व्याख्यायते'वाला मत युक्तिदीपिकामें मिल जानेसे,जयमंगला की अपेक्षा उसका प्राचीन होना निश्चित है। २८वीं आर्या पर इन पाठों की तुलना करके युक्तिदीपिकाकार ने जो समालोचना की है, वह जयमंगलाभिमत पाठ मानने पर संभव नहीं होसकती। उसकी संभावना माठराभिमत पाठों पर ही आधारित है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जासकता है, कि जयमंगला को देखकर माठर ने इस पाठ को स्वीकार किया ?

इसके अतिरिक्त एक बात और है। जयमंगलाकार स्वयं लिखता है, कि 'शब्दवशादत्राक्रमः कृतः। क्रमस्तु श्रोत्रत्वक्चक्षुरिति।' जयमंगला के इन पदों को विचारना चाहिये, कि वह इनमें क्या कहना चाह रहा है ? इन्द्रियों के जिस क्रम के आधार पर उसने अपनी व्याख्या लिखी है, उस क्रम को वह ठीक नहीं बता रहा, फिर भी व्याख्या उसी क्रम से लिखी है। इसका कारण वह लिखता है—'शब्दवश'। 'शब्दवश' पद का अर्थ 'पाठवश' ही होसकता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है, कि जयमगलाकार के पास मूलकारिका की जो प्रति थी, उसमें यही पाठ था, अर्थात् 'चक्षुः-श्रोत्रत्वग्रसननासिका' जिससे बाध्य होकर उसे इसी क्रम में व्याख्या करनी पड़ी। परन्तु वह इस पाठ को असंगत बताता है, और 'श्रोत्रत्वक्चक्षुः' पाठ को ठीक कहता है। अब विचारणीय यह है, कि

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रत्वग्रसननासिकाख्यानि। On this जयमंगला notes शब्दवशादत्राक्रमः कृतः। क्रमस्तु श्रोत्रत्वक्चक्षुरिति। माठर reads in the text of the Karika—श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि। Although it might be said here that the reading in the text need not necessarily be that of commentator, for it is not quoted as प्रतीक in the Vritti, but still the explanation—श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रियाणीत्युच्यन्ते। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् बुध्यन्त इति बुद्धीन्द्रियाणि, leaves no doubt as to the order of the text. Can we not say that in view of the fact that this reading is not found in any of the editions or Mss; it is adopted by माठर after reading शब्दवशादत्राक्रमः कृतः of जयमंगला ? [Proceedings Fifth Indian Oriental Conference, Lahore, 1928 A. D., P. 1034-35]

जयमंगलाकार के इस कथन का आधार क्या है। इसका उत्तर यही दिया जासकता है, कि प्रथम पाठ सकारणक नहीं है, अर्थात् ऐसा ही क्रम रखने में कोई विशेष कारण उपस्थित नहीं किया जासकता। द्वितीय पाठ सकारणक है। अर्थात इस क्रम के लिये, इन्द्रियों की उत्पत्ति का क्रम ही, आधार कहा जासकता है। इसी कारण द्वितीय क्रम को युक्त और प्रथम को जयमंगलाकार ने अयुक्त कहा है। यहां यह बात विशेष ध्यान देने की है कि अपने इस युक्त क्रम के अनुसार ही जयमंगलाकार ने २८ वीं आर्या में 'रूपादिषु' के स्थान पर शब्दादिषु' पाठ को ही स्वीकार किया है। अथवा यह कह लीजिये, कि जयमंगलाकार की मूलकारिका की प्रति में २८ वीं आर्या का 'शब्दादिषु' पाठ था।

अब थोड़ी देर के लिये श्रीयुत शर्मा जी के कथनानुसार मान लीजिये, कि जयमंगला को देखकर माठर ने २६ वीं आर्या का पाठ स्वीकार किया। ऐसी स्थिति में यह एक बड़ी विचित्र बात है, कि २८ वीं आर्या का पाठ माठर ने जयमंगला के अनुसार ही 'शब्दादिषु' क्यों नहीं स्वीकार किया? यदि माठर, जयमंगला के पाठ को स्वीकार करने में इतना तीक्ष्ण-दृष्टि होता, तो वह २८वीं आर्या के पाठ को भी अवश्य उसी के अनुसार रखता। परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये यह निश्चित परिणाम निकलता है, कि २६ वीं आर्या का मौलिक पाठ माठरानुसारी ही है, जो कि इन्द्रियों की उत्पत्ति के क्रम पर आधारित है। माठर के समय यहां और किसी पाठ की संभावना या कल्पना ही नहीं की जासकती। उस समय उक्त एक ही पाठ निश्चित था। २६ वीं आर्या के इस पाठ के निश्चित माने जाने पर २८ वीं आर्या में 'रूपादिषु' पाठ का असामञ्जस्य युक्तिदीपिकाकार को सूझा, और उसने इसकी आलोचना की, तथा 'रूपादिषु' पाठ को प्रमादपाठ कह कर उसकी जगह 'शब्दादिषु' पाठ को संगत बताया। इस आलोचना के अनन्तर ही इन कारिकाओं के पाठों में अन्तर डाला गया। जयमंगलाकार ने युक्तिदीपिका के अभिमत पाठ को ही स्वीकार किया है। इन सब संस्करणों और इनकी हस्तलिखित प्रतियों मे २६ वीं आर्या का माठराभिमत पाठ उपलब्ध होने के कारण, यह भी कैसे कहा जासकता है, कि यह पाठ किसी संस्करण अथवा हस्तलिखित प्रति में नहीं है? इसलिये इन पाठों और इनके विवरणों के आधार पर जो परिणाम हमने निकाले हैं, वे युक्तियुक्त हैं, और इसीलिये सांख्यसप्तति के उपलभ्यमान व्याख्याग्रन्थों में माठर का स्थान सर्वप्रथम है।

(३)—इसीप्रकार ४३वीं आर्या की व्याख्या में माठर ने तीन भावों का उल्लेख किया है, उसीका अनुकरण करते हुए युक्तिदीपिकाकार ने भी ऐसा ही माना है। जब कि जयमंगलाकार और वाचस्पति मिश्र इस आर्या में दो ही भावों का वर्णन मानते हैं। आर्या का पाठ है-'सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः'। यहां पर 'प्राकृतिकाः' पद को जयमंगलाकार और वाचस्पति मिश्र ने 'सांसिद्धिकाः' पद का विशेषण माना है, और इस तरह दो ही भावों का वर्णन इस आर्या में स्वीकार किया है। परन्तु माठर ने 'प्राकृतिकाः' पद को विशेष्य पद ही माना है' और इसतरह

तीन भावों का वर्णन इस आर्या में स्वीकार किया है। दोनों का इस अंश का पाठ इसप्रकार है—

माठर	युक्तिदीपिका
"त्रिविधा भावाश्चिन्त्यन्ते।...सांसिद्धिकाः ....प्राकृतिकाः........वैकृतिकाः......। एवमेते त्रिधा भावा व्याख्याताः। यैरधिवासितं महदादि लिंगं संसरति।"	"यथा चैतं, तथा....त्रिविधा एवेति....सांसिद्धिकः प्राकृतः......वैकृतास्तु.....। एते भावा व्याख्याताः। एषां वैश्वरूप्याल्लिंगस्य गतिविशेषः संसारो भवतीति।"

इसप्रकार युक्तिदीपिका व्याख्यामें माठर के मतों का अनेक स्थलों में उल्लेख पाया जाना,तथा अनेक स्थलों पर माठर की व्याख्या का युक्तिदीपिका में अनुकरण होना, हमें इस परिणाम पर निश्चित रूप से पहुँचा देते हैं, कि युक्तिदीपिकाकार ने अपने ग्रन्थमें माठर का अच्छी तरह उपयोग किया है, चाहे वह किसी स्थल पर प्रतिकूल भावना के साथ ही क्यों न हो? फलतः माठर को प्राचीन मानने में कोई बाधा नहीं रह जाती।

माठरवृत्ति में आर्याओं के अर्थसम्बन्धी मतभेदों का उल्लेख—

अभी तक हमने युक्तिदीपिका में प्रदर्शित, आर्याओं के अर्थसम्बन्धी माठर-मतों का उल्लेख किया है। अब हमें यह भी देखना चाहिये, कि क्या माठर के व्याख्यान में भी इसप्रकार के अर्थसम्बन्धी मतभेदों का उल्लेख है? क्योंकि माठर व्याख्यान में इसप्रकार के मतभेद उपलब्ध होने पर निम्नलिखित तीन विकल्प हमारे सामने आते हैं, जिनका विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक है।

(अ)—माठर से प्राचीन अन्य व्याख्याओं का होना।

(इ)—व्याख्या न होने पर भी पठनपाठनप्रणाली में उसप्रकार के अर्थभेदों का अनुक्रम बराबर चले आना।

(उ)—संभावित पश्चाद्वर्त्ती व्याख्याग्रन्थों में उन अर्थों के उपलब्ध होने पर माठर के साथ उनके काल का सामञ्जस्य स्थापित करना।

माठर की व्याख्या में जब हम अर्थसम्बन्धी मतभेदों के उल्लेख देखने के लिये प्रयत्नशील होते हैं, तो हमें निराशा का ही सामना करना पड़ता है। आदि से अन्त तक ग्रन्थ का पर्यालोचन करने पर केवल एक स्थल हमें ऐसा मिलता है, जहां इसप्रकार के अर्थभेद का उल्लेख है। जब कि अन्य व्याख्याग्रन्थों में इसप्रकार के अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं। वह उल्लेख १८वीं आर्या के 'जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात्' इस हेतुपद के व्याख्यान में उपलब्ध होता है। वह इसप्रकार है—

"अपरे पुनरित्थङ्कारं वर्णयन्ति—जन्ममरणनियमात्। इह कश्चित्कदाचिन्म्रियते तदैव परो जायते। यद्येकः पुरुषः स्यात् तर्हि एकस्मिन् जायमाने सर्वेऽपि जायेरन्। न चैवम्। म्रियमाणे सर्वे म्रियेरन्। न चैवम्। तस्माद्बहवः पुरुषाः।"

अभिप्राय यह है, कि ये जन्म और मरण परस्पर विरोधी भाव हैं; एक ही काल में एक ही वस्तु में दोनों का होना असंभव है, इसलिये यदि हम सब व्यक्तियों में पुरुष एक ही मानें, तो एक के मरने पर सब मरजाने चाहियें, अथवा एक के जन्मने पर सब जन्मने चाहियें। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता, अतः एव पुरुषों का अनेक होना ही संगत है। इस अर्थ-निर्देश से पूर्व माठर ने स्वाभिमत अर्थ इसप्रकार किया है।

"जन्मनियमात् इह केचिन्नीचजन्मानः, केचिन्मध्यमजन्मानः, केचिदुत्कृष्टजन्मानः ।...... ...
अस्ति चायं नियमः, अन्ये अधमाः, अन्ये उत्कृष्टा, तस्माद्बहवः पुरुषाः। अतश्च-मरणनियमात्।
मरणेऽपि नियमो दृष्टो मम भ्राता मृतो मम पिता च। तस्माद्बहवः पुरुषाः।"

इन दोनों प्रकार के अर्थों में भेद इतना ही है, कि माठर तो 'जन्मनियम' और 'मरण-नियम' इनको पृथक् २ स्वतन्त्र हेतु मानता है, और जन्म में ही उच्चाभिजन नीचाभिजन आदि विविधताओं के आधार पर पुरुषनानात्व को सिद्ध करता है। इसी प्रकार मरण में भी माता पिता पुत्र भ्राता आदि की मरण विविधता को लेकर पुरुषबहुत्व को सिद्ध करता है। परन्तु अन्यों के वर्णन मे 'जन्ममरणनियमात्' इसको एक ही हेतु माना गया है, और जन्म-मरण के पारस्परिक भेद के आधार पर ही पुरुषनानात्व को सिद्ध किया गया है। यद्यपि आर्या की मूलरचना को देखते हुए माठरकृत अर्थ अधिक सामञ्जस्यपूर्ण प्रतीत होता है। परन्तु यह एक आश्चर्य की बात है, कि माठरकृत अर्थ को अन्य किसी व्याख्याकार ने स्वीकार नहीं किया है, जबकि आर्या के उक्त हेतु की व्याख्या में प्रायः सबही व्याख्याकारों ने 'जन्ममरणकरणानां' इस समस्त पद का विग्रह करते समय 'जन्म' 'मरण' और 'करण' को पृथक् २ माना है, और अर्थ करते समय जन्म-मरण को इकट्ठा कर दिया है। हम इसका यही कारण समझ पाये हैं, कि अन्य आचार्यों का अर्थ परम्परागत अर्थ है, कारिकारचना के अनन्तर पठनपाठन प्रणाली में उसी अर्थ का प्रचार रहा मालूम होता है। स्वाभिमत अर्थ का निर्देश करने के अनन्तर उस परम्परागत अर्थ को भी माठर ने सर्वप्रथम लिपिबद्ध किया। परन्तु पश्चाद्वर्त्ती व्याख्याकारों ने परम्परागत अर्थ को ही स्वीकार किया।

इस सम्बन्ध में हमारी एक और धारणा अधिक प्रबल है, उपर्युक्त अर्थों के सम्बन्ध में यदि गंभीरता से विचार किया जाय, तो हम स्पष्टतापूर्वक देख सकेंगे, कि इन अर्थों में वास्तविक भेद कुछ नहीं है। जन्म और मरण की विविधता दोनों ही अर्थों में समान है। जन्म और मरण की स्वगत विविधता अथवा पारस्परिक विविधता में कोई मौलिक भेद नहीं है, क्योंकि एक के मानने पर दूसरे का विरोध नहीं होता। अभिप्राय यह है, कि केवल जन्मगत विभिन्नता के आधार पर पुरुषनानात्व को सिद्ध करने से, यह बात प्रकट नहीं होती, कि 'जन्म' का 'मरण' से भेद नहीं है। इसीप्रकार जन्म-मरण के पारस्परिक विभेद के आधार पर पुरुषनानात्व को सिद्ध करने से यह प्रकट नहीं होता, कि केवल जन्मगत विभेद, नानात्व को सिद्ध नहीं कर

सकता । इसलिये आपाततः इन अर्थों में भेद प्रतीत होने पर भी वास्तविक भेद नहीं है। उसी अर्थ को अपने अपने ढंग पर व्याख्याकारों ने प्रकट किया है । ऐसी स्थिति में प्रतीत यह होता है, कि इन भिन्न भिन्न व्याख्या ग्रन्थों में इस अर्थ की वास्तविक समानता की ओर ध्यान न देकर केवल आपाततः प्रतीत होने वाले भेद को ध्यान में रख, जयमंगला आदि की रचना के अनन्तर, माठर व्याख्या के किसी प्रतिलिपिलेखक ने हाशिये पर उक्त शब्दों में इस अर्थ का निर्देश कर दिया होगा, जो कालान्तर में ग्रन्थ का ही भाग समझा गया। इसप्रकार कहा जा सकता है, कि यह अन्य मत का निर्देश, माठर का अपना लेख नहीं है । इसके लिये निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं।

माठरवृत्ति के 'प्रान्त' पर लिखे सन्दर्भ, और 'प्रान्त' पद का अर्थ—

(१)-यह मानी हुई बात है, कि किसी ग्रन्थ के हाशिये पर लिखे हुए सन्दर्भ के सम्बन्ध में किसी अन्य लेखक का ऐसा उल्लेख मिल जाय, कि अमुक सन्दर्भ, अमुक ग्रन्थ के हाशिये पर लिखा हुआ है, तो उससे यही समझा जायगा, कि वह सन्दर्भ उस ग्रन्थ का मूल भाग नहीं है, जिसके हाशिये पर लिखा हुआ है। हमारा अभिप्राय यह है, कि जो सन्दर्भ मूल भाग है, वह हाशिये पर लिखा हुआ होने पर भी उसके लिये यह प्रयोग नहीं होगा, कि "यह पाठ हाशिये का है"। इसतरह का प्रयोग उसी पाठ या सन्दर्भ के लिये होता है, जो हाशिये पर लिखा हो, पर मूल ग्रन्थ का न हो। इसतरह के एक सन्दर्भ का हम यहां उल्लेख करते हैं।

हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत व्याख्या में 'तदुक्तं [1] माठर-प्रान्ते' ऐसा उल्लेख कर एक श्लोक उद्धृत किया हुआ है। गुणरत्नसूरि के इस लेख से यह बात प्रकट होती है, कि वह उद्धृत श्लोक माठर ग्रन्थ का मूल भाग नहीं है। वह श्लोक गुणरत्नसूरि को माठर ग्रन्थ के 'प्रान्त' पर लिखा हुआ उपलब्ध हुआ है। 'प्रान्त' पद का अर्थ हाशिया [2] है। पत्र के लिखित भाग के चारों ओर जो रिक्त स्थान छोड़ दिया जाता है, वह 'प्रान्त' कहलाता है। ग्रन्थ को पढ़ने वाला व्यक्ति, उन स्थानों में ऐसे सन्दर्भ लिख सकता है, जो उस मूल ग्रन्थ के साथ सम्बन्ध रखते हों। प्रतीत यह होता है, कि उस उद्धृत श्लोक को भी, माठर ग्रन्थ का अध्ययन

---

[1] एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता संस्करण, पृ० ६६, कारिका ३४ की भूमिका में।

[2] सदानन्दयति रचित अद्वैतब्रह्मसिद्धि के विद्वान् सम्पादक श्रीयुत वामन शास्त्री महोदय ने इस ग्रन्थ की भूमिका में हाशिये के लिये 'प्रान्त' पद का प्रयोग किया है । उनका लेख है—पुस्तकप्रान्तभागे बहुषु स्थलेषु संशोधनं टिप्पण्यादिकं च वर्त्तते।' यह भूमिका सन् १८६० में लिखी गई थी। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण एशियाटिक सोसायटी बंगाल ने प्रकाशित किया था। हमारे सन्मुख यह द्वितीय संस्करण है, जिसको कलकत्ता विश्वविद्यालय ने १६३२ ई० सन् में प्रकाशित किया है। उसकी भूमिका के १३वें पृष्ठ पर उक्त लेख है।

मोनियर विलियम की डिक्शनरी में 'प्रान्त' पद का अर्थ Margin = मार्जन किया गया है।

करते समय टिप्पण रूप में किसी अध्येता ने पन्ने के 'प्रान्त' भाग पर लिख दिया होगा। गुणरत्न-सूरि ने उसको उसी रूप में देखा, और उसका ठीक पता देकर अपने ग्रन्थ में उसे उद्धृत किया। कालान्तर में इस विशेषता को न समझने के कारण वह 'प्रान्त' का श्लोक मूल ग्रन्थ का ही भाग समझा गया, और आज हम उसको ऐसा ही समझते हैं। वह श्लोक है—

"हस पिब लल मोद नित्यं विषयानुपभुञ्ज कुरु च मा शङ्काम्।
यदि विदितं ते कपिलमतं तत्प्राप्स्यसे मोक्षसौख्यञ्च ॥"

यह सांख्यसप्तति की ३७ वीं आर्या की माठरव्याख्या के अन्त में उद्धृत है। गुणरत्न सूरि के पाठ में थोड़ा सा अन्तर है, वहां का पाठ इसप्रकार है—

"हस पिब लल खाद मोद नित्यं भुंक्ष्व च भोगान् यथाभिकामम्।
यदि विदितं ते कपिलमतं तत्प्राप्स्यसि मोक्षसौख्यमचिरेण ॥"

गुणरत्नसूरि के द्वारा प्रयुक्त 'प्रान्त' पद का अर्थ समझने में आधुनिक अनेक विद्वानों ने भूल[1] की है। अथवा वे इस पद के अर्थ का निश्चय नहीं कर सके हैं। चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ से प्रकाशित माठरवृत्ति के प्रारम्भ में, वृत्ति में प्रमाण रूप से उद्धृत वाक्यों की एक सूची दी हुई है। वहां पर प्रस्तुत श्लोक के सम्बन्ध में सम्पादक महोदय ने एक टिप्पणी में इसप्रकार लिखा है "तदुक्तं माठरप्रान्ते (भाष्ये ?)" इससे प्रतीत होता है, कि माननीय सम्पादक महोदय 'प्रान्त' पद का अर्थ समझने में असमर्थ रहे हैं। इसप्रकार गुणरत्नसूरि के लेख के आधार पर प्रस्तुत श्लोक को माठर ग्रन्थ का भाग नहीं समझा जाना चाहिये। परन्तु आज ऐसा नहीं है। ठीक इसी तरह १८ वीं आर्या के प्रकृत पाठ के सम्बन्ध में भी कहा जासकता है। यह भी सम्भव है, कि इसप्रकार के और भी 'प्रान्त' गत पाठ मूलभाग में सम्मिलित होगये हों।

(२)—इस सम्बन्ध में एक बात यह भी ध्यान देने के योग्य है, कि माठरवृत्ति में अन्य किसी भी स्थल पर किसी भी आर्या के अर्थभेद के सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं किया गया है। यह एक विचित्र सी बात है, कि अन्य व्याख्या ग्रन्थों में अर्थसम्बन्धी अनेक मतभेदों का उल्लेख होने पर भी, माठर केवल एक मतभेद का निर्देश करता है। यदि इसका आधार

---

[1] 'सुवर्णसप्ततिशास्त्र' [सांख्यकारिका और उसकी एक टीका के चीनी अनुवाद का संस्कृत रूपान्तर] के विद्वान् सम्पादक अय्यास्वामी शास्त्री ने 'प्रान्त' पद का 'Mathara's traditional corner' अर्थ किया है, [उक्त ग्रन्थ की भूमिका, पृ० ३७ पर] जो सर्वथा निराधार है। यद्यपि आपने आगे लिखा है, कि 'माठरप्रान्त' पद का प्रयोग माठरभाष्य [Mathara's actual commentary] के लिये नहीं हुआ है। यह कथन आपका ठीक ही है। माठरभाष्य के लिये यह कैसे हो सकता है? प्रान्त पर लिखा पाठ तो भाष्य का भाग होगा ही नहीं। परन्तु आपने 'प्रान्त' पद का अर्थ Margin न समझ कर एक क्लिष्ट और निराधार कल्पना कर डाली है। और उसके आधार पर सांख्यसप्तति की वर्त्तमान माठरव्याख्या के अतिरिक्त एक और माठरभाष्य का होना कल्पना कर लिया है, जिसका कि कोई आधार नहीं। इस माठर व्याख्यान को ही माठरभाष्य मानने में क्या आपत्ति हो सकती है।

अन्य व्याख्याकारों के भिन्न व्याख्यानों का निर्देश माना जाय, तो अन्य मतभेदों का उल्लेख भी माठर ने अपने ग्रन्थ में क्यों नहीं किया? जब कि दूसरे व्याख्याकारों ने इसके साथ अपना मतभेद प्रकट किया है। यह एक और आश्चर्य की बात है, कि १८ वीं आर्या के प्रस्तुत पदों के अर्थों में किसी भी व्याख्याकार ने माठर के साथ मतभेद का निर्देश नहीं किया। इसका परिणाम यह निकलता है, कि प्रत्येक परवर्त्ती व्याख्याकार पूर्ववर्त्ती व्याख्यान के सामञ्जस्य को निपुणतापूर्वक समझता रहा है, इसलिए व्याख्याकारों को इन पदों के अर्थों में परस्पर विरोध की कोई गन्ध नहीं आई। भिन्न व्याख्यानों को आपातत: देखने वाले किसी अध्येता ने 'भ्रान्त' पर उक्त टिप्पण लिख दिया होगा, जो कालान्तर में मूल का भाग बनगया। यही संभावना अधिक प्रामाणिक होसकती है।

जहां तक आर्याओं के अर्थसम्बन्धी मतभेदों के निर्देश का विचार है, यह बात बहुत ध्यान देने की है, कि माठरव्याख्या में यह एक ही मतभेद का निर्देश क्यों है? यदि यह माना जाय, कि यह मतभेदनिर्देश, जयमंगला आदि व्याख्यानों को देखकर माठर ने किया है, तो हम पूछते हैं, कि माठर ने अन्य मतभेदों का भी उल्लेख क्यों नहीं किया? जयमंगला आदि व्याख्याओं में निर्दिष्ट ऐसे अनेक मतभेदों का उल्लेख हम इसी प्रकरण में कर चुके हैं, जो कि माठरव्याख्यान के आधार पर किये गये हैं। इससे यह परिणाम निकलता है, कि तत्त्वकौमुदी, जयमंगला, युक्तिदीपिका आदि व्याख्याओं में जो अर्थसम्बन्धी मतभेद दिये गये हैं, वे उनसे पूर्ववर्त्ती व्याख्याग्रन्थों के ही आधार पर हैं, जिस आधार के क्रम को हम अभी तक स्पष्ट करते आरहे हैं। पर माठरवृत्ति में इसप्रकार का एक भी निर्देश नहीं कहा जासकता, अतएव उपलभ्यमान सब टीकाओं की अपेक्षा उसकी प्राचीनता निर्बाध है।

माठरवृत्ति और जयमंगला के सम्बन्ध पर पं० हरदत्त शर्मा के विचार, तथा उनकी आलोचना

श्रीयुत हरदत्त शर्मा एम० ए० महोदय ने इस सम्बन्ध में एक बहुत चुभता हुआ नुक्ता बताया है। वे लिखते हैं कि [1] ४५ वीं कारिका पर माठर कहता है—

"यथा कस्यचिद् वैराग्यमस्ति। जितेन्द्रियो विषयेभ्यो विरक्तो न यमनियमपर: केवलम्।

---

[1] There is very striking passage in माठरवृत्ति Viz. यथा कस्यचिद्०...न यमनियमपर: केवलम्. compare it with जयमंगला—वैराग्यात् इत्यादि।......परिक्लिश्यते, न ज्ञानं पर्येषते etc. [P.48, II. 21 and 22] Does it not look as if माठर were criticizing the view of जयमंगला? While there is no passage or line which might show that the author of जयमंगला is cognisant of the माठरवृत्ति, the line quoted is a striking proof of माठरवृत्ति having जयमंगला before it. Therefore, the verbal agreement between these commentaries rather tends to prove the priority of जयमंगला to माठरवृत्ति, than otherwise. [Proceedings Fifth Indian Oriental Conference, Lahore, 1928 A.D., P. 1034]

न [1] तु ज्ञानमस्ति गुणपुरुषान्तराख्यम् ।"

निम्ननिर्दिष्ट जयमंगला के साथ इसकी तुलना कीजिये—

"*वैराग्यात् इत्यादि । यो विषयादिदर्शनाद्विरक्तो यमनियमपरिस्थितो, न ज्ञानं पर्येषते*" इत्यादि । "क्या यहां यह नहीं प्रतीत होता, जैसे कि माठर जयमंगला के विचार की समालोचना कर रहा हो ? जब कि जयमंगला में कोई भी ऐसा सन्दर्भ या पंक्ति नहीं है, जिससे यह प्रकट होता हो, कि जयमंगला माठर की समालोचना कर रही है । यह ऊपर की उद्धृत पंक्ति प्रबल प्रमाण है, कि माठरवृत्ति अपने से पहले जयमंगला को मानती है । इसलिये दोनों व्याख्याओं का यह रचनासादृश्य, माठरवृत्ति की अपेक्षा जयमंगला की प्राचीनता को प्रमाणित करने के लिये अधिक झुकता है, इससे विपरीत नहीं ।"

श्रीयुत शर्मा जी के इस लेख के सम्बन्ध मे हमारा वक्तव्य है, कि उपयुक्त माठर का सन्दर्भ, जयमंगला के विचारों की समालोचना नहीं कर रहा । श्रीयुत शर्मा जी ने माठर के 'न यम-नियमपरः केवलम्' इन पदों को मोटे टाईप में दिया है, जिस से आपका यह अभिप्राय प्रतीत होता है, कि माठर के इन पदों में जयमंगला के विचारों की समालोचना की गई है, अथवा इनसे समा-लोचना की भावना प्रकट होती है । परन्तु यहां ऐसी कोई बात नहीं है । प्रतीत यह होता है, कि माठर के पाठ में 'न' पद देखकर श्रीयुत शर्मा जी को माठर की इस पंक्ति का अर्थ समझने में भ्रम हुआ है । पंक्ति का स्पष्ट अर्थ इसप्रकार है—जैसे, किसी को वैराग्य हो गया है, परन्तु प्रकृति पुरुष के भेद का ज्ञान नहीं हुआ है । [उसकी मुक्ति नहीं होती, इसका सम्बन्ध आगे के साथ है] बीच की उक्त पंक्ति से वैराग्य का ही स्वरूप दिखाया गया है । माठर कहता है, कि 'केवल इतना ही नहीं कि वह व्यक्ति यम और नियम में ही तत्पर हो, प्रत्युत जितेन्द्रिय और विषयों से विरक्त भी हो'। 'न' और 'केवल' पद इस बात पर बल देते हैं, कि वह व्यक्ति यम और नियम में तो तत्पर है ही, उससे अतिरिक्त जितेन्द्रिय और विषयों से विरक्त भी है । अभिप्राय यह है, कि जितेन्द्रिय होना विषयों से विरक्त होना और यम नियम में तत्पर होना ये सब ही बातें वैराग्य के लिये आवश्यक हैं । जो भाव माठर ने 'न' और 'केवलम्' पद को रखकर प्रकट किया है, वही भाव जयमंगलाकार ने 'परि' उपसर्ग को जोड़कर प्रकट किया है । यदि जयमंगला में केवल 'यमनियमपरिस्थितः' इतना पाठ होता, और 'विषयादिदर्शनाद् विरक्तः' यह पाठ न होता, अथवा माठर की पंक्ति में 'केवलम्' पद न होता, तो श्रीयुत शर्मा जी का कथन किसी अंश तक विचारयोग्य हो सकता था । परन्तु यहां दोनों ही बात नहीं हैं । इसलिये इन पंक्तियों में कोई भी ऐसा पद और भाव नहीं कहा जासकता, जिससे एक के द्वारा दूसरे की समालोचना का अभिप्राय प्रतीत होता हो ।

---

[1] 'न तु ज्ञानमस्ति गुणपुरुषान्तराख्यम्' इतना पाठ श्रीयुत शर्मा जी ने अपने लेखमें उद्धृत नहीं किया है । इसे हमने ही माठरवृत्ति से लेकर यहां रखदिया है । क्योंकि अगले जयमंगला के पाठ की तुलना के लिये इसका उद्धृत किया जाना आवश्यक था ।

इतना ही नहीं कि इन दोनों पंक्तियों में शब्द रचना का ही सादृश्य हो, प्रत्युत विचार भी दोनों में बिल्कुल समान हैं, फिर कौन किस की समालोचना का क्षेत्र हो ? समालोचना तो विचारविभिन्नता में ही स्थान पासकती है। इसलिये श्रीयुत शर्मा जी का कथन भ्रान्ति पर आधारित होने से असंगत है।

इन उपयुक्त पंक्तियों के रचना-सादृश्य और अर्थ-सादृश्य के आधार पर अब हम दूसरे ही परिणाम पर पहुँचते हैं। पीछे निर्दिष्ट किये गये अनेक प्रमाणों से हम इस बात का निर्णय कर चुके हैं, कि माठरवृत्ति जयमंगला से अत्यन्त प्राचीन है। एवं जयमंगला में अनेक स्थलों पर माठरवृत्ति का उपयोग किया गया है। इसप्रकार के अनेक उदाहरण हम पीछे दिखा चुके हैं। उसी शृंखला में एक यह कड़ी भी जोड़ लेनी चाहिये। इसलिये सांख्यसप्तति की उपलभ्यमान सब टीकाओं की अपेक्षा माठरवृत्ति की प्राचीनता आशंकारहित है। इसी कारण १८ वीं आर्या की माठरवृत्ति में अन्य मत का उल्लेख, उपलभ्यमान व्याख्याओं के आधार पर नहीं कहा जासकता। उस पाठ के माठरवृत्ति में आने के वे ही कारण संभव होसकते हैं, जिनका निर्देश हम कर आये हैं।

माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद—

आधुनिक ऐतिहासिक विद्वानों [1] ने चीन के इतिहास के आधार पर इस बात का निर्णय किया है, कि ६०३ विक्रमी संवत् अथवा ५४६ ईसवी सन् में, परमार्थ नामक एक भारतीय विद्वान ब्राह्मण आर्यसाहित्य के अनेक संस्कृत ग्रंथों को लेकर चीन देश को गया। उन सब ग्रन्थों का उसने चीनी-भाषा में अनुवाद किया। यह सब कार्य, तत्कालीन चीन देश के राजा की प्रेरणा के अनुसार ही हुआ। यह लिआंग वंश का वू-टी नामक राजा था। परमार्थ के द्वारा ले जाये गये उन ग्रन्थों में ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका और उसकी एक प्राचीन व्याख्या भी थी, जिनका चीनी अनुवाद आज भी उपलब्ध है। आधुनिक काल में प्रथम कुछ विद्वानों [2] ने यह समझा, कि सांख्यकारिका की वह व्याख्या गौडपादकृत भाष्य है। परन्तु बाद में यह भूल मालूम हुई, और वह व्याख्या, माठरकृत वृत्ति निश्चित की गई। प्रसिद्ध महाराष्ट्र विद्वान् श्रीयुत वैल्वलकर महोदयने उस व्याख्या के चीनी अनुवादकी मूलभूत संस्कृत माठरवृत्तिके साथ तुलना [3] करके इस बात का निर्णय कर दिया है, कि परमाथ अपने साथ सांख्यकारिका की जिस व्याख्या को चीन लेगया

---

[1] कीथ का Samkhya system, 'दि सांख्यकारिका' नामक सप्तम प्रकरण, पृष्ठ ७८, द्वितीय संस्करण, सन् १९२४ ई०। श्रीयुत S.K. बैल्वलकर The Bhandarkar Commemoration Volume, P. 172.

[2] बाल गंगाधर तिलक Sanskrit Research, Vol.1, P. 108.

[3] The annals of the Bhandarkar Institute, Vol.V,PP. 133-168. The Bhandarkar Commemoration Volume, PP.172-174.

था, वह माठर वृत्ति ही है [1]। इसप्रकार छठे शतक में माठरवृत्ति का चीनी भाषा में अनुवाद होने के कारण विद्वानों ने यह अनुमान किया है, कि माठरवृत्ति का रचनाकाल, पंचम शतक के प्रारम्भिक भाग से अनन्तर नहीं कहा जासकता। अर्थात् पंचम शतक का प्रारम्भ होने से पूर्व ही इसका रचनाकाल माना जाना चाहिये।

माठरवृत्ति का रचनाकाल—

इसका एक निर्णायक प्रमाण हम यहां और उपस्थित करते हैं। जैन सम्प्रदाय के अनुयोगद्वारसूत्र नामक ग्रन्थ में एक सन्दर्भ इसप्रकार है—

"से किं तं लोइअं नो आगमतो भावसुअं ?, २ जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठीहि सच्छन्दबुद्धिमइ विगप्पियं, तं जहा—भारहं रामायणं भीमासुरुक्कं कोडिल्लयं घोडयमुहं सगडभद्दिआउ कप्पासिअं णागसुहुमं कणगसत्तरी वेसियं वइसेसियं बुद्धसासणं लोगायतं काविलं सट्ठियंतं माढर पुराण वागरण नाडगाइ।" [अनुयोगद्वार सूत्र ४१]

अनुयोगद्वार के इस सन्दर्भ में कुछ आर्यग्रन्थ और कुछ अन्य ग्रन्थों के नामों का निर्देश किया गया है, जो जैन सम्प्रदाय के बाहर हैं। इस सूची में माठर का भी उल्लेख है। अभी तक सांख्यसप्तति की व्याख्या माठरवृत्ति के अतिरिक्त, इस नाम के अन्य किसी ग्रन्थ का भी पता नहीं लगा है। इस सूची में सांख्य के और भी ग्रन्थों का उल्लेख है, एक 'कणगसत्तरी'। यह ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यसप्तति का नाम है। कनकसप्तति, सुवर्णसप्तति अथवा हिरण्यसप्तति ये नाम चीनी [2] विद्वानों में सांख्यसप्तति के लिये पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। 'कणगसत्तरी' का सांख्यसप्तति अर्थ, अन्य [3] विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। सांख्य का एक और ग्रन्थ इस सूची में 'कापिल षष्टितन्त्र' उल्लिखित किया गया है। इसीके साथ माठर का भी निर्देश है, इससे अधिक संभावना यही होती है, कि इस सूची में 'माठर' पद, सांख्यसप्तति की व्याख्या माठरवृत्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है। आधुनिक विद्वानों ने अनुयोगद्वार सूत्र का समय, ईसा के प्रथम शतक का अन्त निर्णय किया है। यदि इन दोनों बातों को ठीक माना जाता है, तो यह निश्चयपूर्वक कहा जासकता

[1] यह व्याख्या नागराक्षरों में तिरुपति (मद्रास) से १९४४ ई० सन् में प्रकाशित होगई है, हमने इसकी विस्तारपूर्वक तुलना, इसी प्रकरण के अन्तिम भाग में की है। A.B कीथ इस विचार को सर्वथा अशुद्ध मानता है, कि वर्तमान माठरवृत्तिका ही चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था, The view that the original of this comment exists in the recently discovered Mathara Vritti, is certainly wrong. 'A history of Sanskrit Literature' A. D. 1928. P. 488. परन्तु कीथ के इस लेख की निराधारता, इस प्रकरण को पढ लेने पर विदित होजायगी।

[2] तकाकुसु का लेख, जर्नल ऑफ् रॉयल एशियाटिक सोसायटी [G. B.] १९०८ ई० पृष्ठ ४७पर ३ नं० टिप्पणी।

[3] श्रीयुत ए. बी. ध्रुव, 'त्रिविधमनुमानम्' शीर्षक निबन्ध, "Proceedings and Transections of the first oriental congress poona" val 2 P. 270 में प्रकाशित। श्रीयुत कविराज गोपीनाथ M. A. सांख्यसप्तति व्याख्या जयमंगला की भूमिका, पृष्ठ ७।

है, कि माठरवृत्ति का रचनाकाल, ईसा का प्रथम शतक प्रारम्भ होने के आसपास होना चाहिये। रामायण, महाभारत, कापिल षष्टितन्त्र, सांख्यसप्तति आदि प्रसिद्धिप्राप्त ग्रन्थों की सूची में 'माठर' का उल्लेख उसकी तत्कालीन प्रसिद्धि और जनता में उसकी प्रतिष्ठा का द्योतक है। इस प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिये एक शतक का समय अत्यन्त उपयुक्त है। इसलिये ईसवी शतक प्रारम्भ होने के साथ ही माठरवृत्ति का रचनाकाल माना जाना अधिक युक्तिसंगत है। श्रीयुत कविराज गोपीनाथ जी ने भी सांख्यसप्तति व्याख्या की जयमंगला भूमिका के ८ पृष्ठ पर इन विचारों को स्वीकार किया है।

ईश्वरकृष्ण के काल का विवेचन —

इस बात का और अधिक निश्चय करने के लिये, सांख्यसप्तति के रचयिता ईश्वरकृष्ण के काल के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों ने जो विवेचन किया है, उसका भी निर्देश कर देना आवश्यक है। इस सम्बन्ध का विवेचन करने के लिये, जापान के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत तकाकुसु के लेख मौलिक आधार समझेजाते हैं। डा० तकाकुसु ईश्वरकृष्ण का काल ४५० ईसवी सन निर्णय करता है। उनकी युक्तियों[1] का संक्षेप इसप्रकार है—

डा० तकाकुसु का मत—

(क)—४४६ और ५६६ ईसवी सन् के मध्य में, अनेक आर्य ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने वाले परमार्थ नामक विद्वान् ने बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु का एक जीवनचरित्र लिखा, जो कि वसुबन्धु के विषय में किसी तरह की भी जानकारी के लिये सब से प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ है। परमार्थ लिखता है कि वसुबन्धु का ८० वर्ष की आयु में देहावसान हुआ। यह देहावसान का समय, परमार्थ के चीन जाने के लिये भारतवर्ष छोड़ने से पहले ही होसकता है। अर्थात् परमार्थ चीन के लिये जब तक रवाना नहीं हुआ था, उसके पहले ही वसुबन्धु का देहावसान होचुका था। इससे प्रतीत होता है, कि वसुबन्धु का समय ४२० से ४५० ईसवी सन के मध्य में होना चाहिये।

(ख)—परमार्थ यह भी कहता है, कि वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को, विन्ध्यवास नामक एक सांख्य दार्शनिक ने शास्त्रार्थ में पराजित किया। वसुबन्धु अपने गुरु के पराजय जनित कष्ट को दूर करने के लिये कुछ कर भी न सका था, कि उसके विरोधी का देहान्त होगया। इसप्रकार विन्ध्यवास, वसुबन्धु का एक वृद्धसमकालिक था, और यह बात ज्ञात है, कि विन्ध्यवास ने सांख्य पर एक ग्रन्थ की रचना की। एक यह भी बयान किया जाता है, कि विन्ध्यवास, गुप्त वंशीय राजा बालादित्य का समकालिक था, और यह भी कहा जाता है, कि वह वृषगण या

---

[1] J. R. A. S., 1905; P. 33 ff.

तकाकुसु के लेख का यह संक्षेप हमने श्रीयुत डा० श्रीपाद कृष्ण बैल्वलकर महोदय के 'माठरवृत्ति और ईश्वरकृष्ण का काल' शीर्षक लेख के आधार पर लिखा है, जो कि 'भण्डारकरस्मृतिग्रन्थ' में पृष्ठ १७१ से १८४ तक पर मुद्रित है। प्रस्तुत सन्दर्भ के लिये पृष्ठ १७५ देखना चाहिये।

वार्षगण्य का शिष्य था। जब कि डेढ़ सौ वर्ष बाद का एक दूसरा वर्णन [जो कि अधिक विश्वसनीय नहीं] यह बतलाता है कि वार्षगण्य के एक शिष्य ने 'हिरण्यसप्तति' नामक एक ग्रन्थ की रचना की। इन सब आधारों को एकत्रित करने पर हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं, कि विन्ध्यवास, वसुबन्धु का एक वृद्धसमकालीन था, और वृष अथवा वार्षगण्य का शिष्य तथा 'हिरण्यसप्तति' नामक सांख्यग्रन्थ का रचयिता था।

(ग)—अब हम देखते हैं, कि चीनी भाषा में अनूदित सांख्यसप्तति की व्याख्या, उपान्त्य कारिका के 'शिष्यपरम्परयागतं' पदों का विवरण करते हुए बताती है, कि सांख्यसप्तति का रचयिता ईश्वरकृष्ण है, जो कि 'पो-पो ली' [Po-Po-Li] का शिष्य था। और यदि एक बार हम इस बात की भी कल्पना कर लेते हैं, कि 'हिरण्यसप्तति', 'सांख्यसप्तति' का ही दूसरा नाम है, और चीनी शब्द 'पो-पो ली' किसी न किसी तरह 'वर्ष'[1] पद को प्रकट करने में समर्थ हो सकता है, तब विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण के एक व्यक्ति माने जाने में कोई भी बाधा नहीं रह जाती, इसलिये तकाकुसु के द्वारा ईश्वरकृष्ण का उक्त समय [४५० A. D.] निर्धारित किया गया है।

डा० तकाकुसु के मत पर श्री बेल्वलकर महोदय के विचार—

श्रीयुत डा० श्रीपाद कृष्ण बेल्वलकर महोदय, उपर्युक्त तकाकुसु के निर्णयों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हैं —

"इसप्रकार ईश्वरकृष्ण के काल का निश्चय, वसुबन्धु, तथा वसुबन्धु के प्रतिद्वन्द्वी[2] विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण की एकता, पर निर्भर करता है। अब वसुबन्धु का काल आजकल एक बहुत संघर्षपूर्ण विवेचन का विषय बन चुका है। इसका एक सुगम संक्षेप, विन्सेण्ट स्मिथ लिखित 'अर्ली हिस्ट्री' नामक ग्रन्थ के तृतीय संस्करण [१९१४] के ३२८-३४ पृष्ठों पर दिया गया है। यद्यपि वस्तुस्थिति में किसी ऐसे एक सिद्धान्त की आशा कर लेना व्यर्थ है, जिसके अनुसार परमार्थ, ह्यून्त्सांग, उसका शिष्य कुई-ची, इत्सिंग तथा अन्य विद्वानों के चीनी वर्णनों में आये सब नाम व मतों को संतोषजनक रूप में सङ्गत किया जा सके। तथापि यह स्पष्ट है, कि उनकी युक्तियों की समान रूप से प्रवृत्ति वसुबन्धु के काल को २८० से ३६० ईसवी सन के बीच में किसी

---

[1] तकाकुसु ने [Bulletin, 1904, P. 30, में] बड़ी खेंचातानी करके 'पो-पो-ली' शब्द से 'वर्ष' पद प्रकट किया है। 'पो-पो-ली' से 'पो-सो-ली', उससे 'पो-ली-सो', उससे व-ली-सो, उससे 'वर्ष'। डा० तकाकुसु ने ये सब परिवर्त्तन लेखकप्रमाद के कारण ही बतलाये हैं। Bhandarkar Com. Vol. पृ० १७६, टिप्पणी न० १.

[2] हमारे विचार में विन्ध्यवास को वसुबन्धु का प्रतिद्वन्द्वी नहीं कहना चाहिये। प्रत्युत वसुबन्धु के गुरु बुद्ध-मित्र का प्रतिद्वन्द्वी कहना उचित है। विन्ध्यवास ने बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। विन्ध्यवास और वसुबन्धु की वाद-प्रतिद्वन्द्विता का कहीं उल्लेख नहीं पाया जाता। वसुबन्धु अपने गुरु के उस अपमान को बहुत अधिक अनुभव करता रहा, और इसी प्रेरणा से 'परमार्थसप्तति' नामक ग्रन्थ उसने सांख्यसिद्धान्तों के विरोध में लिखा।

जगह निश्चित करती है। और सब ही वर्णनों के अनुसार यह भी निश्चय है, कि विन्ध्यवास, वसुबन्धु का वृद्धसमकालिक था।"

श्रीयुत डा० बैल्वलकर महोदय पुनः लिखते हैं —

"परन्तु मुझे यह प्रतीत होता है, कि विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण को एक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि माठरवृत्ति से हमें प्रतीत होता है, कि ईश्वरकृष्ण के गुरु पो-पो-'ली का मूल संस्कृत नाम देवल है। वृष या वृषगण नहीं। सांख्यसप्तति की उपान्त्य कारिका के 'शिष्यपरम्परयागतम्' पदों की व्याख्या करते हुए माठर ने लिखा है—

'कपिलादासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानमत [ज्ञानम्, ततः, पा०] पञ्चशिखेन तस्माद् भार्गवोलूक-वाल्मीकिहारीतदेवलप्रभृतीनागतम्। ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्। तदेव षष्टितन्त्रमार्याभिः संक्षिप्तम्।'

इसप्रकार यह बात, विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण की एकता का प्रतिपादन करने वाले एक साधन को विचलित कर देता है।"

डा० तकाकुसु और डा० बैल्वलकर के उक्त मत का निष्कर्ष—

डा० तकाकुसु और डा० बैल्वलकर महोदय के इतने लेख के एक भाग का सारांश इस प्रकार प्रकट किया जासकता है—

श्री डा० तकाकुसु—परमार्थ के लेख के आधार पर विन्ध्यवास का गुरु वृषगण या वार्षगण्य था, ईश्वरकृष्णरचित सांख्यसप्तति की उपान्त्य कारिका की चीनी भाषा में अनूदित टीका के आधार पर ईश्वरकृष्ण के गुरु का नाम 'पो-पो-ली' प्रतीत होता है। और पो-पो-ली पद यथाकथञ्चित् 'वर्ष' पद को प्रकट करता है; वर्ष, वृषगण तथा वार्षगण्य के एक रूप होने से, एवं विन्ध्यवास के सांख्यविषयक ग्रन्थ के रचयिता होने से यह परिणाम निकलता है, कि ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास एक ही व्यक्ति के नाम थे।

श्री डा० बैल्वलकर—सांख्यसप्तति की उपान्त्य कारिका की माठरवृत्ति से प्रतीत होता है, कि चीनी अनुवाद के 'पो-पो-ली' पद का मूल संस्कृतरूप देवल है, इसलिये ईश्वरकृष्ण का गुरु देवल था, वर्ष या वृषगण नहीं। यह होसकता है, कि परमार्थ के लेख के आधार पर विन्ध्यवास के गुरु का नाम वर्ष, वृषगण अथवा वार्षगण्य हो। इसलिये ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास को एक व्यक्ति नहीं कहा जासकता।

उक्त विद्वानों के इन विचारों की आलोचना—

हम श्रीयुत डा० बैल्वलकर महोदय के इस मत से सर्वथा सहमत हैं, कि ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास एक व्यक्ति नहीं कहे जासकते। इस के लिये उक्त डाक्टर महोदय ने जो युक्तियां दी हैं, उनके अतिरिक्त हम केवल एक बात यहां अवश्य लिख देना चाहते हैं। और वह यह है, कि विन्ध्यवास के नाम से दार्शनिक ग्रन्थों में अनेक मत उद्धृत हुए उपलब्ध होते हैं। विन्ध्यवास के

विचार अब इतने अन्धकार में नहीं है, कि उनकी तुलना न की जासके। ऐसे कुछ मतों का निर्देश प्रसंगवश हमने इसी प्रकरण में आगे किया है। हम देखते हैं, कि विन्ध्यवास के नाम से उद्धृत मतों में से एक भी मत ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति में उपलब्ध नहीं होता। इतना ही नहीं कि केवल वह मत उपलब्ध न होता हो, प्रत्युत उस सम्बन्ध में ईश्वरकृष्ण के मत, विन्ध्यवास के मतों से सर्वथा भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास को एक कहना टेढ़ी खीर है। यह केवल डा० तकाकुसु का साहस है, कि वे फिर भी इन दोनों आचार्यों को एक बना सकने के लिये कटिबद्ध होगये।

श्रीयुत डा० वैल्वलकर और डा० तकाकुसु इन दोनों विद्वानों ने ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास के गुरुओं के नामों का जो निर्णय अथवा अनुमान किया है, उसे हम संगत नहीं समझते। उक्त दोनों विद्वानों के लेखों से यह स्पष्ट होता है, कि उन्होंने यहां 'गुरु' पद का प्रयोग उपाध्याय अथवा अध्यापक के अर्थ में किया है, जिसका अभिप्राय यह होता है, कि ईश्वरकृष्ण ने देवल से तथा विन्ध्यवास ने वर्ष अथवा[1] वार्षगण्य से विद्याध्ययन किया था[2]। परन्तु यह कथन निराधार तथा असंगत है। पहले हम ईश्वरकृष्ण और देवल के सम्बन्ध में विवेचन कर देना चाहते हैं।

श्रीयुत डा० वैल्वलकर महोदय ने माठरवृत्ति की जिन पंक्तियों के आधार पर देवल को ईश्वरकृष्ण का अध्यापक बताया है, वे निम्नलिखित हैं—

"कपिलादासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानम्, ततः पञ्चशिखेन, तस्मात् भार्गवोलूकवाल्मीकिहारीतदेवलप्रभृतीनागतम्। ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्। तदेव षष्टितन्त्रमार्याभिः संक्षिप्तम्।"

इस सन्दर्भ के प्रत्येक पद को जब हम गम्भीरतापूर्वक देखते हैं, तो हमें स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, कि देवल किसी तरह भी ईश्वरकृष्ण का अध्यापक नहीं कहा जा सकता। इसके लिये

---

[1] डा० तकाकुसु का अभिप्राय वर्ष, वृष, वृषगण तथा वार्षगण्य पदों से एक ही व्यक्ति के बोध का प्रतीत होता है, इसलिये अब इस सम्बन्ध में हम केवल वार्षगण्य पद का प्रयोग करेंगे। यहां एक यह बात भी जान लेनी चाहिये, कि देवल और वार्षगण्य के साथ, ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास के सम्बन्ध को लेकर, हम 'अध्यापक' पद का प्रयोग करेंगे 'गुरु' पद का नहीं। क्योंकि उक्त दोनों विद्वानों ने 'गुरु' पद का प्रयोग यहां इसी अर्थ में किया है। और 'गुरु' पद की शक्ति एक और अर्थ में भी है, जिसका हम अभी आगे निर्देश करेंगे।

[2] डा० कीथ महोदय ने भी विन्ध्यवास के सम्बन्ध में अपना यही मत प्रकट किया है। वह लिखता है— From Budhist sources we hear of an older contemporary of Vasubandhu (c.320), Varsganya, who wrote a Sastitantra on the Samkhya; his pupil Vindhyavasa corrected his master's views in a set of seventy verses known as the Golden Seventy verses, which Vasubandhu criticized in his 'Paramartha Saptati'. It is natural to identify Vindhyavasa with Isvarakrisna, and, though the identity is unproven, it is not improbable.' 'A History of Sonskrit Literature' by Kieth, 1928 P.488.

प्रारम्भ से ही इस सन्दर्भ को विवेचनापूर्वक देखने की आवश्यकता है। यहां पहला वाक्य है—'कपिलादासुरिणा प्राप्तम्' इस वाक्य में 'कपिलात्' यह एकवचनान्त प्रयोग है। इसके आगे दूसरा वाक्य आता है—'ततः पञ्चशिखेन (प्राप्तम्' इसका अर्थ है—'आसुरेः पञ्चशिखेन प्राप्तम्,' इस वाक्य में भी 'ततः'—[आसुरेः]' यह अध्यापक के लिये एकवचनान्त पदका ही प्रयोग हुआ है। आगे तीसरा वाक्य आता है—'तस्मात् भार्गवो०—०देवलप्रभृतीनागतम्' इस वाक्य में भी 'तस्मात्' यह एकवचनान्त सर्वनाम पञ्चशिख के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसके आगे चौथा वाक्य आता है—'ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्'। इस वाक्य में 'ततः' पद आनन्तर्य का बोधक है। और 'तेभ्यः' यह बहुवचनान्त सर्वनाम पूर्वोक्त भार्गव आदि सब ही आचार्यों का निर्देश करता है। यह केवल एक देवल का बोधक नहीं होसकता। इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है, कि पूर्वोक्त अनेक आचार्यों की परम्परा के अनन्तर, उस ज्ञानप्रतिपादक शास्त्र को ईश्वरकृष्ण ने प्राप्त किया। 'देवल' पद के आगे पठित 'प्रभृति' पद इस विचार को अत्यन्त स्पष्ट और दृढ़ कर देता है, कि देवल तथा ईश्वरकृष्ण के मध्य में और भी अनेक[1] सांख्याचार्य हो चुके हैं। वस्तुतः देवल, ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा पर्याप्त प्राचीन आचार्य है। महाभारत[2] में भी इसका उल्लेख आता है। इसलिये देवल को ईश्वरकृष्ण का अध्यापक समझना सर्वथा निराधार और असंगत है, एवं माठर का उक्त सन्दर्भ उससे विपरीत अर्थ को ही प्रकट करता है।

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, कि पञ्चशिख और भार्गव के मध्य में भी अन्य आचार्य हों। युक्तिदीपिका की एक पंक्ति से प्रतीत होता है, कि जनक और वशिष्ठ, पञ्चशिख के साक्षात् शिष्यों में से थे। सांख्यसप्तति की ७०वीं आर्या के 'बहुधा कृतं तन्त्रम्' पदों की व्याख्या करते हुए युक्तिदीपिकाकार ने लिखा है—'*बहुभ्यो जनकवशिष्ठादिभ्यः समाख्यातम्*'। महाभारत,[3] शान्तिपर्व के २२०—२२२ तक के तीन अध्यायों में पञ्चशिख-जनक संवाद का उल्लेख किया गया है। जिससे प्रतीत होता है, कि पञ्चशिख ने जनक को सांख्यशास्त्र का उपदेश दिया। इसके अतिरिक्त एक और स्थल—महाभारत शान्तिपर्व के सुलभा-जनक-संवाद—में स्वयं जनक की उक्ति रूप से दो श्लोक इसप्रकार आते हैं—

---

[1] यद्यपि माठर व्याख्या में भार्गव आदि पांच आचार्यों के नाम हैं। पर इससे यह समझना, कि पञ्चशिख से ईश्वरकृष्ण तक की साक्षात् गुरु-शिष्य परम्परा के ये नाम हैं, नितान्त भ्रान्त तथा निराधार है। क्योंकि अन्य व्याख्याग्रन्थों में इस परम्परा के अनेक आचार्यों का उल्लेख किया गया है। फिर भी यह निश्चय है, कि आचार्यों की यह सूची पूर्ण नहीं कही जा सकती।

जयमंगला व्याख्या—गर्ग, गौतम। युक्तिदीपिका व्याख्या—जनक, वशिष्ठ......हारीत, बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर [अथवा ऋषभ, ईश्वर] पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि, वार्षगण्य, कौण्डिन्य, मूकाविक (?), इनका उल्लेख हम द्वितीय और चतुर्थ प्रकरण में भी कर आये हैं।

[2] महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २८१। [कुम्भघोणं संस्करण]

[3] यह निर्देश कुम्भघोणं संस्करण के आधार पर किया गया है।

¹"पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः। भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसंमतः।
सांख्यज्ञाने च योगे च महीपालविधौ तथा। त्रिविधे मोक्षधर्मेऽस्मिन् शताध्वा छिन्नसंशयः॥

[महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३२५, श्लो० २४-२५]

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट होजाता है, कि जनक, पञ्चशिख के साक्षात् शिष्यों में से एक था। अब यदि हम माठरवृत्ति में पठित सांख्याचार्यों की सूची को गम्भीरतापूर्वक देखें तो हमें स्पष्ट होजायगा, कि यह सूची आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा को द्योतित नहीं करती। इसलिये पञ्चशिख और ईश्वरकृष्ण के मध्य में ये ही पांच सांख्याचार्य हुए हैं, ऐसा कहना केवल उपहासास्पद होगा। इसीप्रकार देवल और ईश्वरकृष्ण के मध्य में किसी आचार्य को न मानना भी प्रमाणविरुद्ध और असंगत है। ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा देवल अतिप्राचीन आचार्य है, यह बात प्रमाणान्तरों से सिद्ध है।

उक्त आधारों पर अब यह निश्चित होजाता है, कि चीनी शब्द 'पो पो-लो' का मूल संस्कृत रूप 'देवल' नहीं कहा जासकता। तब इसका संस्कृत रूप क्या है? यह एक बात विचारणीय रह जाती है। श्रीयुत डा० तकाकुसु के अनुसार इस पद का वर्ष या वार्षगण्य अर्थ समझना तो अत्यन्त उपहासास्पद है। क्योंकि उन्होंने पो-पो-ली से 'वर्ष' पद की कल्पना केवल लेखक प्रमाद के आधार पर की है। इसका विचार करने से पूर्व 'गुरु' पदके सम्बन्धमें एक निर्देश कर देना आवश्यक है।

'गुरु' पद किन अर्थों में प्रयुक्त होता है—

'गुरु' पद के अन्य अनेक अर्थ होने पर भी जब हम इसका 'शिक्षक' अर्थ समझते हैं, वह पृथक् २ दो भावनाओं के आधार पर प्रयुक्त किया जाता है। एक अध्यापक की भावना से, और दूसरे अपने अभिमत सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक की भावना से। हमारा अभिप्राय यह है, कि जिस प्रकार अपने अध्यापक के लिये 'गुरु' पद का प्रयोग होता है, उसी प्रकार अपने अभिमत सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य अथवा ऋषि के लिये भी 'गुरु' पद का प्रयोग होताहै। 'गुरु' पद की इन दोनों अर्थों में शक्ति है। आज भी सिक्ख सम्प्रदाय का प्रत्येक व्यक्ति, गुरु नानकदेव अथवा गुरु गोविन्दसिंह को अपना 'गुरु' मानता और कहता है। जब कि यह निश्चित है, कि उनमें से

पराशर गोत्रोत्पन्न वृद्ध श्रेष्ठ महात्मा भिक्षु पञ्चशिख का मैं (जनक) अत्यन्त प्रतिष्ठित शिष्य हूं। इस पद्य में पञ्चशिख के विशेषण, विशेष ध्यान देने योग्य हैं। प्रतीत होता है, जनक से मिलने के समय पञ्चशिख अपनी आयु के अन्तिम भाग को भोग रहे थे, इस समय तक उनके माहात्म्य की प्रतिष्ठा एक उच्च सीमा तक पहुंच चुकी थी, यह जनक मिथिला का राजा था, और इसका दूसरा नाम जनदेव भी था (म. भा., शान्ति, अ० २२० । तथा बृहन्नारदीय पु० ४२)। यहां पर सांख्ययोग का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है, कि यह पञ्चशिख सांख्याचार्य ही है, अन्य कोई पञ्चशिख नहीं। महाभारत का यह निर्देश कुम्भघोणं संस्करण के आधार पर है।

किसी भी व्यक्ति ने उन गुरुओं के सन्मुख बैठकर अध्ययन नहीं किया है, प्रत्युत वे केवल उनकी शिक्षा और उपदेशों के अनुयायी हैं। इसी तरह आर्यसमाज के व्यक्ति, ऋषि दयानन्द को अपना गुरु मानते और कहते हैं। दण्डी संन्यासियों में अभी तक यह प्रथा है, कि वे संन्यास की दीक्षा के समय ब्रह्मा से लेकर शंकराचार्य तक अनेक नामों का उच्चारण करते हैं, और उनके साथ 'गुरु' पद का प्रयोग करते हैं। वे नाम उन्हीं व्यक्तियों के हैं, जिनको वे अपने सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक या प्रतिष्ठापक समझते हैं। श्रीयुत डा० तकाकुसु और डा० बैल्वलकर महोदय ने 'गुरु' पद के इस अर्थ को न समझकर धोखा खाया है।

ईश्वरकृष्ण का साम्प्रदायिक गुरु कपिल—

अब 'गुरु' पद के इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए हम चीनी पद 'पो-पो-ली' का मूल संस्कृत रूप समझने में अधिक समर्थ हो जाते हैं, और इसका वह रूप 'कपिल' है। 'कपिल' पद अपने उच्चारण के अनुसार वर्ष और देवल पदों की अपेक्षा चीनी पद के अत्यन्त समीप है। ईश्वरकृष्ण ने स्वयं अपनी अन्तिम चार कारिकाओं के द्वारा इस अर्थ को स्पष्ट किया है, कि जिस षष्टितन्त्र का मैंने संक्षेप किया है, सर्वप्रथम महर्षि कपिल ने उसका प्रवचन किया, और कपिल का वही तन्त्र अनेक आचार्यों की परम्परा के द्वारा मुझ तक प्राप्त[1] हुआ है। ईश्वरकृष्ण के इसी भाव को माठर ने अपनी उक्त पंक्तियों में स्पष्ट किया है। उसमें शास्त्र के प्रवर्त्तक कपिल का सर्वप्रथम नाम निर्देश किया गया है। उसके अनन्तर दो नाम आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा के हैं। अनन्तर कुछ मुख्य आचार्यों के नाम निर्दिष्ट करके 'तेभ्यः' इस बहुवचनान्त सर्वनाम के द्वारा यह अर्थ स्पष्ट किया गया है, कि जिन्होंने सांख्य की इस धारा को अभी तक अविच्छिन्न रक्खा है, उन सब ही सांख्याचार्यों की कृपा के आधार पर मुझ ईश्वरकृष्ण ने यह शास्त्र प्राप्त किया है। इसप्रकार ईश्वरकृष्ण ने जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया है, उसका सम्बन्ध साक्षात् 'कपिल' से बताकर वह इस बात को स्पष्ट कर देता है, कि मेरा परम गुरु कपिल है।

सांख्यसप्तति के चीनी अनुवाद में इसी 'कपिल' को पो-पो'-ली' पदों से निर्दिष्ट किया गया है। सांख्यसप्तति की टीका माठरवृत्ति का ही चीनी भाषा में अनुवाद किया गया था, यह निश्चित हो चुका है। माठरवृत्ति में सर्वप्रथम सांख्याचार्य कपिल का साक्षात् निर्देश है—'कपिलादासुरिणा प्राप्तम्'। परम्परा का मूल आच ने के कारण, तथा ईश्वरकृष्ण को प्राप्त सांख्यज्ञान का कपिल से सम्बन्ध होने के कारण, कपिल को ईश्वरकृष्ण का गुरु कहना सर्वथा उपयुक्त है, इसलिये चीनी अनुवाद में 'कपिल' पद का 'पो-पो'-ली' रूपान्तर हुआ है, यह बात निश्चित होती है।

आज सांख्यकारिका की व्याख्या के चीनी अनुवाद का संस्कृत रूपान्तर भी हमारे

[1] इस प्रसंग को विस्तारपूर्वक हमने 'कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र' नामक द्वितीय प्रकरण में लिखा है। अतः यहां केवल उसका निर्देश कर दिया गया है।

सन्मुख है। वहां सांख्याचार्यों की परम्परा की सूची में ईश्वरकृष्ण के पूर्ववर्त्ती आचार्य का देवल नाम न देकर वार्षगण्य का ही उल्लेख है। माठरपठित देवल के स्थान पर अनुवाद में वार्षगण्य का नाम कैसे आगया ? इसके लिये दो ही भ्रान्ति स्थल हो सकते हैं। या तो इस सम्बन्ध में परमार्थ को भ्रम हुआ, या फिर चीनी अनुवाद के वर्त्तमान संस्कृतरूपान्तरकार श्री अय्यास्वामी इस भ्रान्ति के शिकार हुए हैं। इसके लिये क्रमशः हमारे निम्नलिखित अनुमान विवेचनीय हैं

(१)—परमार्थ ने जो वसुबन्धुचरित लिखा है, वह कुमारजीव [४०० A. D.] रचित वसुबन्धुचरित के आधार पर ही है। वहां विन्ध्यवास का गुरु वार्षगण्य को बताया गया है। यद्यपि कुमारजीव का इस सम्बन्ध का साक्षात् लेख हमारे सन्मुख नहीं है, तथापि हमारी धारणा है, कि उसने वार्षगण्य+विन्ध्यवास के साम्प्रदायिक सम्बन्धका ही उल्लेख किया होगा। कदाचित् उसकी वास्तविकता को न समझ कर परमार्थ ने उनको साक्षात् अध्यापक और शिष्य समझ कर, और यह जानकर कि विन्ध्यवास सांख्य का प्रसिद्ध आचार्य था, सांख्याचार्यों की सूची में उसके गुरु वार्षगण्य का नाम जोड़ दिया। और विन्ध्यवास को ईश्वरकृष्ण समझ लिया गया। इस प्रकार यह इस सन्देह का जनक हो गया, कि ईश्वरकृष्ण का गुरु वार्षगण्य होना चाहिये।

अगले ही पृष्ठों में हमने इस बात को अत्यन्त स्पष्ट किया है, कि ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास सर्वथा भिन्न २ आचार्य थे। वार्षगण्य, सांख्य के ही अन्तर्गत एक सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक था, विन्ध्यवास उसी सम्प्रदाय का अनुयायी था। परन्तु ईश्वरकृष्ण सांख्य की मुख्य धारा का अनुयायी था। ऐसी स्थिति में यदि चीनी पद 'पो-पो'-ली' का अर्थ वार्षगण्य ही किया जाता है, और ईश्वरकृष्ण के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है, तो यह चीनी अनुवादक परमार्थ की अनभिज्ञता का ही परिचायक हो सकता है। क्योंकि यद्यपि वार्षगण्य सांख्याचार्यों में भले ही हो, और सांख्याचार्यों की साधारण सूची में भी अवश्य उसे उपस्थापित किया जाय, परन्तु ईश्वरकृष्ण, सांख्यसम्प्रदाय की जिस मुख्य परम्परा से सम्बद्ध है, वार्षगण्य उसमें नहीं है। इसलिये हमारा अभिप्राय इतना ही है, कि 'पो-पो'-ली' पद के आधार पर न तो ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास को एक सिद्ध किया जा सकता है, और न इससे यही सिद्ध होता है, कि वार्षगण्य विन्ध्यवास का साक्षात् अध्यापक था। तथा ईश्वरकृष्ण का अध्यापक तो वार्षगण्य को किसी भी अवस्था में नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ईश्वरकृष्ण ने अपनी रचना का आधार कपिल की रचना को बना कर कपिल को ही अपना परम गुरु ध्वनित किया है। वार्षगण्य के अनेक मतों के साथ ईश्वरकृष्ण का विरोध है।

(२) इन सब स्थितियों में हमें परमार्थ के द्वारा ऐसी स्थूल भ्रान्ति के होजाने की आशा नहीं होती। अधिक संभावना यही है, कि इस विषय में श्रीयुत अय्यास्वामी शास्त्री ने ही ठोकर खाई है प्रतीत होता है सांख्यसप्तति के चीनी अनुवाद का वर्त्तमान संस्कृतरूपान्तर करते हुए,

आपने डॉ० तकाकुसु के विचारों से प्रभावित होकर माठरवृत्ति के 'देवल' पद की उपेक्षा कर उसके स्थान पर 'वार्षगण्य' पद का निर्देश कर दिया है। सचमुच यह मूल के साथ अनर्थ हुआ है। क्योंकि इस प्रसंग में 'पो-पो'-ली' पद का वार्षगण्य अर्थ किया जाना सर्वथा असंगत है।

'पो-पो-ली' पद के प्रथम 'पो' वर्ण का प्रयोग 'क' उच्चारण के लिये किया गया है। द्वितीय 'पो'' वर्ण के ऊपर एक खड़ी रेखा का निर्देश चीनी विद्वानों ने किया है, जो उस वर्ण के 'प' उच्चारण को सूचित करता है। रेखारहित चीनी 'पो' वर्ण का उच्चारण 'क' अन्यत्र भी देखा जाता है। बील[1] के चीनी यात्रावर्णनों के संग्रह में 'पार्शिवक' पद का चीनी रूप 'पि-लो-शि-पो' (Pi-Lo-Shi-Po) दिया गया है। यहां अन्तिम 'पो' पद 'क' उच्चारण के लिये है। इसप्रकार सांख्यसप्तति के इस प्रसंग का 'पो-पो-ली' पद 'कपिल' के लिये प्रयुक्त हुआ कहा जा सकता है।

इसके लिये भी हमारा कोई विशेष आग्रह नहीं है। उक्त चीनी पद का 'देवल' रूपान्तर मान जाने पर भी इतना हम अवश्य कहेंगे, कि देवल को ईश्वरकृष्ण का साक्षात् अध्यापक नहीं माना जासकता।

विन्ध्यवास का साम्प्रदायिक गुरु, वार्षगण्य—

इसी आधार पर अब हम विन्ध्यवास के गुरु वार्षगण्य का ठीक पता लगा सकते हैं। परमार्थ ने अपने ग्रन्थ में विन्ध्यवास के गुरु का नाम वार्षगण्य बताया है। यह वार्षगण्य विन्ध्यवास का साम्प्रदायिक गुरु है, अध्यापक नहीं। सांख्यशास्त्र के अध्येता इस बात को अच्छी तरह जानते हैं, कि महर्षि कपिल ने सांख्य के जिन सिद्धान्तों का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया, अनन्तर होनेवाले अनेक आचार्यों ने उन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अपने कुछ विशेष विचार[2] भी प्रकट किये हैं। उन विशेषताओं के कारण ही सांख्य के अन्तर्गत उन आचार्यों के कुछ अवान्तर सम्प्रदाय बन गये हैं। ऐसे आचार्यों में एक मुख्य आचार्य वार्षगण्य भी थे। विन्ध्यवास सांख्य के अन्तर्गत वार्षगण्य के अवान्तर सम्प्रदाय का ही अनुयायी था। यद्यपि वार्षगण्य और विन्ध्यवास के कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। जो कुछ थोड़े वाक्य इनके नामों पर दार्शनिक ग्रन्थों में इधर उधर बिखरे हुए मिलते हैं, वे इस निर्णय के लिये वस्तुतः अपर्याप्त हैं, फिर भी जो कुछ सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर कुछ ऐसे प्रमाण मिल गये हैं, जिनसे यह स्पष्ट होजाता है कि वार्षगण्य के अनेक मतों से विन्ध्यवास का ऐकमत्य था। उनमें से एक दो मत

---

१ Si-yu-ki, Buddhist Records of the Western World, By Samuel Beal, Vol, I., P.104.

२ कपिल के प्रशिष्य पञ्चशिख ने भी कुछ विचारों में अपना मतभेद प्रकट किया, जो कपिल के सामने ही हो चुका था। कपिलने अपने प्रशिष्य की इस बुद्धिविचक्षणता को प्रसन्नतापूर्वक अपने ग्रन्थ में स्थान दिया। सनन्दनाचार्य तो कपिलके साथियों में से ही थे, उनके एक मत का भी कपिल ने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। [देखें सांख्यदर्शन, अ०६, सू० ६६]

हम नीचे उद्धृत करते हैं—

(१)—"*करणं ......एकादशविधमिति वार्षगणाः ।*"[1] [युक्तिदीपिका, पृ० १३२, पं० २८]

"*करणमपि......एकादशकमिति विन्ध्यवासी ।*" [युक्तिदीपिका, पृ० १०८, पं० ११]

सांख्य के अध्येता इस बात को जानते हैं, कि कापिल सांख्य में करण १३ माने गये हैं।

५ ज्ञानेन्द्रिय } बाह्यकरण = १०
५ कर्मेन्द्रिय }
३ अन्तः करण = बुद्धि, अहङ्कार, मन = ३
१३ — १३

"*करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ।*" [सांख्यदर्शन २।३८]

"*करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।*" [सांख्यसप्तति, का० ३२]

परन्तु इस सम्बन्ध में कापिल विचारों के विपरीत वार्षगण्य ने तीन अन्तःकरणों के स्थान पर एक ही 'बुद्धि' अन्तःकरण को स्वीकार कर करणों की ११ संख्या मानी है। उसी के अनुसार विन्ध्यवासी भी ११ ही करण स्वीकार करता है, जैसा कि ऊपर उद्धृत वाक्यों से स्पष्ट होता है।

(२)—सांख्यसप्तति की ५ वीं कारिका की अवतरणिका में युक्तिदीपिकाकार ने अनेक आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष लक्षणों का निर्देश करते हुए लिखा है—

श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणाः ।" [पृ० ३६, पं० १०, १६]

इसी लक्षण का प्रत्याख्यान, उद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक [१।१।४] में किया है।

"*तथा-श्रोत्रादिवृत्तिरिति । किं कारणम् ? पञ्चपदपरिग्रहेण प्रत्यक्षलक्षणमुक्तं यत्रान्यतरपदपरिग्रहो नास्ति, तत् प्रत्यक्षाभासमिति ।*" [पृ० ४३, पं० १०]

---

[1] यहां 'वार्षगणाः' और 'वार्षगण्य' पदों के सम्बन्ध में कुछ निर्देश कर देना आवश्यक है। इनका मूल पद 'वृषगण' है। 'वृषगण' पिता और 'वार्षगण्य' पुत्र है। पाणिनि के गर्गादि [४।१।१०५] गण में 'वृषगण' पद का पाठ है। अपत्य अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय होकर 'वृषगण' से वार्षगण्य' बनता है। 'वृषगण' और वार्षगण्य' इन दोनों पदों से 'अधीत, वेद' अर्थ में 'अण्' [४।२।५६] प्रत्यय होकर एकवचन में 'वार्षगणः' और बहुवचन में 'वार्षगणाः' पद सिद्ध होता है। इससे प्रतीत होता है, कि 'वृषगण' और 'वार्षगण्य' अर्थात् पिता-पुत्र, सांख्य के अन्तर्गत उन विशेष सिद्धान्तों के प्रवर्त्तक हैं। इनमें 'वृषगण' कम और 'वार्षगण्य' अधिक प्रसिद्ध है। 'वार्षगणः' अथवा 'वार्षगणाः' केवल उनके अनुयायी कहे जासकते हैं। इसलिये इन नामों से उद्धृत मत भी 'वार्षगण्य' के ही समझने चाहियें। अनुयायी के अर्थ में 'वार्षगणः' यह एकवचनान्त प्रयोग असामञ्जस्यपूर्ण प्रतीत होता है।

युक्तिदीपिका के विद्वान् सम्पादक महोदय ने युक्तिदीपिका में उभयवचनान्त पदों का प्रयोग बताया है। परन्तु जो स्थल उन्होंने एकवचनान्त प्रयोग के निर्दिष्ट किये हैं, वस्तुतः वे भी बहुवचनान्त ही हैं, समासादि के कारण वहां विभक्ति अदृष्ट होने से सम्भवतः उन्हें भ्रम होगया है।

उस पर व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—

"वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह-श्रोत्रादिवृत्तिरिति।"

[न्या० वा० ता०, पृ० १५५, पं० १६, लाजरस संस्करण]

वाचस्पति मिश्र के लेख से प्रतीत होता है, कि वह इस प्रत्यक्ष-लक्षण को वार्षगण्य[1] का समझता है। अनेक आचार्यों[2] ने अपने २ ग्रन्थों में इस लक्षण का उल्लेख कर खण्डन किया है, परन्तु उन्होंने लक्षण के रचयिता का नाम निर्दिष्ट नहीं किया।[3] कहीं २ केवल सांख्य पद का उल्लेख किया गया है।

जैनग्रन्थ 'सन्मति तर्क' के व्याख्याकार अभयदेव सूरिने अपनी व्याख्या के पृष्ठ ५३३ की दूसरी पंक्ति में इसी प्रत्यक्षलक्षण को विन्ध्यवासी का बताया है। वह लिखता है—

"श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका, इति विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणम्"

यद्यपि उपर्युक्त लक्षण में 'अविकल्पिका' पद नहीं है, तथापि मूल लक्षण में इससे कोई भेद नहीं आता। तत्त्वोपप्लव, न्यायमञ्जरी, और प्रमाणमीमांसा में भी इसी पाठ को उल्लिखित किया गया है। प्रमाणमीमांसा के उल्लेख से तो यह भी ध्वनित होता है, कि वह इसी पाठ के साथ इस लक्षण को वार्षगण्य का समझता है। उसका पाठ इसप्रकार है—

"श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षमिति वृद्धसांख्याः। प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टमिति प्रत्यक्ष-लक्षणमितीश्वरकृष्णः" इत्यादि। [पृ० ३६, पं० ७-१७]

इस सन्दर्भ के दूसरे वाक्य में ईश्वरकृष्ण के प्रत्यक्षलक्षण का निर्देश किया गया है। पहली पंक्ति के लक्षण को 'वृद्धसांख्याः' कहकर निर्देश किया है। यहां 'वृद्धसांख्याः' पद से विन्ध्यवासी का ग्रहण नहीं किया जासकता। यह बात निश्चित है, कि विन्ध्यवासी, ईश्वरकृष्णसे पश्चाद्भावी आचार्य है। प्रतीत होता है, इस बात से प्रमाणमीमांसाकार भी परिचित था। ऐसी स्थिति में ईश्वरकृष्ण की प्रतियोगिता में विन्ध्यवास को 'वृद्धसांख्याः' पद से नहीं कहा जासकता था। इससे स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि प्रमाणमीमांसाकार इस लक्षण का रचयिता वार्षगण्य को समझता है। इसप्रकार इन दोनों पाठों के साथ हमारे पक्ष में एक ही परिणाम निकलता है, और वह यह है कि वार्षगण्य ने प्रत्यक्ष का जो लक्षण किया है, विन्ध्यवास ने भी उसी को स्वीकार किया है, परन्तु ईश्वरकृष्ण का प्रत्यक्षलक्षण उससे भिन्न है।

(३) इस मत की पुष्टि में एक और प्रमाण उपस्थित किया जाता है। युक्तिदीपिका के

---

[1] 'वार्षगणाः' और 'वार्षगण्य' के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठ की टिप्पणी देखें।

[2] तत्त्वोपप्लव, पृ० ८१, पं० ५। न्यायमञ्जरी, पृ० १००, पं० १२। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १८७, पं० २६-३२। प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ६, पं० ७-१४, स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ३४३, पं० १-४। प्रमाणमीमांसा पृ १०३१ पं० ७-१७,

[3] उपर्युक्त (२) चिन्हित टिप्पणी के अन्तिम चार ग्रन्थों

चौथे पृष्ठ की ७वीं पंक्ति से एक सन्दर्भ इसप्रकार प्रारम्भ होता है—

"किञ्च[1] तन्त्रान्तरोक्तेः, तन्त्रान्तरेषु हि विन्ध्यवासिप्रभृतिभिराचार्यैरुपदिष्टाः, प्रमाणं नः ते आचार्या इत्यतश्चानुपदेशो जिज्ञासादीनामिति।"

इसके अनन्तर ही दूसरा सन्दर्भ प्रारम्भ होता है—

"आह—न, प्रमाणानुपदेशप्रसंगात्। यदि च तन्त्रान्तरोपदेशादेवावयवानामनुपदेशः, प्रत्यक्षादीन्यपि च तन्त्रान्तरेषूपदिश्यन्ते—'श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्। सम्बन्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम्। यो यत्राभियुक्तः कर्मणि चादुष्टः, स तत्राप्तः, तस्योपदेश आप्तवचनम्' इति, तेषामप्यनुपदेशप्रसंगः।"

इन सन्दर्भों के पर्यालोचन से यह बात स्पष्ट होती है, कि जिस आचार्य विन्ध्यवासी ने तन्त्रान्तर[2] में जिज्ञासा आदि का उपदेश किया है, उसी तन्त्रान्तर में 'श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्'

---

[1] यहां प्रसंग यह है, (प्रश्न) इस शास्त्र [अर्थात् कारिकाओं] में जिज्ञासा आदि अनुमान के अवयवों का निर्देश क्यों नहीं किया गया? (उत्तर) यद्यपि शास्त्र में उनको स्वीकार किया गया है, तथापि जिज्ञासा आदि अनुमान के ही अंग हैं, इसलिये वे अनुमान में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, अतः उनका पृथक् उपदेश नहीं किया। इस प्रसंग के अनन्तर यह सन्दर्भ प्रारम्भ होता है। जिसका अभिप्राय यह है, कि जिज्ञासा आदि के सम्बन्ध में उक्त कथन के अतिरिक्त यह भी बात है, कि तन्त्रान्तर में विन्ध्यवास आदि आचार्यों ने इसका उपदेश किया हुआ है, और वे आचार्य हमारे लिये प्रमाण हैं। इसलिये यहां जिज्ञासा आदि का उपदेश करने की आवश्यकता नहीं। यह कथन प्रथम सन्दर्भ में समाप्त होता है। इसीके आधार पर द्वितीय सन्दर्भ में यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है, कि यदि तन्त्रान्तर में विन्ध्यवासी आदि आचार्यों के द्वारा जिज्ञासा आदि का उपदेश होने से यहां [इन कारिकाओं में] उनका निर्देश नहीं किया गया, तो फिर तन्त्रान्तर में तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का भी उपदेश किया गया है, उनको भी यहां निर्दिष्ट न करना चाहिये। तन्त्रान्तर में जिस प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का उपदेश किया गया है, उसको युक्तिदीपिका में 'श्रोत्रादिवृत्तिः' यहां से लेकर 'आप्तवचनम्' यहां तक के उद्धृत सन्दर्भ से प्रदर्शित किया है।

इस प्रसंग में एक और आशंका इस रूप में उपस्थित की जा सकती है—यह निश्चित मत है, कि विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण से अर्वाचीन है। तब विन्ध्यवासी के तन्त्रान्तर में जिज्ञासा आदि का उपदेश हो जाने के कारण ईश्वरकृष्ण ने अपने ग्रन्थ में उनका निर्देश नहीं किया, यह कैसे कहा जा सकता है। ईश्वरकृष्ण के समय तो विन्ध्यवासी का ग्रन्थ था ही नहीं। इसप्रकार युक्तिदीपिकाकार का यह कथन असंगत ही कहा जा सकता है। परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। यद्यपि युक्तिदीपिकाकार से विन्ध्यवासी प्राचीन है, और विन्ध्यवासी का ग्रन्थ भी उसके सन्मुख प्रतीत होता है, इसी संस्कार के कारण प्रौढिवाद से यह समाधान भी उसने कर दिया। परन्तु इसके असामञ्जस्य को युक्तिदीपिकाकार समझता था, और वह जानता था, कि आचार्य विन्ध्यवास के ग्रन्थ पर, ईश्वरकृष्ण का पदार्थोपदेश अथवा अनुपदेश आधारित नहीं है, इसीलिये इस उक्त समाधान की उपेक्षा करके उसने चौथे पृष्ठ की १७वीं पंक्ति से 'किञ्चान्यत्' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा उक्त आशंका का वास्तविक समाधान किया है।

[2] युक्तिदीपिका के इस प्रसंग में 'तन्त्रान्तर' पद का अभिप्राय, सांख्य के अन्तर्गत सम्प्रदायविशेष के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ से है। वार्षगण्य के, अथवा उसके अनुयायी विन्ध्यवास के ग्रन्थ के लिये इस पद का प्रयोग अत्यन्त उचित है।

इत्यादि प्रमाणों का भी उपदेश किया गया है। इससे सिद्ध है कि युक्तिदीपिकाकार ने यहां विन्ध्यवास के ही प्रत्यक्षादि लक्षणों का निर्देश किया है। इनमें से प्रत्यक्षलक्षण के सम्बन्ध में हम संख्या (२) पर विवेचना कर चुके हैं। अब अनुमान-लक्षण के सम्बन्ध में दोनों आचार्यों (वार्षगण्य और विन्ध्यवास) के लेखों की तुलना उपस्थित की जाती है। युक्तिदीपिकाकार के उक्त सन्दर्भ के आधार पर—

"*सम्बन्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम्*"

यह अनुमान का लक्षण विन्ध्यवासी-निर्दिष्ट सिद्ध होता है। उद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक [१।१।५] में इस अनुमान-लक्षण का प्रत्याख्यान किया है। उद्योतकर का लेख इसप्रकार है—

"*एतेन—सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानमिति लक्षणं* प्रत्युक्तम्।"

इस पर टीका करते हुए वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में लिखा है—

"*सम्प्रति सांख्यीयमनुमानलक्षणं दूषयति—एतेनेति।*"

यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने यहां सामान्य सांख्य पद का प्रयोग किया है। परन्तु इससे पहले ही सूत्र [१।१।४] पर 'श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्' इस प्रत्यक्षलक्षण का प्रत्याख्यान करते समय इसको वार्षगण्यकृत बताया है। इसलिये यह अनुमानलक्षण भी उद्योतकर की दृष्टि से वार्षगण्यकृत ही होना चाहिये। क्योंकि वार्षगण्य भी अति प्राचीन सांख्याचार्य हैं, इसलिये वाचस्पति मिश्र का साधारण रूप में 'सांख्य' पद का प्रयोग भी अनुचित या अयुक्त नहीं कहा जा सकता। तथा वाचस्पति मिश्र यह समझता है, कि उद्योतकर ने सांख्य के अन्यतम आचार्य वार्षगण्य के अनुमानलक्षण का ही खण्डन किया है।

इसके अतिरिक्त एक और स्थल में भी इसी से मिलते जुलते अनुमान लक्षण का विन्ध्यवासी के नाम से उल्लेख किया गया है।

"*एतच्च यथोक्तं—प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धानुमानं विशेषतोदृष्टमनुमानं—इत्येवं विन्ध्यवासिना गदितम्*[१]।"

यद्यपि इस लक्षण के पदों की आनुपूर्वी में कुछ भेद है, परन्तु अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं आता। युक्तिदीपिका-निर्दिष्ट लक्षण में 'प्रत्यक्ष' पद नहीं है, न्यायवार्त्तिक में प्रत्यक्ष पद है, और पञ्जिका में भी। इससे भी अर्थ में कोई भेद नहीं आता। फलतः यह निश्चित होजाता है, कि विन्ध्यवास ने वार्षगण्य के अनुमानलक्षण को भी स्वीकार किया है। ईश्वरकृष्ण का अनुमानलक्षण [सांख्यकारिका ५], विन्ध्यवासी के अनुमानलक्षण से भिन्न है।

---

[१] शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह की टीका पञ्जिका (गायकवाड़ ओरियण्टल संस्कृत सीरीज़—बड़ौदा), पृ० ४२३, पं० २२। 'विशेषतोदृष्टमनुमानम्' की तुलना कीजिये' श्लोकवार्त्तिक औत्पत्तिक सूत्र के अनुमान परिच्छेद का १४३वां श्लोक—

"सन्दिह्यमानसद्भाववस्तुबोधात् प्रमाणतः। विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना॥"

इन भेदों के अतिरिक्त ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासी का प्रसिद्ध मतभेद, **आतिवाहिक शरीर (अन्तराभव देह=सूक्ष्म शरीर)** के सम्बन्ध में है। विन्ध्यवासी **आतिवाहिक शरीर** नहीं मानता।

अन्तराभवदेहस्तु नेष्यते विन्ध्यवासिना। [श्लोकवार्तिक]

विन्ध्यवासिनस्तु..... नास्ति सूक्ष्मशरीरम्। [युक्तिदीपिका पृ० १४४]

इसके विपरीत ईश्वरकृष्ण सूक्ष्मशरीर को स्वीकार करता है। देखें, कारिका ३९-४०। इन भेदमूलक प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित होता है, कि ईश्वरकृष्ण, विन्ध्यवासी से सर्वथा भिन्न व्यक्ति था। इसलिये डॉ० तकाकुसु और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक[1] का यह मत, कि ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासी एक ही व्यक्ति के नाम हैं, सर्वथा असंगत है।

इसके अतिरिक्त उक्त प्रमाणों के आधार पर हमने यह भी स्थिर किया है, कि आचार्य विन्ध्यवास, सांख्यान्तर्गत वार्षगण्य सम्प्रदाय का अनुयायी था। ऐसी स्थिति में वार्षगण्य, विन्ध्यवास का साम्प्रदायिक गुरु निश्चित है। इसी आधार पर परमार्थ का लेख संभव हो सकता है। श्रीयुत डा० तकाकुसु ने जो वार्षगण्य को विन्ध्यवास का अध्यापक बताया है, वह सर्वथा असंगत और ऐतिहासिक आधार से हीन है। इसीप्रकार श्रीयुत डा० तकाकुसु की भ्रान्ति के आधार पर जो श्रीयुत डा० श्रीपाद कृष्ण बैल्वलकर महोदय ने वार्षगण्य को विन्ध्यवास का अध्यापक समझकर उसको ईश्वरकृष्ण से अर्वाचीन[2] माना है, वह भी असंगत है। वार्षगण्य, ईश्वरकृष्ण से पर्याप्त प्राचीन आचार्य है। इसका काल, महाभारत युद्ध काल के आस पास में निश्चित[3] किया जा सकता है। इससे यह भी परिणाम स्पष्ट होता है, कि ईश्वरकृष्ण ने जिस षष्टितन्त्र के आधार पर अपनी कारिकाओं की रचना की है, उस षष्टितन्त्र का रचयिता वार्षगण्य नहीं हो सकता। इसका उल्लेख हम 'कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र' नामक प्रकरण में भी कर आये हैं।

ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति के ही अपर नाम 'कनकसप्तति' 'सुवर्णसप्तति' आदि हैं—

श्रीयुत डा० श्रीपाद कृष्ण बैल्वलकर महोदय ने एक बात और लिखी है, कि "ईश्वरकृष्ण रचित 'सांख्यसप्तति' का हिरण्यसप्तति' अथवा 'कनकसप्तति' नाम नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। चीनी यात्रियों के वर्णन इस सम्बन्ध में किसी विशुद्ध सत्य को उपस्थित नहीं करते, उनमें किस्से कहानियों का पर्याप्त पुट है। इसलिये यही ठीक है कि 'सांख्यसप्तति' से 'हिरण्यसप्तति' पृथक् रचना है। भोजकृत राजमार्तण्ड नामक योगसूत्रवृत्ति

[1] देखिये—गीतारहस्य, 'विश्वकी रचना और संहार' नामक प्रकरण, सन् १९२८ ई० के षष्ठ संस्करण के १८६ पृष्ठ की टिप्पणी।

[2] Clearly therefore Vindhyavasa and his teacher Vrisa or Varsaganya have to be ranked amongst the successors of Isvara Krisna'

[Bhandar. Com. Vol. P.177]

[3] इसी ग्रन्थ के 'सांख्य के प्राचीन आचार्य' नामक प्रकरण में वार्षगण्य का यह काल निश्चित किया गया है।

में ४।२२ सूत्र पर विन्ध्यवास के दो वाक्य उद्धृत हैं, जिनकी रचना से प्रतीत होता है, कि वह व्याख्याग्रन्थ होगा। इसलिये यह अधिक सम्भव है, कि ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं पर विन्ध्यवास ने 'हिरण्यसप्तति' नामक व्याख्या लिखी हो। ग्रन्थों की सूची बनाने वाले अथवा अन्य लेखकों के प्रमाद के कारण मूलग्रन्थ पर टीकाकार का नाम और टीका ग्रन्थ पर मूल ग्रन्थकार का नाम लिखे जाने से ही इन ग्रन्थों को एक समझे जाने का भ्रम हो गया[1]।"

श्री डा० वेल्वलकर महोदय के इन विचारों के सम्बन्ध में हमारा निवेदन है, कि उक्त अनुमानों के आधार पर सांख्यसप्तति और हिरण्यसप्तति को पृथक् ग्रन्थ नहीं माना जासकता। यह संभव है, कि चीनी यात्रियों के वर्णनों में कुछ कूड़ा कर्कट भी हो, पर अनुसन्धानकर्त्ता का यह कर्त्तव्य है, कि उसे साफ कर के उसमें से सत्य तत्त्व को छांट ले। कुछ किस्से कहानियों के कारण, उन वर्णनों की सत्य बातों को भी उपेक्षित नहीं किया जासकता। कुई-ची [Kuei chi] ने यदि यह वर्णन किया है, कि इस ग्रन्थ के रचयिता को तीन लाख स्वर्ण, पारितोषिक अथवा भेंट रूप में प्राप्त हुआ था, इसलिए इस ग्रन्थ का नाम 'हिरण्यसप्तति' होगया, इस बात को प्रकट करता है, कि इस भेंट के मिलने से पूर्व उस ग्रन्थ का वास्तविक नाम उसके विषय के अनुसार अवश्य और कुछ होगा, तब यह घटना ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति के सम्बन्ध में संभव कही जासकती है। श्रीयुत डा० वेल्वलकर महोदय का यह कथन, कि सांख्य के मौलिक सिद्धान्तों में से एक 'हिरण्य' अथवा 'हिरण्यगर्भ' के आधार पर इस ग्रन्थ का नाम 'हिरण्यसप्तति' कहा जासकता है, असंगत है। क्योंकि सांख्य में इसप्रकार का कोई भी सिद्धान्त अथवा प्रतिपाद्य विषय नहीं है। फिर इस नाम के लिये वह आधार कैसा? इसलिये कुई-ची का वर्णन अधिक संभव है, और यह अनुमान ठीक होसकता है, कि 'सांख्यसप्तति' के रचयिता को स्वर्ण भेंट प्राप्ति का साधन होने के कारण इसी ग्रन्थ के 'हिरण्यसप्तति' 'कनकसप्तति' अथवा 'स्वर्णसप्तति' आदि नाम भी पड़गये हों। इन नामों के होने मे एक और भी कारण संभावना किया जासकता है। और वह यह है, कि इस सप्तति में कपिल के ही मतों का प्रतिपादन किया गया है, कपिल पद उस वर्ण को भी प्रकट करता है, जो स्वर्ण में है। इस साम्य से संभव है, इसका नाम कनकसप्तति होगया हो, और फिर कनक के पर्यायवाची पदों का दौर होजाना साधारण बात है, स्वर्ण, सुवर्ण, हिरण्य, हेम जो जिसको अच्छा लगा, जोड़ दिया। परन्तु सर्वप्रथम कनक पद का सप्तति से सम्बन्ध, कपिल के सम्बन्ध पर ही आधारित प्रतीत होता है। सांख्यसप्तति के ही कनकसप्तति आदि नाम हैं, इसके लिये और साक्षात् प्रमाण भी हम उपस्थित करते हैं।

(क) अभीतक विन्ध्यवास का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है, उसके नाम से जो वाक्य या सन्दर्भ जहां तहां दार्शनिक ग्रन्थों में बिखरे हुए मिलते हैं, वे सब गद्य रूप हैं। योग

---

[1] Bhandarkar, Com Vol.,PP.176-177.

सूत्रवृत्ति के जिस उद्धरण [1] का पीछे उल्लेख किया गया है, उसकी व्याख्याकार की भाषा बताकर श्रीयुत डा० बैल्वलकर महोदय ने यह प्रकट किया है, कि विन्ध्यवास का ग्रन्थ 'सांख्यसप्तति' की व्याख्या होगा। पर वस्तुतः इन वाक्यों से, तथा हमने जो [2] सन्दर्भ विन्ध्यवास के संगृहीत किये हैं, उनसे भी बलात् इसप्रकार की कोई भावना नहीं बनती, कि विन्ध्यवास का ग्रन्थ व्याख्या-ग्रन्थ होगा, और वह भी सांख्यसप्तति का। कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थकार इसी प्रकार की रचना कर सकता है। हमें तो यही स्पष्ट प्रतीत होता है, कि उसने अपने विचारों के अनुसार सांख्य पर स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि उसके ग्रन्थ का नाम हमें आज भी मालूम नहीं है। यह निश्चित है, कि उसका नाम 'हिरण्यसप्तति' आदि अवश्य नहीं था।

(ख)—यदि यह मान भी लिया जाय, कि विन्ध्यवास का ग्रन्थ, सांख्यसप्तति की व्याख्या था, तब यह तो श्रीयुत डा० बैल्वलकर महोदय को भी मानना होगा, कि वह व्याख्या गद्य में लिखी गई थी, क्योंकि राजमार्तण्ड से विन्ध्यवास के जो वाक्य प्रदर्शित किये गये हैं, वे गद्य रूप हैं। ऐसी स्थिति में उस ग्रन्थ के 'हिरण्यसप्तति' नाम का असामञ्जस्य अवश्य विचारणीय होगा। यदि यह कहा जाय, कि 'सप्तति' की व्याख्या होने के कारण इसके साथ भी 'सप्तति' पद लगा दिया गया, तो स्वर्ण भेंट-प्राप्ति निमित्तक 'हिरण्य' पद के साथ 'सप्तति' पद का सम्बन्ध स्थापित करना अशक्य हो जायगा, और नाम का असामञ्जस्य उसी तरह चिन्त्य होगा। ऐसी स्थिति में यदि नाम सामञ्जस्य के लिये विन्ध्यवास के व्याख्याग्रन्थ को सप्तति आर्याओं में माना जाय, तब इस बात का निश्चय ऐसे ग्रन्थ [अथवा उसके कुछ अंश] के उपलब्ध हो जाने पर ही हो सकता है। क्योंकि अभी तक जितने भी वाक्य विन्ध्यवास के नाम से उपलब्ध हुए हैं, वे सब गद्यरूप हैं।

(ग)—वसुबन्धु का समय श्रीयुत डा० बैल्वलकर महोदय ने ईसा के तृतीय शतक का अन्त [3] [३०० A. D.] माना है। विन्ध्यवास उसका वृद्धसमकालिक था। ऐसी स्थिति में विन्ध्यवास का काल ईसा के तृतीय शतक के पूर्वार्द्ध [२५० A. D.] के समीप माना जा सकता है, इससे और अधिक पूर्व नहीं। जैन ग्रन्थ अनुयोगद्वार सूत्र का समय आधुनिक विद्वानों ने ईसा का प्रथम शतक [१०० A. D.] माना है, अर्थात् इस समय के अनन्तर इस ग्रन्थ की रचना नहीं मानी जा सकती। अब हम देखते हैं, कि विन्ध्यवास और अनुयोगद्वार सूत्र के काल में १५० वर्ष का अन्तर है। अर्थात् उक्त सूत्रों की रचना के इतने वर्ष बाद विन्ध्यवास हुआ। इस ग्रन्थ के ४१ वें सूत्र में कुछ जैनेतर ग्रन्थों के नामों का उल्लेख है। उनमें एक नाम 'कनगसत्तरी' भी है,

---

१ "सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्। बिम्बे प्रतिबिम्बमानच्छायासदृशच्छायान्तरोद्भवः प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते।" [योगसूत्र, ४।२२] पर।

२ इसी ग्रन्थ के 'सांख्य के प्राचीन आचार्य' नामक प्रकरण के अन्त में विन्ध्यवास का वर्णन किया गया है। उसी प्रसंग में उसके नाम से उपलब्ध सन्दर्भों का यथाशक्य संग्रह कर दिया है।

३ Bhandarkar, Com. Vol., P. 178.

जिसका संस्कृत रूप 'कनकसप्तति' है, 'कनकसप्तति' 'स्वर्णसप्तति' अथवा 'हिरण्यसप्तति' ये एक ही ग्रन्थ के नाम हैं, और वह ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण का 'सांख्यसप्तति' है। विन्ध्यवास तो उस समय तक उत्पन्न ही नहीं हुआ था। ऐसी स्थिति में उसके ग्रन्थ का यहां उल्लेख होना असंभव है।

क्या ईश्वरकृष्ण, विन्ध्यवास से पश्चाद्वर्त्ती आचार्य था—

(घ) 'जर्नल ऑफ् इण्डियन हिस्ट्री' भाग ६ पृ० ३६ पर, श्रीयुत विनयतोष भट्टाचार्य [जो आधुनिक संस्करण के अनुसार B. भट्टाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं] का एक लेख प्रकाशित हुआ है। आपने भी अपने लेख में अनेक प्रमाणों के आधार पर ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासी को पृथक् व्यक्ति सिद्ध किया है। परन्तु इसके साथ ही ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवासी का पश्चाद्वर्त्ती आचार्य माना है। इसमें प्रमाण यह उपस्थित किया गया है, कि 'ईश्वरकृष्ण ने सम्पूर्ण सांख्य अर्थों को प्रस्तुत करने के लिये केवल ७२ आर्याओं की संक्षिप्त पुस्तक में तीन आर्या सूक्ष्मशरीर के ही प्रतिपादन में इसीलिये लिखी हैं, कि वह विन्ध्यवास के मत का खंडन करना चाहता है। क्योंकि उसने अपना ग्रन्थ प्राचीन षष्टितन्त्र के अनुसार ही लिखा है, अतः विन्ध्यवास ईश्वरकृष्ण से प्राचीन होना चाहिये। उसने विन्ध्यवास का नाम या उसपर आलोचना इसलिये नहीं लिखी, कि वह परवादों का उल्लेख नहीं करता।'

श्रीयुत भट्टाचार्य के इस विचार से हम सर्वात्मना सहमत हैं, कि ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास पृथक् २ व्यक्ति हैं। परन्तु विन्ध्यवास की अपेक्षा ईश्वरकृष्ण को अर्वाचीन मानना संगत नहीं कहा जासकता। पहले तो यही है, कि सम्पूर्ण तीन [३९-४१] आर्याओं में केवल सूक्ष्मशरीर का उल्लेख नहीं किया गया। उनमें अन्य शरीरों का भी उल्लेख है। सूक्ष्मशरीर का स्वरूप केवल एक (४०) आर्या में वर्णन किया गया है। अस्तु, मान भी लिया जाय, कि तीन आर्याओं में सूक्ष्मशरीर का उल्लेख है, इनमें विषयप्रतिपादन की पूर्णता ही कारण कही जासकती है, खण्डन की भावना नहीं। इस प्रसंग में कोई भी ऐसा बलपूर्वक उल्लेख नहीं है जिससे खण्डन की भावना ध्वनित होती हो, यहां तो साधारण रूप में केवल विषय का प्रतिपादन है, जैसे कि अन्यत्र अन्य विषयों का।

इसके लिये भट्टाचार्य महोदय ने जो युक्ति उपस्थित की है, कि 'ईश्वरकृष्ण ने विन्ध्यवास का नाम या उसपर आलोचना इसलिये नहीं लिखी, कि वह परवादों का उल्लेख नहीं करता' बहुत ही अनुपयुक्त है। ईश्वरकृष्ण ने ७२वीं आर्या में परवादों के उल्लेख न किये जाने का जो निर्देश किया है, वह उन्हीं परवादों के लिये है, जो 'षष्टितन्त्र' में वर्णन किये गये हैं। ईश्वरकृष्ण ने उन्हीं परवादों को अपने ग्रन्थ में छोड़ देने का उल्लेख किया है। यदि भट्टाचार्य महोदय की उक्त युक्ति को इस प्रसंग में ठीक माना जाय, तो इसका अभिप्राय यह निकलता है, कि 'षष्टितन्त्र' में भी विन्ध्यवास के मतका खण्डन होना चाहिये, जो सर्वथा असम्भव है। श्रीयुत भट्टाचार्य ने ईश्वरकृष्ण के उक्त लेख का अनुचित लाभ उठाकर उसका अस्थानमें प्रयोग किया है। क्योंकि वह उन्हीं

परवादों को अपने ग्रन्थ में छोड़ने का निर्देश कर रहा है, जो षष्टितन्त्र में प्रतिपादित हैं। इसलिये वस्तुस्थिति यही कही जासकती है, कि ईश्वरकृष्ण के सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी वर्णन में किसी के भी खण्डन की भावना नहीं है, वहां केवल साधारण रूप में विषय का ही प्रतिपादन है।

इसके अतिरिक्त यह भी है, कि भट्टाचार्य महोदय की यह युक्ति स्वतन्त्र रूप में अपने अर्थ को सिद्ध नहीं करती, और अस्पष्ट भी है। जब कि इसके विपरीत अनेक प्रमाणों से ईश्वरकृष्ण की प्राचीनता सिद्ध है, और विन्ध्यवासी की अपेक्षा तो ईश्वरकृष्ण का व्याख्याकार माठर भी प्राचीन है।

तत्त्वसंग्रह की भूमिका में ईश्वरकृष्ण का वर्णन करते हुए श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने लिखा है, 'क्योंकि माठरने सांख्याचार्यों की सूची में वृषगण अथवा वार्षगण्य का उल्लेख नहीं किया है, केवल इसी आधार पर ईश्वरकृष्ण को वार्षगण्य से प्राचीन नहीं माना जासकता। और माठर के 'प्रभृति' पद से वार्षगण्य का ग्रहण किया जासकता है, और उसके शिष्य विन्ध्यवास का भी। इसलिये केवल इस आधार पर ईश्वरकृष्ण को इतना प्राचीन नहीं माना जासकता, कि वह खीस्ट द्वितीय शतक में हो।'

श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय के इस लेख के सम्बन्ध में हमारा निवेदन है, कि जहां तक ईश्वरकृष्ण और वार्षगण्य की पूर्वापरता का सम्बन्ध है, यह ठीक है, कि माठर की सूची में वार्षगण्य का नाम न होने से वार्षगण्य, ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा अर्वाचीन नहीं कहा जासकता। हम इस बात का पूर्व भी निर्देश कर आये हैं, कि अन्य व्याख्याकारों ने इस शिष्यपरम्परा की सूची में वार्षगण्य का भी उल्लेख किया है। परन्तु माठर के 'प्रभृति' पद से विन्ध्यवासी का भी ग्रहण किये जाने का जो उल्लेख भट्टाचार्य महोदय ने किया है, वह एक भ्रान्ति के ऊपर ही आधारित है। और वह भ्रान्ति यह है, कि ये डा० तकाकुसु के समान वार्षगण्य को विन्ध्यवासी का साक्षात् गुरु अर्थात् अध्यापक समझते हैं। और इसी कारण उन्होंने ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवासी के भी पीछे ला घसीटा है।

हम इस बात का प्रमाणपूर्वक स्पष्ट उल्लेख कर आये हैं, कि विन्ध्यवासी, सांख्य के अन्तर्गत वार्षगण्य सम्प्रदाय का अनुयायी होने के कारण ही वार्षगण्य का शिष्य कहा गया है। इसलिये विन्ध्यवासी के निश्चित समय के साथ वार्षगण्य का गंठजोड़ा नहीं किया जासकता। ऐसी स्थिति में ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा वार्षगण्य के प्राचीन होने पर भी विन्ध्यवास को भी ईश्वरकृष्ण से पूर्व नहीं माना जासकता। श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय का यह कथन भी कल्पना-मात्र है, कि 'वृषगण का साक्षात् शिष्य होने के कारण विन्ध्यवासी का ही दूसरा नाम वार्षगण्य है, अर्थात् विन्ध्यवासी और वार्षगण्य ये नाम एक ही व्यक्ति के हैं।' इसलिये वसुबन्धु और दिङ्नाग के मध्य में ईश्वरकृष्ण का समय मानना भी सर्वथा असंगत है। वसुबन्धु ने ईश्वरकृष्ण के मत का खण्डन नहीं किया, विन्ध्यवासी का ही खण्डन किया है, इसका कारण तो यही

कहा जासकता है, कि विन्ध्यवासी ने ही वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। अपने गुरु के उस अपमान से प्रेरित होकर उसने विन्ध्यवासी का खण्डन किया है। केवल इतने आधार पर ईश्वरकृष्ण के ग्रन्थ का उस समय विद्यमान न होना सिद्ध नहीं किया जासकता।

क्या ईश्वरकृष्ण के काल-निर्णय के लिये, तिब्बती आधार पर्याप्त हैं ?—

श्रीयुत सतीशचन्द्र विद्याभूषण के 'इण्डियन लॉजिक' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ २७४-५ के आधार पर श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने लिखा है, कि तिब्बती लेखों के आधार पर ईश्वरकृष्ण और दिङ्नाग समकालिक सिद्ध होते हैं। तिब्बती लेखों में उनके शास्त्रार्थ और ईश्वरकृष्ण के प्रतिज्ञाभंग की कथा है।

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है, कि ये सब इसप्रकार के तिब्बती लेख, इसी ढंग के कहे जा सकते हैं, जैसे बल्लाल के भोजप्रबन्ध में, भोज के दरबार में उन सब कवियों को इकट्ठा कर दिया गया है, जिनके सम्बन्ध में बल्लाल जानकारी रखते थे। चाहे वे कवि भोज से कितने ही पूर्व हुए हों अथवा पश्चात्। वस्तुतः उनमें ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। विन्ध्यवास ने जब शास्त्रार्थ में प्रसिद्ध बौद्धविद्वान् बुद्धमित्र को परास्त कर दिया, उसके अनन्तर उस पराजय जन्य प्रतिक्रिया से प्रभावित होकर बौद्ध दन्तकथाओं में न मालूम कितने शास्त्रार्थों की कल्पना करडाली गई होगी। और न मालूम कितने वैदिक विद्वानों को प्रतिज्ञा भग का दोषी ठहराया गया होगा। इन लचर आधारों पर इतिहास का शोधन नहीं किया जा सकता। उक्त तिब्बती लेखों की तथ्यता के कोई भी प्रामाणिक आधार नहीं हैं। क्या आधुनिक विचारक, भारतीय सम्पूर्ण संस्कृत लेखों की इसी रूप में ऐतिहासिक तथ्यता स्वीकार कर सकते हैं ? दूर के ढोल हमेशा ही सुहावने लगा करते हैं। विन्ध्यवास के निश्चित काल [२५० A. D.] से ईश्वरकृष्ण की प्राचीनता अन्य अनेक आधारों पर प्रमाणित की जा चुकी है, और विन्ध्यवासी से तो ईश्वरकृष्ण की रचना सांख्यसप्तति का व्याख्याकार माठर भी पुराना है।

विन्ध्यवासी और व्याडि—

यहां विन्ध्यवासी के प्रसंग से हम व्याडि के सम्बन्ध में भी कुछ निवेदन कर देना चाहते हैं। कोशकारों ने व्याडि को विन्ध्यवासी लिखा है। इससे आधुनिक अनेक विद्वानों को यह भ्रम हो गया है, कि सांख्याचार्य विन्ध्यवासी और व्याडि एक [1] ही व्यक्ति थे।

श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय के इस विचार से हम सर्वथा सहमत हैं, जो उन्होंने अपने लेख में व्याडि और सांख्याचार्य विन्ध्यवासी को पृथक् व्यक्ति माना है। उन्होंने अपने विचार का आधार कुमारजीव और परमार्थ के लेखों [वसुबन्धुचरित] को माना है, और उनके मुकाबले

[1] चौखम्बा संस्कृत सीरीज् बनारस से प्रकाशित माठरवृत्ति की भूमिका, श्री तनुसुखराम शर्मा लिखित, पृष्ठ ३, ४ पर ।

में कोशों को अप्रामाणिक तथा असंगत बताया है।

हमारा इस सम्बन्ध में विचार है, कि इन दोनों आचार्यों को पृथक् मानने पर भी कोशकारों का कथन असंगत नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि सांख्याचार्य विन्ध्यवासी का वास्तविक नाम रुद्रिल [1] था। इस सम्बन्ध में श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने भी अपने लेख में अच्छा प्रकाश डाला है। यह सांख्याचार्य रुद्रिल, विन्ध्य में निवास करने के कारण ही विन्ध्यवास अथवा विन्ध्यवासी नाम से प्रसिद्ध था। इसीप्रकार व्याडि नामक आचार्य भी अपने समय में विन्ध्य पर निवास करने के कारण विन्ध्यवासी नाम से प्रसिद्ध होगा। यह व्याडि व्याकरण शास्त्र का आचार्य था, सांख्य का नहीं। कोशकारों ने व्याडि को विन्ध्यवासी, विन्ध्य में निवास करने के कारण ही लिखा है। कोशों के लेखों से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। उनके लेख हैं—

(१)—'*अथ व्याडिर्विन्ध्यस्थो*' त्रिकाण्डशेष २।३।२४-५।

(२)—'*अथ व्याडिर्विन्ध्यवासी*[2]' अभिधानचिन्तामणि, हेमचन्द्रकृत, ३।५।६

(३)—'*अथ व्याडिर्विन्ध्यनिवास्यपि*' 'केशव-कल्पद्रुम' गायकवाड़ संस्करण पृष्ठ ८३।

इन कोशों में पृथक् २ 'विन्ध्यस्थ' 'विन्ध्यवासी' और 'विन्ध्यनिवासी' इन तीन पदों का निर्देश किया गया है। जिनसे केवल एक अर्थ को ही प्रधानता द्योतित होती है। संभव है, विन्ध्य में कोई ऐसा आश्रम अथवा स्थान [नगर आदि] होगा, जहां पर प्रायः चिरकाल तक विद्वानों का निवास रहा होगा। और जो विद्वान् वहां का निवासी[2] जनता में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर सका, लोक में उसका उस नाम से भी व्यवहार होता रहा होगा। इसी आधार पर कोशकारों ने व्याडि को विन्ध्यवासी लिख दिया है। इससे रुद्रिल के विन्ध्यवासी होने का निषेध अथवा विरोध नहीं होता। व्याडि के साथ पठित विन्ध्यवासी पद से, रुद्रिल को समझना असंगत है। कोशों में इस प्रकार की कोई ध्वनि नहीं है। यदि कोशकार व्याडि को रुद्रिल, अथवा रुद्रिल को व्याडि बतावें, तब वह कथन अवश्य असंगत होगा। परन्तु कोश के उक्त स्थलों में ऐसा नहीं है। इसलिये हम इससे यही परिणाम निकाल सकते हैं, कि विन्ध्य में निवास करने के कारण अपने २ समय में अनेक विद्वान् विन्ध्यवासी पद से प्रसिद्ध होते रहे हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख ग्रंथों में मिलता है। जिनमें ये दो विन्ध्यवासी तो प्रसिद्ध ही हैं—

(१)—व्याडि, विन्ध्यवासी, व्याकरण शास्त्र का आचार्य, ख्रीस्ट से अनेक शतक पूर्व इसका प्रादुर्भाव हुआ था।

(२)—रुद्रिल विन्ध्यवासी, वार्षगण्य सम्प्रदाय का सांख्याचार्य, ख्रीस्ट २५० के लगभग।

[1] यदेव दधि तत्क्षीरं यत्क्षीरं तद्दधीति च। वदता रुद्रिलेनैवं ख्यापिता विन्ध्यवासिता॥

तत्त्वसंग्रह, पञ्जिका टीका, पृष्ठ २२

[2] अभिधानचिन्तामणि की टीका में 'विन्ध्यवासी' पद का अर्थ 'विन्ध्ये वसति विन्ध्यवासी' किया हुआ है। जिससे हमारे अभिप्राय की पुष्टि होती है।

(३)—एक और तीसरे विन्ध्यवासी का उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने व्यासभाष्य की व्याख्या तत्त्ववैशारदी में कैवल्यपाद के प्रथम सूत्र पर किया है। इसी जन्म में रसायन के प्रयोग से सिद्धि प्राप्त कर लेने के प्रसंग में लिखा है—

'इहैव वा रसायनोपयोगेन। यथा माण्डव्यो मुनिः रसोपयोगाद् विन्ध्यवासी इति।'

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि माण्डव्य नामक मुनि ने, जो विन्ध्यवासी कहलाता था, रसायन के उपयोग से सिद्धि को प्राप्त किया। इससे तीसरे माण्डव्य विन्ध्यवासी का पता लगता है। इसप्रकार व्याकरण के आचार्य व्याडि को विन्ध्यवासी विशेषण के आधार पर सांख्याचार्य रुद्रिल समझना सर्वथा असंगत है।

सन्मतितर्क के विद्वान् सम्पादक महोदय ने पृष्ठ ५३३ पर टिप्पणी में लिखा है—

"आचार्यहेमचन्द्रयादवप्रकाशौ त्वेनं 'व्याडि' इति नाम्नापि प्रत्यभिज्ञापयतः"

और इसके आगे कोषों के पूर्वोक्त सन्दर्भ उद्धृत किये हुए हैं। आपने भी कोशों का यही अभिप्राय समझा है, कि सांख्याचार्य विन्ध्यवासी को 'व्याडि' नाम से कहा गया है। परन्तु उपर्युक्त विवेचन से इस भ्रान्ति का स्पष्टीकरण हमने कर दिया है।

'सांख्यसप्तति' 'सुवर्णसप्तति' आदि नाम एक ग्रन्थ के होने पर भी, ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास एक नहीं होसकते—

इसप्रकार सांख्यसप्तति और हिरण्यसप्तति के एक ग्रन्थ होने का निश्चय होजाने पर भी ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास का एक होना सिद्ध नहीं होसकता। क्योंकि इनके समय में बहुत अन्तर है, और इनकी रचना सर्वथा पृथक् २ हैं। आज तक भिन्न २ ग्रन्थों में विन्ध्यवासी के नाम से जो उद्धरण और मत हमें उपलब्ध हुए हैं, उनमें से एक भी ईश्वरकृष्ण के ग्रन्थ में नहीं है। इतना ही नहीं, प्रत्युत दोनों के मतों में परस्पर विरोध[1] पाया जाता है। यदि ये दोनों एक ही व्यक्ति होते, तो ऐसा होना असंभव था। इसलिये जिस किसी व्यक्ति ने भी ऐसा लिखा है, कि वार्षगण्य के शिष्य ने 'हिरण्यसप्तति' नामक ग्रन्थ की रचना की, वह अवश्य अविश्वसनीय है, जैसा कि श्रीयुत डा० बैल्वलकर महोदय[2] ने भी लिखा है। वस्तुतः प्रतीत यह होता है, कि वसुबन्धुचरित का लेखक परमार्थ इस बात का विवेचन न कर सका, कि 'हिरण्यसप्तति' का रचयिता वार्षगण्य का शिष्य था, अथवा कपिल का। संभवतः वार्षगण्य के भी प्राचीन सांख्याचार्य होने के कारण उसने ऐसा लिख दिया हो, उसके इस अविवेक के कारण पश्चाद्वर्त्ती विद्वानों को यह भ्रम होगया, कि 'हिरण्यसप्तति' का रचयिता वार्षगण्य का शिष्य कदाचित् कोई अन्य व्यक्ति हो। अथवा यह भी संभव है, कि परमार्थ के ग्रन्थ के

[1] देखिये, इसी प्रकरण का पिछला प्रसंग, जिसमें विन्ध्यवास के मतों का उल्लेख किया गया है, वे सब ही मत, ईश्वरकृष्ण के मत से विरुद्ध हैं।

[2] Bhandarkar Com. Vol., P. 175.

समझने में उन आधुनिक विद्वानों ने भूल की हो, जिन्होंने 'हिरण्यसप्तति' के रचयिता को वार्षगण्य का शिष्य बताया है। ऐसी स्थिति में 'सांख्यसप्तति' तथा 'हिरण्यसप्तति' के एक होने पर भी ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास को एक व्यक्ति नहीं कहा जासकता।

ईश्वरकृष्ण का काल, ख्रीस्ट शतक प्रारम्भ होने से कहीं पूर्व है—

श्रीयुत डा० श्रीपादकृष्ण बैल्वलकर महोदय के लेखानुसार विन्ध्यवास का समय ईसा की तृतीय शताब्दी का पूर्वार्द्ध (२५० A.D.) स्थिर किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि अपने समय में विन्ध्यवास सांख्य और अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रकाण्ड तथा उद्भट विद्वान था, वह सांख्यसिद्धान्तों का अनुयायी था, उसने स्वसामयिक बौद्ध आदि विद्वानों से शास्त्रार्थ करके उनको पराजित किया, और सांख्यसिद्धान्तों की श्रेष्ठता को स्थापित किया। यह कहना अत्युक्ति न होगा, कि वेदान्त के लिये जो कार्य अपने समय में आदि शंकराचार्य ने किया, वही कार्य सांख्य के लिये विन्ध्यवास ने अपने समय में किया। विन्ध्यवास के इस प्रबल संघर्ष और आघात के कारण, प्रतीत होता है, विद्वानों में सांख्य की चर्चा ने धीरे २ प्रसार पाया, और सांख्य के अध्ययनाध्यापन की प्रवृत्ति में उन्नति होने के कारण समय पाकर उसके अवान्तर सम्प्रदायों में एक विशेष जागृति उत्पन्न हो गई। अनुमानतः विन्ध्यवास की मृत्यु के लगभग दो शतक अनन्तर यह अवस्था बन चुकी होगी। यह समय वह था, जब कि ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति पर 'युक्तिदीपिका' जैसी व्याख्या लिखी गई। जिसमें सांख्य सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों के मतों का उल्लेख किया गया है। उस समय इनकी चर्चा का विशेष प्राबल्य होगा। इसलिये 'युक्तिदीपिका' जैसी व्याख्या में इनका समावेश तथा विचार करना स्वाभाविक था। माठर के समय में यह सब बात न होने से प्रतीत होता है, कि माठर अवश्य विन्ध्यवास से प्राचीन होगा। उसका ग्रन्थ सांख्यसप्तति की केवल व्याख्या है, जब कि युक्तिदीपिका में सांख्य के अवान्तर संप्रदायों का विशद विवेचन उपलब्ध होता है।

यह कहना तो युक्त न होगा, कि माठर का समय युक्तिदीपिका से पर्याप्त अर्वाचीन क्यों न मान लिया जाय, जब कि सांख्य के अवान्तर सम्प्रदायों के विषय में, पठन-पाठन प्रणाली के पुनः नष्टप्राय हो जाने के कारण, लोग प्रायः सब कुछ भूल चुके थे। क्योंकि युक्तिदीपिकाकार ने स्वयं अनेक स्थलों पर माठर के मतों का उल्लेख किया है, और कहीं २ उनका खण्डन भी किया है। इसलिये विन्ध्यवास की अपेक्षा माठर का प्राचीन होना ही अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। इस स्रोत से भी माठर का लगभग वही समय आता है, जो हम इन्हीं पृष्ठों में पूर्व निश्चय कर आये हैं; अर्थात् ईसा की प्रथम शताब्दी का प्रारम्भ। ऐसी स्थिति में ईश्वरकृष्ण[1] का समय ईसवी शतक के प्रारम्भ होने से कहीं पूर्व चला जाता है।

---

[1] श्रीयुत डा० बैल्वलकर महोदय ने ईश्वरकृष्ण का समय ईसा के प्रथम शतक के लगभग अनुमान किया है। Bhandarkar Com. Vol., P. 178.

माठर का उक्त समय माने जाने के लिये अन्य आधार—

एक और स्रोत से भी माठर का समय खीस्ट शतक के आरम्भ होने के आस पास ही सिद्ध होता है। यास्कीय निरुक्त पर दुर्गाचार्य की वृत्ति है। दुर्गाचार्य ने अपनी वृत्ति में सांख्यों का एक सन्दर्भ इसप्रकार उद्धृत किया है —

"सांख्यास्तु तमःशब्देन प्रधानं साम्यापन्नं गुणत्रयमुच्यमानमिच्छन्ति । ते हि पारमर्षं सूत्रमधीयते-'तम एव खल्विदमग्र आसीत्तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽभ्यवर्त्तत' इति ।" [७।३]

यहां पर जो पंक्ति दुर्गने पारमर्ष सूत्र के नाम से उद्धृत की है, वह माठरवृत्ति में उक्त पाठ की अत्यधिक समानता के साथ अनुद्धृत रूप में ही उल्लिखित है। ७२वीं आर्या की अवतरणिका में माठर इसप्रकार पाठ आरम्भ करता है—

"तन्त्रमिति व्याख्यायते । तम एव खल्विदमग्र आसीत् ।[1] तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञोऽभ्यवर्त्तत प्रथमम्[2] । तम इत्युच्यते प्रकृतिः । पुरुषः क्षेत्रज्ञः ।"

माठर के लेख से प्रतीत होता है, कि वह इन पंक्तियों के द्वारा 'तन्त्र' पद का व्याख्यान कर रहा है। 'तमस्' ही यह पहले था, तमस् की विद्यमानता में क्षेत्रज्ञ प्रथम वर्त्तमान था। 'तमस्' प्रकृति कही जाती है, पुरुष क्षेत्रज्ञ। इन वाक्यों से माठरने 'तन्त्र' पद का व्याख्यान किया है। इस लेख से 'तन्त्र' पद के निर्वचन का एक विशेष प्रकार ध्वनित होता है। 'तमस्' शब्द का (तम) और 'क्षेत्रज्ञ' शब्द का 'त्र' वर्ण लेकर 'तन्त्र' पद पूरा होता है, तथा इससे यह अर्थ प्रकट होजाता है, कि जिसमें मुख्यतया प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का विवेचन हो, वह 'तन्त्र' है। इस प्रकार और भी अनेक पदों के निर्वचन[3] माठर ने अपनी व्याख्या में किये हैं।

दुर्ग ने अपनी व्याख्या में उक्त पारमर्ष सूत्र को यह प्रकट करने के लिये उद्धृत किया है, कि 'तमस्' शब्द प्रकृति अथवा प्रधान का पर्याय है। जितना सूत्र दुर्ग ने उद्धृत किया है, उस में यद्यपि यह उल्लेख नहीं है, कि 'तमस्' शब्द प्रधानपर्याय है, परन्तु दुर्ग इस बात को अवश्य जानता है, कि इस पंक्ति में 'तमस्' शब्द, प्रकृति के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। यह बात माठर वृत्ति में उक्त पंक्ति के अनन्तर ही लिखी हुई है। सांख्यशास्त्र में साधारण तौर पर 'तमस्' पद,

---

1 तुलना करें—'तमो वा इदमग्र आसीदेकम्' मैत्रायणी उपनिषद्, ५।२॥ और 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' ऋग्वेद, १०।१२६।३॥

2 यह पाठ 'सुवर्णसप्ततिशास्त्र' नाम से मुद्रित चीनी अनुवाद के संस्कृत रूपान्तर के आधार पर दिया गया है। देखें पृ०१८, टिप्पणी नं० १। माठरवृत्ति की मुद्रित पुस्तक में 'अभिवर्त्तते प्रथमम्' पाठ है।

3 देखिये २२ कारिका की व्याख्या में 'अहंकार' और 'भगवान्' पदों का निर्वचन। पुनः कारिका ७० में 'पवित्र' और 'भगवान्' पदों का निर्वचन। २३ कारिका की व्याख्या में 'ब्रह्मचारी' पदका निर्वचन। २२ कारिका की व्याख्या में इसप्रकार के निर्वचनों को प्रामाणिक बतलाने के लिये निरुक्त का एक वाक्य भी उद्धृत किया गया है।

सत्त्व रजस् तमस् इन तीन गुणों में से अन्तिम गुण का ही बोधक होता है। साम्यावस्था-पन्न गुणत्रय के लिये 'तमस्' पद का प्रयोग एक विशेष कथन है। जिसका उल्लेख माठर अपनी व्याख्या में करता है। [1] उसीके आधार पर दुर्ग के लेख का सामञ्जस्य होसकता है। इससे प्रतीत होता है कि दुर्ग ने इस लेख को अवश्य देखा होगा।

चीनी अनुवाद के संस्कृत रूपान्तर में, 'तमस्' शब्द प्रकृति का पर्याय है, इस बात का उल्लेख नहीं है। माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की परस्पर तुलना करके अभी आगे हम इस बात को स्पष्ट करेंगे, कि माठरवृत्ति का ही चीनी भाषा मे परमार्थ ने यह अनुवाद किया था। अनुवाद में अनेक बातों की उपेक्षा कर दी गई है, और कुछ अधिक बातें भी आ गई है। यह भी संभव हो सकता है, कि अनुवाद होने के अनन्तर भी इसमें कुछ परिवर्तन हो गये हों। इसलिये चीनी अनुवाद और माठरवृत्ति को पृथक् २ ग्रन्थ समझना ठीक न होगा।

दुर्ग ने जिन पंक्तियों को उद्धृत किया है, और जिस उद्देश्य से किया है; वह सांख्यकारिका की अन्यतम व्याख्या जयमंगला में भी उपलब्ध होता है। परन्तु जयमंगला दुर्ग के काल से बहुत पीछे लिखी जाने वाली व्याख्या है, ऐसी स्थिति में दुर्ग के लेख का आधार, जयमंगला व्याख्या को कदापि नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त जयमगला के इस सम्पूर्ण पूर्वापर संदर्भ का आधार माठरवृत्ति ही है। हम इस बात का निर्देश इस प्रकरण में प्रथम कर आये हैं, कि जयमंगला में माठरवृत्ति का पर्याप्त छाया है। प्रस्तुत प्रसंग में भी जयमंगलाकार ने माठरवृत्ति के प्रथम आर्या के व्याख्यान और इस ७०।७१ आर्या के व्याख्यान के आधार पर ही अपना ७० वीं आर्या का व्याख्यान लिखा है। इस सब उल्लेख से यह परिणाम निकलता है, कि दुर्ग के लेख का सामञ्जस्य माठरवृत्ति के आधार पर ही संभव हो सकता है।

इसके अतिरिक्त एक यह बात भी है, कि दुर्गवृत्ति में उद्धृत सूत्र-पाठकी माठरवृत्ति के पाठ के साथ ही अत्यधिक समानता है। चीनी अनुवाद में अनुवाद होने के कारण पाठभेद की अधिकता संभव हो सकती है। और जयमंगला, माठरवृत्ति की छाया पर है, माठर की सर्वथा प्रतिलिपि तो है ही नहीं। परंतु दुर्ग उन वाक्यों को उद्धृत कर रहा है, इसलिये उसको प्रतिलिपि रूप कहा जा सकता है। इसलिये माठर और दुर्ग के पाठों का समान होना, इस बात को स्पष्ट करता है, कि दूसरा पहले को जानता है।

दुर्ग का काल श्रीयुत डा० लक्ष्मणस्वरूप M.A. महोदय ने खीस्ट प्रथम शतक निश्चित[2] किया है। माठर का समय उससे पहले होने पर, खीस्ट शतक के प्रारम्भ के आस पास संभव हो सकता है।

---

[1] 'तमस्' पद साम्यावस्थापन्न गुणत्रय के लिये प्रयुक्त होता है, इसके लिये देखिये ऋग्वेद १०।१२९।३॥ तथा 'सांख्यसिद्धान्त' नामक हमारे ग्रन्थ का प्रथम प्रकरण। मूलप्रकृति के लिये 'तमस्' पद का प्रयोग, उसकी अचेतनस्वरूप विशेषता के कारण ही किया जा सकता है।

[2] निरुक्तभाष्यटीका, स्कन्दमहेश्वरकृत; खीस्ट १९३४ में पञ्जाब विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ६७ पर।

आचार्य दुर्ग ने अपनी वृत्ति में उक्त पंक्तियों को 'पारमर्ष सूत्रम्' कह कर उद्धृत किया है। साधारण रूप में यह कहा जा सकता है, कि 'परमर्षि' पद कपिल के लिये प्रयुक्त होता है। परन्तु हम इसका और सङ्कोच करके इतना अवश्य कह सकते हैं, कि सांख्य के प्रसङ्गों में 'परमर्षि' पद कपिल के लिये प्रयुक्त माना जाना चाहिये। क्योंकि अन्य सूत्रकारों के लिये भी दार्शनिक साहित्य में इस पद का प्रयोग [1] देखा जाता है। इससे यह परिणाम निकाले जाने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये, कि सूत्रकारों के लिये 'परमर्षि' पद का प्रयोग किया जाता रहा है। इस आधार पर पञ्चशिख के लिये भी 'परमर्षि' पद का प्रयोग असमञ्जस न होगा, सांख्य पर उसके भी कुछ ग्रन्थ सूत्रात्मक हैं, जिनके उद्धरण दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। यदि ऐसा माना जाय, तो एक सन्देह हमारे सामने अवश्य आजाता है. और वह यह है कि, जिस सूत्र को दुर्ग ने उद्धृत किया है, वह कपिल का कहा हुआ है, अथवा पञ्चशिख का।

चीनी अनुवाद के संस्कृत रूपान्तर में उक्त पंक्तियों के पूर्व एक वाक्य है—'कपिलमहर्षिरासुरये संक्षिप्यैवमुवाच'। इससे यह कहा जा सकता है, कि दुर्गवृत्ति में उद्धृत पंक्तियां कपिल की रचना हो सकती हैं। परन्तु इस बात को सर्वथा निर्विवाद रूप में नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस संस्कृत रूपान्तर और माठरवृत्ति में प्रथम आर्या की व्याख्या में कपिल और आसुरि का एक संवाद है। वे लिखते हैं—'महर्षिः....वाचामन्युवाच-भो आसुरे रमसे गृहस्थधर्मेण इति'। अब यहां भी यह प्रश्न है। कि 'भो आसुरे रमसे गृहस्थधर्मेण' क्या यह आनुपूर्वी अक्षरशः वही कही जा सकती है, जो कपिल ने आसुरि के लिये कही होगी। या यह बात मानी जा सकती है, कि कपिल ने आसुरि को इसी तरह की बात कही होगी, परन्तु ये शब्द और आनुपूर्वी ग्रन्थकार के अपने हैं। हमारे सामने कोई भी ऐसा प्रामाणिक उल्लेख नहीं है, जिसके आधार पर हम यह कह सकें, कि व्याख्याकार ने यहां पर कपिल के मुख से जो वाक्य उच्चारित कराये हैं, वे साक्षात् उसी आनुपूर्वी और उसी रूप में कपिल ने उच्चारित किये थे। पहला स्थल भी ठीक इसी तरह का है, और इसीलिये यह संभावना की जा सकती है, कि दुर्गवृत्ति में उद्धृत सूत्र की उस आनुपूर्वी का रचयिता पञ्चशिख हो। यद्यपि उसमें प्रतिपादन उसी अर्थ का हुआ है, जो कपिल ने आसुरि को कहा था।

---

१ (क) न्यायसूत्रकार गौतम के लिये 'परमर्षि' पद का प्रयोग—"तथा च पारमर्षं सूत्रम्—दुःखजन्म...पवर्गः [गौ० सू० १।१।२] इति।" सर्वदर्शनसंग्रह [अक्षपाददर्शन ११] पृ० २४६, पूनासंस्करण।

(ख) वेदान्तसूत्रकार व्यास के लिये 'परमर्षि' पद का प्रयोग—"तथा च पारमर्षं सूत्रम्—तदधिगमे... तद्व्यपदेशात् [४।१।१३]।" अद्वैतब्रह्मसिद्धि, सदानन्दयतिकृत।

"तथा च पारमर्षं सूत्रद्वयम्—कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् (वे० सू० २।३।३३), यथा च तक्षोभयथा [वे० सू० २।३।४०] इति।" अद्वैतदीपिका, नृसिंहाश्रमकृत, खीस्ट १९१६ का लाजरस, बनारस संस्करण, पृष्ठ ३३६।

(ग) मीमांसासूत्रकार जैमिनि के लिये 'परमर्षि' पद का प्रयोग—'तथा च पारमर्षं सूत्रम्—द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः इति।" वेदान्तदर्शन ३।२।४० सूत्र पर भामती।

इसके अतिरिक्त यह बात भी है, कि संस्कृत साहित्य में कोई उद्धरण, उस विषय के मूल आचार्य के नाम पर भी उद्धृत किये जाते रहे हैं, चाहे वे उद्धृत वाक्य, उस आचार्य के अनुयायी किसी भी विद्वान् के लिखे हुए हों। ऐसे अनेक उद्धरणों का संग्रह हम पूर्व प्रकरण [1] में कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में यह भी संभव है, कि दुर्गद्वारा उद्धृत वाक्य, माठर की मूल रचना हो, और उसी को 'परमर्षि' के नाम पर उद्धृत कर दिया गया हो। क्योंकि यह वाक्य, परमर्षि के सिद्धान्तों पर लिखे गये ग्रन्थ से ही लिया गया है। यह एक विशेष ध्यान देने की बात है, कि दुर्ग ने जिस उद्देश्य ['तमस्' पद, प्रधान अथवा प्रकृति का पर्याय है] से इस वाक्य को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है, वह माठर को आधार माने जाने पर ही संगत हो सकता है। पर वस्तुतः दुर्ग के 'सूत्रमधीयते' पद इस विचार के स्पष्ट बाधक हैं। इसलिये यह अधिक संभव है, कि इसप्रकार की आनुपूर्वी का कोई सूत्र पञ्चशिख का रहा हो। माठरवृत्ति और दुर्ग के इस प्रसंग से सूत्र के वास्तविक कलेवर का पता लग जाता है [2]।

उस सूत्र का प्रथम अर्द्ध भाग—'तम एव खल्विदमग्र आसीत्' कुछ अत्यन्त साधारण पाठभेद के साथ मैत्रायणी उपनिषद् में मिलता है। वहां पाठ है—'तमो वा इदमग्र आसीदेकम्' [५ । २], इस अर्थ का मूल आधार ऋग्वेद का [१० । १२६ । ३] मन्त्र कहा जासकता है। मैत्रायणी उपनिषद् के उक्त स्थल का पूर्वापर प्रसंग [3] देखने से यह स्पष्ट होजाता है, कि उपनिषत्कार ने इन अर्थों को सांख्य के आधार पर लिखा है। हमारा अभिप्राय यह है, कि पारमर्ष सूत्र के प्रथम अर्द्ध भाग की आनुपूर्वी, मैत्रायणी की रचना से पूर्व ही सांख्यग्रन्थ में विद्यमान थी। जिसका मूल आधार ऋग्वेद का उक्त मन्त्र कहा जासकता है। तीनों गुणों की साम्यावस्था के लिये 'तमस्' शब्द का प्रयोग, मैत्रायणी के प्रसंग से भी ध्वनित होता है, परन्तु सांख्य के उपलभ्यमान व्याख्याग्रन्थों में सर्वप्रथम माठर ने ही इस अर्थ ['तमस्' पद प्रकृति अथवा प्रधान का पर्याय है] का स्पष्ट उल्लेख किया है। जिसके आधार पर दुर्ग का लेख समञ्जस कहा जासकता है। संभव है, दुर्ग के समय इस आनुपूर्वी के मूल लेखक पञ्चशिख का ग्रन्थ प्राप्य हो।

माठरवृत्ति में वर्णित उद्धरणों के आधार पर उसके काल का निर्णय—

किसी भी ग्रन्थ में आये हुए उद्धरणों के आधार पर भी उस ग्रन्थ के काल का निर्णय करने में बड़ी सहायता मिलती है। परन्तु ऐसा विवेचन उन्हीं ग्रन्थों के सम्बन्ध में अधिक

---

१ देखिये—इसी ग्रन्थ के द्वितीय प्रकरण का अन्तिम भाग।

२ इस ग्रन्थके अन्तिम प्रकरण का 'पञ्चशिख' प्रसंग देखें।

३ "तमो वा इदमग्र आसीदेकं तत्परे स्यात् तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्रूपं वै रजः तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं रसः संप्रास्रवत्. सोंऽशोऽयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यवसायाभिमानलिंगः।" मैत्रायणी उपनिषद् ५। २॥

प्रामाणिक होसकता है, जिनके विशुद्ध संस्करण प्रकाशित होचुके हैं। माठरवृत्ति का अभीतक ऐसा कोई संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ है। फिरभी इस सम्बन्ध में हम कुछ प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

माठरवृत्ति में कुल ६२ के लगभग उद्धरण उपलब्ध होते हैं। हमने यह गणना चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से प्रकाशित संस्करण के आधार पर की है। इस ग्रन्थ के सम्पादक महोदयने ग्रन्थ में उद्धृत सन्दर्भों की जो सूची दी है, उसमें केवल ४४ उद्धरण गिनाये गये हैं, वह सूची अपूर्ण है। सुवर्णसप्ततिशास्त्र के विद्वान् सम्पादक महोदयने माठरवृत्ति के उद्धरणों की संख्या ४५ लिखी [1] है। परन्तु वह सूची भी परिमार्जित नहीं है। इस सम्बन्ध में हम अभी आगे 'माठरवृत्ति और सुवर्णसप्ततिशास्त्र' शीर्षक के नीचे विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे। यहां हम केवल, माठरवृत्ति के उद्धरण, और उनके आधार पर माठर के काल के सम्बन्ध में क्या प्रकाश पड़ सकता है, इसका विवेचन करना चाहते हैं।

माठरवृत्ति के गम्भीर अध्ययन से यह बात प्रकट हो जाती है, कि बनारस के विद्यमान संस्करण में बहुत से ऐसे सन्दर्भ हैं, जो समय २ पर अध्येताओं या अध्यापकों के द्वारा उनकी हस्तलिखित प्रतियों के हाशिये (प्रान्त) पर लिखे गये होंगे, और फिर उन हस्तलिखित प्रतियों से अन्य प्रतिलिपि करने वाले लेखकों ने उन सन्दर्भों को जहां-तहां मूल पाठ में मिलाकर लिख दिया। इसप्रकार ग्रन्थ का वास्तविक भाग न होते हुए भी आज वे सन्दर्भ ग्रन्थ का भाग समझे जारहे हैं, किसी भी विद्वान् ने आज तक गम्भीरतापूर्वक इस बात पर ध्यान नहीं दिया। इसका परिणाम यह हुआ, कि हम लोग सन्देहपूर्ण ऊपरी बातों को लेकर बहस में पड़ जाते हैं, और वास्तविकता से दूर हो जाते हैं। जहां तक 'प्रांत' के पाठों का मूल ग्रन्थ में समाविष्ट होजाने का सम्बन्ध है, इसको वे विद्वान् अच्छी तरह समझते हैं, जिन्होंने प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का समालोचनापूर्वक सम्पादन किया है।

माठरवृत्ति में अनेक प्रक्षेपों की संभावना तथा उनका सकारण उद्भावन—

माठरवृत्ति के इसप्रकार के दो एक सन्दर्भों का इसी प्रकरण में हम पहले उल्लेख कर आये हैं; और उस सन्दर्भ का भी उल्लेख कर आये हैं, जो हरिभद्र सूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की व्याख्या में गुणरत्न सूरि ने 'तदुक्तं माठरप्रान्ते' कहकर एक पद्य का उल्लेख किया है। गुणरत्नसूरि ने इतने व्यवस्थित रूपसे अपने उद्धरण का निर्देश किया है, कि उससे एक बड़ी घुण्डी खुल जाती है, और उसी से एक विशेष दिशा की सूचना पाकर हम माठरवृत्ति के वास्तविक पाठों को समझ लेने में पर्याप्त सीमा तक समर्थ हो जाते हैं। अब हम उन सन्दर्भों का निर्देश [2] करते हैं, जिनको हमने माठरवृत्ति की पूर्वापर

[1] सुवर्णसप्ततिशास्त्र, भूमिका, पृ० ३० पर।

[2] हम यहां केवल उन सन्दर्भों का निर्देश ही करेंगे। जो विद्वान् इनकी परीक्षा करना चाहें, मूलग्रन्थ से कर सकते हैं। ग्रन्थ के अनावश्यक विस्तार भय से हमने उन सब मूल पाठों को यहां उद्धृत नहीं किया है।

सामञ्जस्य की आन्तरिक साक्षी पर 'प्रान्त' का समझा है—

(१) प्रारम्भ का ही 'स्थानं निमित्तं' इत्यादि श्लोक।

(२) 'किञ्च 'इहोपपत्तिर्ममo' इत्यादि श्लोक।

(३) 'भवन्ति चात्र श्लोकाः' यहां से लेकर 'कृतान्तः सुखमेधते' यहां तक सम्पूर्ण सन्दर्भ। ये सब पाठ पहली कारिका की व्याख्या में दिये गये हैं। इन सन्दर्भों के पूर्वापर प्रसंगों को मिलाकर गम्भीरता पूर्वक पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है, कि यह रचना ऊपर से इसके बीच में आ पड़ी है। इन सन्दर्भों के हटा देने से शेष पाठ अधिक संगत और समञ्जस प्रतीत होते हैं।

(४) 'किञ्च-यथा पङ्केन पङ्काम्भः' यहां से लेकर 'नरकः केन गम्यते' यहां तक का संपूर्ण सन्दर्भ। यह द्वितीय कारिका की व्याख्या में है। यहां ग्रन्थकार ने पहले ही, उद्धरणों की समाप्ति कर दी है। यदि ये अगले उद्धरण भी ग्रन्थकार के ही होते, तो वह एक श्लोक लिखकर फिर श्रुति का उल्लेख न करता, पहली श्रुति के साथ ही अगली श्रुति को भी कह देता यह उद्धरणों का क्रम टूट जाने से प्रतीत होता है, कि 'इत्यादि श्रवणात्' के आगे की रचना अन्य किसी की है। फिर ये उद्धरण पूर्व प्रसंग के साथ मेल भी नहीं खाते. प्रकारान्तर से सम्बन्ध भले ही जोड़ा जासके।

(५)—इसके आगे द्वितीय कारिका की व्याख्या में ही एक गद्यसन्दर्भ है, जो प्रान्त-पाठ प्रतीत होता है, परन्तु इस समय ग्रन्थ का ही भाग बनाया जाकर मुद्रित हुआ है। कारिका के 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात' इस भाग की व्याख्या में 'भवति ह्यसौ अवश्यं' यहां से प्रारम्भ कर 'निरतिशयफलमिति वाक्यशेषः' यहां तक का सन्दर्भ प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। इतना पाठ बीच में से अलग कर देने पर ही पूर्वापर पाठ का सामञ्जस्य सम्भव हो सकता है। स्वयं यह सन्दर्भ भी इस स्थल पर पूर्वापर पाठ के साथ मेल नहीं खाता। इस आर्या के व्याख्यान के अन्त में जोड़ने पर इस सन्दर्भ का अर्थसामञ्जस्य तो हो जाता है, परन्तु पाठ की रचना का ढङ्ग, अवश्य पृथक् प्रतीत होता है।

अब हम ऐसे सन्दर्भों की केवल एक सूची नीचे देते हैं, जिनको हमने निश्चित रूप से ग्रन्थ का भाग नहीं समझा है,

(६)—'नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः। इति गीतासु।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। इति श्रुतेश्च।'[1] का० १५, पर, पृ० २७

(७)—उक्तञ्च—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

[1] १५वीं आर्या का व्याख्यान 'तत्वसंग्रह' के व्याख्याकार कमलशील ने पृष्ठ २१ पर [गायकवाड ओरियण्टल सीरीज़–संस्करण], और 'सन्मतितर्क' के व्याख्याकार अभयदेव सूरिने [गुजरात पुरातत्वमन्दिरग्रन्थावली संस्करण] पृ०२८४ पर किया है। ये व्याख्यान माठरवृत्ति से सर्वथा समानता रखते हैं। जिनसे प्रतीत होता है, कि वे माठर वृत्ति के अनुसार अथवा उसके ही आधार पर लिखे गये हैं। माठरवृत्ति से उनकी तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि संख्या ६ पर जो सन्दर्भ हम दे रहे हैं, वह माठरवृत्ति का मूलभाग नहीं हो सकता।

श्रीविष्णुपुराणे षष्ठेंऽशे पराशरवचः। का० २२, पृ० ३७

(८)—१८वीं आर्या पर एक गद्यसन्दर्भ और है—'अपरे पुनरित्थंकारं वर्णयन्ति' इत्यादि। इसका उल्लेख हम पूर्व कर आये हैं।

(६)—*उक्तञ्च—*

हस पिब लल मोद नित्यं विषयानुपभुञ्ज कुरु च मा शङ्कम्।

यदि विदितं ते कपिलमतं तत्प्राप्स्यसे मोक्षसौख्यं च ॥ का० ३७ पर पृ० ५३

(१०)—*पुराणेऽप्यपि—*

सोमवृष्टचबरेतासि पुरुषस्तत्र पञ्चमः।

स जीवत्यग्नये पश्चाद्रस्य माधनोऽभवत् ॥ इति। का० ३६ पर, पृ० ५६

(११) *उक्तञ्च—*

'देहे मोहाश्रये भग्ने युक्तः स परमात्मनि। कुम्भाकाश इवाकाशे लभते चैकरूपताम् ॥'

'यथा दर्पणाभाव आभासहानौ' इत्यादि। का० ३६ पर पृ० ५७

(१२)—*उक्तञ्च—*

एष आतुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया विभुः। भवसिन्धुप्लवो दृष्टो यदाचार्यानुवर्त्तनम् ॥

ये सब सन्दर्भ, ग्रन्थ के भाग नहीं हैं, इनके निर्णय के लिये हमने ये आधार माने हैं।

(क)—पूर्वापर ग्रंथ के साथ सामञ्जस्य न होना।

(ख)—प्रसङ्ग में उद्धरण की योजना न होना। अर्थात् उद्धरण का उस स्थल में अप्रासङ्गिक होना।

(ग)—एक जगह उद्धरणों की समाप्ति होकर पुनः उद्धरणों का प्रारम्भ किया जाना।

(घ)—उद्धरण के साथ ग्रन्थ का नाम होना। माठर वृत्ति में हम यह देखते हैं, कि एक ही ग्रंथ के उद्धरण होने पर एक जगह ग्रंथ का नाम निर्दिष्ट किया है, दूसरी जगह नहीं। माठर के उस पुराने काल में सब ही ग्रंथकारों की यह समान प्रवृत्ति देखी जाती है, कि वे उद्धरण के साथ ग्रंथ या ग्रन्थकार के नाम का निर्देश नहीं करते। माठर भी इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं है। इससे अनायास ही हम समझ पाते हैं, कि माठरवृत्ति में जिन उद्धरणों के साथ ग्रंथों के नाम हैं, वे अवश्य माठर के नहीं हैं। यह बात उस समय अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है, जब हम माठरवृत्ति में एक ही ग्रन्थ के अनेक उद्धरणों में से किसी जगह ग्रन्थ का नाम[१] देखते हैं अन्यत्र नहीं।

मुद्रित माठरवृत्ति में भागवत का एक श्लोक दूसरी आर्या की व्याख्या में उद्धृत है। एक श्लोक ५१ वीं आर्या की व्याख्या में उद्धृत है, जो भागवत के एक श्लोक के साथ पर्याप्त समानता रखता है। शङ्कराचार्यकृत हस्तामलक स्तोत्र के चतुर्थ श्लोक का प्रथम चरण भी मुद्रित

[१] कारिका २३ पर गीता के उद्धरण, कारिका ६८ पर भी, वहां ग्रन्थ का नाम नहीं है। कारिका १५ के उद्धरण में है, अतः १५ का उद्धरण माठर लिखित नहीं होना चाहिये।

माठरवृत्ति में ३६ वीं आर्या की व्याख्या में उपलब्ध होता है। ये सब उद्धरण या सन्दर्भ इसी प्रकार के हैं, जिनको ग्रन्थ का भाग नहीं कहा जासकता। ऐसे उद्धरणों के आधार पर माठर के काल का निश्चय किया जाना अशक्य है। इसलिये जिन विद्वानों ने इन उद्धरणों के आधार पर माठर का समय ख्रीस्ट एकादश शतक के आस पास निर्णय करने का यत्न किया है, वह सर्वथा निराधार कहा जासकता है। क्योंकि अन्य अनेक आधारों पर माठर का इस समय से अत्यधिक प्राचीन होना निश्चित है, जिनको अन्यथा नहीं किया जासकता। इनके अतिरिक्त, कोई भी उद्धरण माठरवृत्ति में ऐसे नहीं हैं, जो माठर का वह समय माने जाने में बाधक हों, जिसका निर्देश हम पूर्व कर चुके हैं, अर्थात् ख्रीस्ट प्रथम शतक का प्रारम्भिक भाग।

जिन सन्दर्भों को हमने माठरवृत्ति में प्रक्षिप्त बताया है, सम्भव है, उनसे अतिरिक्त और भी कोई ऐसे सन्दर्भ हों, परन्तु इस तरह के सन्दिग्ध स्थलों को हमने इस सूची में स्थान नहीं दिया है। यदि संभव होसका, तो माठरवृत्ति के समालोचनात्मक संस्करण में हम उन सब स्थलों का विस्तारपूर्वक निर्देश कर सकेंगे। यहां केवल माठर के काल का निश्चय करने में उपयोगी उद्धरणों का ही विवेचन किया है।

माठर के प्रसंग में जो विवेचन हमने किया है, उसका निष्कर्ष यह है—

(१)—माठर, युक्तिदीपिकाकार से प्राचीन आचार्य है।

(२)—माठर का समय ख्रीस्ट शताब्दी का प्रारम्भ होने के साथ २ ही स्थिर किया जासकता है।

(३)—'सांख्यसप्तति' और 'हिरण्यसप्तति' एक ही ग्रन्थ के नाम हैं, इसका रचयिता ईश्वरकृष्ण है।

(४)—ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास एक व्यक्ति नहीं होसकते।

(५)—ईश्वरकृष्ण का समय ईसवी सन् प्रारम्भ होने से कहीं पहले है।

(६)—विन्ध्यवास का समय ईसा के तृतीय शतक का पूर्वार्द्ध [२५० A. D.] निश्चय किया गया है।

(७)—परमार्थ ने ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिकाओं की जिस टीका का चीनी भाषा में अनुवाद किया था, वह वर्त्तमान माठरवृत्ति ही है।

माठरवृत्ति और सुवर्णसप्तति शास्त्र

पिछले पृष्ठों में हम इस बात का वर्णन कर चुके हैं, कि ख्रीस्ट के छठे शतक में परमार्थ पण्डित ने भारतीय साहित्य के अनेक संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। उन ग्रन्थों में ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिका और उसकी एक टीका भी थी। अभी तक इस बात का निश्चय नहीं हो पाया है, कि सांख्यकारिका की जिस टीका का परमार्थ ने चीनी भाषा में अनुवाद

किया था, वह कौन सी टीका है। कुछ विद्वानों का विचार है, कि वह टीका, गौडपादकृत सांख्य-कारिकाओं का भाष्य है। इस तरह का विचार रखनेवाले विद्वानों में हम एक नाम लोकमान्य स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलक का ले सकते हैं। दूसरे कुछ विद्वानों का यह विचार है, कि यह टीका, माठरवृत्ति है। यह विचार रखने वाले विद्वानों में श्रीयुत डा० श्रीपादकृष्ण बेल्वल्कर महोदय का नाम उल्लेखनीय है।

चीनी अनुवाद को ही, 'सुवर्णसप्तति शास्त्र' नाम दिया गया है—

अभी तक ये सब अनुमान उन तुलनात्मक लेखों के आधार पर होते रहे हैं जो समय २ पर जापान चीन और योरप के विद्वानों ने उक्त चीनी अनुवाद के सम्बन्ध में प्रकाशित किये हैं। परन्तु अब हमारे सौभाग्य से पहाड़ की ओट करने वाला वह तिल भी दूर होगया है, और वह चीनी अनुवाद पुनः संस्कृत भाषा में रूपान्तर होकर हमारे सन्मुख उपस्थित है। इसी रूपान्तर को 'सुवर्णसप्तति शास्त्र' नाम दिया गया है। श्री वेंकटेश्वर ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, तिरुपति मद्रास के सञ्चालकों ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर विद्वत्समाज का महान उपकार किया है। श्रीयुत न० अय्यास्वामी शास्त्री अत्यंत प्रशंसा के पात्र हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को चीनी भाषा से संस्कृत में रूपान्तर किया, इसका सम्पादन किया, भूमिका लिखी, पाद-टिप्पणी और सब सूचियां तय्यार कीं। अब इतनी अधिक सामग्री हमारे सन्मुख है, कि हम बहुत स्पष्ट रूप में इस बात को जानने का यत्न कर सकते हैं, कि यह अनुवाद किस टीका का हो सकता है। माठरवृत्ति के प्रत्येक पद को अब हम इससे तुलना कर सकते हैं, और तथ्य को प्रकाश में ला सकते हैं।

श्रीयुत अय्यास्वामी का प्रशंसनीय कार्य—

इस दिशा में श्रीयुत अय्यास्वामी शास्त्री महोदय का प्रयत्न अत्यन्त श्लाघनीय है। आपने माठरवृत्ति और गौडपाद भाष्य की, चीनी अनुवाद के साथ गम्भीरतापूर्वक तुलना की है, तथा उनकी परस्पर समानताओं और असमानताओं की सूचियां तयार कर ग्रन्थ के साथ जोड़ दी हैं। यथावसर जयमंगला (सांख्यकारिकाओं की एक व्याख्या), सांख्यतत्त्वकौमुदी और चन्द्रिका टीका को भी तुलना के लिये उपयोग में लाया गया है। हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ है, कि श्री शास्त्री महोदय ने अपने तुलनात्मक विचारों में सांख्यकारिकाओं की अन्यतम व्याख्या युक्तिदीपिका[1] का उपयोग नहीं किया। इतनी महत्त्वपूर्ण व्याख्या के उपयोग की उपेक्षा का कारण हम नहीं समझ सके।

श्रीयुत अय्यास्वामी का मत—माठरवृत्ति, चीनी अनुवाद का आधार नहीं—

हम इस प्रसंग में केवल चीनी अनुवाद के साथ माठरवृत्ति के सम्बन्ध पर प्रकाश डालना

---

[1] यह ग्रन्थ कलकत्ता से 'कलकत्ता संस्कृत सीरीज़' की २३ संख्या पर सन् १९३८ ईसवी में प्रकाशित होचुका है।

चाहते हैं। श्रीयुत अय्यास्वामी शास्त्री ने माठरवृत्ति की रचना का काल सुवर्णसप्तति[1] की भूमिका में खीस्ट १००० के अनन्तर[2] बताया है, और इसप्रकार माठरवृत्ति को चीनी अनुवाद का आधार नहीं माना। गौडपाद भाष्य को यद्यपि माठरवृत्ति से उन्होंने प्राचीन माना है, परन्तु चीनी अनुवाद का आधार उसको भी नहीं माना। उनका विचार है, कि चीनी अनुवाद का आधार कोई पुराना ग्रन्थ माठरभाष्य होगा,[3] जिसका जैनग्रन्थों में उल्लेख है। जो वर्तमान माठरवृत्ति से भिन्न है। परन्तु इसप्रकार के अनुमान आकाश में डण्डा चलाने के समान निरर्थक है। गुणरत्नसूरि के 'प्रान्त' पद का अर्थ न समझने के अतिरिक्त इन अनुमानों के असंगत होने का एक और कारण यह होगया है, कि श्रीयुत शास्त्री महोदय ने अपने तुलनात्मक विवेचनों में युक्तिदीपिका को स्थान नहीं दिया।

मूल और अनुवाद की तुलना के लिये अपेक्षित, कुछ आवश्यक मौलिक आधार—

इस सम्बन्ध में हम अपना मन्तव्य प्रकाशित कर चुके हैं, कि वर्तमान माठरवृत्ति का ही परमार्थ ने चीनी भाषा में अनुवाद किया। जैनग्रन्थों में इसी को 'माठरभाष्य' कहा गया है। इस विचार की पुष्टि के लिये इनकी तुलनात्मक विवेचना से पूर्व हम उन साधारण नियमों का निर्देश कर देना चाहते हैं, जिनको इस विवेचना के समय सदा ध्यान में रखना चाहिये।

(१) चीनी अनुवाद दो वार रूपान्तर हो चुका है। एक वार संस्कृत से चीनी भाषा में, पुनः चीनी भाषा से संस्कृत में। यह निश्चित बात है, कि चीनी से संस्कृत में हुआ अनुवाद, मूल संस्कृत रूप के साथ सर्वथा मिल नहीं सकता। उसमें अनेक प्रकार के भेदों का होजाना संभव और स्वभाविक है।

(२) उधर चीनी अनुवाद रूप में भी, लगभग १५०० वर्ष के लम्बे काल में, परिवर्त्तनों का होना सर्वथा संभव है, और पाठों के कुछ परिवर्त्तन होना तो साधारण बात है।

(३) इधर मूल संस्कृत रूप में भी, इतने लम्बे काल में परिवर्त्तनों और न्यूनाधिकताओं का होना अत्यन्त संभव है।

(४) अनुवाद करते समय भी मूल और अनुवाद में कुछ भेद तथा न्यूनाधिकतायें संभव होसकती हैं। अनुवादक मूलग्रन्थ के आशय को स्पष्ट करने के लिये अनेक वार कुछ अधिक कथन कर देता है। अथवा किसी अंश की, अपने विचारों से प्रभावित होकर उपेक्षा भी कर देता है।

---

[1] इस प्रकरण में चीनी अनुवाद के पुनः संस्कृतरूपान्तर का हमने इसी नाम से उल्लेख किया है; क्योंकि इसके सम्पादक और संस्कृतरूपान्तरकर्त्ता महोदय ने इसको 'सुवर्णसप्तति शास्त्र' नाम से ही उल्लिखित किया है।

[2] सुवर्णसप्तति भूमिका, पृष्ठ ३१ पर।

[3] सुवर्णसप्तति भूमिका पृ० ५२ पर।

(५)—मूल और अनुवाद की धाराओं का क्षेत्र, भिन्न हो जाने से भी उन दोनों में भेदों का होना संभव है। मूल ग्रन्थ भारत में रहा, और अनुवाद चीन में। इतने लम्बे काल तक दोनों के संतुलन का कोई अवकाश ही नहीं आया।

(६)—वर्त्तमान संस्कृतरूपान्तरकर्त्ता के दृष्टिकोण का भी इस दिशा में प्रभाव होसकता है।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए अब हमें माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की परस्पर तुलना करनी चाहिये।

माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की साधारण असमानताएं—

श्रीयुत अय्यास्वामी शास्त्री महोदय ने सुवर्णसप्तति की भूमिका के साथ कुछ ऐसी सूचियां दी हैं, जिनमें माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की समानताओं तथा असमानताओं का निर्देश किया गया है। इनके सम्बन्ध में अपना विचार आपने यह प्रकट किया है, कि असमानताओं का कारण इन दोनों ग्रन्थों का भिन्न होना है, और समानताओं का कारण है, एक के द्वारा दूसरे का अनुकरण किया जाना। क्योंकि चीनी अनुवाद स्त्रीस्ट षष्ठ शतक के मध्य में किया गया था, इसीलिये उपलभ्यमान माठरवृत्ति की स्थिति को आपने उससे पूर्व अथवा उस समय स्वीकार नहीं किया है। आपने इसका समय स्त्रीस्ट एकादश शतक बताया है। परन्तु सांख्य-कारिका की उपलभ्यमान सब व्याख्याओं को परस्पर तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इस बात का निश्चय होजाता है, कि माठरवृत्ति इन सब व्याख्याओं में प्राचीन है। इस मत को अनेक प्रमाणों के आधार पर हम अभी निश्चय कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जासकता, कि माठर-वृत्ति ने चीनी अनुवाद के मूल आधार ग्रन्थ का अनुकरण किया होगा, प्रत्युत माठरवृत्ति की सर्वापेक्षया प्राचीनता सिद्ध होजाने पर, यही कहा जासकता है, कि चीनी अनुवाद इसी माठर व्याख्या का किया गया है। इसप्रकार इन दोनों ग्रन्थों की समानता, केवल एक के द्वारा दूसरे का अनुकरण करने पर ही आधारित नहीं है, प्रत्युत ये दोनों एक ही ग्रन्थ हैं, एक मूल और दूसरा अनुवाद। इनकी समानता का आधार यही है।

इन दोनों ग्रन्थों में उपलभ्यमान असमानताओं के कारणों के सम्बन्ध में हम कुछ साधारण नियम ऊपर निर्दिष्ट कर चुके हैं। इन नियमों के साथ उन स्थलों को भी ध्यान में रखना चाहिये, जिनको अभी पिछले पृष्ठों में प्रक्षिप्त कहा गया है, मूल ग्रन्थ का भाग नहीं माना गया। फिर हम देखेंगे, कि इन दोनों ग्रन्थों में असमानताओं को कहां तक अवकाश रह जाता है। श्रीयुत शास्त्री महोदय ने अपनी सूचियों में जिन असमानताओं का निर्देश किया है, उनमें से बहुत अधिक का समाधान इन आधारों पर हो जाता है। हम इस समय प्रत्येक असमानता के सम्बन्ध में विवेचन करने के लिये तय्यार नहीं हैं, और उसकी उतनी आवश्यकता भी नहीं है, कुछ ऐसी साधारण असमानताओं का, मूल और अनुवाद में हो जाना कोई असम्भव बात नहीं है। परन्तु यहां पर उन भेदों का विशेष रूप से हम विवेचन कर देना चाहते हैं, जिनको अपनी

भूमिका में श्रीयुत शास्त्री महोदय ने महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

अलबेरूनी के ग्रन्थ के आधार पर, माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की असमानताओं का निर्देश, तथा उनका विवेचन—

उनमें से कुछ स्थल अलबेरूनी के भारतयात्रा सम्बन्धी ग्रन्थके आधार पर दिये गये[1] हैं। डॉ० तकाकुसु की सम्मति के अनुसार इस बात को मान लिया गया है, कि अलबेरूनी के सांख्य सम्बन्धी उल्लेख चीनी अनुवाद के साथ मिलते हैं, गौडपाद भाष्य के साथ नहीं। परन्तु माठर-वृत्ति के साथ भी उनकी अत्यधिक समानता है. और एक उल्लेख—सारथि से अधिष्ठित रथ का— तो ऐसा है, जो चीनी अनुवाद में नहीं, माठरवृत्ति में है, जिसके आधार पर यह स्वीकार किया जाना चाहिये, कि अलबेरूनी के सांख्यसम्बन्धी उल्लेखों का आधार माठरव्याख्यान ही होगा। परन्तु श्रीयुत शास्त्री महोदय ने इस सम्बन्ध में कह दिया है कि यह तो एक परम्पराप्राप्त उदाहरण है, सम्भव है अलबेरूनी ने और कहीं से इसे ले लिया होगा। परन्तु श्रीयुत शास्त्री महोदय का यह समाधान कहां तक ठीक हो सकता है, हम कह नहीं सकते। सांख्य के प्रकरण में अलबेरूनी ने यही उदाहरण और कहीं से लेकर रख दिया होगा, इसमें क्या प्रमाण है? वस्तुस्थिति यही होनी चाहिये, कि अलबेरूनी ने यहां इसको किसी सांख्य ग्रन्थ के ही आधार पर लिखा है, और जिस अथवा जिन सांख्यग्रन्थों के साथ उन उल्लेखों की अत्यधिक समानता हो, वे ही ग्रन्थ अलबेरूनी के लेख के आधार कहे जा सकते हैं।

(१)—एक और स्थल अलबेरूनी के ग्रन्थ से इसप्रकार बताया गया है। अलबेरूनीने आठ देवयोनियों की दो स्थलों पर सूची दी है। संख्या चार पर पहली सूची में 'सोम' और दूसरी सूची में 'पितर' का निर्देश है। गौडपाद भाष्य में दोनों स्थलों पर 'सोम' का ही निर्देश है। चीनी अनुवाद में यथाक्रम 'यम' और 'असुर' का निर्देश है। माठरवृत्ति में 'पितर' और 'पित्र्य' का निर्देश है। श्रीयुत शास्त्री महोदय ने इसका परिणाम यह प्रकट किया है, कि अलबेरूनी के लेख का आधार माठरवृत्ति नहीं हो सकती। परन्तु ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थों में से कौनसा ग्रन्थ आधार हो सकता है, इसका आपने उल्लेख नहीं किया। तथापि हम यह स्पष्ट देखते हैं, कि अलबेरूनी का लेख, माठर और गौडपाद के लेखों के साथ समानता रखता है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि ये दोनों ग्रन्थ उसके सामने थे।

अलबेरूनी के ग्रन्थ के साथ इसकी तुलना करने से इस विचार की पुष्टि होजाती है। अलबेरूनी का लेख उसी समय संगत होसकता है, जब कि यह स्वीकार किया जाय, कि उक्त लेख के समय दोनों ग्रन्थ उसके सन्मुख थे। उसका लेख इसप्रकार है।

"पहले सांख्य नामक पुस्तक का सार देते हैं—

जिज्ञासु बोला-'प्राणियों की कितनी जातियां हैं?'

---

[1] सुवर्णसप्तति भूमिका, पृ० ३१-३३।

ऋषि ने उत्तर दिया—'उनकी तीन श्रेणियां हैं, अर्थात् आध्यात्मिक लोग ऊपर, मनुष्य मध्य में, और पशु नीचे। उनकी चौदह जातियां हैं, जिनमें से आठ—ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, सौम्य, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच आध्यात्मिक हैं। पांच पशु जातियां हैं, अर्थात् गृह-पशु, वन-पशु, पक्षी, रेंगनेवाले और उगनेवाले (यथा वृक्ष)। एक जाति मनुष्य है।'

उसी पुस्तक के लेखक ने अन्यत्र भिन्न नामों वाली यह सूची दी है—ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच[1]।"

हम देखते हैं कि जो सूची दो स्थानों से अलबेरूनी ने दी है, वह सांख्य की किसी एक पुस्तक में नहीं है। ये दोनों सूचियां सांख्यसप्तति की ४४वीं और ५३वीं आर्याओं के व्याख्याग्रन्थों में दी गई हैं। अलबेरूनी की दी हुई सूचियों में पहला सूची गौडपाद की और दूसरी माठर की है। प्रत्येक व्याख्या में दोनों स्थलों (४४ तथा ५३ आर्या) पर अपने पाठ एक समान है। अभिप्राय यह है, कि गौडपाद में जो सूची ४४वीं आर्या पर है, वही ५३वीं पर, उसमें परस्पर कोई भेद नहीं। इसीप्रकार माठर की व्याख्या में भी दोनों आर्याओं पर समान ही सूची है। पर इन दोनों व्याख्याओं में एक दूसरे से थोड़ा अन्तर है, और वह यही है, कि माठर की सूची में 'पितर' के स्थान पर गौडपाद में 'सौम्य' का उल्लेख किया है। इसप्रकार अलबेरूनी की दी हुई सूचियों में पहली गौडपाद की तथा दूसरी माठर की है। अलबेरूनी को यह भ्रान्ति हुई है, कि उसी पुस्तक के लेखक ने अन्यत्र भिन्न नामों वाली सूची दी है। सभवतः उसने सांख्यसप्तति की इन दोनों व्याख्याओं के भेदों को न जाना हो। यह निश्चित है, कि वर्त्तमान चीनी अनुवाद के संस्कृत रूपान्तर में जो सूची दी गई है, वह अलबेरूनी की दी हुई सूचियों में से किसी के साथ भी समानता नहीं रखती। फिर भी इससे यह अनुमान नहीं किया जासकता, कि चीनी अनुवाद का आधार माठरवृत्ति से भिन्न होगा, प्रत्युत यही अधिक संभव है, कि अनुवादक ने माठर के एक शब्द के स्थान पर अनुवाद में अन्य शब्द बदल दिया है।

वस्तुतः इन ग्रन्थों में जो भेद है, यह केवल शब्द का है। जो विद्वान् वैदिक साहित्य और आर्य परम्पराओं से परिचित हैं, वे जानते हैं, कि 'पितर' और 'सोम' में कोई अन्तर नहीं है। इनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।[2] ऐसी स्थिति में माठर के 'पितर' पद के स्थान पर यदि गौडपाद ने 'सोम' पद का प्रयोग कर दिया, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं, न इससे कोई अर्थभेद होता है। यह अधिक संभव है, कि अलबेरूनी इस पाठभेद की विशेषता को न समझ सका हो, और दोनों ग्रन्थों के पाठ के सामञ्जस्य के लिये एक सूची में माठर का और दूसरी सूची में गौड-

---

[1] हमने यह पाठ 'अलबेरूनी का भारत' नामक हिन्दी अनुवाद से लिया है। आठवें परिच्छेद का प्रारम्भिक भाग, पृष्ठ ११३॥ इस ग्रन्थ के अनुवादक पं० सन्तराम बी० ए० और प्रकाशक इण्डियन प्रैस प्रयाग हैं। ईसवी सन् १९२६ का द्वितीय संस्करण।

[2] तुलना कीजिये—'आयन्तु नः पितरः सोम्यासः' यजुर्वेद, १९।५८॥ 'सोमः पितृमान्' तैत्ति० ब्रा० १।६।८।२॥ १।६।९।५॥ स्वाहा सोमाय पितृमते, मन्त्रब्राह्मण २।३।१॥ सोमाय वा पितृमते, शत० ब्रा० २।६।१।४॥

पाद का पाठ दे दिया हो। यह निश्चित है, कि चीनी अनुवाद के समय अनुवादक ने इस शब्द में विपर्यय कर दिया है, इसका कारण डा० तकाकुसु के कथनानुसार चाहे बौद्ध प्रभाव हो, अथवा अन्य कुछ। परन्तु हमारा विचार इस सम्बन्ध में यह है, कि जिसप्रकार 'पितर' और 'सोम' पद एक अर्थ के साथ सम्बद्ध हैं, इसीप्रकार 'पितर' के साथ 'यम' पद का सम्बन्ध भी साहित्य में हम देखते हैं।[1] इससे यह अनुमान किया जासकता है, कि अनुवादक ने एक स्थान पर अनुवाद में माठर के 'पितर' पद के लिये चीनी भाषा के किसी ऐसे पद का प्रयोग किया हो, जिसका संस्कृत रूपान्तर 'यम' किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं; कि 'पितर' और 'यम' पदों का प्रकृत अर्थ के प्रकट करने में परस्पर सम्बन्ध है। परन्तु दूसरी सूची में 'असुर' पद का प्रयोग, संभव है बौद्ध प्रभाव के कारण किया गया हो। ऐसी स्थिति में अलबेरूनी के लेख का, माठरवृत्ति को आधार मानने की उपेक्षा नहीं की जासकती।

(२) दूसरा एक और स्थल 'स्थाणुदर्शन' का दिया गया है। प्रत्ययसर्ग के चार भेद-विपर्यय अशक्ति तुष्टि और सिद्धि; इनका स्वरूप समझाने के लिये एक उदाहरण दिया गया है। एक ब्राह्मण चार शिष्यों के साथ प्रातःकाल अंधेरे में ही चल पड़ता है, मार्ग में एक शिष्य अन्धेरा रहने के कारण सामने अस्पष्ट दृष्टिगोचर होती हुई वस्तु के सम्बन्ध में गुरु को कहता है, सन्मुख इस वस्तु को देख रहा हूँ, पर नहीं जानता, यह स्थाणु है अथवा पुरुष ? इसप्रकार शिष्य को स्थाणु के सम्बन्ध में संशय हुआ, यह विपर्यय है। गुरु ने दूसरे शिष्य को कहा जाकर इसे देखो। उसने दूर से ही देखा, उसके समीप न जासका, और आचार्य से कहा, मैं उसके समीप नहीं जासकता। यह अशक्ति है। आचार्य ने तीसरे शिष्य को कहा। वह देखकर आचार्य से बोला, इसके देखने से हमें क्या प्रयोजन ? चलिये अपना रास्ता लें। इस तीसरे को स्थाणु पुरुष के अविवेक से ही तुष्टि होगई, इसीका नाम तुष्टि है। तब आचार्य ने चौथे से कहा, उसने आख साफ करके देखा, उसे मालूम होगया, इस पर बेल लिपटी हैं और ऊपर पक्षी बैठे हैं; उसने जाकर उसे छूलिया, और वापस आकर गुरु से कहा, यह स्थाणु है। इस चौथे पुरुष ने सिद्धि को प्राप्त किया। यह सब उल्लेख चीनी अनुवाद में ४६वीं आर्या की व्याख्या में उपलब्ध होता है। श्रीयुत अय्यास्वामी शास्त्री महोदय के अनुसार यह सिद्धि अलबेरूनी के ग्रन्थ में चौथे शिष्य को नहीं, प्रत्युत गुरु को बतलाई गई है। श्रीयुत शास्त्री महोदय के विचार से अलबेरूनी ने उक्त वर्णन में पहले की अपेक्षा यह एक सुधार कर दिया है। अन्यथा गुरु का इस प्रसंग में कोई सम्बन्ध ही प्रकट नहीं होता।

हमने अलबेरूनीके ग्रन्थ और चीनी अनुवाद, दोनोंको मिलाकर पढ़ा है। यह ठीक है, कि अलबेरूनी के ग्रन्थ में चौथे शिष्य के द्वारा गुरु को भी ज्ञानप्राप्ति का उल्लेख किया है, फिर भी

---

[1] पितृलोको यमः, कौषी ब्रा० १६।८॥ यमो वै यमो विशः पितरः, श० ब्रा० ७।१।१।४॥ यमो वैवस्वतो राजा इत्याह तस्य पितरो विशः। श० ब्रा० १३।४।३।६।

इस बात से नकार नहीं किया जासकता, कि चौथे शिष्य को भी, सन्मुख वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो चुका है। जिस वस्तु के जानने में पहले तीन शिष्य असफल रहे हैं, उसीमें चौथे शिष्य ने सफलता प्राप्त की है। पहले तीन शिष्यों की स्थिति अथवा प्रवृत्ति से यथाक्रम विपर्यय अशक्ति और तुष्टि के स्वरूप का बोध कराया गया है, और चौथे शिष्य की सफलता से सिद्धि का। ऐसी स्थिति में अलबेरूनी के ग्रन्थ के आधार पर भी हम यह नहीं कह सकते, कि चौथे शिष्य को सिद्धि प्राप्त नहीं हुई। वस्तुस्थिति तो यही है, कि सिद्धि चौथे शिष्य को ही प्राप्त होती है, और इसप्रकार जिन चार वस्तुओं का बोध कराने के लिये उक्त दृष्टान्त दिया गया है, वह चार शिष्यों की प्रवृत्ति में पर्यवसित होजाता है, और इसीलिये चीनी अनुवाद का लेख पूर्ण है। अर्थ का निर्देश माठरवृत्ति में भी उतना ही है। प्रकृत में उक्त दृष्टान्त के द्वारा चार भावनाओं के स्वरूप का स्पष्ट बोध होजाने के अनन्तर हमें इस बात के जानने की आवश्यकता नहीं रहती, कि उस वस्तु का ज्ञान गुरु को भी होना आवश्यक था, या वह सार्थ (काफला) कब तक वहां ठहरा, या कब अथवा किस तरह वहां से चला, या आगे उसने क्या किया ? दृष्टान्त चौथे शिष्य की प्रवृत्ति तक अपने अर्थ को पूरा कर देता है। इसलिये अलबेरूनी के ग्रन्थ में शिष्य के द्वारा गुरु को यह बात कही जानी, प्रकृत अर्थ में कुछ सुधार नहीं करती, प्रत्युत यह अधिक कथन ही है। यद्यपि अप्रासंगिक नहीं। चीनी अनुवाद में भी इसका उल्लेख है। यदि अलबेरूनी के ग्रन्थ का यही अर्थ समझा जाय, कि सिद्धि, चतुर्थ शिष्य को न होकर गुरु को होती है, तो निश्चित कहना पड़ेगा, कि या तो अलबेरूनी ने प्रकृत अर्थ को समझने में भूल की है या उसके ग्रन्थ का वैसा अर्थ समझने वाले ने।

हम देखते है, कि माठरवृत्ति में भी संक्षेप से यह सब वर्णन है। यद्यपि उसमें यह गुरु-शिष्य के संवाद रूप में नहीं है। हम माठर की उन पक्तियों को यहां उद्धृत कर देना उपयुक्त समझते हैं।

(१) *संशयबुद्धिर्विपर्ययः स्थाणुरयं पुरुषो वेति।*

(२) *भूयोऽपि स्थाणुं प्रसमीक्ष्य न शक्नोत्यन्तरं गन्तुं एवमस्याशक्तिरुत्पन्ना।*

(३) *ततस्तृतीयः तमेव स्थाणुं ज्ञातुं संशयितुं वा नेच्छति किमनेनास्माकं इत्येषा तुष्टिः।*

(४) *भूयश्चतुर्थो दृष्ट्वा यतस्तस्मिन् स्थाण्वादिरूढां वल्लीं पश्यति शकुनिं वा, ततोऽस्य निश्चय उत्पद्यते स्थाणुरयं इत्येषा सिद्धिः।*

माठर के इस लेख से यह बात स्पष्ट होजाती है, कि प्रत्ययसर्ग के इन चार भेदों को वह पृथक् २ चार व्यक्तियों के द्वारा प्रकट करना चाहता है। तुष्टि और सिद्धि के कथन में 'तृतीय' 'चतुर्थ' पदों का प्रयोग इस बात को सन्देहरहित कर देता है। यद्यपि यहां पर गुरु और शिष्य का उल्लेख नहीं है, फिर भी माठर की भावना इस ढंग की प्रतीत होती है, कि यह निर्देश जिज्ञासु द्वारा ही होना चाहिये। इससे हमें एक यह अनुमान होता है, कि उस समय

की पठन पाठन प्रणाली में माठर की इन पंक्तियों को उसी रूप में खुलासा करके पढ़ाया जाता होगा, जो रूप चीनी अनुवाद में आज हमें उपलब्ध है। वही परम्परा अलबेरूनी के समय तक भी होगी। इसी आधार पर उसने अपने ग्रन्थ में इस प्रसंग को लिखा है। अलबेरूनी ने चतुर्थ प्रत्ययसर्ग=सिद्धि को गुरु के नाम पर जो निर्देश किया है, वह मौखिक व्याख्यानके आधार पर हुआ कहा जासकता है, क्योंकि यह निर्देश न चीनी अनुवाद में है, और न उसके मूल रूप में। यदि अलबेरूनी का लेख, किसी लेख के आधार पर ही माना जाय, तो यह निश्चित है, कि वह लेख चीनी अनुवाद और माठरवृत्ति के विरुद्ध होगा। हमारे सामने यह स्पष्ट है, कि प्रकृत प्रसंग, माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद दोनों में ही, अर्थ प्रतिपादन में अत्यधिक समानता रखता है, जबकि अलबेरूनी के वर्णन में 'सिद्धि' के निर्देश में भेद है। हमारे विचार से यह भेद नहीं, प्रत्युत इसे अधिक निर्देश ही कहना चाहिये।

(३)—तीसरा एक और भेद-स्थल अलबेरूनी के ग्रन्थ से उपस्थित किया जाता है। आर्या १६ की व्याख्या में वर्णन है, कि वर्षा का मधुर जल पृथिवी पर आकर नाना रसों में परिणत होजाता है। यदि सुवर्णभाजन मे रहता है, तो वह उसीतरह मधुर रहता है। यदि पृथ्वी पर गिर जाता है, तो पृथिवी के गन्ध के अनुसार नाना रसों में परिणत हो जाता है। यह वर्णन चीनी अनुवाद में है। कहा जाता है, कि इस प्रसंग में अलबेरूनी ने भी सुवर्णभाजन का उल्लेख किया है। परन्तु माठरवृत्ति में सुवर्णभाजन का उल्लेख नहीं है। इससे परिणाम निकाला गया है, कि चीनी अनुवाद का आधार माठरवृत्ति नहीं होसकती।

इसके सम्बन्ध में कुछ भी कहने से पहले हम माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद के संस्कृत रूपान्तर को तुलनाकी सुविधा के लिये यहां उद्धृत कर देना चाहते हैं।

माठर	चीनी अनुवाद
तद्यथा-एकरसमन्तरिक्षात् जलं पतितम्, तच्च मेदिनीं प्राप्य नानारसतां याति, पृथग्भाजनविशेषात्।	*दिव्यमादावेकरसं जलं प्राप्नोति मेदिनीम्। नानारसं परिणमति पृथक् पृथग्भाजनविशेषात्।*
	यदि सुवर्णभाजने वर्तते, तद्रसोऽतिमधुरः। यदि पृथिवीं प्राप्नोति, पृथिवीगन्धमनुसृत्य रसो नाना भवति, न समः।

चीनी अनुवाद का प्रथम सन्दर्भ पद्य सदृश प्रतीत होता है। संस्कृतरूपान्तरकार ने यहां टिप्पणी में निर्देश किया है, कि चीनी में यह श्लोक रूप में ही है। संस्कृत रूपान्तर में प्रथम अर्द्ध अनुष्टुप् बन गया है। द्वितीय अर्द्ध में कोई छन्द नहीं है। तुलना से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि माठर के ग्रन्थ को चीनी अनुवाद में छन्द का रूप दे दिया गया है। यह एक विचारणीय बात है, कि यदि माठर ने चीनी अनुवाद के मूल का अनुकरण किया होता, और उस

मूल में इस स्थल पर कोई श्लोक ही होता, तो माठर उसकी उपेक्षा न करता, वह श्लोक ही लिख देता। जब कि विद्यमान संस्कृत रूपान्तर में पद और आनुपूर्वी भी वही है, जो माठर की है। माठरवृत्ति में यदि इस अर्थ का कुछ विशदीकरण होता, तब भी हम यह कल्पना कर सकते थे, कि उसने श्लोक का विवरण कर दिया है, परन्तु ऐसा भी नहीं है। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि माठर के सन्दर्भ को चीनी अनुवाद के समय चीनी पदों में छन्दोरूप देने का यत्न किया गया है। यद्यपि संस्कृत रूपान्तर में यह छन्द नहीं बन आया है।

अब चीनी अनुवाद के दूसरे सन्दर्भपर आइये। इस सन्दर्भ के दो भाग हैं, जो दोनों 'यदि' पद के प्रयोगों से प्रारम्भ होते हैं। इनमें से दूसरा भाग, श्लोक के प्रथम तीन चरणों का व्याख्यान मात्र है, और प्रथम भाग, श्लोक के अन्तिम चरण का। इसके अतिरिक्त द्वितीय सन्दर्भ को लिखकर किसी भी नवीन अर्थ का उद्भावन नहीं किया गया। इससे यह स्पष्ट है, कि यह मूल का व्याख्यान मात्र है। मूल में 'भाजनविशेष' पद है, उसी को स्पष्ट करने के लिये सुवर्णभाजन और पृथिवीभाजन का निर्देश किया गया है। यह वस्तु, व्याख्या की है, मूल की नहीं, और जैसा कि अभी हम निर्देश कर आये हैं, उस समय की अध्ययनाध्यापन परम्परा में माठर के उक्त पदों की व्याख्या इसी रूप में होती थी, उसी को चीनी अनुवादक ने अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अपने ग्रन्थ में रख दिया है। अनुवादक चीन में अवश्य चला गया था, परन्तु उस अध्यापन परम्परा को अपने साथ नहीं लेगया था, वह भारत में भी रही, और उसी मौखिक व्याख्या परम्परा के आधार पर अलबेरूनी ने अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये अपने ग्रन्थ में इसे स्थान दिया। आज भी वह परम्परा समाप्त नहीं होगई। माठर की उक्त पंक्ति का यदि इस समय भी हम विवरण करेंगे, तो उसी रूप में कर सकते हैं, उससे अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं। सुवर्ण का नाम भी भाजन के साथ इसीलिये जोड़ा गया है, कि वह सब धातुओं में स्वच्छ और निर्दोष है। परन्तु अलबेरूनी ने और भी बहुत सी धातुओं का नाम ले दिया है। वह सोना, चांदी, कांच, मिट्टी, चिकनी मिट्टी, खारी मिट्टी आदि का स्पष्ट उल्लेख करता है, चीनी अनुवाद में केवल सुवर्ण का उल्लेख है, आदि पदका भी प्रयोग नहीं है, इससे स्पष्ट है, कि अलबेरूनी के लेख और चीनी अनुवाद में अनुकरण की द्योतक समानता नहीं है। मूल व्याख्या के पदों का ही दोनों जगह व्याख्यान होने के कारण समानता कही जासकती है। इसप्रकार यह उल्लेख इस बात की और भी पुष्टि करता है, कि चीनी अनुवाद का मूल, माठरवृत्ति ही है।

श्रीयुत अय्यास्वामी शास्त्री महोदय ने इस प्रसंग में एक बहुत ही अद्भुत परिणाम निकाला है। आपने लिखा है, [1] "चीनी अनुवाद और अलबेरूनी के उद्धरणों के इतने समीप

[1] From such close coincidences between Alberuni's quotations and CHC, we may say that the Samkhya book which Alberuni reports to have been composed by the sage Kapila and quotes in his 'Indica', seems to

सन्तुलन के आधार पर हम कह सकते हैं, कि अलबेरूनी ने जिस सांख्यग्रन्थ का वर्णन किया है, वह महर्षि कपिल की रचना है, और उसी को 'इण्डिका' [Indica अलबेरूनी के यात्रा वर्णन ग्रन्थका नाम] में उद्धृत किया है, जो चीनी अनुवाद का मूल प्रतीत होता है।"

अलबेरूनी के उद्धरण और चीनी अनुवाद के उपर्युक्त सन्तुलनों के आधार पर यह परिणाम निकालना वस्तुतः साहसपूर्ण है। यह बात हमारे सामने स्पष्ट है, कि चीनी अनुवाद ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिकाओं की व्याख्या ही है। फलतः वह अनुवाद, सांख्यकारिकाओं के किसी व्याख्या ग्रन्थ का ही होगा। क्या श्रीयुत अय्यास्वामी शास्त्री महोदय यह समझते हैं, कि सांख्यकारिकाओं के उस व्याख्या ग्रन्थ की रचना कपिल ने की थी? यदि नहीं, तो चीनी अनुवाद का आधार, कपिल की रचना को कैसे कहा जासकता है? यदि हां, तब तो अनुसन्धान की यह पराकाष्ठा है, ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं पर महर्षि कपिल ने व्याख्याग्रन्थ लिखा, इस कथन पर विचार करना ही निरर्थक है।

श्लोकवार्त्तिक के आधार पर भेदनिर्देश, तथा उसका विवेचन—

श्रीयुत शास्त्री महोदय ने अपने विचारों की पुष्टि के लिये एक और प्रमाण इसप्रकार उपस्थित किया है।

कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्त्तिक [अनुमान १०५] में हेत्वाभासों का कथन करते हुए 'शयनादि' उदाहरण दिया है, जो पुरुष की सिद्धि के लिये 'संघातपरार्थत्वात्' [सां० का० १७] इस हेतु पर उदाहरण रूप में सांख्यों के द्वारा निर्देश किया जाता है। शान्तरक्षित ने 'तत्त्वसंग्रह' [३०७ का०] में इसी उदाहरण को 'शय्यासनादि' रूप में दिया है। अब यह उदाहरण केवल चीनी अनुवाद में मिलता है। माठरवृत्ति और गौडपादभाष्य में इसके स्थान पर 'पर्यङ्कादि' उदाहरण दिया गया है।

इस सम्बन्ध में हमारा कथन है, कि इन पदों के द्वारा भेद का निरूपण कैसे किया जा सकता है? 'शयन' 'शय्या' अथवा 'पर्यङ्क' पद एक ही अर्थ को कहते हैं। परमार्थ ने माठर के 'पर्यङ्क' पद का चीनी में जो अनुवाद किया होगा, आपने अब संस्कृत-रूपान्तर करते समय उसके लिये 'शयन' पद का प्रयोग कर दिया है। यह आपको कैसे प्रतीत हो गया, कि उस चीनी पद का मूल रूप 'शयन' ही था 'पर्यङ्क' नहीं था, जब कि दोनों पद किसी रूप में पर्यायवाची हैं, एवं समान ही अर्थ को कहते हैं। इसीलिये इन पदों के प्रयोग पर मूल और अनुवाद अर्थात् माठर-वृत्ति और चीनी अनुवाद के भेद को आधारित करना सर्वथा निरर्थक है।

कमलशील के आधार पर भेदनिर्देश, तथा उसका विवेचन।

इसके आगे श्रीयुत शास्त्री महोदय ने तत्त्वसंग्रह की कमलशीलकृत पञ्जिका व्याख्या से

represent the original of the Chinese translation. सुवर्णसप्तति शास्त्र, भूमिका, पृ० १३,

६,१०,११,१५[1] सांख्यकारिकाओं के विवरण की चीनी अनुवाद के साथ तुलना करके यह परिणाम निकाला है, कि पञ्जिका के विवरण चीनी अनुवाद से अधिक मिलते हैं, माठरवृत्ति से नहीं।

परन्तु हमने स्वयं इन सब सन्दर्भों की परस्पर तुलना की है, और हम सर्वथा विपरीत परिणाम पर पहुंचे हैं। इन तीनों ग्रन्थों में प्रस्तुत प्रसङ्ग की समानताओं का हम यहां उल्लेख नहीं करते, प्रत्युत हम कुछ विभेदों को दिखलाते हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जायगा, कि पञ्जिका में कमलशील का विवरण माठरवृत्ति के साथ अधिक अनुकूलता रखता है, और माठरवृत्ति से चीनी अनुवाद का ऐसे स्थलों में विभेद, अनुवाद के समय न्यूनाधिकताओं के कारण ही हुआ है। परन्तु कमलशील के विवरण मूल व्याख्या माठरवृत्ति पर आधारित हैं, चीनी अनुवाद पर नहीं।

पञ्जिका में १०वीं आर्या का विवरण करते हुए, महत् का हेतु प्रधान, अहङ्कार का हेतु महत्, इन्द्रियों और तन्मात्रों का हेतु अहङ्कार और पञ्च महाभूतों का हेतु तन्मात्रों को कहा है। वह कथन इसी आर्या के चीनी अनुवाद के अनुकूल नहीं है। चीनी अनुवाद में अहङ्कार को केवल पञ्चतन्मात्र का हेतु कहा है, और इन्द्रियादि सोलह [११ इन्द्रिय ५ स्थूलभूत] पदार्थों का हेतु पञ्चतन्मात्रों को बताया है। पञ्जिका का विवरण माठरवृत्ति के अनुसार है।

इसीप्रकार १५वीं आर्या के विवरण में कमलशील पांच स्थूलभूतों का पञ्चतन्मात्रों में और पञ्चतन्मात्रों तथा एकादश इन्द्रियों का अहङ्कार में लय होना बतलाता है। परन्तु चीनी अनुवाद में इसके विपरीत पांच स्थूलभूतों और एकादश इन्द्रियों का लय पञ्चतन्मात्रों में ही[2] बताया गया है। पञ्जिका का विवरण माठरवृत्ति का अनुकरण करता है। ऐसी स्थितिमें माठरवृत्ति, चीनी अनुवाद और पञ्जिका इन तीनों की परस्पर तुलना के आधार पर यह परिणाम निकालना, कि कमलशील के लेख और चीनी अनुवाद का आधार, कोई माठरवृत्ति से अतिरिक्त व्याख्याग्रन्थ था, असङ्गत होगा।

मन की संकल्प वृत्ति को (२७वीं आर्या के विवरण में) स्पष्ट करने के लिये जो उदाहरण, कमलशील (तत्त्वसंग्रह पंजिका पृ०१६) और गुणरत्न सूरि (षड्दर्शनसमुच्चय सटीक पृ० १०१) ने अपने ग्रन्थों में दिया है, कहा जाता है, कि उसका मूल माठर में नहीं है, चीनी अनुवाद में[3] है। इसीप्रकार ६वीं आर्या में 'उपादानग्रहण' हेतु का विवरण करते हुए एक उदाहरण

---

[1] ६ कारिका, तत्त्वसंग्रह के ८वें श्लोक [पृ० १८] पर, १० और ११ कारिका, तत्त्वसंग्रह के ७वें श्लोक [पृ० १७] पर, १५ कारिका, तत्त्वसंग्रह के १४ श्लोक [पृ० २०-२१] पर व्याख्यात हैं।

[2] अभी आगे हम इस बात का निर्देश करेंगे, कि यह मत चीनी अनुवाद में अनुवादक के द्वारा ही उद्भावन किया गया है, सांख्य के किसी भी ग्रन्थ में इस का उल्लेख नहीं पाया जाता। यदि कमलशील के विवरण किसी ऐसे ग्रन्थ के आधार पर होते, जो चीनी अनुवाद के आधार होने के साथ २ माठरवृत्ति से अतिरिक्त था, तो कमलशील के विवरण में चीनी अनुवाद के साथ उक्त सिद्धान्त सम्बन्धी मौलिक भेद न आपाता।

[3] देखिये, सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृ० ११।

कमलशील देता है, उसका मूल भी माठर में नहीं, चीनी अनुवाद में है। इसलिये चीनी अनुवाद का मूल वही ग्रन्थ होना चाहिये, जो कमलशीलके विवरण का आधार है, और वह ग्रन्थ माठरवृत्ति नहीं होसकता। क्योंकि उसमें उक्त उदाहरणों का मूल नहीं मिलता।

इस सम्बन्ध में हमारा कथन है, कि वस्तुतः ये उदाहरण मूल व्याख्या के अंश नहीं हैं। मूल व्याख्या के उन २ पदों का स्पष्ट विवरण करने के लिये ही अध्ययन आदि के समय ये उदाहरण उपस्थित किये जाते रहे हैं। आगे अनुवादक ने अपने अनुवाद में तथा अन्य लेखकों ने उन २ प्रसंगों के लिखने के अवसर पर अपने ग्रन्थों में अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये उनका उल्लेख कर दिया है। माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की अन्य अत्यधिक समानताओं के आधार पर यदि यही कहा जाता है, कि माठरवृत्ति में चीनी अनुवाद के मूल का अनुकरण किया गया है, तो हम इस बात का कोई कारण नहीं पाते, कि ये उदाहरण माठरवृत्ति में क्यों नहीं हैं ? यदि कहा जाय, कि माठर अपनी इच्छानुसार इन्हें छोड़ सकता है, तो यह भी कहा जासकता है, कि चीनी अनुवादक अपनी इच्छानुसार अनुवाद में जोड़ भी सकता है, जो अर्थ के स्पष्ट करने के विचार से अधिक संगत है। इसलिये वस्तुस्थिति यही है, कि ये माठरवृत्ति की रचना के बाद की चीज है, और वृत्ति के मूल पदों का ही इनके द्वारा विवरण किया गया है।

ये उदाहरण मूल व्याख्या के भाग नहीं हैं, इसके लिये हम इसप्रकार तर्क कर सकते हैं। मनकी वृत्ति संकल्प कही गई है, अहङ्कारकी अभिमान और बुद्धिकी अध्यवसाय। बुद्धि और अहङ्कार की वृत्ति का यथाक्रम २३ और २४वीं आर्या में निरूपण किया गया है। इनके विवरण के लिये किसी भी व्याख्या में कोई उदाहरण नहीं है। संकल्पवृत्ति के लिये भी मूलव्याख्या में उदाहरण नहीं होगा, माठरवृत्ति के अध्यापक व्याख्याकारों ने इसका उद्भावन किया, और अगले लेखकों ने इसका ग्रथन कर दिया। ठीक इसीप्रकार ६वीं आर्यामें भी 'उपादानग्रहण' हेतु के साथ चार अन्य हेतुओं का भी उपन्यास है, परन्तु किसी व्याख्या में भी किसीके साथ कोई उदाहरण नहीं है। वैसे हेत्वर्थ के विवरण के लिये प्रत्येक हेतुपद के साथ इस तरह के उदाहरण की कल्पना की जासकती है। मूल व्याख्या में जहां कहीं भी ऐसे उदाहरण दिये गये हैं, उनमें इस तरह की विषमता नहीं देखी जाती। इससे अनुमान यही होता है. कि आवश्यकतानुसार मूलव्याख्या के पढ़ने पढ़ाने वालों ने बहुत सी बातों को मूल पदों के विवरणों के साथ अपने ग्रन्थों में अधिक लिखने का अवसर दिया है।

उपर्युक्त कथन के लिये हमारा कोई आग्रह नहीं है। पर इतना निश्चय है. कि वर्तमान माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद का परस्पर इतना अधिक साम्य है. कि यह केवल इतना कहकर उपेक्षा नहीं किया जासकता, कि माठर ने चीनी अनुवाद के मूल का अनुकरण किया होगा। किसी ग्रन्थ का अन्य लेखक के द्वारा अनुकरण किया जाना और प्रतिलिपि किया जाना, सर्वथा भिन्न बातें हैं। इन दोनों ग्रन्थों की समानता अनुकरण की स्थिति तक पूर्ण नहीं होपाती, प्रत्युत यह

समानता प्रतिलिपि की स्थिति तक पहुंच जाती है। इस बात को हम निश्चय रूप से जानते हैं, कि चीनी अनुवाद, अनुवाद है, वह प्रतिलिपि के ही समान है. उसका मूल अवश्य कोई संस्कृत ग्रन्थ है, और वह ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिकाओं की व्याख्या है। ऐसी स्थिति में माठरवृत्ति ही चीनी अनुवाद की मूलभूत व्याख्या है। इतना निश्चय होजाने पर हम वर्तमान माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद के अनेक पाठों को एक दूसरे की सहायता पर शुद्ध कर सकते हैं. और अधिक से अधिक मूल वास्तविक पाठों तक पहुंच सकते हैं। इसलिये उक्त प्रस्तुत उदाहरणों के सम्बन्ध में यह भी अनुमान किया जासकता है, कि कुछ पाठ वर्तमान माठरवृत्ति में खण्डित होगये हों. जिन का पता हम चीनी अनुवाद के आधार पर लगा सकते हैं।

माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की आश्चर्यजनक समानता—

इस बात का हम आगे निर्देश करेंगे, कि चीनी अनुवाद में अनेक सन्दर्भ ऐसे हैं, जो अनुवादक ने स्वयं उसमें मिलाये हैं, वे मूल के अंश कदापि नहीं होसकते। परन्तु इससे पूर्व प्रसंगवश इन दोनों ग्रन्थों (मूल माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद) की उन दो एक समानताओं का उल्लेख कर देना चाहते हैं, जो एक ग्रन्थकार के द्वारा दूसरे ग्रन्थ का अनुकरण करने में संभव नहीं होसकतीं. केवल प्रतिलिपि अथवा अनुवाद में ही उनकी संभावना होसकती है।

(क) माठरवृत्ति में १८वीं आर्या के 'अयुगपत्प्रवृत्तेश्च' इस हेतुपद का व्याख्यान नहीं है। वह हम नहीं कह सकते, कि इस पद का व्याख्यान, व्याख्याकार ने किया ही नहीं, अथवा किसी समयमें खण्डित होगया। यहां विशेष ध्यान देने योग्य यह बात है, कि चीनी अनुवादमें भी इस हेतुपद का व्याख्यान नहीं है। अब यदि हम इस बात को स्वीकार करें, कि माठर ने चीनी अनुवाद के मूल का अनुकरण किया है, तो निश्चित ही किसी ग्रन्थ का अनुकरण करने वाले लेखक के सम्बन्ध में यह नहीं माना जासकता, कि यदि किसी पद के अर्थ प्रथम ग्रन्थ में नहीं हैं, तो अनुकर्त्ता भी उसे छोड़ दे। वस्तुतः अनुकरण करते हुए भी वह एक अपनी रचना कर रहा है. वह स्वयं भी उन पदोंका अर्थ कर सकता है. अर्थ न किये जानेका कारण, उसकी अयोग्यता को भी नहीं कही जासकता। परन्तु प्रतिलिपि करने वाले के लिये यह सर्वथा संभव और युक्त है, क्योंकि वह नई रचना नहीं कर रहा। इसी तरह अनुवाद में भी यह बात संभव है। अनुवादक मूलग्रन्थ का ही अनुवाद करेगा, यदि किन्हीं पदों का व्याख्यान मूलग्रन्थ में नहीं है, तो वह कर ही क्या सकता है, वह उसको उसी तरह छोड़ देगा, क्योंकि वह अनुवादक है। यह एक बहुत ही स्वाभाविक बात है, कि माठरवृत्ति में उक्त हेतुपद का व्याख्यान नहीं है, और इसीलिये चीनी में उसका अनुवाद भी नहीं हुआ। यह समानता निश्चय करती है, कि यह अनुवाद माठरवृत्ति का ही है।

(ख) १५वीं आर्या की व्याख्या में छठे हेतु का व्याख्यान करते हुए कमलशील[1] ने प्रधान और व्यक्त दोनों को इकट्ठा ही प्रसवधर्मी कहा है, और उसी क्रम से उदाहरण दिया है, अर्थात्

[1] तत्त्वसंग्रह, ७वां श्लोक, पृष्ठ १७ पर।

प्रधान से बुद्धि की उत्पत्ति होती है, और बुद्धि से अहङ्कार की। चीनी अनुवाद में इस उदाहरण में विपर्यय है। अर्थात् पहले व्यक्त का उदाहरण दिया है--बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है, और अहङ्कार से तन्मात्रा आदि। इसके अनन्तर लिखा है, प्रधान महत् को उत्पन्न करता है। चीनी अनुवाद का यह क्रम, माठरवृत्ति के सर्वथा अनुकूल है, यद्यपि अपने लेख से उसका असामञ्जस्य होजाता है। तात्पर्य यह है कि उदाहरण का क्रम उसने अपने मूलग्रन्थ के अनुसार ही रहने दिया है, जो अनुवादक के लिये उपयुक्त कहा जासकता है। केवल अर्थ का अनुकरण करनेवाला उससे बाधित नहीं होता, जैसे कमलशील ने ही किया है। इसलिये स्थिर होता है, कि ऐसी समानताएं केवल अनुकरण में संभव नहीं होसकतीं. अनुवाद में अवश्य इनको संभावना होसकती है।

अलबेरूनी, कमलशील और गुणरत्न के लेखों का आधार, माठरवृत्ति—

पिछले पृष्ठों में हमने चीनी अनुवाद के ऐसे सन्दर्भों के सम्बन्ध में आलोचना की है, जिनकी समानता सुवर्णसप्तति के विद्वान् सम्पादक महोदय ने अलबेरूनी, कमलशील और गुणरत्न सूरि के लेखों के साथ प्रदर्शित की है, और माठरवृत्ति के साथ उसकी असमानता बतलाई है। अब हम अलबेरूनी कमलशील और गुणरत्नसूरि के ग्रन्थों से ऐसे उदाहरण भी उपस्थित कर सकते हैं, जिनकी माठरवृत्ति के साथ अत्यधिक समानता है चीनी अनुवाद के साथ नहीं। यद्यपि चीनी अनुवाद में ऐसा विपर्यय अनुवाद होने के कारण ही होगया है। इससे यह परिणाम स्पष्ट सामने आजाता है, कि अलबेरूनी आदि के सन्मुख माठरवृत्ति अवश्य थी, जिसके आधार पर उन्होंने अपने ग्रन्थों में सांख्यविचारों का उल्लेख किया है, और यह चीनी अनुवाद भी इसीलिये उसी वृत्ति का अनुवाद कहा जासकता है।

'अलबेरूनी का भारत' हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ६१ के प्रारम्भ में सांख्यग्रन्थ से एक दृष्टान्त उद्धृत किया है। इसकी आनुपूर्वी तथा रचनाप्रसंग, माठरवृत्ति में २० वीं आर्या के व्याख्यान में उपलब्ध दृष्टान्त के साथ अत्यधिक समानता रखता है, चीनी अनुवाद की आनुपूर्वी में पर्याप्त अन्तर है। गौडपाद भाष्य में भी वह आनुपूर्वी नहीं है।

इसीप्रकार गुणरत्न सूरि की षड्दर्शनसमुच्चय की व्याख्या मे पृष्ठ १०८ पर अनुमान के कुछ उदाहरण दिये हैं, वे सर्वथा माठरवृत्ति (आर्या ५ की व्याख्या) के आधार पर हैं।

कमलशील के लेखों के सम्बन्ध में हम पीछे भी निर्देश कर चुके हैं, कि चीनी अनुवाद में प्रतिपादित मत का उसने अनुसरण नहीं किया है। कोई भी विद्वान् उसकी आनुपूर्वी को माठरवृत्ति से तुलना कर सकता है। सिद्धसेन दिवाकर रचित 'सन्मतितर्क' के व्याख्यात, अभयदेव सूरि ने भी कमलशील के सदृश सांख्यकारिका की कई आर्याओं के व्याख्यान अपने ग्रन्थ में दिये हैं, जो माठरवृत्ति के साथ ही समानता रखते हैं [1]।

[1] सन्मति तर्क, पृष्ठ २८०-२८४। गुजरातपुरातत्त्व मन्दिर ग्रन्थावली-संस्करण।

भेद के अन्य आधार तथा उनका विवेचन—

श्रीयुत अय्यास्वामी शास्त्री महोदय ने सुवर्णसप्तति की भूमिका में 'चीनी अनुवाद का रचयिता' शीर्षक देकर कुछ अन्य ऐसे स्थल उपस्थित किये हैं, जिनके आधार पर माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद को भिन्न २ ग्रन्थ सिद्ध करने का यत्न किया गया है। उसके सम्बन्ध में भी हम थोड़ा विवेचन कर देना चाहते हैं।

(१)—भूमिका के ३६ पृष्ठ पर श्रीयुत शास्त्री महोदय ने लिखा है, कि सांख्यकारिका २२ और २५ में महत् से अहङ्कार, अहङ्कार से एकादश इन्द्रिय और पञ्च तन्मात्र, तथा पञ्च तन्मात्रों से पांच स्थूलभूतों की उत्पत्ति होने का उल्लेख किया गया है। परन्तु ३, ८, १०, १५, ५६, ५६ और ६८ कारिकाओं की व्याख्या के चीनी अनुवाद में अहङ्कार से केवल पञ्च तन्मात्रों की उत्पत्ति होना बताया है, अनन्तर पञ्च तन्मात्रों से एकादश इन्द्रिय और पांच स्थूलभूतों की उत्पत्ति कही है। यद्यपि २२, २४, २५, २७ और ३६ कारिकाओं के चीनी अनुवाद में उस सिद्धान्त का भी निरूपण किया गया है, जो २२ और २५ कारिकाओं में निर्दिष्ट है। इसप्रकार एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दोनों विचार चीनी अनुवाद में विद्यमान हैं। इनके आधार पर श्रीयुत शास्त्री महोदयने यह परिणाम निकाला है, कि ईश्वरकृष्ण से कुछ पूर्व और कुछ अनन्तर काल तक इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में विद्वानों को निश्चयात्मक ज्ञान नहीं था, और इस आधार पर उन्होंने यह सिद्ध करने का यत्न किया है, कि जिस व्याख्याग्रन्थ का चीनी में अनुवाद किया गया है, उसमें भी इसी प्रकार के लेख होंगे। क्योंकि ये लेख माठरवृत्ति में नहीं हैं, इसलिये चीनी अनुवाद का मूल, माठरवृत्ति को नहीं कहा जासकता।

इसी अर्थकी पुष्टि के लिये भूमिका में प्राचीन आधारों पर पदार्थों के प्रादुर्भाव की अन्य रीतियों का भी उल्लेख किया गया है। इससे यह परिणाम निकाला है, कि ईश्वरकृष्ण के कुछ पहले से पीछे तक पदार्थों के प्रादुर्भाव की तथा उनके क्रमकी चार पांच रीतियां थीं।

इस सम्बन्ध में सब से प्रथम हमें अपना ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहिये, कि ईश्वरकृष्ण ने पदार्थों के प्रादुर्भाव तथा उनके क्रम की एक ही निश्चित रीति को स्वीकार किया है, और यह भी ईश्वरकृष्ण के लेख के अनुसार निश्चित है, कि वही रीति षष्टितन्त्र में भी स्वीकृत कीगई है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में ईश्वरकृष्ण का एक अपना विचार निश्चित है। अन्य सांख्याचार्यों ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। चीनी अनुवाद में भी सात स्थलों पर इसी सिद्धान्त का निरूपण किया गया है।

इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते है, कि प्राचीन काल से अब तक के उपलब्ध [पञ्चाधिकरण के अतिरिक्त] सांख्याचार्यों के लेखों में इस सिद्धान्त को सर्वसम्मत माना गया है, कि इन्द्रियां आहङ्कारिक हैं, भौतिक नहीं। इसके विपरीत अन्य अनेक दार्शनिक इन्द्रियों को भौतिक ही मानते हैं। न्याय वैशेषिक बौद्ध शाङ्कर वेदान्ती आदि अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय

इसी विचार के मानने वाले हैं, और यह ईश्वरकृष्ण के आगे पीछे ही नहीं माना जाता था, आज भी वैसा ही माना जाता है। ऐसी स्थिति में अनायास ही हमारे सन्मुख यह बात आजाती है, कि चीनी अनुवाद में इन विचारों का संमिश्रण किन आधारों पर होसकता है। यह बात क्यों नहीं कही जासकती, कि परमार्थ ने ही अनुवाद के समय बौद्ध विचारों से प्रभावित होकर इसप्रकार के उल्लेख कर दिये हों। जैसे कि और भी अनेक स्थलों पर अपनी ओर से उसने इस अनुवाद में संमिश्रण किया है।[1]

यद्यपि इन स्थलों में, जहां तन्मात्रों से इन्द्रियों की उत्पत्ति कही है, अनेक स्थल ऐसे हैं, जहां उन्हीं पदों को आगे पीछे करने से सांख्यकारिकाप्रतिपादित सिद्धान्तों के साथ सर्वथा अनुकूलता होजाती है, कोई विपर्यय नहीं रहता। संभव है इन स्थलों के पाठ, अनुवाद में पदों का विपर्यय होजाने से, अन्यथा अर्थ के प्रतिपादक बनगये हों। फिर भी अन्य अनेक स्थलों के पाठ ऐसे हैं, जिन में केवल पाठ के विपर्यय की संभावना नहीं की जासकती, और उनमें स्पष्ट ही सूक्ष्मभूतों से सोलह विकारों [एकादश इन्द्रिय, पांच स्थूलभूत] की उत्पत्ति अथवा उनमें प्रलय होने का उल्लेख है। इसलिये इन विचारों के यहां संमिश्रण का कोई विशेष कारण ही कहा जासकता है, और वह है, परमार्थ पर बौद्ध मत का प्रभाव। इसके अतिरिक्त सांख्याचार्यों में भी एक ऐसा आचार्य है, जो इन्द्रियों को भौतिक मानता है। उसका नाम है—पञ्चाधिकरण। [देखें युक्तिदीपिका, पृ० १०८, पं० ७-८]। संभव है, परमार्थ ने इसके विचारों से प्रभावित होकर अनुवाद में कहीं २ वैसा लिखदिया हो।

परन्तु इसके लिये भी हमारा सर्वथा आग्रह नहीं है। हमारा अभिप्राय केवल इतना है, कि चीनी अनुवाद में उल्लिखित इन अर्थों का आधार उसका मूलग्रन्थ ही हो, यह निश्चित रूप में नहीं कहा जासकता। महाभारत[2] आदि ग्रन्थों में इस सम्बन्ध के अन्य विचारों का भी उल्लेख है। परन्तु वह आज भी उसी तरह है, जैसे ईश्वरकृष्ण के काल में अथवा कुछ पहले या पीछे था। आज भी कोई भी विद्वान् उन विचारों का उसी तरह उल्लेख कर सकता है। इसका यह अभिप्राय अथवा परिणाम नहीं निकाला जासकता, कि उस समय तक विद्वानों का इस सम्बन्ध में अनिश्चयात्मक ज्ञान था, और अब कुछ निश्चयात्मक ज्ञान होगया है। वस्तुतः ये सिद्धान्त, आचार्यों के अपने २ हैं। इस विषय में कपिल का जो सिद्धान्त है, सांख्यकारिका के आधार पर भी हम उसे जान सकते हैं। अनन्तरवर्ती सांख्याचार्यों के भी उससे विरुद्ध विचार होसकते हैं। परन्तु उनमें से अन्तिम और पूर्ण विचार कौनसा है, यह कुछ नहीं कहा जासकता। अपने विचारों के अनुसार हम उन सिद्धान्तों में से किसी के लिये भी अधिक तथ्य होने का प्रकाशन कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना ही युक्त है, कि चीनी अनुवाद के वे विचार,

---

[1] स्वर्णसप्ततिशास्त्र, पृष्ठ ४६ पर 'यथोक्त गाथायाम् —' कह कर दो श्लोक उद्धृत हैं। जो मूल में संभव नहीं होसकते, अनुवादक ने ही इनको यहां मिलाया है। इसके अतिरिक्त, पृष्ठ ७८ की संख्या १ टिप्पणी देखें।

[2] तुलना करें, महाभारत, कुम्भघोण संस्करण, शान्तिपर्व अध्याय ३११, ३१२, ३१४, ३२७॥

जो ईश्वरकृष्ण और कपिलके विचारोंके अनुकूल नहीं हैं, अनुवादककी अपनी भावनाओंके आधार पर ही इसमें स्थान पागये हैं। यह आवश्यक नहीं, कि वे उसके मूल व्याख्यान में भी हों। जब और भी अनेक विचार चीनी अनुवाद में ऐसे हैं, जिनको निश्चित ही मूलव्याख्यान का अंश नहीं कहा जासकता। इसलिये ये विचार, माठरवृत्ति को चीनी अनुवाद का मूल मानने में बाधक नहीं होसकते।

(२) इसके आगे श्रीयुत शास्त्री महोदय ने दूसरा उदाहरण सूक्ष्मशरीर का दिया है। आपका विचार है, कि चीनी अनुवाद में सूक्ष्मशरीर के सात ही अंग माने गये हैं, और उसके अनुसार गौडपादभाष्य में संभवतः आठ, जबकि सांख्यकारिकाओं और उनकी व्याख्या माठर आदि में १८ तत्त्वों से सूक्ष्मशरीर की रचना मानी है। इसी आधार पर श्रीयुत शास्त्री महोदय ने परिणाम निकाला है, कि चीनी अनुवादका मूल आधार कोई ऐसा प्राचीन व्याख्यान होगा, जिसमें सूक्ष्मशरीर के सात ही तत्त्वों को स्वीकार किया गया होगा। क्योंकि वर्तमान माठरवृत्ति में ऐसा नहीं है, इसलिये उसको चीनी अनुवाद का मूल आधार नहीं कहा जासकता।

सूक्ष्मशरीर के सम्बन्ध में हम पीछे विवेचन कर चुके हैं। श्रीयुत शास्त्री महोदय ने ४०वीं आर्या के चीनी अनुवाद की एक पंक्ति के आधार पर ऐसा लिखा है। परन्तु उसी आर्या की व्याख्या में आगे, तथा कारिका १०, ४१, ४२ और ६२ के चीनी अनुवाद में स्पष्ट ही सूक्ष्मशरीर के १८ तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। ४०वीं आर्या के चीनी अनुवाद की प्रारम्भिक पंक्तियों में जहां सात तत्त्वों का उल्लेख है, वहां यही प्रतीत होता है, कि आदि और अन्त के तत्त्वों की ही गणना का उल्लेख किया है। अन्य लेखों के सामञ्जस्य के आधार पर यह भी संभावना की जासकती है, कि यहां चीनी अनुवाद में कुछ पाठ खण्डित होगया हो, इसी आर्या के चीनी अनुवाद की ५८ पृ० की अन्तिम पंक्ति के आधार पर, पहली पंक्तियों में 'एतानि सप्त' इन पदों के आगे 'इन्द्रियाणि चैकादश' इस पाठ की संभावना की जासकती है, जो संभवतः अनुवाद में खण्डित होगया हो, अथवा प्रथम लिखते समय ही रह गया हो। जो कुछ भी हो, पर इतना निश्चित है, कि चीनी अनुवाद के सम्बन्ध में यह मत प्रकट नहीं किया जासकता, कि यह सूक्ष्मशरीर में सात ही तत्त्व मानता है। यही बात गौडपादभाष्य के सम्बन्ध में है। ४२वीं आर्या के गौडपादभाष्य में स्पष्ट ही सूक्ष्मशरीर में १८ तत्त्व माने हैं। ऐसी स्थिति में यह कल्पना करना, कि कोई ऐसी प्राचीन व्याख्या कारिकाओं की होगी, जिसमें सूक्ष्मशरीर के सात ही तत्त्वों का उल्लेख होगा, सर्वथा निराधार है। इसलिये इस आधार पर भी माठरवृत्ति को चीनी अनुवाद का मूल मानने में कोई बाधा उपस्थित नहीं की जासकती।

माठरभाष्य तथा माठरप्रान्त—

षड्दर्शनसमुच्चय के व्याख्याकार गुणरत्नसूरि ने अपनी व्याख्या में 'माठरभाष्य'[1]

---

[1] षड्दर्शनसमुच्चय की टीका, गुणरत्नसूरि कृत, रौयल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता, कौरट १९०५ का

और 'माठरप्रान्त' इन दो पदोंका प्रयोग किया है। सुवर्णसप्ततिशास्त्र के सम्पादक श्रीयुत अय्यास्वामी शास्त्री महोदयने इसके आधारपर उक्त ग्रन्थ की भूमिका में[1] यह निर्धारण करनेका यत्न किया है, कि 'माठरभाष्य' नाम का कोई प्राचीन व्याख्याग्रन्थ था, जिसका उल्लेख 'अनुयोगद्वारसूत्र' आदि जैन ग्रन्थों में पाया जाता है। संभवतः वही माठरभाष्य चीनी अनुवाद का मूल आधार होगा। 'माठरप्रान्त' पदका प्रयोग, गुणरत्नसूरि ने उपलभ्यमान माठरवृत्ति के लिये किया है।

'माठरप्रान्त' पद के सम्बन्ध में हम पर्याप्त विवेचन पीछे कर चुके हैं। श्रीयुत शास्त्री महोदय को 'प्रान्त' पद का अर्थ[2] समझने में भ्रम हुआ है। गुणरत्नसूरि ने जो श्लोक 'माठरप्रान्त' कहकर उद्धृत किया है, वह माठरभाष्य के ही हाशिये (Margin) पर लिखा हुआ श्लोक था, उसको ठीक पते के साथ उद्धृत करने में गुणरत्नसूरि ने पूरी सावधानता निभाई है, और इसी लिये आगे ही जो श्लोक उसने 'शास्त्रान्तर' कहकर उद्धृत किया है, वह उसने शास्त्र के मध्य में ही देखा है, संभव है वह, माठरभाष्य में ही देखा हो। परन्तु यह स्पष्ट है, कि 'प्रान्त' पद का प्रयोग यहां किसी ग्रन्थान्तर का निश्चायक नहीं कहा जासकता। प्रत्युत यह उसी माठर ग्रन्थ के हाशिये के लिये प्रयुक्त किया गया है, जिसका १०६ पृष्ठ पर ग्रन्थों की सूची में 'माठरभाष्य' नाम से उल्लेख किया है।

ग्रन्थ सूची में 'माठरभाष्य' पद, उपलभ्यमान माठरवृत्ति के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, इसकी पुष्टि के लिये हम और भी उपोद्बलक देते हैं। गुणरत्नसूरि की व्याख्या में हम देखते हैं, कि अनेक स्थलों पर प्रसंगवश उसने सांख्यसिद्धान्तों का निरूपण करने में माठरवृत्ति का ही अनुकरण[3] किया है, गौडपादभाष्य अथवा तत्त्वकौमुदी आदि का नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि, सांख्यसिद्धान्तों के निरूपण में वह माठरवृत्ति को अन्य व्याख्याओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है। ऐसी स्थिति में जब वह सांख्यग्रन्थों का उल्लेख करने लगेगा, तब उस ग्रन्थ का वह नाम न गिनाये, यह बात समझ में नहीं आसकती। इसलिये यह निश्चित रूप से कहा जासकता है, कि ग्रन्थों की गणना में 'माठरभाष्य' से वह उसी ग्रन्थ का उल्लेख कर रहा है, जिसका उसने अपनी व्याख्या में जहां तहां आश्रय लिया है, जो कि उन २ स्थलों की तुलना करने से माठरवृत्ति ही निश्चित होता है। इसप्रकार गुणरत्नसूरि का 'माठरभाष्य', उपलभ्यमान माठरवृत्ति से भिन्न नहीं कहा जासकता। अतः माठरवृत्ति ही चीनी अनुवाद का मूल आधार है, यह बात सर्वथा निश्चित होजाती है।

संस्करण, पृष्ठ १०६ पर 'माठरभाष्य' पद है, और पृष्ठ ६६ पर 'माठरप्रान्त'।

[1] सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ ३७, ३८ और ४२।

[2] सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ ३७ और वहां पर संख्या १ की टिप्पणी।

[3] देखें, षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरि कृत व्याख्या, पृष्ठ १०२, ६। और १०८। इसकी तुलना करें, माठरवृत्ति, कारिका २१, और २।

उपसंहार—

महामहोपाध्याय श्रीयुत हरप्रसाद शास्त्री ने अपने एक लेख [JBORS=जर्नल of बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसायटी, vol ६, सन् १६२३, पृ० १५१—१६२] में इस बात को प्रकट किया है, कि बाईस तत्त्वसमास सूत्रों पर माठर का भाष्य होगा, सम्भवतः उसमें फिर और किसी ने संवर्द्धन किया, जो समय पाकर षष्टितन्त्र के रूप में बन गया, ईश्वरकृष्णने उसी का संक्षेप किया है।

प्रतीत यह होता है, कि श्रीयुत अय्यास्वामी शास्त्री महोदय ने अपने विचारों को श्रीयुत हरप्रसाद शास्त्री के विचारों के आधार पर ही प्रस्तुत किया है। इतनी ही विशेषता इन दोनों में है, कि हरप्रसाद शास्त्री ने ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं का जो आधार बताया है, श्रीयुत अय्यास्वामी ने उसी को चीनी अनुवाद का आधार मान लिया है। परन्तु यह सब अन्धेरे में लाठी चलाने के समान है। यह इन विद्वानों ने केवल कल्पना के आधार पर मान लिया है, और शास्त्र के सामञ्जस्य का भी ध्यान नहीं रक्खा गया। जो प्रमाणाभास इस सम्बन्ध में उपस्थित किये गये हैं, उनका हमने विस्तारपूर्वक विवेचन कर दिया है, और यह निश्चयपूर्वक कहा जासकता है, कि श्रीयुत अय्यास्वामी शास्त्री, इस बात को सिद्ध करने में सफल नहीं होसके, कि चीनी अनुवाद का आधार माठरवृत्ति नहीं है।

इस प्रकरण में हमने सांख्यसप्तति के पांच व्याख्याकारों के सम्बन्ध में विवेचन किया है। उनके काल सम्बन्धी निर्णय का निष्कर्ष हम यहां पुनः निर्दिष्ट करते हैं—

(१)—वाचस्पति मिश्र=८६८ विक्रमी संवत्, ८४१ ईसवी सन्।

(२)—जयमंगला व्याख्याकार शङ्कर=विक्रमी संवत् के सप्तमशतक का अन्त, ६५० ई० सन् के लगभग।

(३)—आचार्य गौडपाद=विक्रमी संवत् के षष्ठ शतक का अन्त, ५५० ई० सन् के लगभग।

(४)—युक्तिदीपिकाकार राजा=विक्रमी संवत् के पञ्चम शतक का अन्त, ४५० ईसवी सन् के लगभग।

(५)—आचार्य माठर=विक्रमी संवत् का प्रथम शतक। ईसवी सन् के प्रारम्भ होने के लगभग।

हमारा इस, समय-निर्देश से यही तात्पर्य है, कि उन आचार्यों का काल, निर्दिष्ट काल के अनन्तर नहीं कहा जासकता, इसमें वाचस्पति मिश्र का समय सर्वथा निश्चित है। उसी को आधार मानकर इन व्याख्याग्रन्थों के एक दूसरे में उद्धरण, मतनिर्देश, प्रत्याख्यान आदि से ही हमने इस कालनिर्णय का यत्न किया है। संभव है, इस में कहीं थोड़ी बहुत हेर फेर होसके, परन्तु इन व्याख्याकारों का जो क्रम हमने निर्दिष्ट किया है, वह निश्चित है, उसमें किसी परिवर्त्तन की अधिक सम्भावना नहीं की जासकती।

अष्टम प्रकरण

अन्य प्राचीन सांख्याचार्य

सांख्य के आदि प्रवर्त्तक परमर्षि कपिल का आवश्यक वर्णन हम प्रथम प्रकरण में कर चुके हैं। अन्य प्राचीन आचार्यों के सम्बन्ध में जो कुछ विवरण जाना जासका है, उसका निरूपण इस प्रकरण में किया जायगा।

१—आसुरि—

परमर्षि कपिल का प्रथम शिष्य आसुरि था। आसुरि के शिष्य पञ्चशिख ने अपने एक सूत्र[1] में इस बात का उल्लेख किया है, कि परमर्षि कपिल ने किस प्रकार आसुरि को सांख्य शास्त्र का उपदेश किया। कुछ आधुनिक पाश्चात्य विद्वान्[2] आसुरि को भी ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानते। परन्तु उनके ये सब कथन निराधार ही कहे जा सकते हैं। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानोंकी कुछ ऐसी मनोवृत्ति बन गई है, कि वे भारतीय इतिहास और संस्कृतिके अनेक आधारों को काल्पनिक बताने में ही एक अनुकूल अनुभूति का स्वाद लेते हैं। जिस व्यक्ति के जीवन के अनेक भागों का उल्लेख जहां तहां साहित्य में बराबर उपलब्ध होता है, उसको यदि ऐतिहासिक व्यक्ति न माना जाय, तब ऐतिहासिकता किस वस्तुका नाम होगा ? फिर सब ही इतिहास काल्पनिक कहे जासकते हैं। इसलिये बहुत से प्राचीन वर्णनों की ऐतिहासिकता अथवा काल्पनिकता, उस जाति की परम्पराओं के आधार पर भी बहुत कुछ सीमा तक निर्णीत की जासकती है। इसप्रकार आसुरि सम्बन्धी वर्णनों का आधार काल्पनिक नहीं कहा जा सकता।

माठरवृत्ति तथा अन्य सांख्य ग्रन्थों में आसुरि का एक गृहस्थ ब्राह्मण के रूप में उल्लेख किया गया है, और उसका 'आसुरि' यह गोत्र नाम बताया गया है। उसका सर्वत्र यही नाम उपलब्ध होता है। उसके अन्य किसी सांस्कारिक नाम के सम्बन्ध में हमें अभी तक भी कुछ ज्ञात नहीं है। परमर्षि कपिल की कृपा से उसे सांख्य-ज्ञान प्राप्त हुआ, और उसने मोक्ष मार्ग का अनुसरण किया, इसका भी उल्लेख है। महाभारत[3] शान्तिपर्व अध्याय ३२६ से ३२८ तक में कपिल और आसुरि के संवाद का उल्लेख है। उससे स्पष्ट होता है, कि कपिल ने आसुरि को तत्त्वज्ञान का उपदेश किया। महाभारत में प्रसङ्गवश अन्य[4] स्थलों में भी आसुरि का उल्लेख है।

---

१ "आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।"

२ Keith; Samkhya System, PP. 47-48. Garbe, Samkhya und yoga, PP. 2-3.

३ निर्णयसागर प्रेस बम्बई में मुद्रित, १६०७ ईसवी सन् का कुम्भघोण संस्करण।

४ महाभारत, उक्त संस्करण, १२ । २२० । १०, १३, १४ ॥

शतपथ ब्राह्मण में आसुरि का उल्लेख—

शतपथ ब्राह्मण में भी एक आसुरि का उल्लेख आता है। वहां बारह[1] स्थलों में इसका उल्लेख है। जिनमें अन्तिम तीन स्थलों में वंशावली हैं। शेष नौ में सर्वत्र आसुरि के तत्तद्विषयक मतों का उल्लेख है। ये सब मत कर्मकाण्ड अथवा यज्ञादिविषयक हैं, इससे प्रतीत होता है, कि शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल से बहुत पूर्व आसुरि नामक कोई व्यक्ति महायाज्ञिक हुआ था। यह यज्ञादि पद्धति का इतना प्रतिष्ठित अनुष्ठाता था, कि उसके तत्तद्विषयक मतों का शतपथ ब्राह्मण में भी उल्लेख किया गया है। इससे उसकी प्रसिद्धि और प्राचीनता का अनुमान होता है।

सांख्याचार्य आसुरि, क्या शतपथवर्णित आसुरि से भिन्न है?

अभी तक यह एक विवादास्पद विषय है, कि सांख्याचार्य आसुरि, शतपथ ब्राह्मण में वर्णित आसुरि ही है, अथवा उससे भिन्न? आधुनिक अनेक पाश्चात्य[2] तथा भारतीय विद्वानों ने इनको पृथक् व्यक्ति माना है। यद्यपि उन्होंने अपने इस मन्तव्य के लिये कोई विशेष प्रमाण आदि उपस्थित नहीं किये हैं, परन्तु उनकी अन्तर्भावना यही प्रतीत होती है, कि शतपथ ब्राह्मण की रचना से पूर्वकाल में सांख्यदर्शन की रचना हो चुकी होगी, इस बात को उक्त विद्वान् स्वीकार करने को तय्यार नहीं। यद्यपि वे अपनी इस अस्वीकृति में भी कोई युक्तियां उपस्थित नहीं करते।

हमारा विचार इस सम्बन्ध में उक्त विद्वानों से विपरीत है। शतपथ ब्राह्मण में वर्णित आसुरि ही, अपनी प्रव्रज्या के अनन्तर सांख्याचार्य आसुरि के रूप में प्रसिद्ध हुआ, ऐसा हमारा विचार है। शतपथ ब्राह्मण के वर्णन से यह स्पष्ट है, कि वह महायाज्ञिक था। इस बात को ध्यान में रखते हुए, जब हम माठरवृत्ति के कपिल-आसुरि संवाद सम्बन्धी आरम्भिक सन्दर्भ को देखते हैं, तो उससे हमें यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, कि प्रव्रज्या से पूर्व आसुरि एक याज्ञिक ब्राह्मण था, और गृहस्थ धर्म में रत था। कपिल, आसुरिको अध्यात्म विद्या का अधिकारी समझकर तीन बार उसके स्थान पर आये, और प्रश्न किया, आसुरि! गृहस्थ धर्म में रत हो? आसुरि ने दो बार यही उत्तर दिया, कि हां! गृहस्थ धर्म में रत हूं। परन्तु अन्तिम अवसर पर उसके अन्तरात्मा में विवेक वैराग्य की मात्रा उत्पन्न होचुकी थी। तीसरी बार में उसने ब्रह्मचर्यवास और प्रव्रज्या की दीक्षा ली, और कपिल का शिष्य बनगया।

माठर के वर्णन से यह सर्वथा स्पष्ट है, कि जिस आसुरिने कपिल से अध्यात्म विद्या का उपदेश लिया, वह उस दीक्षा और प्रव्रज्या काल से पूर्व महायाज्ञिक और गृहस्थ ब्राह्मण था। आसुरि को यहां वर्षसहस्रयाजी भी लिखा है। महाभारत [१२। २२०। १०-१३। कुम्भघोण संस्करण] में भी इसका उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण के आसुरि सम्बन्धी वर्णन उसी आसुरि

---

[1] १, ६, ३, २६ । २, १, ४, २७; ३, १, ६; ४, १, २; ६, १, २५; ३३; ३, १७ । ४, ५, ८, १४ । १४, १, १, ३३ । १४, ५, ५, २१ । १४, ७, ३, २७ । १४, ९, ४, ३३ ।

[2] Dr. Richard Gorbe, Samkhya und Yoga, PP. 2-3.

के होसकते हैं। इन वर्णनों के साथ सांख्यसम्बन्धी गन्ध को सूंघना, और उसके अभाव में आसुरि को पृथक् व्यक्ति मानना, अविचारितरमणीय ही होगा, क्योंकि ब्राह्मण के उक्त स्थलों में आसुरिसम्मत याज्ञिक विचारों का ही उल्लेख किया जासकता था, जो उस प्रसंग से सम्बन्ध रखता था, ब्राह्मणग्रन्थ, आसुरि का जीवन चरित्र नहीं लिखरहा है, जो वह उसके जीवन की अन्य घटनाओं का भी उल्लेख करे, और विशेषकर सांख्य सम्बन्धी घटनाओं का तो आसुरि के उस जीवन से कोई सम्बन्ध ही नहीं।

यह बहुत अधिक सम्भव है, कि अपने काल के इतने प्रतिष्ठित महायाज्ञिक विशुद्धान्तःकरण विद्वान ब्राह्मण को कपिल ने अध्यात्म विद्या के उपदेश का अधिकारी चुना हो। क्योंकि ऐसे व्यक्ति के द्वारा ही अपने विचारों के प्रसार में उसे अधिक से अधिक साहाय्य मिल सकता था। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान जिस दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास को उपस्थापित करते हैं, वह सर्वथा अपूर्ण और एकदेशी है। वस्तुतः सांख्यशास्त्र की रचना अब से बहुत पूर्वकाल में होचुकी थी। इसलिये शतपथ ब्राह्मण में वर्णित आसुरि ही, अपनी प्रव्रज्या के अनन्तर कपिल का शिष्य आसुरि था, इसमें कोई असामञ्जस्य प्रतीत नहीं होता।

आसुरि का एक श्लोक—

आसुरि के सांख्यविषयक किसी ग्रन्थ का अभी तक पता नहीं लग सका है। अनेक ग्रन्थकारों[1] ने एक श्लोक आसुरि के नाम से उद्धृत किया है। श्लोक इसप्रकार है—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे[2] यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥

केवल एक श्लोक के आधार पर यह अनुमान करना कठिन है, कि आसुरि के उस ग्रन्थ का कलेवर क्या होगा। वह केवल पद्यमय होगा, अथवा उसमें कुछ गद्य भी होगा।

आसुरि के इस श्लोक में वर्णन किया गया है, कि पुरुष के भोग का स्वरूप क्या है? विविक्त अर्थात् पुरुष के असंग रहते हुए ही, बुद्धि के दृक् रूप में परिणत होजाने पर जो स्थिति बनती है, वही पुरुष का भोग कहा जाता है। अभिप्राय यह है, कि अपने सब धर्मों को लेकर बुद्धि, असंग पुरुष में प्रतिबिम्बित होजाती है, इसी को बुद्धि का दृक्परिणाम कहा जाता है, जैसे कि स्वच्छ जल में चन्द्र अपने धर्मों को लेकर प्रतिबिम्बित होजाता है। इसप्रकार पुरुष में प्रतिबिम्बित बुद्धि ही पुरुष का भोग है। बुद्धि के सब धर्म बुद्धि में होते रहते हैं, पुरुष का भोग इतना ही है, कि बुद्धि अपने धर्मों को लेकर उसमें प्रतिबिम्बित होरही है। इसी अर्थ को दूसरे शब्दों में इसप्रकार कह सकते हैं, कि श्रोत्रादि सम्पूर्ण करण अपने २ अर्थों को बुद्धि में समर्पित करते हैं,

---

1. हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत तर्करहस्यदीपिका नामक टीका के पृष्ठ १०४ पर रॉयल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता, सन् १६०५ का संस्करण। स्याद्वादमञ्जरी, १५ तथा वादमहार्णव एवं अन्य अनेक जैन बौद्ध ग्रन्थों में इस श्लोक को उद्धृत किया गया है।
2. 'स्वच्छे' सप्तम्यन्त पाठ के स्थान पर कहीं २ 'स्वच्छः' प्रथमान्त पाठ भी उपलब्ध होता है।

और बुद्धि उन सबको लेकर पुरुष के साक्षिध्य से तद्रूप में परिणत हो उन्हें पुरुष में समर्पित करती है, अर्थात् पुरुष के भोग को सिद्ध करती है।

आसुरि मत की, सांख्यसूत्र तथा सांख्यकारिका से समानता—

पुरुष के भोग के सम्बन्ध में आसुरि का जो मत है, वही मत ईश्वरकृष्ण का ३७वीं कारिका के आधार पर स्पष्ट होता है। सांख्यषडध्यायी के दूसरे अध्याय के ३५-३६ तथा ४६-४७ सूत्रों में भी इसी अर्थ का विशद रूप में वर्णन किया गया है।

आसुरि से विन्ध्यवासी का मतभेद—

इस सम्बन्ध में विन्ध्यवासी का मत आसुरि से कुछ भिन्न है। षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत व्याख्या में कलकत्ता संस्करण के १०४ पृ० पर विन्ध्यवासी के नाम से एक श्लोक इसप्रकार उद्धृत किया गया है—

"विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे-पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा॥" इति।

अविकृतात्मा अर्थात् असंग रहता हुआ ही पुरुष, सान्निध्य के कारण अचेतन मन (=बुद्धि) को स्वनिर्भास अर्थात् चेतन जैसा कर देता है, जैसे उपाधि=लाल कमल, स्फटिक को सान्निध्य से लाल जैसा बना देता है। अभिप्राय यह है, कि सान्निध्य के कारण चैतन्य, बुद्धि में प्रतिफलित होजाता है, यही चैतन्य अर्थात् पुरुष का भोग है। विन्ध्यवासी के मत से पुरुष सर्वथा असंग है, भोग भी मुख्यतया बुद्धि में ही होता है, क्योंकि चैतन्य अर्थात् पुरुष, बुद्धि में प्रतिबिम्बित है, अथवा बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्बित हुए बिना भोगादि हो नहीं सकते, इसलिये पुरुष में भोगादि का उपचार होता है। कपिल, आसुरि और ईश्वरकृष्ण, पुरुष को असंग मानते हुए भी आहार्य भोग को उसमें स्वीकार करते हैं। विन्ध्यवासी के मत से, उपाधि, स्फटिक से सर्वथा असंलग्न है। सान्निध्यमात्र से अपनी विशेषता को दूसरी जगह संक्रान्त कर रही है। रक्त-कमल-उपाधि के संसर्ग से, श्वेत स्फटिक, रक्त जैसा प्रतीत होता है, स्फटिक के काठिन्य आदि गुण रक्तकमल में किसी तरह भी नहीं आसकते। परन्तु स्फटिक, रक्त उस समय तक हो ही नहीं सकता, जब तक कि उपाधि का सान्निध्य न हो। इसीप्रकार पुरुष, जब तक अचेतन बुद्धि को सान्निध्य से स्वनिर्भास नहीं करेगा, तब तक बुद्धि में भोगादि की संभावना नहीं, विन्ध्यवासी के मत से यही पुरुष के भोग का स्वरूप है।

दोनों प्रकार की विचारधाराओं में पुरुष असंग है। उक्त अर्थ को संक्षिप्त शब्दों में इस प्रकार भी उपस्थित कर सकते हैं, कि आसुरि, पुरुष प्रतिबिम्बित बुद्धि को भोग मानता है, और विन्ध्यवासी बुद्धिप्रतिबिम्बित चैतन्य को भोग का स्वरूप बताता है। जहां तक पुरुष की असंगता का सम्बन्ध है, भले ही दोनों विचारों का सम्मिलन एक ही केन्द्र में हो, परन्तु इतना अवश्य है, कि विन्ध्यवासी के मत से पुरुष में आहार्य भोग भी सम्पन्न नहीं होसकता। सम्भव है,

विन्ध्यवासी के ये विचार, बौद्ध विचारों के प्रभाव का परिणाम हों। यह निश्चित है, कि ईश्वरकृष्ण ने आसुरि के मत का अनुसरण किया है, क्योंकि वस्तुतः वह मत कपिल का ही है, और षडध्यायी तथा पञ्चशिख सूत्रों में उपलब्ध है।

महाभारत के संवाद, सिद्धान्त की दृष्टि से, सांख्यसूत्रों के साथ समानता रखते हैं—

महाभारत के कपिल-आसुरि संवाद का हमने ऊपर निर्देश किया है। उस संवाद में कथित अर्थों के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह विचार उपस्थित किये हैं, कि महाभारत के लेख, वर्त्तमान अन्य सांख्य ग्रन्थों के साथ समानता नहीं रखते। प्रस्तुत कपिल-आसुरि संवाद महाभारत शान्तिपर्व ३२६-३२८ अध्यायों में वर्णित है। इस तरह के संवाद अथवा लेखों के सम्बन्ध में साधारण रूप से हमारा यह निवेदन है कि ये संवाद किसी ने साक्षात् सुनकर नहीं लिखे हैं। इसके लिये यही कहा जासकता है, कि इन अध्यायों के लेखक ने, कपिल-आसुरि के सम्बन्धमें जो कुछ परम्परा से जाना होगा, अथवा उनके सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें किन्हीं भी आधारों से जो कुछ समझा होगा, उसी का वर्णन संवाद रूप में किया है।

संवाद में हम देखते हैं, कि आसुरि की ओर से कुछ प्रश्न किये गये हैं, कपिल उनका उत्तर देता है। इस उत्तर में ये वर्णन अत्यन्त स्पष्ट हैं—

सत्त्व रजस्, तमस्, प्रधान अथवा प्रकृति हैं। प्रधान से महत् अर्थात् बुद्धि की उत्पत्ति होती है। बुद्धि से अहङ्कार उत्पन्न होता है। अहङ्कार से एकादश इन्द्रिय और भूत उत्पन्न होते हैं। प्रकृति का 'आद्य' पद से उल्लेख किया है।

बुद्धि आदि तेईस तत्त्वों को 'मध्यम' पद से कथन किया है, और इन २४ के ज्ञान से प्रकृति में स्थिति बतलाई है।

पच्चीसवें पुरुष का उल्लेख है, और पच्चीस तत्त्वों के ज्ञान से अव्यक्त के अधिष्ठातृत्व का उल्लेख किया है।

संवाद के इन सिद्धान्त सम्बन्धी निर्देशों से यह स्पष्ट है, कि सांख्य के स्वीकृत पदार्थों का ही इसमें उल्लेख है, और कपिल के नाम पर उपलब्ध ग्रन्थों में इसके साथ कोई विरोध नहीं। इस संवाद का लेखक अपने ढङ्ग से संक्षेप में कपिल के नाम पर जो उल्लेख कर सकता था, वह उसने ठीक ही किया है। इससे यही प्रतीत होता है, कि इस लेख के आधार, कपिल के वर्त्तमान ग्रन्थ ही कहे जा सकते हैं, और इनमें परस्पर किसी तरह के विरोध की कोई सम्भावना नहीं है।

२ पञ्चशिख—

आसुरि का मुख्य शिष्य पञ्चशिख था। महाभारत के एक श्लोक[1] से प्रतीत होता है, कि

---

[1] पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः। भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः॥
शान्ति० २२१।२४॥ कुम्भघोण संस्करण।

पञ्चशिख पराशर गोत्र में उत्पन्न हुआ था। इसकी माता का नाम कपिला[1] लिखा है। पञ्चशिख को बहुत लम्बी आयु[2] का व्यक्ति बताया गया है। महाभारत के इसी स्थल में इसके पञ्चशिख नामकरण का कारण इसप्रकार लिखा है—

'पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः। पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः॥

इसने कपिलप्रणीत षष्टितन्त्रको अपने गुरु आसुरिसे पढ़कर अनेक शिष्योंको पढ़ाया, और उसपर विस्तारपूर्वक व्याख्याग्रन्थ भी लिखे।

इस समय पञ्चशिख का कोई भी सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। वह मूल षष्टितन्त्र ग्रन्थ का रचयिता नहीं था, इसका उल्लेख हम विस्तारपूर्वक द्वितीय प्रकरण में कर आये हैं। सांख्य ग्रन्थों में कुछ ऐसे सन्दर्भ उद्धृत हैं, जिनको विद्वानों ने पञ्चशिख का बताया है। ये सन्दर्भ पातञ्जल योगसूत्रों के व्यासभाष्य में उद्धृत हैं। व्यास ने इन सन्दर्भों के साथ किसी के नाम का उल्लेख नहीं किया। वाचस्पति मिश्र ने व्यासभाष्य की टीका तत्त्ववैशारदी में इन्हें पञ्चशिख का बताया है।

इनके अतिरिक्त सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में भी अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं, जिनके सम्बन्ध में हमारी यह धारणा है, कि वे पञ्चशिख के होंगे। हमारी इस धारणा का आधार न कोई परम्परा है, और न किसी का लेख। केवल व्यासभाष्य में उद्धृत सन्दर्भों के साथ युक्तिदीपिका के सन्दर्भों की तुलना करने से हमारी यह धारणा बनी है। सांख्यसप्तति की अन्य व्याख्याओं तथा सांख्यविषयक दूसरे ग्रन्थों में भी इसप्रकार के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं, जिनको पञ्चशिख की रचना माना जाना चाहिये। इस प्रसंग में उन सब सन्दर्भों का निर्देश कर देना उपयुक्त होगा, जिनको हमने पञ्चशिख की रचना समझा है।

पञ्चशिख सन्दर्भों का संग्रह —

१ आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।

२ तन्त्रमिति व्याख्यायते, तम एव खल्विदमग्र आसीत्, तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्त्तत, तम इत्युच्यते प्रकृतिः पुरुषः क्षेत्रज्ञः।

३ पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते।

---

[1] म० भा०, शान्ति० २२०।१५-१६॥

[2] आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्। पञ्चस्रोतसि यः सत्रमास्ते वर्षसहस्रिकम्॥
म० भा० शान्ति०, २२०।१०॥

१ पात० यो० सू० व्या० भा०, समाधिपाद, सूत्र २४ पर।

२ माठरवृत्ति, ७१वीं कारिका की अवतरणिका, तथा यास्कीय निरुक्त पर दुर्गवृत्ति, ७।२॥

३ माठरवृत्ति, तथा गौडपादभाष्य, १७ कारिका पर।

४ प्रधानं स्थित्यैव वर्त्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्, तथा गत्यैव वर्त्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्, उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा। कारणान्तरेष्वपि कल्पितेश्वेष समानश्चर्चः।

५ सत्त्वं नाम प्रसादलाघवानभिष्वंगप्रीतितितिक्षासन्तोषादिरूपानन्तभेदं समासतः सुखात्मकम्।

६ एवं रजोऽपि शोकादिनानाभेदं समासतो दुःखात्मकम्।

७ एवं तमोपि निद्रादिनानाभेदं समासतो मोहात्मकम्।

८ सत्त्वारामः सत्त्वमिथुनश्च सदा स्यात्।

९ चलञ्च गुणवृत्तम्।

१० सत्तामात्रो महान्।

११ एतस्माद्धि महत आत्मन इमे त्रय आत्मानः सृज्यन्ते वैकारिक-तैजस-भूतादयोऽहङ्कारलक्षणाः। अहमित्येवैषां सामान्यं लक्षणं भवति, गुणप्रवृत्तौ च पुनर्विशेषलक्षणम्।

१२ तदेतस्मिन् वैकारिके स्रक्ष्यमाण एष भूतादिस्तैजसेनोपष्टब्ध एनं वैकारिकमभिधावति। तथैव तस्मिन् भूतादौ स्रक्ष्यमाण एष वैकारिकस्तैजसेनोपष्टब्ध एनं भूतादिमभिधावति, इत्यनेन न्यायेन तैजसादुभयनिष्पत्तिः।

१३—आहङ्कारिकाणीन्द्रियाण्यर्थं साधयितुमर्हन्ति नान्यथा।

१४—महदादिविशेषान्तः सर्गो बुद्धिपूर्वकत्वात्। उत्पन्नकार्यकरणस्तु माहात्म्यशरीर एकाकिनमात्मानमवेक्ष्याभिदध्यौ। हन्ताहं पुत्रान् स्रक्ष्ये ये मे कर्म करिष्यन्ति ये मां परं चापरं च ज्ञास्यन्ति। तस्याभिध्यायतः पञ्च मुख्यस्रोतसो देवाः प्रादुर्बभूवुः। तेषूत्पन्नेषु न तुष्टिं लेभे। ततोऽन्ये तिर्यक्स्रोतसोऽष्टाविंशतिः प्रजज्ञिरे। तेष्वप्यस्य मतिर्नैव तस्थे। अथापरे नवोर्ध्वस्रोतसो देवाः प्रादुर्बभूवुः। तेष्वप्युत्पन्नेषु नैव कृतार्थमात्मानं मेने। ततोऽन्येऽष्टावर्वाक्स्रोतस उत्पेदुः। एवं तस्माद् ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नस्तस्मात् प्रत्ययसर्गः। स

---

४ पात० यो० सू० व्या० भा०, साधनपाद, सूत्र २३ पर। तुलना करें—सांख्यषडध्यायी सूत्र ६।४२॥

५-७ विज्ञानभिक्षु भाष्य, सांख्यषडध्यायी १।१२७ पर।

८ युक्तिदीपिका, कलकत्ता संस्करण, पृ० १२६, पं० ७८।

९ पात० यो० सू० व्या० भा०, २।१५॥३।१३॥४।१५॥ब्र० सू० शां० भा० २।२।६। योगव्यासभाष्य पर तत्त्ववैशारदी ३।१५।

१० युक्तिदीपिका, पृ० १७०, पं० १६। तुलना करें, योगव्यासभाष्य २।१९। तथा 'वार्षगणाः-लिङ्गमात्रो महान्' युक्तिदीपिका, पृ० ४३३, पं० ५-६।

११ युक्तिदीपिका, पृ० ११४, पं० १७-१९।

१२ युक्तिदीपिका, पृ० ११७, पं० १-३।

१३ युक्तिदीपिका, पृ० १२३, पं० ६—१०।

१४ युक्तिदीपिका, पृ० १२२, पं०९—१६।

विपर्ययाख्यः, अशक्त्याख्यः, तुष्ट्याख्यः, सिद्ध्याख्यश्च।

१५--जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टं तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेषु।

१६—एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रं व्यावृत्तिः।

१७—तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवति।

१८—अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृषु अकर्त्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन् न दर्शनमन्यच्छङ्कते।

१९—अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपगृहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते।

२०—एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्।

२१—रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते। एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवन्ति, गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेषः।

२२—धर्मिणामनादिसंयोगात् धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोगः।

२३—व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानः, तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः।

२४—बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेन।

२५—अम्भ इति गुणलिङ्ग-सन्निचयमेवाधिकुरुते। गुणाश्च सत्त्वरजस्तमांसि लिङ्गञ्च महदादि अत्र सन्निहितं भवति। तदिदं प्रधानममितं भाति, अमितमुपलभ्यत इत्यम्भः।

२६—सलिलं सलिलमिति वैकारिकोपनिपातमेवाधिकुरुते, सति तस्मिन् लीयते जगत्।

१५—पा० यो० सू० व्या० भा०, विभूतिपाद, सूत्र १४ पर।
१६—पा० ,, ,, ,, सूत्र ४४ ,,।
१७— ,, ,, ,, सूत्र ४१ ,,।
१८— ,, ,, साधनपाद, सूत्र १८ ,,।
१९— ,, ,, ,, सूत्र २० ,,।
२०— ,, ,, समाधिपाद, सूत्र ४ ,,।
२१— ,, ,, विभूतिपाद सूत्र १३ ,,।
२२— ,, ,, साधनपाद सूत्र २२ ,,।
२३— ,, ,, ,, सूत्र ५ ,,।
२४— ,, ,, ,, सूत्र ६ ,,।
२५—युक्तिदीपिका, कलकत्ता, संस्करण, पृ० १५६, पं० १–२।
२६— ,, ,, ,, पृ० १५६, पं० १७–१८।

२७—वृष्टिवृष्टिरिति श्रिय एवोपनिपातमधिकुरुते, सा हि वृष्टिवत् सर्वमाप्याययति।

२८—महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्ते।

२९—स्वभावं मुक्त्वा दोषाद् येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवति, अरुचिश्च निर्णये भवति।

३०—स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्शः कुशलस्य नापकर्षायालं, कस्मात् कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति, यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति।

३१—स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति।

३२—ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति।

३३—तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य।

३४—तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् संप्रजानीते।

३५—तत्संयोगहेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः। कस्मात्। दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात्। तद्यथा—पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेत्तृत्वं, परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाधिष्ठानम्। एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति। कस्मात्। त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यात्। [इति],

३६—कुम्भवत् प्रधानं पुरुषार्थं कृत्वा निवर्त्तते।

कुछ संभावित पञ्चशिख-सन्दर्भ—

छठे प्रकरण में भावागणेश और पञ्चशिख व्याख्या के प्रसंग में भी हमने कुछ श्लोक संगृहीत किये हैं, जिनके सम्बन्ध में यह कहा जासकता है, कि ये पञ्चशिख की रचना है। उनमें से निम्नलिखित चार श्लोक ऐसे हैं, जिनको भावागणेश ने पञ्चशिख के नाम पर उद्धृत किया है।

२७—युक्तिदीपिका, कलकत्ता संस्करण, पृ० १२८, पं० ३-४।
२८—पा० यो० सू० व्या० भा०, साधनपाद, सूत्र २२ पर।
२९— ,, ,, कैवल्यपाद सूत्र २४ ,,।
३०— ,, ,, साधनपाद सूत्र १३ ,,।
३१— ,, ,, ,, ,, ३० ,,।
३२— ,, ,, कैवल्यपाद ,, १० ,,।
३३— ,, ,, साधनपाद ,, ५२ ,,।
३४— ,, ,, समाधिपाद ,, ३६ ,,।
३५— ,, ,, साधनपाद ,, १७ ,, तथा भामती, २। २। १०॥
३६—सांख्यकारिका के गौडपादभाष्य में ५६ वीं आर्यापर 'तथा चोक्तम्' कह कर यह सूत्र उद्धृत है।

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे स्थितः। जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः[1] ॥
तत्त्वानि यो वेदयते यथावद् गुणस्वरूपाण्यधिदैवतं च।
विमुक्तपाप्मा गतदोषसङ्घो गुणांस्तु भुंक्ते न गुणैः स भुज्यते ॥
प्राकृतेन तु बन्धेन तथा वैकारिकेण च। दक्षिणाभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्तते ॥
आद्यो तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्।
कृच्छ्रक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्[2] ॥

इनके अतिरिक्त कुछ निम्नलिखित श्लोक और हैं, जिनको हमने अनुमानतः पञ्चशिख का समझा है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा च नित्यं रसगन्धवर्जितम्।
अनादिमध्यं महतः परं ध्रुवं प्रधानमेतत् प्रवदन्ति सूरयः ॥
अहं शब्दे अहं स्पर्शे अहं रूपे अहं रसे। अहं गन्धे अहं स्वामी धनवानहमीश्वरः ॥
अहं भोगी अहं धर्मेऽभिषिक्तोऽसौ मया हतः। अहं हनिष्ये बलिभिः परैरित्येवमादिकः ॥
धर्माख्यं सौहित्यं यमनियमनिषेवणं प्रख्यानम्।
ज्ञानैश्वर्यविरागाः प्रकाशनमिति सात्त्विकी वृत्तिः ॥
रागः क्रोधो लोभः परपरिवादोऽतिरौद्रताऽतुष्टिः।
विकृताकृतिपारुष्यं प्रख्यातैषा तु राजसी वृत्तिः ॥
प्रमादमदविषादा नास्तिक्यं स्त्रीप्रसंगिता निद्रा।
आलस्यं नैर्घृण्यमशौचमिति तामसी वृत्तिः ॥
ब्राह्मकर्माणि संकल्प्य प्रतीतं योऽभिरक्षति। तन्निष्ठस्तत्प्रतिष्ठश्च धृतेरेतद्धि लक्षणम् ॥
स्वाध्यायो ब्रह्मचर्यं च यजनं याजनं तपः। दानं प्रतिग्रहो होमः श्रद्धाया लक्षणं स्मृतम् ॥
सुखार्थं यस्तु सेवेत ब्रह्मकर्मतपांसि च। प्रायश्चित्तपरो नित्यं सुखेयं परिकीर्त्तिता ॥
एकत्वं च पृथक्त्वं च नित्यं चैवमचेतनम्।
सूक्ष्मं सत्कार्यमक्षोभ्यं ज्ञेया विविदिषा च सा ॥
प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च। इत्येते वायवः पञ्च शरीरेषु शरीरिणाम् ॥
अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं परार्थमन्यत्वमकर्तृता च।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः ॥

---

[1] अलबेरूनी ने अपने भारतयात्रा वर्णन में इस श्लोक को पराशरपुत्र व्यास का लिखा है। देखें, 'अलबेरूनी का भारत' हिन्दी संस्करण, पृष्ठ ५४-५५ और १६२। महाभारत १२।३२८।८ के उत्तरार्द्ध में इस अर्थ की कुछ ध्वनि मिलती है।

[2] इस श्लोक को योगवार्तिक २।१८ पर विज्ञानभिक्षु ने भी पञ्चशिख का लिखा है। योगवार्तिक में १।२४ पर इस श्लोक का आरम्भिक पाठ 'आद्यस्तु मोक्षो' है। वहां इसको 'पञ्चशिखाचार्यधृतवाक्य' कहा गया है।

स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः ।
ज्ञानवान् शीलसम्पन्न आप्तो ज्ञेयस्तु तादृशः[1] ॥

इसप्रकार पञ्चशिख के नाम पर, गद्यसन्दर्भों के अतिरिक्त कुछ पद्य भी उपलब्ध होते हैं। इससे संभव है, गद्यग्रन्थके अतिरिक्त उसका कोई पद्यमय ग्रन्थ भी होगा। यह कुछ नहीं कहा जासकता, कि एक ही ग्रन्थ गद्य-पद्य उभयरूप होगा, अथवा पृथक् २। पञ्चशिख के ग्रन्थ का विशेष नाम क्या था? यह भी आज पता नहीं है। उसके ग्रन्थों के लिये 'षष्टितन्त्र' पद का प्रयोग, षष्टितन्त्र शास्त्र के आधार पर ही कहा जासकता है, यह उसके ग्रन्थों की विशेष संज्ञा नहीं है। कपिल-प्रणीत प्रथम सांख्यग्रन्थ का ही षष्टितन्त्र नाम था। इस सम्बन्ध में हम द्वितीय तृतीय प्रकरण में विस्तारपूर्वक विवेचन कर आये हैं।

महाभारत के संवादों में, पञ्चशिख के उक्त मतों का सामञ्जस्य—

महाभारत में अनेक स्थलों पर पञ्चशिख का उल्लेख है। शान्तिपर्व के २२० अध्याय में आसुरि के शिष्यरूप से पञ्चशिख का उल्लेख किया गया है। इसी पर्व के २२०-२२२ तथा ३२४ अध्यायों में पञ्चशिख और जनक के संवाद का वर्णन आया है। इन संवादों में जिन सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है, उनसे यही प्रतीत होता है, कि यह पञ्चशिख व्यक्ति वही है, जो सांख्य-शास्त्र से सम्बद्ध है। इन अध्यायों में निम्नलिखित सिद्धान्तों का वर्णन पाया जाता है—

सत्त्व रजस् तमस् ये तीन गुण हैं।
प्रत्येक वस्तु में इन तीनों की स्थिति पाई जाती है।
सत्त्व[2] के धर्म हैं, प्रीति प्रहर्ष आनन्द शान्ति।
रजस्[3] के धर्म अथवा लिङ्ग हैं, अतुष्टि परिताप शोक लोभ अक्षमा।
तमस्[4] के धर्म हैं, अविवेक मोह प्रमाद स्वप्न तन्द्रा।
बुद्धि अहङ्कार और एकादश इन्द्रिय, ये तेरह करण हैं।
मन का दोनों प्रकार की इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है।
पांच भूत हैं। पांचों[5] भूतों से शरीर की उत्पत्ति होती है।
ज्ञान[6] से मुक्ति का होना बताया गया है।

---

1 इन सब श्लोकों के सम्बन्ध में विशेष सूचनाएं छठे प्रकरण के आवागयोग और पञ्चशिखव्याख्या के प्रसंग में देखें।

2 तुलना कीजिये, पञ्चशिखसूत्र ३ के साथ।

3 तुलना कीजिये, पञ्चशिखसूत्र ४ के साथ।

4 तुलना कीजिये, पञ्चशिख सूत्र, ५ के साथ।

5 'एष पञ्चसमाहारः शरीरम्' म० भा० १२। २२२। ८॥ इसकी तुलना कीजिये, सांख्यषडध्यायी ३। १७॥

6 'ज्ञानेन मुच्यते जन्तुः' म० भा० १२। २२१। ४७॥ तुलना करें, १२, १३ पञ्चशिख सूत्र, और 'ज्ञानान्मुक्तिः' [३। २३] इस सांख्यषडध्यायी सूत्र के साथ।

महाभारत के ये अध्याय चाहे किसी भी विद्वान् के लिखे हुए हों, इससे इतना अवश्य सिद्ध हो जाता है, कि इस प्रसङ्ग में पञ्चशिख के मुख से जो विचार प्रकट कराये गये हैं, वे वही हैं, जो सांख्यषडध्यायी तत्त्वसमास और पञ्चशिख के उपलब्ध सन्दर्भों में प्रतिपादित किये गये हैं। प्रस्तुत प्रकरण में उनके निरूपण का प्रकार, लेखक की शैली और ज्ञान पर ही निर्भर करता है। इसीलिये संभव हो सकता है, कि इन प्रकरणों में कोई ऐसा भी विचार हो, जो उपलब्ध सांख्यग्रन्थों में न दीखे, अथवा उसके निरूपणप्रकार में इन ग्रन्थों से कुछ भेद हो; परन्तु मूल-सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं कहा जा सकता।

३—जनक धर्मध्वज—

पञ्चशिख के शिष्यों में जनक भी एक था। युक्तिदीपिका व्याख्या[1] में इसका उल्लेख है। महाभारत शान्तिपर्व के २१८-२२० अध्यायों के वर्णन से भी यह स्पष्ट हो जाता है, कि जनक पञ्चशिख का अन्यतम शिष्य था। शान्तिपर्व के ३२४ और ३२५ अध्याय[2] भी इसमें प्रमाण हैं। ३२५वें अध्याय के अनुसार तो जनक ने स्वयं[3] अपने मुख से इस बात को स्वीकार किया है।

जनक नाम के राजा अनेक हुए हैं। उन राजाओं का जनक नाम, देश के नाम के कारण कहा जा सकता है। जनक नामक देशों के राजा होने के कारण वे जनक कहलाते थे। संभव है, इस नामकरणका कोई अन्य कारण हो, परन्तु वैसे उनके वैयक्तिक नाम अलग थे। जो जनक पञ्चशिख का शिष्य है, उसका व्यक्तिगत नाम महाभारत[4] के आधार पर धर्मध्वज है। इसप्रकार धर्मध्वज जनक, पञ्चशिख का शिष्य कहा जा सकता है। इसका अपर नाम जनदेव[5] भी था।

विष्णुपुराण[6] में भी धर्मध्वज जनक का उल्लेख है। वहां कुछ जनक राजाओं की वंशपरम्परा का निर्देश इसप्रकार किया गया है—

धर्मध्वज
|
अमितध्वज
|
कृतध्वज — खाण्डिक्य जनक
|
केशिध्वज

[1] युक्तिदीपिका व्याख्या, आर्या ७० पर।
[2] वैदेहो जनको राजा महर्षिं वेदवित्तमम्। पर्यपृच्छत् पञ्चशिखं छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥ १२ । ३२४ । ४ ॥
[3] पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः। भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसंमतः ॥ १२ । ३२५ । २४ ॥
[4] मैथिलो जनको नाम धर्मध्वज इति श्रुतः ॥ १२ । ३२५ । ४ ॥
[5] महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २२० के आधार पर।
[6] विष्णुपुराण, अंश ६, अध्याय ६।

विष्णुपुराण के इस प्रसङ्ग में उल्लेख है, कि केशिध्वज जनक आत्मविद्या में विशारद था। उसका पितृव्य [चाचा] खाण्डिक्य जनक कर्ममार्गी था. केशिध्वजने खाण्डिक्यको आत्मविद्या का उपदेश किया। केशिध्वजका प्रपितामह और खाण्डिक्य जनक का पितामह धर्मध्वज जनक था।

सुलभा के साथ इसके संवादका महाभारत [१२। ३२५] में विस्तृत वर्णन है, इस प्रसङ्ग में जनक ने अपने आपको सांख्यज्ञान और राजनीति आदि में निपुण बतलाया है। संवाद में दार्शनिक रूप से तत्त्वों के विवेचन का कोई प्रसङ्ग नहीं आया है। केवल जनककी अपनी उक्ति से ही यह स्पष्ट है, कि वह अपने आपको सांख्य का आचार्य समझता था।

संवाद में प्रत्युत्तर के समय सुलभा ने भी इस कथन पर मीठी चुटकी ली है। उसने कहा है—यदि आपने सम्पूर्ण मोक्षशास्त्र को पञ्चशिख से सुना है, तो आपको अवश्य मुक्तसङ्ग होना चाहिये। फिर इन छत्र चामर आदि राजचिन्हों के झँझट में क्यों फँसे हो? प्रतीत यही होता है, कि आपने सुना सुनाया कुछ नहीं [1]। जो हो, परन्तु इन प्रसंगों से यह निश्चय अवश्य होजाता है, कि जनक धर्मध्वज पञ्चशिख के साक्षात् शिष्यों में एक था।

४—वसिष्ठ और करालजनक—

कपिल आसुरि और पञ्चशिख इन तीन प्राथमिक सांख्याचार्यों के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय साहित्य में अन्य भी अनेक सांख्याचार्यों का उल्लेख आता है। सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका [2] नामक व्याख्या के आधार पर यह निश्चित होता है, कि पञ्चशिख के, अभीतक अज्ञातनामा अनेक शिष्यों में से, जनक और वसिष्ठ भी दो शिष्य थे। जनक का उल्लेख हम कर चुके हैं। वसिष्ठ का उल्लेख अब किया जाता है।

महाभारत के शान्तिपर्व में ३०८ से ३१४ तक सात अध्यायों [3] में वसिष्ठ और जनक के संवाद का विस्तारपूर्वक वर्णन है। इस प्रसंग में वर्णित जनक, पीछे वर्णित जनक से भिन्न है। यह कराल जनक नाम से प्रसिद्ध था। पहला जनक जो पञ्चशिख का साक्षात् शिष्य था, धर्मध्वज जनक नामसे विख्यात था, जैसा हम पूर्व लिखचुके हैं। महाभारत के इस प्रसंग में कराल जनक को वसिष्ठ ने तत्त्वों का उपदेश दिया है। इसीलिये यह जनक, वसिष्ठ का शिष्य कहा जासकता है।

वसिष्ठ एक ऐसा नाम है, जिसके सम्बन्ध में कोई निर्णयपूर्ण भावना उपस्थित नहीं की जासकती। प्राचीन साहित्य के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है, कि वसिष्ठ नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं। रामायण से ज्ञात होता है, इक्ष्वाकु राजवंश के कुल पुरोहित वसिष्ठ नाम से पुकारे जाते थे, क्योंकि उस राजवंश में बहुत पीछे होनेवाले अनेक राजाओं के साथ वसिष्ठ

---

[1] महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३२५, श्लो० १६४–६६ ॥

[2] युक्तिदीपिका व्याख्या, कारिका ७० पर 'बहुभ्यो जनकवसिष्ठादिभ्यः समाख्यातम् ।'

[3] यह अध्याय संख्या कुम्भघोण संस्करण के अनुसार दीगई है।

नामक व्यक्तियों के सम्पर्क का रामायण में उल्लेख पाया जाता है। त्रिशंकु के सदेह स्वर्ग में जाने के लिये यज्ञ करानेकी वसिष्ठ से प्रार्थना कियेजाने का उल्लेख है, और दशरथ के अनेक यज्ञों के अवसर पर भी वसिष्ठ की उपस्थितिका रामायण, में उल्लेख किया गया है। रामायण के अनुसार त्रिशंकु और दशरथ के मध्यमें अट्ठाईस राजा बताये गये हैं। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जासकता, कि जो वसिष्ठ व्यक्ति त्रिशंकु के समय में था, वही व्यक्ति दशरथ के समय में भी था. इससे यह परिणाम निकलता है, कि इक्ष्वाकु राजवंश के पुरोहित वसिष्ठ नाम से कहे जाते थे, चाहे उनके वैयक्तिक नाम कोई भी हों। अभी तक इस अंश के इतिहास का पूर्ण संशोधन नहीं किया जा सका है।

महाभारत युद्धकाल के समय भी वसिष्ठ नामक व्यक्ति की विद्यमानता का उल्लेख आता है। क्या यह किसी तरह स्वीकार किया जासकता है, कि जो वसिष्ठ नामक व्यक्ति दशरथ के समयमें विद्यमान था, वही महाभारत युद्धकाल में भी विद्यमान हो ? यद्यपि अभीतक दशरथ और महाभारत युद्धकाल के अन्तर का पूर्ण निश्चय नहीं, पर इतना निश्चय अवश्य है, कि वह अन्तर काल इतना अधिक था, कि उतने समय तक कोई व्यक्ति जीवित नहीं रहसकता। तब विचारणीय है, कि यह वसिष्ठ कौनसा था ?

रामायण के उत्तरकाण्ड [अ० ५५-५६] में निमि और वसिष्ठ का उल्लेख आता है। ये दोनों परस्पर के शाप से मृत्यु को प्राप्त होजाते हैं। इस वसिष्ठ को वहां ब्रह्म-पुत्र लिखा है। ब्रह्मा के आशीर्वाद से उर्वशी में मित्रावरुण के वीर्य से वसिष्ठ के पुनः उत्पन्न होने का वहां उल्लेख है। इसलिये यह मैत्रावरुणि वसिष्ठ प्रसिद्ध हुआ। महाभारत के अनुसार इसी वसिष्ठ के साथ कराल जनक का संवाद हुआ था, यह कराल जनक, निमिका ही पुत्र था।

रामायण [बाल०७१] के अनुसार निमि, विदेहों के जनकवंश का प्रथम व्यक्ति था[1]। उसकी तेईसवीं पीढ़ी में सीता का पिता सीरध्वज हुआ। निमि के पुत्र का नाम रामायण में मिथि लिखा है। संभव है, इसका अपर नाम कराल हो, अथवा यह निमि का अन्य पुत्र हो। श्री पं० भगवद्दत्तजी बी० ए० ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' नामक ग्रन्थ में करालजनक को द्वितीय निमि का पुत्र लिखा है, और उसे भारतयुद्ध से ४०-५० वर्ष पूर्व का बताया है। परन्तु रामायण के उपर्युक्त (७, ५५-५६) प्रसंग के अनुसार जनकवंश के आद्य पुरुष निमि के साथ ही वसिष्ठ (ब्रह्मसुत) का बिगाड़ हुआ, यही वसिष्ठ जन्मान्तर में मैत्रावरुणि वसिष्ठ हुआ। रामायण के उक्त वर्णन से यह प्रतीत होता है, कि निमिशाप से वसिष्ठ का देह छूट जाने पर अल्पकाल के अनन्तर ही उसे देहान्तर की प्राप्ति होगई थी। रामायण के इसी प्रसंग में प्रथम निमि को ईक्ष्वाकु

---

[1] शतपथ ब्राह्मण [१।४।१।१०-१७] के अनुसार इस प्रदेश को सर्वप्रथम बसानेवाला व्यक्ति 'विदेघ माथव' नामक राजा था। देखें इसी ग्रन्थ का 'महर्षि कपिल' नामक प्रथम प्रकरण, पृ० ५८।

[2] 'भारतवर्ष का इतिहास' पं० भगवद्दत्त बी० ए० कृत, पृष्ठ १६०।

का बारहवां पुत्र लिखा है। रामायण तथा अन्य पुराणों में भी इक्ष्वाकु के शतपुत्रों[1] का उल्लेख है। कुक्षि से अयोध्या तथा निमि से मिथिलाका राजवंश चला। शेष पुत्रों में से कुछ उत्तरापथ और कुछ दक्षिणापथ के शासक हुए। ऐसी स्थिति में मैत्रावरुणि वसिष्ठ और करालजनक का संवाद भारतयुद्ध से केवल ४०-५० वर्ष पूर्व माना जाना कैसे संभव है ?

इसके अतिरिक्त महाभारत में जहां इस संवाद का उल्लेख किया गया है, वहां इसको पुरातन इतिहास[2] लिखा है। यह इतिहास भीष्मपितामह अपनी शस्त्रक्षत (शरशय्या) अवस्था में युधिष्ठिर को सुना रहे हैं। भीष्म की आयु उस समय दो सौ वर्ष के लगभग थी। यदि उक्तसंवाद की घटना भारतयुद्ध से ४०-५० वर्ष पूर्व की ही हो, तो यह निश्चित है, कि वह भीष्म के जीवनकाल की ही घटना थी। ऐसी स्थिति में उसे भीष्मपितामह पुरातन इतिहास कैसे कहते ?

वसिष्ठ की वंशपरम्परा इसप्रकार बताई जाती है—ब्रह्मा का पुत्र वसिष्ठ, वसिष्ठका शक्ति, शक्ति का पराशर, और पराशर का व्यास। यह व्यास वही है, जो महाभारत काल में था, तथा जिसने यह [प्रसिद्ध महाभारत] ग्रन्थ लिखा। इसप्रकार ब्रह्मा से चौथी पीढ़ी में इसका अस्तित्व कहा जाता है। ब्रह्मा को आदि सर्ग अथवा सत्ययुग के आरम्भ में मानकर यह स्वीकार किया जाना कि महाभारत कालिक व्यास उसकी चौथी पीढ़ी में था, इतना सत्य नहीं कहा जासकता।

व्यास का पिता पराशर और पराशर का पिता शक्ति। वस्तुस्थिति यही होसकती है, कि शक्ति, वसिष्ठ के वंश में उत्पन्न हुआ होगा। अथवा उसके पिता का भी नाम वसिष्ठ रहा हो, परन्तु यह वसिष्ठ ब्रह्मा का पुत्र था, अथवा दशरथकालिक वसिष्ठ था, इतना असत्य किसी पुराण के मुंह में ही समासकता है।

त्रिशंकुकालिक वसिष्ठ के सौ पुत्रों का उल्लेख रामायण में आता है। विश्वामित्र के द्वारा उनके नष्ट किये जाने का भी उल्लेख है। रामायण के इस प्रसंग में उक्त वसिष्ठ को दशरथ-कालिक वसिष्ठ के साथ जोड़ने का यत्न किया गया है। परन्तु वहां पहले या दूसरे के किसी शक्ति नामक अतिरिक्त पुत्र का उल्लेख नहीं है। यह अधिक संभव है, कि उन व्यक्तियों के नाम साम्य से तथा मध्यगत वंशपरम्परा के अज्ञात होने से पश्चाद्वर्त्ती लेखकों ने उनको अस्थान में जोड़दिया है।

प्रस्तुत संवाद में वसिष्ठ मैत्रावरुणि था, यह निश्चित है, इसका समय त्रेतायुग के प्रारम्भिक भाग में माना जासकता है, जो महाभारतयुद्ध से अतिप्राचीन काल में था। प्राचीन

---

[1] रामायण, उत्तर०, अ० ७१॥ विष्णु० ४।२।११॥ ब्रह्माण्ड० ३।६३।६-११॥

[2] अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्। वसिष्ठस्य च संवादं करालजनकस्य च ॥....वसिष्ठं श्रेष्ठमासीनं...। मैत्रावरुणिमासीनं...पप्रच्छर्षिवरं राजा करालजनकः पुरा ॥ म० भा०, शान्ति० ३०८।७-१०॥

इतिहास के संशोधन में हम उसी समय पथभ्रष्ट हो जाते हैं, जब पुराने साहित्य में लिखे कुछ नामों को सिलसिलेवार जोड़ने का यत्न करते हैं। इतिहास जितना अधिक पुराना होता जाता है, उतना ही अधिक संक्षिप्त, तथा और अधिक पुराना होने पर वह हमारी विस्मृति का ही क्रीडा स्थल रहजाता है। ऐसी दशा में हम अपने समीप के इतिहास के समान उसको अव्यवहित क्रमानुसार कैसे जोड़ सकते हैं ?

कौटलीय अर्थशास्त्र [१। ६। ६-७] में करालवैदेह का उल्लेख है। वहां ब्राह्मणकन्यापहार के दोष से दाण्डक्यभोज और करालवैदेह के बन्धुराष्ट्र सहित विनष्ट होजाने का निर्देश है। रामायण [७। ७६-८१] में दण्ड अथवा दण्डक राजा के सम्बन्ध की एक इसीप्रकार की घटना का वर्णन मिलता है।

बौद्ध ग्रन्थ मज्झिम निकाय [मखादेव, सुत्तन्त ८३] में उल्लेख है, कि भगवान् बुद्ध ने आनन्द को कहा,....'करालजनक ने उस कल्याण मार्ग का उच्छेद कर दिया। वह प्रव्रजित नहीं हुआ'। संभवतः ब्राह्मणकन्यापहरण रूप महान अविनय के कारण ही भगवान् बुद्ध ने करालजनक के सम्बन्ध में अपना उक्त विचार प्रकट किया हो। भदन्त अश्वघोष ने भी इस घटना का अपने ग्रन्थ [बुद्धचरित ४। ८०] में उल्लेख किया है।

संवाद में निर्दिष्ट सिद्धान्त, सांख्यसूत्रों में उपलब्ध हैं—

महाभारत के वसिष्ठ-करालजनक संवाद में प्रसंगवश सांख्यसिद्धान्तों का बहुत स्पष्ट उल्लेख किया गया है। हम उन सिद्धान्तों को संक्षेप में इसप्रकार प्रकट कर सकते हैं—

प्रकृति त्रिगुणात्मिका[1] है।

अव्यक्त प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत् से अहङ्कार और अहङ्कार से पञ्चभूत। ये आठ प्रकृति और आगे सोलह विकार हैं। जिनमें पांच महाभूत और पांच इन्द्रियां भी हैं[2]।

पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता है।[3]

प्रलय काल में अव्यक्त प्रकृति एक रूप है। सर्गकाल में उसका बहुरूप परिणाम

---

[1] 'प्रकृतेस्त्रिगुणायास्तु' शान्ति ३१०।११॥ तुलना करें, 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' सां० सू० १।६१॥ 'त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः' सां० सू० १।१२६॥ 'अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात्' सां० सू० १।१३६॥

[2] शान्ति० ३११।२७-२८॥ यहां पर इन्द्रियां पांच कही हैं, परन्तु यह शेष इन्द्रियों का भी उपलक्षण समझना चाहिये। क्योंकि मूल में सोलह विकारों का स्पष्ट उल्लेख है। महाभारत के 'एताः प्रकृतयश्चाष्टौ विकाराश्चापि षोडश' इन पदों की तुलना कीजिये, तत्त्वसमाससूत्र—'अष्टौ प्रकृतयः। षोडश विकाराः' के साथ और सां० सू० १।६१ के साथ।

[3] 'अधिष्ठानाद्धिष्ठाता क्षेत्राणामिति नः श्रुतम्' शान्ति ३११।३७॥ तुलना कीजिये, 'अधिष्ठानाच्चेति' सां० सू० १।१४२॥ तथा 'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' १।६६॥ एवं पञ्चशिख सूत्र 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते'।

हो जाता है।[1]

पुरुष और प्रकृति भिन्न २ हैं। पुरुष जब इस भेद को जान लेता है, प्रकृति से छूट जाता है।[2]

साधारण रूप से ये इतने स्पष्ट सांख्यसिद्धान्त हैं, कि इनके सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जासकता। महाभारत के प्रस्तुत प्रकरण के इन वर्णनों से यह अवश्य स्पष्ट होजाता है, कि इन जनक और वसिष्ठ नामक आचार्यों का सांख्य से अवश्य सम्बन्ध है, और वह सांख्य यही है, जो हमें तत्त्वसमास, षडध्यायीसूत्र तथा पञ्चशिख सूत्रों के रूप में उपलब्ध है। महाभारत के ये वर्णन सिद्धान्त रूप में, तथा अनेक स्थलों पर पद रूप में भी इन सूत्रों के साथ पर्याप्त समानता रखते हैं।

सांख्यसूत्र और महाभारत में 'अन्धपंगु' दृष्टान्त का अभाव—

महाभारतान्तर्गत शान्तिपर्व के सांख्यसम्बन्धी उल्लेखों में प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये 'अन्ध+पंगु' का दृष्टान्त हमें कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। इसका सब से प्रथम उल्लेख सांख्यकारिका[3] में ही मिलता है। सांख्यषडध्यायी के साथ, महाभारत के इन उल्लेखों की यह एक आश्चर्यजनक समानता है, कि षडध्यायीसूत्रों में भी 'अन्ध+पंगु' दृष्टान्त का उल्लेख नहीं है।

महाभारत में प्रकृति+पुरुष के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये स्त्री+पुरुष के सम्बन्ध का निर्देश किया गया है। वहां लिखा है—

"अक्षरक्षरयोरेष द्वयोः सम्बन्ध उच्यते।
स्त्रीपुंसोश्चापि भगवन् सम्बन्धस्तद्वदुच्यते[4]॥"

षडध्यायी में इसी अर्थ को 'रागविरागयोर्योगः सृष्टिः' [२।६] इस सूत्र के द्वारा मौलिक रूप में निरूपण किया गया है। 'राग' और 'विराग' पदों से 'स्त्री' और 'पुरुष' की ध्वनि निकाली जासकती है। यह निश्चित है, कि सूत्र में केवल साधारण अर्थ का निर्देश है, उसके आधार पर अर्थ को स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त की कल्पना व्याख्याकारों का कार्य है।

---

[1] 'एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च यदाऽसृजत्' शान्ति० ३११/२२॥ तुलना कीजिये, सां० सू० ६।२२॥ तथा २।२७॥

[2] 'अन्यदेव च क्षेत्रं स्यादन्यः क्षेत्रज्ञ उच्यते'। शान्ति० ३११।२१॥
'तदाविशुद्धो भवति प्रकृतेः परिवर्जनात्।अन्योऽहमन्येयमिति यदा बुध्यति बुद्धिमान्॥' शान्ति० ३१२/२०॥ तुलना कीजिये, 'अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृषु अकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिणि' पञ्चशिखसूत्र। तथा 'बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेन' पञ्चशिखसूत्र।

[3] सांख्यकारिका, आर्या २१।

[4] महाभारत, शान्ति० ३१०। १२॥ कुम्भघोण संस्करण।

संभव यही प्रतीत होता है, महाभारत और उसके अनन्तर भी बहुत समय तक उक्त सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिये 'स्त्री+पुरुष' का दृष्टान्त ही प्रचलित रहा होगा। वार्षगण्य के[1] सम्प्रदाय में भी इसी दृष्टान्तका उल्लेख उपलब्ध होता है। यद्यपि वह दूसरे रूप में उपस्थित किया गया है, परन्तु उसका मूल आधार वही है। माठर[2] वृत्ति में भी इस अर्थ की ध्वनि मिलती है। इससे यह परिणाम निकलता है, कि मूल सूत्र में जो अर्थ साधारण रूप से निर्दिष्ट है, उसकी विशेष स्पष्टता के लिये व्याख्याकारों ने दृष्टान्त की ऊहना की। इसके लिये प्रथम विद्वानों ने 'स्त्री+पुरुष' सम्बन्ध का दृष्टान्त कल्पना किया। अनन्तर ईश्वरकृष्णने 'अन्ध+पंगु' दृष्टान्तकी कल्पना की। सचमुच ही यदि षडध्यायी सूत्र, इन कारिकाओं के आधार पर बने होते, तो यह संभव नहीं था, कि इतना आवश्यक दृष्टान्त इन सूत्रों में छोड़ दिया जाता। परन्तु कारिकाओं की रचना, इन सूत्रों के आधार पर ही माने जाने पर यह सर्वथा समञ्जस है, कि मूलसूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिये कारिकाकार ने इस दृष्टान्त की यहां योजना कर दी है। इन कारिकाओं के सर्वप्राचीन व्याख्याकार माठर ने पहले दृष्टान्त का भी प्रसंगवश किसी रूप में उल्लेख कर ही दिया है।

इसप्रकार जनक और वसिष्ठ के संवादों में जिन सांख्यसिद्धान्तों का निरूपण है, वे सब षडध्यायी आदि ग्रन्थों में स्पष्ट उपलब्ध होते हैं। इन से इस बात पर पर्याप्त प्रकाश पड़जाता है, कि ये आचार्य अवश्य कपिल की शिष्य परम्परा में होंगे।

इनके समय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जासकता। इतना हम अवश्य कह सकते हैं, कि जनक और वसिष्ठ ये दोनों ही आचार्य महाभारत युद्ध के काल से पर्याप्त प्रचीन थे। संभव है, इस नाम के अन्य भी अनेक व्यक्ति हुए होंगे, परन्तु उनके विवेचन से हमें यहां कोई प्रयोजन नहीं।

जनक अथवा वसिष्ठ ने सांख्य विषय पर कुछ रचना भी की होगी, इसके लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। न उनके नाम पर इस विषय का कोई सन्दर्भ, हमने आजतक कहीं उद्धृत हुआ पाया है।

५ याज्ञवल्क्य और दैवरातिजनक—

महाभारत आदि के आधार पर मैत्रावरुणि वसिष्ठ और करालजनक के संवाद का हमने पिछले पृष्ठों में उल्लेख किया है। इसीप्रकार शान्तिपर्व के कुछ अध्यायों में याज्ञवल्क्य और दैवरातिजनक के संवाद का भी वर्णन है। इस वर्णन में याज्ञवल्क्य ने दैवरातिजनक को, उसके द्वारा प्रश्न किये जाने पर तत्वों का उपदेश किया है। यह प्रकरण शान्तिपर्व के ३१५

[1] 'वार्षगणानां तु यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः।' युक्तिदीपिका, पृ० १७०, पं० २७–२८॥

[2] 'तद्यथा स्त्रीपुरुषसंयोगात् पुत्रः संभवति। एवं प्रधानपुरुषसंयोगात् सर्गोत्पत्तिर्भवति।' माठरवृत्ति, आर्या २१ पर।

अध्याय से प्रारम्भ होकर ३२३ अध्याय तक नौ अध्यायों में समाप्त होता है।

रामायण के अनुसार विदेहों के राजवंश में सर्वप्रथम व्यक्ति निमि था। निमि की सातवीं पीढ़ी में देवरात नामक राजा हुआ। इसीका पुत्र दैवरातिजनक था। इसका अपना सांस्कारिक नाम रामायण में बृहद्रथ लिखा है। इसके समय का ठीक निर्धारण करनेके लिये हमारे समीप पर्याप्त साधन नहीं हैं। इतना अवश्य कहा जासकता है, कि यह करालजनक से कुछ पीढ़ी पीछे हुआ होगा। इसप्रकार इसका समय त्रेतायुग के मध्यकाल से कुछ पहले कहा जासकता है।

महाभारत में यह संवाद भीष्मपितामह के द्वारा महाराजा युधिष्ठर को सुनाया गया है। भीष्म ने वहां इस संवाद को पुरातनइतिहास[1] कहकर उल्लेख किया है। त्रेतायुग के मध्य के समीप होनेवाले इस संवाद को, महाभारतकाल में पुरातन इतिहास कहना समञ्जस ही है।

संवाद में निर्दिष्ट सिद्धान्तों के आधार, सांख्यसूत्र—

इस प्रकरण में याज्ञवल्क्य के द्वारा तत्त्वों के सम्बन्ध का जो उपदेश दिया गया है, सांख्य के साथ उसका अत्यन्त सामञ्जस्य है। ३१५ अध्याय के दशवें श्लोक[2] में आठ प्रकृति और सोलह विकारों का स्पष्ट उल्लेख है। अन्य विचारों को निम्नरीति पर प्रकट किया जासकता है।

अव्यक्त, महान्, अहङ्कार, और पांच सूक्ष्म भूत ये आठ प्रकृति हैं। इनमें महत् आदि सात व्यक्त हैं[3]।

मन सहित एकादश इन्द्रिय, और महाभूत ये सब सोलह विकार हैं[4]।

अव्यक्त से महान् की उत्पत्ति होती है। महान् से अहङ्कार उत्पन्न होता है।[5]

अहङ्कार से मन इन्द्रियां और भूत उत्पन्न होते हैं।[6]

त्रिगुणात्मक जगत्, प्रकृति का परिणाम है।[7]

सत्त्व, रजस्, तमस् इनके आनन्द दुःख अप्रकाश आदि स्वरूप हैं।[8]

---

१ अत्र ते वर्त्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्। याज्ञवल्क्यस्य संवादं जनकस्य च भारत॥
याज्ञवल्क्यमृषिश्रेष्ठं दैवरातिर्महायशाः। पप्रच्छ जनको राजा प्रश्नं प्रश्नविदां वरम्॥
म० भा०, शान्ति० ३१५।

२ अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोडश। आसां तु सप्त व्यक्तानि प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः॥
इस श्लोक के पूर्वार्ध को तुलना कीजिये, तत्त्वसमास के पहले [अष्टौ प्रकृतयः] और दूसरे [षोडश विकाराः] सूत्र के साथ।

३ १२।३१५।१०-११॥

४ १२।३१५।१२-१५॥

५ १२।३१५।१६-१७॥

६ १२।३१५।१८—तुलना करें सांख्यषडध्यायी १।६१॥

७ १२।३१८।१५॥ तुलना करें सांख्यषडध्यायी ६।३२॥

८ ११।३१८।१७-२८॥ तुलना करें पञ्चशिख सूत्र ५-७ [इसी प्रकरण में निर्दिष्ट सूची के अनुसार]

प्रकृति एक और त्रिगुणात्मक है।[1]

पुरुष नाना हैं।[2]

इस प्रकरण में एक और विशेष बात का निरूपण है। चौबीस जड़तत्त्व और पच्चीसवें चेतन पुरुषका वर्णन सर्वत्र समानरूपसे सांख्याभिमत रीतिपर उपलब्ध होता है। परन्तु यहां एक छब्बीसवें पुरुष का भी उल्लेख है। प्रकरण से यह स्पष्ट है, कि वह पुरुष, ईश्वर ही है। उसकी स्थिति को पच्चीसवां पुरुष उसी समय अनुभव कर पाता है, जब वह स्वयं कैवल्य स्थिति को[3] प्राप्त होजाता है। याज्ञवल्क्य अपने उपदेश में इस रहस्य को स्पष्ट करता है, कि मूल तत्त्व एक है, अथवा दो या तीन? वह तीन मूल तत्त्वों की स्थिति को ठीक समझता है, एक ईश्वर दूसरा पुरुष और तीसरी प्रकृति, और इसका उल्लेख सांख्यसिद्धान्त के रूप में ही करता है।[4]

इस प्रकरण में प्रसंगवश कुछ प्राचीन अन्य सांख्याचार्यों के नामों का भी उल्लेख किया गया है। वे इसप्रकार हैं—जैगीषव्य, असित देवल, पराशर, वार्षगण्य, पञ्चशिख, कपिल, शुक, गौतम, आर्ष्टिषेण, गर्ग, नारद, आसुरि, पुलस्त्य सनत्कुमार, शुक्र, कश्यप[5]। इन नामों के निर्देश में किसी विशेष क्रम का ध्यान नहीं रक्खा गया। यह केवल गणना करदी गई है। इनमें से अनेक नामों का उल्लेख सांख्यसप्तति की व्याख्याओंमें भी किया गया है।

क्या यही सांख्याचार्य याज्ञवल्क्य, शतपथ का रचयिता था?—

शान्तिपर्व के ३२३वें अध्याय के प्रारम्भिक भाग से यह स्पष्ट होता है, कि यह याज्ञवल्क्य आचार्य वही है, जिसका सम्बन्ध शतपथ ब्राह्मण से है। यह हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते, कि ये प्रस्तुत अध्याय कब और किसके बनाये हुए हैं, पर जो भी कोई इनका रचयिता था, उसका इतना विचार अवश्य निश्चित प्रतीत होता है, कि वह इस उपदेष्टा याज्ञवल्क्य को, शतपथ ब्राह्मण से सम्बद्ध याज्ञवल्क्य ही समझता था। यदि इस मत को हम विचारकोटि में ले आते हैं, तो यह आवश्यक होजाता है, कि शतपथ ब्राह्मण में आये दार्शनिक विचारों का इनसे सन्तुलन किया

---

[1] १२।३२०।३, १३॥ तुलना करें षडध्यायी, ६।३६॥

[2] १२।३२०।१३॥ तुलना करें षडध्यायी १।१४६॥६।४५॥

[3] तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति।१२।३२३।४५॥

[4] पश्यंस्तथैव चापश्यन् पश्यत्यन्यः सदाऽनघ। षड्विंशं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च पश्यति॥७२॥
न तु पश्यति पश्यंस्तु यश्चैनमनुपश्यति। पञ्चविंशोऽभिमन्येत नान्योऽस्ति परतो मम॥७३॥
यदा तु मन्यतेऽन्योऽहमन्य एष इति द्विजः। तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति॥७७॥
अन्यश्च राजन् परमस्तथाऽन्यः पञ्चविंशकः। तत्स्थत्वादनुपश्यन्ति एक एवेति साधवः॥७८॥
तेनैतन्नाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकमच्युतम्। जन्ममृत्युभयाद्भीता योगाः सांख्याश्च काश्यप॥७९॥
शान्ति०, अ० ३२३॥

[5] देखिये, शान्ति० ३२३।५९-६२॥

जाय। इतना कहने में हमें कुछ संकोच नहीं, कि जिस किसी ने भी याज्ञवल्क्य के विचारों का यहां उल्लेख किया है, उसके इन उल्लेखों का आधार शतपथ ब्राह्मण ही रहा होगा। इसके चतुर्दश काण्ड में जो दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं, उनका ही यह विवरण समझना चाहिये।

यह निश्चित है, कि इसके पर्याप्त समय पश्चात् शङ्कराचार्य ने इन विचारों की योजना अन्यथा की है। इनके युक्तायुक्तत्व का निर्णय करना इस समय हमारा कार्य नहीं। पर हम इतना कह देना चाहते हैं, कि शङ्कराचार्य से बहुत पहले, शतपथ के चतुर्दश काण्ड में प्रदर्शित दार्शनिक मतों का विवरण वही समझा जाता था, जो महाभारत के प्रस्तुत अध्यायों में वर्णित है।

शतपथ ब्राह्मण के चतुर्दशकाण्ड के द्वितीय तृतीय चतुर्थ अध्यायों के गम्भीर पर्यालोचन से यह अर्थ स्पष्ट होजाता है, कि याज्ञवल्क्य इस विश्व ब्रह्माण्ड को अन्तर्यामी परमात्मा से पृथक् मानता है। इस विश्वको अन्तर्यामी के शरीररूप में वह वर्णन करता है। जगत् शास्य और वह इसका शासिता बताया गया है। सूर्य चन्द्र अनन्त तारागण पृथिव्यादि सम्पूर्ण लोक अतीत अनागत, सब ही अनन्त आकाश में भरे हुए हैं, और आकाश समेत ये सब, उस अन्तर्यामी परमात्मा में ही आधारित हैं, उसी के प्रशासन से इनकी गति और स्थिति है। इसप्रकार प्राकृत जगत् और ईश्वर सर्वथा पृथक् सत्ता हैं। यह तीसरा जीव पुरुष इस संसार में आता जाता, तथा कर्म फलों को भोगता है [1]।

वस्तुत: प्राचीन सांख्यदर्शन के ये ही विचार हैं, जो षडध्यायी में बिखरे हुए उपलब्ध होते हैं। इसलिये प्राचीन साहित्य में इसप्रकार के सांख्य विचारों का आधार, इसी ग्रन्थ [सांख्यषडध्यायी] को माना जासकता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में जिस जनक वैदेह का उल्लेख है। वह विदेह देशों का राजा यही देवराति नामक जनक था, जिसका याज्ञवल्क्य से सम्बन्ध प्रतीत होता है। महाभारत के इस प्रसंग के दार्शनिक विचारों का बृहदारण्यक से अनेक स्थलों पर सामञ्जस्य स्पष्ट है।

श्री पं० भगवद्दत्त जी बी. ए. ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' नामक ग्रन्थ में यह निर्देश किया है, 'निमि जनक ही उपनिषदों का प्रसिद्ध जनक था। याज्ञवल्क्य उसी का गुरु और मित्र था। यह याज्ञवल्क्य भारत-युद्ध-काल में वर्त्तमान था।' इत्यादि।

महाभारत के अनुसार याज्ञवल्क्य का संवाद देवराति जनक के साथ ही अवगत होता है, न कि निमि जनक के साथ। इस प्रसंग से यह भी ज्ञात होता है, कि यह याज्ञवल्क्य, प्रसिद्ध ग्रन्थ शतपथब्राह्मण से सम्बन्ध रखता था [2]। बृहदारण्यक उपनिषद् इसी ब्राह्मण का

[1] इस प्रसंग की अधिक स्पष्टता और पुष्टि के लिये देखिये—हमारे 'सांख्यसिद्धान्त' नामक ग्रन्थ के द्वितीय प्रकरण का उपनिषद्भाग।

[2] देखें—म० भा०, शान्ति० ३२३। ११, १६, २२, २३॥

अन्तिम भाग है। इसलिये उपनिषद् में वर्णित याज्ञवल्क्य के साथ संवाद करने वाला दैवराति जनक होना चाहिये।

उपनिषद् में विदेह या वैदेह पद का ही अधिक प्रयोग है। यह बात नहीं कही जासकती, कि साहित्य मात्र में इस पद का प्रयोग किसी एक ही व्यक्ति के लिये हुआ है। यद्यपि उपनिषद् में उस एक ही व्यक्ति के लिये यह प्रयुक्त हुआ है, जिसका वहां प्रसंग है। इसका यह अभिप्राय नहीं, कि सर्वत्र उक्त पद से उसी एक व्यक्ति का बोध हो। जहां जिसका प्रसंग होगा, वहां उसका ग्रहण किया जासकेगा। रामायण तथा पुराण आदि में विदेह अथवा वैदेह पद उस वंश के अन्य अनेक व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। सीता को ही वैदेही लिखा और कहा जाता है। महाभारत आदि ग्रन्थों में जनक वंश के भिन्न २ राजाओं के लिये इस पद का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः विदेह पद, विशेष प्रदेश [1] का ही वाचक है। इन प्रदेशों का नाम विदेह क्यों हुआ, इसका मूल संकेत शतपथ ब्राह्मण [2] में उपलब्ध होता है। इस भूभाग को सर्वप्रथम बसाने वाले व्यक्ति का नाम 'विदेघ माथव' था, इसकारण उसी के नाम पर इस प्रदेश का नाम 'विदेघ' हुआ, जो कालान्तर में उच्चारण विपर्यय से 'विदेह' होगया। शतपथ ब्राह्मण की रचना से पूर्व ही यह 'विदेह' होचुका था। इसका निर्देश हम इसी ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में कर आये हैं। ऐसी स्थिति में जनकवंश के किसी राजा का परमयोगी होना उसके 'विदेह' नाम का कारण नहीं कहा जासकता।

वोढु आदि सांख्याचार्य, ६–१८—

कुछ सांख्याचार्यों की नाम-सूची इसप्रकार उपस्थित की जाती है—

६—वोढु	११—प्लुति	१६—क्रतु
७—सनक	१२—पुलह	१७—दक्ष
८—सनन्दन	१३—भृगु	१८—अत्रि
९—सनातन	१४—अङ्गिरस्	
१०—सहदेव	१५—मरीचि	

इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, सितम्बर १९३०, पृष्ठ ५०९–५२० में मुद्रित श्रीयुत कालीपद भट्टाचार्य के लेखानुसार, अथर्ववेद परिशिष्ट ऋषितर्पण मन्त्र के आधार पर यह नाम-सूची प्रस्तुत की गई है। इसमें से प्रथम चार नामों का उल्लेख, सांख्यकारिकाओं के गौडपादभाष्य में भी प्रथम पृष्ठपर ही है। अन्य अनेक नाम जहां तहां पुराण आदि में भी उपलब्ध होते हैं। इन आचार्यों के कोई अन्य सांख्यसम्बन्धी वर्णन हमें कहीं उपलब्ध नहीं हुए। इसीलिये इनके सम्बन्ध

---

[1] सोऽचिरेणैव कालेन विदेहानासमाद ह। रक्षिवान् धर्मराजेन जनकेन महात्मना ॥ शान्ति० ३२०।११ ॥ स विदेहानतिक्रम्य...। २२ ॥ विदेहराजो याज्यो मे जनको नाम विश्रुतः ॥ ३११। १० ॥

[2] श० ब्रा० १।४।१।१०–१७ ॥

में कोई विशेष विवरण नहीं दिये जासकते । सम्भवतः ये सब आचार्य अति प्राचीन काल के प्रतीत होते हैं। इनकी किसी सांख्यसम्बन्धी रचना का भी अभी तक पता नहीं लगा है। केवल सनन्द अथवा सनन्दन के नाम पर एक श्लोक, मनुस्मृति की कुल्लूक रचित व्याख्या [१ । ५६] में इसप्रकार उपलब्ध है—

"तदुक्तं सनन्देन—

भूतेन्द्रियमनो बुद्धिर्वासनाकर्मवायवः । अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः ॥"

सांख्यषडध्यायी में भी कपिल ने इसके एक मत का स्वयं उल्लेख किया है। वहां सूत्र है—*'लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ।'* [६ । ६६]

श्री पं० राजाराम शास्त्री ने हम से कहा था, कि उन्होंने एक ब्राह्मण के घर तत्त्वसमास सूत्रोंपर सनन्दनाचार्य की व्याख्या देखी थी । इसका उल्लेख उन्होंने 'सांख्य के तीन प्राचीन ग्रन्थ' नामक अपनी पुस्तक में भी किया है। प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना के समय हमने शास्त्री जी से उक्त व्याख्या के सम्बन्ध में पुनः चर्चा की। ज्ञात हुआ, वह व्यक्ति मरचुका है, और उसके घर में जो पुस्तक व पुराने पत्र आदि थे, नष्ट होगये हैं। यत्न करने पर भी हम उस व्याख्या को उपलब्ध न कर सके [1] ।

पुलस्त्य आदि सांख्याचार्य, १६—२५—

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३२३ के आधार पर कुछ अन्य सांख्याचार्यों के नाम इसप्रकार उपस्थित किये जासकते हैं—

१६—पुलस्त्य	२३—नारद
२०—कश्यप	२४—आर्ष्टिषेण
२१—शुक्र	२५—शुक
२२—सनत्कुमार	

महाभारत में अनेक स्थलों पर इनके कथनोपकथनों का उल्लेख है। उनमें कहीं २ सांख्य सम्बन्धी विचार भी प्रस्फुटित हुए हैं। एक प्रसङ्ग में यह भी आता है कि शुक ने जनक के समीप जाकर आत्मज्ञान की शिक्षा ली। महाभारत के इस प्रसङ्ग में इस जनक का नाम धर्मराज जनक [2] बताया गया है। पीछे भी जनक नाम के कुछ व्यक्तियोंका उल्लेख किया गया है। यह जनक उनसे भिन्न प्रतीत होता है।

इन आचार्यों की सांख्य सम्बन्धी किन्हीं भी रचनाओं अथवा सन्दर्भों का अभी तक

---

[1] यह ग्रन्थ लाहौर में रहते हुए, सन् १६४७ ईसवी के प्रारम्भ में लिखा जाचुका था। उसी वर्ष देशमें राजनीतिक क्रान्ति के कारण हमें लाहौर छोड़ना पड़ा। अभी कुछ दिन हुए श्री पं० राजाराम जी का भी देहली में देहावसान होगया है। लाहौर की सामग्री वहां रहचुकी है।

[2] महाभारत १२ । ३३२ । १६ ॥ कुम्भघोण संस्करण।

कोई ज्ञान नहीं है, इनके पृथक् २ उपलब्ध संवादोंमें जो बिखरे हुए विचार पाये जाते हैं, उनमें सांख्य भावनाओं की थोड़ी बहुत गन्ध सूंघी जासकती है।

पुलस्त्य को महाभारत [१ । ६६ । १०] में ब्रह्मा का मानस पुत्र, और भागवत [४ । १] में कपिल का बहनोई लिखा है। कर्दमपुत्री 'हविर्भुक्' के साथ पुलस्त्य के विवाह का उल्लेख है।

कश्यप, मरीचि ऋषि का पुत्र [म० भा० १ । ६३ । ३] और कपिल का भान्जा था। भागवत [४ । १] मे लिखा है, कि इसकी माता का नाम 'कला' था, जो कर्दम की पुत्रियों में से अन्यतम थी।

जैगीषव्य आदि सांख्याचार्य, २६-३२—

कुछ अन्य आचार्यों के नाम इसप्रकार हैं—

२६—जैगीषव्य	३०—भार्गव
२७—वाल्मीकि	३१—पराशर
२८—देवल	३२—उलूक
२९—हारीत	

ये सब नाम महाभारत में भिन्न २ स्थलों पर उपलब्ध होते हैं। इनमें से २६ और ३१ का नाम बुद्धचरित (१२।६७) में भी आता है। शेष पांच नामों का उल्लेख सांख्यकारिका की माठरवृत्ति (आर्या ७१) मे भी उपलब्ध होता है। २१ संख्या पर जो शुक्र नाम दिया गया है, संभव है, माठरवृत्ति में उसी को भार्गव पद से उल्लिखित किया गया हो।

इन आचार्यों के पृथक् २ उपलब्ध होनेवाले संवादों में अवश्य सांख्यसम्बन्धी कुछ बिखरे हुए विचार पाये जाते हैं। इनमें से कुछ आचार्यों के सन्दर्भ भी उपलब्ध होते हैं। इनमें जैगीषव्य, देवल और हारीत का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

जैगीषव्य—

पातञ्जल योगसूत्र (२।५५) के व्यासभाष्य में जैगीषव्य के नाम पर एक सन्दर्भ उद्धृत हुआ २ इसप्रकार मिलता है—

"चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः।"

यहां पर तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति मिश्र ने जैगीषव्य को परमर्षि लिखा है। इस बात को हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते, कि यह सन्दर्भ जैगीषव्य की अपनी रचना है, या उसके विचारों को अन्य किसी विद्वान् ने अपने शब्दों में बांध दिया है। यद्यपि न्यायवार्त्तिकतात्पर्य-टीका (३।२।४२). में वाचस्पति मिश्र ने 'धारणाशास्त्रं जैगीषव्यादिप्रोक्तम्' इत्यादि लिखकर इस बात को प्रकट किया है, कि जैगीषव्य की कोई अपनी रचना अवश्य होगी। व्यासभाष्य (३।१८) में आवट्य और जैगीषव्य का एक संवाद दिया है, जिससे प्रकट होता है, कि जैगीषव्यने समाधि-सिद्धि को प्राप्त किया था।

इसके अतिरिक्त महाभारत[1] में भी इस बात का उल्लेख आता है। जैगीषव्य ने असित देवल के सन्मुख अपनी सिद्धि का प्रदर्शन किया था, और महादेव रुद्र तथा उमा[2] को भी छकाया था। कीथ[3] ने लिखा है, कि जैगीषव्य, कूर्मपुराण के वर्णन के अनुसार पञ्चशिख का सहाध्यायी था। ऐसी स्थिति में देवल जैगीषव्य और पञ्चशिख तीनों ही समकालिक होने चाहियें। परन्तु इस सम्बन्ध में एक विचार इसप्रकार प्रस्तुत किया जासकता है, कि पञ्चशिख अतिदीर्घ-जीवी[4] व्यक्ति था। संभव है, उसके पिछले दिनोंमें जैगीषव्य और उसका सहवास रहा हो। तथा उसी समय जैगीषव्य ने सांख्य-योगविद्या का अभ्यास किया हो। जैगीषव्य ने दृढ़ अभ्यास से परम समाधिसिद्धि को प्राप्त किया। ऐसे सिद्ध व्यक्ति की आयु भी लम्बी होनी चाहिये। असित देवल को जैगीषव्य के सहयोग से ही वैराग्य लाभ हुआ, और उसने सांख्य-ज्ञान को उसीसे प्राप्त किया। संभव है, जैगीषव्य के अन्तिम दिनों में ही असित देवल का उससे सम्पर्क हुआ हो। देवल ने सांख्य-ज्ञान जैगीषव्य से ही प्राप्त किया था, यह बात महाभारत[5] से स्पष्ट होजाती है।

जैगीषव्य के अपने मन्तव्यों का संकेत महाभारत के उक्त प्रसंग से प्राप्त होता है। उन्नीस श्लोकों के द्वारा वहां उसके विचारों का निर्देश किया गया है। उसका निष्कर्ष यह है कि अन्य किसी के द्वारा अपने लिये कितना भी बुरा किये जाने पर उसके लिये स्वयं सदा भला ही करो और भला ही सोचो। आशाओं से दूर रहो, अतीत की चिंता न करो, जो प्राप्त हो वही करो। इन्द्रियों को वश में करो, क्रोध को जीतो, ज्ञानप्राप्ति के लिये प्रयत्न करो, मन वाणी कर्म से कभी किसी के प्रति अपराध न करो। जो व्यक्ति मेरी निन्दा करते हैं, अथवा प्रशंसा करते हैं। मैं उससे न घटता हूँ और न बढ़ता, प्रत्युत यह समझना चाहिये कि वे लोग अपना ही वर्णन करते हैं। इस रूप में जो अपना जीवन बिताते हैं, वे अपने सुख को ही बढ़ाते हैं। इन्हीं उपायों से ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जो निश्चित ही प्रकृति से पर है, उत्कृष्ट है। भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में 'स्थितप्रज्ञ' का जो स्वरूप उपस्थित किया गया है, जैगीषव्य उसी की प्रतिमूर्ति प्रतीत होता है। महाभारत के ये उन्नीस श्लोक 'कृत्यकल्पतरु' के मोक्षकाण्ड प्रकरण में जैगीषव्य के नाम पर उद्धृत[6] किये गये हैं।

---

[1] महाभारत, शल्य० ५१।

[2] महाभारत शान्ति० २३६।

[3] Another teacher of yoga who is mentioned in the epic is Jaigishavya, who according to the Kurma Puran, was a fellow pupil of Panchasikha. The Samkhya System. P.51.

[4] म० भा०, शान्ति० २२०।१०॥

[5] म० भा०, शान्ति० २३६।२७॥

[6] कृत्यकल्पतरु, मोक्षकाण्ड, पृष्ठ २२८-२९, गायकवाड ओरियण्टल संस्कृत सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित। तुलना करें—म० भा० शान्ति०, अ० २२९, श्लोक ८-२६। कुम्भघोण संस्करण।

देवल—

याज्ञवल्क्यस्मृति की अपरादित्य रचित व्याख्या[1] में देवल का एक लम्बा सन्दर्भ उद्धृत है। वह इसप्रकार है—

तत्र देवलः—"अथातो धर्मवर्जितत्वान्न तिर्यग्योन्यां पुरुषार्थोपदेशः। देवमानुषयोर्द्विविधः पुरुषार्थः। अभ्युदयो निःश्रेयसमिति। तयोरभ्युदयः पूर्वोक्तः। द्विविधं निःश्रेयसं सांख्ययोगाविति पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं सांख्यम्। विषयेभ्यो निवर्त्याऽभिप्रेतेऽर्थे मनसोऽवस्था (प) नं योगः। उभयत्रापवर्गः फलम्। जन्ममरणदुःखयोरत्यन्ताऽभावोऽपवर्गः। एतौ सांख्ययोगौ चाधिकृत्य येयुक्तिः समयतश्च पूर्वप्रणीतानि विशालानि गम्भीराणि तन्त्राणीह संक्षिप्योद्देशतो वक्ष्यन्ते।

तत्र सांख्यानामेका मूलप्रकृतिः। सप्त प्रकृतिविकृतयः। पञ्च तन्मात्राणि। षोडश विकाराः पञ्च पञ्चेन्द्रियाणि। अर्थाश्च। पञ्च भूतविशेषाः। त्रयोदश करणानि। त्रीण्यन्तः करणानि। चतस्रश्चतस्रो मातृजाः पितृजाश्च कोशाः। पञ्च वायुविशेषाः। त्रयो गुणाः। त्रिविधो बन्धः। त्रयो बन्धहेतवः। द्वौ बन्धरागौ। त्रीणि प्रमाणानि। त्रिविधं दुःखम्। चतुर्विधः प्रत्ययसर्गः। तथा विपर्ययः पञ्चविधः। अशक्तिरष्टाविंशतिधा। तुष्टिर्नवविधा। सिद्धिरष्टविधेति प्रत्ययभेदाः पञ्चाशत्।

अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं परार्थमन्यत्वमथो निवृत्तिः।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः॥
इति दश मूलिकार्थाः।

अथ मूलप्रकृतिरव्यक्तम्। महानहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणीति प्रकृतिविकृतयः। शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रसतन्मात्रं रूपतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति तन्मात्राणि। द्विविधानीन्द्रियाणि। भूतविशेषाश्च विकाराः। चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वात्वचो बुद्धीन्द्रियाणि। रूपशब्दगन्धरसस्पर्शास्तेषामर्थाः। वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि। भाषणं क्रिया गमनमुत्सर्ग आनन्द एषां कर्माणि। वाय्वग्न्यबाकाशपृथिव्यो भूतविशेषाः। दशेन्द्रियाणि बुद्ध्यहंकारमनांसि च करणानि। तेषु मनोबुद्ध्यहंकाराश्चान्तःकरणानि। दश बहिष्करणानीन्द्रियाणि च। गुणसाम्यलक्षणमव्यक्तं प्रधानं प्रकृतिर्विधानमित्यनर्थान्तरम्। अध्यवसायलक्षणो महान् बुद्धिर्मतिरुपलब्धिरित्यनर्थान्तरम्। अभिमानलक्षणोऽहङ्कारो वैकारिकोऽभिमान इत्यनर्थान्तरम्।

न पूर्वपूर्विका प्रकृतिः प्रकृतेर्महानुत्पद्यते। ततोऽहङ्कारः अहङ्कारात्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च। तन्मात्रेभ्यो विशेषा इत्युत्पत्तिक्रमः। यो यस्मादुत्पद्यते स तस्मिल्लीयत इति वाऽप्ययक्रमः।"

इस सन्दर्भ में सांख्यषडध्यायी और तत्त्वसमास के अनेक सूत्र हैं। जिनका उल्लेख हम प्रसंगवश चतुर्थ प्रकरण में कर आये हैं। देवल की प्राचीनता के सम्बन्ध में भी चतुर्थ प्रकरण

[1] याज्ञवल्क्यस्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय, श्लो० १०६ पर।

[२४ संख्या][1] में विस्तारपूर्वक लिखा जाचुका है। देवल के सन्दर्भ से यह स्पष्ट होता है, कि उससे पूर्व अनेक आचार्यों के सांख्य विषयपर विस्तृत तथा गम्भीर ग्रन्थ थे। इन ग्रन्थों की रचना, उपलब्ध अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों से पूर्व ही लोकभाषा में होचुकी थी। कपिल की रचना के अतिरिक्त, आसुरि, पञ्चशिख, देवल, वार्षगण्य आदि की रचनाओं में से अनेक सन्दर्भ आज भी उपलब्ध होते हैं। इससे स्पष्ट होजाता है, कि योरपीय विद्वानों का भाषा के आधार पर साहित्य का क्रमिक कालनिर्णय सर्वथा असंगत है। भिन्न विषय के अनुसार, भाषा की विभिन्नता प्रत्येक काल में संभव होसकती है।[1]

देवल के सांख्य-सम्बन्धी और भी अनेक उद्धरण 'कृत्यकल्पतरु'[2] नामक ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं। उनमें से जिन सन्दर्भों का स्पष्ट सम्बन्ध सांख्य के साथ प्रतीत हुआ है, उनका निर्देश यहां किया जाता है। उनमें एक लम्बा सन्दर्भ ऐसा है, जो अपरार्क टीका में उद्धृत सन्दर्भ के साथ समानता रखता है। इससे देवल के सांख्यसम्बन्धी ग्रन्थ की और अधिक पुष्टि होजाती है। वे सन्दर्भ इसप्रकार हैं—

तत्र सांख्यानामेका मूलप्रकृतिः। सप्त प्रकृतिविकृतयः। महदहङ्कारौ। पञ्च तन्मात्राणि। षोडश विकाराः। पञ्च पञ्चेन्द्रियाणि। अर्थाश्च पञ्चभूतविशेषाश्च। त्रयोदश करणानि। तेषां त्रीण्यन्तःकरणानि। दश बहिःकरणानि।

अथ मूलप्रकृतिरव्यक्तम्। महानहंकारः पञ्च तन्मात्राणीति प्रकृतिविकृतयः। शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति तन्मात्राणि। द्विविधानि इन्द्रियाणि, मनो भूतविशेषाश्च विकाराः। चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वात्वचो बुद्धीन्द्रियाणि। रूपशब्दगन्धरसस्पर्शास्तेषामर्थाः। वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि। भाषणं क्रिया गमनमुत्सर्गः प्रीतिरिति कर्मेन्द्रियार्थाः। वायुरग्न्यबाकाशपृथिव्यो भूतविशेषाः। दशेन्द्रियाणि बुद्ध्यहंकारमनांसि च करणानि। तेषां मनोबुद्ध्यहंकाराश्चान्तःकरणानि। दश बहिःकरणानि, इन्द्रियाणि च।

गुणसाम्यलक्षणमव्यक्तं प्रधानं प्रकृतिः विधानमित्यनर्थान्तरम्। अध्यवसायलक्षणो महान् बुद्धिर्मतिरुपलब्धिरित्यनर्थान्तरम्। अभिमानलक्षणोऽहंकारो वैकारिकोऽहंकारोऽभिमान इत्यनर्थान्तरम्। सत्तामात्रलक्षणानि तन्मात्राणि। स्वानुग्रहलक्षणानीन्द्रियाण्यक्षाणीन्द्रियाण्युच्यन्ते। संकल्पलक्षणं मनः। इन्द्रियार्थलक्षणा विषयविशेषा भूतानीत्यनर्थान्तरमिति।[3]

---

[1] इस विषय में अधिक देखें—पं० भगवद्दत्त जी कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' पृष्ठ ७२–७६॥

[2] यह ग्रन्थ 'गायकवाड ओरियण्टल सीरीज़' बड़ोदा से प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग में पृष्ठ संख्या उसी के अनुसार दी गई है।

[3] 'सत्तामात्रलक्षणानि तन्मात्राणि' से लेकर सन्दर्भ के अन्त तक का पाठ अपरार्क के उद्धरण में नहीं है। प्रतीत होता है, यह पाठ देवल के मूलग्रन्थ से यहां अधिक लिया गया है।

सर्वपूर्विका प्रकृतिः । प्रकृतेर्महानुत्पद्यते । महतोऽहंकारः । अहंकारात्तन्मात्राणि इन्द्रियाणि च । तन्मात्रेभ्यो विशेषा इत्युत्पत्तिक्रमः । [कृत्यकल्पतरु,[1] मोक्षकाण्ड, पृ० १००–१०१]

तत्र देवमनुष्यतिर्यगनुवृत्तौ देवल—

तेषां त्रिविधो मूर्त्तिविशेषो–द्युतिमत्, सुगन्ध्यनिष्पाद्यमनाविलमनिमिषमस्वेदं, क्षुत्पिपासानिद्रालस्यवर्जितं, यथेष्टाकृतिबलसन्नहनमूर्जस्वि, निर्मलं, परमपुष्कलं, सुकृतनिमित्तं देवताशरीरम्

अनित्यमशुभं, सर्वरोगायतनं, दुःखभाजनमनेकबाधमस्थिसंघातशिरास्नायुन्द्धं, मांसावलिप्तं, त्वक्प्रतिच्छन्नं, अन्तरसनानाशोणितमेदोमांसमज्जारेतःपित्तानिलश्लेष्मान्त्रगुदबस्तियकृत्प्लीहक्लेदस्वेदमूत्रपुरीषकृमिपूर्णं, नवच्छिद्रं, सन्ततास्रावं, केशरोमनखपर्यन्तं, दुर्गन्धि, नित्यसंस्कार्यं, जरामरणवशमिति मानुषशरीरम् ।

सन्ततोद्विग्नमसंस्कारं, विधृतनिष्यदं, क्षुत्पिपासावशं, मूढेन्द्रियगोचरं, दुष्कृतायनमज्ञानमकर्मण्यमिति तिर्यग्योनिशरीरम् [2] । [पृ० १०६]

प्रकृतिबन्धो वैकारिकबन्धो दक्षिणाबन्ध इति बन्धत्रयी । तत्राऽव्यक्तादिभिरष्टभिर्बन्धः । इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु बन्धो वैकारिकबन्धः । इष्टापूर्त्तादिभिर्बन्धो दक्षिणाबन्धः । तत्र प्रकृतिषु बन्धो देवतानां दक्षिणाभिराश्रमिणां वैकारैरन्येषां धर्मोऽज्ञानानि च बन्धहेतवः [3] । (पृ० १२४)

देवमनुष्ययोः द्विविधः पुरुषार्थोऽभ्युदयो निःश्रेयसमिति । तयोरभ्युदयः पूर्वोक्तः द्विविधः[4] निःश्रेयसमिति सांख्ययोगौ । पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं सांख्यम् । विषयेभ्यो निवृत्याऽभिप्रेतेऽर्थे मनसोऽवस्थापनं योगः । उभयत्रापवर्गः फलम् । (पृ० १६५)

सर्वप्राणिष्वनुक्रोशो हृदयतुष्टिरपायचिन्तनं सर्वोपभोगवर्जनम् । भूमिशिलातृणसिकताशर्कराणामन्यतमाधिशयनं सदा सत्त्वबोधो धर्ममार्जवमनर्दनं चेति[5] (पृ० २१)

परिव्राजको दीक्षाप्रभृति सर्वारम्भान् परित्यजेत् । चतुर्मासान्तरं केशश्मश्रूण्यपनयेत् । नाधौतः श्मश्रुरोमाणि । विद्याचारकुलवयोवृत्तानि परेभ्यो न कथयेत् । (पृ० ४६)

नित्यं प्रत्यादित्यं निवृत्तमुसलोद्यमे प्रशान्तधूमे काले ग्रामं प्रविश्य, भैक्षार्थं सर्वतः पर्यटन् अग्रतो युगमात्रमवलोक्य संकल्पितानि विवृतद्वाराणि, अन्यवचनेऽनासक्तः प्रविशेत् । प्रविष्टः संकल्पप्रणयकुहकचिन्मयविलम्बपरिहासयाचनाप्रेक्षितादि परिहरेत् । गोदोहनमात्रं स्थित्वा व्रजेत् । भिक्षां लब्ध्वा न प्रहृष्येत् । अलब्ध्वा न क्रुध्येत् । अन्त्यवसायि परिपन्थिज्ञातीश्वर-

---

1 इस प्रसंग में हम आगे केवल पृष्ठ संख्या निर्देश करेंगे, वह इसी ग्रन्थ के मोक्षकाण्ड की पृष्ठ संख्या समझनी चाहिये ।

2 देव आदि त्रिविध सर्गोंका वर्णन सांख्यग्रन्थों में किया गया है । तुलनाकरें, सां० सू० ३ । ४६ ॥ सां० का० ५३ ॥ त० स० सू० १८ ।

3 तुलना करें, सां० सू० ३ । २३—२४, ३६ ॥ तत्त्वसमास सूत्र ११ ॥ सां० का० ४४—४५ ।

4 अपरार्का टीका में यह पाठ इसप्रकार है—'तयोरभ्युदयः पूर्वोक्तः । द्विविधं निःश्रेयसं सांख्ययोगाविति ।'

5 यह सन्दर्भ "वानप्रस्थधर्म" नामक प्रकरण में उद्धृत किया गया है ।

प्रेतभूतकभिक्षां नोपलभ्यां प्रतिहतां गृह्णीयात्। आत्मनः संस्कृतां परबाधाकरीं वर्जयेत्। मधुमांसकुबीजविरहितां गृहीत्वा तद्भैक्षमेकान्ततो नैवपात्रेणान्येन वा तूष्णीं भूत्वा मात्रया भुञ्जीत। (पृ० ४६)

स भिक्षुररागानुक्रोशप्रधानः मुण्डितकषायी त्रिदण्डकमण्डलुपवित्रपात्रपादुकासनः, कन्थामात्रो, ज्ञानरतिरात्महृष्टः, बन्धुभिरसंपृक्तो, निरपेक्षः। परातिक्रम, क्षीणविगतपापः, समसृत्काञ्चनः, स्वमात्रा, स्वव्यसक्तो, मध्यस्थः, निष्परिग्रहो, ब्रह्मवादी, मङ्गलव्यवहारसंस्कारजीव, शिखारत्नधनधान्यविषयोपभोगसंपर्केर्ष्यादर्पमोहमायाहर्षविरोधविस्मयविवादत्रासवितर्कतन्द्रश्चेति यतिधर्माः[१]। (पृ० ५०)

अथातः पापदोषान् मनोवाक्यशरीरजान् व्याख्यास्यामः। तत्र मोहरागद्वेषमानलोभमदशोकममत्वाऽहंकारभयहर्षमोघचिन्ता (मोघचिन्ता) श्चेति द्वादश मानसाः[२]। (पृ० ८४)

रागद्वेषमोहाः कषाया उच्यन्ते। तेषां यमनियमलक्षणेन तपसा पञ्चविधेन तत्त्वज्ञानेन चापकर्षणम्। कषायपाचनम्। [पृ० १६८]

त्रिविधः प्राणायामः[३]—कुम्भो रेचनं पूरणमिति। निश्वासनिरोधः कुम्भः। अजस्रनिश्वासो रेचनम्। निश्वासाध्मानं पूरणमिति। स पुनरेकद्वित्रिभिरुद्घातैर्मृदुर्मन्दस्तीक्ष्णो वा भवति। प्राणापानव्यानोदानसमानानां सकृदुद्गमनं मूर्द्धानमाहत्य निवृत्तिश्चोद्घातः। तत्र ऊर्ध्वं नाभेर्गतो रेचनोच्छ्वासचरणोद्गारकर्मा प्राणः। अधोनाभेरुत्सर्गानन्दकर्माऽपानः। शाखासम्बन्धिस्कन्धाविष्टः प्रसारणावक्षेपणाकुञ्चनभ्रमणरेचनवानगमनकर्मा व्यानः। बाहूरुग्रीवाचक्षुःपार्श्वगतः चेष्टाविक्रमबलाधानकर्मोदानः। श्रोत्रहृदयनाभिगतः सर्वकर्मा स्यन्दनावबोधनानां समायतत इति समानः। ग्लानो विविक्त्य सुषुप्सुरुद्विग्नः क्षुधितो व्याधितः शीतोष्णार्दितः संभ्रान्तवेगो वा प्राणायामं न युञ्जीत। [पृ० १७०]

अणुत्वाच्चापल्याल्लाघवाद्[४] बलवत्त्वाद्वा योगभ्रष्टस्य मनसः पुनः प्रत्यानीयार्थे योजनं प्रत्याहारः। [पृ० १७३

शरीरेन्द्रियमनोबुद्ध्यात्मनां धरणाद्धारणा। [पृ० १७४]

देवतायतनं शून्यागारगिरिकन्दरनदीपुलिनगुहारण्यानामन्यतमे शुचौ निराबाधे विभक्ते

---

[१] ये तीन सन्दर्भ 'यतिधर्म' प्रकरण में उद्धृत हैं।

[२] यह सन्दर्भ 'कामादिवर्जन' नामक प्रकरण में उद्धृत है।

[३] यह विषय योगशास्त्र में प्रसिद्ध है। योग, सांख्य का ही अङ्ग है, सांख्य में भी इसका यथावश्यक वर्णन है, तुलना करें, सां० सू० ३। ३४॥

[४] इस सन्दर्भ से स्पष्ट होता है, कि सांख्यप्रवक्ता कपिल के समान देवल भी मन को अणु मानता है। देखें—सां० सू० ३। १४॥ इसके विपरीत पातञ्जल योगदर्शन में मन को विभु माना गया है। देखें—पा० यो० सू० ४। १० का व्यासभाष्य।

समुपस्तीर्णमानसं कृत्वा, तस्मिन् लब्धाहारो निरामयः शुचिः शिरो ग्रीवा पाणिपादौ च समास्थाप्य, शरीरमृजुं समाधाय, शिश्नवृषणावपीडयन् यत्किञ्चिदपाश्रित्य स्वस्तिकं भद्रकं मण्डलं वाऽधिष्ठाय, उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा दन्तैर्दन्तानसंस्पृश्य, अक्षिभ्यामव्यक्तमनुन्मील्य च मुखनासिकाभ्यां ऐक्यावसन्नाग्रस्थितदृष्टिः, सर्वेन्द्रियाणि संहृत्योर्ध्वं प्राणानुदीर्य मनसा तच्चिन्तनं ध्यानम्। [पृ० १८१]

निष्ठाभिभवो[1] निद्राबाधाभयानकोत्पत्तिर्ज्ञानपीडा भोगातिशयः कोपनैपुण्यमैश्वर्यविशेषो धर्ममहत्त्वं विद्यास्थानानि यशोदीप्तिरिति योगिनां दशोपसर्गाः। [पृ० २१२]

अणिमा[2] महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्रकामावसायित्वं चाष्टावैश्वर्यगुणाः। तेषामणिमामहिमालघिमास्त्रयः शारीराः। प्राप्त्यादयः पञ्चैन्द्रियाः। तत्र स्वशरीरत्वमणिमा अणुभावात् सूक्ष्माण्यप्याविशति। शरीरमहत्त्वं महिमा। महत्त्वात् सर्वशरीराण्याप्नोति। शरीराशुगामित्वं लघिमा। तेनातिदूरस्थानपि क्षणेनाऽऽसादयति। विश्वविषयावाप्तिः प्राप्तिः। प्राप्त्या सर्वप्रत्यक्षदर्शी भवति। यथेष्टचारित्वं प्राकाम्यम्। प्राकाम्येन सर्वभोगवरानाप्नोति। अप्रतिहतैश्वर्यमीशित्वम्। ईशित्वेन दैवतान्यप्यतिशेते। आत्मवश्यता वशित्वम्। वशित्वेनाऽपरिमितायुर्वश्यजजन्मा च भवति। यत्रकामावसायित्वं त्रिविधम्—छायावेशः अवध्यानावेशः अङ्गप्रवेश इति। यत् परस्य छायाप्रवेशमात्रेण चित्तं वशीकरोति स छायावेशः। यद् दूरस्थानामपि अनुध्यानेन चित्ताधिष्ठानं सोऽवध्यानावेशः। यत् सजीवस्थोभिस्ते[3] (?) जीवस्य वा शरीरानुप्रवेशनं सोऽङ्गप्रवेशः। यत्र कामावसायित्वेन मूर्त्तद्रव्यं चाधितिष्ठतीति ऐश्वर्यावस्थानं तच्च प्रकृति-पुरुषोत्तरहेतोर्धर्मतेजोज्ञानविशेषात्। सातिशयेन[4] संभूतं चैश्वर्याद् भवतीति। एवमेतानैश्वर्यगुणानधिगम्योद्भूतकल्मषः छिन्नसंशयः प्रत्यक्षदर्शी धर्मपरावरज्ञः कूटस्थः सर्वमिदं असदनित्यमिति ज्ञात्वा स्वयमेव शान्तिमधिगच्छतीत्यैश्वर्याव्याप्तिः[5] [पृ० २१६

सायुज्यं सालोक्यं प्रकृतिलयो मोक्षश्चेति चतुर्विधं प्रयोजनम्। तेषामैश्वर्यावाप्तियुक्त्या हिरण्यगर्भनारायणशिवमहेन्द्रसोमसूर्यस्कन्दज्येष्ठोमादेवीप्रभृतीनां देवतानामैकजल्पं (?)

---

[1] मूल में यहां 'निद्राभिभवः' पाठ है। निष्ठा=श्रद्धा का अभिभव अर्थात् तिरस्कार योगियों के लिये योगमार्ग में विघ्न हो है। जब श्रद्धा ही नहीं, तो योग में प्रवृत्ति कैसी ? योगसूत्र [३ । ३७] में भी संकेत से इनको योगमार्ग में विघ्न बताया गया है।

[2] योग में ये आठ सिद्धि प्रसिद्ध हैं। [पा० यो० सू० ३ । ४५] सांख्य में इनको आठ प्रकार का ऐश्वर्य कहा गया है। देखें—सां० सू० २ । १३—१५ ॥ मां० का० २३। यहां भी इनका उल्लेख 'ऐश्वर्यगुण' कहकर किया गया है।

[3] मूल में यह पाठ भ्रष्ट हो गया है। कदाचित् यहां 'सजीवस्योत्क्रान्तजीवस्य वा' यह पाठ होना चाहिये।

[4] कृत्यकल्पतरु में टिप्पणी में इसके दो पाठभेद इसप्रकार दिये हैं—"सातिशयं न भूतं' 'सातिशयं नवभूतं'।

[5] यहां पर 'त्वैश्वर्यावाप्तिः' ऐसा पाठ होना चाहिये। तुलना कीजिये, अगले सन्दर्भ के दूसरे वाक्य से। यह सन्दर्भ 'योगविभूति' प्रकरण में उद्धृत है।

सायुज्यम्। (पृ० ८)

स तथा निवृत्तो निर्गुणश्छिन्नबन्धो 'जन्मजरामरणदुःखविनिर्मुक्तः सुप्तवत् मत्तवत् विषधूमपानवत् सत्त्वादिहीनः तन्मात्रावस्थितः परमसुखमैकान्तिकमधिगच्छतीति सांख्यम्[2]।

(पृ० ७)

कृत्यकल्पतरु में उद्धृत देवल के गद्य सन्दर्भों का ही हमने यहां निर्देश किया है। लगभग एक सौ से कुछ कम देवल के पद्य भी भिन्न २ विषयों पर उक्त ग्रन्थ में उद्धृत किये गये हैं। परन्तु सांख्यप्रतिपाद्य विषय के साथ विशेष सम्बन्ध न होने के कारण हमने यहां उनका उल्लेख नहीं किया।

महाभारत (शान्ति०, २८१) में देवल-नारद संवाद का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। भीष्मपितामह ने इसको पुरातन इतिहास बताया है। वृद्ध देवल के सन्मुख उपस्थित होकर नारद ने भूतों की उत्पत्ति और प्रलय के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की है। इसके उत्तर में देवल ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे सांख्यसिद्धान्तों से पर्याप्त प्रभावित हैं।

महाभारत, सभापर्व, ७२।५ में देवल का उल्लेख इसप्रकार किया गया है—

त्रीणि ज्योतींषि पुरुष इति वै देवलोऽब्रवीत्। अपत्यं कर्म विद्या च यतः सृष्टाः प्रजास्ततः॥

वायुपुराण, [अ० ६६, श्लोक, १५१-५२] में योगी के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

इमौ चोदाहरन्त्यत्र श्लोकौ योगेश्वरं प्रति।

'आत्मनः प्रतिरूपाणि परेषां च महस्रशः।कुर्याद्योगबलं प्राप्य तैश्च सर्वैः सहाऽऽचरेत्॥

प्राप्नुयाद्विषयांश्चैव तथैवोग्रतपश्चरन्। संहरेच्च पुनः सर्वान् सूर्यतेजो गुणानिव॥

ये दोनों श्लोक कृत्यकल्पतरु नामक ग्रन्थ के मोक्षकाण्ड मे २१८ पृ० पर देवल के नाम से उद्धृत किये गये हैं। अन्य स्थलों में भी देवल के प्रसंग व सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं, हम इनका पूर्ण संग्रह करने के प्रयत्न में हैं। अवसर आने पर यथाशक्य उपलब्ध देवल-सन्दर्भों को पुस्तक रूप में प्रकाशित कराने का यत्न किया जायेगा।

---

[1] इन पदों पर व्याख्या करते हुए भट्ट श्रीलक्ष्मीधर ने लिखा है—'जन्मजरामरणदुःखनिवृत्तिश्च आत्यन्तिकी' जन्ममरणदुःखयोरत्यन्ताभावोऽपवर्ग इति पूर्वमेव देवलेनाभिधानात्।' इससे स्पष्ट होता है, कि देवल ने अपने ग्रन्थ मे 'जन्ममरणदुःखयोरत्यन्ताभावोऽपवर्गः' यह अपवर्ग का स्वरूप बताया है। यद्यपि यह वाक्य कृत्यकल्पतरु में उद्धृत देवल के सन्दर्भों में नहीं है, परन्तु अपरार्का टीका में उद्धृत देवल के सन्दर्भ में यह पाठ सर्वथा इसी रूप में उपलब्ध है। इससे परिणाम निकलता है, कि कृत्यकल्पतरुकार भट्ट श्री लक्ष्मीधर के सन्मुख देवल का सम्पूर्ण ग्रन्थ रहा होगा। तथा देवल के नाम से उद्धृत सन्दर्भों की यथार्थता पर भी इससे प्रकाश पड़ता है।

[2] ये दोनों सन्दर्भ 'मोक्षस्वरूप' प्रसंग में उद्धृत किये गये हैं।

'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र' नामक ग्रन्थ के १२०-२१ पृष्ठ पर श्रीयुत पाण्डुरंग वामन काने महोदय ने देवल को बृहस्पति तथा कात्यायन का समकालीन बताया है, और इनका समय उन्होंने विक्रम की तीसरी शती के लगभग माना है। देवल का यह समय-निर्देश सर्वथा अशुद्ध है। वह महाभारत युद्ध-काल से भी पर्याप्त प्राचीन है।

हारीत सांख्याचार्य—

माठरवृत्ति में निर्दिष्ट सांख्याचार्यों की सूची में हारीत का उल्लेख है। महाभारत में भी इसका वर्णन अनेक स्थलों पर आता है। कृत्यकल्पतरु नामक ग्रन्थ के मोक्षकाण्ड प्रकरण में हारीत के नाम पर अनेक सन्दर्भ उद्धृत किये गये उपलब्ध होते हैं। इनमें वानप्रस्थ तथा यतिधर्म आदि का वर्णन है। वे सन्दर्भ इसप्रकार हैं—

श्रेतां श्रावणकं वाग्निमाधाय वल्कलशाणचर्मचीरकुशमुञ्जफलकवासा वानप्रस्थोक्तेन विधिना। वानप्रस्थो द्विविधो भवति—स्वानुज्ञायिकोऽनुप्रस्थायिकश्चेति। स्वानुज्ञायिकश्चतुर्विधः—एकवृत्तिः संप्रक्षालक आत्मवृत्तिर्हिंसकश्च। [पृष्ठ २२]

स्थाण्वेकपादैकपार्श्वोर्ध्वबाग्ग्रीष्मतपनवर्षाभ्रावकाशहिमजलशयनकुशप्रस्तरस्थण्डिलशार्करोलूखलमुसलकीलकशय्याप्रभृतिभिरात्मानं क्षपयेत्। [पृष्ठ २६]

सांख्ययोगयोर्भिक्षोर्ब्रह्मलयेच्छाप्राप्तिवचनानन्तरं हारीतः—

तदेव तदपवर्गमिच्छन्नात्मस्थानग्नीन् हुत्वा मनोवाक्कर्मदण्डान् संन्यस्य भूतेभ्योऽभयं दत्वाऽरण्यं गत्वा न प्रत्येयादनग्निरनिकेतोऽश्वस्तनविधानो मुण्डः कषायवासास्त्रिदण्डकुण्डिकाजलपवनपवित्रसूक्ष्मजन्तुनिवारणपाणिः मनोवाक्कर्मणां या परपीडाकरत्वेन दण्डरूपता तां परित्यज्याऽतपवाऽभयदानं भूतेभ्यो निरासार्थमरण्यगमनम्। [पृष्ठ ४२]

ससूर्यचक्षुषोद्धृतपरिपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्याद्दिवा क्रोशार्धयोजनान्तं गच्छेत्। शून्यदुर्गवर्ज्जम् क्रोशार्धयोजनान्तं गच्छेत्। [पृष्ठ ५२]

अहिंसा नाम सर्वभूतेष्वनभिद्रोहः। चक्षुर्मनोवाक्शरीरकर्मणां न्यासः। कर्मेन्द्रियबुद्धेन्द्रियाणां संयमः। अहंकारकामक्रोधलोभमोहनिवर्त्तनम्, आशीः प्रतिष्ठा संगापरिग्रहो ममत्ववर्जनं कलहवादकुतूहलोपनिवृत्तिः, विनयः, नित्यं प्रत्याहितत्वं प्राणतत्परता ब्रह्मतद्गतमानसत्वम्। पूर्वापरानुसंधानम्। प्राणायामसेवनम्। दिवापर्यटनं न रात्रौ न वर्षासु प्रकीर्णस्थाने न द्रुतावतरणम्। न विक्षोभणं नोत्क्षेपणं सङ्गो भैक्ष्यग्रहणं सुविमृष्टभोजनं सममानावमानता समदुःखोपभोगता समलोष्टाश्मकाञ्चनता जन्तूनां शरीरारूढानां यत्नचामरव्यंजन[1] वस्त्रान्तेन नीयमाने नाऽपसर्पकरणम्। तस्माच्चपलगमनासनपरिग्रहेण समदर्शिना भिक्षुणा व्यवहर्त्तव्यमाह। [पृष्ठ ५३]

---

[1] यहां 'व्यञ्जन' के स्थान पर 'व्यजन' पाठ युक्त होगा।

मृदारुविदलालाबुपर्णपाणिपात्रो वा भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशेत्। नोच्छिष्टं दद्यान्नोत्सृजेत्। [न विकुत्सयेत्] नाऽतिमात्रमश्नीयात्। [पृष्ठ ६०]

संकल्पात् कामः संभवति। आशयाच्च वर्द्धते स्नेहान्निबध्नाति स ह इच्छालक्षणोऽनेकविधः कामो येनाऽभिभूतः। अतृप्त इव कामानां लोको ह्यनेन जन्मसंसारकामावर्त्ते निमज्जति। स एषोऽनलः कामः 'कामो हि भगवान् वैश्वानर' इति श्रुतिः। तस्याऽसंकल्पो नियमनम्। [पृष्ठ ८१]

क्रोधाग्निनाऽभिभूतः, स्वेषामप्यबहुमतो, नाधिगमनीयोऽविश्वसनीयश्च भवति। कार्याकार्यवाच्यावाच्यानि न वितर्कयति। हितवादिनो गुरूनप्यतिक्रामत्यत्याविष्टः। प्रेतलोकायाऽऽत्मानं नयति। तत्र घोरां निरयप्रायां यातनामनुभूय क्रूरक्रव्यादासु तिर्यग्योनिषु जायते। तत्र सर्वासां प्रजानां वध्यो भवति। क्रमात् मनुष्यतां प्राप्य सर्वजनविद्विष्टतामुपैति, क्रोधो हि तमोरूपस्तस्य क्षमा नियमनम्। [पृष्ठ ८२]

मनसो धारणं अन्तः शरीरे, हृदि, ललाटे, परं ब्रह्मात्मज्योतिरादित्यमहीनभस्सु जलभाजनवन्मनसस्त्वेकधारणाद्धारणा। [पृष्ठ १७४]

उलूक—

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक नामक जैनग्रन्थ में अष्टमाध्याय के प्रारम्भ में ही पृष्ठ ४७४ पर ३६३ वादों का उल्लेख है। उनका चार श्रेणियों में इसप्रकार विभाग किया गया है—

८४ क्रियावाद
१८० अक्रियावाद
६७ आज्ञानिक
३२ वैनयिक
———
३६३

अक्रियावाद में वहां उलूक और कपिल का पृथक् २ निर्देश किया गया है, सांख्यकारिकाओं की माठर व्याख्या में उलूक का सांख्याचार्यों में उल्लेख है। महाभारत [उद्यो० १८६। २६॥ कुम्भघोण संस्करण] में, उलूक के आश्रम में अम्बा के जाने का उल्लेख है। यद्यपि उस प्रसंग से यह स्पष्ट नहीं है, कि वह उलूक, सांख्याचार्य था, अथवा इस नाम का अन्य कोई व्यक्ति।

वार्षगण्य आदि सांख्याचार्य, ३३-४३—

सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में निम्न आचार्यों के नाम और उल्लिखित हैं।

३३—वार्षगण्य
३४—पतञ्जलि
३५—गौतम
३६—गर्ग
३७—बाद्धलि
३८—कैरात

३९—पौरिक
४०—ऋषभेश्वर[1]
४१—पञ्चाधिकरण
४२—कौण्डिन्य
४३—मूक

इनमें से अनेक आचार्यों के मतों का उल्लेख युक्तिदीपिका में आता है। उनका यथाक्रम निर्देश किया जायगा। आचार्यों के नामों की यह सूची उनके काल-क्रम के अनुसार नहीं दी गई है। इनके काल का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु इस सूची में हमने इस बात का अवश्य ध्यान रक्खा है, कि संख्या ३२ तक के आचार्य महाभारत युद्धकाल से प्राचीन और आसपास के हैं। उनमें से कौन पूर्व और कौन अपर है, इसका निर्धारण किया जाना कठिन है, जिनकी कुछ थोड़ी बहुत परम्परा का ज्ञान होसका है, उसका हमने यथास्थान निर्देश कर दिया है। संख्या ३३ से लेकर शेष आचार्य महाभारत युद्ध से पीछे और ईश्वरकृष्ण से पूर्व हैं। इनकी परस्पर पूर्वापर परम्परा का निश्चय किया जाना भी कठिन है।

वार्षगण्य—

यह गोत्र नाम प्रतीत होता है। इस व्यक्ति का मुख्य सांस्कारिक नाम क्या होगा, कुछ नहीं कहा जासकता। इसका मूलपद 'वृषगण' है, 'वर्षागण'[2] अथवा अन्य कुछ नहीं। 'जैन साहित्य और इतिहास' पृ० ११८ पर श्रीयुत नाथूराम जी प्रेमी ने लिखा है, कि पाणिनि में 'वार्षगण्य' पद की सिद्धि नहीं, पूज्यपाद देवनन्दी के ग्रन्थ में है। परन्तु प्रेमीजी का यह कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। पाणिनि के गर्गादि (४।१।१०५) गण में 'वृषगण' पद का पाठ है। उससे 'वार्षगण्य' पद सिद्ध होता है।

आपने यह भी लिखा है, कि "वार्षगण्य, सांख्यकारिका के कर्त्ता ईश्वरकृष्णका दूसरा नाम है, और सुप्रसिद्ध चीनी विद्वान् डा० टक्कुसु के मतानुसार ईश्वरकृष्ण वि० सम्वत ५०७ के लगभग विद्यमान थे।" श्रीयुत प्रेमी जी का यह मत, कि वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण का ही दूसरा नाम है, सर्वथा निराधार है। इसका विस्तृत विवेचन हम इसी ग्रन्थ के सप्तम प्रकरण के माठर-प्रसंग में कर चुके हैं। वहां हमने उन सिद्धान्तों का भी निर्देश किया है, जिनको वार्षगण्य और ईश्वरकृष्ण सर्वथा भिन्न २ रूप में मानते हैं। इसलिये इनका एक होना सर्वथा असंभव है। ईश्वरकृष्ण का काल भी ख्रीस्ट शतक प्रारम्भ होने से पूर्व ही कहीं अनुमान किया जासकता है। वार्षगण्य का समय पाणिनि से प्राचीन है, संभवतः भारत युद्ध काल से भी।

महाभारत शान्तिपर्व के ३२३वें अध्याय[3] में वार्षगण्य के नाम का उल्लेख है। परन्तु

---

[1] यह एक नाम है, अथवा दो—ऋषभ और ईश्वर, सन्दिग्ध है।

[2] अर्ली औफ़ इण्डियन हिस्ट्री, vol.१, ।

[3] जैगीषव्यस्यासितस्य देवलस्य मया श्रुतम्। पराशरस्य विप्रर्षेर्वार्षगण्यस्य धीमतः ॥२१॥
कुम्भघोण संस्करण।

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जासकता, कि महाभारत के ये प्रसंग किस समय लिखे गये। फिर भी पाणिनि ने अपत्य प्रत्ययों के पदों में 'वृषगण' पद का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होजाता है, कि पाणिनि से पूर्व 'वृषगण' और उसका वंशधर 'वार्षगण्य' होचुके थे। ऐसी स्थिति में वार्षगण्य का काल पाणिनि से पूर्व किसी समय में माना जासकता है। यद्यपि पाणिनि का समय भी सर्वथा निश्चित नहीं है, तथापि आधुनिक योरपीय और भारतीय विद्वानों ने साधारण रूप से जो समय (ईसा से लगभग छः सात सौ वर्ष पूर्व) पाणिनि का निर्धारित किया है, वस्तुतः उससे भी अनेक शतक पूर्व पाणिनि होचुका था [1]।

पतञ्जलिरचित निदानसूत्र[2] में भी किसी वार्षगण्य के अनेक मतों का उल्लेख है। 'वार्षगण्य' गोत्र नाम होने के कारण निश्चित रूप से नहीं कहा जासकता, कि यह कौन-व्यक्ति था। परन्तु इतना निश्चित है, कि निदानसूत्रके वार्षगण्य मतोंका सांख्यसिद्धान्तसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त लाटचायन श्रौतसूत्र[3] (१०।६।१०) में भी एक वार्षगण्य के मत का उल्लेख है। उसका भी सांख्य से कोई सम्बन्ध नहीं कहा जासकता। ये दोनों सामवेदीय सूत्र हैं। यह अधिक संभव होसकता है, कि निदानसूत्र और श्रौतसूत्र का वार्षगण्य एक ही व्यक्ति हो।

आर्षानुक्रमणी में ऋग्वेद (६.६७.७-६) की तीन ऋचाओं का ऋषि 'वृषगणो वासिष्ठः' लिखा है। यहां वृषगण को वसिष्ठ का पुत्र अथवा वंशज बताया गया है। यद्यपि आज विद्वानों का ऋग्वेद के ऋषियों के सम्बन्ध में परिमार्जित ऐकमत्य नहीं है, न आधुनिक विद्वानों ने इस विषय पर अधिक विचार किया है, कि इन ऋषियों का स्वरूप क्या है। सब विद्वान् अपनी २ आस्था के अनुसार अपने विचार रखते हैं। फिर भी इतना अवश्य कहा जासकता है, कि 'वृषगण' पद अति प्राचीन काल से व्यवहार में आता है, तथा इस नाम का कोई व्यक्ति भी अवश्य रहा होगा, जिसके वंशधर वार्षगण्य कहे जाते थे। इस सम्बन्ध में एक बात अधिक ध्यान देने की है, कि जिन तीन ऋचाओं का ऋषि 'वृषगण' बताया गया है, उनमें से एक (ऋ० ६।६७।८) में यह पद बहुवचनान्त[4] प्रयुक्त किया गया है। अनुक्रमणी के एकवचनान्त पद के साथ इसका साम-

---

1 इसका विस्तृत विवेचन देखें—'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक रचित।

2 निदानसूत्र, श्रीयुत कैलाशनाथ भटनागर द्वारा सम्पादित।

पृ०	पं०	पृ०	पं०	पृ०	पं०
११	२१	६२	५	६६	६
१४	२४	७६	२०	१०४	२४

3 चतुर्थमेवानुगानं तृचे स्यादिति वार्षगण्यः।
अत्र हि निधनवाई भवति, मतमिति भवति, स्वरिति भवति, शकुन इति भवतीति। भक्तवद्ध कल्पन्ते नामसामवच्चैनान्येकोऽधीयतेऽधीयते।

4 प्र हंसासस्तृपलं मन्युमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः।

अस्य विचारणीय है। 'वृषगण' पद के अतिप्राचीन होने पर भी यह अभी अनिर्णीत है, कि इस नाम का व्यक्ति कब हुआ। युक्तिदीपिका में 'वृषगण' के नाम से उद्धृत एक सन्दर्भ भी उपलब्ध होता है।[1]

वार्षगण्य की सांख्यान्तर्गत, एक विशेष विचारधारा—

सांख्याचार्य वार्षगण्य,सांख्य की एक विशेष विचारधारा का अनुयायी था, जिसका सम्बन्ध योग से अधिक था। फिर भी इस विचारधारा के अनेक मतों का प्रवर्त्तक स्वयं वार्षगण्य था। वृषगण अथवा वार्षगण्य के अनुयायी 'वार्षगणाः' कहे जाते थे। सांख्यकारिका की युक्ति-दीपिका नाम व्याख्या में इन तीनों ही नामों से कुछ उद्धरण उपलब्ध होते हैं। जो इसप्रकार हैं।

"......वार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यत इति।' [पृ० १०८, पं० ४]

"श्रोत्रादिवृत्तिरिति[2] वार्षगणाः।" [पृ० ३६, पं० १८-१९]

"तथा च वार्षगणाः पठन्ति—

'तदेतत्[3] त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, न सत्त्वात्। अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिः। तस्माद् व्यक्त्यपगमो विनाशः। स तु द्विविधः—आसर्गप्रलयात् तत्त्वानाम्, किञ्चित्कालान्तरावस्थानादितरेषाम्, इति।" [पृ० ६७, पं० १४-१७]

तथा च वार्षगणाः पठन्ति—

'बुद्धिवृत्त्याविष्टो हि प्रत्ययत्वेनानुवर्त्तमानामनुयाति पुरुष' इति। [पृ० ६५, पं० २४-२५]

तथा च वार्षगणाः पठन्ति—

---

[1] देखिये, अगली पंक्तियों में 'वार्षगण्य' नाम पर उद्धृत सन्दर्भों का संग्रह।

[2] तुलना करें—न्यायवार्त्तिक [पं० ४३, पृ० १० चौखम्बा संस्करण], न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका [पृ० १५९, पं० १६, विजयनगरम् संस्करण] 'वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह—श्रोत्रादिवृत्तिरिति।' युक्तिदीपिका, पृ० ४, पं० ७-१२॥ सन्मतितर्क पर अभयदेवसूरिकृत व्याख्या, पृ० ५३३, पं० २॥ स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ३४३, पं० १-४॥ प्रमाणमीमांसा, पृ० ३१, पं० ७-१७॥

[3] 'तदेतत्' यहां से लेकर 'सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिः' यहां तक का पाठ योगव्यासभाष्य [३। १३ सूत्र] में भी विद्यमान है। वहां 'न सत्त्वात्' के स्थान पर 'नित्यत्वप्रतिषेधात्' पाठ है।
न्यायवार्त्तिक और न्यायवात्स्यायनभाष्य में भी [१। २।६ सूत्र पर] इस सन्दर्भ का प्रथम भाग उद्धृत हुआ उपलब्ध होता है।
योगभाष्य में बौद्ध मत के प्रत्याख्यान के लिये इस सन्दर्भ को उद्धृत किया गया है। परन्तु यहां वार्ष-गणों के पाठ में बौद्धमत की चर्चा का लेश भी नहीं है। सन्दर्भ के उपसंहार अंश से यह बात प्रतीत होती है, कि व्यक्तिविनाश के स्वरूप का निरूपण करना ही इस सन्दर्भ का प्रयोजन है। इससे यह परिणाम निकलता है, कि सन्दर्भ बुद्धकाल से पूर्व ही लिखा गया था। परन्तु योगसूत्रभाष्यकार व्यास का समय तो निश्चित ही बुद्ध से अर्वाचीन है। अतएव इस सन्दर्भ का मूल लेखक वार्षगण्य को माना जासकता है। व्यास आदि ने इसको यहीं से अपने ग्रन्थों में लिया है। वार्षगण्य का समय बुद्ध से पूर्व माने जाने में कोई बाधा नहीं है।

'प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्त्तते' इति ।

[पृ० १०२, पं० २४-२५]

कारणं.......एकादशविधमिति वार्षगणाः । पृ० १३२, पं० २८]

यदि यथा वार्षगणा आहुः—

'लिङ्गमात्रो महानसंवेद्यः कार्यकारणरूपेणाविशिष्टो विशिष्टलक्षणेन तथा स्यात् तत्त्वान्तरम् ।'

[पृ० १३३, पं० ५-६]

साधारणो हि महान् प्रकृतित्वाविति वार्षगणानां पक्षः । [पृ० १४५, पं ६]

वार्षगणानां तु—यथा 'स्त्रीपुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः । [पृ० १७०, पं० २७-२८]

तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति—रूपातिशया [2] वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह वर्तन्ते । [पृ० ७२, पं० ५-६]

[एकरूपाणि तन्मात्राणीत्यन्ये ।] एकोत्तराणीति [3] वार्षगण्यः । [पृ० १०८, पं० ६]

करणानां महती [4] स्वभावातिवृत्तिः प्रधानात् स्वल्पा च स्वत इति वार्षगण्यः ।

[पृ० १०८, पं० १५-१६]

तथा च वृषगणवीरेणाप्युक्तं भवति [5] ....अनागतव्यवहितविषयज्ञानं तु लिङ्गागमाभ्याम् । आह च—

विषयेन्द्रियसंयोगात् प्रत्यक्षं ज्ञानमुच्यते । तदेवातीन्द्रियं जातं पुनर्भावनया स्मृतिः ॥

इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी वार्षगण्य के नाम पर कुछ सन्दर्भ उद्धृत हैं । वे इसप्रकार हैं—

---

1 तुलना करें, महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३१०, श्लो० १२ ॥

"अक्षरक्षरयोरेष द्वयोः सम्बन्ध उच्यते । स्त्रीपुंसोश्चापि भगवन् सम्बन्धस्तद्वदुच्यते ॥"

तथा माठरवृत्ति, कारिका २१ ॥

2 योगसूत्रव्यासभाष्य [३। १३] में भी यह सूत्र उद्धृत है । वहां वाचस्पति मिश्र ने इसको पञ्चशिख का सूत्र लिखा है । इन दोनों स्थलों में सूत्र का परस्पर नगण्य सा पाठभेद है । संभव है, पञ्चशिख के सूत्र को वार्षगण्य ने अपना लिया हो । इसका विवेचन हम पीछे विस्तारपूर्वक कर चुके हैं ।

3 तुलना करें—माठरवृत्ति, कारिका २२ तथा ३८ ॥ योगसूत्रव्यासभाष्य २। १६॥

4 युक्तिदीपिका के १४८-४९ पृष्ठ पर इसी मत को आचार्य पद से निर्दिष्ट किया गया है । वहां पाठहै—

'एवं त्रिविधभावपरिग्रहात् त्वाचार्यस्य न सर्वं स्वतः पतञ्जलिवत्, न सर्वं परतः पञ्चाधिकरणवत्, किन्तर्हि ? महतो स्वभावातिवृत्तिः प्रकृतितोऽल्पा स्वतो विकृतितः ।'

इससे प्रतीत होता है, पृष्ठ १०८ का पाठ वार्षगण्य की अपनी रचना है ।

5 यहां पुस्तक में बहुत सा पाठ खण्डित है । आगे उल्लिखित श्लोक के सम्बन्ध में निश्चित रूप से नहीं कहा जासकता, कि यह वृषगणवीर का ही होगा । यहां 'वृषगणवीर' पद, 'वृषगण' के पुत्र 'वार्षगण्य' के लिये प्रयुक्त किया गया प्रतीत होता है ।

अत उक्तम्—मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम् इति वार्षगण्यः।
[यो० सू० व्यासभाष्य ३। ५३]

अत एव 'पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।
[सांख्यतत्त्वकौमुदी, आर्या ४७]

अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताह स्म भगवान् वार्षगण्यः—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥ इति।
[भामती, २। १। ३ [

सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्। [न्यायवार्त्तिक, १। १। ५]

हमने यहां वार्षगण्यके नाम से जितने सन्दर्भ उद्धृत किये हैं, उनमें से कुछ युक्तिदीपिका में 'वृषगण' और 'वार्षगणाः' नाम से भी उल्लिखित हैं। परन्तु हमने सम्पूर्ण उद्धरणों को यहां 'वार्षगण्य' के नाम पर ही उद्धृत किया है, क्योंकि यह सांख्य का एक ही सम्प्रदाय है। 'वृषगण' पिता और 'वार्षगण्य' उसका पुत्र है, तथा उसके अनुयायी हैं 'वार्षगणाः' जिन्हों ने वृषगण अथवा वार्षगण्य के सिद्धान्तों को माना, जाना और पढ़ा प्रचारा, इस सम्प्रदाय का अधिक प्रसिद्ध व्यक्ति 'वार्षगण्य' ही है, अतः इसी नाम पर हमने सब उद्धरण देदिये हैं। इनमें परस्पर किसी तरह का मत भेद नहीं है।

वार्षगण्य के अनेक मतों के साथ विन्ध्यवास के मतों की सर्वथा समानता है। रुद्रिल विन्ध्यवास इसी सम्प्रदाय का अनुयायी था, यह पीछे प्रकट किया जाचुका है। उसके और भी अनेक ऐसे मत हैं, जिनकी योग के साथ अत्यधिक समानता है। उनका उल्लेख आगे विन्ध्यवास के प्रसंग में किया है।

वार्षगण्य के उपर्युक्त सन्दर्भों में से एक सन्दर्भ इस बात का निर्णय करा देता है, कि यह आचार्य मूल षष्टितन्त्र का रचयिता नहीं था। इसका एक सन्दर्भ है—

"प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्त्तते"।

प्रधान की प्रवृत्ति, आदि सर्ग में ज्ञानपूर्वक नहीं होती। पुरुष से अपरिगृहीत [पुरुष सहायता की अपेक्षा न रखती हुई] ही प्रकृति प्रवृत्त होती रहती है। प्रकृति को अपनी प्रवृत्ति में, चेतन की किसी तरह की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। वार्षगण्य का यह मत, चेतन निरपेक्ष प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रतिपादन करता है, परन्तु माठरवृत्ति और गौडपादभाष्य में षष्टितन्त्र के नाम से एक वाक्य इसप्रकार उद्धृत हुआ मिलता है, जो पञ्चशिख का प्रतीत होता है। वाक्य है—

"पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते"

पुरुष से अधिष्ठित ही प्रधान प्रवृत्त होता है, पुरुषनिरपेक्ष नहीं। इस प्रकरण के पञ्चशिख प्रसंग में उसके सन्दर्भों का संग्रह किया गया है। वहां १४ संख्या के सन्दर्भ को भी

देखना चाहिये। उससे भी इसी मत की पुष्टि होती है। इस मत का वार्षगण्य के विचार के साथ विरोध स्पष्ट है। परन्तु सांख्यषडध्यायी में इसी मत को स्वीकार किया गया है। वहां सूत्र है—

"तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्"

इस सिद्धान्तसाम्य से तथा वार्षगण्य के साथ इसका विरोध होने से यह स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि जिस षष्टितन्त्र में उक्त मत का निरूपण किया गया है, उसका रचयिता वार्षगण्य नहीं होसकता। इसका विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के द्वितीय तथा चतुर्थ प्रकरण में देखना चाहिये।

पतञ्जलि—

इस नाम के अनेक आचार्य होचुके हैं। उनको संक्षेप से इसप्रकार निर्दिष्ट किया जासकता है—

(१) योगसूत्रों का रचयिता।

(२) व्याकरण महाभाष्य का रचयिता।

(३) निदानसूत्र [अथवा—छन्दोविचिति] का रचयिता।

(४) परमार्थसार का रचयिता, जिसको अनेक स्थलों पर 'आदिशेष' भी लिखा गया है।

(५) वह सांख्याचार्य, जिसका उल्लेख युक्तिदीपिका आदि ग्रन्थों में किया गया है।

(६) आयुर्वेद के साथ भी एक पतञ्जलि का सम्बन्ध है। कहा जाता है, कि आयुर्वेद के चरक नामक ग्रन्थ का संस्कर्त्ता चरक, पतञ्जलि ही था। इस ग्रन्थ का आरम्भिक नाम आत्रेय-संहिता अथवा आत्रेयतन्त्र था, जिसको अग्निवेश ने अपने गुरु आत्रेय पुनर्वसु के नाम पर रचा।

(७) एक और कोषकार पतञ्जलि का उल्लेख, हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधानचिन्तामणि' नामक कोष में उपलब्ध होता है। उसका प्रारम्भिक तृतीय श्लोक इसप्रकार है—

प्रामाण्यं वासुकेर्व्याडेर्व्युत्पत्तिर्धनपालतः। प्रपञ्चश्च वाचस्पतिप्रभृतेरिह लक्ष्यताम्॥

हेमचन्द्र के इस कोष में आगे 'शेष' के नाम से उद्धृत सैकड़ों वाक्य उपलब्ध होते हैं। यद्यपि इनमें पतञ्जलि नाम नहीं है। श्लोक में इसके लिये 'वासुकि' नाम दिया है।

पतञ्जलि के सम्बन्ध में भोज और भर्तृहरि के विचार—

योगसूत्रों के वृत्तिकार भोज ने उपर्युक्त संख्या १,२ और ६ के सम्बन्ध में लिखा है, कि यह एक ही व्यक्ति था। उसका लेख है—

शब्दानामनुशासनं विदधता, पातञ्जले कुर्वता
वृत्तिं, राजमृगांकसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।
वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृत-
स्तस्य श्रीरणरंगमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः॥ [योगसूत्र—भोजवृत्ति, श्लोक ५]

इस श्लोक के तृतीय चरण का 'फणिभृतां भर्त्रेव' यह उपमावाक्य ध्यान देने योग्य है। भोजराज ने उन ३ विषयों पर ग्रन्थ-रचना के द्वारा पतञ्जलि के साथ अपनी समानता प्रकट की है। इसका अभिप्राय यह है, कि जिसप्रकार पतञ्जलिने व्याकरण, योगशास्त्र और आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना के द्वारा यथाक्रम वाणी, चित्त और शरीरके मलों को दूर किया, उसी तरह मैंने भी सरस्वतीकण्ठाभरण, राजमार्तण्ड और राजमृगांक नामक ग्रन्थों की रचना के द्वारा मनुष्यों के उक्त तीनों मलों को उखाड़ फेंका है। इससे स्पष्ट होजाता है, कि भोजने योगसूत्र, महाभाष्य और चरक के रचयिता को एक ही व्यक्ति माना है।

भोज के समय से बहुत पूर्व वाक्यपदीय के कर्त्ता भर्तृहरि ने भी ऐसा ही लिखा है। उसका लेख है—

कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः॥ [वा० प० १।१४७]

इस पद्यके द्वारा महाभाष्यकारकी प्रशंसा की गई है। वाक्यपदीयके 'अलब्धगाधे गाम्भीर्या दुत्तान इव सौष्ठवात्' [२।४८४] श्लोक की पुण्यराजकृत टीका में लिखा है—'तदेवं ब्रह्मकाण्डे-कायवाग्बुद्धिविषया ये मला—इत्यादिश्लोकेन भाष्यकारप्रशंसोक्ता। इह चैवं भाष्यप्रशंसेति शास्त्रस्य शास्त्रकर्तुश्च टीकाकृता [भर्तृहरिणा] महत्तोपवर्णिता'। अर्थात् इसप्रकार ब्रह्मकाण्ड में, 'कायवाग्' इत्यादि श्लोक के द्वारा महाभाष्यकार की प्रशंसा की गई है, और इस प्रस्तुत श्लोक में इसीप्रकार महाभाष्य ग्रन्थ की प्रशंसा है। इसतरह शास्त्र [महाभाष्य] और शास्त्रकर्त्ता [पतञ्जलि] दोनोंकी महत्ता का टीकाकार [भर्तृहरि] ने वर्णन किया है। वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज के अनुसार उक्त श्लोक में चिकित्साशास्त्र [चरक] लक्षणशास्त्र [व्याकरण महाभाष्य] और अध्यात्मशास्त्र (योग) का निर्देश है। इन तीनों की रचना द्वारा पतञ्जलि ने शरीर वाणी और बुद्धि के दोषों को विशुद्ध किया। पुण्यराज के अनुसार भर्तृहरि के इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि यह एक ही पतञ्जलि को उक्त तीनों ग्रन्थों का रचयिता मानता है।

इसी अर्थ को स्पष्ट रूप में प्रकट करने वाला एक और श्लोक भी उपलब्ध होता है। उसका मूल स्थान अथवा उसके रचयिता का नाम अभी हमें ज्ञात नहीं। श्लोक है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
योऽपाकारोत्तं प्रवरं मुनीनां, पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥'

इसप्रकार के लेखों का आधार क्या है? यह हम अभी कुछ स्पष्ट नहीं कह सकते।

१ 'वासवदत्ता' की शिवराम रचित टीका में यह श्लोक निर्दिष्ट है। [ed. Bibl.Ind.P.239] प्रोफ़ेसर 'Aufrecht' ने इस टीका का काल ईस्ट अठारहवां शतक बताया है। J.H.Woods कृत योगदर्शन के इंग्लिश अनुवाद की भूमिका, पृष्ठ १७ के अनुसार।

भर्तृहरि का अपना मत —

भोज और भर्तृहरि के जो विचार ऊपर लिखे गये हैं, उनमें कहीं भी यह स्पष्ट नहीं होता, कि योगदर्शन के सूत्रों का रचयिता वही पतञ्जलि है, जिसने व्याकरण महाभाष्य की रचना की। भर्तृहरि ने उक्त श्लोक (१।१४७) में साधारण रूप से केवल यही बताया है, कि शरीर, वाणी और बुद्धि के दोष, यथाक्रम चिकित्सा, व्याकरण तथा अध्यात्मशास्त्र के द्वारा दूर किये जासकते हैं। भर्तृहरि ने स्वयं उक्त कारिका (१।१४७) की स्वोपज्ञ व्याख्या में लिखा है—

"यथैव हि शरीरे दोषशक्ति रत्नौषधादिषु च दोषप्रतीकारसामर्थ्यं दृष्ट्वा चिकित्साशास्त्रमारब्धम्। रागादीश्च बुद्धेरुपप्लवानवगम्य तदुपघातहेतुज्ञानोपायभूतान्यध्यात्मशास्त्राणि उपनिबद्धानि। तथेदमपि साधूनां वाचः संस्काराणां ज्ञापनार्थमपभ्रंशानां चोपघातानां त्यागार्थं लक्षणमारब्धम्।"

भर्तृहरि का यह लेख साधारण अर्थ को ही प्रकट करता है। इसमें केवल, चिकित्सा शास्त्र, अध्यात्मशास्त्र और व्याकरणशास्त्र किन प्रयोजनों से प्रारम्भ किये गये, यही स्पष्ट किया है। इससे भर्तृहरि का यह भाव कदापि स्वीकार नहीं किया जासकता, कि वह पतञ्जलि को इन तीनों प्रकारके शास्त्रों का प्रवक्ता मानता है। वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने उक्त श्लोक का यह आशय अवश्य माना है। परन्तु पुण्यराज के विचारों पर भोज आदि विद्वानों का प्रभाव प्रतीत होता है, तब तक इस सम्बन्ध में जो परम्परा भ्रान्तिवश चल पड़ी थी, पुण्यराज उससे बच नहीं सका, और भर्तृहरि के उक्त श्लोक में भी उसने उसी गन्ध को सूंघ निकाला, यद्यपि भर्तृहरि ने स्वयं अपने श्लोक का यह अर्थ नहीं किया।

महाराज समुद्रगुप्त रचित कृष्णचरित में पतञ्जलिविषयक निम्नलिखित श्लोक उपलब्ध होते हैं—

विद्ययोद्रिक्तगुणतया भूमावमरतां गतः। पतञ्जलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सदा॥
कृतं येन व्याकरणभाष्यं वचनशोधनम्। धर्मावियुक्ताश्चरके योगा रोगमुषः कृताः॥
महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम्। योगव्याख्यानभूतं तद् रचितं चित्तदोषहम्॥

इन श्लोकों से यह प्रकट होता है, कि पतञ्जलि का सम्बन्ध, चरक तथा योगविद्या अथवा योगदर्शन से अवश्य था। आयुर्वेद के चरक ग्रन्थ में कुछ परिष्कार अवश्य किया, परन्तु इस परिष्कार की इयत्ता का पता लगाना कठिन है। इस आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जासकता है, कि अनेक रोगनाशक योगों का पतञ्जलि ने चरक में संमिश्रण किया। अंतिम श्लोक के आधार पर योगदर्शन के सम्बन्ध में इतना अवगत होता है, कि योग के व्याख्यानभूत किसी काव्यमय ग्रन्थ की रचना पतञ्जलि ने की थी। इस आधार पर व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि को योगसूत्रों का साक्षात् प्रवक्ता नहीं कहा जासकता। महाराज समुद्रगुप्त के कथनानुसार यह निश्चित हो जाता है, कि पतञ्जलि ने उक्त तीनों विषयों पर कोई ग्रन्थ अवश्य लिखे। महाभाष्य की रचना में किसी प्रकार सन्देह नहीं। चरक के प्रतिसंस्कार को भी प्रामाणिक माने जाने में कदाचित् ही

सन्देह किया जाय । परन्तु योगसूत्र, व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलिकी रचना है, ऐसा माननेके लिये अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होसका । इस सम्बन्ध के जितने भी प्रमाण आज तक उपलब्ध हो सके हैं, उन सब से इतना ही ध्वनित होता है, कि पतञ्जलि ने योग विषय पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था। इस सम्बन्ध के सब से प्राचीन प्रमाण, महाराज समुद्रगुप्त के श्लोक से यह निर्णय होजाता है, कि पतञ्जलि ने योग का व्याख्यानभूत काव्यमय ग्रन्थ लिखा । इससे हम इस परिणाम पर पहुंच जाते हैं, कि योगसूत्रों का रचयिता पतञ्जलि, व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि से भिन्न था। यद्यपि किसी भी प्राचीन आचार्य ने यह स्पष्ट नहीं लिखा, कि भाष्यकार पतञ्जलि ही योग-सूत्रों का रचियता है, फिर भी नामसाम्य के कारण आज हम व्यर्थ ही इस भ्रान्ति के शिकार हो गये हैं । पर अब समुद्रगुप्त का लेख हमारी इस भ्रान्ति को दूर करने के लिये पर्याप्त प्रमाण समझा जासकता है ।

इस सब प्रसङ्ग से यह स्पष्ट होजाता है, कि वाक्यपदीयके लेखके समान, उसके व्याख्याकार पुण्यराज के लेख से भी यह सिद्ध नहीं किया जासकता, कि भाष्यकार पतञ्जलि ने योगसूत्रों की रचना की, और इस सम्बन्ध के अन्य सब लेखों की यही स्थिति समझनी चाहिये। सब आचार्यों ने इतना ही लिखा है, कि व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि ने योग विषय पर भी कोई ग्रन्थ लिखा । निश्चित ही योगदर्शन पर वह कोई व्याख्या-ग्रन्थ था ।

योगसूत्रकार और व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि भिन्न हैं—

डा० रामकृष्ण भण्डारकर [1] आदि भारतीय तथा डा० गोल्डस्टकर [2] आदि पाश्चात्य विद्वानों ने महाभाष्यकार पतञ्जलि का समय, ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दी के अन्तिम भाग में निर्णय किया है। यद्यपि इस विषय में अन्य विद्वानों [3] का पर्याप्त मतभेद है, तथापि अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक आधारों पर उक्त विद्वानों का एतत्सम्बन्धी निर्णय माननीय हो सकता है। परन्तु योगसूत्रों की रचना का यह समय माना जाना अत्यन्त विवादास्पद है। श्वेताश्वतर, कठ, [4] मुण्डक आदि उपनिषदों तथा गीता व महाभारतमें स्पष्ट तथा अस्पष्ट, योगसम्बन्धी अनेक वर्णन उपलब्ध होते हैं। प्राचीन बौद्धग्रन्थों में भी योग का उल्लेख आता है, ऐसी स्थिति में योगसूत्रों की रचना, वैयाकरण पतञ्जलि के समय की अपेक्षा पर्याप्त प्राचीन समय में होनी चाहिये।

---

1 Inbian Antiquary, vol.1.,P.302;II;P.70.

2 Panini and ManavaKalp Sutra, [Preface] PP.228-230.

3 डा० वेबर, ईसा की प्रथमशताब्दी में, महाभाष्यकार पतंजलि का समय मानता है। [Dr. Weber's Endische studien; for 1873.] प्रो० पिटर्सन, ईसा की पांचवीं सदी बताता है, [G.R.A.S Bombay Branch, vol.XVI., P.189.]

4 कठोपनिषद्, १। ३। १-६ ॥ मुण्डक, २। २। ३-६ ॥ श्वेताश्वतर में तो योग का विषय भरा पड़ा है ।

श्रीयुत पं० रामगोविन्द त्रिवेदी ने अपने 'दर्शनपरिचय' नामक ग्रन्थके पतञ्जलि [पृ० १७६—१८६ तक] प्रकरण में इस बात का सिद्ध करने का यत्न किया है, कि इन दोनों [महाभाष्य तथा योगसूत्र] ग्रन्थों का रचयिता पतंजलि एक ही व्यक्ति था। त्रिवेदी जी ने इस सम्बन्ध में जिन युक्तियों का उल्लेख किया है, वे भ्रान्तिपूर्ण ही कही जासकती हैं।

जिस प्रकार कात्यायन के वार्त्तिक[1] में आपने पतञ्जलि पद का उल्लेख माना है, इस प्रकार पाणिनि ने भी इस पद का उल्लेख[2] किया है। जिन शब्दों के आगे गोत्र प्रत्यय का बहुवचन में लुक् हो जाता है, ऐसे शब्दों की सूची में पाणिनि ने 'पतञ्जल' अथवा 'पतञ्जलि'[3] शब्द का भी उल्लेख किया है, वस्तुतः पाणिनि के ग्रन्थ में किसी पद का उल्लेख, उसकी साधुता का निर्देश करने के लिये ही आ सकता है। जो शब्द, पाणिनिनिर्दिष्ट सामान्य नियमों के अनुसार सिद्ध नहीं होते, या उन नियमों की सीमा में नहीं आते, और उनकी सिद्धि का कोई एक प्रकार नहीं कहा जासकता, ऐसे शब्दों के लिये पाणिनि ने कुछ ऐसे गण बना दिये हैं, जिनमें सब ही नियमों की लगाम ढीली कर दी गई है। उनमें से प्रत्ययों के लिये 'उणादि' और पदों के लिये 'पृषोदरादि' गण हैं। प्रकृत में कात्यायन ने 'शकन्धु' आदि जिन शब्दों की साधुता के लिये वार्त्तिक बनाया है, पाणिनि ने 'पृषोदरादि' गण में ऐसे अनेक पदों का उल्लेख कर उनकी साधुता के प्रकार का निर्देश कर दिया है। जो शब्द अपने ढङ्ग के अकेले हैं, उनके लिये विशेष नियमों का निर्देश भी है। परन्तु 'पतञ्जलि' शब्द ऐसा नहीं है। इसलिये पाणिनि सूत्रों में आये अन्य विशेष शब्दों के समान उसका भी उल्लेख किया जाना आवश्यक नहीं। पाणिनि का ग्रन्थ कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ तो है नहीं, कि वह अपने से पूर्व व्यक्तियों का अवश्य वहां उल्लेख करे। जहां उपयुक्त समझा है, वहां इस पद का भी उल्लेख [२। ४। ६९] किया गया है।

त्रिवेदी जी को यह भी भ्रम रहा है, कि पातञ्जल योगसूत्रों का भाष्यकार व्यास, वही व्यास है, जिसने महाभारत तथा वेदान्तसूत्रों की रचना की। वस्तुतः वेदान्तसूत्र तथा महाभारत के रचयिता व्यास से, पातञ्जल योगसूत्रों का भाष्यकार व्यास सर्वथा भिन्न है। आज भी अनेक दण्डी संन्यासियों से हमें यह बात ज्ञात हुई है, कि उनकी परम्परा में योगसूत्रभाष्यकार व्यास को वे लोग 'गगरिया व्यास' कहते हैं, और वेदव्यास को इससे भिन्न मानते हैं, पूछने पर भी उन लोगों से यह मालूम न होसका, कि इसके उक्त नामकरण में कारण क्या है। उन्होंने अपने सम्प्रदाय की परम्परा को ही इसका आधार बताया। कुछ भी हो, इसके लिये अनेक प्रामाणिक आधार हैं, कि योगसूत्रभाष्यकार व्यास, तथा वेदान्तसूत्र आदि का कर्त्ता व्यास सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं।

---

[1] अष्टाध्यायी (६। १। ९४) सूत्र पर 'शकन्ध्वादिषु पररूपं' वार्त्तिक है वहां शकन्ध्वादि गण में 'पतंजलि' पद भी पढ़ा गया है।

[2] अष्टाध्यायी [२। ४। ६९] के उपकादि गण में।

[3] वर्धमान रचित गणरत्नमहोदधि, अध्याय १, श्लोक २८, और इसी की व्याख्या।

त्रिवेदी जी को इसी प्रकार की भ्रान्तियों के सामञ्जस्य के लिये फिर पतंजलि की आयु भी कई सदियों तक लम्बी माननी पड़ी है। आप के लेख से प्रतीत होता है, कि कात्यायन के समय में वही पतंजलि प्रसिद्ध होचुका था, और उसी ने कालान्तर में आकर, अर्थात् ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी (पुष्यमित्र के राज्यकाल) में महाभाष्य की रचना की। आपके लेखसे यह भी प्रतीत होता है, कि योगदर्शन की रचना कात्यायन के समय में ही होचुकी थी। अर्थात् उसी पतंजलि ने योगदर्शन तो कात्यायन के समय में बनाया, परन्तु महाभाष्य, राजा पुष्यमित्र के समय में। इतने काल तक महाभाष्य की रचना के लिये उसने क्यों प्रतीक्षा की ? इसका भी विशेष कारण मालूम होना चाहिये। यद्यपि कात्यायन के समय का निर्देश हम निश्चित रूप में नहीं कर सकते, परन्तु भारतीय परम्परा, लेखों और आधुनिक अन्वेषणों के आधार पर पाणिनि के समकालीन अथवा कुछ पीछे ही कात्यायन का समय निर्धारित किया जाता है, जो ईसा पूर्व की छठी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक में बताया जाता है। ऐसी स्थिति में त्रिवेदी जी के कथनानुसार कम से कम पांच छः सदियों तक पतंजलि को जीवित रहना चाहिये,[1] और पतंजलि के योगसूत्रों पर भाष्य करने के लिये व्यास की आयु तो आपको दो सहस्र वर्ष से भी अधिक माननी पड़ेगी। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात सर्वथा निराधार एवं उपहासास्पद ही है।

वस्तुस्थिति यह है, कि जिस पतंजलि का पाणिनि अथवा कात्यायन ने प्रसंगवश अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है, वह अवश्य उनसे पूर्ववर्त्ती आचार्य था, संभव है, उसने ही योगसूत्रों की रचना की हो। महाभाष्यकार पतंजलि, ईसापूर्व की दूसरी तीसरी शताब्दी का आचार्य है, जो उक्त पतंजलि से सर्वथा भिन्न है।

त्रिवेदी जी ने बृहदारण्यक के किसी काप्य पातंजल का भी उल्लेख किया है। वस्तुतः वहां 'पातंजल' पद नहीं है। शुक्लयजुः की काण्व शाखा के ब्राह्मण तथा उपनिषद्[2] में 'पतञ्चल' पद है। और माध्यन्दिन शाखा में 'पतंजल'[3]। ब्राह्मणवर्णित इस नाम के व्यक्ति का, प्रसिद्ध योगदर्शन से और उसके रचयिता पतंजलि से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

गवर्नमेन्ट सैन्ट्रल प्रेस बॉम्बे से प्रकाशित योगदर्शन व्यासभाष्य के द्वितीय संस्करण की भूमिका में वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर महोदय ने भी भर्तृहरि आदि के श्लोकों के आधार पर महाभाष्य और योगसूत्र का कर्त्ता एक ही व्यक्ति माना है, और उसे पुष्यमित्र का समकालीन ही स्वीकार किया है। परन्तु यह कथन भी मान्य नहीं होसकता, भर्तृहरि के लेख का स्पष्टीकरण अभी पिछले पृष्ठों में कर दिया गया है, तथा तत्सम्बन्धी अन्य लेखों का भी पर्याप्त विवेचन

---

[1] वस्तुतः पाणिनि और कात्यायन का समय भी तथानिर्दिष्ट काल से पर्याप्त प्राचीन है। देखिये हमारा उपसंहार नामक प्रकरण, तथा श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक रचित 'संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास'

[2] बृह० ३।७।१॥

[3] शतपथ ब्राह्मण, १४।६।३।१॥

कर दिया है। जिससे व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकार पतञ्जलि की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है।

चरकसंहिता के व्याख्याकार चक्रपाणि का लेख भी इस बात के लिये पुष्ट प्रमाण नहीं कहा जासकता, कि व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि ही योगसूत्रों का रचयिता है। उसका लेख इसप्रकार है—

"पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः"

इस श्लोक में 'पातञ्जल' पद का अर्थ 'योगसूत्र' ही माने जाने के लिये कोई विशेष प्रमाण नहीं है। इस पद का अर्थ, पतञ्जलिकृत योगसूत्रों से सम्बद्ध कोई व्याख्याग्रन्थ हो सकता है। योगव्याख्यान, महाभाष्य की रचना तथा चरकके प्रतिसंस्कार द्वारा यथासंख्य मन वाणी और शरीर के दोषों का नाश करने वाले अहिपति अर्थात् पतञ्जलि के लिये इन पदों से नमस्कार प्रस्तुत किया गया है।

पतञ्जलि का सम्बन्ध जिन तीन ग्रन्थों की रचना से बताया जाता है, वस्तुतः उन्हें व्याख्यारूप ही समझना चाहिये। भोजराज ने योगसूत्रवृत्ति के प्रारम्भ में, पतञ्जलि के साथ जो अपनी समानता प्रकट की है, उसका सामञ्जस्य भी उसी स्थिति में ठीक बैठता है, जब कि भाष्यकार पतञ्जलि को भी योग का व्याख्याता माना जाय।

यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जासकता, कि भोज और चक्रपाणि आदि का अभिप्राय ऐसा नहीं था, जैसा कि हमने समझा है। तथापि यह संभव है, कि तत्कालीन विद्वानों का ऐसा विचार रहा हो, कि व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि ही योगसूत्रों का कर्त्ता है। कदाचित् इसी कारण पतंजलिचरित में 'योगसूत्र' पद का ही निर्देश है। वहां लिखा है—

"सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च वार्तिकानि ततः।
कृत्वा पतञ्जलिमुनिः प्रचारयामास जगदिदं त्रातुम्॥

यद्यपि यहां महाभाष्य का उल्लेख नहीं है, पर कुछ पूर्व के श्लोक में उसका भी वर्णन आगया है। श्लोक में 'योगसूत्र' पद का स्पष्ट निर्देश होने पर भी हमारी धारणा है, पतंजलिचरित के कर्त्ता को नामसाम्य से भ्रान्ति हुई है, समुद्रगुप्त का लेख, अर्थ को स्पष्ट कर चुका है, जो इस सम्बन्ध के सब लेखों में प्राचीन है। अत एव तत्कालीन विद्वानों के इसप्रकार के अन्य लेखों को भी इसी स्थिति में समझना चाहिये।

परमार्थसारकर्त्ता पतञ्जलि पर, सूर्यनारायण शर्मा शुक्ल का मत—

संख्या चार पर परमार्थसार के रचयिता का उल्लेख है। पहले यह ग्रन्थ अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ था। अब अच्युतग्रन्थमाला काशी से भी इसका एक संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसके विद्वान् सम्पादक श्रीयुत सूर्यनारायण शर्मा शुक्ल ने ग्रन्थ के प्रारम्भिक वक्तव्य में लिखा है, कि व्याकरण महाभाष्य और योगसूत्रों के रचयिता तथा चरक के प्रति-

संस्कर्ता पतंजलि ने ही परमार्थसार ग्रन्थ की रचना की। परन्तु इस विचार की पुष्टि के लिये अभी तक कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होसके हैं, श्रीयुत शुक्ल महोदय ने इस बात को किस आधार पर लिखा है, यह नहीं कहा जासकता। परमार्थसार की एक आर्या, सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में उद्धृत है। यद्यपि वहां परमार्थसार अथवा उसके रचयिता पतंजलि या आदिशेष का नाम नहीं लिया गया है। वह आर्या इस प्रकार है—

उक्तञ्च—

वृक्षाग्राच्च्युतपादो यद्वदनिच्छन्नरः पतत्येव।

तद्वद् गुणपुरुषज्ञोऽनिच्छन्नपि केवली भवति॥ [युक्तिदीपिका, पृ० २५ पर]

परमार्थसार की यह ८३ वीं आर्या है। वहां 'पतत्येव' पदों के स्थानपर 'क्षितौ पतति' पाठ है। इतना पाठभेद सर्वथा नगण्य है। युक्तिदीपिका का समय हमने पञ्चम विक्रमशतक का अन्त अनुमान किया है। परमार्थसार का समय इससे प्राचीन ही माना जाना चाहिये।

सांख्याचार्य पतञ्जलि—

संख्या पांच पर जिस सांख्याचार्य पतंजलि का निर्देश किया गया है, उसके अनेक मतों का उल्लेख युक्तिदीपिका में उपलब्ध होता है। उनके देखने से इस बात का निश्चय अवश्य होजाता है, कि परमार्थसार का रचयिता पतंजलि, इस सांख्याचार्य पतंजलि से भिन्न था। युक्तिदीपिका में निर्दिष्ट इस के मतों से यह ज्ञात होता है, कि यह पतंजलि महत् और अहङ्कार को एक समझ कर करणों की संख्या बारह [1] ही मानता था। परन्तु परमार्थसार में अन्य सांख्याचार्यों के समान तेरह [2] करण ही स्वीकार किये गये हैं। इसके अतिरिक्त सूक्ष्मशरीर के सम्बन्ध में सांख्याचार्यों का साधारण मत यह है, कि सर्गादिकाल में प्रत्येक पुरुष के साथ एक सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध होजाता है, और वही सूक्ष्मशरीर, प्रलयकाल तक अथवा तत्त्वज्ञानकाल तक बना रहता है। परन्तु युक्तिदीपिकावर्णित आचार्य पतंजलि इस मत को नहीं मानता। वह स्थूल देह की उत्पत्ति और विनाश के समान ही सूक्ष्मशरीर के उत्पाद विनाश [3] को भी स्वीकार करता है। इस सम्बन्ध में यद्यपि परमार्थसार के रचयिता पतंजलि ने अपना स्पष्ट मत नहीं दिया है, परन्तु उसकी ११-१३ और १७ आर्याओं के पर्यालोचन से यह स्पष्ट होजाता है,

---

[1] एवं तर्हि नैवाहंकारो विद्यत इति पतञ्जलिः। महतोऽस्मिप्रत्ययरूपत्वाभ्युपगमात्।(यु० दी०, पृ० ३२, पं० १-२]करणं...द्वादशविधमिति पतंजलिः। [यु० दी०, पृ० १३२, पं० २८-३०]

[2] बुद्धिमनोऽहंकारास्तन्मात्रेन्द्रियमयाश्च भूतमयाः। संसारसर्गपरिरक्षणक्षमाः प्राकृता ह्येषाः॥ २०॥

[3] पातंजले तु सूक्ष्मशरीरं...निवर्त्तते। तत्र...कर्मवशादन्यदुत्पद्यते।....तदपि निवर्त्तते। शरीरपाते चान्यदुत्पद्यते। एवमनेकानि शरीराणि। [यु० दी० पृ० १७७, पं० १९-२०]
सूक्ष्मशरीरं विनिवर्त्तते पुनश्चान्यदुत्पद्यते [यु० दी० पृ० १४९, पं० १-२]

कि उसका मत युक्तिदीपिका वर्णित पतंजलि से भिन्न है, और अन्य सांख्याचार्यों के मतों के साथ समानता रखता है। इन आधारों पर इन दोनों आचार्यों की भिन्नता स्पष्ट होजाती है, यद्यपि इन दोनों का नाम एक ही है।

सांख्याचार्य पतञ्जलि के उद्धृत सन्दर्भ—

युक्तिदीपिका अथवा अन्य ग्रन्थों मे इस सांख्याचार्य पतंजलि के जो सन्दर्भ अथवा मत उद्धृत हैं, उनमें से जो हम मालूम कर सके हैं, वे इसप्रकार हैं—

(१)—एवं तर्हि नैवाहंकारो विद्यत इति पतंजलिः । महतोऽस्मिप्रत्ययरूपत्वाभ्युपगमात्। [यु० दी० पृ० ३२, पं १-२]

(२)—पतंजलि-पञ्चाधिकरण-वार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यत इति । तदन्येषां पुराणेतिहासप्रणेतॄणां महतोऽहंकारो विद्यत इति पक्षः । महतोऽस्मिप्रत्ययकर्तृत्वाभ्युपगमात्।
[यु० दी०, पृ० १०८, प० ३-४]

(३)—करणानां....स्वभावातिवृत्तिः ......सर्वा स्वत इति पतंजलिः ।
[यु० दी०, पृ० १०८, पं० १५-१६]

(४)—करणं........द्वादशविधमिति पतंजलिः । [यु० दी०, पृ० १३२, पं० २८-३०]

(५)—पातंजले तु सूक्ष्मशरीरं यत् सिद्धिकाले पूर्वमिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति, तत्र तत्कृताशयवशात् द्युदेशम्; यातनास्थानं वा करणानि वा प्रापय्य निवर्त्तते। तत्र चैवंयुक्ताशयस्य कर्मवशादन्यदुत्पद्यते, यदिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति, तदपि निवर्त्तते, शरीरपाते चान्यदुत्पद्यते। एवमनेकानि शरीराणि। [यु० दी०, पृ० १४४, पं० १६-२०]

(६)—यत्तावत् पतंजलिः आह—सूक्ष्मशरीरं विनिवर्त्तते पुनश्चान्यदुत्पद्यते।
(यु० दी०, पृ० १४५; पं १-२)

(७)—एवं त्रिविधभावपरिग्रहात.......न सर्वं स्वतः पतंजलिवत् [१]।
(यु० दी०, पृ० १४८-४९, पं० २१, १)

अयुतसिद्धाऽवयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः।
[योगसूत्रव्यासभाष्य, ३।४४]

सांख्याचार्य पतञ्जलि, योगसूत्रकार पतञ्जलि से भिन्न है—

पतञ्जलि के इन मतों और उद्धरणों के आधार पर हमें यह निश्चय होजाता है, कि यह, योगसूत्रकार पतंजलि से कोई भिन्न व्यक्ति है। सांख्य के अन्तर्गत इसकी अपनी ही एक विचारधारा है, जो योग के साथ भी सर्वांश में समानता नहीं रखती। ये मत अथवा उद्धरण जिस प्रकार योगसूत्रों में नहीं मिलते, इसीप्रकार महाभाष्य में भी नहीं हैं, और आयुर्वेद की चरक संहिता में भी नहीं। इसलिये यह सांख्याचार्य पतंजलि, उन पतंजलि नामक आचार्यों से

[१] पृ० १४९ का, पं० १ के साथ।

भिन्न है, जिन्होंने योगसूत्र तथा महाभाष्य की रचना की, एवं चरक संहिता का प्रतिसंस्कार किया। योगसूत्रकार पतंजलि, युक्तिदीपिका में उद्धृत 'सांख्याचार्य' पतंजलि से भिन्न है, इसके लिये हम कुछ स्पष्ट प्रमाण देते हैं।

(क) युक्तिदीपिका के पृष्ठ १०८ पर, महत् से अहङ्कार और अहङ्कार से पञ्च तन्मात्र की उत्पत्ति होती है, इस मत के मानने वाले आचार्यों में पतञ्जलि का नाम नहीं है। क्योंकि यह पतञ्जलि अहङ्कार की पृथक् सत्ता नहीं मानता, और इसप्रकार पञ्चतन्मात्र और एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति महत् से ही मान लेता है। परन्तु योगसूत्रकार पतञ्जलि महत् से पञ्चतन्मात्रों की उत्पत्ति के साथ अहङ्कार की भी उत्पत्ति मानता[1] है, और फिर अहङ्कार से इन्द्रियों की उत्पत्ति कहता है। यह इन दोनों पतञ्जलि नामक आचार्यों के सिद्धान्त में मौलिक भेद है, इसलिये इन्हें एक नहीं कहा जासकता।

(ख) पतंजलि नाम के उद्धरणों में संख्या ८ का उद्धरण, व्यासभाष्य में ही दिया गया है। वह योगसूत्रकार पतंजलि का नहीं हो सकता, और महाभाष्य आदि में भी उपलब्ध नहीं है, इसलिये संभावना यही होसकती है, कि यह उद्धरण किसी अन्य सांख्याचार्य पतंजलि का होना चाहिये। वह आचार्य युक्तिदीपिका में वर्णित पतंजलि ही अधिक सम्भव होसकता है।

नामसाम्य भ्रान्ति का कारण—

पतंजलि के जितने वर्णन मिलते हैं, वे सब एकसमान हों, ऐसा भी नहीं है।

बर्लिन के सूचीपत्र[2] और मैक्समूलर[3] के अनुसार कात्यायन-सर्वानुक्रमणी के व्याख्याकार षड्गुरुशिष्य ने लिखा है—

"यत्प्रणीतानि वाक्यानि भगवांस्तु पतंजलिः।
व्याख्यच्छान्तनवीयेन महाभाष्येण हर्षितः॥
योगाचार्यः स्वयंकर्त्ता योगशास्त्रनिदानयोः।"

इन श्लोकों में पतंजलि को व्याकरणग्रन्थ, योगशास्त्र तथा निदानसूत्रों का रचयिता लिखा है। यहां वैद्यकशास्त्र की कोई चर्चा नहीं है। यदि पतंजलि सम्बन्धी इसप्रकार के लेखों को एकत्रित किया जाय, तो इसका यह अभिप्राय होगा, कि योगसूत्र, महाभाष्य, चरक, निदान-सूत्र और परमार्थसार इन सब ग्रन्थों का रचयिता पतंजलि एक ही व्यक्ति है। परन्तु यह मत किसी भी तरह संभव नहीं कहा जासकता। इन ग्रन्थों की विषयप्रतिपादन शैली और रचना में

---

[1] योगसूत्र २। १९॥ व्यासभाष्य सहित। और देखें—इसी प्रकरण के विन्ध्यवासी प्रसंग में उसके तीसरे सन्दर्भ की टिप्पणी। [2] Ch. 192 (p.12).

[3] Ancient Sanskrit Literature (Eng.ed.) pp.238-39.
श्रीयुत कैलाशनाथ भटनागर M.A. द्वारा सम्पादित निदानसूत्र की भूमिका पृष्ठ २७ के आधार पर। परन्तु डा० मैकडानल्ड द्वारा सम्पादित—कात्यायन सर्वानुक्रमणी की षड्गुरुशिष्यप्रणीत 'वेदार्थदीपिका' नामक टीका में, हमें ये श्लोक उपलब्ध नहीं हुए। मैक्समूलर ने ये कहां से लिये, कहा नहीं जासकता।

परस्पर इतना महान अन्तर है, कि उन सब रचनाओं को एक व्यक्ति की कहना अत्यन्त कठिन है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक आधारों पर भी इन सब ग्रन्थों का रचनाकाल एक नहीं कहा जासकता। ऐसी स्थिति में, जैसा कि हम अभी पूर्व लिख आये हैं, यही संभावना युक्तियुक्त कही जासकती है, कि उक्त विद्वानों को 'पतञ्जलि' इस नाम की समानता के कारण उन व्यक्तियों की एकता का भ्रम होगया है। फिर प्रत्येक विद्वान् का पतंजलि सम्बन्धी वर्णन सर्वथा समान भी नहीं है, जैसा कि अभी ऊपर प्रकट किया गया है। इसलिये भी इन लेखों का कोई प्रामाणिक आधार ठीक २ नहीं जंचता।

प्रतीत यह होता है, कि भर्तृहरि, समुद्रगुप्त आदि के लेखोंकी वास्तविकता को न समझा जाकर वे ही अनन्तरवर्त्ती लेखकों के लिये भ्रान्ति का आधार बन गये। फिर यह थोड़ा सा आश्रय मिल जाने पर जहां भी पतंजलि नाम देखा गया, उसे एक ही व्यक्ति बना डाला गया। वस्तुतः इनकी एकता का कोई भी ऐतिहासिक आधार अभी तक ज्ञात नहीं होसका है। यद्यपि भर्तृहरि के लेख से यह स्पष्ट है, कि वह महाभाष्यकार तथा योगसूत्रकार पतंजलि को एक नहीं मानता। यह अलग बात है, कि समुद्रगुप्त के कथनानुसार महाभाष्यकार पतंजलि ने योगसूत्रों पर भी कोई व्याख्याग्रन्थ लिखा था। इसलिये जिन लेखकों ने इन दोनों ग्रन्थों (महाभाष्य, योगसूत्र) के रचयिताओं को एक व्यक्ति माना है, उनका कथन भ्रान्तिपूर्ण ही समझना चाहिये।

इनका विवेचन अब हम इसप्रकार कर सकते हैं—

(१) योगदर्शनसूत्रकार पतंजलि।

(२) महाभाष्यरचयिता, चरकप्रतिसंस्कर्त्ता, तथा योगसूत्रों का व्याख्याकार पतंजलि।

हमारा विचार है, कि युक्तिदीपिका तथा योगव्यासभाष्य में जो सन्दर्भ 'पतंजलि' के नाम से उद्धृत किये गये हैं; संभवतः वे उस योगसूत्रव्याख्या के ही हों, जिसकी रचना महाभाष्यकार पतंजलि ने की। तथा यही योग अथवा अध्यात्मशास्त्र (सांख्य) विषयक वह ग्रन्थ है, जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त, भोज तथा अन्य लेखकोंने किया है। इसप्रकार महाभाष्यकार पतंजलि, सांख्य अथवा योगाचार्य पतंजलि कहा जासकता है। परन्तु योगसूत्रकार पतंजलि उससे सर्वथा भिन्न है।

हमारे इस विचार के लिये, कि महाभाष्यकार पतंजलि तथा युक्तिदीपिका आदि में उद्धृत पतंजलि एकही व्यक्ति है, एक सुपुष्ट प्रमाण यह है, कि युक्तिदीपिका में उद्धृत पतंजलि 'करणों' की संख्या बारह मानता है, वह अहङ्कार को पृथक् 'करण' नहीं मानता, देखिये उसके उद्धृत सन्दर्भों में पहला तथा चौथा सन्दर्भ। इसीप्रकार भाष्यकार पतंजलि के प्रतिसंस्कृत चरक में भी बारह ही 'करण' स्वीकार किये गये हैं, वहां लिखा है—

'करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च' (शारीरस्थान, १।५६[1])

[1] इसीप्रकार और देखिये—चरक, सूत्रस्थान, ८।१७॥ तथा १६।१८॥ इन स्थलों में भी केवल बुद्धि और मन का उल्लेख है, अहंकार का नहीं।

यहां मन बुद्धि पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा पांच कर्मेन्द्रिय ये बारह करण ही स्वीकार किये हैं। करणों की इस गणना में अहङ्कार का पृथक् उल्लेख नहीं है, यद्यपि इसी प्रकरण में अन्यत्र अहङ्कार का उल्लेख है, परन्तु वह इसको पृथक् 'करण' रूप में नहीं मानता, 'अहं' को भी महत् अथवा बुद्धि की ही वृत्ति मानता है। इसी प्रकरण के ६३वें श्लोक में आठ प्रकृतियों में अहंकार की गणना की गई है, और ६६ में अहङ्कार से 'शब्दतन्मात्र' आदि की उत्पत्ति का निर्देश है, वह पतंजलि ने अपने मत से न देकर, पूर्वप्रसिद्ध कापिल मत के अनुसार ही निर्देश किया है, यह बात इस प्रकरण के सूक्ष्म पर्यालोचन से स्पष्ट होजाती है। इसप्रकार भाष्यकार पतंजलि ही वह पतंजलि प्रतीत होता है, जिसके सन्दर्भ युक्तिदीपिका आदि में उद्धृत हैं, और ये सन्दर्भ उस ग्रन्थ के हैं, जो पतंजलि ने योगसूत्रों पर व्याख्यारूप में लिखा था। व्यास-भाष्य में उद्धृत पतंजलि का एक सन्दर्भ भी उसी ग्रन्थ का प्रतीत होता है। यहां पतंजलि के उद्धृत सन्दर्भों में संख्या ८ पर हमने उसका निर्देश किया है। इसप्रकार महाभाष्यकार पतञ्जलि, चरक का प्रतिसंस्कर्त्ता और योगसूत्रों का व्याख्याकार होने से शब्द, शरीर और मन तीनों को शुद्ध करनेवाला कहा जासकता है। यह पतंजलि योगसूत्रों का रचयिता नहीं। यद्यपि नाम उस का भी पतंजलि ही था।

(३) निदानसूत्रकार पतंजलि।

(४) परमार्थसार का कर्त्ता पतंजलि।

(५) कोषकार पतंजलि।

इन अन्तिम तीन के सम्बन्ध में और अधिक विवेचना करने की आवश्यकता है। यह सम्भव है, योगसूत्रकार पतंजलि, निदानसूत्रों का भी रचयिता हो।

पौरिक—

गौतम, गर्ग, बाद्धलि और कैरात नामक आचार्यों के कोई लेख अथवा सन्दर्भ आदि का अभीतक कुछ पता नहीं लगसका है। इसलिये यह भी निश्चय नहीं कहा जासकता, कि इन्होंने सांख्य विषय पर कुछ लिखा भी था, या नहीं? इनके काल पर भी प्रकाश डालने वाले कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होसके हैं। बाद्धलि का नाम तत्त्वार्थराजवार्त्तिक [१] में उपलब्ध होता है।

पौरिक नामक आचार्य के एक मत का उल्लेख युक्तिदीपिका में किया गया है। वह इसप्रकार है—

"यदुक्तं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थमयमारम्भः इति तदयुक्तम्—आचार्यविप्रतिपत्तेः। 'प्रति-पुरुषमन्यत् प्रधानं शरीराद्यर्थं करोति। तेषाञ्च माहात्म्यशरीरप्रधानं यदा प्रवर्त्तते तदेतराण्यपि, तन्निवृत्तौ च तेषामपि निवृत्तिः इति पौरिकः सांख्याचार्यो मन्यते [२]।"

---

[१] तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, पृ० ५१। युक्तिदीपिका पृ० १७५ की टिप्पणी संख्या एक के आधार पर।

[२] युक्तिदीपिका, कारिका ५६।

इससे स्पष्ट है, कि पौरिक सांख्याचार्य प्रत्येक पुरुषके लिये पृथक् २ एक २ प्रधान की कल्पना करता है।

पौरिक मत और गुणरत्नसूरि—

हरिभद्रसूरिविरचित षड्दर्शनसमुच्चय के व्याख्याकार गुणरत्नसूरि ने अपनी व्याख्या में इस अर्थ को इसप्रकार प्रकट किया है—

"मौलिक्यसांख्या ह्यात्मानमात्मानं प्रति पृथक् प्रधानं वदन्ति । उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वप्येकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः [1] ।"

गुणरत्नसूरि ने उक्त मत को पौरिक सांख्याचार्य के नाम से न देकर 'मौलिक्यसांख्याः' कहकर दिया है। 'मौलिक्य' पद का अर्थ 'मूल में होने वाले' ही किया जासकता है, अर्थात् सर्वप्रथम होने वाले सांख्याचार्य। अगले 'उत्तरे तु सांख्याः' पदों से 'मौलिक्य' पद का यह अर्थ सर्वथा निश्चित और स्पष्ट होजाता है। इसके आधार पर अनेक आधुनिक विद्वानों ने यह समझा है, कि वस्तुतः सर्वप्रथम सांख्याचार्यों का ऐसा ही मत था। प्रधान अर्थात् मूलप्रकृति को एक ही माने जाने का मत उत्तरवर्त्ती सांख्याचार्यों ने स्वीकार किया।

परन्तु सब ही प्रकार के आधारों पर अभीतक यही निश्चित समझा गया है, कि सांख्य के सर्वप्रथम आचार्य कपिल, आसुरि, पञ्चशिख प्रभृति हैं। सर्वमान्य सांख्यग्रन्थ ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं से यह बात स्पष्ट होजाती है, कि उसने जिन सांख्यसिद्धान्तों का अपने ग्रन्थ में निरूपण किया है, उनका सम्बन्ध कपिल पञ्चशिख आदि से है, और कारिकाओं में [2] प्रकृति को एक ही माना गया है। इसका अभिप्राय यह निकलता है, कि सांख्य के सर्वप्रथम आचार्यों का ऐसा मत नहीं है, जो गुणरत्नसूरि ने 'मौलिक्य' पद से दिया है। जो भावना सूरि के 'मौलिक्य' पद से ध्वनित होती है, उसका कुछ भी गन्ध, युक्तिदीपिका के लेख में प्रतीत नहीं होता। वहां तो 'पौरिक' यह किसी व्यक्ति विशेष का नाम ही स्पष्ट होता है। इसमें पूर्व और अपर की भावना नहीं है। इसके अनुसार तो प्रधान के अनेकतावाद को स्वीकार करने वाला पौरिक आचार्य, कपिल आदि के पर्याप्त अनन्तर भी होसकता है। तब यह निश्चित रूप से नहीं कहा जासकता, कि गुणरत्नसूरि के लेख का आधार क्या होगा ?

वस्तुतः प्रतीत यह होता है, कि गुणरत्नसूरि को 'पौरिक' पद से ही सम्भवतः भ्रान्ति हुई है, और उसने वास्तविकता को न समझ, पूर्व तथा उत्तर की कल्पना कर डाली है। क्योंकि किन्हीं भी आधारों पर इस बात को सिद्ध करना कठिन है, कि सांख्य के मूल आचार्यों का यह मत था। इसलिये पौरिक यह एक व्यक्तिविशेष की संज्ञा है, इसका पूर्व अपर के साथ

---

[1] षड्दर्शनसमुच्चय व्याख्या, तर्करहस्यदीपिका, कारिका ३६ पर। पृ० ९६, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता संस्करण।

[2] देखें, कारिका ३ और १०।

कोई सम्बन्ध नहीं है। वह जब भी कभी हो, उसका ही यह अपना मत है।

'पौरिक' नाम, तथा उसका काल—

पौरिक नाम के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश नहीं डाला जासकता। यह गोत्र नाम है, वा सांस्कारिक नाम, अथवा अन्य किस आधार पर यह नामकरण हुआ होगा, इन बातों का मालूम किया जासकना अत्यन्त कठिन है। परन्तु युक्तिदीपिका के लेख से इतना हम स्पष्ट रूप में समझसके हैं, कि यह किसी व्यक्तिविशेष का ही नाम होसकता है, हमने इस बात पर केवल इसलिये अधिक बल दिया है, कि गुणरत्नसूरि का लेख इस विवेचन के लिये निर्भ्रान्त आधार नहीं है, कि प्राथमिक सांख्याचार्य प्रकृति की अनेकता को मानते थे, और उत्तरकाल में आकर उसकी एकता के सिद्धान्त को माना जाने लगा। इस समय भी कोई भी विचारक अपने विचारानुसार प्रकृति के अनेकतावाद को मान सकता है। यह केवल विचारों के विकास का ही परिणाम हो, ऐसी बात नहीं है।

पौरिक सांख्याचार्य के काल आदि के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जासकता। युक्तिदीपिका का काल हमने पूर्व इसी ग्रन्थ के सप्तम प्रकरण में विक्रम का पञ्चम-शतक निर्धारित किया है। इतना निश्चित कहा जासकता है, कि पौरिक इस काल से अवश्य पूर्ववर्त्ती आचार्य था।

पञ्चाधिकरण—

इस आचार्य के सम्बन्ध में युक्तिदीपिका के अतिरिक्त और भी सूचना प्राप्त की जासकी है। इसके इस नामकरण के सम्बन्ध में भी हम कोई विशेष कारण उपस्थित नहीं कर सकते। यह अपने ढङ्ग का एक निराला ही नाम है। युक्तिदीपिका में इस आचार्य के नाम से कई सन्दर्भ उद्धृत हैं, जो इसप्रकार हैं—

(१)—...पञ्चाधिकरणवार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यत इति। (यु० दी०, पृ०१०८, पं०४)

(२)—भौतिकानीन्द्रियाणीति पञ्चाधिकरणमतम्। [पृ० १०८, पं० ७-८]

(३)—तथा करणं निर्लिखितस्वरूप शून्यग्रामनदीकल्पम्, प्राकृतवैकृतिकानि तु ज्ञानानि प्रेरकाङ्गसंगृहीतानि प्रधानादागच्छन्ति चेति पञ्चाधिकरणः। [पृ० १०८, पं०१३-१५]

(४)—करणानां ...... स्वभावातिवृत्तिः ...... सर्वा परत इति पञ्चाधिकरणः, वृत्तिः तृणिकेति च। [पृ० १०८, पं० १५, १७]

(५)—अनयोश्चाभिधानाद् यः पञ्चाधिकरणपक्षः—प्राकृतवैकृतानां ज्ञानानां प्रधानवत्[1] शुष्कनदीस्थानीयान्तःकरणे बाह्ये च प्रेरकज्ञानांशककृत उपनिपातः, तथा च सात्त्विकस्थित्यात्मककृतमप्रत्ययस्यावस्थानमिति तत् प्रतिक्षिप्तं भवति। [पृ० ११४, पं० १-३]

[1] 'प्रधानवत्' इत्यत्र तृतीयसंख्यान्तःपातिपाठानुरोधात् 'प्रधानात्' इति पाठः समीचीनो भाति।

(६)—करणं........दशविधमिति तान्त्रिकाः पञ्चाधिकरणप्रभृतयः । [पृ० १३२, पं० २८-२६]

(७)—पञ्चाधिकरणस्य तावत्—

वैवर्त्तं शरीरं मातापितृसंसर्गकाले करणाविष्टं शुक्रशोणितमनुप्रविशति । तदनुप्रवेशाच्च कललादिभावेन विवर्धते । व्यूढाव यवं तूपलब्धप्रत्ययं मातुरुदरान्निःसृत्य यौ धर्माधर्मौ षट्सिद्ध्युपभोगकाले कृतौ तद्वशादवतिष्ठते । यावत् तत्क्षयात् शरीरपातस्तावत् । यदि धर्मसंस्कृतं करणं ततो द्युदेशं सूक्ष्मशरीरेण प्राप्यते, तद्विपर्ययात्तु यातनास्थानं तिर्यग्योनिं वा, मिश्रीभावेन मानुष्यम् । एवमातिवाहिकं सूक्ष्मशरीरमिन्द्रियाणां धारणप्रापणसमर्थं नित्यं बाह्येनापायिना परिवेष्ट्यते परित्यज्यते च । [पृ० १४४, पं० १०-१६]

(८)—पञ्चाधिकरणस्य तावत्—

द्विविधं ज्ञानम्—प्राकृतिकं वैकृतिकं च । प्राकृतिकं त्रिविधम्—तत्त्वसमकालं सांसिद्धिकमाभिष्यन्दिकं च । तत्र तत्त्वसमकालं—संहतश्च महांस्तत्त्वात्मना महति प्रत्ययो भवति । उत्पन्नकार्यकारणस्य तु सांसिद्धिकमाभिष्यन्दिकं च भवति । सांसिद्धिकं यत् संहतव्यूहसमकालं निष्पद्यते, यथा परमर्षेर्ज्ञानम् । आभिष्यन्दिक च संसिद्धकार्यकरणस्य कारणान्तरेणोत्पद्यते । वैकृतं तु द्विविधम्—स्ववैकृतं परवैकृतञ्च । स्ववैकृतं तारकम्, परवैकृतं सिद्ध्यन्तराणि । आह च—

तत्त्वसमं वैवर्त्तं तत्राभिष्यन्दिकं द्वितीयं स्यात् ।
वैकृतमवस्तृतीयं षाट्कौशिकमेतदाख्यातम् ॥

अत्र तु तत्त्वैः सहोत्पत्त्यविशेषात् सांसिद्धिकमभेदेनाह—

वैकृतमपि च द्विविधं स्ववैकृतं तत्र तारकं भवति ।
स्यात् सप्तविधं परवैकृतं सत्त्वारामादि निर्दिष्टम् ॥

इति । यथा ज्ञानमेव धर्मादयोऽपि इति । [पृ० १४७-४८, पं० २२-२४/१-१०]

इतने उद्धरण केवल युक्तिदीपिका से दिये गये हैं । इनके अतिरिक्त अन्यत्र भी पञ्चाधिकरण के उद्धरण उपलब्ध होते हैं । एक उद्धरण इसप्रकार है—

(१)—केचित्तु मन्यन्ते—

'अतीताध्ववर्त्तिनोऽपि पुनः कालान्तरे जगत्पराववर्त्तेषूद्भवन्ति । कृतपरिनिष्ठिता हि भावाः प्रधानप्रसेवकान्तर्गता यथाकालमुद्दर्शयन्त्यात्मानं, पुनः प्रलये तत्रैव तिरोभवन्ति' इति पञ्चाधिकरणदर्शनस्थानां सांख्याना (मय ?) मभ्युपगमः । [1]

उपर्युक्त सन्दर्भ में 'कृतपरिनिष्ठिता' से 'तिरोभवन्ति' तक सम्पूर्ण पाठ पञ्चाधिकरण

[1] वाक्यपदीय, ३ काण्ड, कालसमुद्देश, श्लो० ११ पर, भूतिराजतनय—हेलाराज कृत व्याख्या में । अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलिः, पृ० ६८ ।

के ग्रन्थ का प्रतीत होता है।

इन सब ही सन्दर्भों के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जासकता, कि ये इसी आनुपूर्वी में पञ्चाधिकरण की किसी रचना के अंश हैं, अथवा पञ्चाधिकरण के सिद्धान्तों को युक्तिदीपिकाकार ने अथवा अन्य लेखकों ने अपने ही शब्दों में प्रकट किया है। संख्या ३ और ४ के सन्दर्भों की परस्पर तुलना इस सन्देह को पुष्ट करती है। दोनों सन्दर्भों में अर्थ की प्रायः समानता होने पर भी आनुपूर्वी भिन्न है। इससे यह निश्चय करना कठिन है, कि पञ्चाधिकरण की रचना के ही ये भिन्न २ स्थलों के अंश हैं, अथवा आनुपूर्वी युक्तिदीपिकाकार की अपनी है।

आठवीं संख्या के सन्दर्भ में प्राकृत और वैकृत ज्ञान का अच्छा विश्लेषण है। इस सन्दर्भ में दो आर्या उद्धृत हैं। ये आर्या, पञ्चाधिकरण की अपनी रचना प्रतीत होती हैं, और जिस रीति पर ये इस सन्दर्भ में उद्धृत की गई हैं, इससे प्रतीत होता है, कि इन आर्याओंके अतिरिक्त शेष गद्यसन्दर्भ में अर्थ अथवा सिद्धान्त पञ्चाधिकरण का और पदानुपूर्वी युक्तिदीपिकाकार की अपनी है।

पञ्चाधिकरण तान्त्रिक—

छठी संख्या के सन्दर्भ में पञ्चाधिकरण को तान्त्रिक कहा गया है, और इस सन्दर्भ में इस बात का निर्देश है, कि पञ्चाधिकरण दश करण ही मानता है। यद्यपि अन्य प्राचीन सांख्याचार्यों ने करण त्रयोदश माने हैं। पतञ्जलि बारह और वार्षगण्य तथा उसका अनुयायी विन्ध्यवासी ग्यारह करण मानता है। युक्तिदीपिका में प्रयुक्त, पञ्चाधिकरण के 'तान्त्रिक' विशेषण से इसके काल पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

पञ्चाधिकरण के विचार—

सांख्यसिद्धान्तों के सम्बन्ध में पञ्चाधिकरण के कुछ अपने विशेष विचार हैं। कपिल पञ्चशिख आदि प्राचीन आचार्य करणोंकी संख्या तेरह मानते हैं। तीन अन्तःकरण और दश बाह्यकरण। परन्तु पञ्चाधिकरण केवल दश[1] ही करण मानता है, जैसा कि अभी ऊपर लिखा जाचुका है।

अन्य कई साधारण[2] मतभेदों के अतिरिक्त एक विशेष मतभेद यह भी है, कि प्राचीन सांख्याचार्य इन्द्रियों को आहङ्कारिक अर्थात् अहङ्कार का कार्य मानते हैं, परन्तु पञ्चाधिकरण इन्द्रियों को भौतिक[3] अर्थात् भूतों का कार्य कहता है। सांख्याचार्यों में यही एक ऐसा आचार्य प्रतीत होता है, जो इन्द्रियों को भौतिक मानता है। सांख्यकारिका और उसकी एक व्याख्या को

---

[1] ऊपर उद्धृत पञ्चाधिकरण के सन्दर्भों में संख्या ७ देखें।

[2] देखें, सन्दर्भ ४।

[3] देखें, सन्दर्भ संख्या २।

चीनी भाषा में अनुवाद करने वाले परमार्थ पण्डित ने कई कारिकाओं[1] की व्याख्या में इस मत को भी स्वीकार किया है। हमारा ऐसा विचार है, कि इस सम्बन्ध में परमार्थ, पञ्चाधिकरण के विचारोंसे प्रभावित था। यद्यपि उसने [परमार्थ ने] इन विचारोंको प्रकट करते हुए किसी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है। परमार्थ ने अपने अनुवाद मे अनेक[2] स्थलों पर प्राचीन आचार्यों के समान इन्द्रियों को आहङ्कारिक भी माना है। यह सम्भव होसकता है, कि परमार्थ अपने से प्राचीन इन दोनों ही प्रकार के विचारों में से पञ्चाधिकरण के विचार को अधिक ठीक समझा हो, और कारिका की मूल व्याख्या का चीनी अनुवाद करते समय कहीं २ इस मत का भी समावेश कर दिया हो। इसका निरूपण किया जाचुका है, कि यह चीनी अनुवाद, माठरवृत्ति का ही किया गया था। यह भी निश्चित रूप से कहा जासकता है, कि चीनी अनुवादक ने इस अनुवाद में अनेक स्थलों पर मूलग्रन्थ से अधिक[3] अर्थका भी समावेश किया था। इस विवेचन से परमार्थ के अनुवाद में निर्दिष्ट इन्द्रियों की भौतिकता पर अच्छा प्रकाश पड़ जाता है।

कौण्डिन्य और मूक—

पञ्चाधिकरण के अनन्तर हमारी सूची में 'कौण्डिन्य' और 'मूक' इन दो आचार्यों का उल्लेख है। इनके सम्बन्ध में इतना ही कहा जासकता है, कि युक्तिदीपिका में अन्य आचार्यों के साथ इनका भी नाम है। और कोई सूचना इनके सम्बन्ध में हमें कहीं से प्राप्त नहीं होसकी है।

मूक अथवा शुक—

युक्तिदीपिका में जहां [कारिका ७१ पर] इन आचार्यों के नामों का उल्लेख है, वहां का पाठ कुछ खण्डित और अशुद्ध सा है। हमारा ऐसा विचार है, कि संभवतः 'मूक' के स्थान पर 'शुक' पाठ हो। 'शुक' नाम के एक आचार्य का पूर्व भी निर्देश किया जाचुका है।

उपसंहार—

इस प्रकरण में ४२।४३ प्राचीन सांख्याचार्यों का संक्षेप से उल्लेख किया गया है। उनमें से अनेक आचार्यों के सन्दर्भों को भी भिन्न २ ग्रन्थों से चुनकर संगृहीत कर दिया गया है। जो कुछ सामग्री जहां कहीं से भी हमें मिल सकी है, प्रस्तुत की गई है। किसी विचार के लिये कल्पना का आधार नहीं लिया गया है। सांख्याचार्यों की यह सूची सम्पूर्ण नहीं कही जासकती। संभव है, इसमें अनेक आचार्यों के नाम न आसके हों।

---

[1] स्वर्णसप्ततिशास्त्र, [चीनी अनुवाद का संस्कृत रूपान्तर] कारिका ३, ८, १०, १५, २६, २६, ६८ की व्याख्या।

[2] स्वर्णसप्ततिशास्त्र, कारिका, २२, २४, २५, २७ की व्याख्या।

[3] स्वर्णसप्ततिशास्त्र, पृष्ठ ७८ टिप्पणी संख्या १। इसके अतिरिक्त पृष्ठ ५६ पर 'यथोक्तं गाथायाम्' कहकर जो दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं, वे कारिकाओं की मूल व्याख्या में संभव नहीं होसकते।

वर्णित सांख्याचार्यों में से अनेकों के नाम महाभारत तथा उससे भी प्राचीन साहित्य से लिये गये हैं। तथा बहुत से नाम सांख्यकारिका की टीकाओं से लिये हैं, जिनका उल्लेख ७१वीं आर्या पर, पञ्चशिख के अनन्तर और ईश्वरकृष्ण के पूर्व की गुरु-शिष्य परम्परा को बतलाने के लिये किया गया है। इससे व्याख्याकारों की यह भावना निश्चित होती है, कि वे इन सब आचार्यों को ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्त्ती मानते हैं। उनके विरोध में अभी तक कोई ऐसे प्रमाण भी नहीं दिये जासके हैं, जिससे उनके मन्तव्य को अशुद्ध समझा जाय। इसप्रकार प्राचीन सांख्याचार्यों के नाम से जिनका उल्लेख इस प्रकरण में किया गया है, वे सब ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्त्ती आचार्य हैं।

इसी ग्रन्थ के सप्तम प्रकरण में माठर के समय के आधार पर ईश्वरकृष्ण का समय, विक्रम पूर्व प्रथम शतक का मध्य अनुमान किया गया है। इसप्रकार यहां अष्टम प्रकरण में वर्णित सब आचार्य उक्त समय से पूर्व के ही हैं। जिस किसी आचार्य के समय का किन्हीं कारणों से विशेष अनुमान किया जासका है, उसका निर्देश यथास्थान कर दिया गया है।

रुद्रिल विन्ध्यवासी—

प्रसंगवश एक और आचार्य का हम यहां उल्लेख कर देना चाहते हैं, जो ईश्वरकृष्ण का परवर्त्ती है। इसका नाम है रुद्रिल विन्ध्यवासी।

यद्यपि सप्तम प्रकरण के माठर-प्रसंग में इसका पर्याप्त वर्णन किया जाचुका है। परन्तु इसके नाम पर भिन्न २ ग्रन्थों में उद्धृत सन्दर्भों का अभी तक निर्देश नहीं किया जासका, उन सब का यहां संग्रह कर देना आवश्यक है। प्रथम उन सन्दर्भों का निर्देश किया जाता है, जो युक्तिदीपिका में विन्ध्यवासी के नाम पर उल्लिखित हैं।

युक्तिदीपिका में विन्ध्यवासी के उद्धरण —

(१)—किञ्च तन्त्रान्तरोक्तेः, तन्त्रान्तरेषु हि विन्ध्यवासिप्रभृतिभिराचार्यैरुपदिष्टाः, प्रमाणं नः ते आचार्या इत्यतश्चानुपदेशो जिज्ञासादीनामिति [1]। [यु० दी०, पृ० ४, पं० ७-८]

(२)—प्रत्यक्षादीन्यपि च तन्त्रान्तरेषूपदिश्यन्ते —'श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्। सम्बन्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम्। यो यत्राभियुक्तः कर्मणि चादुष्टः स तत्राप्तः, तस्योपदेश आप्तवचनम्' [2] इति। [यु० दी०, पृ० ४, प० १०-१२]

(३)—महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते पञ्चतन्मात्राण्यहङ्कारश्चेति विन्ध्यवासिमतम् [3]। [यु० दी०, पृ० १०८, पं० ६-७]

---

[1] इस ग्रन्थ के पृष्ठ ५३६ को संख्या १ टिप्पणी देखें।

[2] ' ' चिन्ह के अन्तर्गत पाठ विन्ध्यवासी का है। यद्यपि इन पंक्तियों के साथ विन्ध्यवासी का नाम नहीं है, परन्तु ऊपर की ७-८ संख्या की पंक्तियों के साथ विन्ध्यवासी का नाम है, और उसी प्रसंग में ये पंक्तियां हैं।

[3] अन्य सब सांख्याचार्यों का यह मत है, कि अहङ्कार से तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है, परन्तु विन्ध्यवासी

(४)—इन्द्रियाणि.......विभूनीति [1] विन्ध्यवासिमतम् । [यु० दी०, पृ० १०८, पं० १०]

(५)—करणमपि............एकादशकमिति विन्ध्यवासी । [यु० दी०, पृ० १०८, पं० ११]

(६)—तथा........सर्वार्थोपलब्धिः मनसि विन्ध्यवासिनः । [यु० दी०, पृ० १०८, पं० १२]

(७)—संकल्पाभिमानाध्यवसायनानात्वमन्येषां एकत्वं विन्ध्यवासिनः ।

[यु० दी०, पृ० १०८, पं० १२,१३]

(८)—विन्ध्यवासिनस्तु—विभुत्वादिन्द्रियाणां[2] बीजदेशे वृत्त्या जन्म । तत्त्यागो मरणम् । तस्मान्नास्ति [3] सूक्ष्मशरीरम् । तस्मान्निर्विशेषः संसार इति पक्षः ।

यु० दी०, पृ० १४४, पं० २०-२२]

(९)—विन्ध्यवासिनस्तु—नास्ति तत्त्वसमं सांसिद्धिकञ्च । किं तर्हि ? सिद्धिरूपमेव । तत्र परमर्षेरपि सर्गसंघातव्यूहोत्तरकालमेव ज्ञानं निष्पद्यते, यस्माद् गुरुमुखाभिप्रतिपत्तेः प्रतिपत्स्यत इति, अपीत्याह—सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्यानुग्रहं कुरुते नापूर्वमुत्पादयति—इति, निमित्तनैमित्तिकभावश्चैवमुपपद्यते । तत्र परमर्षेः पटुः तूक्तः, अन्येषां क्लिष्ट इत्ययं

महत्तत्त्व से पञ्च तन्मात्रों की उत्पत्ति मानता है । पातञ्जल योगदर्शन के २। १९ सूत्र के व्यासभाष्य में भी इसी अर्थ को प्रस्तुत किया गया है । मूल सूत्र में विशेष अविशेष लिङ्गमात्र और अलिङ्ग इन चार गुणपर्वों का उल्लेख है । इनमें १६ विशेष [मनसहित एकादश इन्द्रिय और पांच स्थूलभूत], ६ अविशेष [एक अहङ्कार पांच तन्मात्र], एक लिङ्गमात्र [महत्तत्त्व] और एक अलिङ्ग [प्रकृति], इन २४ तत्त्वों को बताया गया है । व्यास ने अविशेष पद की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"षड् अविशेषाः, तद्यथा शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रञ्च, इत्येक द्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाऽविशेषाः, षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति । एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः ।"

व्यास के इस व्याख्यासन्दर्भ से स्पष्ट हो जाता है, कि यह पञ्च तन्मात्रों की उत्पत्ति महत्तत्त्व से ही मानता है । इस सम्बन्ध में इन दोनों आचार्यों का ऐकमत्य विशेष उल्लेखनीय है । यह हम अभीतक निश्चय नहीं कर पाये हैं, कि इन दोनों आचार्यों में से इस सिद्धान्त का मौलिक आचार्य कौन है ? पतञ्जलि के मूल सूत्र से भी यह अर्थ प्रकट होता है । मूल सूत्र में कार्य से कारण की ओर को गणना करके ४ गुणपर्वों का निर्देश है । इनमें सर्वप्रथम 'विशेष' हैं, जिनकी संख्या भाष्यकार ने सोलह बताई है । इन सोलहों विशेषों के कारण हैं, छः अविशेष । इन ६ अविशेषों में से पांच तन्मात्र, पांच स्थूलभूतों (विशेषों) के कारण हैं, और अहङ्कार [अविशेष] एकादश इन्द्रियों [विशेषों] का कारण है । इसी प्रकार छः अविशेषों का कारण है, महत्तत्त्व [लिङ्गमात्र] । इस रीति पर सूत्रकार पतञ्जलि के विचार से पांच तन्मात्रों की उत्पत्ति महत् से ही मानी जासकती है । ऐसी स्थिति में इस मत का मूल आचार्य सूत्रकार पतञ्जलि को ही मानना चाहिये, व्यास और विन्ध्यवास दोनों ही उसके परवर्ती आचार्य हैं ।

[1] व्यासभाष्य में केवल मन को विभु माना है, देखें—कैवल्यपाद, सूत्र १० ॥

[2] तुलना करें, सन्दर्भ संख्या ४ ।

[3] तुलना करें, सन्दर्भ संख्या ११ तथा १८ के साथ ।

विशेषः। सर्वेषामेव तु तारकाद्यविशिष्टम्'। [यु.दी., पृ० १०८, पं० १०-१४]

युक्तिदीपिका के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी विन्ध्यवासी के मतों का उल्लेख मिलता है। हम इसप्रकार के उन्हीं स्थलों का निर्देश करेंगे, जिनके साथ विन्ध्यवासी के नाम का उल्लेख है, जिन स्थलोंमें विन्ध्यवासीके मतोंका तो उल्लेख है, पर उनके साथ विन्ध्यवासीका नाम नहीं लिखा, उनको हमने छोड़ दिया है। प्रायः ये सब उल्लेख प्रत्यक्ष लक्षण और अन्तराभव देहके सम्बन्ध में हैं। जो नामसहित स्थलों में आगये हैं। इसलिये उनमें कोई विशेषता नहीं रह जाती। वे ये हैं—

(१०)—संदिह्यमानसद्भाववस्तुबोधात् प्रमाणता।
विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना॥[२]
[श्लो० वा०, अनु० श्लो० १४३, पृ० ३६३, बनारस संस्करण]

(११)—अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना।
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते॥ [श्लो० वा०, सूत्र ५ पर, श्लो० ६२]

(१२)—विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—
'पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा॥' इति

(१३)—विन्ध्यवासिनस्तु—
पूर्वव्यक्त्यवच्छिन्नमपूर्वव्यक्तौ प्रतीयमानं सामान्यमेव सादृश्यम्।
तदेव शब्दवाच्यम्—इति मतम्।

(१४)—यदेव दधि तत्क्षीरं यत्क्षीरं तद्दधीति च।
वदता रुद्रिलेनैवं ख्यापिता विन्ध्यवासिता॥

---

[१] इस सन्दर्भ में 'अधीत्याह' इसके आगे और 'इति' से पूर्व की पंक्ति विन्ध्यवासी के साक्षात् ग्रन्थ की प्रतीत होती है। शेष सन्दर्भ में युक्तिदीपिकाकार के अपने शब्दोंके द्वारा विन्ध्यवासी का मत प्रकट किया गया है। अन्य सन्दर्भोंके सम्बन्ध से भी यह बात कही जासकती है, कि उनमें शब्द युक्तिदीपिकाकार के अपने हों।

[२] तुलना करें—तत्त्वसंग्रह, शान्तरक्षित कृत, कारिका १४४२॥ पृष्ठ ४२२ पर [गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज], तथा सन्दर्भ संख्या १५ के साथ।

(११) तुलना करें, सन्दर्भ संख्या, ८ तथा १८ के साथ।

(१२) हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत व्याख्या, पृष्ठ १०४, रौयल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता संस्करण। तथा, स्याद्वादमञ्जरी, १५।

(१३) साहित्यमीमांसा, पृष्ठ ४३। तुलना करें, सन्दर्भ संख्या १६ के साथ।

(१४) तत्त्वसंग्रह पञ्जिका, कमलशीलकृत, पृ० २२, पं० २६। इस श्लोक के उत्तरार्द्ध का पाठ निम्न प्रकार भी उपलब्ध होता है—'वदता विन्ध्यवासित्वं ख्यापितं विन्ध्यवासिना'।

(१५) एतच्च यथोक्तम्—

प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धमनुमानं विशेषतोदृष्टमनुमानमित्येवं विन्ध्यवासिना गदितम्।

(१६) सारूप्यं सादृश्यं विन्ध्यवासीष्टम्।

(१७)—श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका इति विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणम्।

(१८) अथवा केश्चिदिष्यते—अस्त्यन्यदन्तराभवं शरीरं सूक्ष्मं यस्येयमुत्क्रान्तिः। अन्यैरस्त्वन्तराभवदेहो नेष्यते। यथाह भगवान् व्यासः—

'अस्मिन् देहे व्यतीते तु देहमन्यन्नराधिप। इन्द्रियाणि वसन्त्येव तस्मान्नास्त्यन्तराभवः॥'

सांख्या अपि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासिप्रभृतयः।

(१९) देहभोगेन नैवास्य भावतो भोग इष्यते। प्रतिबिम्बोदयात् किन्तु यथोक्तं पूर्वसूरिभिः॥

पूर्वसूरिभिः विन्ध्यवास्यादिभिः।

(२०) अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तम्—'सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्' इति।

---

(१५) तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृष्ठ ४२१, पं० १२। तुलना करें—सन्दर्भ संख्या १० के साथ।

(१६) तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ६३६, पं० ७। तुलना करें—सन्दर्भ संख्या ११ के साथ।

(१७) सिद्धसेनदिवाकर कृत 'सन्मतितर्क' पर अभयदेवसूरिकृत व्याख्या, पृ० ५३३ पं० २। [गुजरात पुरातत्त्वमन्दिर ग्रन्थावली संस्करण]

(१८) मनुस्मृति, मेधातिथिभाष्य, १। ५५। विन्ध्यवासी के इस मत की तुलना करें, सन्दर्भ संख्या ८ तथा ११ के साथ।

(१९) यह श्लोक 'शास्त्रवार्त्तासमुच्चय' का ३। २७ है। इसकी टीका 'शास्त्रवार्त्तासमुच्चयस्याद्वादकल्पलता' [पृ० १०६, पं० ८] में श्लोक के 'पूर्वसूरिभिः' पद का अर्थ 'विन्ध्यवास्यादिभिः' किया हुआ है। इससे यह स्पष्ट होता है, कि मूलश्लोक में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया हुआ है, टीकाकार के विचार से वह सिद्धांत विन्ध्यवासी आदि आचार्यों का है। इस श्लोक में आत्मा के भोग का स्वरूप—निरूपण है। सन्दर्भ संख्या १२ में एक श्लोक पूर्व लिखा जा चुका है। उस श्लोक में आत्मा के भोग सम्बन्धी जो विचार विन्ध्यवासी के नाम से प्रकट किये गये हैं, उनका पूर्ण सामञ्जस्य इस श्लोक के साथ नहीं होपाता। प्रत्युत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत व्याख्या के १०४ [रा० ए० सो० कलकत्ता संस्करण] पृष्ठ पर आसुरि के नाम से जो एक श्लोक उद्धृत हुआ उपलब्ध होता है, उसके साथ इस श्लोक का पूर्ण सामञ्जस्य है। गुणरत्न की टीका में वह श्लोक इसप्रकार मिलता है—

तथा चासुरिः—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥

आसुरि और विन्ध्यवासी [१२ संख्या के सन्दर्भ में निर्दिष्ट] के मतों पर हमने इसी प्रकरण के प्रारम्भ में, आसुरि के प्रसंग में विवेचन किया है। इस सब को देखते हुए 'स्याद्वादकल्पलता' में 'पूर्वसूरिभिः' पद का जो अर्थ किया गया है, वह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

(२०) पातञ्जल योगसूत्रों पर भोजवृत्ति, ४। २३॥ तुलना करें, सन्दर्भ संख्या १२ के साथ।

[विस्मृत] सांख्याचार्य माधव—

उपलब्ध सांख्यग्रन्थों में इस आचार्य के नाम का उल्लेख हमें कहीं प्राप्त न होसका। परन्तु अन्य अनेक ग्रन्थों में सांख्याचार्य के रूप में इसका नाम उपलब्ध होता है। यह माधव, उस माधव परिव्राजक[1] से सर्वथा भिन्न है, जिसका पूर्व उल्लेख किया गया है।

(१) मीमांसा श्लोकवार्त्तिक की भट्ट उम्वेक कृत व्याख्या[2] में इस आचार्य का उल्लेख उपलब्ध होता है। यज्ञिय हिंसा अधर्मजनिका होती है, अथवा नहीं? इस प्रसंग में सांख्य का मत प्रकट करते हुए बताया गया है, कि यज्ञिय हिंसा भी अधर्म को अवश्य उत्पन्न करती है। उम्वेक ने प्रसंगागत श्लोक की अवतरणिका करते हुए, ये शब्द लिखे हैं—

'सांख्यनायकमाधवस्त्वाह—

इस लेख से यह स्पष्ट होता है, कि उम्वेक, किसी सांख्याचार्य माधव के सम्बन्ध में परिचय रखता है।

(२) धर्मकीर्त्ति प्रणीत प्रमाणवार्त्तिक[3] [बौद्ध ग्रन्थ] की 'आगमभ्रंशकारिणामाहोपुरुषिकया,.......अन्यथा रचनासंभवात्' इन पंक्तियों पर व्याख्या करते हुए कर्णकगोमि ने लिखा है–

'आगमभ्रंशकारिणामित्यादिना संप्रदायविच्छेदेन रचनान्तरसम्भवमेव समर्थयते। आगमभ्रंशकारिणां पुंसामन्यथा, पूर्वरचनावैपरीत्येन रचनादर्शनादिति सम्बन्धः। अन्यथा रचनायां कारणमाह, आहोपुरुषिकयेत्यादि। आहोपुरुषिकयेत्यहंमानित्वेन। यथा सांख्यनाशकमाधवेन सांख्यसिद्धान्तस्यान्यथा रचनं कृतं।'

इन पंक्तियों से किसी एक माधव का होना स्पष्ट होता है, जिसका सम्बन्ध सांख्य से है। उम्वेक और कर्णकगोमि के पाठों में माधव के विशेषण पद, बहुत ही ध्यान देने योग्य हैं। उम्वेक उसको 'सांख्यनायक' और कर्णकगोमि 'सांख्यनाशक' लिखता है। इन पाठों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जासकता, कि लेखकप्रमाद से इनमें कोई सा पाठ अन्यथा होगया हो। उम्वेक का पाठ, जिस प्रसंग में दिया गया है, उस दृष्टि से सर्वथा युक्त है, उससे स्पष्ट है, कि वह माधव को एक सांख्याचार्य समझता है।

कर्णकगोमि का पाठ भी, जिस प्रसंग में दिया गया है, उस प्रसंग के सर्वथा अनुकूल है। वहां अन्य पाठभेद की कल्पना नहीं की जासकती। इसप्रकार माधव को 'सांख्यनाशक' कहना, उसके प्रति कर्णकगोमि की उग्र मनोभावना को प्रकट करता है। माधव ने सांख्यसिद्धान्तों का जिस रूप में प्रतिपादन किया, वह अवश्य धर्मकीर्त्ति एवं कर्णकगोमि की भावना के प्रति-

---

[1] इसी ग्रन्थ का छठा प्रकरण, 'तत्त्वसमाससूत्रों' के व्याख्याकार' प्रसंग में संख्या ६ पर निर्दिष्ट व्याख्या का रचयिता।

[2] श्लोकवार्त्तिक, चोदनासूत्र, श्लो० २४१। ख्रीस्ट १९४० का मद्रास विश्वविद्यालय संस्करण पृ० ११२।

[3] प्रमाणवार्त्तिक, कर्णकगोमिकृत व्याख्या सहित, पृ० ५९९।

कूल थे, जिसके कारण कर्णकगोमि ने उसके लिये 'सांख्यनाशक' पद का प्रयोग किया। इसप्रकार इस लेख से यह भी स्पष्ट होजाता है, कि धर्मकीर्त्ति और कर्णकगोमि जिस सम्प्रदाय परम्परा का अनुसरण करते थे, उसमें सांख्यसिद्धान्तों का जो रूप समझा जाता था, उसके विपरीत अपने विचार माधवने प्रकट किये। अभिप्राय यह है, कि माधवके पूर्ववर्ती बौद्ध विद्वानोंने कपिलके जो सिद्धान्त जिस रूप में समझे थे, माधव ने उनका विरोध किया, और कपिल के वास्तविक मतों को जैसा उसने समझा, प्रकट किया। इससे किसी एक सांख्याचार्य माधव की स्थिति अत्यन्त स्पष्ट होजाती है, जिसने अपने समय में सांख्यसिद्धान्तों के निरूपणमें बौद्ध विद्वानों से टक्कर ली।

(३)—दिङ्नागप्रणीत प्रमाणसमुच्चय [1] [प्रत्यक्षपरिच्छेद, श्लो० ३१] की व्याख्या करते हुए टीकाकार जिनेन्द्रबुद्धि ने टीका में लिखा है—

'कपिलादयो मन्यन्ते। सुखादीनां स्वरूपं सर्वत्र एकमेवेति। माधवस्तु सर्वत्र तानि भिद्यन्त इति।'

(४)—यही टीकाकार ३४ वें श्लोक की टीका में पुनः लिखता है—

'माधवपक्षादस्य न्यूनदोषत्वादित्ययमुक्तमिति न दोषः।'

इन उल्लेखों से एक सांख्याचार्य माधव की स्थिति तो स्पष्ट हो ही जाती है, इसके अतिरिक्त संख्या ३ का उल्लेख, हमारे ध्यान को कर्णकगोमि की पंक्तियों की ओर आकृष्ट करता है। धर्मकीर्त्ति और कर्णकगोमि इस बात को समझते हैं, कि माधव ने सांख्यसिद्धान्तों की अन्यथा रचना की। 'अन्यथा' का यही अभिप्राय होसकता है, कि कपिल आदि प्राचीन आचार्यों ने सांख्य के किसी सिद्धान्त को जैसा माना है, माधव ने वह मत उससे विपरीत रूप में प्रदर्शित किया है। संख्या ३ में ऐसे ही एक मत का निर्देश है। इन बौद्ध विद्वानों के लेखों को मिलाकर देखने से यह स्पष्ट होजाता है, कि ये विद्वान् सांख्यसिद्धान्तों को जिस रूप में अपने ग्रन्थों में उपस्थित करते थे, माधव ने उसका प्रबल विरोध किया, और कपिल के सिद्धान्तों का वास्तविक स्वरूप उपस्थित करने का यत्न किया। जिसको बौद्धविद्वानों ने अपने दृष्टिकोण से अन्यथा रचना समझा।

इस दृष्टि से संख्या ३ के प्रस्तुत मतभेद का यदि विवेचन किया जाय, तो उक्त परिणाम पर पहुंचने की हम आशा रखते हैं। 'सुखादि' से सत्त्व [2] आदि का ही ग्रहण किया जासकता है, जो कि सत्त्व आदि प्रकृतिरूप हैं। क्योंकि विकृतरूप सुखादि का एक होना [3] सर्वथा असंगत है, तथा किसी भी आचार्य ने ऐसा स्वीकार नहीं किया है। इसलिये यही

[1] प्रमाणसमुच्चय, मैसोर राजकीय शाखा प्रेस से क्रीस्ट १९३० में प्रकाशित, तथा एच० आर० रंगास्वामी आयंगर एम० ए०, द्वारा सम्पादित तथा तिब्बती से संस्कृतरूपान्तरित।

[2] सुख, दुःख, मोह, अर्थात् सत्त्व, रजस्, तमस्।

[3] देखें, कारिका १०, 'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्, सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं',

संभावना होसकती है, कि प्रकृतिरूप सत्त्व रजस् तमस् ही सर्वत्र एक एक व्यक्ति रूप माने जाने चाहियें। अभिप्राय यह है, कि प्रकृतिरूप सत्त्व, सर्वत्र एक ही है। इसीप्रकार सर्वत्र एक ही रजस् और एक ही तमस् है। कपिल का ऐसा मत है। परन्तु इसके विपरीत माधव, अनेक सत्त्व अनेक रजस् तथा अनेक तमस् मानता है। माधव का कोई ग्रन्थ हमारे सन्मुख नहीं है, इसलिये हम उसके मत को सर्वथा स्पष्ट नहीं कर सकते। प्रमाणसमुच्चय की टीका के आधार पर जो भाव प्रकट होरहा है, केवल उसीका हमने उल्लेख किया है।

अब यह जानना आवश्यक है, कि कपिल का उक्त मत माने जाने का क्या आधार कहा जासकता है। यदि कपिल के सिद्धान्तों का प्रतिनिधि सांख्यकारिका को मानलिया जाय, तो यह कहना होगा, कि कपिल के उक्त मत का स्पष्ट उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं है। तथा इसप्रकार के अस्पष्ट [1] उल्लेखों का निर्वाह, दोनों ही प्रकार से किया जासकता है। एक सत्त्व एक रजस् और एक तमस, इन के समुदायरूप प्रकृति की एकता का जिसप्रकार उपपादन किया जासकता है, उसीप्रकार अनेक सत्त्व आदि की स्थिति में भी किया जासकता है। वस्तुतः प्रकृति की एकता का यही नियामक क्यों न माना जाय, कि सत्त्व रजस् तमस्, इनमें से कोई भी बिना एक दूसरे की सहायता के कुछ भी कार्य नहीं कर सकते। अर्थात् ये मिलित ही कार्य कर सकते हैं, इसी स्थिति को प्रकृति के एकत्व से प्रकट किया गया है, जो भाव कारिका १२ से स्पष्ट होता है। इसीप्रकार व्यापित्व की भावना का भी ऐसा आधार कहना चाहिये, कि कोई भी स्थल प्रकृति—कार्य से रिक्त नहीं, इसी दृष्टि से प्रकृति को व्यापी कहा गया है।

इसके अतिरिक्त सत्त्व के लघुत्वादि, रजस् के चलत्वादि और तमस् के आवरकत्वादि साधर्म्य सांख्यग्रन्थों [2] में कहे गये हैं। जो इस बात को ध्वनित करते हैं, कि सत्त्व अनेक व्यक्ति हैं, जिनके लघुत्वादि साधर्म्य अथवा असाधारण धर्म कहे गये हैं। इसीप्रकार अनेक रजस् व्यक्तियों के चलत्वादि और अनेक तमस् व्यक्तियों के आवरकत्वादि साधर्म्य हैं।

अभिप्राय यह है, कि सर्वत्र संसार में एक ही सत्त्व एक ही रजस् और एक ही तमस् है, ऐसा कपिल के नाम पर स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इसलिये कपिल के सिद्धान्त को माधव ने जैसा समझा था, वह बौद्ध विद्वानों की भावना के प्रतिकूल था, इसीलिये संभवतः कर्णकगोमि ने उसको 'सांख्यनाशक' पद से याद किया है, वस्तुतः वह 'सांख्यनायक' ही था। माधव के जीवन के सम्बन्ध में एक और सूचना हम उपलब्ध करसके हैं।

(४)—चीनी यात्री युअन-च्वाँग के यात्रावर्णन में सांख्याचार्य माधवका उल्लेख आता है। यह गया के आस पास मगध प्रान्त में निवास करता था। राज्य की ओरसे पर्याप्त भूमि संपत्ति इसको जागीर के रूप में मिली हुई थी। प्रजा और राजपरिषद् में सर्वत्र इसकी

---

[1] देखें, कारिका १० में व्यक्त के विपरीत, अव्यक्त को एक कहा है।

[2] सांख्यकारिका १३। सांख्यसूत्र १, १२७-१२८।

बड़ी प्रतिष्ठा थी। यह बड़ा विद्वान् और सांख्याचार्य माधव के नाम से प्रसिद्ध था। कालान्तर में दक्षिण देशवासी, गुणमति बोधिसत्त्व नामक एक बौद्ध विद्वान् के साथ इसका शास्त्रार्थ हुआ, और इसी अवसर पर माधव का देहान्त होगया। यह शास्त्रार्थ माधव के निवासस्थान के समीप ही हुआ था, और इसका आयोजन, तात्कालिक राजा की ओर से गुणमति बोधिसत्त्व की प्रेरणा पर, किया गया था। युआँन्-च्वाँग के लेखानुसार माधव इस शास्त्रार्थ में पराजित हुआ, और गुणमति बोधिसत्त्व के विजयोपलक्ष्य में राजाने उसकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर उस स्थान पर एक बौद्ध 'संघाराम' (मठ) का निर्माण करा दिया। उक्त चीनी यात्री ने इसी संघाराम के वर्णन के प्रसंग में सांख्याचार्य माधव का उल्लेख किया है [1]।

इन लेखों से यह स्पष्ट होजाता है, कि सांख्याचार्य माधव का काल, धर्मकीर्त्ति से पूर्व था, और वह गुणमति बोधिसत्त्व का समकालिक था। धर्मकीर्त्ति का काल, विक्रम संवत् के सप्तम शतक का अन्तिम (और ख्रीस्ट सन् के सप्तमशतक का पूर्व) भाग [2] बताया जाता है। गुणमति बोधिसत्त्व का काल अभीतक भी अनिश्चित है।

* समाप्त *

---

[1] SI-YU-KI, BUDDHIST RECORDS of THE WESTERN WORLD. by Samuel Beal. vol.II.PP.104-109. Kegon Paul, Trench, Trubner & Co. Ltd, London. द्वारा प्रकाशित। तथा ON YUAN CHWANG's travels in India, by Thomas Watters M.R.A.S., रायल एशियाटिक सोसायटी लन्दन द्वारा, १९०४ ई० सन् में प्रकाशित। vol.II.P.108.

[2] अभ्यंकर संपादित 'सर्वदर्शनसंग्रह' की सूची के आधार पर।

विषय-निर्देशिका
[अकारादि-क्रमानुसार]